॥ कठोपनिषद् ॥

प्रवचन

१

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

॥ ॐ तत्सत् ॥
॥ कठोपनिषत् ॥
ॐ॥ सह नाववतु॥ सह नौ भुनक्तु॥ सह वीर्यं करवावहै॥
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥
ॐ॥ उशन् ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ॥
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस॥ १॥ तꣳह कुमारꣳ...
श्रद्धाविवेश सोऽमन्यत॥ २॥

सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु
पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रयाः॥
अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत्॥ ३॥
स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति॥
द्वितीयं तृतीयं तꣳहोवाच मृत्यवे त्वा ददामीति॥ ४॥
बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः॥
किꣳ स्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति॥ ५॥

कठोपनिषद्

प्रवचन

भाग - १

☆
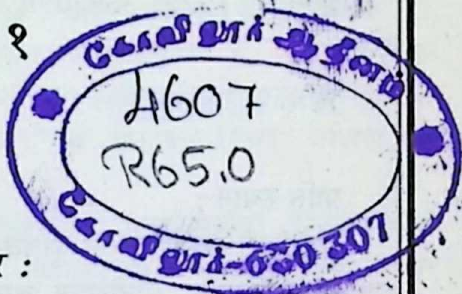
प्रवचनकार :

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

☆

संकलनकर्त्री :

श्रीमती कुन्ती धर्मचन्द जालान

☆

सम्पादक :

श्री विष्णु आनन्द

☆

प्रकाशक :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, मुम्बई

प्रकाशक :
सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट
विपुल, 28/16, बी. जी. खेरमार्ग
मालाबार हिल, मुम्बई-400006
दूरभाष : (022) 3682055

प्राप्ति स्थान :
स्वामीश्री अखण्डानन्द पुस्तकालय
आनन्द कुटीर, मोतीझील, वृन्दावन
फोन (0565) 442481

प्रथम संस्करण : 1100 प्रति
आनन्द जयन्ती, श्रावण अमावस्या 2056
11 अगस्त 1999

मूल्य : रु. 80=00

मुद्रक :
श्रीविश्वम्भरनाथ द्विवेदी
आनन्दकानन प्रेस
डी. 14/65, टेढ़ीनीम, वाराणसी
फोन : (0542) 321749, 392337

22-4

प्रकाशकीय निवेदन

उपनिषद् माने होता है एकदम पास जाकर घोर अज्ञानको दूर करनेवाली–ब्रह्मविद्या। वर्तमानमें सौ-से अधिक उपनिषद् प्रकाशमें हैं। मुख्य उपनिषदोंकी गणनामें कठोपनिषद्का स्थान तीसरा है। कृष्ण यजुर्वेदकी यह एक विशिष्ट संहिता है। 'कठ' ऋषि इसके प्रवचनकार हैं इसलिए इसका नाम 'कठ+उपनिषद्'=कठोपनिषद् है। यह तैत्तिरीय-आरण्यकमें एवं काठकारण्यमें भी है। एक काठक ब्राह्मण, काठक आरण्यकके अन्तर्गत होनेके कारण यह 'काठकोपनिषद्' नामसे भी जानी जाती है।

कठोपनिषद् पर **महाराजश्री स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजीने** मुम्बईमें प्रवचन किये थे, उनका संकलन करके १९७३-७४में प्रथम प्रकाशन संक्षिप्त रूपसे किया गया था, बादमें दूसरा खण्ड भी प्रकाशित हुआ, पर विगत कई वर्षोंसे वे अप्राप्य थे।

हमारे पूज्य **महन्तश्री ओंकारानन्दजी सरस्वतीके** पास ग्रन्थेच्छुओंकी प्रार्थनाएँ आयीं, यह विचार हुआ कि प्रवचनके टेप सुरक्षित हैं क्यों न उन्हें मौलिक रूपमें ही लिपिबद्ध किया जाय। **पूज्य स्वामी गोविन्दानन्दजीने** इस ओर विशेष रुचि ली और यह ग्रन्थ **श्रीमती कुन्ती धर्मचन्द जालान**, मुम्बई द्वारा बड़े ही परिश्रमसे लिखा गया। महाराजश्रीके प्रति उनकी श्रद्धा-भक्ति सराहनीय है, महाराजश्रीकी कृपा दृष्टि इन पर थी, इस समय है और भविष्यमें भी रहेगी। उत्तरोत्तर इसमें वृद्धि हो यह प्रार्थना है। सुविज्ञ **'विष्णु आनन्द'जी** ने मनोयोग पूर्वक इस ग्रन्थका सम्पादन कर **श्रीविश्वम्भरनाथ द्विवेदी** (आनन्दकानन प्रेस)को मुद्रण हेतु प्रेषित किया–**चि. सोमदत्त-शिवदत्तने** अक्षर संयोजन व मुद्रण कार्यमें अपनी कुशलता प्रदर्शित की–सभी धन्यवाद, साधुवादके पात्र हैं!

पाठकोंको चिरप्रतीक्षित ग्रन्थ मिलने पर प्रसन्नता होनी स्वाभाविक है, और उस प्रसन्नताके एक हेतु **श्री जीतू भाई साह एवं सौ० सुहास बेन साह**, बड़ौदा भी हैं। क्योंकि इन्होंने इस ग्रन्थ हेतु समस्त प्रकाशन व्यय वहन किया है, हम इनके लिए महाराजश्रीके आशीर्वादकी कामना करते हैं और अपनी ओरसे हृदयसे धन्यवाद ज्ञापित करते हैं। ग्रन्थ परिवर्धित होनेसे अपनी उपयोगिता स्वयं सिद्ध करेगा।

'विपुल' मालाबार हिल
मुम्बई

–ट्रस्टी
सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

22-4

कठोपनिषद्-प्रवचन

नवीन संस्करणके सम्बन्धमें सम्पादकीय

निवेदन

परम पूज्य महाराजश्री ***स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी*** *महाराजके द्वारा कठोपनिषद् पर प्रवचन मुम्बईमें कोई तीस वर्ष पूर्व हुए थे, जिनका संग्रह कठोपनिषद्-प्रवचनके नामसे दो खण्डोंमें १९७४ में प्रकाशित हुआ था। वह संस्करण तो बहुत दिन हुए समाप्त हो गया; परन्तु कई कारणोंसे उसका नवीन संस्करण प्रकाशित नहीं हो सका। उनमें एक प्रमुख कारण यह था कि उक्त संस्करण महाराजश्रीके टेप-प्रवचनोंके अनुरूप नहीं था। अतः पूज्य महन्तजी* ***श्रीस्वामी ओंकारानन्दजी महाराज****की आज्ञासे उसका अनुलेखन टेपसे सुनकर पुनः प्रारम्भ किया गया। वृहद् कलेवर होनेके कारण उसके संकलनमें भी पर्याप्त समय लगा और सम्पादनमें भी आशासे अधिक समय लग गया। फिर भी यह कहा जा सकता है कि अब जिस रूपमें यह प्रकाशित हो रहा है वह मूल टेप-प्रवचनोंकी न्याय-संगत अनुकृति है।*

मूल प्रवचनोंकी संख्या १०४ है। इन्हें प्रत्येक मंत्रकी व्याख्याके रूपसे विभिन्न शीर्षकोंके अन्तर्गत प्रस्तुत किया गया है। इसके लिए कहीं-कहीं प्रवचनोंको तोड़ना भी पड़ा है। जिन एकसे अधिक मंत्रोंकी व्याख्या एक ही प्रवचनमें हैं तथा जहाँ प्रवचनको तोड़ना उचित नहीं जान पड़ा और जिन मंत्रोंकी विषय-वस्तु एक ही है, उनको एक ही शीर्षकमें रखा गया है। प्रारम्भके कुछ प्रवचनोंकी टेप या तो ठीक नहीं थी या उनका मैटर कई प्रवचनोंमें बार-बार आया था, उनका संकलन एक जगह किया गया है। मंत्रके संकेतमें प्रथम संख्या अध्यायकी, दूसरी वल्लीकी तथा तीसरी मंत्रकी है।

श्रीसद्गुरुदेवकी कृपासे प. पूज्य महाराजश्रीके बहुतसे प्रवचनोंके अवलोकन-संकलन सम्पादनका सुयोग मुझे प्राप्त हुआ है गम्भीर भी और सरल भी, और सभी अत्यन्त रोचक और उपादेय है— परन्तु मेरी अपनी मान्यता यह है कि कठोपनिषद् प्रवचनमें जैसी प्रतिभा उनकी दृष्टिगोचर होती है— और वह भी बोलचालकी भाषामें— वैसी अन्यत्र देखनेको नहीं मिली। वेदान्तके जिज्ञासुके लिए प. पूज्य महाराजश्रीके ये प्रवचन बेजोड़ हैं। यद्यपि कठोपनिषद्के शांकर-भाष्यकी पृष्ठभूमिमें ये प्रवचन किये गये हैं तथापि इनमें पूज्यश्रीका मौलिक ब्रह्मात्मैक्य-चिन्तन और अनुभव मुखर हुआ है। ब्रह्मात्मैक्य-बोधका अपरोक्ष कथन पदे-पदे जिज्ञासुको पुलकित करता है। वेदान्तकी कोई गुत्थी ऐसी नहीं है जो कठोपनिषद्-प्रवचनके स्वाध्याय मननसे न सुलझ सके!

विनयावनत!

होलिकोत्सव — श्रीगुरुचरणकमलाश्रित

वृन्दावन १२.३.९८ — विष्णु आनन्द

सम्पादक

कठोपनिषद्-प्रवचन भाग - १

विषय-सूची

☆

मंगलाचरण

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया।
यः साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयं
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नमः इदं श्रीदक्षिणामूर्तये॥

शान्तिपाठ

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥
॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

कठोपनिषद्

ॐ सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु।
सह वीर्यं करवावहै, तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

ॐ॥ उशन् ह न वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ।
तस्य ह नचिकेता नाम प्रत्र आस॥ १॥

तꣳह कुमारꣳ सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाविवेश सोऽमन्यत॥ २॥

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत्॥ ३॥

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति।
द्वितीयं तृतीयं तꣳहोवाच मृत्यवे त्वा ददामीति॥ ४॥

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः।
किꣳस्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति[1]॥ ५॥

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः॥ ६॥

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणों गृहान्।
तस्यैताꣳ शान्ति कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम्॥ ७॥

आशाप्रतीक्षे सङ्गतꣳसूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्रपशूꣳश्च सर्वान्।
एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे॥ ८॥

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन्ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्व॥ ९॥

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे॥ १०॥

यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः।
सुखꣳरात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम्॥ ११॥

---

१. करिष्यतीति

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥ १२॥

स त्वमग्निꣳ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वꣳ श्रद्दधानाय मह्यम्।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद्द्वितीयेन घृणे वरेण॥ १३॥

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धित्वमेतं निहितं गुहायाम्॥ १४॥

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा।
स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः॥ १५॥

तमब्रवीत् प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः।
तवैव नाम्ना भवितायमग्निः सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण॥ १६॥

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धि त्रिकर्मकृत् तरति जन्ममृत्यू।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमाꣳ शान्तिमत्यन्तमेति॥ १७॥

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वाꣳश्चिनुते नाचिकेतम्।
स मृत्युपाशान्पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥ १८॥

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व॥ १९॥

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष बरस्तृतीयः॥ २०॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुज्ञेयमणुरेष धर्मः।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम्॥ २१॥

देवैरत्रपि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यत्र सुज्ञेयमात्थ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो नान्यो, वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्॥ २२॥

शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान्।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि॥ २३॥

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोति॥ २४॥

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान् कामाँꣳश्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः।
आभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचाग्यस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः॥ २५॥

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत् सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥ २६॥

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो! लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
जीविष्यामो यवदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव॥ २७॥

इति प्रथमोऽध्याये प्रथम वल्ली॥ १॥

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषꣳसिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते॥ १॥

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षमाद् वृणीते॥ २॥

स त्वं प्रियान् प्रियरूपांश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।
नैतां सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्ञन्ति बहवो मनुष्याः॥ ३॥

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याभिप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त॥ ४॥

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितंमन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥ ५॥

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥ ६॥

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥ ७॥

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्॥ ८॥

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ् नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा॥ ९॥

जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।
ततो मया नाचिकेताश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥ १० ॥

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम्।
स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥ ११ ॥

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥ १२ ॥

एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य।
स मोदते मोदनीयꣳ हि लब्ध्वा विवृतꣳसद्म नचिकेतसं मन्ये ॥ १३ ॥

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥ १४ ॥

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ १५ ॥

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ १६ ॥

एतदालम्बनꣳ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ १७ ॥

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥ १८ ॥

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुंꣳहतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायꣳहन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तम क्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ २० ॥

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥ २१ ॥

अशरीरꣳशरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ २२ ॥

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳस्वाम्॥२३॥

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥२४॥

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥२५॥

इति प्रथमेऽध्याये द्वितीया वल्ली॥२॥

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥१॥

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतꣳ शकेमहि॥२॥

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥३॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥४॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥५॥

यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥६॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
न स तत्पदमाप्नोति सꣳसारं चाधिगच्छति॥७॥

यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥८॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥९॥

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥१०॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥ ११॥

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥ १२॥

यच्छेद्वाङ्भनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥ १३॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्ग पथस्तत्कवयो वदन्ति॥ १४॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥ १५॥

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तꣳसनातनम्।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते॥ १६॥

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद्ब्रह्मसंसदि।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते तदानन्त्याय कल्पत इति॥ १७॥

इति प्रथमाध्याये तृतीया वल्ली समाप्ता॥ ३॥

इति प्रथमोऽध्यायः समाप्तः॥ १॥
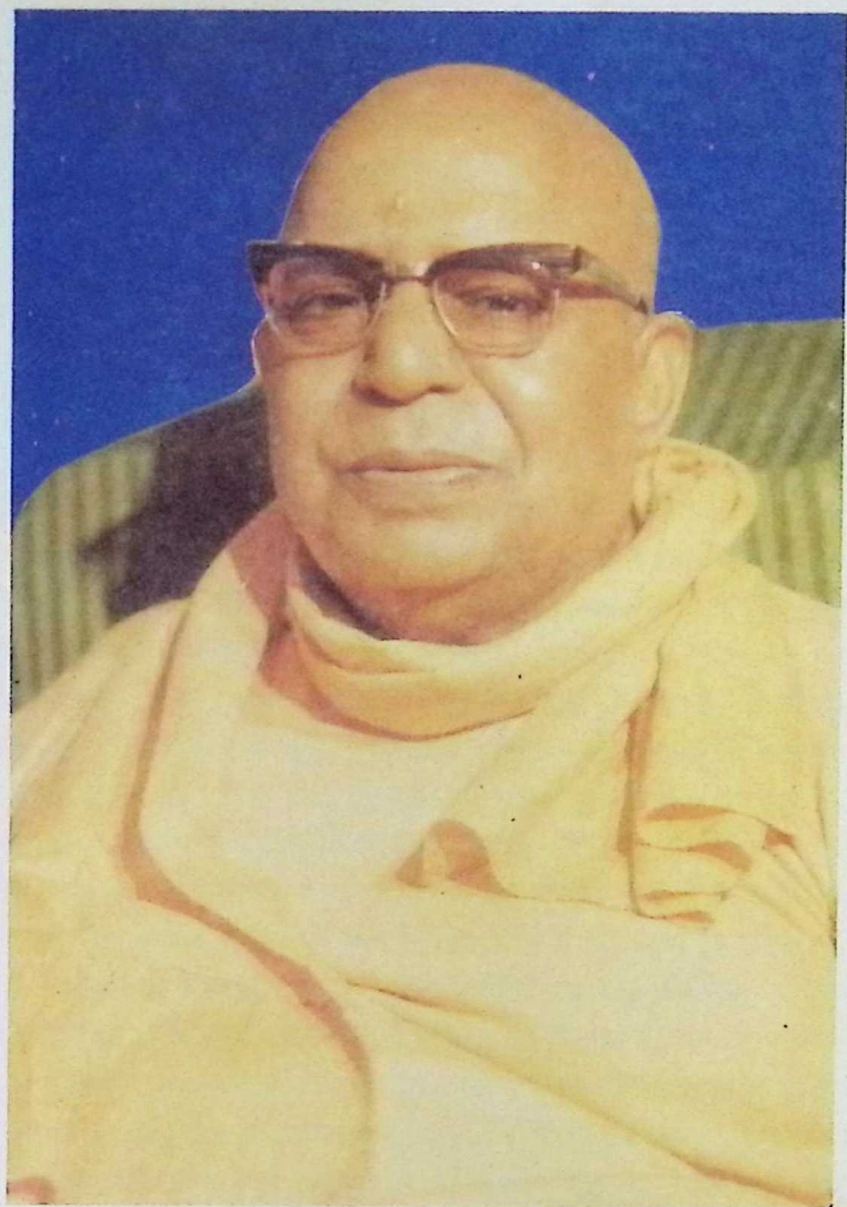
स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

प्रस्तावना

कठोपनिषद्की कथा तो प्रसिद्ध है कि वाजश्रवसका पुत्र नचिकेता गौ-दानके सिलसिलेमें पिताके क्रोधका भाजन होकर यमराज अर्थात् मृत्युके देवताके पास जाता है और वहाँ यमराजकी अनुपस्थितिमें उपेक्षित रहकर तीन दिन तक उपवास करता है। यमराज जब वहाँ आते हैं तो नचिकेताको तीन दिनके उपवासके बदलेमें तीन इच्छित वरदान माँगनेको कहते हैं। इन वरदानोंके सन्दर्भमें यमराज और नचिकेताके बीच जो संवाद होता है वही कठोपनिषद्की विषय वस्तु है।

यह कथा महाभारतके अनुशासन पर्वमें थोड़ी बदलकर है। वहाँ कथा इस प्रकार है कि ऋषि उद्दालकने नदीके तटपर जाकर नित्य कर्म किया। वे वृद्ध थे। भजनके उपरान्त वे अपना आसन, कुश और अग्निहोत्रकी सारी सामग्री वहीं भूलकर घर आ गये। उन्होंने अपने पुत्र नचिकेताको वह सामग्री जाकर ले आनेकी आज्ञा की। उसने नदी तटपरं जाकर बहुत ढूँढा, पर वह नहीं मिली। सारी सामग्री नदीकी बाढ़में बह गयी थी। जब पुत्र खाली हाथ घर लौटा, तो थके, भूखे-प्यासे पिताको पुत्रपर क्रोध आगया।

यह क्रोध भी शाश्वत वस्तु ही है; सृष्टिके प्रारम्भसे ही है। ब्रह्माजीके कथनानुसार उनके पुत्रोंने जब सृष्टि नहीं की तो ब्रह्माजीको उनपर क्रोध आया था और उनको उन्होंने शाप दिया था। इस ऋषिको भी अपने पुत्रपर क्रोध आया तो उनके हृदयसे वात्सल्य और हितकी भावना निकल गयी और उसे शाप दे दिया कि 'मर जा'। वैसे बड़े लोगोंको कभी ऐसे वाक्य बोलने नहीं चाहिए, क्योंकि कभी-कभी बड़े-बूढ़ोंके मुखसे जो बात निकल जाती है वह सत्य हो जाती है।

अब पुत्रने सोचा हमारे पिताके मुँहसे निकल गया कि 'मर जा' तो अब जीवित रहकर क्या करूँगा? उसको इतना दु:ख हुआ कि वह मूर्च्छित हो गया—मर गया। मरकर वह यमराजके लोकमें गया। वहाँ यमने उसका स्वागत करते हुए कहा—'तू अभी आयु शेष रहते हुए ही आ गया है। तेरे पिताने जान-बूझकर नहीं कहा था कि मर जा। उन्होंने तो कहा था—**यमं पश्य** अर्थात् जा तू यमराजका मुँह माने यमपुरी देख आ! सो वह तू देख चुका, अब लौट जा।'

नचिकेताने कहा—'हम ऐसे नहीं लौटेंगे। हमें दिखाओ कि जो मनुष्य मरनेके बाद यहाँ यमपुरी आते हैं उनकी क्या-क्या गति होती है? दूसरे हमारे लौटनेपर हमारे पिताजीको यह विश्वास होना चाहिए कि मैं मर कर लौट आया हूँ। साथ ही हमको वह विद्या भी बताओ कि फिर मरनेका मौका न आये।'

यह कथा महाभारतमें बड़े विस्तारसे है। तैत्तिरीय आरण्यकमें भी यह कथा है। यह आरण्यक भी कृष्ण यजुर्वेदका ही है। ऐसा लगता है कि जब काठक ब्राह्मण और काठक आरण्यककी परम्परा नष्ट होने लगी तो तैत्तिरीय आरण्यकमें काठकारण्यक जोड़ दिया गया। इस कथाका परिवर्तितरूप आप कठोपनिषद्में आगे पढ़ेंगे ही।

कृष्ण यजुर्वेदकी कठशाखाके अन्तर्गत यह कठोपनिषद् है और इसके ऋषि 'कठ' हैं। तो यह कथा बड़ी पुरानी है और हमलोग तो वेदपर बड़ी श्रद्धा रखते हैं। वेदकी विशेषता क्या है उसकी ओर हम आपका ध्यान आकृष्ट करते हैं।

जितने उपासनाके मार्ग हैं वे वक्ताकी प्रधानतासे चलते हैं। यह किसने कहा है और कहनेवाला कितनी ऊँची स्थितिमें है और क्या अनुभव करके उसने ऐसा कहा है—यह सब जाँच उसमें होती है। हम कहते हैं कि यह बात मुहम्मद साहबने कही है और यह बात ईसामसीहने कही है—उनको इलहाम हुआ है—यह उपासना मार्ग है। हम लोग भी जो आचार्योंका नाम लेते हैं कि अमुक बुजुर्गके मुँहसे निकली हुई यह बात है, वह श्रद्धापूर्वक ही लेते हैं। परन्तु वेदमें जो वर्णन है वह वक्ताकी प्रधानतासे नहीं है, वर्ण्य-वस्तुकी प्रधानतासे है—माने उसमें जिस वस्तुका वर्णन किया गया है वह सत्य है। किसने बोला, किसने प्रवचन किया, वेदमें यह बात प्रधानतः नहीं बतायी जाती। इसलिए यदि वेदमें यह बात कही हुई है कि—'**अग्निर्हिमस्य भेषजं**—तुम्हें ठण्ड लगे तो आग ताप लो' तो इस वर्णनसे वेदकी कोई महिमा नहीं है, क्योंकि यह तो लौकिक व्यवहारका अनुवाद-मात्र है। जिस बातको हम लोकमें देखते हैं, जानते हैं, सुनते हैं, दूसरी तरहसे मालूम कर पाते हैं उस बातका वर्णन करनेमें वेदकी कोई तारीफ नहीं है। जिसको संसारमें न तो हम दूसरेपर विश्वास करके जान सकते हैं और न तो आँखसे, नाकसे, कानसे, जीभसे, त्वचासे—किसी प्रमाणसे ज्ञान सकते हैं; ऐसी वस्तुका ऐसा ज्ञान बताना जिसमें कोई भ्रम न हो, प्रमाद न हो, ठगनेकी इच्छा न हो और जहाँ इन्द्रियोंकी पहुँच न हो—ऐसी वस्तुको ठीक-ठीक बता देना—यह वेदकी विशेषता है।

तो, जब वेद ब्रह्मका वर्णन करने लगता है तो ब्रह्म माने होता है कि जो सब कालमें रहकर भी कालसे परे हो, सब देशमें रहकर भी देशसे परे हो, सब वस्तुमें रहकर भी वस्तुसे परे हो। जिसमें सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदकी प्रतीति होनेपर भी वह स्वयं भेद-रहित हो, यहाँ तक कि उसमें मैं और यह-वह का भी भेद न हो-ऐसी वस्तुको ब्रह्म बोलते हैं तो, ऐसा जो ब्रह्म है वह किसीके कहनेसे यदि मान बैठोगे तो अपरोक्ष साक्षात्कार नहीं होगा और किसी इन्द्रियसे देखना

चाहोगे तो देख नहीं सकोगे, क्योंकि वह न तो मनका विषय है, न बुद्धिका विषय है और न किसी इन्द्रियका विषय है। अपरिच्छिन्न वस्तु किसीका विषय नहीं हुआ करती, अगर विषय हो जाय तो एक वह हो गयी और एक जानने वाला हो गया—तो दो हो जायेंगे, इसलिए वह वस्तु अपरिच्छिन्न नहीं होगी। तो इस वस्तुको केवल वेदके द्वारा ही जाना जाता है। महापुरुष लोग भी जब इसका वर्णन करते हैं तो अपने गुरुका नाम लेकर वर्णन नहीं करते हैं। जितने भी तत्त्वज्ञ महापुरुष होते हैं वे इस बातपर जोर नहीं देते हैं कि अमुकने कहा है इसलिए सच्चा है। वे इस बातपर जोर देते हैं कि यह चीज ऐसी ही है, और यह अनादिकालसे है और किसी पुरुषके द्वारा नहीं रची गयी है, ऐसे वेदके द्वारा इस वस्तुका वर्णन होता है।

तो, वस्तुकी प्रधानतासे यह वेद ब्रह्मका वर्णन करते हैं। यह वस्तु किसी इन्द्रियका विषय नहीं इसलिए **नेति-नेति**; अन्तःकरणका विषय नहीं इसलिए **नेति-नेति**; यहाँतक कि हमारा भी विषय नहीं इसलिए **नेति-नेति**, ब्रह्म हमारा विषय नहीं स्वयं हम है। अगर हमको ब्रह्म दिखायी पड़े तो दीखनेवाला ब्रह्म एक और देखनेवाले हम दूसरे। इसलिए ब्रह्म वहाँ रहता है जहाँ देखनेवाले और दिखायी पड़नेवालेका भेद मिट जाता है। तो, ऐसी वस्तुका वर्णन करनेके लिए यह उपनिषद् प्रवृत्त होती है, उपनिषद्की परम्परा चलती है!

अब इसमें यह जो प्रसङ्ग है कठोपनिषद्का इसको लेते हैं। तो इसमें पहले तो शान्ति-पाठ है। (इसको पृथक् प्रवचनके रूपमें आगे दिया है।)

इस उपनिषद्के भाष्यका प्रारम्भ श्रीशङ्कराचार्य भगवान्ने विलक्षण ढंगसे किया है—

ॐ नमो भगवते वैवस्ताय मृत्यवे ब्रह्म विद्याचार्याय नाचिकेतसे च।

वेदका अध्ययन करना हो तो पहले ॐका उच्चारण करना चाहिए। तो आचार्य कहते हैं कि ॐकारोच्चारणपूर्वक भगवान् वैवस्वत्को, मृत्युदेवताको, हम नमस्कार करते हैं क्योंकि वे मृत्यु हैं, यमराज हैं, और ब्रह्म विद्याके आचार्य हैं; और नचिकेताको भी हम प्रणाम करते हैं। भला यह क्या बात हुई? नचिकेता तो विद्यार्थी है, जिज्ञासु है। जिज्ञासुको शङ्कराचार्य भगवान् क्यों प्रणाम करते हैं? इसका कारण यह है कि मृत्यु देवता तो दिव्य लोकके आचार्य हैं और नचिकेता ही मृत्युदेवतासे यह विद्या प्राप्त करके मर्त्यलोकमें ले आया; तो मर्त्यलोकमें आचार्य नचिकेता है। इसलिए मृत्यु भी आचार्य और नचिकेता भी आचार्य हैं। और इसलिए दोनोंको प्रणाम करते हैं।

अब, एक बात इस प्रसङ्गमें और। यह मृत्यु कौन है ? तो हमारे जो अत्यन्त भौतिकवादी, डाक्टरेट करनेके लिए थीसिस लिखने वाले, लोग हैं। अभी कई लोगोंने थीसिस लिखी है, अलीगढ़ विश्वविद्यालयसे, आगरा विश्वविद्यालयसे वे थीसिस लिखनेवाले वृन्दावनमें आकर दस-दस, बीस-बीस दिन रहते हैं और बड़ी कृतज्ञता ज्ञापन करते हैं कि यह बात हमको नवीन मालूम हुई, यह बात हमको नयी मालूम हुई। वे लोग जब पूछते हैं कि यह मृत्यु कौन है, तब उनको पहला अर्थ यह बताना पड़ता है उनकी भूमिकापर कि उन दिनों एक विद्वान थे मर्त्यलोकमें उनका नाम मृत्यु था और वैवस्वत उनका गोत्र था और नचिकेताने उन्हीं आचार्यके पास जाकर यह ब्रह्म विद्या पढ़ी थी। यदि उनको यह बात न बतावें तो उनकी थीसिस ही न बने।

एक बार ऐसा हुआ कि शाङ्कर-सम्प्रदायकी रीतिसे 'आचार' पर एक सज्जनने थीसिस लिखी। उन्होंने वर्षोंतक हमारा सत्सङ्ग किया और फिर थीसिस लिखी और लिखकरके ले गये विश्वविद्यालयमें। जो उनके मार्गदर्शक प्रोफेसर थे, उन्होंने वह थीसिस पढ़ी। उन्होंने कहा कि देखो, इस थीसिसमें जितनी बात लिखी गयी है वे सब सच्ची हैं, सही हैं, यह हम मानते हैं; लेकिन तुमको थीसिस तो उस ढंगसे लिखनी पड़ेगी जैसे उस थीसिसको लिखनेके लिए विश्व-विद्यालयने नियम बना दिये हैं। जैसे उसमें लिखा था कि जड़से सृष्टि नहीं होती है चैतन्यसे सृष्टि होती है। सृष्टिके मूलमें जड़ वस्तु नहीं चैतन्य ईश्वर है। इसका परिणाम आप जानते हैं ? यदि जड़से विकास हुआ तो अपने बापसे ज्यादा ज्ञानी हम होंगे और सर्वज्ञ ईश्वरसे यदि सृष्टि हुई तो हमसे ज्यादा ज्ञानी हमारा गुरु होगा—यह एक बिलकुल मौलिक तत्त्व है। जड़वादमें विकास है और चैतन्यवादमें विकार है। तो उन्होंने कहा कि देखो, यह बात बिलकुल सच्ची है, परन्तु आजकल तो सारी दुनियाने, विज्ञानने मान लिया है कि सृष्टि जड़से हुई है; अब तुम यदि वहाँसे नहीं शुरू करोगे तो तुम्हारी थीसिस मंजूर ही नहीं होगी। विकासवादके क्रमसे तुम्हें लिखना पड़ेगा। तो उस विद्यार्थीने कहा कि हम तो ऐसा नहीं मानते हैं, तब फिर कैसे लिखें? हमारी बुद्धिमें तो चैतन्यवादकी बात बैठी हुई है। तब प्रोफेसर बोले कि फिर ऐसे लिखो कि अमुक-अमुक वैज्ञानिकोंने, अमुक-अमुक ग्रन्थोंमें सृष्टिकी जड़से उत्पत्ति मान करके इस ढंगसे विकास लिखा है और वैदिक रीतिसे सृष्टिकी उत्पत्तिका क्रम ऐसा है। ऐसे एक मतके रूपमें उल्लेख करो तो चलेगा।

तो आपको पहले यह बात बतायी कि नचिकेता नामका एक जिज्ञासु था और वैवस्वत 'मृत्यु' नामके एक गुरु थे और इन दोनोंका जो संवाद है वही

कठोपनिषद् है। ब्राह्मण-नचिकेता विचारा अपने गुरुजीके घर गया, किसीने खाने-पीनेको नहीं पूछा, तीन दिन भूखा रह गया और भूखे रह जानेपर फिर गुरुजीको बड़ा पश्चात्ताप हुआ और उन्होंने यह सब उसको उपदेश किया। कथाका यह एक **भौतिक पक्ष** हो गया।

अब इसीका एक **आध्यात्मिक पक्ष** देखो। वह क्या है कि जब मनुष्यको संसारसे वैराग्य होता है तब योगावसिष्ठकी रीतिसे वह विचार करता है—महाप्रलय! महाप्रलय!! महाप्रलय!!! सृष्टिमें कुछ भी स्थायी नहीं है, सब क्षणिक है और बदल रहा है! देखो, बच्चा जवान हो गया, जवान बुढ्ढा हो गया और बुढ्ढा मर गया। जो गरीब था वह राजा हो गया और जो राजा था वह गरीब हो गया; काले बाल सफेद हो गये और दाँत टूट गये। दुनियामें परिवर्तन हो रहा है। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो परिवर्तनशील नहीं हो। इस परिवर्तनको ही आकृतिके, रूपके परिवर्तनको ही मृत्यु कहते हैं। तो, आप प्रपंचके सम्बन्धमें चिन्तन करते-करते वहाँ पहुँचो जहाँ सबका निषेध हो जाता है, जहाँ सबका तिरोभाव हो जाता है। उस अवस्थामें जब पहुँचोगे कि बाहरका कोई भी प्रपञ्च न रहे तो उसको बाह्य-दृष्टिसे मृत्यु-दशा बोलेंगे, निषेध-दशा बोलेंगे, नेति-नेति दशा बोलेंगे। महाप्रलय, महाप्रलय, महाप्रलय! वहाँ न नाम और न रूप। तो नाम और रूपका निषेध हो जानेके बाद वहाँ स्वयं-प्रकाश जो ज्ञान तत्त्व है आत्मज्ञान, वह प्रकाश होता है।

अब यह जो यम 'मृत्यु' है, उसके स्थानपर तीन दिन उपवासमें बैठनेका अभिप्राय क्या हुआ? वह यह कि जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति तीनोंका निषेध करके, विश्व-तैजस और प्राज्ञ तीनोंका निषेध करके अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव तीनोंका निषेध करके और विराट्-हिरण्यगर्भ और माया-विशिष्ट ईश्वर तीनोंका निषेध करके अपने स्वरूपमें जो बैठना है यही तीन दिनका 'उपवास' है। उपवास है माने विषयको ग्रहण नहीं करना, विषयके चिन्तनका सर्वथा परित्याग, यही तीन दिनका 'उपवास' है। मरनेकी परवाह छूट गयी, मौतके दरवाजेपर बैठे हैं कि अब परमात्माका ज्ञान प्राप्त करके उठेंगे और नहीं तो नहीं उठेंगे—ऐसा आग्रह करके, ऐसी जिज्ञासा धारण करके यह नचिकेता बैठ गया। नारायण! यही मृत्यु है। इसमेंसे तत्त्वज्ञान निकलता है।

वैवस्वत-यम आध्यात्मिक आचार्य हैं। देखो, भगवान्ने पहले-पहल ज्ञान किसको दिया था?

इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥ (गीता ४.१)

इस प्रकार वहाँ जो विवस्वान वैवस्वत यम है, वहाँ तत्त्वज्ञानका आविर्भाव होता है। यह आध्यात्मिक निरूपण हुआ।

अब तीसरा पक्ष देखो—**आधिदैविक।** आधिभौतिक बात तो यह हुई कि इस नामका कोई आचार्य था। आध्यात्मिक बात यह हुई कि नेति-नेतिके निषेधके द्वारा जब स्वस्थ हुए तब उस स्वस्थतामें स्वयं प्रकाश तत्त्वज्ञानका आविर्भाव हो गया। और आधिदैविक बात यह है कि सभी मनुष्य सुखी-दुःखी देखनेमें आते हैं। आप देखो, ये सुख-दुःख क्या हैं? जो इच्छाका विषय होवे उसको सुख बोलते हैं और जो इच्छाका विषय न होवे, जिससे हम परहेज करें, उसका नाम दुःख होता है। अच्छा, ज्ञान जो है वह सुख है कि दुःख है? तो ज्ञान न सुख है, न दुःख है। ज्ञान तो सुख-दुःखके पूर्वमें होता है और बादमें भी रहता है। इसलिए सुख-दुःख पैदा होनेवाली और नष्ट होनेवाली चीज है। सुख इच्छाका विषय है और दुःख इच्छाका विषय नहीं है। सुखाकार-वृत्ति सुखको प्रकाशित करती है और दुःखाकार-वृत्ति दुःखको प्रकाशित करती है, परन्तु स्वयं सुख-दुःख किसीको प्रकाशित नहीं करते हैं। तो सुख-दुःख प्रकाशक नहीं हैं प्रकाश्य हैं; इच्छा नहीं है, इच्छा-अनिच्छाके विषय हैं; और ज्ञान नहीं है, क्योंकि ज्ञान तो सुख और दुःखके पूर्ववर्त्ती और उत्तरवर्त्ती है। अब यह बात दर्शन-शास्त्रकी है न, इसलिए जरा ध्यानसे सुननेकी है। तो, मनुष्यको जो, सुख-दुःख होता है, इस सुख-दुःखका कारण होना चाहिए। कारण क्या है? कहो कि कर्म है, तो कई कर्म ऐसे होते हैं जो तत्काल ही सुख दे देते हैं और तत्काल ही दुःख दे देते हैं जैसे श्रद्धाके साथ किसीको पाँच रुपया दे दो तो तत्काल तुम्हें सन्तोष होगा—एक भूखेको अन्न खिला दो, एक प्यासेको पानी पीला दो, एक नंगेको कपड़े दे दो तो तत्काल तुम्हारे हृदयमें एक सन्तोषकी वृत्ति उदय होगी और वह सत्कर्मका फल होगा जो तुरन्त देखनेमें आवेगा। और नारायण! किसीको गाली दो, किसीको मारो अथवा किसीका कुछ नुकसान कर दो तो तत्काल चित्तमें ग्लानि आ जाती है। कुकर्मका फल भी चित्तमें तुरन्त ही देखनेमें आता है। परन्तु, ऐसे भी कर्म होते है जिसका फल तुरन्त देखनेमें नहीं आता है, उस समय तो आदमी बड़े जोशमें होता है लेकिन, बादमें उसका फल देखनेमें आता है!

तो, ईश्वर जिस उपाधिको धारण करके मनुष्यके सत्कर्मका और कुकर्मका फल देता है—ईश्वरका वह जो औपाधिक-अधिदैव-रूप है, उसको यमराज बोलते हैं अथवा धर्मराज भी बोलते हैं। अब जब औपाधिक रूप हुआ तब उसका काल भी होगा माने एक मन्वन्तरमें एक यमराज—उसका काल भी होगा और फिर उसका

स्थान भी होगा, क्योंकि जो भी वस्तु परिच्छिन्न होती है उसका काल भी होता है और उसका स्थान भी होता है। तो यमपुरी उसका स्थान है। तो ईश्वरके फल देने वाले रूपका मन्वन्तर काल है, यमपुरी स्थान है और यमराज उसका नाम है और लोगोंके सत्कर्म और कुकर्मका फल देना उसका काम है! यह कौन है? बोले—है तो यह ईश्वर ही, है तो साकार ही, लेकिन जैसे सरकारके कई विभागं होते हैं, एक मंत्री अमुक-विभागमें होता है, दूसरा मंत्री दूसरे विभागमें होता है, तीसरा मंत्री तीसरे विभागमें होता है। यहाँ ईश्वर ही अनेक रूप धारण करके अपने सम्पूर्ण विभागोंका संचालन करता है—चाँदनी देनेके लिए चन्द्रमाका विभाग, प्रकाश देनेके लिए सूर्यका विभाग ऐसे ही ये विभाग हैं। तो यह जो यमराजका अधिदैव रूप है, वह यमपुरी, यमराज और मन्वन्तर—माने देश, काल और एक रूपके साथ सम्बद्ध करके उसका निरूपण किया हुआ है—'**फलमत उपपत्तेः**'। कर्मका फल देनेवाला ईश्वर होता है, कर्म स्वयं जड़ होता है वह कर्मका फल नहीं दे सकता—ऐसी वैदिक मान्यता है, वैदिक स्वीकृति है। तो, इस तरह यमराजके तीन रूप हुए और शंकराचार्य भगवान्‌ने उनको प्रणाम किया!

अब, इसके बाद यह बात है कि इस काठकोपनिषद्‌में दो अध्याय हैं और प्रत्येक अध्यायमें तीन-तीन वल्ली हैं, इस तरह कठोपनिषद्‌में छह वल्लीके दो अध्याय हैं।

अब देखो, उपनिषद्‌को उपनिषद् क्यों कहते हैं? तो श्री शङ्कराचार्य भगवान्‌ने इसकी व्याख्या की है। 'उपनिषद्' शब्दमें 'सद्' धातु है और 'उप' तथा 'नि' उपसर्ग हैं। सद्‌धातुका तीन अर्थ होता है—एक 'हिंसा', एक 'गति', और एक 'अवसादन'—किसी चीजको उजाड़ना। 'उप' माने पास और 'नि' माने नितान्त। तो बिलकुल पास जाकर जो विद्या अज्ञानको नितान्त दूर कर दे, उसका नाम होता है 'उपनिषद्'।

यह उपनिषद् विद्या पोथीमें नहीं रहती। कितनी ही पुस्तकें लिखी जा चुकीं कागजपर, कितने कागज काले कर दिये गये! अक्षरको तो चाहे काले कर दो, चाहे लाल कर दो, चाहे नीला कर दो, और लिपिको चाहे नागरी कर दो, चाहे तमिल कर दो, चाहे लैटिन कर दो, परन्तु लिपि और भाषाके भेद होनेपर भी और ग्रन्थ-भेद होनेपर भी, विद्या जो होती है—ब्रह्मविषयक विद्या, आत्म-विषयक विद्या वह तो हृदयमें ही होगी। ब्रह्मविद्या होती है हृदयमें, ग्रन्थमें नहीं होती। जिनकी विद्या ग्रन्थमें होती है उनकी विद्या समयपर काम नहीं देती। वह समझदारी क्या है जो किताब रहनेपर तो रहे और किताब न रहनेपर न रहे।

भीतरकी समझदारीको जगानेके लिए बाहरकी पुस्तक आवश्यक हो सकती है। इसलिए भीतरकी विद्याको जगानेमें निमित्त होनेके कारण बाहरके ग्रन्थको भी 'उपनिषद्' कह देते हैं। असलमें ग्रन्थ तो भीतर है जिसका नाम ब्रह्म-विद्या है।

अब, भीतर यह ग्रन्थ कैसे रहता है यह शास्त्रमें बताते हैं। अच्छा, अब भीतरकी विद्यामें भी फर्क है। साबुन कैसे बनाना चाहिए—यह एक विद्या है। तो साबुन बनानेकी विद्या बाहर विद्यमान वस्तुको बनानेकी विद्या है। होम कैसे करना चाहिए—यह बाहरकी विद्या है। क्रिया साध्य, कर्मसाध्य वस्तुकी विद्या भी रहती है, परन्तु आत्म-विद्या इन सबसे विलक्षण है। वह कर्ममें प्रयुक्त होनेवाली विद्या नहीं है। वह तो सिद्ध वस्तुका आत्मत्वेन साक्षात्कारकी विद्या है।

जैसे देखो, परमात्माका वर्णन हम लोगोंने सुना है, वह परमात्मा इस समय है कि नहीं? यदि समय न हो, तो यह बोलना पड़ेगा कि परमात्मा अभी पैदा ही नहीं हुआ या यह कहना पड़ेगा कि पहले तो था अब मर गया। ये बच्चे जो स्कूलमें पढ़कर आते हैं न, उनसे यदि कहो कि एक परमात्मा नामकी चीज है तो कहते हैं कि रहा होगा पहले, अब नहीं है। ये जो बीटल्सके प्रेमी हैं न, ये बोलते हैं कि होगा पहले ईश्वर। तो, अगर इस समय ईश्वर नहीं है तो या तो वह पहले पैदा होकर मर गया और या तो अभी पैदा ही नहीं हुआ। इसलिए, इस समय ईश्वरका होना जरूरी है।

अच्छा, यहाँ ईश्वर है कि नहीं? यदि यहाँ ईश्वर नहीं होगा तो ईश्वर व्यापक ही नहीं होगा। अच्छा, यदि यहाँ है तो तुम्हारे हृदयमें है कि नहीं? कि तुम्हारे हृदयमें है! यह कितने सौभाग्य, कितने आनन्द, कितने हर्षकी बात है कि ईश्वर इसी समय, इसी जगह और तुम्हारे हृदयमें ही मौजूद है! और वह मौजूद हो और तुम उसे ढूँढ न निकालो तो इससे बढ़कर दुर्भाग्यकी बात और क्या होगी?

तो, उपनिषद् उस विद्याको कहते हैं जो इसी समय, इसी जगह और तुम्हारे हृदयमें सटे हुए ईश्वरको प्रकाशित कर दे। जैसे रोशनीमें घड़ी दीखती है—ऐसे ही यह ब्रह्म-विद्या पैदा होकर सारे अन्धकारको मिटा देती है और चमाचम-चमाचम चमकता हुआ और सबको चमकानेवाले स्वयं प्रकाश परमेश्वर जो तुम्हारे हृदयमें हैं उसका दर्शन करा देती है। यह दूसरेके दिलमें दिखानेवाली विद्या नहीं है, यह मरे हुए ईश्वरका वर्णन करनेवाली विद्या नहीं है, यह आगे जो पैदा होगा, उसका वर्णन करनेवाली नहीं है। यह तो इसी समय, जैसा ईश्वर है, जो ईश्वर है, यहाँ ईश्वर है, अभी ईश्वर है और तुम्हारे शरीरमें, तुम्हारे दिलमें ही ईश्वर है, उस ईश्वरको प्रकाशित करनेवाली विद्या है और इसीलिए इसका नाम उपनिषद् है।

अब, यह कैसे ईश्वरको दिखाती है यह प्रसङ्ग कठोपनिषद्में सुनावेंगे!

❖

कठोपनिषद्—प्रवचन

शान्तिपाठ

ॐ सह नाववतु। सह नौ भुनक्तु। सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु विद्विषावहै।

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

मंत्रार्थ :—ॐ! वह परमेश्वर हम दोनों—(आचार्य और शिष्य)की साथ-साथ रक्षा करें। हम दोनोंका साथ-साथ पालन करें। हम दोनों साथ-साथ विद्या सम्बन्धी शक्ति प्राप्त करें। हम दोनोंकी पढ़ी हुई विद्या तेजस्वी हो। हम परस्पर द्वेष न करें। त्रिविध शान्ति हो।

ॐ सह नाववतु सह नौ भुनक्तु—ॐ यह परमेश्वरका नाम है। उन परमेश्वरसे यह प्रार्थना की जाती है कि वह परमेश्वर हम दोनोंका—गुरु और शिष्यका अथवा वक्ता और श्रोताका, जो भी यहाँ बैठे हैं और अध्ययन—श्रवण—प्रवचन कर रहे हैं, साथ-साथ रक्षण और पालन-पोषण करें। (नौ का अर्थ है दोनों, **सह**का अर्थ है साथ-साथ, **अवतु**का अर्थ है रक्षा करे और **भुनक्तु** का अर्थ है पालन—पोषण करें)।

रक्षा करें और पालन-पोषण करें—यह बात दो बार क्यों कही गयी? इसलिए कही गयी क्योंकि रक्षा करना और पालन करना—ये दो बाते हैं। जैसे आपके बालकपर कोई चील झपटे या कुत्ता झपटे तो आप डण्डा लेकर उस चीलको या कुत्तेको मार भगाते हैं। यह बालककी रक्षा हुई। लेकिन जब उसी बालकको दूध पिलाते हैं तब उसका पालन-पोषण करते हैं। रक्षाकी और पालनकी दोनों क्रियाओंमें अन्तर है। इसी प्रकार हमारे जीवनमें जो विघ्न-बाधा आती हैं उससे बचाव करनेका नाम रक्षा है और जिसके द्वारा जीवनमें आगे बढ़ें, जीवन धारण करें, उन्नति करें, उसका नाम पालन-पोषण है।

तो देखो, आपके मनमें कोई शंका हो और उसको मिटा दें, तो यह आपके मनकी रक्षा हुई, और आपके मनमें ज्ञान भर दें तो यह आपके मनका पोषण हुआ, पालन हुआ। समझो आपके मनमें कामका आवेश आया, क्रोधका आवेश आया, लोभका आवेश आया और आपने ऐसी युक्ति की कि वह तुरन्त कट गया, तो रक्षा हो गयी और आपके मनमें शम-दम-उपरति-तितिक्षा आदि जो सम्पत्ति है सो भर दी, तो यह क्या हुआ कि मनका पालन हो गया। अनिष्टसे बचानेका नाम 'रक्षा' है और इष्टका दान करना पालन है। तो 'सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु' साथ-साथ हम दोनोंकी रक्षा हो, अर्थात् हम अनिष्टसे बचें और साथ-साथ हम दोनोंका पालन हो, अर्थात् हम दोनोंको इष्ट वस्तुकी प्राप्ति हो। केवल बचाव ही काफी नहीं है, लक्ष्य प्राप्ति भी होनी चाहिए!

जैसे देखो, किसीके शरीरमें मैल लगा है, साबुनसे धो दिया—इतना ही काफी नहीं है, शरीरका चिकना होना भी आवश्यक है। क्षौर करवाया, तो बाल निकल गये, पर बाल निकलना ही काफी नहीं है, सिरका स्निग्ध होना भी जरूरी है। स्निग्ध होना, उसका पालन होना है और उसपर बाल थे, उसका हट जाना—यह उसकी रक्षा होना है। इसको 'दोषापनयन' और 'गुणाधान' बोलते हैं—अर्थात् 'अवतु'का अर्थ है दोषापनयन और 'भुनक्तु'का अर्थ है—गुणाधान। तो, हमारे जीवनमें जो दोष हैं वे दूर हों और हमारे जीवनमें गुण आवें।

'सह वीर्यं करवावहै'—हम दोनों साथ-साथ अपनी शक्तिका प्रयोग करें। माने ब्रह्मको समझना है, तो गुरु जैसे समझावे शिष्य वैसे समझे। दोनोंकी बुद्धि एक दिशामें चले—बालकी खाल निकालने-में तत्पर न होकर वस्तुको समझाने और समझनेमें दोनोंकी बुद्धि लगे। यह नहीं कि एकने अनुकूल सोचा तो दूसरेने प्रतिकूल सोचा।

'संगच्छध्वं संवदध्वं संवो मनांसि जानताम्'—देवा भागं यथापूर्वे संजानाना उपासते—अर्थात् कदम-से-कदम मिलाकर चलो, स्वर-से-स्वर मिलाकर बोलो, लक्ष्यकी प्राप्तिके लिए सब मिलकर विचार करो, क्योंकि जब-जब देवता विजयी हुए हैं, शक्तिशाली हुए हैं तब-तब एक विषयपर मिलजुल कर विचार करनेसे, काम करनेसे हुए हैं। विघटनकी शक्तिको प्रबल नहीं करना चाहिए, संगठनकी शक्तिको प्रबल करना चाहिए। तो हम लोग अपनी बुद्धि, अपनी वाणी एक दिशामें ब्रह्म—प्राप्तिके लिए लगावें।

'तेजस्वि नावधीतमस्तु'—नौ आवयवोः अधीतं तेज अस्तु।

हम दोनोंका अध्ययन तेजस्वी हो। माने हम जो पढ़ते हैं, वह कहीं अँधेरेमें न चला जाय। हम जो प्रवचन करते हैं, सुनते हैं, वह कहीं तमोगुणके अन्धकारमें विलीन न हो जाय कहीं वह रजोगुणके चिन्तनमें, असावधानीमें न खो जाय। तब क्या हो? कि तेजस्वी हो। तेजस्वी हो माने हमारे हृदयमें प्रकाश हो और प्रकाश होनेसे हमारे हृदयमें जो अज्ञान है, संशय है, विपर्यय है, उसको यह दूर करे।

'मा विद्विषावहै'—हम लोग आपसमें विद्वेष न करें, क्योंकि विद्वेष जलन है। द्वेषकी एक सबसे बड़ी विशेषता है—द्वेष में भी विशेषता होती है, इसको द्वेष करनेवाले नहीं समझ पाते हैं। देखो, जब कोई रेलके इंजनमें काम करने लगता है तब उसको गर्मी तो हर समय लगती है पर मालूम नहीं पड़ती? क्योंकि गर्मी लगते-लगते वह उसके लिए नाचीज-सी हो गयी है। परन्तु, यह द्वेष जो है यह आग है। कैसे आग है? कि अग्निका स्वभाव यह है कि वह जिस लकड़ीमें लगती है उसी लकड़ीको पहले जलाती है, बादमें दूसरेको गरम करती है। बटलोई बादमें गरम होगी, उसमें पानी बादमें गरम होगा। पड़ोसीके घरमें आग बादमें लगेगी, पहले तो जिसमें आग लगेगी उसीको जलावेगी। तो द्वेषका स्वभाव आगका है कि जिस हृदयमें यह पैदा होता है पहले उसीको जलाता है, उसीको ताप देता है, उसीको भस्म करता है। देखो, तुम्हारे हृदयमें कभी किसीके लिए आग लगती है कि नहीं लगती है? यदि कभी किसीके लिए तुम्हारे दिलमें आग लगती हो तो दूसरेकी रक्षा तो जुदा, पहले अपनी रक्षा करना। पहले अपने कपड़ेकी रक्षा करना, पहले अपने दिलको बचाना—उसमें आग न लगने पावे। और यदि श्रोता व वक्ताके हृदयमें आग लग जावे तब तो यह जो वेदका प्रवचन है—यह समझमें नहीं आवेगा। इसलिए, हमलोग कभी, कहीं किसीसे द्वेष न करें।

देखो, जो लौकिक पुरुष हैं, व्यापारी हैं वे व्यापारमें एक-दूसरेसे द्वेष भी कर लेते हैं। जो साम्प्रदायी लोग हैं, पन्थाई लोग हैं वे एक-दूसरेसे द्वेष कर लेते हैं। जो जातिवादी हैं, प्रान्तवादी हैं, वे एक-दूसरेसे द्वेष कर लेते हैं। राष्ट्रवादी भी एक-दूसरेसे द्वेष कर लेते हैं। मानवतावादी भी मानव जातिकी रक्षा के लिए प्राणी-मात्रको चूस लेते हैं। बन्दरको चूसेंगे, मेंढकका ऑपरेशन करेंगे—वे दूसरे प्राणियोंके दुश्मन होते हैं। मानवतावादी भी दूसरे प्राणियोंका उतना ध्यान नहीं रखते हैं। परन्तु, एक ब्रह्मवादीका विचार करो—वह न राष्ट्रवादी है, न

मानवतावादी है, न ब्रह्माण्डवादी है, न प्रान्तवादी है, न जातिवादी है, न सम्प्रदायवादी है, न गुणवादी है, न व्यक्तिवादी है, वह तो ब्रह्मवादी है। तो ब्रह्मज्ञान होनेके लिए जो कि सबके दिलमें एक सरीखा रहता है अपने दिलको निर्मल करना, स्वच्छ करना अत्यन्त आवश्यक है। इसलिए यदि हमें ब्रह्म विद्याके मार्ग पर चलना है, जिज्ञासु होना है, यदि परमात्माको प्राप्त करना है तो हमें अपने दिलको द्वेषसे बचाना पड़ेगा, अपने हृदयकी रक्षा करनी पड़ेगी।

रक्षत रक्षत कोषानामपि कोषं हृदयम्।
यस्मिन् सुरक्षिते सर्वं सुरक्षितं स्यात्॥

सब खजानोंका खजाना तुम्हारा दिल है। सब पूँजियोंकी पूँजी तुम्हारा हृदय है। यदि तुम्हारा हृदय सुरक्षित है, तो फिर हृदयमें धर्म भी आ जायेगा, ज्ञान भी आ जायेगा, भक्ति भी आ जायेगी। लेकिन कहीं यदि दिल ही जल गया—तब फिर कहाँ धर्म आवेगा, कहाँ ज्ञान आवेगा और कहाँ भक्ति आवेगी? बाहरका शरीर आगसे जलता है और भीतरका शरीर द्वेषसे जलता है, इसलिए अपने शरीरको, आत्माको, अपने अन्तःकरणको बचानेके लिए अपने हृदयको द्वेषसे मुक्त रखना चाहिए। इसलिए उपनिषद्के प्रारम्भमें तीन बार शान्ति—शान्ति—शान्ति बोलनेकी प्रथा है—**ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!** हमारा स्थूल शरीर शान्त हो! सूक्ष्म शरीर शान्त हो! कारण-शरीर शान्त हो! स्थूल-शरीर शान्त हो—का अर्थ है कि जब आप श्रवण करनेके लिए या वर्णन करनेके लिए बैठें तो बारम्बार आसन न बदला करें, आँखको इधर-उधर न भेजा करें, किसीसे बातचीत न किया करें, इशारे न किया करें। ॐ शान्ति। यह स्थूल शरीर भी ब्रह्म विद्याके ग्रहणके लिए शान्त होवे।

सूक्ष्म शरीर शान्त होवे माने मनको दुकानपर न भेज देवें, मनको पड़ोसीके घरमें न भेज देवें। कारण शरीर शान्त होवे माने उसमें जो अज्ञान है उस अज्ञानकी शान्तिके लिए पूरी सावधानीके साथ इस प्रवचनका श्रवण करें। तब ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!—और शरीर चंचल हो, मन चंचल हो और अज्ञान-निवारणकी इच्छा न हो तो यह सुना हुआ प्रवचन किस काम आवेगा?

कठोपनिषद्-प्रवचन

पिता द्वारा नचिकेताका मृत्युको दान

(अध्याय—१, वल्ली—१ मंत्र १-४)

ॐ उशन् वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस॥ १.१.१

तꣳह कुमारꣳसन्तं दक्षिणासु नीयमानासु श्रद्धाविवेश सोऽमन्यत॥ १.१.२

अर्थ :—प्रसिद्ध है कि वाजश्रवाके पुत्र वाजस्रवसने यज्ञफलकी इच्छासे विश्वजित यज्ञ किया जिसमें उसने अपना सारा धन दे दिया। उसका नचिकेता नामका पुत्र था, ऐसा प्रसिद्ध है॥ १॥

उस समय नचिकेता कुमार ही था। उस समय उस बालक नचिकेतामें श्रद्धाका आवेश हुआ जिस समय दक्षिणाके लिए गौ लायी जा रही थी। उस समय पिताकी हितकामनासे आविष्ट होकर बालक नचिकेता (इस प्रकार) विचार करने लगा॥ २॥

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत्॥ १.१.३

अर्थ :—जो जल पी चुकी हैं, जिनमें अब तृण खानेकी शक्ति नहीं रही, जिनका दूध दुहा जा चुका है और जो बूढ़ी होनेसे प्रजननमें भी असमर्थ हो चुकी हैं—ऐसी गौओंका दान-दक्षिणामें देनेसे दाता यजमान आनन्दहीन लोकोंको ही तो जाता है॥ ३॥

स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति।
द्वितीयं तृतीयं तꣳहोवाच मृत्यवे त्वा ददामीति॥ १.१.४

अर्थ :—(ऐसा विचार करके) नचिकेता पिताके समीप जाकर बोला—हे तात! आप मुझे किसको (दक्षिणामें) देंगे। (जब उसने यही बात) दूसरी-तीसरी बार भी कही (तो पिता क्रोधित हो गये और) उस नचिकेतासे उन्होंने कहा—मैं तुझे मृत्युको देता हूँ॥ ४॥

वाजश्रवाके पुत्रको कहेंगे 'वाजश्रवस'। उस वाजश्रवसके पुत्रका नाम था नचिकेता। 'वाज' माने होता है अन्न और 'श्रव'का अर्थ है यश। इस प्रकार वाजश्रवा माने जिसने अन्नदानके द्वारा यश लाभ किया हो। उस वाजश्रवाके पुत्र वाजश्रवसने एक विश्वजित यज्ञ किया जिसमें अपना सर्वस्व अर्पण कर दिया जाता है। वह यज्ञ उसने यज्ञफलकी इच्छासे किया था। उशन्का अर्थ कामनावान् होता है। उस यज्ञमें उसने अपना सम्पूर्ण धन दानमें दे दिया— **सर्ववेदसं।**

अन्न दानके सम्बन्धमें लोकमें एक भ्रान्ति फैल गयी है कि अन्नका दान भिखमंगों और गरीबोंको ही करना चाहिए। लोगोंकी वृत्ति वाह्य हो गयी है, इसलिए लोग ऐसा सोचते हैं। अन्यथा तो जो लोग विद्या-जीवी हैं उनके जीवनका निर्वाह करना भी आवश्यक होता है। जो लोग अपने धर्म, अपनी संस्कृति और प्राचीन विद्याको सुरक्षित रखनेके लिए समर्पित हैं, जो लोगोंके मनमें आने वाले कामक्रोधादि विकारोंको निवृत्त करनेकी विद्या बताते हैं और उनको ईश्वर और धर्मके प्रति उन्मुख करते हैं, उनकी जीविकाका निर्वाह करना भी समाजका दायित्व है। साधु ब्राह्मणको दान देनेकी प्रथाका यही आधार है।

क्या चिन्तन-प्रधान बौद्धिक जीवन जीवन नहीं है? संग्रह करना, कमायी करना, बच्चा पैदा करना ही सबकुछ है? क्या त्याग—वैराग्यका कोई महत्त्व नहीं है? जो दूसरोंको भी कामना, चोरी, लोभ, बेईमानीसे बचनेकी प्रेरणा देते हैं, निश्चय ही उनके जीवनका निर्वाह करना हमारा कर्तव्य है।

तो वाजश्रवाने अन्न देकर यश कमाया था। इसलिए वाजश्रवस माने वाजश्रवाके पुत्र उन्होंने विश्वजित यज्ञ किया और उसमें उन्होंने अपना सर्वस्व दान कर दिया। **सर्ववेदसं ददौ।** इसलिए वह चमक गया। परन्तु उसने यह यज्ञ किया सकाम भावसे—**उशन्** माने कामनावाला।

पहले यह पद्धति थी कि अपनी सम्पत्तिमें-से अपने माँ-बाप, स्त्री-पुत्र आदिके हिस्सेको अलग कर देते थे और अपने हिस्सेकी जो धन-सम्पत्ति बचती थी उस सबका दान करते थे।

दानमें लोग अक्सर गड़बड़ी करते हैं। अपने पुण्य-लाभके लिए लोग महात्माओंके लिए फल तो लाते हैं परन्तु ऐसे दागी या सड़े हुए लाते हैं कि महात्मा उसका उपयोग ही नहीं कर पाता। बाजारसे लोग देवताके लिए सस्ती,

सड़ी सुपाड़ी खरीद कर लाते हैं। अपनेको धर्मात्मा कहलानेका ख्याल और दानमें कंजूसी! ऐसी निम्नकोटिकी वृत्तिसे धर्म कभी उत्पन्न नहीं होता।

दान भी तीन प्रकारका होता है—**धर्म-दान, भक्ति-दान, ज्ञान-दान**। धर्मदानमें देश, काल, पात्रका विचार होता है। भक्ति-दानमें देश, काल, पात्रका विचार मुख्य नहीं होता, उसमें दानसे हमारे भगवान् प्रसन्न होंगे, भगवान्‌की पूजा होगी—यह भाव प्रधान रहता है।

मैं गीता प्रेसमें कोई सात वर्ष रहा। वहाँ मैंने देखा कि सेठजी श्री जयदयाल गोयन्दकाको यदि किसीको पाँच रुपया भी देना होता तो वह पहले गीताका यह श्लोक मनमें बोलते—***देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्***। माने दानका स्थान पवित्र होना चाहिए, समय पवित्र होना चाहिए और पात्रको दान करना चाहिए। वे धर्म-दान करते थे। और भाईजी श्रीहनुमान प्रसाद पोद्दारको कभी किसीको कुछ देना होता तो कहते—अरे यह तो भगवान् ही लेने आ गये, और नारायण कहते और दे देते। वे भक्ति-दान करते थे। अरे भाई! देना तो दो रुपया और उसका तमाम इतिहास उसकी हिस्ट्री, काहेको दिमागमें भरना? जितना जानते हैं उसीसे मस्तिष्क विकृत हो रहा है और अधिक उसमें बातें भरके काहेको खराब करते हो?

ज्ञान-दान इन दोनोंसे विलक्षण है। अन्त:करणकी शुद्धिके लिए ज्ञान-दान है। यह न तो परमेश्वरको देना है और न किसी गरीबको देना है। इसमें तो आत्मा-अनात्माका विवेक करके कि जो अनात्म वस्तु है वह आत्मामें तुच्छ है, मिथ्या है, है ही नहीं—इस दृष्टिसे परित्याग है और अधिकारी द्वारा जिज्ञासु-मुमुक्षुको यह दृष्टि दानमें दी जाती है।

इस प्रकार वेदान्त ज्ञानमें (ज्ञान-दानमें) परित्याग होता है, भक्ति-दानमें परमेश्वरकी पूजा होती है और धर्म-दानमें देश-काल-पात्रका विचार किया जाता है।

अब नारायण! यह वाजश्रवस कर तो रहे थे सकाम सर्वस्व दान, माने धर्मदान कर रहे थे, परन्तु परिवारके प्रति राग होनेके कारण उन्होंने सब अच्छी-अच्छी वस्तुएँ तो परिवारके सदस्योंके लिए निकाल कर रख दीं और अपने हिस्सेमें खराब-खराब वस्तुएँ रख लीं और अब विश्वजित यज्ञमें उन्हीं खराब-वस्तुओंका दान वे ब्राह्मणोंको दानमें दे रहे थे।

वेदके मूल मन्त्रोंमें **'सर्वमेद्य'** और **'विश्वजित'** शब्दोंका प्रयोग है। इसका

अर्थ है अपना सर्वस्व दान करके सारी दुनियाको जीतनेवाला यज्ञ। तुम अपना सर्वस्व दे दो तो विश्वविजयी हो जाओगे। दुनियाको जीतनेकी यही पद्धति है। किसीको मारकर, दबाकर, लूटकर विश्वविजयी नहीं हो सकते। आज तुम भले किसीको जीत लो, बादमें उसका बेटा प्रबल होगा तो तुम्हें जीत लेगा। श्रीहर्षके पिताने पहले कश्मीरी पंडितोंको जीत लिया था, बादमें कश्मीरी पंडितोंने श्रीहर्षके पिताको जीत लिया। तब श्रीहर्षने प्रतिज्ञा की कि कश्मीरके एक-एक पंडितको हरायेंगे। लेकिन कोई उसे राजाके पास जाने ही नहीं देता था। तब उसने ऐसा चमत्कार दिखाया कि बड़ा सिद्ध हो गया। इस प्रकार जय-पराजयकी यह परम्परा चलती रहती है। असलमें विजय प्राप्त करनेका यह तरीका ही नहीं है। अपने आपको ही दे देना, यही सच्चा तरीका है।

'सर्वमेध' माने 'एक परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं'। केवल ज्ञान रहा, अन्य सब बाधित हो गया—

तुम प्रभु जीओ मैं मर जाऊँ

यह उत्तम सर्वमेध ज्ञान-यज्ञ है। यह न बने तो दूसरे नम्बरकी बात है—कार्यको कारणमें लीन कर दो, घड़ा मिट्टीमें और जेवर सोनेमें लीन कर दो। इस प्रक्रियासे भी अन्तमें परमात्माके सिवा कुछ नहीं बचेगा।

संन्यासी, अवधूत तो सर्वमेध यज्ञ करते ही हैं। पहले राजा लोग भी सर्वमेध यज्ञ करते थे। श्रीरामचन्द्रने अपना सर्वस्व दान कर दिया था—धोतीके सिवा उनके पास कुछ और नहीं बचा था। सीताजीने भी सर्वस्व दान कर दिया था। उनके शरीर पर भी सौभाग्य चिह्नके आभूषण और साड़ीके सिवा कुछ नहीं बचा था। उनका सर्वस्व दान देखकर प्रजाने कहा—हमारे राजा तो तुम्हीं बनोगे। उन्हें फिर राजा बनाया गया।

अब ये वाजश्रवस थे तो बड़े महात्मा, कामनासे धर्म-दान कर रहे थे। विश्वजित यज्ञमें कामनापूर्वक अपना सर्वस्व दान कर रहे थे; परन्तु परिवारके प्रति मनमें राग था, इसलिए अच्छी चीजें तो बेटेके लिए रख दी और खराब चीजें ब्राह्मणोंको दानमें दे रहे थे। मनमें स्वार्थ आने पर धर्म-भावना लुप्त हो जाती है। विस्तार और स्वजनार्पणसे भी धर्म-भावना शिथिल पड़ जाती है। वहाँ हृदयमें श्रद्धाका उदय नहीं होता। यही इन वाजश्रवसके साथ हुआ।

वाजश्रवसके पुत्रका नाम था नचिकेता। वह यह सर्वस्व दानवाला यज्ञ देख रहा था। उसके मनमें श्रद्धाका उदय हुआ। था तो वह 'कुमार'—छोटा बालक।

परन्तु जब उसने दक्षिणाके लिए लायी जा रही गायोंको देखा तो उसका हृदय श्रद्धासे अभिभूत हो गया—**श्रद्धाऽऽविवेशः**।

श्रद्धा हृदयकी पवित्रताका लक्षण है, तर्क और संशय पवित्रताका लक्षण नहीं है। ***संशयात्मा विनश्यति***—संशयात्मा नष्ट हो जाता है, यह भगवान् श्री कृष्णका गीतामें वचन है। जैसे वस्त्रके बिना शरीर नंगा होता है वैसे ही श्रद्धाके बिना हृदय नंगा होता है। श्रद्धा हृदय मन्दिरकी देवी है। श्रद्धा होनेपर ही मनुष्य किसीको अपनेसे श्रेष्ठ स्वीकार करता है। जीवनमें गुरु, शास्त्र, सन्त और धर्मके प्रति श्रद्धा अवश्य होनी चाहिए। वेदमें एक श्रद्धा-सूक्त ही है। प्रातः श्रद्धा अवश्य होनी चाहिए। वेदमें एक श्रद्धा-सूक्त ही है। ***प्रातः श्रद्धा हवामहे***—हम प्रातःकाल श्रद्धाका आवाहन करते हैं।

तो नचिकेताके हृदयमें श्रद्धाका आवेश होगया। उसने देखा कि ब्राह्मणोंको दक्षिणामें दी जाने वाली जो गौएँ लायी जारही हैं वे तो **पीतोदकाः** हैं माने वे अब चलकर पानी पीनेमें समर्थ नहीं है और **जग्धतृणाः** हैं अर्थात् वे इतनी अशक्त हैं कि अब चलकर घास नहीं चर सकतीं, **दुग्धदोहाः** हैं अर्थात् उनका दूध दुहा जा चुका है यानी अब वे दूध नहीं दे सकतीं और **निरिन्द्रयाः** अशक्त इन्द्रियोंवाली हैं। उसने सोचा कि **ता ददत्**—ऐसी निर्बल गौओंका दान दे करके हमारे पिताजी का यज्ञ सफल नहीं होगा, उल्टे ऐसे दानसे तो पिताजीको ऐसे लोकमें जाना पड़ेगा जहाँ उन्हें कोई आनन्द, कोई सुख नहीं मिल सकता—

अनन्दा नाम ते लोकाः तान् स गच्छति।

दानकी वस्तु अपने उपभोगसे भी श्रेष्ठ होनी चाहिए। यह श्रद्धाका अभिप्राय है । हम जिसे दान कर रहे हैं उसे अपनेसे बड़ा मानेंगे तो श्रेष्ठ वस्तुका दान करेंगे और छोटा मानेंगे तो जैसे गरीबको देते हैं वैसे देंगे।

अब नचिकेताके मनमें श्रद्धाके आवेशमें यह विचार उठा कि सत्यका पक्ष लेना चाहिए और आत्म-बलिदान करके भी पिताको अधोगतिसे बचाना चाहिए, उनका जैसे हित हो वैसा करना चाहिए। जो सत्यका प्रेमी होता है वह व्यवहारमें भी परमार्थ-सत्यका अनुसंधान कर सकता है और जो व्यवहारमें असत्यको स्वीकार करता है वह परमार्थ-सत्यके अनुसंधान में भी विफल रहता है। रुपया पानेके लिए झूठ बोल लिया, इज्जत पानेके लिए झूठ बोल लिया, स्त्री पानेके लिए झूठ बोल लिया, कुर्सी पानेके लिए झूठ बोल लिया—माने उसने सोचा कि धर्मसे तो हमारा काम बना नहीं, झूठसे ही बन गया तो क्या हर्ज है। तो उसके मनमें

असत्यके प्रति आदर होगया और साधन-बुद्धि हो गयी। ऐसा व्यक्ति परमार्थ-सत्यके क्षेत्रमें भी कहीं-न-कहीं असत्यका आश्रय अवश्य लेगा। लेकिन परमार्थ-सत्यमें तो ऐसी बुद्धि चाहिए जो समझे कि सत्यको जाने बिना, सत्यको पाये बिना हमारा कल्याण नहीं हो सकता। इसलिए जो व्यवहारमें असत्यकी ओर झुक जाता है, उसमें असलमें परमार्थ-सत्यको प्राप्त करनेकी इच्छा ही ढीली होती है, मिथ्या होती है।

तो नचिकेता सत्यका पक्षपाती है। यहाँ तक पक्षपाती है कि यदि उसके पिताभी कुछ असत्य करें तो उसको भी सुधारनेके लिए वह तत्पर है। इसीसे उसको नचिकेता बोलते हैं। नचिकेता माने अग्नि। वह आग है आग। अग्निका काम है कि वह दान करनेवालेको, धर्म करनेवालेको, यज्ञ करने वालेको ऊर्ध्व लोकोंमें ले जाती है : ***अग्रे नयति इति अग्निः*** । अपने पिता सर्वस्व दानवाला विश्वजित यज्ञ कर रहे हैं और उनका परलोक बिगड़ जाय—यह बात नचिकेताको सह्य नहीं है। यही अग्निका काम है।

जिज्ञासुमें अग्निके कुछ गुण होने ही चाहिए। जैसे—

१-वह अपने दोष-दुर्गुणोंको जलानेवाला अग्नि होना चाहिए। माने उसे दाहक होना चाहिए।

२-दूसरोंको रास्ता दिखावे—उसे प्रकाश होना चाहिए।

३-उसको कोई दबा न सके, ऐसा उसे तेजस्वी होना चाहिए।

यदि जिज्ञासुमें ये गुण नहीं होंगे तो वह कहीं-न-कहीं फँस जायेगा और उसका स्वयंका भी पतन हो जायेगा और दूसरोंके पतनका हेतु भी बन सकता है।

तो नचिकेताने कहा कि हमारे पिताजीका मेरे प्रति राग और पक्षपात होनेके कारण परलोक बिगड़ता है और किया हुआ यज्ञ व्यर्थ होता है, इसलिए चलकर इनसे निवेदन करना चाहिए और निवेदन करनेकी भी शैली क्या है कि—

तत कस्मै मां दास्यसीति

'हे पिताजी! आप मुझको किसको दान करेंगे ?'-माने मेरे प्रति पक्षपातके कारण ही तो आप ब्राह्मणोंको खराब-खराब गौएँ दानमें दे रहे हैं, सो एक दिन तो मुझको भी छोड़कर आपको जाना पड़ेगा, तो अपनी अन्य सम्पत्तिकी तरह मेरा भी दान कर दीजिये न! बताइये, आप मेरा दान किसको करेंगे?

यह दान, अपवाद और बाध—सब एक ही मार्गमें हैं। पहले आदमी दान करे, माने वह वस्तुको महत्त्वपूर्ण समझता है, अच्छी समझता है और अपनी

समझता है,सो पहले वह अपनी वस्तुको योग्य पात्रको दान करे। इससे चित्तमें सन्तोष होगा—एक तो दूसरेको सुख पहुँचानेका सन्तोष और दूसरे अपनी ममताके घटनेका सन्तोष! इसके बाद त्याग आता है। त्यागमें त्याज्य वस्तुके प्रति महत्त्व-बुद्धि नहीं होती कि वस्तु किसको दें, किसको न दें, त्यागमें केवल अपनी अहंता-ममता छोड़ी जाती है। त्यागमें वैराग्य सम्मलित है क्योंकि जब वस्तुमें महत्व-बुद्धि नहीं रही और ममता छोड़नेकी रुचि आ गयी तो वैराग्य तो आ ही गया, बादमें त्याग होता है। वैराग्यके बिना त्याग नहीं होता है। इसके बाद अपवादकी भूमिका आती है। अपवादकी भूमिका यह है कि असलमें ये संसारकी चीजें पहले भी मेरी नहीं थीं और अब त्यागके बाद भी मेरी नहीं हैं,और मैं इन चीजों-वाला पहले भी नहीं था और अब भी नहीं हूँ। वस्तुएँ न मैं न मेरी-इनके साथ मेरा कोई सम्बन्ध ही नहीं है, यह अपवाद है। अन्तमें समस्त इदंका अपवाद होने पर जो बचा वह अपना स्वरूप है। उपनिषद्के महावाक्य उसी स्वरूपको ब्रह्म बताते हैं। उस ब्रह्म-स्वरूपमें द्वितीय नामकी कोई चीज है ही नहीं—इसीको बोलते हैं वस्तुका बाध।

इस प्रकार वस्तुका दान करना भी स्वरूप-ज्ञानके द्वारा वस्तुके बाधकी एक साधन-प्रक्रिया है। प्रत्येक धर्मका इस ढंगसे विचार करना चाहिए कि यह हमारे आत्म-ज्ञानमें और अविद्या-निवृत्तिमें किस रीतिसे मददगार होती है। दुनियाके लोग तो ऐसे सोचते हैं कि हमारा अन्न बड़ा उपयोगी है, इसको किसी भूखेको देंगे तो उसका पेट भरेगा और वह सुखी हो जायेगा और फिर उसके सुखसे हम भी सुखी हो जायेंगे। यह धर्मका दृष्टिकोण हुआ। दूसरे लोग सोचते हैं कि हम एक विशिष्ट व्यक्ति या वर्गको धन देंगे तो वह हमारे धनसे वेद-विद्या पढ़ेगा, वेदान्त-विचार करेगा, अन्तर्दृष्टिसे सम्पन्न हो जायेगा ,योगाभ्यास करेगा, भगवद्भजन करेगा-माने उसका उपकार होगा। तो धर्म या सेवाकी दृष्टिसे जो दान किया जाता है उसमें दाताकी वस्तुओंमें जो महत्त्व-बुद्धि है वह बनी रहती है। परन्तु एक आदमी या साधु जब भगवद्भजनके लिए अथवा आत्मज्ञानके लिए किसी वस्तुका त्याग करता है तब वह वस्तुमें महत्त्व-बुद्धि रखकर ऐसा नहीं करता, और जब वह आत्मज्ञानके लिए विचार करने लगता है तब उन वस्तुओंका अपवाद कर देता है, और जब उसको आत्मज्ञान हो जाता है तब वस्तुका बाध हो जाता है। इसलिए यदि यह दानकी प्रक्रिया भी ठीक-ठीक समझी जाय तो यह आत्मज्ञानमें उपयोगी है।

अब नचिकेता तो अग्नि है। वह पिताकी ममताको भस्म करनेके लिए बोलता है—पिताजी! आप मुझे किसको देंगे? एक बार पिताने उपेक्षा कर दी। द्वितीय, तृतीय बार जब कहा तब पिताको क्रोध आ गया।

ये जो बड़े लोग होते हैं, उनको जो क्रोध आता है वह अपने बड़प्पनके कारण ज्यादा आता है कि सामनेवाला उनके अभिमानपर चोट करता है। ऐसा मत समझना कि सामनेवालेको अपराधी सिद्ध करनेके लिए क्रोध किया जाता है। क्रोधी लोगोंको ऐसा मालूम पड़ता है कि क्रोध करके हमने सामनेवालेको अपराधी जना दिया और उसे दण्डित कर दिया। परन्तु असलमें होता यह है कि जिसके हृदयमें बहुत अधिक कामना होती है कि हमारे ही मनका हो, दूसरेके मनका न हो—जो समझता है कि हमारा मन तो मन है और दूसरेका मन मन नहीं तिनका है, उसको क्रोध ज्यादा आता है। 'क्यों लाड़ले, ऐसा काम क्यों किया?' अब बालक यदि कहे कि 'पिताजी, हमारे मनमें ऐसा आ गया' तो बोलेंगे—'तेरे मनकी क्या कीमत है? मेरे मनकी कीमत है!' 'क्यों श्रीमती जी, आज झाड़ू क्यों नहीं लगायी?' 'कि आज मेरे मनमें झाड़ू लगानेकी नहीं थी'। तो बोले—'तुम्हारे मनकी क्या कीमत है? मेरे मनसे लगानी चाहिए थी।' यह सब बड़प्पनका विलास है कि आदमी अपनी इच्छा पूरी करना चाहता है, दूसरेकी इच्छाको महत्त्व नहीं देता—यही क्रोधका कारण है। जिस समय आदमी क्रोध करता है, उस समय वह अपने अभिमान और अपने दिलकी जलनको ही जाहिर करता है। अहंकार, कामना और अन्तर्ज्वालाकी अभिव्यक्तिका नाम क्रोध है। क्रोधका निमित्त बाहर नहीं होता, यह आग भीतरकी है। ऑफिसमें डाँट खाकर आते हैं और घरमें गुस्सा करते हैं। ठोकर लगी पहाड़में और फोड़ी घरकी सीढ़ी।

तो पिताको नचिकेतापर क्रोध आ गया। बोले—मेरा बेटा होकर ऐसे बोलता है। अरे! मैंने तुमको पैदा किया, मैंने तुमको पांल-पोसकर बड़ा किया, मेरे सामने तुमको ऐसे बोलनेका क्या हक है? बोले— **मृत्यवे त्वा ददामि**

मैं तुझे मृत्युको देता हूँ। गायें तो मैं ब्राह्मणों और ऋत्वजोंको देता हूँ और तुझको मृत्युको देता हूँ।

नचिकेताका विचार

अध्याय—१ वल्ली—१ मंत्र ५-६

पिताके द्वारा यह कहने पर कि 'मैं तुझे मृत्युको देता हूँ' नचिकेता एकान्तमें इस प्रकार अनुताप करने लगा—

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः।
किँस्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाद्य करिष्यति॥ १.१.५

अर्थ :—मैं बहुतोंमें तो प्रथम चलता हूँ (और) बहुतोंमें मध्यम चलता हूँ। यमका ऐसा क्या कार्य है जिसे (पिता) आज मेरे द्वारा सिद्ध करेंगे?॥

(तब नचिकेताने पितासे कहा—)

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे।
सस्यमिव मर्त्यः पच्यते सस्यमिवाजायते पुनः॥ १.१.६

अर्थ :—(हे पिताजी!) जैसे पूर्वपुरुष व्यवहार करते थे उसका विचार कीजिये और जैसे वर्तमानमें पुरुष व्यवहार करते हैं वह भी आप देखिये। खेतीकी तरह मनुष्य पकता है (वृद्ध होकर मर जाता है) और खेतीकी तरह ही पुनः उत्पन्न हो जाता है (अतः अपना आचरण मृषा नहीं करना चाहिए। आप अपने सत्यका पालन कीजिये और मुझे मृत्युके पास भिजवाइये।)

नचिकेताने पिताके यह वचन सुने कि मैं तुझे मृत्युको देता हूँ। अब नचिकेताके मनमें तो पिताके हितकी भावना थी। चाहिए तो यह कि पिताके मनमें पुत्रके हितकी भावना हो और पुत्रसे कभी गलती भी हो जाय तो पिता उसे सम्हाल ले—यह लौकिक दृष्टिकोण है। पर यहाँ हो गया उलटा—नचिकेता हो गया बाप और उसके बाप हो गये बेटे! कैसे? कि नचिकेता अपने पिताका भला चाहता है। उसने सोचा कि पिताजीका यज्ञ साङ्ग सम्पन्न नहीं होगा और उनको यज्ञका इष्टफल तो प्राप्त होगा ही नहीं, उलटे अनिष्ट फल मिलेगा।

नचिकेता यह सोचता है कि मैं बेटा जरूर हूँ परन्तु इस बातको जब समझता हूँ तो पिताके भलेके लिए कुछ करना चाहिए। एक गलती तो पिताजीने यह की कि बेटेका पक्षपात किया और खराब-खराब गौएँ ब्राह्मणोंको दीं। दूसरी गलती इनसे यह हुई कि यज्ञमें दीक्षित होनेपर भी इनको क्रोध आ गया। तीसरी गलती यह की कि इन्होंने मेरा संकल्प कर दिया—**त्वां ददामि**। अब यदि मैं दिया न जाऊँ तो यज्ञमें दीक्षित होकर इनका देनेका संकल्प झूठा पड़ जायेगा; इससे इनका यज्ञफल और बिगड़ जायेगा। इसलिए नचिकेताने यह मान लिया कि पिताजीने हमारा मृत्युको दान कर दिया।

अब नचिकेता सोचने लगा—**बहूनाम् एमि प्रथमः**। बहुतसे पुत्रों अथवा शिष्योंमें तो मैं प्रथम चलता हूँ अर्थात् एक नम्बरका हूँ और **बहूनाम् एमिमध्यमः** बहुतोंमें मैं मध्यम हूँ अर्थात् दो नम्बरका हूँ। तीन नम्बरका तो मैं बिलकुल नहीं हूँ।

एक नम्बरका पुत्र या शिष्य वह होता है जो पिता या गुरुका इशारा समझकर, उसका इंगित समझ करके कि पिता या गुरु क्या चाहता है उसके संकेतके अनुसार काम कर दे। दूसरे नम्बरका वह है जो पिता या गुरुकी आज्ञा पाकर उस आज्ञाका पालन करता है। तीसरे नम्बरका पुत्र वह है जो आज्ञा देनेपर भी काम न करे। वह तो असलमें पुत्र नहीं केवल मूत्र है।

तो नचिकेता सोचता है कि मैं या तो उत्तम हूँ या मध्यम हूँ, अधम तो बिलकुल नहीं हूँ। ऐसे पुत्रको भी पिताने मृत्युको दान कर दिया। मेरा यदि कोई अपराध होता और तब पिता मृत्युको दान कर देते तब तो मैं मर जाता या मृत्यु मुझको मार डालती। लेकिन मेरा अपराध तो कोई है नहीं और मेरे प्रारब्ध अभी पूरे नहीं हुए हैं। इसलिए यदि मैं मृत्युके सम्मुख जाकर उपस्थित हो जाऊँगा तो भी मृत्यु मेरा क्या बिगाड़ेगी?

अब इसमें दो बातोंकी तरफ ध्यान दो। एक है आज्ञा-पालनकी बात। यह नहीं समझना कि आज्ञा-पालनसे कोई धर्म होता है और फिर मनुष्य स्वर्गमें जाता है। यह बात तो पौराणिक है। पौराणिक बात भी ठीक होती है लेकिन उसका एक अभिप्राय होता है। पुराणको समझनेके लिए तो सम्पूर्ण वेद-पुराण-शास्त्रका ज्ञाता होना चाहिए, तब पुराणकी बात समझमें आती है। एक होता है अपनी वासनाके अनुसार चलना और एक होता है दूसरेकी आज्ञाके अनुसार चलना। जो आदमी बड़ोंकी आज्ञाका उल्लंघन करता है उसके हृदयमें तो अपनी वासना बड़ी प्रबल है। अपनी वासनाके प्रबल होनेका प्रमाण यही है कि वह शास्त्रकी, गुरुकी, बड़ोंकी,

भगवान्‌की बात न मानकर अपने मनमें जो इच्छा-वासना उठती है उसीको करता है। और बोलता है कि हम स्वतन्त्र हैं। अरे, वह स्वतन्त्र नहीं, अतन्त्र है, उच्छृङ्खल है। दूसरेके काबूमें तो तुम हो ही नहीं, अपने भी काबूमें नहीं हो। जब मनने तुम्हें गड्ढेमें डाला तो तुम गड्ढेमें गिर गये। मनने कहा—नशा पीओ, नशा पीने लगे। नशा माने जिससे मनुष्यकी बुद्धिका नाश हो जाय—*नश्यते अनया।*

जब मनुष्य अतंत्र हो जाता है तो धीरे-धीरे आदत बिगड़ जायेगी। फिर मनमें होगा कि यह बात नहीं बोलनी चाहिए परन्तु बोलोगे; मनमें होगा कि नहीं मारना चाहिए परन्तु जब गुस्सा आ जायेगा तब मारोगे; मनमें होगा इस चीजको नहीं खाना चाहिए परन्तु जब वह चीज सामने आयेगी तब खा लोगे। बुद्धि कहेगी कुछ, इन्द्रियोंसे करोगे कुछ। यह क्यों हुआ कि तुमने आज्ञा-पालन करना नहीं सीखा, मनमानी करना सीखा है। अब तुम अपनी इन्द्रियोंके परतन्त्र हो, अपने मनके परतन्त्र हो। जो दूसरोंकी आज्ञा मान करके चलता है उसका मन अपने अधीन हो जाता है और जो आज्ञा-पालन नहीं करता उसका मन अपने वशमें नहीं रहता। अतः वासनाकी निवृत्तिके लिए, अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए आज्ञा-पालन करना आवश्यक है।

अब देखो, आज्ञा-पालनमें भी एक नियन्त्रण है। अफसर कोई आज्ञा दे तो उसको मानें या न मानें? यदि यह प्रश्न उठे, तो उसकी कसौटी यह है कि वह आज्ञा संविधानके अनुसार है या नहीं? यदि तुम्हारा अफसर संविधानके खिलाफ, कानूनके विरुद्ध किसी अपकर्मको करनेकी आज्ञा देता है तो उसकी वह आज्ञा मानने योग्य नहीं है। कहो कि फिर तो वह अफसर हमको नौकरीसे ही छुट्टी कर देगा, तो भाई जो धर्मात्मा होगा वह निर्भय होगा। मगर हम इस बातको यहींपर छोड़ देते हैं।

देखो, आज्ञाकी कसौटी यह है कि वह बिना अन्तःकरण वाले पुरुषके द्वारा बोली गयी जो वेद-वाणी है, भ्रम-प्रमाद-विप्रलिप्सा-करणापाटव दोषोंसे मुक्त जो अपौरुषेय वेद-वाणी है, जो मनुष्यका सृष्टिकी आदिसे लेकर अन्त तकके लिए शाश्वत संविधान है, सनातन कानून है—उसे वेद-वाणीके अनुकूल जो आज्ञा है वह तो ठीक है और जो उसके प्रतिकूल है वह ठीक नहीं है, मानने योग्य नहीं है।

वस्तु और क्रियामें गुण-दोष देख करके जो कानून बनाया जाता है वह सनातन कानून नहीं होता। सड़कपर मोटर बायें चले कि दायें चले? भारतमें बायें चलना कानून है, अमेरिकामें दायें चलना कानून है। दोनों देशोंका अलग-अलग

कानून है। भारतमें भले दायें जगह खाली हो परन्तु दायें चलना अपराध है और अमेरिकामें भले बायें जगह खाली हो परन्तु बायें चलना अपराध है। तो आज्ञामें संविधानके अनुसार होना आवश्यक है। वस्तुमें गुण-दोष या क्रियामें गुण-दोषके आधारपर जो आज्ञा होती है वह निर्दोष नहीं होती।

दूसरी बात ध्यानमें लानेकी यह है कि नचिकेताको तो पिताने आज्ञा दी थी कि मैं तुम्हें मृत्युको देता हूँ और वह भी क्रोधमें भरकर दी थी, फिर भी नचिकेताने उनकी आज्ञाका पालन किया। यह नचिकेताकी श्रेष्ठताको बताता है। वह सत्यका, न्यायका प्रेमी है। उसमें त्यागकी प्रधानता है। वह मृत्युसे भी निर्भय है। आप जानते ही हो कि दैवी-सम्पत्तिका प्रथम लक्षण 'अभय' ही है—

अभयं सत्त्वशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः (गीता १६.१)

निर्भयता दैवी सम्पत्ति है और वह ब्रह्मविद्याके जिज्ञासुमें रहनी ही चाहिए।

हमलोग तो भाई पुराने खण्डहरोंकी रक्षा करनेवाले हैं। जैसे पुरानी इमारतोंको देखने जाते हैं—लखनऊमें जैसे छोटा इमामबाड़ा है, बड़ा इमामबाड़ा है, आगरामें ताजमहल है—तो वहाँ इमारतें दिखानेवाले 'गाइड' होते हैं, वे पुराने जमानेके परि-प्रेक्ष्यमें उन इमारतोंका इतिहास भी बताते हैं और यात्री उन इमारतोंमें तोड़-फोड़ न करें, यह ध्यान भी रखते हैं; वैसी ही स्थिति हमारी है। वह क्या कि प्राचीन संस्कृति-में, वैदिक धर्ममें कौन-सी बात किस अभिप्रायसे कही हुई है, यह बात हम बताते हैं। अब आपलोग किस रास्तेसे चलते हो और किस अभिप्रायसे चलते हो, इसकी व्याख्या आप स्वयं करलें। हम तो केवल पुराने धर्मकी व्याख्या ही करके बताते हैं।

देखो, यह जो आज्ञा-पालन है वही अन्तमें तत्त्वज्ञान करा देगा। कैसे? कि एक दिन वेदकी आज्ञासे और गुरुकी आज्ञासे तुम्हारी आज्ञाकारिणी बुद्धि तत्त्वको ग्रहण कर लेगी। तुमने यह आज्ञापालन रूप अखण्ड सम्पत्ति अर्जित की हुई है। आज्ञा-पालन भी मनुष्यको तत्त्वके द्वारपर पहुँचा देता है।

और निर्भयता? निर्भयता उसको प्राप्त होगी जो अकेलेमें रहनेका अभ्यास करेगा। अकेलेमें रहनेका अभ्यास ब्रह्मचारी थोड़े ही करेगा क्योंकि उसे तो गुरुके पास रहना पड़ेगा। गृहस्थ भी नहीं करेगा क्योंकि घरमें वह परिवारके साथ रहता है और घरके बाहर वह भीड़में रहता है। वानप्रस्थ भी अकेला नहीं रहता क्योंकि स्त्री तो उसके साथ ही रहती है। तब अकेला जीवन किसका होगा? कि संन्यासीका।

चलो रे संन्यासी अकेले। हरिः ॐ तत्सत्, हरिः ॐ तत्सत्॥

यह अकेले रहनेका जो अभ्यास है वह तुम्हें अद्वितीय ब्रह्मकी ओर जानेकी

प्रेरणा देगा। अकेला निवास अर्थात् कैवल्य-निवास। यह कैवल्य-निवास तुम्हें अद्वितीय ब्रह्मज्ञानके लिए प्रेरणा देगा।

देखो, ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ—इनमें-से कोई अकेला नहीं। अब संन्यासी हो गये तो भी अकेले कहाँ होते हैं? क्योंकि संन्यासी भी जब किसी कमरेमें बन्द होते हैं तब वहाँ भी मक्खी मच्छर तो रहते ही हैं और जब जंगलमें पेड़के नीचे बैठते हैं तो चिड़िया चीं-चीं करती हैं, कौए निशाना लगाकर बीट करते हैं। और यदि गंगा किनारे रहे तो वहाँ मछली हैं, कछुआ हैं, साँप हैं, मगरमच्छ हैं। तो वहाँ भी अकेले कैसे? बोले—हम किसीकी ओर देखेंगे ही नहीं, एकान्तमें शान्त होकर ध्यान लगाकर बैठेंगे। ध्यान लगाकर बैठोगे तो सीधे ब्रह्मलोकमें जाओगे, वहाँ भी अकेले कहाँ होओगे? कि तब? कि जब द्वैतका बाध हो जायेगा तुम अपनेको अद्वैत स्वरूपसे जान जाओगे, तब असली एकान्त होगा।

तो, बिना द्वैतकी निवृत्तिके कोई निर्भय नहीं हो सकता और इसकी प्रेरणा मिलती है अकेले रहनेसे। अब ये जो योगी लोग हैं न महाराज, वे इस निर्भय ब्रह्मपदकी प्राप्तिसे डरते हैं—कहते हैं क्या वास्तवमें कोई और नहीं रहेगा? क्या केवल मैं-ही-मैं रहूँगा? भक्त लोग भी डरते हैं। श्रीहितहरिवंश महाप्रभुने कहा कि हमको तो कैवल्यके नामसे ही डर लगता है। जो दुनियाको और अपने शरीरको सत्य मानते हैं वे सब कैवल्यसे डरते हैं।

हमारे एक मित्र थे—डबल एम. ए. पास थे, विश्वविद्यालयके स्नातक थे। बड़े चिकने चुपड़े रहते थे, सजे-सजाये, सौन्दर्य-प्रसाधनोंसे युक्त। वह बढ़िया बाल और मालवीयनुमा चदरा डाले हुए। उनके साथ प्रपंचके मिथ्यात्वकी कभी बात चलती तो वे डर जाते थे—अरे राम! राम!! राम!!!

तो भ्रमको मिटानेकी कोशिश करना—यह भी परमात्माकी प्राप्तिमें साधक है। आप देखो! यहाँ इस आख्यामें किस कौशलसे जिज्ञासुमें होने वाले सद्गुणोंका वर्णन कर दिया गया है—न्यायका पक्ष, सत्यका पक्ष, आज्ञाकारिता, हितैषिता, निर्वासनिकता, निर्भयता, ये जिज्ञासुके सब गुण नचिकेतामें हैं।

इधर नचिकेता यमराजके पास जानेको तैयार हुआ, उधर उसके पिताजी पश्चात्ताप कर रहे थे कि मैंने पुत्रसे यह क्या कह डाला। तब नचिकेता पिताजीके पास जाकर इस प्रकार बोला—

अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथा परे।

''पिताजी! जरा दुनियाकी ओर देखिये। अनुपश्य माने आलोचय। आ माने

पूरी तरह और लोचय माने अपने लोचनोंका, नेत्रोंका विषय बनाओ। माने गौरसे, पूरी तरह इसपर विचार करो। अनुपश्य माने इसका अणु-अणु देख लो, इस बातका रत्ती-रत्ती भर, माशा-माशा, तौलकर जरा देख लो। दुनियाकी क्या बात देख लें? कि जो गति आपके पूर्व पुरुषोंकी हुई वही गति उनके बादके लोगोंकी भी होगी—जैसे पहलेके लोग मर गये वैसे बादके लोग भी मर जायेंगे। जैसे पिता, पितामहकी गति हुई वैसी ही उनके पुत्र-पौत्रादिकी गति होगी। मौतने सबको अपने पंजेमें दबा रखा है। तब फिर किसके लिए धर्मका मार्ग छोड़कर अधर्मके मार्ग पर चला जाय? 'पिताजी! आप अपने पूर्व पुरुषोंके आचरणकी आलोचना कीजिये और जो आजके सत्पुरुष हैं उनके आचरणकी आलोचना कीजिये। उनमेंसे किसी भी पुरुषने अपने कथनको मिथ्या नहीं किया। और जो असत्पुरुष होते हैं उनका तो आचरण अपने कहनेके विपरीत ही होता है। परन्तु असलियत यह है कि अपने आचरणको मिथ्या करके कोई भी व्यक्ति इस सृष्टिमें अजर-अमर नहीं हो सकता। **सस्यमिव मर्त्यः पच्यते**-खेतीकी तरह मनुष्य पकता है और फिर जीर्ण होकर मर जाता है। **सस्यमिव अजायते पुनः**—और मरकर खेतीके समान ही फिर उत्पन्न हो जाता है जैसे अनाजके दाने पहले उत्पन्न होते हैं फिर बढ़ते हैं, पकते हैं, और खेतमें मिट्टीमें मिल-कर (यानी मरकर) फिर उसी दानेके रूपमें उत्पन्न हो जाते हैं; उसी प्रकार मनुष्य उत्पन्न होता है, बढ़ता है, पकता है, मरता है और पुनः दूसरा शरीर धारण करके उत्पन्न होता है। अतः इस लोकमें नित्य रहनेवाली चीज कुछ नहीं है। फिर इस अनित्य जीवलोकमें अपने कथनको झूठा क्यों किया जाय? इसलिए आप शोक मत कीजिये। आपने मुझे मृत्युको दान किया है अतः आप मुझे यमराजके पास भेज दीजिये।'

देखो, आजकल बच्चे पूछते हैं कि हम यह काम क्यों करें? एक लड़केसे हमने कहा—भाई, तुम्हारा यज्ञोपवीत संस्कार हो गया है, अब तुम्हें रोज सन्ध्या-वन्दन करना चाहिए। तो वह बोला—क्यों करना चाहिए? अब हम उससे कहें कि सन्ध्या-वन्दन करनेसे तुम परीक्षामें पास हो जाओगे तो कहेगा—क्या जो लोग सन्ध्या-वन्दन नहीं करते वे पास नहीं होते? वे भी तो पास होते हैं। अच्छा, उससे कहें कि सन्ध्या-वन्दन करोगे तो खानेको लड्डू मिलेगा तो कहेगा—पैसे वालोंको तो ऐसे ही लड्डू मिल जाता है। तो जो लोग क्यों-क्योंके चक्करमें पड़ गये उनकी बुद्धि पहुँच गयी दुकानपर। वे प्रत्येक कामको व्यापारकी नजरसे देखते हैं कि इसके करनेसे हमको क्या फायदा होगा। क्या निर्लोभता नामकी कोई चीज दुनियामें नहीं रही? क्या निष्कामता नामकी कोई चीज दुनियामें नहीं रही। देखो, यह बुद्धिमत्ताका

लक्षण नहीं है, यह लोभाक्रान्त बुद्धिका लक्षण है, यह वृत्तिके पतनका लक्षण है। लोग किसीकी मदद पीछे करते हैं, लाभ क्या होगा—यह बात पहले सोचते हैं।

देखो, यह जो रोज सन्ध्या-वन्दन करना है निष्काम भावसे, बिना किसी फायदेकी दृष्टिके, यह जीवनमें निष्काम कर्म करनेकी आदत डालना है। सूर्यकी रोशनीमें तुम्हारी आँख देखती है तो सूर्यके प्रति कृतज्ञता प्रदर्शन करना तुम्हारा कर्त्तव्य है या नहीं? है। तुम्हें कोई अंधेरेमें रास्ता दिखाकर उजालेमें ले आवे, तुम्हें कोई टार्च या लालटेन देदे, तो तुम उसको 'थैंक यू' कहोगे या यह मान लोगे कि अब तो हम उजालेमें आ ही गये, 'थैंक यू' कहनेकी भी क्या जरूरत है? यह तो कृतघ्नता होगी।

तो धर्मके विचारका यह तरीका नहीं है। तरीका यह है कि हमारे बापने, हमारे दादाने जिस धर्मका अनुष्ठान किया है, उसको हम भी क्यों न करें? क्यों करें—यह प्रश्न नहीं है, क्यों न करें—यह प्रश्न है। क्या ताश खेलना है—इसलिए नहीं करते? या क्लबमें जाना है—इसलिए नहीं करते? या पैसा कमाना है—इसलिए नहीं करते? कौन-सा महत्त्वपूर्ण काम सामने रखकर तुम उस निष्काम कर्मका परित्याग करते हो?

अरे, नचिकेताकी ओर भी तो देखो कि वह क्या कहता है? वह कहता है कि पूर्व पुरुषोंने भी और वर्तमानके सत्पुरुषोंने भी अपने कथनको मिथ्या नहीं किया फिर हम और आप क्यों करें? सत्याचरणसे ही मनुष्यकी कीर्ति अजर-अमर होती है, मनुष्य तो स्वयं जीता है फिर मर जाता है।

कुमार सिद्धार्थ (महात्मा बुद्ध)से उनके पिताने कहा—राज्य लो, राज्य करो। सिद्धार्थने कहा कि चार बातें पूरी हों तो मैं राज्य ले सकता हूँ—

१. हमारे शरीरमें कभी बुढ़ापा न आवे, सदा जवानी बनी रहे।

२. मैं कभी मरूँ नहीं।

३. मेरे शरीर में कोई रोग न आवे और

४. मेरा राज्य निष्कंटक हो, कोई मेरा शत्रु न हो।

क्या कभी ऐसा हो पाना सम्भव है? कभी नहीं।

छान्दोग्योपनिषद्में आता है कि यह सृष्टि मृत्युके पंजे में है। इसमें किसके लिए किस बातसे डरते हो? किस बातके लिए वासनाके अधीन होते हो? किसके लिए सत्यका मार्ग छोड़ते हो? किसके लिए अन्याय करते हो? यह सृष्टि तो ऐसे ही चल रही है!

पहले दृश्यको देखो कि दृश्यमें सुख नहीं है। दृश्यमें सुख हम भरते हैं।

हिन्दुस्तानी लोग मिर्च मसाला खाकर कितनी तृप्ति अनुभव करते हैं, किन्तु विदेशी लोगोंके लिए तो मिर्च-मसाला-तेलका भोजन करना ही मुश्किल पड़ जायेगा। कहाँ है तुम्हारी रुचि? दुनियामें हम कहाँ फँसे हैं? अपनी रुचिको बहुत बड़ा महत्त्व देकर हम फँसे हुए हैं।

असलमें संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो हमें सुख देती है। हम उसमें अपना सुख डालकर सुखी होते हैं। जैसे चाय मीठी नहीं होती शक्कर मीठी होती है, जैसे चायमें शक्कर डालकर हम चायको मीठी बनाते हैं वैसे ही संसारके विषय मीठे नहीं होते, उनमें हम अपनी वासना डालकर उनको मीठा बनाते हैं। तो यह बात समझ लो कि संसारके किसी दृश्यमें खुदकी मिठास नहीं है, मिठास हमारी आत्माकी डाली हुई है।

दूसरी बात यह समझनी है कि वस्तु स्वयं आकर हमको नहीं फँसाती है, हम स्वयं उसको उठाकर अपनेसे चिपटाते हैं! वह स्वयंभू स्वयं प्रकाश नहीं है, हम स्वयंभू स्वयं प्रकाश हैं। फिर भी दूसरी वस्तुओं को अपने सिर पर लाद लेते हैं। हम पकड़ते हैं पेड़ को और कहते हैं कि पेड़ने हमको पकड़ लिया है!

एक नदीमें कुछ काला-काला बहा जा रहा था और दो मित्र किनारेपर टहल रहे थे। तो उनको शंका हुई कि कोई कम्बल बहा जा रहा है। उनमें से एक कूद पड़ा नदीमें और जाकर उस काली चीजको पकड़ा। पकड़ा तो देखा कि वह कम्बल नहीं भालू है। अब भालूने ही उसको पकड़ लिया। किनारेवाले मित्रने कहा—भाई, तुम बहे क्यों जा रहे हो, अगर कम्बल नहीं आता है तो तुम उसको छोड़ दो। उसने कहा—मैंने कम्बलको नहीं पकड़ा है, कम्बल ही मुझे पकड़े लिए जा रहा है! अब देखो, खुद ही तो उसको पकड़ने गये थे, परन्तु फँस गये।

तीसरी बात यह देखो कि संसारकी कोई वस्तु नित्य नहीं है, सत्य नहीं है।

तीनों बात मिलाकर क्या बात निकली कि दृश्य सच्चिदानन्द नहीं है दृश्य आनन्द नहीं है, दृश्य स्वयं प्रकाश चेतन नहीं है, दृश्य सत्य नहीं है। और हम आनन्द है, स्वयं प्रकाश चेतन हैं और सत्य हैं; माने हम सच्चिदानन्द हैं।

चौथी बात यह है कि दृश्य अद्वितीय नहीं है क्योंकि दृश्यको सद्वितीय बनाने वाला तो मैं ही मौजूद हूँ। परन्तु मैं अद्वितीय हूँ।

इस दृष्टिसे जब हम विचार करते हैं तब असलमें यहाँ जो संसारकी मृत्युका विचार है वह उपनिषद्के मूल तत्त्वका ही विचार है कि मृत्युके पास जाकर नचिकेताका ज्ञान सीखना।

यमराजके द्वार पर नचिकेताका उपवास। अतिथि महिमा

(अध्याय—१ वल्ली—१ मंत्र ७-८)

नचिकेताके समझानेपर वाजश्रवसने नचिकेताको यमराजके पास भेज दिया। यमलोकमें पहुँचकर नचिकेता यमराजके घरपर गया। उस समय यमराज कहीं बाहर गये हुए थे। अत: वहाँ उसकी किसीने पूछ नहीं की। नचिकेता भी यमराजके द्वारपर तीन रात्रि भूखा-प्यासा टिका रहा। जब यमराज प्रवाससे लौट कर आये तो उनको नचिकेताके बारेमें तीन रात्रि उपवासकी बात मालूम पड़ी। तब उनकी पत्नीने या मंत्रियोंने यमराजको इस प्रकार समझाया—

वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान्।
तस्यैताँ शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम्॥ १.१.७

अर्थः—हे वैवस्वत् ! ब्राह्मण अतिथिके रूपमें जब घरोंमें प्रवेश करता है तब वह वैश्वानर अग्निके समान ही दहन करता-सा प्रवेश करता है। उस अग्निकी शान्तिके लिए ही गृहस्थजन पाद्य-आसन आदिकी शान्ति-क्रिया करते हैं। अतः हे यमराज! आप नचिकेताको पाद्य देनेके लिए जल ले जाइये॥

आशाप्रतीक्षे संगतꣳसूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्रपशूꣳश्च सर्वान्।
एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे॥ १.१.८

अर्थ :—जिसके घरमें ब्राह्मण बिना भोजन किये वास करता है, उस अल्प बुद्धिवाले पुरुषके इन सबको वह ब्राह्मण नष्ट कर देता है। किनको? कि उसकी आशा (ज्ञात प्राप्तव्य पदार्थोंकी प्राप्तिके लिए प्रार्थना), प्रतीक्षा (अज्ञात प्राप्तव्य पदार्थोंकी प्राप्तिके लिए प्रतीक्षा), संगतं (उनके संयोगसे उत्पन्न फल), सूनृतां च (प्रिय वाणी और उसका फल), इष्टापूर्त (यज्ञादिसे प्राप्त होने वाले फल इष्ट हैं और बाग-बगीचा-धर्मशाला आदि बनवानेका फल पूर्त है), पुत्र, और पशुओं (चलाचल सम्पत्ति)—सभीको नष्ट कर देता है।

अब महाराज नचिकेता पहुँच गया मृत्युके द्वारपर। यह मृत्युके द्वार-पर पहुँचनेका क्या अर्थ होता है कि नचिकेता देखता है कि संसारमें सर्वत्र मृत्यु छायी हुई है। सब चीजें मर ही तो रही हैं! यही जो संसारमें सबको मृत्युग्रस्त देखकर उनके प्रति कर्म और भोगसे विरत होना है, इसीका नाम मृत्युके द्वार पहुँचना है। यही मृत्युभाव अन्ततः मूर्तमान होकर उसको ब्रह्मज्ञानका उपदेश करता है।

देखो, जो जवान है वह बूढ़ा हो जाता है। जो सुन्दर है वह फट जाता है। जो भोजन स्वादिष्ट है वह सड़ जाता है। विषयोंमें कोई भी नित्य नहीं है। और जिन इन्द्रियोंसे विषय ग्रहण किये जाते हैं उनमें भोगका नित्य सामर्थ्य नहीं है। और भोक्ताके मनमें भोगकी रुचि नित्य नहीं है और जो भोक्ता है वह नित्य भोग नहीं कर सकता। इन चार दोषोंसे ग्रस्त होनेके कारण विषयोंमें जो राग है वह आपात रमणीय ही है, अविचारसे सिद्ध है।

अब नचिकेता तो वैश्वानर अग्नि है; वह द्वैतको भस्म करनेवाला है। वह यमराज (मृत्यु)के द्वार पर बैठा है; माने उसकी स्थिति सर्वके अत्यन्ताभावमें है। वह कह रहा है कि हमको स्थूल शरीरका भोग (इहलौकिक भोग) नहीं चाहिए; हमको सूक्ष्म शरीरका (स्वर्गादिकका पारलौकिक) भोग नहीं चाहिए; हमको कारण शरीरका भोग (सुषुप्त—समाधिका भोग) और वृत्तियोंकी सन्धिका भोग यानि विश्रान्ति) नहीं चाहिए। अर्थात् उसको विश्व, तैजस्, प्राज्ञ अवस्थाओंका भोग नहीं चाहिए। वह कहता है कि अब जब हम मृत्युका वरण कर चुके हैं तो हम अपनेको मिटा देनेके लिए तैयार हैं। मृत्युको दिया हुआ व्यक्ति जीवित मनुष्यकी तरह व्यवहार भला कैसे कर सकता है! अतः जब वह यमराजके द्वारपर पहुँचा और उसको मालूम पड़ा कि यमराज बाहर गये हैं, तो वह मृत्युकी प्रतीक्षामें वहीं द्वारपर तीन रात्रि (मृत व्यक्तिके समान) भूखा-प्यासा पड़ा रहा।

यमराज जब बाहरसे लौटकर आये तो उन्हें नचिकेताके बारेमें मालूम हुआ। उनके परिवारवालोंने यमराज जो समझाया कि यह ब्राह्मण अतिथि तुम्हारे घरपर आया है। यह आग है-आग। अतिथि अग्नि होता है। अरे भाई! इसको कुछ आहुति दो-**तस्यैतां शान्तिं कुर्वन्ति।** कि तब क्या करें? **हर वैवस्वतोदकम्** इस अग्निकी शान्ति यही है कि कम-से-कम इसको जल तो दो! जैसे घरमें आग लगी हो तो उसपर पानी डालकर उस अग्निको शान्त करते हैं, वैसे ही यह

वैश्वानर अग्नि अतिथि होकर घर आया है, इसको जल पिलाओ, कुछ खिलाओ, मीठी वाणी बोलो। यदि अतिथिकी सेवा नहीं करोगे तो यह अग्नि भस्म कर देगी।

एक सेठ थे गुजरात प्रान्तमें। अभी ९० वर्षकी आयुमें दो वर्ष पहले उनका शरीर शान्त हुआ है। उनकी प्रतिज्ञा थी कि कोई हमारे पास माँगनेवाला आयेगा तो उसको खाली हाथ नहीं लौटायेंगे। अब एक बार उनका दिवाला निकलनेवाला हो गया। दस लाख रुपया उनके ऊपर कर्ज हो गया। एक महात्मासे उन्होंने पूछा कि क्या करें? महात्माने उससे पूछा—तुमने कुछ छिपा कर रखा है या नहीं? उसने कहा—हाँ रखा है, करीब डेढ़ लाख रुपया छिपाकर रखा है। महात्मा बोले—वह सब दान कर दो, एक रुपया भी अपने लिए मत रखो। अब उस सेठकी हिम्मत देखो कि उसने सब दान कर दिया। उसके दानको देखकर एक दूसरे सेठने उसे चार लाख रुपया दिया जिससे उसने अपने ऋणको सम्हाल लिया। उसके थोड़े दिनोंके बाद ही उसकी ऐसी आमदनी हुई कि उसका पूरा व्यापार सम्भल गया। और जीवन भर उसने माँगने वालेको कभी 'ना' नहीं किया! तो दानका अतिथि-सत्कारका जीवनमें बड़ा महत्त्व है।

जिसके घरमें ब्राह्मण अतिथि भूखा रहते हुए वास करता है उसका सब कुछ उस अतिथि-अग्निके द्वारा भस्म हो जाता है। अब बताते हैं कि क्या-क्या भस्म हो जाता है—**आशाप्रतीक्षे सङ्गत्ँसूनृतां च** उसकी आशा, प्रतीक्षा, उनका फल और प्रिय वाणी और फल। **इष्टापूर्ते पुत्रपशूँश्च सर्वान्**—और इष्टापूर्त कर्मोंका फल, पुत्र, पशु—सब नष्ट हो जाते हैं।

अतिथिकी सेवा करना बहुत बड़ा धर्म है। जिज्ञासुके लिए तो है ही, यहाँ तो यह बताते हैं कि ब्रह्मज्ञानी भी इस धर्मका पालन करते हैं। यह धर्मराज (यमराज) तो तत्त्वज्ञ हैं, क्योंकि यदि तत्त्वज्ञ न हों तो उन्हें लोगोंको मारनेका पाप लगता, पक्षपात भी करते—अपने भाई भतीजोंको नहीं मारते। परन्तु मृत्युमें न पक्षपात होता है और न किसीको मारनेका अभिमान ही होता है—मृत्यु तो सबको मरा हुआ ही देखता है। परन्तु इस मृत्युके घर भी नचिकेता आता है अतिथिके रूपमें, तो वह उसका सत्कार करते हैं।

जब ब्रह्मज्ञानियोंके लिए भी अतिथि—सत्कार करना शोभा है तब गृहस्थ-धर्मियोंके लिए तो यह अनिवार्य ही है। अतिथि अग्नि होता है। उसको शान्त करनेके लिए उसका पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय इत्यादिसे जो भी सत्कार-

विधि है, सत्कार करना चाहिए नहीं तो वे अग्नि—देवता गृहस्थाश्रमको भस्म करनेवाले होते हैं।

अतिथि यदि घरपर आजायें तो उनको लौटाना नहीं है। अतिथि कौन है? जो लोग टेलिफोन करके आते हैं या तार देकर या चिट्ठी लिखकर आते हैं वे अतिथि नहीं होते, वे तो सतिथि होते हैं। लेकिन जो बिना किसी पूर्व सूचनाके भोजनके समयपर हमारे घर आजाये, वे अतिथि हैं। उसको पुराणोंमें साक्षात् ईश्वर बताया है। उसकी जाति, सम्प्रदाय, पूर्वचरित्र नहीं पूछना चाहिए। इतना ही पर्याप्त है कि वह ईश्वरकी सृष्टि है। ईश्वरकी सृष्टिमें उत्पन्न होनेके कारण उसे भोजन करनेका मुख्य अधिकार है। कोई भी जन्म लेनेके बाद भोजनका अनधिकारी नहीं है। इसलिए जिसके पास भोजन होवे उसका यह कर्तव्य है कि वह उसको भोजन देवे। उसके जीवनकी रक्षाके लिए और उसके जीवनमें ज्ञान और सुख-शान्तिकी वृद्धिके लिए—माने उसके जीवनमें सच्चिदानन्दके विकासके लिए प्रयत्न करना धर्म हो जाता है।

देखो, इसमें एक बात यह है कि यह मेरा घर है, यह मेरा धन है, यह मेरा अन्न है, यह मेरा परिवार है—यह जो मेरा-मेरा-मेरा बन गया है न, वह रागके कारण बना है; राग अहंकारके कारण बना है और अहंकार अज्ञानके कारण बना है। ऐसा भी कह सकते हैं कि सत्‌की कक्षामें अज्ञान पहुँच गया है; चित्‌की कक्षामें अहंकार पहुँच गया है और आनन्दकी कक्षामें राग पहुँच गया है; और इन तीनोंने वहाँ पहुँचकर, जहाँ इनको नहीं पहुँचना चाहिए था, अपनी जगह बना ली है। यही कारण है कि जब कोई अनजान आदमी हमारे सामने आता है तब हम भड़क उठते हैं कि—मेरे घरमें तू कहाँ? मेरे धनमें, मेरे अन्नमें, मेरे परिवारमें तू कहाँ? लेकिन, यह जो तत्त्वज्ञानका मार्ग है, जिस मार्गपर जिज्ञासु चल रहा है वह तो 'मेरा' और 'तेरा' एक कर देनेका मार्ग है—उसमें तो सम्पूर्ण विश्वसृष्टिसे एक हो जाना है। यदि केवल भोजनके लिए कोई अतिथिके साथ तादात्म्य नहीं कर सकता, तो सम्पूर्ण विश्वसृष्टिको त्यागकर वह परमात्माके साथ तादात्म्य क्या प्राप्त कर सकेगा? यह उसकी अयोग्यताकी सूचना है।

तो कम-से-कम एक अवसर तो जीवनमें ऐसा होना चाहिए कि कोई अतिथि आ जाय तो उसको अपनी शक्तिके अनुसार भोजन करा दें। भोजन न हो तो पानी ही पिला दें। बोले—भाई, बम्बईमें तो पानीका संकट है; तो उसको थोड़ी देर घरमें ही बिठा लो, बेचारा विश्राम कर लेगा। इसमें भी कोई डर हो, तो उससे

थोड़ी मीठी आवाजमें बोल ही लो। उसको दुत्कारो मत। इन चारोंमें-से क्या एक भी चीज तुम्हारे पास नहीं है जो अतिथिको दी जा सके?

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥

'सत्पुरुषके घरमें इन चारोंकी कमी कभी नहीं होती—अन्न नहीं है तो जल जरूर होगा, जल नहीं है तो चटाई जरूर होगी, चटाई भी नहीं है तो धरती जरूर होगी और धरती नहीं है तो भी जीभकी मिठास तो होगी!' और अगर तुमने अतिथिसे सीधे 'ना' बोल दिया तो समझना कि तुम्हारे लिए भी 'ना' हो गया। अतिथिको 'ना' कर दिया तो तुमने ईश्वरको 'ना' कर दिया और जब ईश्वरके रजिस्टरमें तुम्हारे लिए भी 'ना' लिख गया कि यही हमारे राज्यमें एक निहंग—लाड़ला है।

अपना अज्ञान मिटानेके लिए, अपना अहंकार और ममता मिटानके लिए एक अवसर मनुष्यके जीवनमें ऐसा चाहिए कि अतिथिमें दोष-दर्शन न करे—ईश्वर भावसे उसका यथोचित यथाशक्ति सत्कार अवश्य करे।

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात् प्रतिनिवर्तते।
चत्वारि तस्य नश्यन्ति आयुर्विद्यायशो बलम्॥

जिसके घरसे अतिथि खाली हाथ लौट जाता है उसकी चार चीजे नष्ट हो जाती हैं—

१. उसकी आयु क्षीण होती है, क्योंकि उसने दूसरेको जीनेमें मदद नहीं की।

२. उसकी विद्या क्षीण होती है, क्योंकि उसने विद्याका उपयोग ममताके त्यागमें नहीं किया;

३. उसका यश नष्ट होता है, क्योंकि उसने कृपणता की; और

४. उसका बल नष्ट होता है, क्योंकि वह अब दूसरेसे मदद पानेका अधिकारी नहीं रहा।

ब्रह्म-विद्यामें दो बातें अनिवार्य हैं—एक तो मृत्युकी प्रतीक्षा और दूसरे मृत्युका दर्शन। यह व्यक्तित्वकी जो मृत्यु है वहाँ अमृतत्वका उदय है। जहाँ मृत्युका साक्षात्कार है वहाँ अपनी अमरताका आविर्भाव है। यह यम मृत्यु है और उनके द्वारपर जो नचिकेताका तीन रात्रि उपवास करना है वह मानो अज्ञानके जो तीन परत हैं उनका त्याग है। तीन परत क्या हैं? स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर; प्रमाता-प्रमाण-प्रमेय, ध्याता-ध्यान-ध्येय; सत्त्व-रज-तम; ब्रह्मा-विष्णु-महेश; विश्व-तैजस-प्राज्ञ; विराट्-हिरण्यगर्भ-ईश्वर। ये सब अज्ञानकी परतोंके त्रिक् हैं।

तो मृत्यु! मृत्यु!! मृत्यु!!! मृत्युकी प्रतीक्षा करना माने अपने लिए कुछ नहीं चाहना—भोगकी इच्छा नहीं, विषयोंकी इच्छा नहीं, इन्द्रियोंकी (भोगके कारणोंकी) इच्छा नहीं—अपने कर्तृत्वसे प्राप्त होनेवाला और अपने भोक्तृत्वसे भोगा जाने वाला संसार नहीं चाहिए। तब क्या चाहिए? कि मृत्यु चाहिए—मृत्यु! मृत्यु! मृत्यु! महाप्रलय! महाप्रलय! वेदान्तमें इसका जप करना पड़ता है। योगवासिष्ठ पढ़ो तब मालूम पड़ेगा। महाप्रलयके चिन्तनसे दृश्यमें जो आसक्ति है वह कट जाती है और फिर मृत्युका दर्शन होता है माने किसीकी मृत्यु होती है और किसीकी मृत्यु नहीं होती, यह जान सकोगे! स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर मरते हैं, हम नहीं मरते—

साधो हम मरते नहीं पल्टू करो विचार।

मृत्युका दर्शन माने यह ज्ञान कि हम मरते नहीं, यह ज्ञान कि हम मृत्युके साक्षी हैं, हम मृत्युके अधिष्ठान हैं। यह मृत्युकी जितनी गड़बड़ है वह दृश्यमें है द्रष्टामें नहीं है। अत: नेति-नेतिके द्वारा मृत्युके निषेधमें, मृत्युके अपवादमें, मृत्युके साथ अपना व्यतिरेक द्वारा विचार करनेमें, मोक्षका बीज निहित है, तत्त्व-ज्ञानका, ब्रह्मज्ञानका बीज निहित है।

इसलिए जिज्ञासु पुरुष नचिकेता तो मृत्युकी प्रतीक्षा कर रहा है और तीन दिनके बाद मृत्यु उसके सामने आया। घर वालोंने समझाया कि इस नचिकेता जो ब्राह्मण अतिथि है और अग्निरूप है, उसकी अग्नि शान्त करो। उसके लिए पाद्यके लिए जल ले जाओ और उसका सत्कार करो। पहले लोग जूता तो पहनते नहीं थे, खड़ाऊँ पहनते थे या नंगे पैर चलते थे। इसलिए उनके पैर धुलवानेके लिए जल दिया जाता था। अब आजकल तो महाराज, पैर जूतेमें ढँके रहते हैं भले वह जूता गायके चामका ही हो; अब पाँवके अशुद्ध होनेकी शंका ही उनके मनमें नहीं है। बड़े घरोंमें तो कालीनपर भी जूता पहनकर चलते-बैठते हैं।

अब देखो! सामान्य अतिथिके सत्कारकी ही जब बात है तब जिज्ञासु अतिथिका तो विशेष सत्कार होना चाहिए। यमराज तो परिवारी हैं, यद्यपि ब्रह्मज्ञानी हैं। इसलिए उनको तो नचिकेताका सत्कार करना ही चाहिए। परन्तु यदि कोई विरक्त अवधूत हो तो वह अतिथि—सत्कार करे या नहीं? वह अतिथिका स्वागत-सत्कार नहीं करेगा। कोई जिज्ञासु यमराजके पास जावे और दूसरा जिज्ञासु दत्तात्रेय, जड़ भरत या शुकदेव, ऋषभदेवके पास जावे तो दोनों जगह व्यवहारमें फर्क होगा। अवधूतका शिष्टाचार दूसरा है और गृहस्थका दूसरा है। अवधूतको यह

कहनेकी जरूरत नहीं है कि आइये, आइये, भगतराजजी! या भगतराजजी पधारिये!! या कि अभी आप कुछ और दिन ठहरिये। अवधूत न अगवानी करे और न पीछे जाकर पहुँचावे!

आगच्छ गच्छ तिष्ठेति स्वागतं सौहृदं तथा।
सम्मानं न च न ब्रूयाद् यतिर्मोक्षपरायणः॥

शरीरका स्वागत करना नहीं है और आत्मा हमारी तुम्हारी एक है। उसमें स्वागत-सत्कारका प्रश्न कहाँ है! मोक्षपरायण मुनिका शिष्टाचार अलग होता है और सद्गृहस्थोंका अलग। शिष्टाचार देशके भेदसे, जातिके भेदसे, वर्णाश्रम और सम्प्रदायके भेदसे भी अलग-अलग हो जाता है। शक्तिके भेदसे भी शिष्टाचारमें फर्क हो जाता है—बुड्ढा हो तो बैठा रहे, जवान हो तो बैठा रहे, रोगी हो तो लेटा रहे। शक्ति, बल, पात्र, अपात्र, स्थान आदिके अनुसार शिष्टाचारके कायदे होते हैं, एक नियम सबपर लागू नहीं होता।

शिष्टाचार नित्यकर्मके समान माना गया है। शिष्टाचारका यदि कोई पालन न करे या उल्लंघन करे तो उसको दोष लगता है और यदि पालन करता है तो वह तो उसका कर्तव्य है ही।

यमराजके घरके लोग यमराजको समझाते हैं कि जिस गृहस्थके घरमें ब्राह्मण बिना खाये-पिये निवास करता है वह एक तो **अल्पमेधसः** है—माने उसमें बुद्धिकी कमी है, वह नासमझ है। वह अबुद्धि भी नहीं है, दुर्बुद्धि भी नहीं है, अल्पमेधस है। जो कुछ जानता ही न हो वह अबुद्धि है और जो जानबूझकर दूसरोंको कष्ट पहुँचानेकी कोशिश करता है वह दुर्बुद्धि है। तो जिसके घरमें अतिथि भूखा रह गया वह तो अल्पमेधस है। इससे उस गृहस्थकी बहुत बड़ी हानि है।

हमारे एक साईं थे वृन्दावनमें। वे आ रहे थे जनकपुरीसे। रास्तेमें अयोध्या रुके और फिर लखनऊ आये। वहाँ उनको कोई सज्जन मिले जिन्होंने उनसे कहा कि कानपुरमें हमारे एक मित्र हैं, उनके घर जरूर जाना, वही सज्जन आपकी कानपुरसे आगेकी यात्रा की व्यवस्था कर देगा। अब साईं पहुँच गये कानपुरमें उन सज्जनके घर। जाकर उन्होंने लखनऊ वाले सज्जनकी चिट्ठी दे दी। परन्तु वह घरवाला तो महाराज आकर लगा गाली बकने कि देखो! ये हमारे मित्र बनते हैं। जान पहचान और मित्र बन गये और हमारे घर आदमी भेज दिये। बोला—न हम आपकी यात्राकी कोई व्यवस्था कर सकते हैं और न हमारे घर आपके बैठनेकी कोई जगह है। उसने साईंका खूब तिरस्कार किया। साईं वहाँसे निकल लिए और

उसके घरके बाहर जो चबूतरा था उसपर जाकर बैठ गये। वहाँ घण्टा-आध घण्टा अपने साथियोंके साथ सत्संग करते रहे। उसके बाद अपने एक सेवकसे बोले— जाओ! उस आदमीके घरसे एक गिलास पानी ले आओ। सेवकने कहा— महाराज, उस आदमीने आपका इतना तो तिरस्कार किया और अब आप उसीके घरसे पानी लानेको कहते हैं? साईंने कहा—नहीं, हमारी आज्ञा है, तुम जाकर उसीके घरसे पानी ले आओ। सेवक गया और अपने ही गिलासमें उसीके घरसे पानी ले आया और साईंने वह पानी पी लिया। पानी पीकर वहाँसे चल पड़े। सेवकोंके पूछनेपर बादमें उन्होंने बताया कि देखो! हम धर्मशास्त्रके अनुसार उस आदमीके घरमें अतिथिके रूपमें गये थे। उन्होंने हमें रखा नहीं, कुछ खिलाया-पिलाया नहीं, मीठी वाणी भी हमसे नहीं बोली। तो उसने शिष्टाचारका उल्लंघन किया। तो यदि हम ऐसे ही उसके घरसे लौट जाते तो उसका अनिष्ट होनेकी शंका रहती। इसलिए हमने उसके घरका जल ग्रहण कर लिया जिससे उसका कोई अनिष्ट न हो।

देखो, जो पूज्य होता है उसका अनादर करनेसे अनिष्ट होता है। अतिथि पूज्य है, उसका आदर अवश्य करना चाहिए, कम-से-कम मीठी वाणीसे तो अवश्य ही करना चाहिए।

तो यमराजको कहते हैं कि अतिथि यदि घरमें भूखा पड़ा रहे तो उसकी आशा, प्रतीक्षा और उनके फल नष्ट हो जाते हैं—**आशा प्रतीक्षे संगतं च**। आशा माने यदि उसके मनमें कोई आशा हो कि भविष्यमें हमारे जीवनमें ऐसा-ऐसा हो, (वह होगा या नहीं होगा—निश्चय नहीं है)। तो वह आशा नष्ट हो जाती है। और प्रतीक्षा माने भविष्यमें जो निश्चित होनेवाला है और जिसकी हम प्रतीक्षा कर रहे हैं कि कब होगी वह बात, वह प्रतीक्षा भी नष्ट हो जाती है। **संगतं च**—का अर्थ है कि आशा और प्रतीक्षाके फल भी नष्ट हो जाते हैं।

देखो, जिज्ञासुके लिए आशा बड़ी दुःखद है। आशा माने जो चारों ओरसे छेदे। जिसके हृदयमें आशा होती है, जो आशाके दास हैं वे सारी दुनियाके गुलाम होते हैं; किन्तु जिनकी आशा ही दासी है उनकी सारी दुनिया गुलाम हो जाती है—

आशायाः ये दासास्ते दासाः सर्वलोकस्य।
आशा य़ेषां दासी तेषां दासायते लोकः॥

जो अतिथिकी आशा-प्रतीक्षा पूरी नहीं करता उसकी स्वयंकी भी आशा प्रतीक्षा पूरी नहीं होगी।

संगत—जो फल मिलनेवाला होता वह नहीं मिलेगा।

सूनृतां—उसको मीठी वाणी कहीं सुननेको नहीं मिलेगी क्योंकि उसने अतिथिका मीठी वाणीसे सत्कार नहीं किया।

असलमें यह सृष्टि एक ही है। जैसे पहाड़में आदमी जोरसे बोलता है तो उसको अपनी आवाजकी ही प्रतिध्वनि लौटकर सुनायी पड़ती है, ऐसे ही इस ठसाठस भरे परमात्मामें अगर तुम किसीको दुःख दोगे तो तुम्हें भी दुःख मिलेगा और किसीको सुख दोगे तो तुम्हें भी सुख मिलेगा।

इष्टापूर्ते—अतिथिका अनादर करनेवालेके इष्ट और पूर्त सब कर्म नष्ट हो जायेंगे। **इष्ट** माने यज्ञ-कर्म और **पूर्त** माने लौकिक भलाईके कर्म जैसे बाग-बगीचा लगवाना, धर्मशाला-कुआँ बनवाना, प्याऊ लगाना, अस्पताल-स्कूल खोलना। यज्ञमें दो ही क्रिया होती है—आदान और प्रदान। वेद पढ़नेवाले ब्राह्मण, यज्ञकी सुरक्षा करनेवाले, यज्ञ-सामग्री एकत्रित करनेवाले—इनको कुछ मिले, यह हुआ प्रदान और यज्ञका फल जो जब मिलेगा वह तुम्हें यज्ञ करनेवालेको मिलेगा, यह हुआ आदान। यह यज्ञ जो है यह वितरण करनेकी प्राचीन प्रणाली है। तुमने अतिथिको पानी तक तो पिलाया नहीं और अग्निमें हवन करने जा रहे हो! अतिथि अपनी जठराग्नि लेकर तुम्हारे पास आया था, उस अग्निमें तो तुमने कोई आहुति दी नहीं और बाहरकी अग्निमें तुम हवन करने जा रहे हो! सब बेकार है। इसी प्रकार पूर्त कर्म तो तुम बहुत कर रहे हो परन्तु घर आये अतिथिकी तुमने कोई भलाई की नहीं! मनुष्यका तिरस्कार करके अपना ही तिरस्कार किया जाता है क्योंकि उस मनुष्यमें भी अपना ही आत्मा है।

पुत्र पशूंश्च सर्वान्—अगर अतिथि सत्कार नहीं करते तो तुम्हारे पुत्र—सन्तान-परम्पराका लोप हो जायेगा; सब पशुओंका नाश हो जायेगा। पहले पशु शब्दका अर्थ हाथी, घोड़ा, बैल, बकरी—ये सब होता था। आजकल उसमें सभी वाहन भी शामिल कर लेने चाहिए, जैसे मोटरकार, स्कूटर इत्यादि। पहले वाहनका काम भी पशु ही करते थे। अब पशुका अर्थ ट्रैक्टर, रेल, मोटर, हवाई जहाज सब होता है।

एतद् वृङ्क्ते—यदि अतिथिका सत्कार मनुष्य नहीं करेगा तो ये सब (जो ऊपर गिनाये गये) नष्ट हो जायेंगे।

यमराजका नचिकेताको वर देना

(अध्याय—१ वल्ली १—मंत्र-९)

मंत्रियों और घरवालोंके द्वारा समझाये जानेपर यमराज नचिकेताके पास गये, उसकी पूजा की और फिर इस प्रकार बोले—

तिस्रो रात्रिर्यदवात्सीर्गृहे मे अनश्नन् ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः।
नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्व॥ १.१.९

अर्थ :—हे ब्रह्मन्! तुम्हें नमस्कार हो! मेरा कल्याण हो! तुम नमन करने योग्य अतिथि होकर भी मेरे घरमें तीन रात्रितक बिना खाये-पीयें निवास करते रहे। अतः उन प्रत्येक रात्रिके बदले एक अर्थात् कुल तीन वरदान मुझसे माँग लो॥

अब यमराज नचिकेतासे बोलते हैं—हे ब्रह्मन्! यह देखो, गुरु बोलता है अपने चेले से जो आगे गुरु बनने वाला है। क्या बोलता है—हे ब्रह्मन्! अर्थात् तुम तो ब्रह्म हो। असलमें यमराज जानते हैं कि देहकी, मनकी मौत तो हो जाती है, अज्ञानकी भी मौत हो जाती है लेकिन यह जो आत्मदेव हैं, इनकी मौत तो होती नहीं। इसलिए वे जानते हैं कि और सब तो हमारे अधीन हैं परन्तु आत्मा हमारे अधीन नहीं है। अतः वे नचिकेताका सम्बोधन करते हैं कि हे ब्रह्मन्! माने तुम तो ब्रह्मस्वरूप हो।

फिर यमराज कहते हैं—आप तो **नमस्य अतिथि** हैं अर्थात् नमस्कार करने योग्य अतिथि हैं। यह नहीं समझना कि किसीको हाथ जोड़ना या उसका पाँव छूना या शिर झुकाकर नमस्कार करना कोई सड़ी-गली चीज है। नमस्कार अभिमान छोड़नेकी एक पद्धति है। जो नमस्कार करने वाला होगा वह कभी अपने व्यक्तित्वके अहंको भी छोड़ सकेगा। और जिसका सिर हमेशा ऊँचा ही बना रहता है तो उसका तो अभिमान भी बढ़ा ही रहता है।

सन् सैंतालीस की बात होगी; वृन्दावनमें सत्संग हो रहा था। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज, श्रीहरिबाबाजी महाराज बैठे थे और मैं कथा कह रहा था। सैकड़ों लोग कथा सुन रहे थे। इतनेमें एक सेठको लेकर कुछ लोग आये।

हमने कैसे पहचाना कि वह सेठ था? वह ऐसे कि वह वैसी पोशाक पहने थे जैसी प्राय: सेठ लोग पहनते थे। तो उसकी स्वयंकी हिम्मत तो कथामें बीचमें बैठनेकी हो नहीं, परन्तु उसके साथियोंने उसे बीचमें धकेल दिया। जब धकेल दिया तो उसके साथी इशारा करें कि अब प्रणाम करो। लेकिन सेठको प्रणाम करना ही न आवे। इधर देखे, उधर देखे, अन्तमें पीछे जाकर बैठ गया। परन्तु उसको झुकना नहीं आया। मनुष्यका जब अभिमान बड़ा होता है तब उसका शरीर भी कड़ा हो जाता है। अभिमान बड़ा तो देह कड़ा! और हृदयमें जब नमस्यता आती है तब **न मे इति नमः**। अर्थात् तब पता चलता है कि यह अहंकार न मैं हूँ और न मेरा है। अहंकार छोड़नेकी आदत परिच्छिन्नताको छोड़नेका पूर्व रूप है। यदि मनुष्य अपने परिच्छिन्न अहंकारको श्रेष्ठ, महत्त्वपूर्ण और उत्कृष्ट समझ कर पकड़े रहेगा तो वह अपरिच्छिन्न ब्रह्मके साथ एकता कैसे अनुभव कर सकेगा?

यमराजने कहा—हे ब्रह्मन्! आप नमस्कारके योग्य अतिथि हैं, परन्तु आप तीन रात्रि हमारे घरमें बिना भोगके रहे—**अनश्नन** रहे। सो उसमें गलती हमारी रही। अब हमारा कोई अकल्याण न होवे, इसलिए हम आपको नमस्कार करते हैं : **नमस्तेऽस्तु**। हमारा कल्याण होवे—**स्वस्ति मेऽस्तु**। अब आप प्रसन्न होकर हमसे उपवासकी प्रत्येक तीन रात्रिके बदले एक अर्थात् कुल तीन अभीष्ट वर हमसे माँग लीजिये—**तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व**।

हे भाग्यवानो! देखो बम्बईमें भाग्यवान शब्दका अर्थ दूसरा होता है पर हम उस अर्थमें आपको भाग्यवान नहीं बोल रहे हैं। मारवाड़ीमें जब किसीको भाग्यवान बोलते हैं तो उसका अर्थ है कि इनके पास बहुत धन है। यह भी अच्छी बात है। उनपर ईश्वरकी कृपा है और उनके पूर्व पुण्योंका फल है—ऐसा कहना पड़ेगा। पर जिज्ञासु लोग, महात्मा लोग ऐसा नहीं मानते। किसी महात्माके पास जाओ और पाँच रुपया उनको दे और वह लेनेसे मना कर दें कि हमको नहीं चाहिए और आप उससे कहें कि ईश्वरने कृपा करके पाँच रुपया आपके पास भेजा है, तो महात्मा उसको ईश्वरकी कृपा हर्गिज स्वीकार नहीं कर सकता। वह तो मानेगा कि यह ईश्वरकी अकृपाका लक्षण है, कृपाका नहीं। हमको दुनियामें फँसानेके लिए ये पाँच रुपये भेजे हैं! यह कृपा कहाँ है? ईश्वरकी कृपा तो तब होती जब हमारी नजर अपने ऊपर जमावे। यह ईश्वरकी कृपा है—यह हम नहीं मान सकते।

बोले—अच्छा तो यह मान लीजिये कि यह पाँच रुपया आपके प्रारब्धसे

आया है! तो महात्मा कहेंगे कि यदि ऐसा ही है तो यह हमारे मन्द प्रारब्धसे आया है। यदि हमारा कोई पुण्य फल जागता तो हमारे पास वैराग्य आना चाहिए था। पुण्यकर्मका फल तो निष्कामता होती है, त्याग-वैराग्य होता है, चित्तकी पवित्रता होती है। तो भाई, ईश्वरकी कृपा सेठपर दूसरे ढंगकी होती है और महात्मापर दूसरे ढंगकी होती है।

अब जरा विचार करो—नचिकेता जो तीन दिनसे भूखा-प्यासा पड़ा रहा, वह उसका सत्प्रारब्ध था कि असत्प्रारब्ध? यदि नचिकेताको भोजन मिला होता तो क्या उसको गुरु मिलते? क्या उसको ब्रह्मज्ञान मिलता? नहीं मिलता। तो उसके असत्प्रारब्धने उसको भोजन मिलनेसे नहीं रोका, उसके सत्प्रारब्धने उसको भोजन मिलनेसे रोका, यह बात मनुष्यकी समझमें जल्दी नहीं आती है कि उसका उत्तम-से-उत्तम प्रारब्ध जाग्रत् हुआ कि उसने उसको भोगी नहीं योगी बना दिया।

अच्छा, नचिकेता तो तीन दिन बिना भोगके रह गया। अब आप समझो कि आप कितने दिन बिना भोगके रहते हैं? कोई कहेंगे कि हम छः वर्षसे रह रहे हैं, तो कोई छः माससे रह रहे हैं तो कोई छः दिनसे बिना भोगके रह रहे हैं। मगर नारायण, आप धोखेमें मत आना! आपका मन जितनी देर भोगका चिन्तन करता है उतनी देर आप भोगमें रहते हैं। भोगका चिन्तन क्या? क्या यह कि हम यह चिन्तन करें कि हम रसगुल्ला खा रहे हैं और हमारे बच्चे हमारी गोदमें खेल रहे हैं? यह भी हम खुदका भोग कर रहे हैं। क्या भोगका चिन्तन यह है कि हम यह सोचें कि हमारे अमुक मर गये या बिछुड़ गये थे, हमारा पैसा चला गया? जब तुम इस तरह सोचते हो माने दुःखी होते हो उस समय भी तुम भोग ही करते हो। अर्थात् सुख और दुःख दोनोंका चिन्तन भोगका ही चिन्तन है। यदि तीन दिन भी अपने जीवनमें तुम ऐसे निकाल सकते हो जिसमें संसारके सम्बन्धसे तुम्हारा न सुखका चिन्तन हो और न दुःखका चिन्तन हो, तो नारायण! हम कहते हैं कि तुम्हें चुटकी बजाते ही ब्रह्मज्ञान हो जायेगा। सुख-दुःख दोनोंका चिन्तन छोड़ दिया तो दुनिया मर गयी! और तुम्हारे भोगकी भी हो गयी मृत्यु, और तुम मृत्युके द्वारपर भूखे अतिथिके रूपमें बैठ गये! और तब देखना, यह मृत्यु तुम्हें दर्शन देकर तत्त्वज्ञान दे देगी!

मैंने मृत्यु देखी है, मूर्तमान मृत्यु देखी है! मैंने मृत्युका देवता देखा है, अपने जीवनमें भौतिक निमित्तसे मृत्यु देखी है, आध्यात्मिक निमित्तसे भी मृत्यु देखी है। और आपसे यह कहते हैं कि आप तीन दिन नहीं तीन घंटे अपना चित्त ऐसा बना लो जिसमें आपको किसी भी सुखद या दुःखद वस्तुका स्फुरण न हो। तब तुम

देख लेना कि मृत्युके तुम साक्षी हो, मृत्युका दर्शन हो रहा है तुमको! और तुम्हारी यह नि:संकल्पता तुम्हारी यह निर्भय स्थिति, तुमको ब्रह्मज्ञान देकर रहेगी।

तो यमराज पहले तो कहते हैं कि आप **नमस्य अतिथि**—अर्थात् वे नचिकेताको पहले मनसे प्रणाम करते हैं, फिर 'नमस्तेऽस्तु' कहकर वाणीसे प्रणाम करते हैं और उसके बाद 'स्वस्ति मेऽस्तु' कहकर अपने कल्याणके लिए नचिकेताका आशीर्वाद माँगते हैं। अन्तमें कहते हैं—**तस्मात् प्रति त्रीन् वरान् वृणीष्व**—इसलिए हे नचिकेता! तुम हमसे तीन वर, जो भी तुम श्रेष्ठ समझते हो, माँग लो। एक-एक रातके बदले जिसमें तुमने उपवास किया है एक-एक वर हम तुमको देते हैं! स्थूल शरीर सम्बन्धी विषय-भोगका चिन्तन तुमने छोड़ दिया, उसका एक वर लो। सूक्ष्म-शरीर सम्बन्धी विषय-भोगका चिन्तन तुमने छोड़ दिया—उसका दूसरा वर लो। कारण-शरीर सम्बन्धी विषय-भोगका चिन्तन तुमने छोड़ दिया—उसका तीसरा वर लो। **प्रति** अर्थात् प्रत्येक रात्रिके लिए एक वर।

संस्कृत भाषामें सप्तरात्र, नवरात्र, पंचरात्र—ऐसे बोला जाता है। श्रीमद्भागवतको सप्ताह तो बोलते ही हैं, सप्तरात्र भी बोलते है। नवरात्र हम लोग आश्विनमें मनाते ही हैं। पंचरात्र वैष्णवोंका प्रमुख ग्रंथ है। 'रात्रि' इसलिए बोलते हैं कि जैसे रात्रिमें संसार अंधकारसे आच्छन्न हो जाता है, कुछ नहीं दीखता, वैसे संसार न दीखे और महाशक्ति दीखे और उस महाशक्तिसे अवच्छिन्न परमात्मा दीखे।

× × ×

नचिकेता-तीन रात्रि भूखा रहा—इसके माने हैं कि उसने अविद्याकी जो तीन वृत्ति हैं—सात्त्विक, राजस और तामस—इनके किसी भोगका उसने चिन्तन नहीं किया और मृत्युके दर्शनका अर्थ है प्रपंचभावका दर्शन। यह प्रपंच भावसे उपलक्षित जो चैतन्य है वही तत्त्वज्ञानका उपदेश करता है। यह वेदके निरूपण की एक शैली है।

श्री शंकराचार्य भगवान्ने कठोपनिषद् भाष्यमें तो कुछ विशेष चर्चा नहीं की, परन्तु गीताके तीसरे अध्याय और वृहदारण्यकोपनिषद्के चौथे अध्यायके भाष्यमें उन्होंने यह प्रश्न उठाया है कि यमराज तत्त्वज्ञानी तो हैं ही हैं। तत्त्वज्ञानी न होते तो नचिकेताको तत्त्वज्ञानका उपदेश कैसे करते?

तत्त्वज्ञानीका अर्थ होता है कि वह अपनेको व्यक्तिरूपसे स्वीकृति न देता हो, अपनेको तत्त्वरूपसे जानता हो। जैसे घड़ा अपनेको घड़ेके रूपमें न जाने, मिट्टीके रूपमें जाने। घड़ा व्यक्ति है और मिट्टी तत्त्व है। घड़ाको तत्त्वज्ञान हो गया—यह बात

कब जानी जायेगी कि जब घड़ा अपनेको बड़ा पेट और छोटे गला वाला और पानी रखनेकी चीजके रूपमें न मानकर अपनेको मृत्तिकाके रूपमें जाने। **अनारोपिताकारं तत्त्वम्**—ऐसी मिट्टी जिसमें घटाकरका आरोप नहीं हुआ तत्त्व है। जैसे घट-व्यक्ति पार्थिव है, उसी प्रकार यह जो जीव-व्यक्ति है वह चैतन्य है। तो यह चैतन्य व्यक्ति अपने नामरूपका अपवाद करके और अपनेको व्यक्तित्व-शून्य, जातित्व-शून्य, कर्तव्य-भोक्तृत्व-शून्य, परिच्छिन्नत्व-शून्य, स्वयं प्रकाश ब्रह्मचैतन्यके रूपमें, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदसे रहित, देश-कालसे अपरिच्छिन्न ब्रह्मत्वके रूप में जब अपनेको जान जाता है तब उसको तत्त्वज्ञ बोलते हैं।

तो हे जीव-चैतन्य! तुम अपनेको ब्रह्म-चैतन्यके रूपमें जानते हो कि नहीं? अपनेको नामरूपसे शून्य चिद्तत्त्वके रूपमें जानते हो कि नहीं? यदि जानते हो तो तुम क्या करते हो इसका कोई महत्त्व नहीं है। जैसे घड़ा जब अपनेको मिट्टीके रूपमें जानता है तो पानी भरनेके काम आना या शराब भरनेके काममें आना या गंगाजल भरनेके काम में आना उसका काम नहीं रह जाता। तत्त्वका काम पानी भरनेके काममें आना नहीं है, वह उसके कल्पित नाम-रूपका काम है। इसी प्रकार जो अपनेको ब्रह्मतत्त्वके रूपमें जानता है तो उसमें कल्पित नाम रूप वाला व्यक्ति क्या काम करता है—इसका कोई अर्थ नहीं है। यमराज अपनेको तत्त्वके रूपमें जानते हैं और उनका व्यक्तिरूप मृत्युका काम करता है। तत्त्वज्ञ व्यक्तिके धर्मसे लिपायमान नहीं होता। व्यक्तिका धर्म, समाजका धर्म, सम्प्रदायका धर्म, जातिका धर्म—सब व्यक्तिके धर्म हैं और वे तत्त्वज्ञको प्रभवित नहीं करते।

शंकराचार्य भगवान्‌ने गीता और ब्रह्मसूत्रके भाष्योंमें यह बात कही कि तत्त्वज्ञान होनेपर भी जैसे एक व्यक्तिकी उम्र पचास—सौ वर्षकी रहती है वैसे ही तत्त्वज्ञान होनेपर भी यमराज जिस पदपर काम कर रहे हैं—वे कर्माध्यक्ष हैं और जीवोंको उनके पाप-पुण्यका फल प्रदान करते हैं, वे कारकपुरुष हैं, अधिकारी हैं। उस पदका कार्य वह करते हैं; उस कार्यके गुण-दोषसे वह बिलकुल अछूते हैं। एक अधिकारी पुरुष अपनेको मनुष्य जानता है और जजके पदपर काम करता है तो क्या वह जजका कार्य नहीं करेगा? जजके कार्यसे मनुष्यत्वके ज्ञानका क्या सम्बन्ध है? जैसे एक हिन्दू अपनेको हिन्दू जानते हुए भी अपने ब्राह्मणपनेका कर्त्तव्य नहीं छोड़ देता, जैसे एक विश्व-नागरिक अपने भारत-राष्ट्रके प्रति कर्त्तव्यको नहीं छोड़ देता, इसी प्रकार एक तत्त्वज्ञ अपने प्राप्त कर्त्तव्यका परित्याग नहीं कर देता। एक हिन्दूमें और एक मनुष्यमें जितना फर्क है, जीव और ब्रह्ममें भी उतना ही फर्क है—अपनेको

छोटे दायरेमें हिन्दू मानते हैं और बड़े दायरेमें मनुष्य मानते हैं। अपने चैतन्यको शरीरकी उपाधिसे मानते हैं तो जीव मानते हैं और शरीरकी उपाधि छोड़ देते हैं तो अपना ही नाम ब्रह्म है—केवल उपाधिको स्वीकार करने और न करनेसे ही जीव और ब्रह्मका भेद है, जैसे हिन्दू और मनुष्यका भेद है, जैसे ब्राह्मण और मनुष्यका भेद है। है तो मनुष्य लेकिन हिन्दू-सम्प्रदायमें है, है तो मनुष्य लेकिन ब्राह्मण-वर्णमें है, है तो ब्राह्मण लेकिन संन्यास-आश्रममें है—यह सब होते हुए भी उसकी मनुष्यतामें कोई बाधा पड़ती हो ऐसा नहीं है। संन्यासी होनेसे क्या मनुष्य नहीं रहा? हिन्दू या ब्राह्मण होनेसे क्या मनुष्य नहीं रहा? इसी प्रकार जीवका जो कर्त्तव्य है उसका पालन करते हुए भी उसकी ब्रह्मतामें कोई बाधा नहीं पड़ती। अत: यमराज कारक पुरुषके पदपर कार्य करते हुए भी तत्त्वज्ञ हैं।

एक जज था। एक बार ऐसा हुआ कि एक बहुत बुरे मुकदमेमें उसका बेटा फँस गया और वह मुकदमा भी उसीकी अदालतमें आया। अब जजकी हैसियतसे उसने अपने बेटेको फाँसीकी सजा दी ओर बादमें घर जाकर अपनी पत्नीके पास बैठकर रोने लगा कि हाय-हाय, हमारे बेटेको सजा हो गयी। पत्नी बोली—बात क्या है? तो बोले—जजकी हैसियतसे वहाँ सजा देकर आया हूँ और पिताकी हैसियतसे यहाँ बैठकर रो रहा हूँ।

इसी प्रकार तत्त्व दृष्टिसे तो यमराज ब्रह्म है और आधिकारिक दृष्टिसे वे कर्माध्यक्ष है, जीवोंके पाप-पुण्यका फल प्रदान करते हैं। इसलिए आदर्शकी दृष्टिसे, यद्यपि यमराजको किंचित् भी प्रत्यवाय नहीं है*—माने पाप-पुण्य नहीं है, पुनर्जन्म नहीं है, अधोगमन नहीं है अर्थात् मरनेके बाद नरकमें भी नहीं जाना है, परन्तु कर्माध्यक्ष होनपर भी यदि वह घर आये अतिथिका सत्कार नहीं करते तो आदर्श बिगड़ता है। फिर दूसरे लोग भी अतिथिका सत्कार नहीं करेंगे। इसलिए लोकसंग्रहके लिए उन्होंने अतिथि नचिकेताके प्रति आदर-सत्कार किया और उसके उपवासके बदले अपनेको उसमें अपराधी मानकर नचिकेता को तीन वरदान देनेकी प्रतिज्ञा की।

---

* ***प्रत्यवाय*** *शब्दका अर्थ है—प्रति+अव+अय।* ***प्रति*** *माने उल्टी दिशामें;* ***अव*** *माने नीचेकी ओर; अय माने गमन। इस प्रकार* ***प्रत्यवाय*** *माने लक्ष्यसे विपरीत दिशामें नीचेकी ओर गमन अर्थात् पतन। प्रत्यवायका विलोम शब्द* ***अभ्युदय है: अभि*** *माने लक्ष्यके सम्मुख, उत् मान ऊपरकी और* ***अय*** *माने गमन।*

नचिकेताका प्रथम वर–पितृ-परितोष

(अध्याय-१ वल्ली-१ मंत्र १०-११)

नचिकेताने कहा–यदि आप वर देना चाहते हैं तो मैं यह वर माँगता हूँ-

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माभि मृत्यो।
त्वत्प्रसृष्टं माभिवदेत्प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे॥ १.१.१०

अर्थ :–हे मृत्यो! जिससे मेरे पिता गौतम (वाजश्रवस) मेरे सम्बन्धमें शान्त संकल्प, प्रसन्नचित्त और वीतमन्यु (क्रोधरहित) हो जायँ और आपके द्वारा घरकी ओर छोड़े जानेपर वे मुझे पहचारकर (कि यह वही मेरा पुत्र है जो मृत्युके पाससे लौट आया है) बातचीत करें–यही आपके दिये हुए तीन वरोंमें-से मैं पहला वर माँगता हूँ।

इसपर यमराजने कहा–

यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः।
सुखँ रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम्॥ १.१.११

अर्थ :–मेरे द्वारा प्रेरित होकर अरुणपुत्र उद्दालक (अर्थात् तुम्हारे पिता वाजश्रवस) तुम्हें पहलेकी भाँति ही पहचान लेंगे और शेष रात्रियोंमें सुखपूर्वक प्रसन्न मनसे सोयेंगे और तुझको मृत्युके मुखसे छूटा हुआ देखकर क्रोधरहित हो जायेंगे।

अब नचिकेता पहला वर यमराजसे माँगते हैं। वर माने वरण करना, अपना अभिलाष प्रकट करना कि हम यह चाहते हैं। क्या चाहते हैं? कि पहली चीज अपने लिए नहीं चाहते हैं। जैसे पहली कमायी ब्राह्मणको, माता-पिताको, गुरुजनोंको; उसी प्रकार नचिकेताको तीन वरदान मिलनेवाले हैं; सो उसने बँटवारा कर दिया कि पहला वरदान पिताजीके लिए, दूसरा वरदान साधारण जनताके लिए और तीसरा वरदान अपने लिए। जिस पिताने उसको कहा था कि **मृत्यवे त्वा ददामि**–मैं तुम्हें मौतके हवाले करता हूँ, उस पिताके लिए वह पहला वरदान माँगता है।

साफ मालूम पड़ता है कि नचिकेता जिज्ञासु है। वह अपने हृदयमें कलुष नहीं रखता और दूसरेके हृदयमें भी वह कलुष नहीं रहने देना चाहता। वरदान माँगनेका समय आया तो वह पहले अपने पिताके लिए ही वरदान माँगता है। क्या? कि यदि आप मुझे वर देना चाहते हैं तो यह दीजिये कि—

शान्त संकल्प :

हमारे पिताके हृदयमें जो संकल्प हैं वे शान्त हो जायँ। देखो, इसके पिता गौतमके हृदयमें इसके प्रति बहुत ममता है, यहाँतक कि वे ठीक-ठीक तराजूपर अपने धर्म और पुत्र-प्रेमको भी नहीं तौल पाते क्योंकि वह अपने बेटके लिए अच्छी गौयें छोड़ना चाहते हैं और धर्मके लिए घटिया गायें देना चाहते हैं।

आपको एक सच्ची बात सुनाते हैं। एक माता जब मरने लगी तो अपनी बहूको एक लाख रुपया दिया, अपने बेटेको पाँच लाख रुपया दिया, अपनी लड़कीको पचास हजार रुपया दिया और अपने गुरुजीके लिए पाँच रुपया निकालकर रख गयी कि मैं मर जाऊँ तब उनको यह पाँच रुपया दे देना। लौकिक दृष्टिकी प्रबलता देखो कि अपने धर्मके लिए उन्हें कुछ जरूरत ही नहीं है।

नचिकेताके पिताको भी अपने परलोककी, अपने धर्मकी चिन्ता मानो नहीं थी, सो गुस्सेमें उसने कह तो दिया कि मैं तुम्हें मौतके हवाले करता हूँ लेकिन मृत्युको देनेके बाद उसकी क्या हालत होगी—यह बात नचिकेता समझता है। इसलिए वह कहता है कि निश्चय ही हमारे पिता हमारे बारेमें संकल्प करते होंगे। अत: वह पहला वर यही माँगता है कि मेरे पिता मेरे बारेमें **शान्तसंकल्प** हो जाये। अर्थात् उनके मनमें ये संकल्प जो उठते होंगे कि मृत्यु हमारे पुत्रके साथ कैसा बर्ताव करेंगे या कि पुत्रके मरनेके बाद उसके लिए जो बढ़िया गौएँ हमने रखी हैं उनका क्या होगा, इत्यादि सब संकल्प उनके शान्त हो जायँ।

संकल्पका अर्थ हमारे साधुओंमें ऐसा होता है कि संसारकी वस्तुओंके बारेमें जो हमारी सम्यक्त्वकी कल्पना है कि यह वस्तु बहुत अच्छी है, बहुत महत्त्वकी है, क्योंकि यह हमको सुख देती है या हमारी आयु, बल और यशको बढ़ानेवाली है या हमारी बुद्धिको बढ़ानेवाली है—इसीका नाम संकल्प है, माने सम्यक्त्वकी कल्पना। इसी कारणसे मनुष्य उन्हीं चीजोंके बारे में सोचता रहता है और अपनी आँखके सामनेकी वस्तुको भी ठीक-ठीक नहीं देख पाता है।

कल एक आदमी आया हमारे पास। उसने एक बात तो हमको छ: महीनेके पहलेकी सुनायी जब उसे कोई तकलीफ हुई थी और एक बात सुनायी कि छ:

महीने बाद वह क्या करना चाहता है। ८-१० मिनटमें उसने हमको ये दो बात सुनायी। अब हम उस समय बैठे थे चुपचाप और कोई बहुत अच्छी बात सोच रहे थे; न भूतकी सोच रहे थे न भविष्यकी, वर्तमानकी ही सोच रहे थे। अब उस आदमीने वह ढेला मारा महाराज कि हमारा एक मन छः महीने पहलेमें चला गया और एक मन छः महीने बादमें चला गया; और ये लोग समझते हैं कि हम बड़े बुद्धिमान हैं।

तो संकल्पमें यह जो सम्यक्त्वकी कल्पना है वह हर व्यक्तिकी अलग-अलग होती है। कल्पना शब्द **कृण वृत्ति** धातुसे बनता है और इसी धातुसे **कृपण**, **कृपाण** और **कार्पण्य** शब्द भी बनते हैं। तो सत्यको छोड़कर कल्पनाके राज्यमें भटकना और बढ़िया-बढ़िया ख्याली पुलाव पकाना, इसीका नाम संकल्प है।

तो नचिकेता बोले कि हमारे पिताके **संकल्प शान्त** हो जायँ वे **सुमना** हो जायँ। बोले—संकल्प तो सुषुप्ति और मूर्च्छामें भी शान्त हो जाते हैं और महाराज कोई तमाचा जड़ दे तो भी थोड़ी देरके लिए हतप्रभकी स्थितिमें संकल्प शान्त हो जाते हैं। कोई तीव्र दुःखके समाचारके धक्केमें भी थोड़ी देरके लिए संकल्प शान्त हो जाते हैं। परन्तु इनमेंसे किसी भी प्रक्रियामें अन्तःकरण शुद्ध हो जाता हो, मन सुमन हो जाता हो सो तो बात नहीं है। जब मनमें कामकी वृत्ति आती है, लोभकी वृत्ति आती है तो मनमें होता है कि आया संकल्प, इसे शान्त करें। कैसे शान्त करें? कि दबाओ नाक, हवा रोको; प्राणायाम करलें तो संकल्प शान्त हो जायेगा—बचपनमें हमें ऐसे ही बताया गया था। बात तो ठीक है, जितनी देर साँस रोके रखते हैं उतनी देर मन ठप्प हो जाता है, लेकिन जब फिर साँस छोड़ देते हैं तब वही बातें फिर मन में आने लगती हैं। थोड़ी देरके लिए संकल्प शान्त कर देनेसे मन सुमन नहीं बनता।

हम निन्दा तो किसीकी करते नहीं हैं पर हम आपको सिद्धान्त बताते हैं। जो लोग नस दबाकर मन शान्त कर देते हैं या आसन-प्राणायाम कराके मन शान्त करवा देते हैं या कहते हैं कि तुम बैठो हम तुम्हारी ओर देखते हैं मन शान्त हो जायेगा या कि हम अपने संकल्पसे तुम्हारे मनको शान्त कर देते हैं—आप क्या समझते हैं कि उनके किये आपका मन शान्त हो जायेगा? जितनी देर आपका मन किसी भी कारणसे ठप्प रहेगा उतनी देर आपके संकल्प शान्त रह सकते हैं परन्तु बादमें मनके उदय होनेपर फिर सब वही हो जायेगा जैसे ठप्प होने से पहले था।

संकल्प शान्त होना अलग बात है और सुमना होना अलग बात है। सुमना

होना माने शुद्ध मन होना, सुष्ठु मन होना। अरे बाबा! एक नहीं हजार संकल्प उठें, पर अच्छे उठें! तो केवल शान्त-संकल्प होना ही अन्तःकरणकी शुद्धि नहीं है, मन सुमन भी होना चाहिए, मन सुन्दर, प्रसन्न, निर्मल भी होना चाहिए।

यह मनकी निर्मलता क्या चीज है? कि हे भगवान्! जैसे आँखसे सड़कपर आते-जाते लोगोंको देखते हैं तो वहाँ कोई सुखी आया कोई दुःखी आया, कोई गरीब आया, कोई अमीर आया, कोई पण्डित आया, कोई मूर्ख आया; वहाँ कोई कुत्ता आया, कोई गाय आयी; परन्तु आँख तो आपकी ज्यों-की-त्यों रहती है, वह सँवरती, बिगड़ती नहीं। बोले—कभी-कभी दुष्टको देखकर हमारी आँख लाल हो जाती है, तो आपकी आँख लाल नहीं होती, आँखका गोलक लाल हो जाता है, आँख तो केवल रोशनी है, वह चीजोंको बस दिखाती भर है। आप तो सुलोचन ही रहते हैं, बस आँखका गोलक कुगोलक हो जाता है। ऐसे ही अन्तःकरण अथवा मनका शीशा है, उसके सामने जो आता है उसकी एक परछाँईं मनपर पड़ जाती है—एक आया उसकी परछाईं पड़ी, दूसरा आया उसकी परछाँईं पड़ी, तीसरा आया उसकी परछाँईं पड़ी, सब आये और चले गये और शीशा तो अपने पास ज्यों-का-त्यों है। वह सामने स्वयं ज्यों-का-त्यों रहता है।

अब जरा और भीतर चलो। जैसे इन्द्रियाँ ज्ञान हैं, वे अपने-अपने विषयोंको दिखाती भर हैं, उनसे रँगती नहीं; और जैसे अन्तःकरण भी एक रोशनी है, ज्ञान है, जिसमें वस्तुएँ दीखती भर हैं पर जो स्वयं वस्तुओंसे रँगता नहीं; उसी प्रकार अन्तःकरणको दिखानेवाला जो ज्ञान है वह भी अन्तःकरणमें प्रतिभासित वस्तुओंके प्रतिभाससे प्रभावित नहीं होता। वह ज्ञान आप स्वयं हो।

संस्कारसे युक्त ज्ञानको अन्तःकरण बोलते हैं। ज्ञानांशमें किसीकी प्रतिच्छाया पड़ती ही नहीं है, वह तो बस जो-जो नाम-रूप, आकार अन्तःकरणमें आते-जाते हैं उनको दिखाता भर है। जैसे रंगमंचपर कोई नटी आकर नाच जाती है और कोई नट आकर कर्तब दिखा जाता है, परन्तु मंचपर प्रकाश ज्यों-का-त्यों बना रहता है; वैसे इस ज्ञानस्वरूप प्रकाशात्माके सम्मुख कितनी चीजें आती हैं, जाती हैं, नाचती हैं, मिटती हैं, परन्तु यह स्वयं प्रकाश आत्मा नित्य शुद्ध रहता है।

दृश्य रंग-बिरंगे होनेपर भी जैसे ज्ञानात्मक इन्द्रियाँ शुद्ध ही रहती हैं, जैसे अन्तःकरणमें रंग-बिरंगी चीजें दिखनेपर भी ज्ञानात्मक अन्तःकरण शुद्ध रहता है, वैसे आप ज्ञानस्वरूप आत्मामें कुछ भी दिखनेपर आप शुद्ध ही रहते हैं। परन्तु हम तो अपनेको अशुद्ध मानने लगते हैं। अपने अन्तःकरणके राग-द्वेषके साथ तादात्म्य

करके अपनेको शुद्ध-अशुद्ध मानने लगते हैं। अशुद्धि आपमें आरोप है। अपनेको अशुद्ध माननेपर भी वास्तवमें आप अशुद्ध होते नहीं हो, आप नित्य शुद्ध ही हो।

इसलिए सुमन होनेका अर्थ है कि आप फूल हो जाओ, फूलकी तरह खिल जाओ। सुमन माने फूल, सुमन माने विद्वान्, सुमन माने देवता। अमरसिंह (अमरकोश के रचयिता)ने कहा कि सुमन माने देवता। सुमन माने शील, शुद्ध मन। यह अन्त:करण एक फूल है, कमल है, हृत्-पद्म। इसको खुला हुआ रखो। जो तुम्हारे सामने आवे उसको अपने आनन्दका एक कण दे दो—बिहारीजीके कणिका-प्रसादकी तरह। तुम्हारे भीतर भी तो बिहारीजी रहते हैं, परमात्मा रहते हैं। इसलिए तुम्हारे इस मन्दिरमें यदि कोई दर्शन करने आता है, वह चाहे श्रद्धालु हो या अश्रद्धालु हो, उसको अपने प्रसादका, अपनी प्रसन्नताका एक कण तो दे ही दो! उसको देखकर जरा-सा खिल जाओ, चेहरेपर थोड़ी मुस्कान तो आ ही जाय। श्रीमद् भागवतमें वर्णन आता है कि श्रीकृष्णको देखकर उनकी पत्नियोंके मुखपर 'स्मायलव'आ जाता था। मैं समझता हूँ अंग्रेजीमें भी इसीसे कुछ मिलता-जुलता शब्द है—स्माइल। स्मायलव कहो, स्माइल कहो— एक ही बात है। भीतर जो आनन्द है, वह थोड़ा-सा बाहर छलक जाय—इसीको स्मायलव कहते हैं।

तो सुमन माने यह कि मनरूपी फूल खिल गया। उसकी सुगन्ध बिखर गयी, उसका सौन्दर्य प्रगट हो गया। तुम देखो भाई! कि तुम्हारे भीतर विष भरा है कि अमृत भरा है? अपने से मिलनेवालों को थोड़ा-सा अमृत दो भाई! विषका प्रसाद मत बाँटो, अमृत प्रसाद बाँटो। इस अमृतको जितना-जितना बाँटोगे उतना-उतना वह बढ़ता जायेगा।

शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युः।

वीतमन्युः—माने बीत गया है क्रोध जिनका। यह क्रोध रोज आता है और रोज इसकी माफी माँगते हैं: सन्ध्या-वन्दनमें एक मंत्र आता है।

सूर्यश्च मा मन्युश्च मन्युकृतेभ्यः पापेभ्यो रक्षन्ताम्। यद्रात्र्या पापमकार्षम् मनसा वाचा हस्ताभ्यां पद्भ्यां उदारेण शिश्ना रात्रिस्तदवलुम्पतु।

इसमें प्रात:काल '**सूर्यश्च**' पाठ करते हैं और संध्याको '**अग्निश्च**' पाठ करते हैं। इस मंत्रका अभिप्राय यह है कि हमने, रातमें या दिनमें, यदि किसीपर क्रोध किया हो और क्रोध करके किसीको दु:ख पहुँचाया हो; हमने रात या दिनमें अगर मन, वाणी, हाथ, पाँव, उदर और शिश्नसे कोई पाप या अपराध किया हो तो वह मिट जाय। यह एक प्रार्थना है, पुरानी पद्धतिमें अपराध क्षमा करवानेकी।

असलमें जब हम किसीको दुःख पहुँचाते हैं तो अपनेको ही दुःख पहुँचाते हैं क्योंकि दूसरेके हृदयमें 'मैं' ही तो बैठा हूँ। जैसे कोई सूरजपर थूके तो वह थूक अपने ही ऊपर गिरता है, वैसे ही यदि कोई दूसरेके ऊपर दुःख फेंकता तो वह दुःख अपने ऊपर ही लौटता है—आज नहीं लौटेगा तो कल लौटेगा, यह बात बिलकुल पक्की है। तुम जब क्रोध करते हो तो चाहते हो कि हम आग दूसरेके घरमें लगावें, पर वह अपने ही घरमें लगेगी क्योंकि पेट्रोल तो अपने पास भी है। तो इस क्रोधको जैसे भी हो हटाना चाहिए।

तो नचिकेता कहता है कि हमारे पिताको हमारे ऊपर क्रोध आ गया था, सो वे क्रोधरहित, मन्युरहित हो जायँ। मन्यु माने क्रोध।

फिर आगे नचिकेता कहता है कि **त्वत्प्रसृष्टं**—जब आप मुझे पिताके पास जानेके लिए मुक्त कर दें, अर्थात् आपके भेजे जानेपर हमारे पिता **माभिवदेत्प्रतीत=माम् अभिवदेत् प्रतीतः** हमारे ऊपर प्रतीत अर्थात् विश्वास करें कि हमारा पुत्र हमारी आज्ञाके अनुसार मृत्युके पास जाकर वहाँसे लौट आया है और वे मुझे पहचान लें, और अभिवदेत् अर्थात् मेरेसे बड़े प्रेमसे बातचीत करें।

एक बात यह है कि जीवनमें हम केवल ठीक रहें, व्यवहारमें इतना ही काफी नहीं है। कई लोगोंको यह अभिमान हो जाता है कि हम जब इतने अच्छे हैं और ठीक हैं तब कोई माने या न माने हम तो ठीक हैं ही हैं। पर असलमें व्यावहारिक त्रुटि है। अपना अच्छा होना एक गुण है और दूसरोंका विश्वसनीय होना दूसरा गुण है। व्यापार तो तबतक चलता ही नहीं जबतक हमारी फर्मका और हमारा व्यवहार विश्वसनीय न हो। अपने ऊपर विश्वास जमाना यह भी एक व्यावहारिक सद्‌गुण है। यदि तुम्हारी पत्नी या पति तुम्हारे ऊपर विश्वास नहीं करती हैं या करता तो तुम्हारे अन्दर कुछ कमी है। भले तुम अच्छे सही, पर ऐसी रहनी क्यों नहीं रहते कि तुम्हारी पत्नी या पति तुम्हारे ऊपर विश्वास करें? समस्त सामाजिक और पारवारिक व्यवहार विश्वासनीयताके आधारपर ही चलते हैं। इसीसे नचिकेता यह माँगता है कि हमारे पिता हमारे ऊपर विश्वास करें।

एतत्त्रयाणं प्रथमं वरं वृणे—तीन वरदानोंमें-से यह पहला वर मैं माँगता हूँ कि **यत्पितः परितोषणम्**—जिससे हमारे पिता परितुष्ट होवें।

देखो, एक तो माता-पिता वह होते हैं जिनसे इस भौतिक शरीरका जन्म होता है। दूसरे वे गुरुजन भी माता-पिताके समान हैं जो माता-पिताके समान वात्सल्य करनेवाले होते हैं। उसमें बाबा, चाचा-ताऊ, सुसर बड़े-बूढ़े रिश्तेदार भी सब आ

जाते हैं जिनसे वात्सल्य प्राप्त होता है। इन सबको व्यवहारमें सन्तुष्ट रखना चाहिए। और देखो, धरती भी माता है जिसमें पैदा होते है, राष्ट्र भी अपना पिता है जिससे पोषण प्राप्त करते हैं—इनके प्रति मनुष्यके मनमें कृतज्ञताका भाव होना चाहिए। सूर्य, चन्द्र, धरती, जल, वायु, आकाश, अग्नि—इनके बिना हमारा जीवन नहीं चल सकता; सूर्य प्रकाश देता है, चन्द्रमा चाँदनी देता है, धरती अन्न देती है, जल देती है, वायुमें हम श्वास लेते हैं, आकाशमें हम विचरण करते हैं। अतः इन पंचभूतोंके प्रति हमें कृतज्ञ होना चाहिए—कृतज्ञता इस रूपमें कि इनको हम गंदा न करें, स्वच्छ रखें। जिन कामोंसे हवा, जल, धरती गन्दी होती हो उन कार्मोंको हम न करें। गंगाजी, समु द्रको गन्दा न करें। पृथिवीका अधिक दोहन न करें, अग्रिका आदर करें। और जो सबका एक माता-पिता है, परमात्मा, उसके प्रति भी कृतज्ञ होना चाहिए। यह मनुष्य अहंकार-वश बड़ी शक्तियोंका तिरस्कार कर देता है। इससें उसकी क्रिया-शक्तिका लोप हो जाता है। मनुजीने स्पष्ट लिखा है कि जो अपने बड़े—बूढ़ोंके प्रति कृतज्ञ नहीं होता उसकी प्राण - शक्तिका नाश हो जाता है।

यह धर्मका प्रसंग है, इसलिए आपको यह सब सुना दिया। वैसे तो आप जानते हैं कि आप केवल ज्ञान-भक्तिकी ही चर्चा ठीक-ठीक कर सकते हैं—कोई सामाजिक अथवा राजनीतिक सेवा अपनेसे नहीं बनती। कभी मुझे लोग इन कामोंमें डालनेकी कोशिश भी करते हैं पर जब मुझे उन विषयोंकी जानकारी ही नहीं है तो हम कर ही क्या सकते हैं! अपनेसे तो जब कोई ब्रह्मकी यां भगवद्भक्तिकी बात करता है तो तबियत खिल जाती है।

तो धर्मकी बात है कि जहाँ क्षुद्रमें अहंकार करके मनुष्य अपनेसे बड़ोंके प्रति तिरस्कार करता है वहीं उसकी क्रिया-शक्तिका लोप होने लगता है। यदि वह विश्व - नियंताका तिरस्कार करेगा तो दुःख पावेगा। जब एक शरीरमें-से तुम्हारा मैं छूट जायेगा, जब तुम अ-मैं हो जाओगे तो ईश्वर भी अ-मैं हो जायेगा, और अमैं-अमैं दोनों दोनों एक हो जायेंगे। लेकिन जबतक तुम अपने शरीरमें मैं रखते हो तबतक ईश्वर मैं-का तिरस्कार करनेका तुम्हें कोई अधिकार प्राप्त नहीं होता है, उल्टे तिरस्कार करनेसे हानि होती है।

इस प्रकार नचिकेताने अपना पहला वरदान पितृ-परितोष माँगा। अब यमराज नचिकेताको पहला वरदान प्रदान करते हुए कहते हैं—

ओ नचिकेता! **मत्प्रसृष्टः**—मेरे द्वारा भेजे जाने पर; **औद्दालकिः आरुणिः यथा पुरस्तात् भविता प्रतीत**—तुम्हारे पिता जो औद्दालकि आरुणि हैं वे जैसे पहले

तुम्हारे ऊपर विश्वास और प्रेम करते थे वैसे ही विश्वास और प्रेम तुम्हारे ऊपर करेंगे, उसमें कोई बाधा नहीं पड़ेगी।

औद्दालकि और आरुणि दो शब्दोंका प्रयोग पिताके लिए क्यों किया? दोनों शब्दोंके प्रयोगसे यह बात प्रकट होती है कि ये अरुणके पुत्र हैं इसलिए तो आरुणि और औद्दालकि इनका नाम है; अथवा ये उद्दालकके और अरुणके दोनोंके पुत्र हैं—माने एकके तो वीर्यजात पुत्र हैं और दूसरेके गोद लिये हुए पुत्र हैं पहले अर्थमें इनका एक पिता ध्वनित होता है और दूसरे अर्थमें इनके दो पिता ध्वनित होते हैं।

यमराज बोले कि जब तुम अपने पिताके सामने जाओगे तब यह देखकर कि तुम मौतके मुँहसे बचकर आ रहे हो वह क्रोधरहित हो जायेंगे—

त्वां ददृशिवान् मृत्युमुखात् प्रमुक्तम् वीतमन्युः।

पिताका पुत्रपर क्रोध तभीतक रहता है जबतक कि पुत्र किसी आपत्ति—विपत्तिमें फँस नहीं जाता; फिर तो उसका सारा क्रोध दूर हो जाता है। एक अहमदाबादके सज्जन थे। वे मुझसे बारम्बार आकर कहें—अहमदाबादमें भी, वृन्दावनमें भी, बम्बईमें भी—कि हमारा पुत्र आवारा हो गया है, बहुत बदमाश है और हमको बहुत सताता है, उसको हम अलग करना चाहते हैं। अन्ततोगत्वा उन्होंने उसको घरसे निकाल दिया और अखबारोंमें भी छपवा दिया कि इससे हमारा कोई पिता-पुत्रका समबन्ध नहीं है, और उसके लेन—देन, कर्जदारीसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है। अब वह लड़का अहमदाबादसे भागकर आया बम्बई। वहाँ जिस मकानमें वह ठहरा था उसमें पार्टीशन किया हुआ था। तो दूसरी ओर हो गयी चोरी तो वही पकड़ा गया कि इसीने चोरीकी है। पुलिस उसे पकड़कर ले गयी। तब वही पिता अहमदाबादसे बम्बई आया और हमसे वह बोला—महाराज, कोई देवताकी पूजा बताओ, कोई सिफारिश बताओ ताकि बेटेको कैसे छुड़ायें!

तो पिता कबतक रुष्ट रहता है कि जबतक पुत्रपर कोई आपत्ति—विपत्ति नहीं आती। तो यमराजने कहा कि उसका गुस्सा तो तभी उतर जायेगा जब वह देखेगा कि तुम मौतके मुँहसे बचकर आ गये हो। और **सुखं रात्रीः शयिता**—वह तो सुखपूर्वक रातको सोवेगा। अभी तो वह तुम्हारी फिक्रमें रातको सोता नहीं है, पर जब तुम अपने पिताको संतुष्ट करनेके लिए पहला वर माँगते हो, वह मैंने तुमको दिया।

❖

नचिकेताका दूसरा वर–स्वर्गप्रापक अग्निविद्या

(अध्याय—१ वल्ली—१ मंत्र १२-१३)

नचिकेता बोला–

स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति न तत्र त्वं जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वाशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥ १.१.१२

अर्थ :–स्वर्गलोकमें किंचित् भी भय नहीं है। हे मृत्यो! वहाँ आपकी भी कुछ प्रभाव नहीं चलता। वहाँ किसीको भी भी वृद्धावस्थासे युक्त होकर मृत्तयुका भय नहीं है। स्वर्गलोकमें तो पुरुष भूख-प्यास दोनोंको पार करके, शोकका अतिक्रमण करके आनन्दित होता है।

स त्वमग्निꣳस्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वꣳश्रद्दधानाय मह्यम्।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण॥ १.१.१३

अर्थ :–हे मृत्युदेव! आप ऐसे गुण वाले स्वर्गलोकको प्राप्त कराने वाले अग्निविद्याको जानते हैं, सो मुझ श्रद्धालुके लिए आप उस विद्याका वर्णन कीजिये जिससे स्वर्गको प्राप्त हुए पुरुष अमृतत्वको अर्थात् देव भावको प्राप्त हो जाते हैं। मैं अपने दूसरे वरके द्वारा इस अग्नि-विद्याको माँगता हूँ।

अब नचिकेताने दूसरा वर माँगा। दूसरा वर लोक-हितके लिए है। यह स्वर्गको प्राप्त करानेवाली अग्नि-विद्याके बारेमें है जिससे लोग पुण्यकर्म करें, धर्म करें, अग्निकी उपासना करें और परलोकमें सद्‌गति प्राप्त करें।

नचिकेता बोला—मैंने सुना है कि स्वर्ग - लोकमें कोई भय नहीं है अर्थात् रोगादिके निमित्तसे होनेवाला कोई भय नहीं है। यह स्थूल शरीर जहाँतक रहता है वहाँतक इसमें रोगादिके आनेका भय बना रहता है। इस लोकमें सामान्य लोगोंकी ऐसी कल्पना होती है कि कोई योगी हो जाय या भक्त हो जाय या तत्त्वज्ञानी हो जाय तो उसके शरीरमें रोग नहीं आते हैं। कोई कहते हैं कि ज्ञानी हो जानेपर नींद ही नहीं आती। कोई कहते हैं कि ज्ञानीको सपना नहीं आता। कोई कहता है कि ज्ञानी खाता ही नहीं है। कोई कहता है कि ज्ञानीकी साँस ही नहीं चलती। ऐसी-ऐसी मूर्खतापूर्ण धारणाएँ समाजमें फैली हुई हैं। इसका मतलब यही तो हुआ न कि ज्ञान होनेपर मनुष्य मर जाता है! पर बात ऐसी है कि जो ज्ञान–मार्गके दुश्मन हैं

ना, वे ज्ञानीके बारेमें ऐसी-ऐसी अफवाहें फैला देते हैं। मुमुक्ष जिज्ञासुओंको इस चक्करमें नहीं आना चाहिए।

जबतक स्थूल शरीर है इसको अन्नकी आवश्यकता रहती है क्योंकि यह अन्नसे ही बना है। अब देखो जैसे अन्न खाते हैं और पीते हैं, तो भीतर जाकर इनमें विकार होता है, ठीक वैसे ही जैसे रसोई बनाकर घरमें रख दो तो समय पाकर वह सड़ जाता है, विकारको प्राप्त हो जाता है। तो जो भी मनुष्य, ज्ञानी हो या अज्ञानी हो, अन्न खाता है, पानी पीता है, दूध-फल-घी कुछ भी खाता है, पीता है उसके शरीरमें भीतर जाकर इनमें विकार पैदा होगा, ये चीजें भीतर जाकर समयपर सड़ेंगी। इसलिए उसके शरीरमें रोग होनेकी सम्भावना बनी रहेगी। इसलिए इस जगत्में जहाँ स्थूल शरीर बर्तता है वहाँ असलमें रोगादि विकारोंका भय बना रहता है।

लेकिन स्वर्गमें हमारा यह स्थूल शरीर नहीं जाता। वहाँ तो हम अपने सूक्ष्म शरीरसे ही जाते हैं। क्योंकि सूक्ष्म शरीरमें स्थूल शरीरके रोग नहीं होते। इसलिए यह बात कही गयी कि स्वर्ग-लोकमें रोगादिका भय नहीं होता।

बोले—नहीं, स्वर्ग-लोकमें भी अग्निको अजीर्ण हो गया था और ये ज्वर आदि जो रोग हैं वे तो वहाँ मूर्तमान होकर निवास करते हैं, वहाँ भी दाह होता है। पर इतनी बात पक्की है कि स्थूल-शरीर निमित्तक जो रोग होते हैं वे वहाँ नहीं होते, बुढ़ापा वहाँ नहीं होता। वहाँ खानेके लिए दाँतोंकी कोई जरूरत नहीं है, पचानेके लिए अँतड़ियोंकी भी जरूरत नहीं है और जिस वस्तुकी जरूरत पड़ती है वह चाहने मात्रसे ही उपस्थित हो जाती है। इसलिए वहाँ भय नहीं है मृत्यु भी स्थूल-शरीरकी जैसे यहाँ होती है वैसे वहाँ नहीं होती है—वहाँ तो कर्मक्षयसे मृत्यु होती है अर्थात् कर्मके वेगसे बना हुआ जो वासना - शरीर है वह जैसे शिथिल पड़ा वैसे ही पहला सूक्ष्म-शरीर छूटकर दूसरा हो जाता है।

न जरया बिभेति—वहाँ बुढ़ापेका डर नहीं है क्योंकि बुढ़ापा वहाँ आता ही नहीं। और **उभे तीर्त्वाशनायापिपासे**—वहाँ भूख-प्यास लगती ही नहीं इसलिए अशनया माने भूख और पिपासा माने प्यास दोनोंको पार कर जाता है।

तो स्वर्गमें भूख नहीं, प्यास नहीं, बुढ़ापा नहीं, रोग नहीं, लौकिक मृत्यु नहीं और **शोकातिगो**—माने वहाँ शोक-मोह भी नहीं होता है। फिर वहाँ क्या है कि **मोदते** वहाँ स्वर्ग लोकमें बड़ा आनन्द रहता है। नचिकेता कहता है कि स्वर्ग-लोकके बारेमें हमने सुना है।

यहाँ स्वर्गका जो वर्णन है उसको आप यह नहीं समझना कि उपादेय रूपसे

यह वर्णन है। आगे जब नचिकेता तीसरा वर माँगेंगे कि हमको आत्मज्ञानका उपदेश करो तो साफ मालूम पड़ेगा कि इस स्वर्ग-प्राप्तिकी विद्यासे उनको अभी सन्तोष नहीं हुआ। वहाँ बताना यह इष्ट है ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए जैसे लोकके भोग छोड़ने पड़ते हैं वैसे ही परलोकके भोगोंसे भी वैराग्य करना पड़ता है। ऐसा सूक्ष्म शरीर भी मिल जाय जिसमें रोग, मृत्यु, जरा, भूख, प्यास, शोक-मोह कुछ भी न हो, और वह भी मन्वन्तर-भरके लिए मिल जाय या कल्पभरके लिए मिल जाय, तब भी मोक्ष-प्राप्तिसे अथवा परमात्माका ज्ञान प्राप्त होनेसे जो यहाँ सुख-शान्ति साक्षात् अपरोक्ष मिलती है, उसकी बराबरी वह नहीं कर सकता। इसलिए यह तो स्वर्गका वर्णन हो रहा है वह अन्तमें बात बतानेके लिए हो रहा कि इससे वैराग्य करके परमात्माका ज्ञान प्राप्त करो। नचिकेताके वरमें लौकिक परिपुष्टि पहली चीज है—माने पिताका सन्तोष। अन्तःकरणकी शुद्धिकी दृष्टिसे यदि देखो तो एक लौकिक सम्पन्न पुरुषमें, साधन-सम्पन्न पुरुषमें, जो गुण होना चाहिए वे सब नचिकेतामें हैं—न्याय है, सत्य है, हितैषिता है, पिताकी भक्ति है, आज्ञाकारिता है, दृढ़ता है, भोग-विषयका त्याग है, निर्भयता है। इतने गुण यदि किसी मनुष्यके जीवनमें होवे तो उसका जीवन कितना उन्नत होगा? बताया उननिषदोंमें।

युवा स्यात् साधु युवाध्यायक आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठः—मनुष्य उत्साही हो आशावान् हो, दृढ़ हो और विद्वान् हो और दूसरोंको शिक्षण भी देता हो तो इससे बढ़कर उसके जीवनमें क्या सुख हो सकता है? यह तो कुएँमें भाँग पड़ गयी समझो कि लोग समझते हैं कि हमारे महल होगा तो हम सुखी होंगे, हमारे मोटर होगी तो हम सुखी होंगे, हमारे पास बैंकमें इतना रुपया होगा तो हम सुखी होंगे—यह तो बस बुद्धिका एक भ्रम है। अगर जीवनमें आशा हो और विघ्नोंका सामना करनेके लिए दृढ़ता हो, अपना काम पूरा करनेके लिए उत्साह हो, बुद्धिमें कोई अन्धकार न हो और दूसरोंको उससे लाभ मिलता हो तो इससे बढ़कर मनुष्य - जीवनकी और क्या श्रेष्ठता हो सकती है? घरमें रखी हुई चीजें श्रेष्ठताकी सूचक नहीं हैं।

कितने लोग घरमें रखे हुए धनको छोड़करके मर गये और कितने लोग और ऐसे ही छोड़कर मर जायेंगे! रजवाड़ोंके गाँवमें उनके घरमें जब जाते हैं और देखते हैं उनके महल-पर-महल यह हमारे परदादाका बनवाया हुआ है, यह हमारे दादाका बनवाया हुआ है, यह हमारे पिताका बनवाया हुआ है और यह हमने बनवाया—सब छूट गया महाराज, कबूतर बीट करते हैं, झाड़ू नहीं लगती है, दीया नहीं जलता है! समझे? जिसका उन्हें अभिमान था, उसकी यह दशा हो रही है।

तो, ऐसी छोटी-मोटी चीजोंपर अभिमान करना यह कोई बुद्धिमानीकी बात नहीं है। लौकिक जीवनमें जो विशेषता होनी चाहिए वे सब नचिकेताको प्राप्त हैं— उसको मृत्युका भय नहीं है, मृत्युको देख रहा है वह! और स्वयं प्रसन्न होकर उसको वरदान दे रहा है।

नचिकेताने यह प्रश्न किया कि मैंने सुना है कि स्वर्ग-लोकमें रोगादिका भय नहीं है, वहाँ एकाएक मृत्यु भी नहीं होती है और न ही वहाँ बुढ़ापेका भय होता है; वहाँ भूख-प्यास भी नहीं सताती, वहाँ मनमें शोक-मोह भी नहीं होता और वहाँ बड़े-बड़े आनन्द प्राप्त होते हैं और ऐसे आनन्दकी प्राप्ति अग्निके द्वारा होती है, और उस अग्निके बारेमें जानते हैं, सो आप हमको उस अग्नि-विज्ञानके बारेमें सब बताइये।

सत्वग्निꣳ स्वर्गमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वं श्रद्दधानाय मह्यम्।
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण॥ १३॥

नचिकेताने कहा कि हे मृत्युदेव! ऐसा जो स्वर्ग है उस स्वर्गकी प्राप्तिके साधन—अग्निदेवताको तुम भली-भाँति जानते हो। स्वर्ग्यम् अग्निम् अध्येषि— अध्येषिका अर्थ है जाननेवाला, स्मरण करनेवाला, पढ़नेवाला, अध्ययन करनेवाला—उसके तुम अध्येता हो। अध्येता हो माने विद्वान् हो। तो, ऐसा स्वर्ग अग्निसे कैसे मिलता है?

बात यह है कि अधिकांश लोग पुराणोंकी कथा सुनते हैं। तो पुराणोंके स्वर्ग और पुराणोंकी अग्नि-विद्या उनकी बुद्धिमें बैठ जाती है। पर वेदोंमें जो स्वर्ग और अग्नि-विद्या है उसका रूप कुछ दूसरा है और दर्शन-शास्त्रमें जो ज्ञानग्नि है उसकी साक्षी महिमा कुछ दूसरी है।

देखो, लोकमें जिसके घरमें अग्नि न हो वह अपने मनका भोजन केवल होटलमें आर्डर देकर नहीं प्राप्त कर सकता है। भोजनकी भी एक विद्या है। जैसे संगीतके नाना प्रकारके राग-रागिनी, स्वर, आलाप-प्रलाप आदि भेद होते हैं; और भिन्न-भिन्न देशोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे स्वर निकालते हैं। अपने ही देशमें दक्षिणकी पद्धति अलग और उत्तरकी पद्धति अलग होती है, तो देखो ये सब कानके सुननेके लिए नये-नये राग-रागिनीके भोग निकालते हैं। ऐसे ही नाकके सूँघनेके लिए नयी-नयी सुगन्ध निकालते हैं—सभी देशोंमें फूलोंके इत्रकी और सेण्टोंकी पद्धति किसी-न-किसी रूपमें विद्यमान है। तो ये सब नसिकाके भोगके लिए तरह-तरहकी पद्धति है। आँखके लिए रंग-बिरंगा, चित्र-विचित्र, कभी

साधारण और कभी विशेष दृश्य लोग देखना चाहते हैं। इसी प्रकार जीभके लिए जो विशेष-विशेष प्रकारके भोग हैं उनको ही भोजन बोलते हैं। जिह्वा द्वारा जो विशेष-विशेष प्रकारका आस्वादन है, वही भोजन है। ये इन्द्रियाँ तो केवल पाँच हैं और उनके आस्वादन बना लेते हैं पाँच हजार, आँखके, नाकके, कानके, जिह्वाके, त्वचाके आस्वादन बना लेते हैं। इन सब आस्वादनोंमें अग्नि-देवताका भौतिक-अग्निका हाथ है कि नहीं है? यदि बिजली न हो, सूर्यकी रोशनी न हो, वायुकी गति न हो, गर्मी न हो, तो इतने प्रकारके भोग लोकमें किसी भी प्रकार तैयार नहीं हो सकते। भौतिक वस्तुओंमें भौतिक-अग्निका उपयोग होता है। पेटमें जठराग्नि है; धरतीके भीतर खानकी अग्नि है जिसमेंसे गलता हुआ सोना निकलता है; लकड़ी आदिको जलानेवाली पार्थिव-अग्नि है, और आकाशमें जो बिजली होती है उससे पार्थिव-अग्नि तो सोनामें भी आग है, सूर्यमें भी आग है, पेटमें भी आग है, बाहर भी आग है, भीतर भी आग है—यह सारा लौकिक-व्यवहार जो है वह अग्निके द्वारा सम्पन्न होता है।

अच्छा, यह हुई स्थूल-अग्निकी बात। अब सूक्ष्मशरीरका निर्माण करनेवाली जो अग्नि है उसपर ध्यान दें! और कारणशरीरका विध्वंस करनेवाली जो अग्नि है उसपर भी ध्यान दें। कारण-शरीर माने अविद्या; उस अविद्याको विध्वंस करनेके लिए ज्ञानाग्नि है, चैतन्यके सम्बन्धमें जो अविद्या है और जो प्रतिबन्ध है उसकी निवृत्तिके लिए ज्ञानाग्नि है। जैसे चावलमें जो कच्चापन है उसको अग्निके द्वारा पकाकरके दूर करते हैं वैसे ही हमारी बुद्धिमें, हमारे ज्ञानमें जो कच्चापन है उसको सच्चे ज्ञानकी अग्निमें पकाक़रके उसमें जो कलुष है उसको धोकरके शुद्ध ज्ञानकी प्राप्ति करते हैं।

यह ज्ञानाग्नि आध्यात्मिक अग्नि है। और भौतिक अग्निकी बात आपको बता चुके। लेकिन आधिदैविक अग्निपर आपका ध्यान कम जाता है। अतः आप आधिदैविक-अग्निकी ओर भी थोड़ी-सी अपनी दृष्टि डालें। जैसे आँखसे हमें यह रूमाल दीखती है तो आँख अध्यात्म है और रूमालमें जो श्वेतिमा है—सफेदी है यह अधिभूत है; लेकिन आप जानते हैं कि यदि सूर्यका प्रकाश बीचमें न होवे, सूर्यका अनुग्रह न होवे तो आँख होनेपर भी और रूमाल होनेपर भी यह जो रूमालका रंग है यह आपको मालूम नहीं पड़ेगा—रूमालमें रंग डालनेवाला सूर्य है। अगर रोशनी न हो, प्रकाश न हो तो रूमालमें रंग बिलकुल नहीं आवेगा। तो सूर्यको सूर्य-मण्डलमें जो देवता हैं उनको अधिदैव बोलते हैं। नेत्रमें जो चैतन्य है

उसको अध्यात्म बोलते हैं और रूमालमें जो चैतन्य है उसको अधिभूत बोलते हैं। अधिभूतोधिपाधिक चैतन्य रूमालमें है और अध्यात्मोपाधिक चैतन्य नेत्रमें है, शरीरमें है और अधिदैवोपाधिक चैतन्य सूर्यमें है। इसी प्रकार, हम बोलते हैं, तो जिह्वा अध्यात्म है उसके द्वारा जो शब्द आपके कानमें पड़ता है वह अधिभूत है—आपके कानके अध्यात्मके द्वारा ग्रहण होता है लेकिन हमारी जीभ और आपके कानके बीचमें जो अवकाश है, उसमें विद्यमान दिग्देवताके अनुग्रहसे वह शब्द आपके कानतक पहुँचता हैं और वाणीके मूलमें बैठ हुए अग्नि-देवताके अनुग्रहसे वह शब्द निकलता है। यह जो हमलोग अन्न खाते हैं, इसकी गर्मी जो है वह जिह्वा-मूलमें आकर एकत्र होती है और वाणीके अधिदैव-रूपसे रहकरके शब्दोंको बोलनेकी प्रेरणा देती है।

हम सब लोगोंके पेटमें आग है, जिह्वा-मूलमें आग है और पूरे शरीरमें सर्वत्र गर्मी व्याप्त है। यदि अमुक हदतक गर्मी न रहे तो हमारा जीवन ही न रहे! थर्मामीटरसे इस अग्निको नाप लेते हैं। अब यह तो व्यष्टि - व्यष्टिमें अलग-अलग अग्नि है इसका एक समिष्टरूप होता है। इसको विराट् अग्नि बोलेंगे।

अब मूलवेदोंमें स्वर्गसुखका कैसे वर्णन किया गया है यह आप ध्यानसे सुनें। यह हम जिसको विराट् बोलते हैं इसमें तीनकी प्रधानता है—वायु, अग्नि और सूर्य। वायु, अग्नि और सूर्य न हों तो फिर यह विराट्-सृष्टि मालूम नहीं पड़े। जबतक आप पेटकी आग बुझानेमें ही लगे हुए हैं तबतक आपकी निष्ठा व्यक्तिगत है और जब आप सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिमें जो गर्मी, जो अग्नि काम कर रही है, उसके साथ तादात्म्य करेंगे तब वह अग्निकी आराधना होगी। इसका अर्थ असलमें हुआ—विराट्के साथ एकत्व। यह वर्णन करनेका जो ढंग है वह वैदिक है। विराट् आदित्यके साथ, विराट् वायुके साथ और विराट् अग्निके साथ अपना जो तादात्म्य है वह स्वर्ग-सुखका मूल कारण है।

आप जरा देहके तादात्म्यसे निकलकरके विश्व-सृष्टिमें जो गर्मी है वह मेरी गर्मी है, इस प्रकार तादात्म्य करें; और यह सूर्यकी ज्योति है वह मेरी ज्योति है और जो वायु चल रही है वह मेरा प्राण है, इस प्रकार तादात्म्य करें। अग्निकी गर्मीसे पिघला हुआ बर्फ, अग्निकी गर्मीसे जमा हुआ बर्फ और उसके जमावसे बनी हुई धरती—ये तीनों अग्निके कार्य हैं। अग्निसे जल और जलसे पृथिवी तो पृथिवी जलमें और जल अग्निमें और अग्निका एक रूप प्रकाशका सूर्यके रूपमें और एक रूप दाहक अग्निके रूपमें और वायु माने गति। यह सम्पूर्ण विराट्में जो

प्रकाश है, जो गति है और जो उष्णता है–जिसके बिना न क्रिया सम्पन्न हो सकती, न भोजन मिल सकता, न आप्यायन हो सकता, न शरीरकी प्राप्ति हो सकती, न तो धरती हो सकती—ऐसी जो सम्पूर्ण विश्व-समृष्टिमें विराट्के अवयव-रूपसे विद्यमान जो वायु, आदित्य और अग्नि हैं, उनके साथ यदि तुम तादात्म्य कर लो तो सम्पूर्ण विश्वमें तुम्हें कहीं शोक-मोह-भय नहीं रहेगा। अभी तो एक देहमें जो आदमी करके बैठा हुआ है उसको यह समझनेमें बड़ा कठिन पड़ता है। यह एक छोटी-सी धरती नहीं, सम्पूर्ण धरतीके साथ, धरती ही नहीं, धरतीके साथ जो ब्रह्माण्ड लगा है उसके साथ, ब्रह्माण्ड ही नहीं कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड जिस विराट्के एक रोम-कूपमें रहते हैं उस विराट्के साथ, यदि तुम्हारा तादात्म्य हो जाये तो संसारमें तुमको क्या एक शरीरमें होने वाले रोगका डर रहेगा? क्या वहाँ होनेवाली एक शरीरकी मृत्युं तुम्हारी मृत्यु रहेगी? क्या एक शरीरमें आनेवाला बुढ़ापा तुम्हारा बुढ़ापा रहेगा? क्या एक शरीरकी भूख-प्यास तुम्हारी भूख-प्यास रहेगी? क्या एक शरीरके सम्बन्धियोंके संयोग-वियोगसे तुम्हें शोक-मोह होगा? असलमें तब तुम स्वर्ग-लोकमें जाओगे और स्वर्ग-लोकमें हो जाना यह परमानन्दकी प्राप्तिका उपाय है।

असलमें यह जो स्थूल—व्यष्टि है इसके साथ तादात्म्य छोड़कर स्थूल-समष्टिके साथ तादात्म्य प्राप्त करनेका जो उपाय है उसीको उपनिषदोंमें ब्राह्मण-ग्रन्थोंमें, आरण्यकोंमें ब्रह्म-विद्याके नामसे कहते हैं। देखो माण्डूक्योपनिषद्में जो विश्व है उसको वैश्वानर कहते हैं। वैश्वानर माने अग्नि। यह जो वैश्वानर है वही नचिकेता है, वही अग्नि है और वही विश्व है और वही विराट् है। तो, असलमें स्थूल-समष्टिके साथ एकत्व प्राप्त होनेसे जन्म-मरण शैशव और बुढ़ापा, भूख-प्यास, शोक और मोह—ये जितनी ऊर्मि हैं, जितने द्वन्द्व हैं, जितने दुःख हैं तुम्हारे जीवनमें, इन सबसे छुटकारा मिल जाता है और इसको ही स्वर्ग बोलते हैं—

यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।
अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वपदास्पदम्॥

इसमें पार्टीबन्दी नहीं रहेगी भला! इसमें न राजनैतिक दलबन्दी है, न समाज-सुधार सम्बन्धी दलबन्दी है और न इसमें राष्ट्रीयता और न प्रांतीयता। न इसमें जातीयता, न इसमें कहीं भी व्यक्ति-मूलक, जाति-मूलक राग-द्वेषको कोई स्थान! अब सोचो कि व्यक्ति-मूलक और जाति-मूलक सारे दुःख और शोक जिसके छूट जाते हैं वह स्वर्गमें है है नहीं? वह तो वर्तमान कालमें, इसी

जीवनमें स्वर्गमें हो जायेगा, परन्तु यह स्थिति सूक्ष्म शरीरकी है। सूक्ष्म शरीरकी क्यों है; क्योंकि भावनात्मक है और भावनात्मक होनेसे यह स्थिति केवल सूक्ष्म-शरीरमें है। तो होगा क्या कि चूँकि यह भावना पकड़ी हुई रहेगी इसलिए जब तक तुम्हारी भावना यह पकड़े हुए रहेगी तबतक तो तुम स्वर्गमें रहोगे और जहाँ भावनाकी पकड़ छूट गयी, फिर व्यक्तिसे तादात्म्य हो गया और फिर लौट आये। इसलिए इसके ऊपर भी एक ऐसी वस्तु है जहाँ सूक्ष्म और स्थूल शरीरमें आने-जानेका जो कारण है, अज्ञान है, उस अज्ञानका ही ध्वंस हो जाता है और उसको ज्ञानाग्नि बोलते हैं।

तो, ऐसा समझो कि यह स्वर्ग-सुख जो है यह भावाग्निकी उपासनांसे मिलती है और लोक-सुख जो है—दैहिक सुख जो है वह भौतिक-अग्निकी उपासनासे मिलता है। और जो परमार्थ-सुख है वह ज्ञानाग्निके द्वारा अज्ञानान्धकारकी निवृत्ति हो जानेपर उसके भस्मीभावसे प्राप्त होता है। ये तीन कक्षाएँ इसकी होती हैं।

यह जो भावनाग्नि है माने भावसे अपने शरीरमें स्थित अग्निको विराट्से एक कर देना—समष्टि-अग्नि, समष्टि-सूर्य और समष्टि वायुकी उपासना—माने समष्टिका प्राण ही हमारा प्राण है, समष्टिका प्रकाश ही हमारा प्रकाश है और समष्टिका अग्नि ही हमारी अग्नि है और समष्टिमें जो समुद्र हैं, पृथ्वी है—एक पृथ्वी नहीं—लाख-लाख करोड़ों-करोड़ों पृथ्वी हैं—ये सब हमारा स्वरूप हैं—इस भावनामें जो दृढ़ स्थिति है—यही भावाग्निकी उपासना, स्वर्ग-लोककी प्राप्ति करानेवाली है। स्थूल-शरीरमें तादात्म्य न रहकरके सूक्ष्म-समष्टिमें तादात्म्य हो जाना—स्थूल-समष्टिसे तादात्म्य रहे परन्तु सूक्ष्म-समष्टिकी भावनासे रहे—यह तो स्थिति प्राप्त कर लेना है। इसीको बोलते हैं स्वर्ग-लोकमें पहुँच जाना।

असलमें व्यक्ति-अहंकारका जो नाश है वही समिष्ट-अहंकारका अविर्भाव है—जब जीवका अहं समाप्त होता है तब ईश्वरका अहं प्रकट होता है। इसलिए इस स्वर्ग-लोककी वेदोंमें बड़ी महिमा आती है। परन्तु, भावनात्मक होनेसे इसमें भी नश्वरता लगी हुई है, यह भी विनाशी है, इसलिए वास्तविक सुख प्राप्त करनेके लिए जो ज्ञानाग्निसे अज्ञानका दाह होनेपर परमार्थकी प्राप्ति होती है उसका ज्ञान प्राप्त होना जरूरी है, इसके लिए तीसरा वर आयेगा।

तो **स त्वमग्निᳪस्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो**—हे मृत्युदेव! तुम उस स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाले अग्नि-देवताको जानते हो। **प्रब्रूहि त्वᳪश्रद्दधानाय मह्यम्**—मैं बड़ा

श्रद्धालु हूँ, श्रद्धावान् हूँ, सो आप कृपा करके उसका मेरे लिए प्रवचन कीजिये। ब्रूहि पदके पहले जब प्र जुड़ गया तब **प्रब्रूहि** माने 'प्रवचन कीजिये' किसको प्रवचन करें? **श्रद्दधानाय मह्यम्** बात यह है कि इस स्वर्ग्य-अग्निका जो प्रवचन है वह श्रद्धालु-पुरुषके लिए ही है, इसलिए इसमें श्रद्धाकी आवश्यकता है।

श्रत्+दधान्=श्रद्दधान। अथवा श्रत्+द्धा=श्रद्धा।

यह श्रत् क्या है? तो निरुक्तमें बताया—**श्रत् इति सत्य नाम**'—श्रत् जो है वह सत्यका नाम है। जिसको लोकमें सत्य कहते हैं उसीको वेदमें श्रत् कहते हैं और धा का अर्थ है धारण करना—और वही दधान हो गया=धारण करनेवाला। **श्रत् इति धत्ते इति श्रद्दधानः**—सत्य करके स्वीकार करनेवाला। मध्वाचार्यजी महाराजने श्रद्धा शब्दका व्याख्यान यों किया—**श्रदिति आस्तिकताया अधिधानम्**—श्रत् कहते हैं आस्तिकताको। यह जो जीवन हम संसारमें व्यतीत कर रहे हैं—दिनभरमें सत्रह बार हँसना और सत्रह बार रोना कोई निष्ठा नहीं। दिन भरमें एकबार विश्वास कर लें, एक बार अविश्वास कर लें; एक बार कहें कि ये हमारे बड़े मित्र हैं और फिर मनमें शंका हो जाये कि शायद ये हमें धोखा दे दें—तो मनीराम जो हैं ये बहुत गड़बड़ी मचाते रहते हैं। बोले—ये सब आदमी क्या कर रहे हैं? कि संशयमें पड़े हुए हैं—संशय माने होता है सपना! संशय माने सो रहे हैं। सो रहे हैं तो सपने में एक ही आदमी कभी दोस्त दीखता है तो कभी दुश्मन दीखता है; कभी ऐसा लगता है कि अभी तो हम पचास वर्ष जीयेंगे, यह काम करना चाहिए; और कभी ऐसा लगता है कि बस-बस, अब मौत आ गयी सिर-पर। तो यह मनीराम जैसे सपनेमें बदलते हैं जाग्रत्में भी ऐसे ही बदलते हैं—आप गौर करके देखोगे तो सपनेकी अवस्थामें और जाग्रत्की अवस्थामें कुछ ज्यादा फर्क नहीं मालूम पड़ेगा। अतः श्रद्धाका होना आवश्यक है!

एक बात यह है कि जहाँ इन्द्रियसे देखे जानेवाले पदार्थोंके बारेमें हम विचार करते हैं वहाँ तो हमारी इन्द्रियाँ ही बता देती हैं या यदि इन्द्रियाँ ठीक-ठीक न बता पाती हों तो किसी मशीनकी सहायता ले लो—दूरबीन लगा लो, खुर्दबीन लगा लो, पर ये जितने यन्त्र होते हैं ये हमारी इन्द्रियोंकी मदद ही करते हैं, कोई भी यन्त्र इन्द्रियातीत वस्तुको नहीं दिखाता है। इन्द्रियातीतको देखनेके लिए तो आजकल सोमरस (मदिरा)का पान करते हैं! कि तब? आँख बन्द हो गयी शरीर पड़ा है पनालेमें और मन पहुँच गया हिमालयमें! अर्थात् शारीरिक स्थितिसे अलग हो जाते हैं। सुनते हैं कि अमेरिकामें तो कोई ऐसी दवा वहाँ निकल गयी है जिनको

स्वर्गका मजा लेना होता है वे इसको खा लेते हैं, इन्जेक्शन लगवा लेते हैं और आँख बन्द करते ही पहुँच जाते हैं स्वर्गमें—माने कल्पना जो है वह वहाँ पहुँचा देती है। जो ये अरबों जीवाणु हमारे सिरमें रहते हैं, डॉक्टरोंने उनका पता लगाया कि कौन किसका नियन्त्रण करता है? एक ऐसा हिस्सा होता है कि यदि विद्युत्के द्वारा उसको उत्तेजित कर दिया जाये तो आदमीको तुरन्त गुस्सा आ जाये; एक ऐसा है कि उसको यदि उत्तेजित करदो तो आदमी रोने लग जाये; एक ऐसा हिस्सा है कि उसको यदि उत्तेजित कर दो, तुरन्त हँसने लग जाये! ये असलमें सब भौतिक ही हैं। हमारी उपनिषदोंमें तो इनका बड़ा ही स्पष्ट वर्णन आता है। हमलोग जो अन्न खाते हैं उसके तीन हिस्से होते हैं—जो मोटा हिस्सा होता है वह मल बनकर निकल जाता है और जो उससे महीन होता है उससे शरीरमें रक्तादि बनता है, वीर्य आदि बनता है और जो उससे भी महीन हिस्सा होता है उससे ये मन और बुद्धिके जो केन्द्र हैं वे सब-के-सब बनते हैं। तो ये सब अन्नके द्वारा निर्मित हैं, अन्नमय हैं और अन्नसे चलनेवाले हैं। इसीसे छोटी-छोटी बातपर जो लोग कामनाके, तृष्णाके वशीभूत हो जाते हैं या क्रोधके वशीभूत हो जाते हैं, वे असलमें क्षुद्र वस्तुओंमें-छोटी-छोटी वस्तुओंमें ही लगे हुए हैं। तो, जो इन्द्रियाँ हमें प्राप्त हैं—ये इन्द्रियाँ भी हमारे शास्त्रकी दृष्टिसे समूचे शरीरमें रहती हैं—इनके गोलक कहीं भी बनाये जा सकते हैं। घ्रण-इन्द्रियका गोलक नाक है और चक्षु-इन्द्रियका गोलक आँख हैं—वैसे चक्षुः इन्द्रिय सारे शरीरमें है, घ्राणेन्द्रिय सारे शरीरमें हैं; रसना-इन्द्रिय सारे शरीरमें है, त्वचा-इन्द्रिय सारे शरीरमें है, तो इन्हीं इन्द्रियोंको उत्तेजना देकरके लौकिक-विषयोंकी सूक्ष्मता ग्रहण करानेकी योग्यता वैज्ञानिक लोग उत्पन्न कर देते हैं। अब, जो इसीमें फँसा हुआ है-काममें फँसा हुआ, क्रोधमें फँसा हुआ, लोभमें फँसा हुआ, मोहमें फँसा हुआ—उसको आदत पड़ जाती है!

एक आदमीने कुत्ता पाल रखा था। तो रोज बारह बजे दिनमें वह उसके लिए रोटी लेकरके निकलता था और उसके सामने डाल देता था। कुत्तेको मालूम हो गया। यह देहातकी बात है, शहरकी बात नहीं है, शहरमें तो कुत्ते अपने साथ ही रखते हैं, गाँवमें दूर रखते हैं। तो वह कुत्ता जैसे ही देखता आदमीको निकलते हुए तो दूरसे ही पूँछ हिलाता हुआ दौड़कर आजाता और उसके मुँहसे लार गिरती रहती। अब एक दिन आदमी रोटी नहीं लाया। तब भी वह कुत्ता वैसे ही आया और वैसे ही उसके मुँहसे पानी गिरने लगा। उस आदमीने रोटीके ही ऐसे हाथ कर दिया तो जहाँ रोज रोटी गिरती थी वहाँ कुत्ता दौड़ कर चला गया—उसको यह आदत पड़ गयी है कि ऐसे

हाथ करते हैं तो हमको भोजन मिलता है, बड़ा स्वाद आता है—उसको इसका अभ्यास हो गया था। इसी प्रकार हमारी जो इन्द्रियाँ हैं उनको यह आदत पड़ गयी है कि अमुक प्रकारका भोग मिलेगा तो हमको सुख होगा; अमुक प्रकारका दृश्य मिलेगा तो हमको सुख होगा; अब वैसा दृश्य यदि बनावटी भी उसके सामने कर दिया जाये तो क्रोध आ जाता है, वैसा दृश्य बनावटी भी उपस्थित कर दिया जाये तो कामना उत्पन्न हो जाती है; वैसे दृश्य बनावटी भी उत्पन्न कर दिया जाये तो मनुष्यके मनमें लोभ आ जाता है। असलमें यह बाह्य वस्तुओंका आकर्षण नहीं है, हमारे हृदयकी बनावट ही ऐसी हो गयी है कि किसीको देखकर हम गुस्सा करने लग जायँ और किसीको देखकर हम तृष्णासे व्याकुल हो जायँ!

इसीसे हमारे आचार्योंका कहना था कि तुम अपने दिलको बढ़िया बनाओ। अपने दिलको बढ़िया बनानेका उपाय क्या है कि अपने हृदयमें एक अलौकिक सुख, एक अलौकिक ज्ञान, एक अलौकिक स्थान, एक अलौकिक ध्यान, प्राप्त करनेकी लालसा जाग्रत् करो जिससे लोकमें मालूम पड़नेवाली जो तृष्णाएँ हैं, जो लालसाएँ हैं, वे बिल्कुल छूट जायँ—लौकिक वस्तु तो कम-से-कम काबूमें तो आ जायें। उसके लिए श्रद्धाकी आवश्यकता है। बिल्कुल छूट न ये तो यन्त्रके द्वारा मालूम पड़ती है, इन्द्रियके द्वारा मालूम पड़ती है और अपने अन्तरके ज्ञानमें जब हम श्रद्धा कर रंग चढ़ाते हैं तब दैवी-वस्तुओंका ज्ञान होता है। स्थूल-शरीरसे भोगी जानेवाली जो वासनाएँ हैं उनमें हम जब द्रव्योंके, वस्तुओंके गुण और महत्त्वको भरते हैं तब वासनाएँ हमारे जीवनका संचालन करती हैं। और जब हम अलौकिक ज्ञान, अलौकिक ध्यान, अलौकिक सुख, अलौकिक स्थान, अलौकिक वस्तुकी प्राप्तिके लिए अपने हृदयमें श्रद्धा भरते हैं तब उस श्रद्धासे यह फल निकलता है कि जो लौकिक वस्तुओंकी ओर रुझान है वह कम होता है और अलौकिक वस्तुओंकी ओर रुझान उत्पन्न होता है।

लोक तो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष है और अध्यात्म स्वानुभव है—यह अपना जो ब्रह्मपना है, अपने आत्माका द्रष्टापना है, साक्षीपना है, असंगपना है—यह स्वानुभूति है। अर्थात् इन्द्रिय और यन्त्रोंके संयोगसे लोककी प्रत्यक्ष अनुभूति होती है और आत्मा, परमात्मा ब्रह्म—इनका साक्षात् अपरोक्ष अनुभव होता है। अब यह बीचमें अधिदैव क्या है? कि बीचमें जो अधिदैव है यह हमारी लौकिक और स्थूल वासनाओंको शुद्ध करनेके लिए, उन वासनाओंको नियन्त्रित करनेके लिए, उनको मोड़नेके लिए है। पहले जब आप आवश्यकता समझ लेंगे कि इन

वासनाओंको मोड़नेकी जरूरत है तब आप यह बात समझेंगे कि हमारे अध्यात्म ज्ञानके साथ यह श्रद्धारूपी-महौषधिका जो मिश्रण है अधिदैवका साक्षात्कार कराता है। यह शुद्ध अध्यात्म नहीं है भला! शुद्ध-अध्यात्म तो ब्रह्मानुभूति है। और यह शुद्ध भौतिक भी नहीं है क्योंकि यह यन्त्र-गण्य नहीं है और यह इन्द्रिय-गण्य नहीं है। तब यह क्या है? कि यह श्रद्धा सम्वलित जो अध्यात्म है—भौतिकताकी ओरसे मनको मोड़करके और श्रद्धाके संस्कारसे युक्त जो अन्तःकरण है—उस अन्तःकरणके द्वारा इस अधिदैवकी अनुभूति होती है। इसलिए इसका अधिकारी श्रद्धालु पुरुष होता है।

श्रद्दधानाय मह्यम्—यदि आपकी समझमें यह बात नहीं आती कि आप नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त अखण्ड ब्रह्म हो और आप अपनेको देह मानकरके बिल्कुल भोग-परायण हो रहे हो, तो श्रद्धा करके अधिदैवकी ओर चलो। यदि आप दूसरोंको भूखा रखकर भी आप खुद खाना चाहते हो, यदि आप दूसरेको नंगा रखकर भी आप खुद पहनना चाहते हो, यदि आप दूसरेके पास एक नया पैसा न हो और अपने पास करोड़ोंकी सम्पत्ति रखना चाहते हो, तो आप अपनेको बुद्धिमान् मत समझना। यह जो आपके जीवनमें दोष आया है यह क्यों आया है? कि यह इसी व्यष्टि-शरीरमें अहंता और ममता हो जानेके कारण आया है और इस दोषके निवारणके लिए यदि शुद्ध समझ होवे तब तो नचिकेता जैसे तीसरा प्रश्न करेगा वैसा प्रश्न करो; और यदि समझमें यह बात न आवे तो यह जो दूसरा स्वर्ग विषयक प्रश्न है इसके अभिप्रायको समझनेकी कोशिश करो।

प्रधान कक्षा माने लौकिक-कक्षा और तीसरी कक्षा माने अध्यात्मिक कक्षा और यह आधिदैविक कक्षा दूसरी है। मध्यम है। यह जो आधिदैविक कक्षा है इसमें श्रद्धासे युक्त जो ज्ञान है उस ज्ञानके द्वारा अपनेको सम्पूर्ण विश्वसे तादात्म्यापन्न करना पड़ता है। अर्थात् जितना भी वायु, सूर्य और अग्निका विलास है वह सब मेरा विलास है, वह मैं हूँ। सूर्यकी आँखसे मैं देखता हूँ और वायुके द्वारा मैं साँस लेता हूँ और सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिमें जो ऊष्मा है, जो गर्मी है वह मेरी है; सम्पूर्ण विश्व-अनन्तकोटि ब्रह्माण्डवाला जो विश्व है, विराट् विश्व है, वैश्वानर है—उस सम्पूर्ण विश्व-विराट्की ऊष्मा मेरी उष्मा, इसकी साँस मेरी साँस और इसका प्रकाश मेरा प्रकाश। यह जो विश्वके साथ भावनाके द्वारा तादात्म्य करना है यह क्षुद्र-देहाभिमानको मिटानेवाला है और ब्रह्मज्ञानके बिल्कुल पास ले जानेवाला है। इसीलिए इसमें श्रद्धाकी बड़ी आवश्यकता है। इसमें जब श्रद्धा करोगे तब

अन्ततोगत्वा तुम्हें अपने नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त अखण्ड-अद्वितीय-अपूर्व-अनुपम-अद्वितीय रूप ब्रह्मका भी ज्ञान होगा।

स्वर्गलोका अमृतत्त्वं भजन्ते—जो इस स्वर्गलोकमें पहुँच जाते हैं माने अपनेको सम्पूर्ण विश्वके साथ तादात्म्यापन्न कर लेते हैं—उससे क्या होगा कि अमृतत्त्वं भजन्ते—अमृतत्वको तुम प्राप्त हो जाओगे। यह मन कड़ुवा होता रहता है, जहर पीना पड़ता है इसको। व्यवहारमें इसको दिन भरमें कई बार जहरका घूँट पीना पड़ता है कि सामनेवालेने दुःख दिया। पर, सामनेवालेने दुःख नहीं दिया, यह तुम्हारे दिलकी बनावटने तुमको दुःख दिया। तुमने अपने दिलको ऐसा बना रखा है कि उसके द्वारा किया हुआ काम तुमको दुःख पहुँचाता है—ऐसा अपना दिल क्यों बनाया तुमने? बोले कि सबलोग अपना दिल ऐसा बनाते हैं तो हमने भी बनाया। इसको हमारे गाँवमें बोलते हैं—भेड़िया धसान। भेड़िया धसान क्या होता है कि जैसे एक भेड़के पीछे सैकड़ों भेड़ आँख बन्द करके चलती हैं—वे यह नहीं देखती हैं कि अगली भेड़ कुएँमें गिर जायेगी तो हम भी गिर जायेंगे—बिना सोचे, बिना विचारे अपने दिलकी बनावट ऐसी बनाली है जैसी सब बना रहे हैं। इनसे हमको इतना रुपया मिल जायेगा, ऐसी मनमें जो आशाकी उससे तुमने अपना दिल बिगाड़ा कि उस आदमीका दिल बिगाड़ा? अरे! वह तो पहलेसे सावधान था कि तुमको इतना रुपया नहीं देगा। उससे तुमने उम्मीदकी कि यह हमको इतना प्यार देगा तो नारायण! प्यार देगा यह बात तुम्हारे दिलमें आयी कि उसके दिलमें आयी? कि यह इतने दिन तक हमारे साथ जिन्दा रहेगा यह तुमने कल्पना की; और वह जल्दी मर गया तो यह मरनेवालेका दोष है कि तुम्हारा दोष है? यह तुम्हारा दोष है कि वह हमारे साथ इतने दिन रहेगा, हमको यह-यह देगा, हमंको वह इतना प्यार करेगा—यह सारी-की-सारी तुम्हारे दिलकी बनावट है। अपने दिलको तो तुमने उसकी बनावटसे बिगाड़ लिया और उम्मीद करते हो दूसरेसे? यह पराधीन जीवन है। और यह जो वैश्वानरके साथ, विराट्के साथ एकत्वको प्राप्त होना है यह स्वर्गको प्राप्त होना है। तुम अपने सूक्ष्म-शरीरका ठीक निर्माण करो, अपने दिलको ठीक बनाओ, देखो, तुम्हें स्वर्ग मिल जाता है कि नहीं! यदि तुम्हारे दिलमें स्वर्ग बना रहे तो बाहरकी आग तुम्हारा क्या बिगाड़ेगी? तो **स्वर्गलोका अमृतत्त्वं भजन्ते**—यह स्वर्गमें गये हुए जो लोग हैं ये अमृतत्वको प्राप्त होते हैं इसलिए **एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण**—यह मैं दूसरे वरके द्वारा वरण करता हूँ।

❖

यमराजका नचिकेताको अग्नि-विज्ञान प्रदान करना

(अध्याय—१ वल्ली—१ मंत्र १४-१९)

प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन्।
अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम्॥ १.१.१४

अर्थ :—हे नचिकेता! स्वर्ग—प्राप्त करानेवाली अग्नि-विद्याको मैं जानता हूँ। उस विद्याका मैं तुम्हारे प्रति प्रवचन करता हूँ। तुम उसे मुझसे पूरा-पूरा समझ लो। तुम इस विद्याको स्वर्ग—लोकरूप फलकी प्राप्तिका साधन तो जानो ही, इसको जगत्की प्रतिष्ठा भी समझ लो (विराट् रूपसे यह जगत्का आश्रय है) और इसको बुद्धिमानोंकी बुद्धिरूपी गुहामें स्थित जानो।

नचिकेता अग्निका तो नाम है ही—यमराजने वरदान ही दे दिया कि तुम्हारे ही नामसे, **नाचिकेतस्** नामसे, यह स्वर्गप्रद अग्नि प्रसिद्ध होगी—नचिकेता जिज्ञासु भी है। उसके नामसे ही यह निकल आता है। कैसे? कि नचिकेता= न+चिकेता। अर्थात् चिकेत माने चयनमें अर्थात् सांसारिक भोगकी वस्तुओंके संग्रह-परिग्रहमें जिसकी रुचि न हो। नचिकेताकी न तो पिताके द्वारा सुरक्षित बढ़िया-बढ़िया गायोंके संग्रहमें रुचि है और न यमराज जो कुछ उसको देना चाहते हैं—पुत्र, पौत्र, धन, भवन, आयु इत्यादि—उनके चयनमें, संग्रहमें उसकी रुचि है। तो जिज्ञासुका जो शुद्ध लक्षण है वह जिसमें होवे उसीको नचिकेता बोलते हैं।

और देखो! नचिकेता= न+चि+केता; चि माने चयन और केत माने केतन, निकेतन, घर। केत माने केतु, अर्थात् यशकी पताका। इसलिए नचिकेता उसको कहते हैं संग्रह-परिग्रहमें, घर-गृहस्थी बसानेमें और लोक-यशमें कोई रुचि न हो, केवल परमात्माको जाननेमें रुचि हो!

अब यमराज नचिकेताको दूसरा वर प्रदान करते हुए बोलते हैं—

मैं परमसुख, परमानन्द दाता अग्निको जानकर तुम्हें बता रहा हूँ। सावधान होकर इसको समझो!

बात यह है कि साकारताका प्रारम्भ अग्निसे ही होता है। पृथ्वीसे बनी हुई चीजोंमें, और जलसे बनी हुई चीजोंमें और अग्निसे बनी हुई चीजोंमें साकारताका प्रारम्भ अग्निसे ही है। वायु साकार नहीं है, वायुमें शब्द है और स्पर्शशील है परन्तु वह रूपवान नहीं है। और आकाशमें शब्द तो है परन्तु न रूप है, न स्पर्श है तो,

आकाशमें रूप और स्पर्श दोनों नहीं है और वायुमें स्पर्श है परन्तु रूप नहीं है, और अग्निमें शब्द भी है, स्पर्श भी है, रूप भी है। अतः रूप, आकारका प्रारम्भ अग्निसे ही है। सूर्य, चन्द्र और अगगित तारे सब-के-सब अग्निसे ही प्रकट होते हैं।

तो साकार सृष्टिका प्रारम्भ अग्निसे है। इसलिए यदि कोई कारणका चिन्तन करता हुआ अग्निदेव तक पहुँच जाय तो वह साकारतामें जो दोष हैं उनसे मुक्त हो जाय। तो उन साकारताके दोषोंसे मुक्त होनेकी पद्धति बताते हैं।

अनन्तलोकाप्तिम्--अग्नि हो गये तो आग कहाँ रहती है? सूर्यमें, चन्द्रमामें, तारोंमें, समुद्रमें, पृथ्वीमें--संसारकी सभी वस्तुओंमें ऊष्माके रूपमें अग्नि व्याप्त है। तो अग्निके साथ तादात्म्य होते ही तुम्हें अनन्त-लोकको प्राप्ति हो गयी।

अथो प्रतिष्ठाम्--साकारताका आश्रय अग्नि है, इसलिए प्रतिष्ठाकी प्राप्ति हो गयी। और वह अग्नि रहती कहाँ है? तो बोले—निहितं गुहायाम्—वह हृदयमें रहती है, माने बुद्धिष्ठ अग्नि है। बुद्धिष्ठ-अग्निका अर्थ है कि अग्निका ऐसा चिन्तन करके, ऐसा ध्यान करके, कर्म और उपासनाका समुच्चय करके तुम इस सद्गतिको प्राप्त कर सकते हो!

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यार्वतीर्वा यथा वा।
स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः॥ १.१.१५

अर्थ :–तब यमराजने लोकोंकी आदिकारणभूत उस अग्निका नचिकेताके प्रति प्रवचन किया। उसके चयनमें जैसी और जिनती और जिस प्रकारसे ईंटोंका चयन करना होता है वह सब बताया नचिकेताने भी जैसा बताया था सब सुना दिया। इससे यम सन्तुष्ट होकर फिर बोले—अब श्रुति भगवती कहती हैं कि ये जो लोक दिखायी पड़ते हैं—मनुष्य, पशु, पक्षी आदि नर-मादा शरीर अथवा मृत्यु-लोक, पाताल-लोक, स्वर्ग-लोक इत्यादि इनके आदिमें कौन-सी वस्तु है? बोले—अग्नि है। तो तं लोकादिम् **अग्निम्**—उसका यमराजने नचिकेताके प्रति उपदेश किया। (तस्मै उवाच) और उस अग्निकी उपासनाके लिए या **इष्टका** जो इष्ट हैं सो भी बताया। और यावती माने जितनी हैं सो भी बताया। और **यथा वा माने** जिस ढंगसे उनकी उपासना करनी चाहिए सो भी बताया।

यह इष्टका क्या होती है? कि यह जब अग्निका चयन करते हैं तब ईंटोंका प्रयोग करना पड़ता है। जैसे मकान बनाते हैं तो पहले नींवमें ईंट देनी पड़ती है—इष्टका-न्यास बोलते हैं, शिलान्यास बोलते हैं—इष्टका न्यास माने सबसे नीचेका

पत्थर स्थापित करना—वैसे अग्निके चयनमें भी है। समझो कि अग्निकी दीवार बनानी है, अग्निका लोक बनाना है तो उसके मूलमें इष्टका क्या है? तो कर्म-काण्डकी बात आपको जरा-सी सुनाकर फिर आगे बढ़ते हैं—७२० ईंट चुननी पड़ती है। ईंटोंका नियम यह है कि जब अग्नि-चयन करते हैं तब उसमें सात सौ बीस ईंट चुननी पड़ती है। क्यों? क्योंकि एक संवत्सरमें जो तीन सौ साठ दिन और तीन सौ साठ रात्रि हैं उनकी संख्याका प्रतीक है ७२०की संख्या। इन्हीं सवत्सरोंसे फिर एक संवत्सर, दो संवत्सर, तीन संवत्सर—एक कालकी गणना होती है। तो अग्निका चयन कैसे करना माने सम्पूर्ण कालमें करना, माने अग्निका जो ध्यान है वह यह है कि रात्रि भी अग्निका विलास है और दिन भी अग्निका विलास है—बुद्धिमें इस बातको बैठा लेना और यह कि अग्नि ही जलके रूपमें और पृथ्वीके रूपमें और सम्पूर्ण अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डके रूपमें प्रकट हो रहे हैं। तो यह कर्म—समुच्चित उपासना माने बुद्धि-पूर्वक विचार करके और फिर कर्मके द्वारा, उपासनाके द्वारा ध्यान-पूर्वक कर्म करना—यह जो अग्नि-विद्या है इसका उपदेश यमराजने नचिकेताको किया।

अब यह उपदेश नचिकेताने बड़ी सावधानीसे ग्रहण किया और जैसा उसे सुनाया गया था उसने वही सब ज्यों-का-त्यों सुना दिया—**स चापि तत् प्रत्यवदत् यथोक्तम्**। इसलिए मृत्यु देवता उससे बड़े सन्तुष्ट हुए—**मृत्युः पुनरेवाह तुष्टः** और बोले—

तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः।
तवैव नाम्ना भवितायमग्निः सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण॥ १.१.१६

अर्थ :—महात्मा यमने प्रसन्न होकर नचिकेतासे कहा—अब एक वर तुझे और भी देता हूँ। वह यह है कि यह अग्नि तुम्हारे नामसे ही प्रसिद्ध होगी और तुम इस अनेक रूपवाली मालाको ग्रहण करो।

अब तो यमदेव बड़े सन्तुष्ट हुए। पहले जो उन्होंने तीन वर देनेको कहा था वह तो बदलेमें देनेको कहा था। उन्होंने कहा था कि तीन रात हमारे यहाँ भूखे रहे इसलिए तीन वर देते हैं तो वह तो एक प्रकारका बदला हो गया। उदार पुरुष वह है जो बदलेकी वस्तु नहीं देता, अधिक-से-अधिक देता है। तो प्रीयमाणः—यमराज प्रसन्न हो गये और चूँकि वह महात्मा हैं, अक्षुद्र बुद्धि हैं, इसलिए उदार हैं। अतः वह कहते हैं कि तीन वर तो देनेके लिए मैंने कहा ही है, तेरी मेधासे प्रसन्न होकर एक चौथा वर तुमको और देता हूँ। देखो यह प्रसन्नता और गुस्सा दोनों बाँझ नहीं होने चाहिए—वन्ध्य नहीं होने चाहिए, फलप्रसू होने चाहिए, क्योंकि यदि

गुस्सा करके कोई कुछ बिगाड़ न सकता हो तो उसका क्रोध, उसका गुस्सा बाँझ है; और नारायण! प्रसन्न होकर कोई कुछ दे न सकता हो तो उसकी प्रसन्नता बाँझ है—बन्ध्या है। बन्ध्य-प्रसाद और बन्ध्य-क्रोध बेकार है। तो चौथा वर उन्होंने यह दिया कि यह अग्नि जिसका मैंने तुझे उपदेश दिया है तेरे ही नामसे अर्थात् **'नाचिकेतस्'**के नामसे जानी जायेगी।

अग्नि-देवताके स्वरूपका उपदेश करनेवाला तत्त्वज्ञ यमराज—वह है जिसको सम्पूर्ण विश्वकी मृत्युका साक्षात्कार होता है। वर्णन आया है

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः। मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥

कठ १.२.२५

परमात्मा कैसा? कि ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों उसके भात हैं। ब्राह्मण और क्षत्रियसे मतलब है—बुद्धि-शक्ति, ज्ञान-शक्ति और बल—क्रिया-शक्ति, प्राण-शक्ति। बुद्धि और प्राण—दोनों जिसके भात हैं, भात; बोले भात हैं तो इसके साथ खानेके लिए कुछ सब्जी चाहिए, दाल चाहिए। बोले—बाबा, यह कोई उत्तर प्रदेशका रहनेवाला नहीं है, कोई गुजराती, काठियावाड़ी अथवा सिंधी भी नहीं है, यह तो सिर्फ चटनीसे भात खाता है। तो चटनी क्या है? **मृत्युर्यस्योपसेचनम्**—तो बोले—मृत्यु। मृत्युके साथ बुद्धि और प्राणकी उपाधिको यह खा जानेवाली वस्तु है—माने जिससे बुद्धि-वृत्ति और क्रिया-शक्ति दोनों बाधित हो जाते हैं—तत्त्वका वह स्वरूप है। उस तत्त्वको जाननेवाला यमराज अब प्रसन्न हो गया। बोले—महात्मा है। महात्मा माने उदार! बोले कि अच्छा, एक वर हम तुमको और देते हैं! क्या देते हैं? कि तुम्हें यश देते हैं, प्रतिष्ठा देते हैं—**तवैव नाम्ना भवितायमग्निः**—तुम्हारे नामसे—नचिकेत नामसे यह अग्नि प्रसिद्ध होगा। और देखो, हम तुमको एक यश और देते हैं—**सृङ्कां चेमाम्**—जैसे लोग तमगा देते हैं न प्रसन्न होकर वैसे यमराज दे रहे हैं—बोले— **अनेकरूपां सृङ्काम्** यह अनेक रूप रत्नोंका हार तुमको देते हैं। यहाँ रत्नोंका हारका मतलब हारसे नहीं है, अकुत्सितां कर्मगतिसे मतलब है—माने जिसमें दुःख न भोगना पड़े ऐसी—लोक-लोकान्तरकी गति हम तुमको देते हैं; **गृहाण**—तुम इसको स्वीकारकरो। यह सृङ्का शब्द रत्नोंकी मालाके लिए भी आता है और कर्ममयी गतिके लिए भी आता है। पर, देखो यह है भाष्यकारोंकी महिमा कि यहाँ जब सृङ्का शब्द आया तब दी जा रही है सृङ्का, अतः बोले **अकुत्सितां कर्मगतिम्**—अनिन्दित कर्मगति तुमको प्राप्त होवे। और जहाँ त्यागनेकी बात आयी है—देखना दूसरी वल्लीमें तीसरे मन्त्रमें सृङ्का

शब्द फिरसे आया है—वहाँ सृङ्काका शब्द कुत्सितां गतिं, निन्दाके अर्थमें है, क्योंकि वहाँ छोड़नेका प्रसंग है कि सृङ्काको छोड़ो।

नैताꣳसृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जति बहवो मनुष्याः (कठ १.२.३)

जिसमें लोग डूब जाते हैं अरे नचिकेता तुमने तो इस धनप्रिया सृङ्काका परित्याग कर दिया! यह एक ही शब्दका दो जगह दो अभिप्राय है।

अब अगले मन्त्रकी बात बताते हैं-कहते हैं कि कोई तीन बार अग्निका चयन कर ले तो उसको ब्रह्मलोककी प्राप्ति हो जाती है और ब्रह्मलोकमें जाना एक प्रकारका जुआ खेलना है। वह कैसे? कि किसी-किसीको तो ब्रह्मलोकमें जानेपर ज्ञान हो जाता है और किसी-किसीको नहीं होता; तो एक सम्भावना रहती है कि सम्भव है ब्रह्मलोकमें जानेपर हमको ज्ञान प्राप्त हो जावे, इसलिए लोग ब्रह्मलोकमें जाकरके ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं! परन्तु इसकी कोई गारण्टी नहीं है कि ज्ञान हो ही जायेगा।

असलमें लोग ज्ञानके बारेमें तरह-तरहकी भावना बना लेते हैं। एक आदमीको ऐसा वहम हो गया था—थोड़े दिन पहलेकी बात है—कि जब मैं सबका साक्षी हूँ तो जैसे मुझे अपने मनमें होनेवाली बातोंका पता चलता है वैसे ही सबके मनमें होनेवाली बातोंका पता भी चलना चाहिए जब कि मैं साक्षी हूँ। देखो यह बात किसी-किसीके मनमें अवश्य आती होगी, मेरे मनमें भी शुरू-शुरूमें एक—आध दो दिन जरूर आयी होगी—ऐसा हमारा ख्याल है। एक महात्माने बताया कि उनको सबके मनका पता चल जाता था, पर इससे उनको बड़ा दुःख हुआ। क्यों? कि पहले तो वह अपने मनकी बुराई ही जानते थे तो दुःखी थे ही, अब वे सबके मनकी बुराई जानने लगे और मनमें तो बुराई-ही-बुराई आती है—तब मनमें बड़ा विक्षेप हुआ कि लोगोंका मन इतना बुरा! इसके मनमें बुराई, इसके मनमें यह बुराई, इसके मनमें यह बुराई। तब उन्होंने भगवान्‌से प्रार्थना की कि मेरा यह विक्षेप मिटा दें—मुझे ऐसी सिद्धि—ऐसा ज्ञान नहीं चाहिए।

देखो साक्षीका परिच्छिन्न गोलकोंसे सम्बन्ध नहीं होता है। तो जब साक्षीका सम्बन्ध परिच्छिन्न गोलकोंसे नहीं है तो कोई गोलक किन्हें जाने अथवा किन्हीं विषयोंको न जाने उससे अखण्ड साक्षीका किसी भी प्रकार सम्बन्ध नहीं है। दूसरोंके शरीरमें न जाननेके साथ सम्बन्ध नहीं है और अपने शरीरमें जाननेके साथ भी सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक अन्तःकरणमें जो एक-एक धर्मी—छोटा-छोटा अहं—बैठा हुआ है वह तो उस-उस अन्तःकरणमें धर्मी है। अन्तःकरण उस अहंका यन्त्र है, दूरबीन है, खुर्दवीन है। वह अहं अन्तःकरणकी मशीन लेकर बैठा हुआ है, अपने

सीमाके अन्दरकी चीजोंको जानता है और साक्षी जो है वह कोई दूरबीन—खुर्दबीन नहीं लगाता। बोले—देखो, हम साक्षी हैं परन्तु हम तो जानते हैं अपने अन्तःकरणकी सारी बात! कि देखो अन्तःकरणकी सारी बात तुम तब जानते हो, जब अन्तःकरणसे तादात्म्यापन्न हो जाते हो। एक अन्तःकरणसे तादात्म्यापन्न होकरके ही एक अन्तःकरणकी सारी बातें तुम समझ रहे हो। अब बोले कि अच्छा, तब इस अन्तःकरणसे हमको (साक्षीको) कुछ नहीं मालूम पड़ना चाहिए। कि मालूम तब नहीं पड़ेगा कि जब यह अन्तःकरण नहीं रहेगा! कि अच्छा, यह अन्तःकरण कब नहीं रहेगा? कि जब विदेह मुक्ति हो जायेगी तब नहीं रहेगा। जीव—मुक्ति कालमें यह अन्तःकरण रहेगा और इस अन्तःकरणसे जो संवेदना होती है वे ज्ञात होते रहेंगे। कि अच्छा, उन संवेदनोंके ज्ञात होनेसे हमारी क्या हानि है? कि कुछ हानि नहीं है क्योंकि बाधित हैं—अपने अखण्ड स्वरूपके साक्षात्—अपरोक्ष ज्ञानसे वह अन्तःकरण, अन्तःकरणकी वृत्ति और अन्तःकरणके संवेदन—सब-के-सब बाधित हैं। इसलिए जैसे जिन अन्तःकरणोंके संवेदन तुमको ज्ञात नहीं होते उनके साथ जितना तुम्हारा सम्बन्ध नहीं है उतना ही उस अन्तःकरणके संवेदनोंसे भी तुम्हारा सम्बन्ध नहीं है जिनके संवेदन तुम्हें ज्ञात होते हैं क्योंकि तुमने अपने आपको अखण्ड-रूपसे, अद्वय-रूपसे, ब्रह्म-रूपसे, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेद-रहित-रूपसे, अदेश, अकाल, अद्रव्य रूपसे जाना है। तुम्हारे शुद्ध ज्ञानमें एक शरीर और एक शरीरमें रहनेवाला अन्तःकरणका कोई अस्तित्व नहीं है; और यदि वह भासता है तो भासनेका तुम्हारे ऊपर कोई प्रभाव नहीं है। तो तुम जन्म-मरणके बन्धनसे मुक्त हो, संशय-विपर्ययसे मुक्त हो, तुम साक्षात् ब्रह्म हो। जैसे मान लो ऐसा दूरबीन तुमने लगाया कि एक चींटी हाथीके बराबर दिख रही है—तो तुमको मालूम हो गया कि तुम्हारा दूरबीन चींटीको हाथीके बराबर दिखा रहा है; तो चींटीमें जो हाथीकी लम्बाई, चौड़ाई, हाथीका वजन और हाथीकी उम्र मालूम पड़ रही है वह गलत हुई कि नहीं? कि गलत हुई। तब बोले कि फिर तो हमेशा यह चींटी हाथी नहीं दिखनी चाहिए। बोले, जबतक तुम यह दूरबीन लगाये रखोगे ऐसे ही दिखेगा—यह दूरबीनका सामर्थ्य है कि चींटी तुमको हाथीके बराबर दीख रही है। तो जबतक यह अन्तःकरणका दूरबीन लगा हुआ है तबतक ये संसारके संवेदन ऐसे ही भासते हैं और जब मृत्यु होनेपर स्थूल शरीरके साथ-साथ अन्तःकरणका चश्मा भी उतर जाता है तो विदेह—मुक्तिकालमें यह चींटी हाथी नहीं भासती। वहाँ अपना स्वरूप, अपना यह ब्रह्म अद्वय तत्त्व, अनेक रूपमें नहीं भासता।

तो सद्योमुक्तिके दो भेद हैं—अन्तःकरणसहित सद्योमुक्ति और अन्तः-करणरहित सद्योमुक्ति। अन्तःकरणसहित सद्योमुक्तिको जीवन्मुक्ति बोलते हैं और अन्तःकरणरहित सद्योमुक्तिको विदेह-मुक्ति बोलते हैं। असलमें इन दोनोंका नाम ब्राह्मी स्थिति ही है। असलमें अपने आपको ब्रह्म जाननेके लिए दो स्थितियाँ शरीरकी दृष्टिसे कल्पित हुई हैं—एक अन्तःकरणसहित, सोपाधिक और एक अन्तःकरण रहित, निरुपाधिक। निरुपाधिक स्थितिमें अपने अन्तःकरणके संवेदनोंका पता नहीं चलता है और सोपाधिक स्थितिमें पता चलता है; परन्तु तत्त्व-दृष्टिसे वह निरुपाधिक और सोपाधिक दोनों ही स्थितियाँ बाधित हैं। असलमें जीवन-मुक्ति और विदेह-मुक्ति दोनों ही कल्पित हैं।

तो जो जिज्ञासु पुरुष यह सोचता है कि हम ब्रह्म-लोकमें जायेंगे और वहाँ ज्ञान प्राप्त करके मुक्त हो जायेंगे, ज्ञान प्राप्त करेंगे और मुक्त हो जायेंगे, वह असलमें जिज्ञासु ही नहीं है। एक तो वह इतनी देरतक रुका रहना चाहता है कि हजारों संवत्सरतक हजारों मन्वन्तर पर्यन्त तो हम अज्ञानकी दशामें रहेंगे और फिर बादमें ब्रह्माके साथ मुक्त होंगे या नारायणके लोकमें जाकर मुक्त होंगे—जो अपनी मुक्तिको इतनी दूर, और दूर फेंक देना चाहता है उसमें मुमुक्षु तीव्र नहीं है, मन्द है। जो लोकान्तरमें जाकरके मुक्त होना चाहता है वह मन्द-मुमुक्षु है, तीव्र मुमुक्षु नहीं है! इसलिए यहाँ यह बात बतायी कि ब्रह्मलोकमें जानेके बाद भी यदि वासना शेष रह गयी तो मुक्ति नहीं होगी। तो ब्रह्मलोकमें जानेवालेको कैसे मुक्ति मिलती है यह बात बताते हैं—

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धि त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू।
ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमाꣳशान्तिमत्यन्तमेति॥ १.१.१७

अर्थ :—त्रिणाचिकेत अग्निका तीन बार चयन करनेवाला, तीनोंसे सम्बधको प्राप्त होकर जन्म—मृत्युको तर जाता है। और ब्रह्मसे उत्पन्न सर्वज्ञ अग्निको, जो स्तुतियोग्य अग्निदेवको आत्माभावसे जानकर आत्यन्तिक शान्तिको प्राप्त होता है।

यमराज कर्मकी स्तुति करते हैं। यहाँ जो अमृतत्व है वह साक्षात् ब्रह्मरूप अमृतत्व नहीं है, आपेक्षिक अमृतत्व है और यहाँ जो शान्ति है वह पराशक्ति नहीं है, आपेक्षिक शान्ति है। तो बोले कि तीन बार तुमने अग्निको चयन किया इसलिए तुम त्रिणाचिकेत हो; अथवा तुमने अग्निका विज्ञान प्राप्त किया, अग्निका अध्ययन किया और अग्निहोत्र आदि अनुष्ठान किया, इसलिए तुम त्रिणाचिकेत हो। कैसे

सीखा? तो सीखनेके लिए तीन स्थान हैं। त्रिभिः सन्धिम् एत्य—तीनसे सम्बन्ध प्राप्त करके मनुष्य सीखता है। किनसे? कि संसारमें मनुष्य कुछ अपनी माँसे सीखता है, कुछ बापसे और कुछ आचार्यसे कोई ऐसा नहीं है जो माँसे न सीखे—बच्चेको दूध पीना नहीं आता, बच्चेको दूध पीना माँ सीखाती है। हमने कुत्तेके बच्चोंको गौरसे देखा। गाँवमें जब कुतिया ब्याती थी तब वह बच्चोंके मुँहके पास लेट जाती थी। उस समय उसके बच्चे अन्धे होते हैं—आँख तब खुली हुई नहीं होती हैं—बिना आँखके बच्चे अपना मुँह उसके शरीरपर इधर-उधर घुमाते हैं और जहाँ उनको स्तन मिल जाता है वहाँ उसको मुँहमें लेकर पीना शुरू कर देते हैं। उनके अन्दर तो इतनी प्राकृत प्रेरणा होती है, लेकिन यह जो मनुष्यका बच्चा होता है यह अपने आप माताका स्तन ढूँढ़ नहीं सकता। तो माताके तो हाथ हैं, कुतियाके तो हाथ नहीं होता। तो माता बच्चेको पहले गोदमें लेती है और फिर वह स्तन परके कपड़ेको हटाती है और बच्चेके मुँहमें पहले थोड़ा-सा दूध गिरा देती है और जब बच्चेको स्वाद आता है तब वह चपर-चपर करने लगता है और पीने लगता है—माने माता जो है सो बच्चेको दूध पीना सिखाती है। इसका मतलब यह है कि शिक्षण हमें मातासे प्राप्त होता है, शिक्षण हमें पितासे प्राप्त होता है और शिक्षण हमें गुरुसे प्राप्त होता है। आदिमें माता, उपनयन पर्यन्त पिता और उपनयनके बाद समावर्तनपर्यन्त गुरुसे, आचार्यसे शिक्षण प्राप्त होता है।

इन तीनोंसे तुमने शिक्षा प्राप्त कर ली है कि नहीं? कि उनसे पहले शिक्षा प्राप्त कर लेनी चाहिए। क्योंकि ये तीनों धर्मज्ञानमें प्रामाण्य-कारण हैं। प्रामाण्य-कारण हैं माने? देखो—माँने बताया कि यह तुम्हारी नाक है, ये तुम्हारे दाँत हैं, ये तुम्हारे कान हैं, ये हाथ हैं, ये पाँव हैं। आप बताओ आपको किस प्रमाणसे यह बात मालूम हुई कि यह जो हम उठाते हैं इसका नाम हाथ है या जिससे हम सुनते हैं उसका नाम कान है—यह बात किस प्रमाणसे मालूम पड़ी? इसका नाम नाक न हो कान हो और इसका नाम कान न हो नाक हो—यह व्यवस्था आपकी बुद्धिमें पहले-पहल कहाँसे आयी? मातासे आयी ना? अपना गोत्र आपको कहाँसे मालूम हुआ? अपनी जाति आपको कहाँसे मालूम हुई? अपना वंश-परिवार आपको कहाँसे मालूम हुआ? पितासे मालूम हुआ न! और यह अक्षर 'अ' होता है, यह 'क' होता है—यह बिन्दुको फैलाकर कैसे अक्षर बनाये जाते हैं—यह किसने सिखाया? आचार्यने कि यह सारा बिन्दुका ही तो विस्तार है। एक बिन्दी कागजपर लगाकर उसमें किधरको लकीर खींच दे तो क्या हो जायेगा-बस इतनी ही विद्या है यह कुल, कुल-की-कुल

विद्या इतनी है कि एक विन्दु कागजपर बनाकरके उसके आगे, उसके पीछे, उसके ऊपर, उसके नीचे, कैसे-कैसे लकीर खींच दें तो कौन-कौनसे अक्षर बन जायँ। यह विन्दु और लकीर—यह लकीर जिसको रेखा कहते हैं यह भी तो आखिर विन्दु ही है—उसको आप कभी खुर्दबीनसे देखो तो मालूम पड़ेगा—एक रेखा आप खींच दो कागज पर और फिर उसको खुर्दबीनसे देखो तो आपको अलग-अलग विन्दु दिखायी पड़ेंगे, रेखा नहीं दिखायी पड़ेगी। तो यह बिन्दुमें-से रेखा-रेखामें-से अक्षर और फिर ये स्वर हैं, ये वर्ण हैं, ये मात्रा हैं—इनसे शब्द बनते हैं, फिर वाक्य बनते हैं, उनमें-से अर्थ निकलता है—यह सारा संकेत आचार्यसे सीखना पड़ता है। यह नहीं समझना कि यह सब हमने अपने हृदयमें-से या कलेजेमें-से निकाला है, यह नहीं समझना कि यह सब हमले अमेरिका या रूसकी प्रयोगशालामें जाकर सीखा है, इसके लिए माताकी पाठशाला, पिताकी पाठशाला, आचार्यकी पाठशाला—यही काम देती है। श्रुति कहती है—

मातृमान्-पितृमान्-आचार्यवान् ब्रूयात् (बृहदा० ४.१.२)

जो मातावाला, पितावाला, आचार्यवाला होता है वही इसको जानता है, वही इसको कहे। अथवा तीन प्रकारकी प्रामाणिकता और है—वेद, स्मृति और शिष्टपुरुष। अथवा प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम—

वेदो खिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचार्यश्चैव साधूनाम् आत्मनस्तुष्टिरेव च॥ (मनुस्मृति)

मनुजीने बताया कि वेद और स्मृति—अपौरुषेय वेद-ज्ञान और जो अपने हृदयमें उसकी-स्मृति रह जाती है सो—(स्मृतिमें कभी-कभी गड़बड़ी हो जाती है—सांकर्य हो जाता है इसलिए स्मृतिको एक स्वतः प्रमाण नहीं मानते, स्मृतिको परतः प्रमाण मानते हैं) और श्रुति-स्मृतिके अनुसार जो हमारे सत्पुरुष आचरण करते हैं सो तथा आत्मसन्तुष्टि—ये चार धर्मके मूल हैं।

अथवा प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम प्रमाण हैं। प्रत्यक्ष माने इन्द्रियोंके द्वारा प्राप्त ज्ञान, अनुमान अर्थात् बुद्धिके द्वारा प्राप्त ज्ञान, और आगम माने इन्द्रियों और बुद्धिके द्वारा अज्ञात है परन्तु अनादि परम्परासे प्राप्त ज्ञान। हमलोग इसको वेद बोलते हैं। अथवा जो लोग आगम शब्दका अर्थ वेद नहीं मानते हैं वे भी अपने आगम तो मानते ही हैं—जैसे ईसाईके लिए बाइबिल है, मुसलमानके लिए कुरान है, बौद्धोंके लिए बुद्धके उपदेश—बौद्ध आगम त्रिपिटक आदि हैं, जैनोंके लिए जैनागम हैं। तो कुछ तो प्रत्यक्षसे देखकरके, कुछ अनुमानसे विचार करके और

कुछ धर्मके बारेमें, स्वर्गके बारेमें और अप्रत्यक्ष वस्तुके बारेमें, शास्त्रके द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इनसे अपने अन्त:करणकी शुद्धि होती है। और **त्रिकर्मकृत्**—थोड़ा यज्ञ करना, अध्ययन करना और दान करना। तो इस ढंगसे जो चलता है—तीन बार अग्निका चयन करना, तीन् आचार्यों, वेदादिकों अथवा प्रामाण्योंसे सत्यको जाननेकी चेष्टा करना और यज्ञ, दान, अध्ययन करना—वह जन्म-मृत्युके संतरणका जो मार्ग है उस मार्गपर चलता है। और—

ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमाꣳशान्तिमत्यन्तमेति॥

ब्रह्मसे पैदा हुए जो देवता हैं, उनको ब्रह्मज देवता बोलते हैं। अग्नि ब्रह्मज देवता है। अग्नि ब्रह्मज भी हैं और ब्रह्मजज्ञ भी माने जाननेवाले सर्वज्ञ माने जितने प्रकारके ज्ञानविज्ञान हैं वे अग्निकी सहायतासे प्राप्त होते हैं। भौतिक वस्तुओं, जितने ज्ञान-विज्ञान हैं, उन सबमें वस्तुओंको आगमें डाल-डालकर, जला-जलाकर देखते हैं कि क्या बच रहता है!

अग्नि दाहक भी है और प्रकाशक भी। सूर्य अग्नि-स्वरूप है, रूपमें अग्नि प्रकाश्य है, नेत्रमें अग्नि प्रकाशक है और सूर्यके रूपमें अनुग्राहक है। वाक्का अनुग्राहक अग्नि है। जहाँ सूर्य-ज्योति काम नहीं करती है वहाँ वाक्ज्योति काम करती है। अन्धेरेमें बैठे हैं कोई आदमी आया, तो आँखसे दिखा नहीं कि कौन है। तो उसकी पाँवकी धमकसे या उसकी शक्ल-सूरतका थोड़ा अनुमान करके सोचने लगे कि यह कौन है? तो न तो आँखसे दिखायी पड़ा और न बुद्धिसे ठीक-ठीक अनुमानमें आया। तब अब उसको जाननेका क्या उपाय करेंगे? तो पूछा कौन है? उसने कहा मैं अमुक हूँ—बस पता चल गया। आवाज उसकी सुनायी पड़ी और मालूम पड़ गया। जहाँ सूर्य-ज्योति काम नहीं करती है, जहाँ मनो-ज्योति काम नहीं करती है, वहाँ वाक्-ज्योति, शब्द ज्योति काम करती है। जो सूर्यकी रोशनीमें दिखायी नहीं पड़ा, बुद्धिसे जिसका अनुमान नहीं हुआ, उसका पता कैसे लगा कि आगमसे, शब्द-प्रामाण्यसे उसका पता लगा और शब्दके मूलमें अग्नि है।

तो ब्रह्मा माने हिरण्यगर्भ और उनसे पैदा होनेके कारण अग्निका नाम ब्रह्मज है और ये ज्ञाता भी हैं—सर्वज्ञ हैं और ये सबको प्रकाशित करनेवाले भी हैं—ज्ञान ऐश्वर्य आदि गुणोंसे ये युक्त हैं। ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और धर्म इनके अन्दर हैं, ऐसे जो ईड्य—शुद्ध जो देवता अग्नि हैं उनको **आत्मभावेन निचाय्य**—निचाय्य माने देखकर, जानकर। श्रीशङ्कराचार्य भगवान्ने केवल एक शब्दका प्रयोग किया—आत्मभावेन। आत्मभावेनका अर्थ हुआ कि यह जो अग्नि-देवता है यही मैं हूँ। **योऽसावर्गेनः सोऽसावहम्**—पृथ्वीके मूलमें जल और जलके मूलमें अग्नि और

अग्रिके साथ तादात्म्य प्राप्त कर लिया—तो अब समझो कि सृष्टिके जितने शारीरिक सम्बन्ध हैं वे तो पृथ्वीके कारण हैं और जितने स्वाद हैं वे जलके कारण हैं—जितने भी भोग हैं संसारमें वे जलके कारणसे होते हैं और जितनी भी वस्तुएँ होती हैं, स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी आदि या खाने-पीनेकी जो चीजें होती हैं—सब पृथ्वीके कारण होती हैं—पृथ्वी और जलसे ही यह सारी सृष्टि बनती है और इनके मूलमें है अग्नि; और वह अग्नि मैं हूँ इसलिए मैं इनका कारण हूँ। यह कारणोंपासना हो गयी कर्म और उपासनाका समुच्चय हो गया।

तो इस अग्रिको जिसने आत्मभावसे जान लिया और साक्षात्कार कर लिया कि मैं अग्रि हूँ उसको शान्ति माने उपरामताकी प्राप्ति होती है। क्यों? कि अब दुःख जब मेरे पास आता है तब मुझ अग्रि-स्वरूपमें भस्म हो जाता है और संसारके जब भोग आते हैं तब मुझ अग्रि – स्वरूपमें भस्म हो जाते हैं। यह संन्यास जिसको बोलते हैं न, यह अग्रि-रूप है, यह लाल कपड़ा जो है यह अग्रि—रूपका प्रतीक है कि मैं अग्रि-रूप हूँ। अग्रि-रूप हूँ माने संसारका कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो हमको घर्षित कर सके।

मतलब यह है कि आदित्य, अग्रि और वायु—इन तीनोंसे विराट् पदमें जो मुख्यता होती है उसको ज्ञान और कर्मके समुच्चयके अनुष्ठानसे जो इस विराट् पदको प्राप्त कर लेता है, वह शान्तिको प्राप्त होता है। अग्रि होना माने विराट्-पदको प्राप्त कर लेना। इससे क्या होगा कि यदि तत्त्वज्ञान हो गया, माने अपनेको अद्वय ब्रह्म जान लिया, तो हमेशाके लिए सच्ची मुक्ति मिल गयी और नहीं तो यहाँसे यदि फिर देहाभिमानकी जागृति हो गयी तब फिर जन्म-मरणके चक्करमें आना पड़ता है क्योंकि आखिर यह है तो भावना ही, है तो उपासना ही।

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वाꣳश्चिनुते नाचिकेतम्।
स मृत्युपाशानपुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥ १.१.१८
एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण।
एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व॥ १.१.१९

अर्थ :–जो त्रिणाचिकेत विद्वान् अग्निविद्याके त्रयको जानकर नाचिकेत अग्रिका चयन करता है वह मृत्युसे पहले ही मृत्यु-पाशको तोड़कर शोकसे पार होकर स्वर्गमें आनन्दित होता है॥ १८॥ हे नचिकेता ! तूने दूसरे वरसे जिसे वरण किया था वह यह स्वर्गकी साधनभूत अग्नि मैंने तुझे बतलादी। लोग इस अग्रिको तेरी ही कहेंगे। हे नचिकेता ! अब तुम तीसरा वर भी माँग लो (क्योंकि उसको दिये बिना मैं ऋणी रहूँगा)॥ १९॥

तो, हे तीन बार अग्नि चयन करनेवाले इतना तो निश्चित है कि तुमको यदि अभी भी तत्त्वज्ञान न हो तो तुम ब्रह्मलोकमें चले जाओगे। वहाँ जाकरके तुम अग्निके स्वरूपको तो जानते ही हो, अग्नि-चयन तुम्हारा हो ही गया, मृत्यु-पाशसे सम्पूर्ण मुक्त हो जाओगे और शोकसे परे होकरके स्वर्गलोकमें आनन्दित होओगे। तो हे नचिकेता, यह जो अग्नि है यह स्वंर्ग देनेवाला है, जिसका तुमने द्वितीय वरसे माँगा। सो लोग अब संसारमें-**जनासः** माने संसारके लोग इस अग्निको नाचिकेता अग्नि कहकर वर्णन करेंगे। हे नचिकेता अब तुम तीसरा वर माँग लो!

अब देखो, यहाँ तकको जो बात थी वह यह थी कि क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। पिताकी सेवा-सुश्रुषा कैसे करनी चाहिए, अग्निकी सेवा-सुश्रुषा कैसे करनी चाहिए, अपने वर्णाश्रम-धर्मका पालन कैसे करना चाहिए और निष्काम होकर वर्णाश्रम-धर्मका पालन करनेसे कैसे ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है—यह सब बात अबतक बतायी। परन्तु, यह आत्माका यथार्थ ज्ञान नहीं है। माता-पिताको प्रसन्न कर लेना, न्यायका पक्षपाती होना, मृत्युसे अपनी भावनामें निडर हो जाना, तीन-दिनतक विषय-मार्गका परित्याग कर देना और यमराजको अपना गुरु बना लेना—इतने बड़े गुरु बनाकरके लोक-परलोककी शिक्षा प्राप्त कर लेना—इतनी बड़प्पनकी पराकाष्ठा नहीं है। क्योंकि यह जितना हुआ वह पड़ोसीके बारेमें हुआ, अपने बारेमें नहीं हुआ। अभी तो यह ऐसी सास है यह जो दूसरेकी बहूकी बुराई जानती है और अपनी बहूकी बुराई भी जानती है लेकिन अपनी बुराई नहीं जानती है। तो यह विद्या ऐसी है जो दूसरेकी बेटीके बारेमें हजार अच्छाई-बुराई बतावे परन्तु अपनी बेटीके बारेमें जिसे कुछ पता नहीं है। घरोंमें भी ऐसा ही होता है कि लोग दूसरेके बारेमें बहुत कुछ जानते हैं परन्तु अपने बारेमें कुछ नहीं जानते। वही दोष दूसरेमें हो तो मालूम हो और अपनेमें हो तो मालूम न हो! असलमें आत्म-ज्ञान जो है यह सबसे बड़ा ज्ञान है। आत्म-ज्ञान माने अपनेको समझना।

तो अबतक जितना ज्ञान बताया गया जो भी लौकिक-पारलौकिक विद्या बतायी गयी, वह अपने-आत्माके याथात्म्यका ज्ञान नहीं है, अपने आत्माके वास्तविक स्वरूपका ज्ञान नहीं है। बात क्या हुई कि हम कर्मके करनेवाले हैं, हमारे साथ क्रिया जुड़ी हुई है, हम इससे सुखी-दुःखी होते हैं, हमको यह करना चाहिए, यह नहीं करना चाहिए—यह विधि-निषेध अपने साथ जुड़ा हुआ है। देखो भाई, जबतक तुम कर्म करोगे, तब तक उसमें अच्छा-बुरा भी होगा और अच्छा-बुरा होगा तो उसका फल सुख-दुःख भी मिलेगा और अपनेमें कर्त्तापन रहेगा तो कर्मका फल जरूर-जरूर मिलेगा! इसलिए अज्ञानके कारण यह जो संसारका बीज है—क्या

बीज है कि अपनेको कर्त्ता मानना, अपनेको भोक्ता मानना और फिर यह करो और यह मत करो इस विधि-प्रतिषेधका विषय होना—यह जो संसारका अज्ञानबीज तुम्हारे साथ लगा हुआ है वह इसलिए लगा हुआ है कि तुम कभी अपने बारेमें विचार नहीं करते हो। और तुमको यह धकेल रहा है—कभी कुकर्ममें और कभी सुकर्ममें; कभी सुखमें कभी दु:खमें, कभी रोनेमें कभी हँसनेमें! इसकी निवृत्तिके लिए कर्त्तासे विपरीत जो अकर्त्ता है, कर्मसे विपरीत जो अकर्म है और भोक्तासे विपरीत जो अभोक्ता है, जिसमें दूसरा कोई है ही नहीं ऐसे ब्रह्म और आत्माकी एकताका जो विज्ञान है, जिसमें न कर्म है, न कारक है न फल है—इन सबका अध्यारोप है ही नहीं, ऐसे तत्त्वका विज्ञान अपेक्षित है, उससे ही आत्यन्तिक नि:श्रेयस्-मुक्तिकी प्राप्ति हो सकती है। इसके लिए अब आगेका प्रसङ्ग प्रारम्भ होता है।

इससे यह बात बतलायी कि पहला वर पानेसे माता-पिता प्रसन्न हो गये, न्याय हो गया, यज्ञ पूरा हो गया और नचिकेता जी गया; पर इन सबके होनेसे वह कृतार्थ नहीं हुआ। दूसरा वर—अग्नि-विद्याा प्राप्त हुई, वह अपनेको विश्वके मूलमें स्थित अग्निके रूपमें अनुभव करने लगा लेकिन तब भी नचिकेता कृतार्थ नहीं हुआ; क्योंकि जबतक नचिकेताको तीसरा वर आत्म-ज्ञानका प्राप्त नहीं होगा तब तक वह कृतार्थ नहीं होगा—यह बात इस कथामें बतायी गयी है। इसलिए जो कुछ कर्मसे मिलता है—साध्य और साधन, वह अनित्य है। उससे जो वैराग्यवान होता है उसीको आत्मज्ञानका अधिकार होता है। इसलिए जो अनित्य है, जिससे विरक्त होना चाहिए, उसका दोष बतानके लिए, अनात्माकी निन्दा करनेके लिए आगे दिखाया है कि जब आत्मज्ञानका वर नचिकेता माँगते हैं तब यमराज उसको प्रलोभन देते हुए कहते हैं कि यह आत्मज्ञान जो चीज है बड़ी दुर्लभ है, इसके बदलेमें तुमको हम सौ-सौ वर्षके पुत्र और सौ-सौ वर्षके पौत्र देते हैं परन्तु यह आत्मज्ञान मत पूछो। लो हाथी, लो घोड़ा, लो पशु, लो सोना, लो बड़ा भारी राज्य और तुम सैकड़ों वर्षकी उम्र ले लो और जो तुम दुनियामें इसके बराबर समझते हो सो ले लो, हम तुमको सब देनेको तैयार हैं—दुर्लभ-से-दुर्लभ तुम्हारी कामना पूरी करनेको तैयार हैं, परन्तु आत्मज्ञानका वर मत माँगो, ऐसा यमराजने नचिकेतासे कहा।

यह आख्यायिका आगे आनेवाली है। आज तो देखो, साधु लोग शहरमें जाते हैं, पेपरमें छपवाते हैं कि हम आये हैं तुम्हारे शहरमें, नोटिस छपवाते हैं, ढोंडी पिटवाते हैं, न आवे कोई तो टेलीफोन करवाते हैं कि सेठजी, जरा सत्सङ्गमें आया करो। सेठके बिना सत्सङ्ग सूना लगता है—हाय-हाय। आजकल बाबाजी

लोगोंकी यह गति है कि वे तो कहते हैं कि लो ब्रह्मज्ञान, लो ब्रह्मज्ञान। और पहले यह स्थिति थी कि यदि कोई कहे कि हमको ब्रह्मज्ञान दो तो कहते थे कि बाबा, तुमको और जो चाहिए सो माँग लो, लेकिन यह ब्रह्मज्ञान मत माँगो, यह कोई मामूली चीज नहीं है। पहले आचार्य इसकी कीमत समझते थे, आजकलके लोग तो इसकी कीमत समझते ही नहीं हैं, वे तो समझते हैं कि खा-पीकरके इस समय जरा चाय-वाय पी चुके हैं और इस व्यापारका कोई विशेश काम भी नहीं है, तो अगर इतने समयमें ब्रह्मज्ञान हो जाये तो क्या हर्ज है, एक फायदा यह भी सही और सब फायदे तो अपनी मुट्ठीमें हैं ही, एक फायदा यह भी उठा लें।

एक श्रीमतीजी थीं, उनका वजन कुछ ज्यादा ही था। तो वे एक प्राकृतिक चिकित्सक-डॉक्टरके पास गयीं। डॉक्टरने कहा—कि देखो, तुम फल खाओ, सब्जी खाओ तब तुम्हारा वजन घटेगा—बता दिया सब उसने और लिख दिया कि इतना पत्तेकी सब्जी खाना, इतना कचूमर खाना, इतना यह खाना, इतना वह खाना। और दिन-भरका 'चार्ट' लिखकर उनको दे दिया। अब वे गयीं घर और जाकर उन्होंने वह चार्ट अपने नौकरको दे दिया। नौकरने ठीक समयपर सब सब्जी-फल-कचूमर दे दिया। एक-डेढ़ महीना हो गया, वजन तो घटे नहीं, और बढ़ गया। गयीं फिर डॉक्टरके पास और बोलीं—डॉक्टर तुमने जो कुछ कहा था मैंने सब वैसे ही किया, वैसे ही खाया, पर मेरा वजन तो घटा नहीं और बढ़ गया। डॉक्टरने सोचा बात क्या है और बात-बातमें पता लग गया। जिरह की तो मालूम पड़ा कि श्रीमतीजी जो रोज भोजन करती थीं वह तो चालू ही था और डॉक्टरका बताया भोजन वे औषधिके रूपमें लेती थीं, तो वजन घटा नहीं उनका।

तो, यह महाराज, संसारके जो भोग हैं उनकी तो रोजकी आदत है, वह तो किये बिना मानेंगे नहीं, वह तो सब कुछ चाहिए-ही-चाहिए और यह ब्रह्मज्ञान क्या है कि यह तो डॉक्टरकी बतायी हुई सब्जी है, इसको भी ले लो और बोले—ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ, ब्रह्मज्ञान नहीं हुआ। देखो, नचिकेताका तीसरा प्रश्न बहुत बड़ा नहीं है—उनका प्रश्न यह है कि मृत्युके अनन्तर आत्माका अस्तित्व है कि नहीं है। और यमराज कहते हैं कि यह बात हम नहीं बतावेंगे, बड़े-बड़े देवताओंको यह बात मालूम नहीं है। अब यह जो प्रसङ्ग है—प्रश्नोत्तर—कितनी दृढ़ता है। नचिकेतामें और कितना वैराग्य है और ब्रह्मज्ञानकी कितनी तीव्र जिज्ञासा है—ये तीनों बातें अगले प्रसङ्गमें आती हैं और यमराज नचिकेताको ब्रह्मज्ञानका उपदेश करते हैं—यह अब आपको आगे सुनायेंगे।

❖

नचिकेताको तीसरा वर–आत्मज्ञान

(अध्याय-१ वल्ली-१ मंत्र-२०)

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः॥ १.१.२०

अर्थ :–मरे हुए मनुष्यके बारेमें जो यह सन्देह है कि कोई तो कहता है कि वह रहता है और कोई कहते हैं कि नहीं रहता–तो इस बातको आपसे शिक्षित होकर मैं अच्छी प्रकारसे जान सकूँ, यही मेरे वरोंमें तीसरा वर है।

तीन प्रकारके मल हैं शरीरमें—एक कर्मका मल, एक भावका मल और एक अज्ञानका मल। जैसे किसी चीजमें मैल लग जाये और वह छूटे नहीं तो अग्निसे उसको जला देते हैं—तो मैल जलानेका सबसे श्रेष्ठ उपाय अग्नि है—इसी प्रकार स्थूल शरीर और इसके सम्बन्धियोंमें जो मैं-पना लग गया है इसको जलानेके लिए कर्म और उपसनाकी अग्नि है। इस धर्माग्निमें, यज्ञाग्निमें, कर्माग्निमें यह देह और देहसे सम्बद्ध जितने मल हैं उनको भस्म किया जाता है। इससे चोरी–व्यभिचार–अनाचारकी मैल समाप्त हो जाती है। इससे पक्षपात–अन्यायका जो मल है वह समाप्त हो जाता है। इससे मैं-मेरेका मल जो है सो समाप्त हो जाता है। इससे देह मरनेके बाद फिर आत्मा रहती है कि नहीं यह जो संशय है वह भी निकल जाता है और मरनेके बाद आत्मा रहता ही है—यह विश्वास रहता है। ऐसा कैसे तो बात यह है कि इसमें यह भाव जुड़ता है कि मरनेके बाद हम जो कर्त्ता, भोक्ता हैं, वह कर्मोंके अनुसार स्वर्ग–नरकादिमें जाने–आनेवाले हैं की जो उसपर आस्था–विश्वास होता है। अतः कर्म करनेमें बहुत लाभ है।

कर्मोपासनाका जो समुच्चय है वह बड़ा लाभकारी है—**अमृतत्त्वं भजन्ते।** कैसे? देखो, एक तो वेदका अर्थ कैसे करना चाहिए यह प्रणाली मालूम पड़ जाती है; दूसरे हृदयमें श्रद्धा आ जाती है; तीसरे—आलस्य–प्रमादादि जो जीवनमें हैं वे

निकल जाते हैं; चौथे—मरनेके बाद भी आत्मा रहती है इस बातपर विश्वास होता है; और पाँचवें मनुष्यको शुभ कर्म करना चाहिए और शुभ भोग भोगना चाहिए इसपर आस्था होती है। इसलिए यह कर्म और उपासनाके समुच्चयका जो सिद्धान्त है, यह जो कर्माग्नि, धर्माग्नि, यज्ञाग्नि है वह मनुष्यके जीवनको पवित्र करनेवाली है।

दूसरी है—भावाग्नि जो भावके मलको छुड़ाती है। ठीक है, शरीरसे बुरे कर्म तो नहीं होते पर मनमें बुरे भाव आते हैं, तो ईश्वरका ध्यान करके, योगाभ्यास करके अपने अन्तःकरणमें जो मल बैठा हुआ है उसको मिटा देती है यह भावाग्नि। साधारण मनुष्यकी यह स्थिति है कि वह दूसरेके मैलको तो बहुत जल्दी देख लेता है परन्तु, अपने मनमें जो मैल लगी है उसका पता नहीं लगता है—

नरः सर्षप मात्राणि परछिद्राणि पश्यति।
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति॥

दूसरेके अन्दर सरसोंके बराबर कोई दोष होवे तो वह मालूम पड़ जाता है और अपने अन्दर बेलके बराबर भी दोष होवे तो पता नहीं लगता है। तो अपने, मनमें जो दोष हैं उनको मिटानेके लिए भावकी आग चाहिए, योगकी आग चाहिए, ध्यानकी आग चाहिए। भावकी अग्निसे दुर्भावना मिटती है, योगकी अग्निसे विक्षेप मिटता है और ध्यानकी अग्निसे अपने लक्ष्यकी निष्ठा होती है।

तो भावाग्नि, योगाग्नि, ध्यानाग्नि—इनके द्वारा अन्तःकरण शुद्ध किया जाता है लेकिन अज्ञान-रूपसे जो मल है वह तो केवल तत्त्वज्ञानके द्वारा ही भस्म होता है। ज्ञानाग्नि—उसके लिए तो ज्ञानाग्नि चाहिए।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म समाधिना॥

ज्ञानाग्नि, ब्रह्माग्नि प्रज्ज्वलित करनी पड़ती है। उसमें अज्ञानका नाश होता है। तो जिसको तत्त्वज्ञान प्राप्त करना होता है उसको थोड़ा वैराग्य चाहिए। वैराग्यका मतलब है कि यदि वह अपनी मान्यताका आग्रह करेगा, अपनी मान्यताको पकड़ कर रखेगा, तो सत्य जानकर भी उसपर स्थिर नहीं हो सकेगा। वैराग्य माने वह शक्ति जो अपने विवेकके प्रकाशमें, अपने ज्ञानके प्रकाशमें हमको स्थिर करता है। जिस चीजको हम समझते हैं कि यह ठीक है उसपर स्थिर हो जाना, उसमें निष्ठा हो जाना—यह बिना वैराग्यके नहीं होगा। थोड़ी देरके लिए समझेंगे कि हम ब्रह्म हैं, थोड़ी देरके लिए समझेंगे कि हम आत्मा हैं, थोड़ी देरके लिए समझेंगे कि सब

परमात्मा हैं और जहाँ स्वार्थका सम्बन्ध आया, जहाँ रिश्तेदार-नातेदार आये, जहाँ शरीरपर कोई तकलीफ आयी सारी निष्ठा चट-पट खत्म हुई। तो इसके लिए चाहिए कि साध्य—साधन—लक्षणवाले जो भी अनित्य पदार्थ हैं उनसे वैराग्य होवे, तब तत्त्वज्ञानमें अधिकार होता है।

आजकल अधिकार शब्द सुनकर लोग चिढ़ते हैं। एक दूसरेसे कहते हैं कि हम क्या तुमसे कुछ कम हैं? स्त्री-स्वातन्त्र्यका युग है। वह भी कहती है कि स्त्री पुरुषसे किस बातमें कम है? जीवनके सभी क्षेत्रोंमें वह पुरुषके कार्योंमें प्रवेश पा रही है। परन्तु कितने ऐसे काम हैं जिनको पुरुष कर सकता है स्त्री नहीं कर सकती और जिनको स्त्री कर सकती है पुरुष नहीं कर सकता। तो इसमें स्त्रीका तो कोई अपमान नहीं है। जैसे देखो गर्भ-स्त्री ही धारण कर सकती है, पुरुष नहीं कर सकता। तो पुरुष क्या इसमें अपना अपमान समझता है कि हमारे अन्दर इस योग्यताकी कमी है? अरे भाई, यह योग्यता पुरुषमें है ही नहीं कि वह अपने पेटमें गर्भ धारण कर सके। अब यदि स्त्री लड़े कि नौ महीना हमको बच्चा पेटमें रखना पड़ता है, आप भी अपने पेटमें नौ महीना बच्चा रखो, नहीं तो हमारी तुम्हारी लड़ाई—जो ऐसा समानाधिकार नहीं हुआ करता है।

तो, यह तो तत्त्वज्ञानमें अधिकार होता है उसमें एक बात तो यह है कि तीव्र जिज्ञासा होवे, माने जाननेकी प्रबल इच्छा होवे। कोई जज होवे, कोई बैरिस्टर होवे, कोई बड़ा भारी वैज्ञानिक होवे, कोई बड़ा भारी डाक्टर होवे—लेकिन वह लोकमें प्रयोजनीय कार्योंमें ही लगा होवे जिससे लौकिक प्रयोजनकी सिद्धि होती है अथवा केवल अणु—परमाणुके विज्ञानमें ही लगा हुआ होवे तो अनन्त—विषयक विज्ञान उसको कैसे प्राप्त हो सकता है? उसकी दृष्टि तो परिच्छिन्न अणु और परिच्छिन्न परमाणुमें लगी हुई है, उसकी बुद्धि तो बाहरके पदार्थोंमें लगी हुई है, उसको यह जो अपरिच्छिन्न, अद्वय, प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म तत्त्व है—इसके ज्ञानमें उसका अधिकार कैसे होगा?

एक तो ब्रह्म तत्त्वके ज्ञानके लिए तीव्र जिज्ञासा होवे—अर्थी होवे; और दूसरे समर्थ होवे। अब एक बच्चा है, वह कहता है कि हमको जो अणु-शक्ति है उसके प्रयोगकी विधि बता दो अथवा हमको रॉकेट छोड़नेकी विधि बता दो, हमको यह बात बता दो कि यह सूर्य आसमानमें कैसे टिका है और धरती कैसे टिकी है, तो उसको यह बात कहनी पड़ेगी कि भाई, जब तुम बड़े हो जाओगे, तुम्हारी बुद्धि बढ़ जायेगी, तब यह बात तुम्हारी समझ में आवेगी। तो अर्थी होवे पहली बात

और समर्थ होवे दूसरी बात जिस चीजको वह समझना चाहता है उसको समझानेके लिए सामर्थ्य होना चाहिए।

तीसरी बात—जो समझानेवाला है उसका अनुग्रह उसको प्राप्त हो—अर्थात् समझाने वाला उसको ठीक-ठीक समझावे, उसको कहीं अनधिकार न मान ले कि अरे भाई, यह तो समझने लायक नहीं है।

अब यह जो नचिकेता है इसने लौकिक प्रश्न जहाँतक किये, यमराजने उनका उत्तर दिया। वरदान माँगा—हमारे पिता, हमारे ऊपर प्रसन्न हों, तो बोले—जाओ प्रसन्न। बोले—हमको अग्नि-चयनकी विधि बता दो-बता दी, और कह दिया कि मिल जायेगा तुमको स्वर्ग। अब नचिकेताको पूछना है कि ब्रह्म क्या है? तो भाई, ब्रह्मको तब पूछो कि जब कर्म साधनासे जो चीज मिलती है, उपासनासे जो चीज मिलती है, योगाभ्याससे जो चीज मिलती है और किसीके अनुग्रहसे जो चीज मिलती है, उसमें वैराग्य हो।

नारायण! यह शक्तिपातवाला जो ज्ञान है इसमें वैराग्य हो कि हमारे सिरपर हाथ रखेगा और हमको ज्ञान हो जायेगा और कोई देवता हमारे सामने आवेगा और हमको ज्ञान दे जावेगा! वह दिया हुआ जो ज्ञान है वह उधार लिए हुए पैसेकी तरह तुम्हारे घरमें टिकनेवाला नहीं है। इसकी बड़ी अद्‌भुत गति है कि उधार लिया हुआ ज्ञान है वह टिकनेवाला नहीं है। यह तो साक्षात् अपरोक्ष अनुभव अपने आत्माका होवे और अपने आप होवे, तब यह कल्याणकारी होता है।

इस तत्त्वका ज्ञान-वैराग्य, विरक्त पुरुष अधिकारी होता है। विरक्त शब्दका संस्कृत—भाषामें चार अर्थ शक्य है। **एक**—जो विशेष रक्त होवे सो विरक्त—रक्त माने रोगी और वि माने विशेष—परमात्माके ज्ञानमें जिसका विशेष राग होवे। **दूसरा**—जो बिना रागका होवे वह विरक्त—वि माने बिना, विगत और रक्त माने राग—माने संसारमें उसका राग न होवे, परमात्माके ज्ञानमें तो रुचि होवे पर संसारमें उसकी रुचि न होवे। इस प्रकार 'रक्त' शब्दका रागी अर्थ करके दो अभिप्राय हुआ—(१) संसारमें विगत राग होवे और (२) परमात्माके ज्ञानमें विशिष्ट राग होवे। विशिष्ट—रक्तको विरक्त बोलते हैं और विगत—रक्तको विरक्त बोलते हैं। और **तीसरे**—विगत—रक्त होवे माने जोशीला न होवे—दुनियाकी चीजोंके लिए जोशमें न आवे। मनुष्य धनके लिए लोभावेशमें आकरके चोरी-बेईमानी करता है, कामावेशमें आकरके अनाचार-व्याभिचारमें लगता है, क्रोधावेशमें आकरके हिंसामें लगता है, मोहावेशमें आकरके परिवार आदिमें आसक्त होता है,

तो उसका रक्त जो है वह विगत होवे। विगत होवे माने खूनमें गर्मी जल्दी न आती होवे, दुनियाके लिए लड़ाई-झगड़ा करनेपर उत्तारू न होता होवे। और **चौथे** जिज्ञासु विशेष रक्त होवे, माने साधनमें, भजनमें अपनी कुलीनतामें, सदाचारमें उसकी रुचि होवे!

तो, यह जो विरक्त अधिकारी है वह किससे विरक्त होवे? तो बोले कि अनित्य से विरक्त होवे। देखो, आजकलका जो मनोविज्ञान है वह कहता है कि यह जो अनित्य-अनित्य बोलते हो सो वह तो संसारमें सब चीज अनित्य है ही है—अरे भाई, आज रोटी खायेंगे पर कल भी रोटी खानी पड़ेगी, फिर परसों खानी पड़ेगी। तो संसारमें जितनी भी चीजें मिलती हैं वे तो आने-जानेवाली होती ही हैं, अब इनको यदि छोड़ दे तो काम कैसे चले? तो यह है कि तो भी वस्तु साधनसे उत्पन्न होती है—किसी औजारसे गढ़करके जो बनायी जाती है, किसी साँचेमें डालकर जो ढाली जाती है, कडाईमें चढ़ाकरके जो पकाई जाती है, जो तस्वीर बनायी जाती है वह सब बिगड़ जाती है—***जो फरा सो झरा, जो बरा सो बुताना***—जो फलता है वह टपक पड़ता है और जो जलता है वह बुझ जाता है। तो संसारमें जितनी भी चीजें बनायी जाती हैं वे बिगड़ जाती हैं, तो यदि कोई ऐसा अधिकारी होवे जो बनायी जानेवाली और बिगड़नेवाली वस्तुके प्रति रुचि-विशेष न रखता हो, प्रीति-विशेष न रखता हो और जो ब्रह्म-ज्ञान चाहता हो, वास्तवमें चाहता हो, तो वह ब्रह्म-ज्ञानका वास्तवमें अधिकारी है।

आजकल देखो, सत्सङ्गमें जो लोग आते हैं, तो कुछ लोग तो आते हैं सिद्धिसे मोहित होकरके, कि इनके पास कोई सिद्धि है उससे हमको रुपयेकी कमाई हो जायेगी। इनके पास जानेसे हमको ऊँचा पद मिल जायेगा या कि हम मुकदमेमें जीत जायेंगे अथवा हमारे शरीरका रोग मिट ज़ायेगा! कि ये बड़े सिद्ध हैं, पता नहीं कब हमारे काम आ जायें! तो जो लोग सत्सङ्गमें सिद्धिके लिए जाते हैं वे तो यदि उनके मनके अनुसार न होवे तो जाना छोड़ देंगे—उनके लिए तो सत्सङ्ग साधन है और संसारकी सिद्धि साध्य है!

दूसरे लोग जो हैं वे इसलिए आते हैं कि हमको कोई ऐसा कर्म बताओ जिससे हमारा परलोक बने! कोई-कोई ऐसे आते हैं, कहते हैं कि हमको कोई उपासना ऐसी बताओ कि हम इष्टदेवके लोकमें जायें। कोई-कोई ऐसे आते हैं जो कहते हैं कि हमको ऐसा योगाभ्यास बताओ कि जिससे हमारे चित्तका विक्षेप शान्त हो जाये।

एक सत्सङ्गी है जो कहता है कि घण्टे भरका समय है अपने पास, चलो सत्सङ्गमें बैठ जायेंगे, एक पुस्तक ही पढ़ लेंगे। जैसे विद्यार्थी कॉलेजमें जाता है अध्ययन करनेके लिए, अथवा पुस्तकालयमें जाता है 'स्टडी' करनेके लिए, वैसे सत्सङ्गमें जाते हैं।

तो ये जो लोग सत्सङ्गमें सन्तोंके पास सिद्धिके लिए जाते हैं वे तो बहुत छोटी चीज लेकर लौट आते हैं। श्री उड़िया बाबाजी महाराजके पास बहुत लोग सिद्धिके लिए आते थे। ऐसा समझो कि एक हजार आदमी अगर उनके पास आते थे तो उनमें से नौ-सौ-नब्बे आदमी उनको सिद्ध मान करके लौकिक लाभ उठानेके लिए आते थे। ऐसे ही हमारे मोकलपुरके बाबाके यहाँ था। अगर एक लाख आदमी आते थे तो उस एक लाखमें-से कोई एक-आध व्यक्ति ही तत्त्वज्ञानके लिए आता होगा—हमको उन्होंने स्वयं अपने मुँहसे कहा था कि हमको चालीस वर्ष गंगा-किनारे रहते हो गया, आज तुमलोग तीन आदमी हमारे पास यह जाननेके लिए आये हो कि आत्माका स्वरूप क्या है। चालीस वर्षके भीतर लोग बहुत आये, पर इसलिए कि हमारा दमा अच्छा हो जाये, हमारा य़क्ष्मा अच्छा हो जाये, हमारा ब्याह हो जाये, हमारे धन हो जाय, हमारे पास भीड़ सिर्फ ऐसे लोगोंकी होती है।

तो, केवल लौकिक लाभ ही नहीं—कौन-सा कर्म करनेसे हमको स्वर्ग मिलेगा, कौन-सा कर्म करनेसे हमको हमारे इष्टदेवका लोक मिलेगा, कौन-सा कर्म करनेसे हमको योगकी समाधि मिलेगी—यह सब जो करनेसे मिलेगा, माने जो साधन-साध्य होगा, उसमें जिनकी प्रीति है वे आत्म-विज्ञानके अधिकारी नहीं हैं। करना भी हमेशा नहीं हो सकता और उससे जो फल मिलता है वह भी हमेशा नहीं रह सकता! जो करके पाया जायेगा वह अनित्य होगा, जो बनाकर पाया जायेगा वह अनित्य होगा—वह आज रहेगा तो कल नहीं रहेगा! मोकलपुरके बाबा कहा करते थे—गुरु, इतना किया और इतना हुआ। बिना किये इतना हो रहा है तो और कुछ करोगे जो यह संसारका बन्धन छूटेगा नहीं, संसारका बन्धन तो और बढ़ जायेगा। तो, लोगोंके मनमें यह जिज्ञासा होती है कि हम क्या करें और क्या मिले, लेकिन सत्य क्या है, परमार्थ क्या है, असलियत क्या है, सच्ची बात क्या है—यह जिज्ञासा तो बहुत थोड़े लोगोंके मनमें होती है—

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चित् यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन् मां वेत्ति तत्त्वतः॥ (गीता ७.३)

सहस्त्रं च, सहस्त्रं च, सहस्त्रं च—सहस्राणि तेषु सहस्त्रेषु—तीन हजार आदमियोंमें-से एक आदमी ऐसा हो सकता है कि जिसके मनमें सिद्धिकी इच्छा हो और फिर सिद्धिके लिए प्रयत्न करे और प्रयत्न करके सिद्धि प्राप्त करे। यततामपि सहस्त्रेषु सिद्धानां—तीन हजार प्रयत्न करने वालोंमें किसी एकको सिद्धि मिलती है और तीन हजार सिद्धोंमें-से किसी एकको परमात्माका ज्ञान होता है—

यततामपि सिद्धानां कश्चिन् माम् वेन्ति तत्त्वतः।

तो परमात्माका जो तत्त्वज्ञान है उसकी तो इच्छा होना ही कठिन है, लोग तो साधन-साध्य जो वस्तु है उसीको चाहते और पहचानते हैं। जो किसीका बनाया हुआ है और जो कोई बना सकता है, जो कर्मका फल है और जो कर्म का फल हो सकता है—वह जिसको नहीं चाहिए वही तत्त्वज्ञानका अधिकारी है।

इसपर एक प्रश्न उठता है! वह प्रश्न क्या है कि देखो, जो साधनसे पैदा होगा वह तो अनित्य होगा। जैसे कि यदि तुम योगाभ्यास करो तो समाधि लगेगी, यदि तुम उपासना करो तो जिस इष्टदेवकी उपासना करोगे उसके लोकमें चले जाओगे और यदि यज्ञ-यागादि करो तो स्वर्गकी प्राप्ति होगी और बुरे कर्म करो तो पुनर्जन्म होवे, नरक होवे—यह सब बात जहाँ-की-तहाँ ठीक-ठीक होनेपर भी प्रश्न यह है कि जो वस्तु साधनासे उत्पन्न होती है वह तो जरूर नष्ट होगी—साधनासे जो बनेगा वह बिगड़ जायेगा—तो बिगड़नेवाली चीजके लिए साधना करना निष्फल और जो बनता नहीं है और है, वह तो साधना करनेसे मिलेगा नहीं, उसके लिए साधना करना निष्फल है। इस प्रकार दोनों तरहसे साधना निष्फल है—यह प्रश्न उठा! जो कर्म—उपासना—योगसे मिलेगा जो नाशवान है और जो ज्ञानसे मिलेगा वह तो मिला हुआ ही है, उसका मिलना क्या? वह तो अपना आपा ही है। तो फिर साधना क्यों करें—यह प्रश्न उठता है!

इस प्रश्नका उत्तर देते हैं कि साधना इसलिए करो भाई कि साधनाका जो फल है उसके लिए साधना मत करो, माने अनित्य वस्तुकी प्राप्तिके लिए साधना मत करो, साधना इसके लिए करो कि तुम्हारे हृदयमें ऐसी योग्यता उत्पन्न हो जाय कि ज्ञान होवे और ज्ञान होकरके पहलेसे मौजूद जो वस्तु है उसका पता लग जाये—इसके लिए साधना करो! ज्ञान होनेके लिए एक खास तरहका अन्तःकरण चाहिए और उस तरहका अन्तःकरण साधन करनेसे बनता है। अतः साधन निष्फल नहीं हुआ। साधनसे सत्य वस्तुकी प्राप्ति नहीं हो सकती, यह ठीक है

और साधनसे जो वस्तु प्राप्त होगी वह अनित्य है यह भी ठीक है, परन्तु, साधन ऐसा करो कि तुम्हें एक ऐसी नाव मिल जाये जो तुम्हें समुद्रसे पार कर दे और फिर छोड़ देनी पड़े। देखो, जब धर्मानुष्ठान करोगे तब अधर्मका त्याग होगा; जब उपासनानुष्ठान करोगे तब दुर्वासनाका त्याग होगा, और जब योगाभ्यास करोगे तब विक्षेपका त्याग होगा। और विक्षेप, वासना और कुकर्मका त्याग होनेसे अन्तःकरण शुद्ध होगा और शुद्ध अन्तःकरणमें तत्त्वज्ञान होगा। अब देखना यह है कि साध्य-साधन-लक्षण वाला जो भी अनित्य पदार्थ है उससे वैराग्य हुआ कि नहीं! यह योग्यता, यह सामर्थ्य जिसके अन्दर होवे उसको तत्त्वज्ञान होता है। और समझो कि यदि यह सामर्थ्य न होवे औा वेदान्तका श्रवण कर ले तो उसकी निष्ठा श्रवण-कालमें तो ठीक रहेगी पर बादमें वह टिकेगी नहीं क्योंकि सिंहनीका दूध सोनेके पात्रमें ही ठहरता है, दूसरे पात्रमें यदि उसे रखो तो वह पात्र ही फूट जाता है— ऐसी मान्यता है, ऐसी कहावत पण्डितोंमें पहलेसे चली आ रही है।

तो, यह जो तत्त्वज्ञान है वह किसमें ठहरता है कि अधिकारी पुरुषमें ठहरता है। क्योंकि अब नचिकेताको तत्त्वज्ञानका उपदेश करना है इसलिए यह देखना है कि वह इस तत्त्वज्ञानका अधिकारी है कि नहीं? इसके लिए अब यह आगेका प्रसङ्ग, प्रारम्भ होता है!

नचिकेताने स्थूल शरीरकी सम्पुष्टिके लिए जो चाहिए था वह सब माँग लिया। और सूक्ष्म शरीरकी सम्पुष्टिके लिए जो चाहिए था सो भी माँग लिया। अब, यह कारण शरीर जो है इसमेंसे अज्ञान कैसे निकले—इसके लिए नचिकेता प्रश्न करते हैं!

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः॥ २०॥

येयं विचिकित्सा संशयः प्रेते मृते मनुष्ये अस्तीत्येके अस्ति शरीरेन्द्रिय मनो बुद्धि व्यतिरिक्तो देहान्तरसम्बन्धि आत्मा इति ऐके, नायं अस्ति इति च ऐके ,नायं एवं विधः अस्ति इति च ऐके अतश्च अस्माकं न प्रत्यक्षेण नापि वा अनुमानेन निर्णय विज्ञानम्—

यह इस मंत्रका शंकर भाष्य है। देखो, आप बात ध्यानमें ले आओ तो प्रश्नका जो रहस्य है, वह आपको खुल जायेगा। वह क्या? कि नचिकेता तो यमराजके सामने खड़ा है! अब यमराजके सामने खड़ा होकर कोई पूछे कि महाराज परलोक है कि नहीं, इसमें हमको शङ्का है—क्या यह बात बन सकती

है? यमपुरीमें जाकर यमराजसे मिलकर फिर यह बात पूछे कि परलोक है कि नहीं, इस बातकी हमेशा शङ्का है। और पूछे कि महाराज, शरीरके बिना आत्मा रहता है कि नहीं, यह हमको शङ्का है—तो यह बात जो मृत्युको स्वीकार करके यमराजके पास जावेगा उसके मनमें क्या आवेगी? अरे! मृत्युका तो वह अतिक्रमण कर चुका है, स्वर्गके लिए अग्निका चयन कैसे होता है इस विद्याको भी वह जान चुका है और यागादि करनेसे किस प्रकार स्वर्गकी प्राप्ति होती है यह भी वह जान चुका है। हमने तो आपको स्वर्गकी व्याख्या दूसरे ढंगकी सुनायी थी—आध्यात्मिक स्वर्गकी व्याख्या! आध्यात्मिक स्वर्ग क्या है कि इस देहमें-से मैं को हटा करके विराट्के अवयव-रूप जो अग्नि-वायु और आदित्य हैं उनके साथ तादात्म्य प्राप्तकर लेना—यह आध्यात्मिक स्वर्ग है। हिरण्यगर्भकी अवस्थामें पहुँच जाना यह आध्यात्मिक स्वर्ग है। तो, ऐसी स्थितिमें क्या नचिकेताके मनमें यह प्रश्न होगा कि देहके बिना आत्मा है कि नहीं? क्या उसके मनमें यह प्रश्न होगा कि परलोक है कि नहीं? इस प्रश्नका तो स्वरूप ही दूसरा है।

यह प्रश्न क्या है कि आप पहले देखो संसारमें अस्ति और नास्ति का प्रयोग! घट: अस्ति, घटो नास्ति—घड़ा है और घड़ा नहीं है—अब यह घड़ेवाली बात पुरानी हो गयी, तो बोले—चश्मा है, चश्मा नहीं है; घड़ी है घड़ी नहीं है, पुस्तक है, पुस्तक नहीं है—इन दोनोंका ज्ञान आपको होता है कि नहीं होता है? आँखसे आप देखते हैं कि घड़ी यहाँ है और घड़ी यहाँ नहीं है, पुस्तकका न होना—पुस्तकका भाव और पुस्तकका अभाव दोनों आपको आँखसे रोशनीमें मालूम पड़ता है—आँख अध्यात्म है, रोशनी अधिदैव है और पुस्तक अधिभूत है—माने हमारा अध्यात्म जो है वह अधिदैवकी मददसे अधिभूतको पहचानता है और अधिभूतके भाव-अभाव दोनोंको पहचानता है—घड़ी हो तब भी जाने और घड़ी न हो तब भी जाने।

अब जरा आप अपने आत्माके बारेमें बताओ कि मैं हूँ कि नहीं हूँ! कि जैसे आप अपने बारेमें जानते हो कि मैं हूँ—ऐसा तो जानते हो न कि मैं हूँ पर क्या आप कभी ऐसा भी जानते हो कि मैं नहीं हूँ? घड़ीमें और आपमें फर्क है कि नहीं? चश्मे और आपमें फर्क है कि नहीं? आप लौकिक व्यवहारमें यह जानते हो कि घड़ी है कि अथवा घड़ी नहीं है—घड़ीका भाव और अभाव दोनों आप देखते हो। अब आपसे प्रश्न यह है कि जैसे घड़ीका भाव और अभाव—होना और न

होना दोनों आप जानते हो, वैसे ही आप अपना भी होना-न होना दोनों जानते हो क्या? बोले—भाई, हम अपना होना तो जानते हैं लेकिन न होना नहीं जानते हैं। तो घड़ीके बारेमें सवाल और आपके बारेमें सवाल दोनोंमें फर्क होगा न? क्यों कि—अहं अस्मि—मैं हूँ—यह वृत्ति होती है; **नाहं अस्मि न कश्चित् प्रतीयात**—कभी किसीको यह बात मालूम ही नहीं पड़ती कि मैं नहीं हूँ।

बोले कि शायद मरनेके बाद ऐसा अनुभव होता हो कि मैं नहीं हूँ? क्यों है आपका ख्याल कि मरनेके बाद ऐसा आपको मालूम पड़ सकता है कि मैं नहीं हूँ? यदि आपको मरनेके बाद मालूम पड़ेगा कि मैं नहीं हूँ तो आप जरूर होंगे, क्योंकि होंगे तभी तो मालूम पड़ेगा कि मैं नहीं हूँ—जिसको मालूम पड़ेगा कि मैं नहीं हूँ वही तो है। अच्छा, आपको हम पूछते हैं कि आप कभी मरे हैं कि नहीं मरे हैं? अपने भूतका कुछ विगत बताओ कि आज तक आप कभी मरे हो कि नहीं । अगर आप कभी मरे होते तो आज होते कैसे? जो आज है वह आजसे पहले कभी मरा नहीं। भले ही वह यह कल्पना करे कि हम हजारों बार मर चुके हैं और हजारों बार जनम चुके हैं! कि ठीक बात है। एक चीज कोई मरी और एक चीज कोई जन्मी। कैसे? कि जैसे घड़ा आपके सामने आया और हट गया और फिर आपके सामने घड़ी आयी और हट गयी, चश्मा आया और हट गया, लेकिन आप तो रहे न—ऐसे ही हजाारों जन्म घड़ी-घड़े और चश्मेकी तरह आपके सामने आये होंगे और चले गये होंगे, लेकिन उनको जानने वाले आप आज तक कभी मरे नहीं हैं; अगर एक बार भी मर गये होते तो आज होते ही नहीं। आज होना ही इस बातका सबूत है कि आज तक आपकी सच्ची मौत कभी हुई नहीं है, झूठी मौत आप भले ही मानते रहे हों कि हमारी मौत हुई है।

अब, इसी आधारपर यदि देखें तो आपकी मौत आगे होगी यह कल्पना आप कैसे करते हैं? बोले—लोगोंको मरते देखते हैं इसलिए हम अपने मरनेकी कल्पना करते हैं कि भले मानुष! जैसे घड़ेको आप आते जाते देखते हैं; जैसे यह एक हाथवाले और एक मुँहवाले और एक पाँववाले घड़े को आप मरते और जीते देखते हैं—वैसे यह स्थूल शरीर माँके पेटमें-से निकल आया और आगमें जल गया यह तो आप देखते हैं लेकिन जो चीज आप हैं उसको मरते-जीते दूसरेके शरीरमें कहाँ देखा? आपने क्या आत्माकी फोटो ली है? आजकल ये प्रेतविद्यावाले जो लोग हैं न, वे फोटो ले-लेकर लोगोंको दिखाते हैं, पर वह आत्माकी फोटो नहीं होती है—आप कभी यह मत मानना कि आत्माकी फोटो

होती है, कि आत्माके हाथ होता है कि वह पेन्सिलसे लिखती है—ऐसे नहीं समझना। हम जिस आत्माकी चर्चा कर रहे हैं उसमें यह हाथ, यह सिर और यह दिल यह सब तो जैसे पोशाक होती है न, जैसे कोई घड़ा-घड़ी होती है ऐसे आत्मा के साथ लगा हुआ है। तो, आगे आप मरेंगे कि नहीं? आपको अपने मरनेका व्याप्ति-ग्रहण ही कभी नहीं हुआ है माने कभी अनुभत्र ही नहीं हुआ है अपने मरनेका; इसलिए आगे मरनेकी जो कल्पना है वह बिलकुल झूठी है। जब आप शरीरको मैं समझते हैं तब शरीरके जन्मको अपना जन्म और शरीरकी मृत्युको अपनी मृत्यु समझते हैं क्योंकि अपनी मृत्यु कभी किसीके अनुभवमें नहीं हो सकती और आप एक अनुभवशील प्राणी हैं, एक अनुभवशाली आत्मा हैं—आप अपने मरने की कल्पना भला काहे को करते हैं!

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये—तो यह बात हुई कि आगे हम मरेंगे यह तो कल्पना है और पीछे हम मर चुके हैं इसकी तो स्मृति भी नहीं है। और ये पुनर्जन्मवाले जो हैं न ये बड़ा भारी मनोविज्ञानका अनुसन्धान कर रहे हैं—राजस्थान विश्वविद्यालयने एक परा मनोविज्ञानका विभाग खोला है। सारे विश्वमें घूम-घूम कर वे लोग लोगोंके बयान ले रहे हैं। लोग बयान देते हैं कि हम पूर्वजन्ममें यह थे और वहाँ किसीने गोली मारी तो मरे अथवा ऐसे बुखार आया तो मरे-ऐसे अपने मरनेकी बात सब लोग बताते हैं। बताते हैं कि हम पूर्व्रजन्ममें कहाँ थे। मथुरामें ऐसी कई घटना घटीं, दिल्लीमें घटीं, जयपुरमें घटीं और कटनीमें तो एक दो-तीन जन्मोंकी बात बतानेवाली लड़की निकली थी—लेकिन उसके दो-तीन जन्म भले ही हुए हों और वह भले ही दो-तीन बार, दो-तीन बार नहीं, तीन-चार हजार बार मरी हो, लेकिन शरीर मरनेके बाद जो चीज रह जाती है वह क्या है? जिसने पहले शरीर और उसके अभाव को देखा, जिसने दूसरे शरीर और उसके अभावको देखा, जिसने तीसरे शरीर और उसके अभावको देखा और आज जो जान रहा है इस शरीरको और कल्पना कर रहा है कि हमारे आगे भी शरीर होंगे या ऐसी कल्पना कर रहा है कि नहीं होंगे वह कौन है? उस आत्माका स्वरूप जाननेको चाहिए न!

अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके—तो प्रश्न असलमें यह है कि जैसे घड़ा अस्ति और नास्ति अर्थात् है और नहीं है—इन दोनों वृत्तियोंका विषय होता है, वैसे आत्मा क्या अस्ति और नास्ति वृत्तिका विषय है? वह सत् है कि असत् है? अस्ति है कि नास्ति है? अरे बाबा, वह न अस्ति है न नास्ति है—यह मत समझना

कि आत्मा अस्ति है, वह तो उपलब्धिकी, ज्ञानकी एक प्रक्रिया है। माने एक तरकीब है आत्माको जाननेके लिए—प्रक्रिया माने तरकीब, शैली, ढंग, पद्धति। अस्तीत्येवोपलब्धव्य:—मैं हूँ। इस ढंगसे अपनी उपलब्धि प्रारम्भ करो, अपने जाननेका तरीका यह है कि मैं हूँ—यहाँसे प्रारम्भ करो। नहीं हूँ ऐसा नहीं, मैं हूँ। असलमें दुनियाकी चीजोंकें लिए 'यह चीज है' और 'यह चीज नहीं है'—ये दोनों वृत्ति बनती हैं परन्तु आत्माके बारेमें 'मैं हूँ' यह वृत्ति तो बनती है परन्तु 'मैं नहीं हूँ' यह वृत्ति नहीं बनती है। अच्छा, तो आत्माके लिए अस्ति वृत्ति तो बनती है परन्तु क्या अस्ति-वृत्तिका विषय आत्मा है? विषय और आश्रयमें फर्क होता है न! देखो, यह घड़ी है ऐसा मालूम पड़ता है तो घड़ी जो है वह अस्ति-वृत्तिका विषय है—माने यह मालूम पड़ता है कि यह है और यहाँसे इसको हटा दिया तो मालूम पड़ता है कि यहाँ घड़ी नहीं है, लेकिन जिसको दोनों मालूम पड़ता है वह कौन है? कि वह अस्ति-प्रत्यय और नास्ति-प्रत्यय, अस्ति-वृत्ति और नास्ति-वृत्ति दोनोंका वह आश्रय है। तो आत्मा वृत्तिका विषय नहीं है, आत्मा वृत्तिका आश्रय है, माने 'यह है' इस वृत्तिको जो देखता है उसका नाम आत्मा होता है—है और नहीं—दोनोंको जो जानता है सो आत्मा है। परन्तु 'आत्मा नहीं है' यह आत्माको जाननेका तरीका नहीं है,'आत्मा है' यह आत्माको जाननेका तरीका है; इसलिए जो लोग कहते हैं कि आत्मा नहीं है उनकी बोली कैसी कि'मन्मुखे जिह्वा नास्ति'—जैसे कोई सज्जन बोलकर बतावें कि मेरे मुँहमें जीभ नहीं है। अरे भाई, जब तुम्हारे मुँहमें जीभ नहीं है तो बोलते कैसे हो? फिर एकने बोलकर बताया कि मैं हूँ ही नहीं। भाई तुम नहीं हो तो यह बोल कौन रहा है?

एक बैलगाड़ी सड़कपर जा रही थी और एक आदमी सड़कपर लेटा हुआ था, सोया हुआ था नींद में। तो गाड़ीवानने जगाया कि अरे, जाग-जाग, नहीं तो कुचल जायेगा। तो वह लेटा हुआ मनुष्य उठा, उठकर अपनेको देखा और देख-भाल करके फिर वहीं सो गया! गाड़ीवान बोला—क्या बात है? वह बोला कि मैं नहीं हूँ। बोला—तुम बात कर रहे हो, बोल रहे हो, लेटे हुए हो, तुम हो कैसे नहीं? बोला—मैं वह नहीं हूँ जो कल सोया था! अरे भाई, क्या बात है? कि बात यह है कि कल शामको मैं नया लाल जूता पहने हुए सोया था, वह लाल जूता वाला मैं नहीं हूँ क्योंकि इस समय मेरे पैरमें नया लाल जूता नहीं है। असलमें, रातको नींदमें उसका नया लाल जूता कोई निकालकर ले गया था और पुराना उसे पहना गया था।

यह शरीर भी लाल जूतेकी तरह है, भला! देखो, एक होता है वृत्तिका विषय—जैसे घड़ी, घड़ा, चश्मा, किताब। ऐसे ही यह देह है। यह देह क्या है कि यह वृत्तिका विषय है! इसमें जो कुछ मालूम पड़ता है—मैं ब्राह्मण हूँ, मैं संन्यासी हूँ, मैं वानप्रस्थ हूँ—यह सब क्या है कि यह सब घड़ी-घड़ा है। कि मैं हिन्दू हूँ कि मैं मनुष्य हूँ, कि मैं प्राणी हूँ कि मैं शरीरधारी हूँ— यह सब क्या है? कि यह सब घड़ी-घड़ाके समान है और जिसको इस शरीरका होना और न होना दोनों भासता है उसको बोलते हैं आत्मा। तो असलमें अस्ति भी आत्मा नहीं है और नास्ति भी आत्मा नहीं है, अस्ति और नास्ति दोनोंका साक्षी है आत्मा। लेकिन नास्तिकी जो पद्धति है वह आत्माको समझनेका ढंग नहीं है इसलिए उसका खण्डन करते हैं और अस्तिकी जो प्रक्रिया है वह आत्माको समझनेकी तरकीब है इसलिए आत्माको अस्ति कहते हैं। ये दोनों पक्ष हैं, ये दोनों सम्प्रदाय हैं, ये दोनों पार्टी है।

तो नचिकेताको शङ्का यह हुई कि आत्माको 'है' बोलें कि आत्माको 'नहीं' बोलें! कोई कहते हैं कि यह देहादि रूप आत्मा है। एकने कहा कि आत्मा परलोकमें जाता है, दूसरेने कहा कि आत्मा परलोकमें नहीं जाता है, एकने कहा कि आत्मा कर्त्ता-भोक्ता है, दूसरेने कहा कि आत्मा कर्त्ता-भोक्ता नहीं है, एकने कहा कि आत्मा परिच्छिन्न है और दूसरेने कहा कि आत्मा परिच्छिन्न नहीं है। तो, यह विचिकित्सा है। जैसे वैद्य रोगीका निदान करता है, चिकित्सा करता है, वैसे ही इस संशयकी चिकित्सा करनी चाहिए! तो—**एतद्विद्यामनुशिष्ट स्त्वयाहं**—**अहं त्वया अनुशिष्टः**—तो हमें अनुशासित करो, अनुशिक्षित करो, हमें सिखाओ जिससे मैं यह बात समझ जाऊँ और जिससे यह संशय समूल नष्ट हो जाय। **वराणामेष परस्तृतीयः**—तीन वर जो तुमने देनेको कहे थे, उनमेंसे यह तीसरा वर है, अब आप यह तीसरा वर हमको दो।

यमराजका तीसरे वरको देनेमें संकोचको प्रकट करना

(अध्याय—१ वल्ली—१ मंत्र—२१)

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुज्ञेयमणुरेष धर्मः।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम्॥ १.१.२१

अर्थ :—पूर्वकालमें इस आत्म-ज्ञानकेविषयमें देवताओंको भी संशय हुआ था क्योंकि यह आत्म-ज्ञान सुगमतासे जानने योग्य नहीं है; यह आत्मा अत्यन्त सूक्ष्म है। इसलिए हे नचिकेता ! तुम आत्म-ज्ञानके बदलेमें कोई दूसरा वर माँग लो। मुझे रोको मत। तुम मेरे लिए इस वरको छोड़ दो।

नचिकेता माने जो चयनमें, इकट्ठा करनेमें, माने बाध्य वस्तुओंके संग्रहमें विश्वास न रक्खे और जो महल बनानेमें विश्वास न रखे—न चयन, न केतन! अर्थात् जिज्ञासु। जो सत्यका जिज्ञासु है उसको कहते हैं नचिकेता। और उसका गुरु कौन है? कि यम। यमके सामने खड़े होकर वह जिज्ञासा कर रहा है। यम अर्थात् मृत्युका देवता। सम्पूर्ण विश्व-प्रपंचके भोगसे विरक्त होकर और महाप्रलय—महाप्रलय—महाप्रलयमें स्थित होकर—जिस समय यह नाम प्रकट नहीं था, यह रूप प्रकट नहीं था, नाम-रूपकी स्फुरणाके पूर्व जो स्थिति है वहाँ बैठकर-यह पूछ रहा है कि आत्माका स्वरूप क्या है? यह जिज्ञासा उसको हो रही है, यह प्रश्न उसके मनमें उठ रहा है और किसी दूसरेसे यह नहीं पूछ रहा है, बल्कि मैं कौन हूँ—यह प्रश्न इसके हृदयमें ज्वलन्त रूपसे प्रकट है।

जितने अन्य धर्म हैं, धर्मसे हमारा मतलब मजहबसे नहीं है—यज्ञ करना धर्म है, दया करना धर्म है, सत्य बोलना धर्म है, जितनी उपासनाएँ—धर्म हैं, जितने योगाभ्यास—धर्म हैं—वे सब आचार्यकी प्रधानतासे होते हैं अर्थात् उनमें यह कहना पड़ता है कि यह अमुकने कहा है। परन्तु यह वेदान्त-विद्या आचार्यकी प्रधानतासे नहीं होती, वस्तुकी प्रधानतासे होती है। अगर कोई काँच आपके हाथमें

हो और उसको कितने बड़े आदमीने भी हीरा कहा हो, लेकिन जब आप हीरेके लक्षणको जानेंगे और उसको घटित करेंगे, तब यदि वह हीरा नहीं निकलता तो उसे हीरा नहीं मानेंगे।

जैसे परीक्षा कर-करके कि इस रोगकी यह दवा है, इस रोगकी यह दवा है, चिकित्साका ज्ञान प्राप्त किया जाता है वैसे यह वेदान्तका ज्ञान प्राप्त नहीं किया जाता। वह तो ऐसा हुआ कि ऐन्द्रियक अनुभूतिसे हम किसी खास निश्चयपर पहुँचे—इन्द्रियोंसे पहले संसारमें ज्ञान प्राप्त किया और उसके बाद बुद्धिमें यह निश्चय किया कि यह चीज ऐसी है। परन्तु, यह जो वेदान्त - विद्या है यह ज्ञानजन्य ज्ञान नहीं है, माने यह परिच्छिन्न वस्तुका विज्ञान नहीं है, यह खण्ड-देश, खण्ड-काल या खण्ड अणु—परमाणुका ज्ञान नहीं है, यह खण्ड-खण्डका ज्ञान नहीं है, यह अखण्डका ज्ञान है, यह टुकड़े-टुकड़ेका ज्ञान नहीं है, यह जर्रे-जर्रेका ज्ञान नहीं है यह अपरिच्छिन्नका ज्ञान है।

तो, चाहे किसी भी पोथीमें लिखा हो और चाहे किसी भी आचार्यने कहा हो, हमें यह परीक्षा करनी पड़ती है कि यह बात जो कही गयी है यह अविनाशी माने कालसे अपरिच्छिन्न, यह परिपूर्ण अर्थात् देशसे अपरिच्छिन्न, यह अद्वय अर्थात् जड़ता और चेतनताके भेदसे शून्य, स्व-स्वरूप-भूत प्रत्यक्चैतन्याभिन्न, अपरिच्छिन्न ब्रह्मकी विद्या है कि नहीं है। यदि ऐसे अद्वितीय आत्मा, ब्रह्मके सम्बन्धमें वह विद्या है तब तो वह वेदान्त-विद्या है और नहीं तो पोथीका नाम कुछ भी हो और आचार्यका नाम कुछ भी हो, वह वेदान्त-विद्या नहीं है।

ज्ञानकी अद्वितीयताका अर्थ है—न उसमें अनेक जीव हैं, न उसमें जुदा ईश्वर है, न उसमें जुदा जगत् है, जहाँ एक अखण्ड केवल ज्ञान-ही-ज्ञान है, जो इन्द्रियोंकी अनुभूतिसे मालूम किया हुआ विषयक ज्ञानी नहीं है, जो मनके द्वारा कल्पा हुआ प्रियता-मूलक ज्ञान नहीं है, जो केवल चित्त-वृत्तियोंकी निवृत्तिसे समाधि-दशामें जाना हुआ पदार्थ नहीं है। समाधि-दशामें जाना हुआ पदार्थ भी परिच्छिन्न है और प्रियताकी वृत्तिसे विशिष्ट जो अन्यका ज्ञान है वह भी परिच्छिन्न है। अपना परमप्रिय मानकर जिसका ज्ञान हमने प्राप्त किया है, वह प्रिय भी ज्ञानको परिच्छिन्न बना रहा है। अतः वह भी ज्ञान नहीं है, और वृत्तियोंको एकाग्र (या निरुद्ध) करके जिसको जाना है वह व्यक्तिनिष्ठ ज्ञान नहीं है और विषयोंके रूपमें हम जिसको जानते हैं वह ज्ञान नहीं है—न यह विषयका ज्ञान है, न प्रियका ज्ञान है और न तो यह आत्मज्ञान है—अद्भुत-लीला है—समाधिमें होनेवाला

आत्म-ज्ञान नहीं है और गोलोकमें, बैकुण्ठमें—दिव्य-देशमें जाकर प्राप्त होनेवाला प्रियका ज्ञान नहीं है और सांसारिक दशामें विषयोंका जो ज्ञान प्राप्त होता है वह ज्ञान नहीं है। यह विषयवाला ज्ञान नहीं है, यह स्वर्ग-बैकुण्ठादिलोकमें होनेवाला प्रियताका ज्ञान नहीं है और यह केवल व्यक्ति-निष्ठ, समाधि-दशामें प्राप्त होनेवाला ज्ञान नहीं है! अखण्ड वस्तुका, अद्वयवस्तुका-और वह भी अपनेसे अभिन्न वस्तुका ज्ञान है। यदि वहअपनेसेअलग होवे तो जड़ होवे और यदि वह केवल अपना-आपा ही होवे तो परिच्छिन्न होवे—तो परिपूर्ण होनेके कारण अद्वय और आत्मरूप होनेके कारण चैतन्य—यह जो अद्वय चैतन्य है उसका ज्ञान है। और यह ज्ञानजन्य ज्ञान नहीं है, अपौरुषेय ज्ञान है। इस विद्याको वेदान्त-विद्या कहते हैं, यह कोई साधारण लौकिक विद्या नहीं है।

नचिकेताने यमसे आत्म-विषयक प्रश्न किया। एक तो यम माने मृत्यु-मृत्यु अर्थात् सर्वके अभावमें विद्यमान और दूसरे यम माने कि वहाँ विशेष धर्मकी उपस्थिति नहीं है—सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह—ये यम-रूप हैं न! इसलिए जहाँ न ऐन्द्रियक विषय है और न ऐन्द्रियक भोग हैं और न परिच्छिन्नताका अभिमान है, न कर्तृत्व है, न भोक्तृत्व है—केवल अज्ञान जहाँ शेष है—वहाँके बारेमें नचिकेताने यह प्रश्न किया कि अन्ततोगत्वा यह है क्या चीज?

एताद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः॥ २०॥

एक वर लौकिक सन्तुष्टि, दूसरा वर पारलौकिक तृप्ति और बीचमें तो तुमने यश दिया, रत्नकी माला दी, प्रतिष्ठा दी वह तो अवान्तर हैं—वह कोई स्वतन्त्र वर नहीं है। तीसरा वर हमारा यह है कि हम सत्यके यथार्थ स्वरूपको जानें! और वह भी ऐसा सत्य जो कालसे कटता न हो, जो देशमें परिच्छिन्न न होता हो—उस ईश्वरके बारेमें हम नहीं पूछते जो वहाँ हो और यहाँ न हो या यहाँ हो और वहाँ न हो, जो तब हो अब न हो, अब हो और तब न हो और यह हो वह न हो या वह हो और यह न हो! जिसमें अब और तब, यहाँ और वहाँ, यह और वह—ये सारे अपने स्वरूपको खोकर सत्यके सिवाय और कुछ नहीं रहते हैं! वह जो अपना ज्ञान-स्वरूप, आत्म-स्वरूप, देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदसे शून्य आत्म-तत्त्व है क्या स्वरूप है—यह प्रश्न है नचिकिताका।

इसके उत्तरमें यमराज—मृत्युका देवता—जो बोला वही उपनिषद् है। मृत्युका देवता माने जहाँ सम्पूर्ण नाम-रूपका अभाव हो ज़ाता है, उस सर्व

निषेधविधि नेति-नेतिका देवता—यमराज माने नेति-नेतिका देवता, सर्व-प्रतिषेधका देवता, सर्वाभावका देवता! माने अपनी बुद्धिकी वह अवस्था जहाँ दृश्यमें और परिच्छिन्नमें किञ्चित् भी आग्रह नहीं है, इस प्रश्नके बारेमें उत्तर देती है। प्रश्न भी चित्तकी एक अवस्था है और उत्तर भी चित्तकी एक अवस्था है। वह दो व्यक्तियोंमें नहीं रहता। ऐसा नहीं है कि चेलेमें प्रश्न है और गुरुमें उत्तर है। वह तो जिस अन्त:करणमें प्रश्न है उसी अन्त:करणमें यदि उत्तर नहीं होगा तो समाधान होगा ही नहीं। बाधा क्या है? कि बाधा यही है कि प्रश्न दूसरे अन्त:करणमें है और समाधान दूसरे अन्त:करणमें है! यह तो नारायण आध्यात्मिक विषय है भला! एकने कहा कि हमारे मनमें चाहे जितने प्रश्न हों हमारे गुरुजी बड़े जानकार हैं कि अरे भाई, गुरुजी जानकार हैं न, तुम्हारा अन्त:करण तो जानकार नहीं है न? फिर बोले कि बाबा हम तो बड़े दुराचारी हैं, पर हमारे गुरुजी तो बड़े सदाचारी हैं, तो गुरुजीका सदाचार गुरुजीके साथ, तुम्हारा दुराचार तुम्हारे साथ, बोले—कि हमारे हृदयमें तो ईश्वरपर विश्वास नहीं है लेकिन हमारे गुरुजीके हृदयमें तो ईश्वरपर बड़ा विश्वास है। तो गुरुजीका विश्वास हमारे काम कैसे आवेगा? जब तुम जंगलमें जाओगे, जब तुम कभी एकान्तमें पड़ जाओगे, जब तुम्हारी मनोवृत्तियाँ तुम्हें दु:ख देने लगेंगी—तब तुम्हारे हृदयमें विद्यमान विश्वास ही तुम्हारी रक्षा करेगा, तुम्हारा भला करेगा—यह बड़ा भारी सम्बल है, आत्म-बल है। पुलिसके आधारपर तुम रातको क्या एकान्त जंगलमें अकेले रह सकते हो? कानूनके बलपर क्या तुम शून्य-खण्डहीरमें रह सकते हो? कानूनके बलपर क्या तुम शेरोंके बीचमें रह सकते हो? वहाँ हृदयमें जो ईश्वर-विश्वास है वह तुमको बलवान बना करके रखेगा, वहाँ ईश्वरपर विश्वास ही आत्म - बल बनकरके तुम्हारी रक्षा करेगा। इसी प्रकार तुम्हारे हृदयमें जो प्रश्न हैं उन प्रश्नोंका उत्तर यदि तुम्हारे हृदयमें न आवे—सवाल दूसरेके दिलमें और जवाब दूसरेके दिलमें—तो समाधान कहाँसे होगा? उसी दिलमें जवाब आने चाहिए जिस दिलमें सवाल हैं। उसी बुद्धिमें उत्तर आने चाहिए जिस बुद्धिमें प्रश्न हैं, तभी प्रश्नोंका समाधान होगा।

तो यह गुरु और चेला असलमें दो जगह बैठे हुए नहीं हैं, एक ही हृदयमें बैठे हुए हैं—गुरुजी जरा भीतर बैठे हुए हैं और चेलाजी जरा बाहर बैठे हुए हैं। तो, अब यह कहो कि गुरुजीका मुँह हमारी तरफ और हमारा मुँह गुरुजीकी तरफ! कि तब तकतो होगा प्रश्नोत्तर और जब प्रश्नोत्तर तुम्हारा पूरा हो जायेगा तब गुरुजीका मुँह तुम्हारा मुँह हो जायेगा, गुरुजीका दिल तुम्हारा दिल हो जायेगा, गुरुजीका सिर

तुम्हारा सिर, गुरुजीकी पीठ तुम्हारी पीठ—गुरु और चेला हृदयमें एक हो जायेंगे—एक ओर दोनोंका मुँह, एक ओर दोनोंकी आँख—एक चीज दोनोंकी नजर आवेगी, एक नजरसे दोनों देखेंगे, एक दिलसे दोनों प्यार करेंगे और एक बुद्धिसे दोनों सोचेंगे—गुरु और चेला दोनों एक हो जायेंगे। कहाँ? कि जहाँ तुम्हारे प्रश्नोंका समाधान होकरके तुम प्रश्नकर्त्तासे उत्तरदाता हो जाओगे। तो यह बुद्धिकी ही तो अवस्थाएँ हैं—एक प्रश्न करने वाली और एक उत्तर देनेवाली!

अब प्रश्न यह उठता है कि अरे बाबा, तूने तो अद्वितीय आत्माके बारेमें भी लौकिक न्याससे 'घट: अस्ति' और 'घट: नास्ति' बोल दिया जैसे लौकिक विषयमें अस्ति और नास्ति है, है और नहीं है, वैसे ही घट के ज्ञाताके बारेमें भी क्या अस्ति-नास्ति है? भगवान्‌का नाम लो, वैसा अस्ति-नास्ति आत्माके बारेमें नहीं है। क्योंकि घड़ा कभी सामने रहता है और कभी नहीं रहता है लेकिन ऐसे ही आत्मा कभी अपने सामने रहता हो और कभी न रहता हो—ऐसा नहीं है, क्योंकि आत्माके बारेमें 'मैं नहीं हूँ' ऐसा अनुभव कभी किसीको नहीं हो सकता। इसलिए जो लोग कहते हैं कि पहले आत्मा नहीं था वे अनुभवकी प्रणालीसे नहीं बोलते हैं और जो कहते हैं कि आगे आत्मा नहीं रहेगा वे भी अनुभवकी प्रणालीसे नहीं बोलते हैं क्योंकि **अहं नास्ति**—यह अनुभव कभी किसीको नहीं हो सकता।

बोले कि अच्छा, हम यह अनुभव करते हैं कि **अहं नासम** मैं नहीं था। तो देखो, पूर्वकाल—माने भूतकाल और अपना विशेष अस्तित्व दोनोंकी वृत्तिमें लेकरके तब न यह बोलते हो कि मैं नहीं था। तो, हम तो उस वस्तुकी चर्चा करते हैं जहाँ पूर्व-कालमें और उत्तर-कालमें भेद नहीं रहता, जहाँ विशेष वस्तु और सामान्य वस्तुमें भेद नहीं रहता, इसलिए **अहं नासम**—मैं पहले नहीं था यह तुम वर्तमानमें कल्पना कर रहे हो, यह अपने भूतपूर्व अनुभवका अनुवाद नहीं है, यह तो वर्तमानकी कल्पना है।

अच्छा, बोले कि भविष्यमें मैं नहीं होऊँगा। अच्छा, यह तुम भविष्यमें अनुभव करके अपने नास्तित्वकी कल्पना करते हो कि वर्तमान कालमें तुम्हारी वृत्तिकी यह बदमाशी है जो यह कल्पना करती है कि आगे मैं नहीं रहूँगा। तो 'मैं नहीं हूँ' यह जब अनुभवकी प्रणालीमें नहीं है तो मैं नहीं था और मैं नहीं रहूँगा—यह अनुभवके पेटमें जो भी मालूम पड़ेगा वह केवल अनुभवका विवर्त होगा! माने अनुभवके विपरीत ऐसा भासेगा, होगा नहीं। इसलिए 'मैं नहीं था' और 'मैं नहीं होऊँगा,' यह झूठी कल्पना है और मैं हूँ यह बिलकुल सत्य है।

अब इसमें भी जो देशसे सम्बद्ध है, जो कालसे सम्बद्ध है, जो वस्तुसे सम्बद्ध है, जो विशेष है, जो आकार है, जो धर्म है उसका निषेध करके अपने स्वरूपंका ज्ञान प्राप्त करो और देखो तुम कौन हो।

अब यमराज कहते हैं कि यह जो प्रश्न करनेवाला है, क्या यह सचुमुच इस आत्म-ज्ञानके उपदेशका अधिकारी है? इसलिए ये गुरुजी बोलते हैं कि क्यों बेटा! क्या तुम सचमुच तत्त्वज्ञान प्राप्त करना चाहते हो? क्योंकि जो वस्तु निष्प्रयोजन होती है बिलकुल स्पष्ट होती है उसके सम्बन्धमें प्रश्न करनेकी जरूरत नहीं होती। जैसे कि यह घड़ी है—यदि वह आपको दिखती है और फिर आप पूछें कि यह घड़ी है क्या? तो क्या यह प्रश्न उचित है? एक बात और है—एकने आकर पूछा—स्वामीजी जग गये क्या? आप कल्पना करो कि हम उसको यह जवाब दें कि नहीं-नहीं, अभी नहीं जगे हैं। तो क्या वह हमारी बात मानेगा? नहीं मानेगा। क्या उसको शङ्का होगी? नहीं होगी। वह बोलेगा कि आप बोलकर बिलकुल साफ-साफ हमारे प्रश्नका उत्तर दे रहे हैं तो आप सोते नहीं जगे हैं। उसको संशय नहीं होगा कि हम नींदमें जवाब दे रहे हैं। तो जो बात बिलकुल साफ-साफ होती है उसमें संशय नहीं होता, वह तो सबको एक तरहकी भासती है।

अच्छा, अब कोई-कोई ऐसे पूछ देते हैं कि कौएके कितने दाँत हैं, आपको मालूम है? बोले भाई, कौएके कितने दाँत यह जानकर क्या करेंगे? तो बोले कि हमको जाननेसे कोई मतलब नहीं है, बस यों ही जानना चाहते हैं। फिर बोले—इस मकानमें कितनी खिड़कियाँ हैं? 'यह बुद्धिकी बेकारीका सबूत है। माने जहाँ विस्पष्ट वस्तुके बारेमें भी प्रश्न होवे और निष्प्रयोजन प्रश्न होवे—जिसमें अभ्युदयकी सिद्धि न होती हो वह प्रश्न बेकार है।

बोले—पर यह तो आत्म-ज्ञानके बारेमें प्रश्न है! अपने आत्माकी स्वतन्त्रताको यदि हम जान जायें तो दुनियाको उलट सकते हैं और यदि इसकी ईश-परतन्त्रताको जान जायें तो हजारों विक्षेपसे बच सकते हैं—इसलिए यह जानना आवश्यक है कि आत्मा स्वतन्त्र है कि परतन्त्र है। यदि हम यह जान जायें कि यह आत्मा ईश्वरकी मुट्ठीमें है, ईश्वरके हाथका खिलौना है तब तो मजा ही आ जाये, फिर तो खेलो जैसे तुम्हारी मौज हो, है न! अपनेको कोई फिकर ही नहीं। और यदि यह मालूम हो जाये कि हम बिलकुल स्वतंत्र हैं, तब तो बड़ा आनन्द आवे, फिर तो हमारे बराबर कोई शाहंशाह नहीं,कोई बादशाह नहीं। यह मालूम

पड़ जाये कि यह मरता कभी नहीं है तो मौतका डर मिट जाये। यह मालूम पड़ जाये कि यह सुषुप्तिकालमें भी बेवकूफ नहीं होता, प्रलयकालमें भी मूर्च्छित नहीं होता, यह तो ज्ञान-स्वरूप है तो अज्ञानका डर मिट जाये। यह मालूम हो जाये कि दुःख तो कभी इसको छूता ही नहीं! यह दुःखीपनेमें भी जब रोता है न, तब भी अपनी मौजमें ही रहता है। वह रोता भी है तो उसमें भी कहीं-न-कहीं उसका अपना मजा रहता है—दिखना चाहता है कि हम कितने प्रेमी हैं। बादमें खुश होता है कि हम कैसा रोये। कई लोग तो रो-रोकरं आते हैं। बोलते हैं आज सिनेमामें वो आँसू आये हैं, वह मजा आया है कि बस; और कई लोग जो मातमपुर्सी करनेके लिए जाते हैं—कोई मर जाता है तो उसके यहाँ जाते हैं, तो लौटकर बताते हैं कि महाराज आपको क्या बताऊँ, इतना बड़ा आदमी तो मर गया और वहाँ मैंने देखा लोग हँस-हँस कर बातें कर रहे थे, किसीकी आँखमें आँसू नहीं था, और मैं जो गया तो मेरी आँखसे झर-झर आँसू झर रहे थे! अपने रोनेकी बादमें तारीफ करता है; वह रोनेका मजा लेकर आता है।

तो अपने स्वरूपमें आनन्द नहीं है, अपने स्वरूपमें ज्ञान नहीं है, अपने स्वरूपमें अनन्त जीवन नहीं है—इस प्रकारकी कल्पना करके सब लोग दुःखी हो रहे हैं! तुम्हारा जीवन अनन्त है, उसमें न जन्म है न मरण है; और तुम्हारा ज्ञान? कितनी यथार्थ वस्तुएँ सामने आती हैं और चली जाती हैं, कितनी मिथ्या वस्तुएँ सामने आती हैं और चली जाती हैं और तुम्हारा ज्ञान सूर्यके समान प्रकाशमान रहता है! तुम आनन्द-स्वरूप हो-कितने दुःख की घड़ीयाँ आयीं और कितनी सुखकी घड़िया आयीं और चली गयीं, टिकी नहीं। तुम तो उनका मजा लेनेवाले हो।

आपको सुनाया होगा—यह जो हिन्दुस्तान-पाकिस्तानका परसाल झगड़ा हुआ था न, तो यहाँ बम्बईमें घायल होकर आफिसर लोग आये थे—कोई कैप्टन था, कोई कर्नल था। किसीके पेटमें गोली लगी थी, किसीका पाँव कट गया था, किसीका हाथ टूट गया था तो हमको ले गये अस्पतालमें उनसे मिलाने को। एक मेजरसे हमारी बात हुई, उसको बड़ी प्रबल चोट आयी थी। मैंने उससे कहा—देखो वर्ष-छः महीनेमें तुम्हारा यह घाव अच्छा हो जायेगा और उसके बाद जब तुम गाँव जाओगे और वहाँ जाकर लोगोंसे कहोगे कि कैसे मैंने दुश्मनका टैंक अपने हाथसे गोला फेंक कर तोड़ा और हमारे गोली लगी तब भी मैंने यह किया, वह किया और हमें दुःख हुआ तो हमने ऐसे सहा। तुम अपनी बहादुरीके ऐसे

संस्मरण लोगोंको सुनावोगे कि सुन-सुनकर लोग भी खुश होंगे और तुमको सुनानेमें भी बड़ा आनन्द आवेगा। तुम्हारे जीवनका तो इतिहास स्वर्णाक्षरोंमें लिखा गया और मरनेके बाद नहीं, जिन्दगीमें ही सब लोग तुम्हारी तारीफ करेंगे और तुम सुन-सुन कर खुश होओगे। अब वह मेजर अच्छा हो गया है। ऐसी उसकी चिट्ठी आयी है और उसने यह भी लिखा है कि मैं वैसे ही सब सुनाता हूँ और मुझको बड़ा मजा आता है।

तो, यह जो लोग दुःख-दुःख-दुःख करते हैं न, तो वह सचमुच जीवनका सत्य नहीं है। यह मूर्च्छित होना, बेवकूफ होना, जड़ होना—यह जीवन का सत्य नहीं है। यह जन्मना-मरना, यह जीवनका सत्य नहीं है। अपना जो अनन्त जीवन है। सच्चा जीवन है वह तो इस बाहरी जीवनके भीतर ऐसे मजेदार ढंगसे चल रहा है, लेकिन लोगोंकी नजर उधर जाती नहीं।

देखो, आत्मज्ञान एक सच्चाईका ज्ञान है लेकिन यह सबको मालूम नहीं है कि आत्मा नित्य है कि अनित्य; आत्मा सत्य है कि असत्य। इसलिए यह ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। क्योंकि यदि तुम यह ज्ञान प्राप्त कर लोगे तो तुमको निःश्रेयस्‌की प्राप्ति होगी। सुख, दुःख, अभिमान सबसे छुट्टी! कोई चींटी मर गयी तो रोते हैं कि हाय-हाय हमसे तो चींटी मर गयी; और कहीं एक पेड़का पौधा लगा आये- हमको भी कई जगह पौधा लगाना पड़ता है—तब अपनी तारीफ करते हैं कि अमुक बगीचेमें हमारे लगाये हुए पेड़ हैं। सेवा कुंजमें हमारे लगाये हुए भी पेड़ हैं। छोटी-छोटी बातको लेकरके हम अपने मनमें कितने दुःखी और खुश होते हैं। तो, यह छोटी बातसे अभिमान आना और छोटी-बातसे दिन-भरमें पच्चीस बार दुःखमें मरना-आत्मज्ञान होनेपर यह सब नहीं रहता। बोले—कि देखो, हम जा रहे थे तो उन्होंने आँख टेढ़ी करके हमारी ओर क्यों देखा? मिर्जापुरमें दो जनोंमें लड़ाई हुई कि तुमने हमको देखकर अपनी मूँछ क्यों ऐंठी? लाठी चल गयी, सिर फूट गये। दूसरे भले मानुषके पास गये तो वे बोले कि बाबा हमारे तो मूँछ है ही नहीं, नहीं तो हम भी ऐंठ करके दिखा देते। तुम्हारे हैं तो चाहे ऐंठो, चाहे मत ऐंठो।

तो नारायण, ये जो छोटी-छोटी बातें हमारे चित्तपर असर डालती हैं—वह अपनी आत्माकी महत्ता, उसकी विशालता, उसकी चेतनता, उसकी ईश्वरता, उसकी अद्वयताको न जाननेके कारण हैं। ईश्वरने कितनी सृष्टि देखी हैं कितने प्रलय देखे हैं आप गिन करके बता नहीं सकते हैं, उसी ईश्वरके साथ आप एक

हैं; उसकी आत्मा और आपकी आत्मा एक है; आपके लिए सृष्टि और प्रलयका क्या महत्त्व है? जैसे ईश्वरके लिए सृष्टि और प्रलयका क्या महत्त्व है? जैसे ईश्वरके लिए सृष्टि होना और प्रलय होना, जन्मना और मरना, सोना और जागना, जानना और न जानना, जड़ता और चैतन्यता, इसका कोई महत्त्व नहीं है सचमुच ऐसे ही आपके लिए भी इसका कोई महत्त्व नहीं है। तो, यह तो सप्रयोजन है अपने आत्माके स्वरूपका ज्ञान; इससे नि:श्रेयसकी सिद्धि होती है!

तो, यमराजने कहा कि देखें जरा बेटेके मनमें कितनी तीव्र इच्छा है। आप भी अपने मनसे पूछो न कि इस आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए आप क्या-क्या छोड़ सकते हो, कहाँ-कहाँसे मुहँ मोड़ सकते हो ? बोले कि नचिकेता—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुज्ञेयमणुरेष धर्मः।
अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा मोपरोत्सीरति मा सृजैनम्॥ २१॥

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा—कि बेटा पहले जमानेमें देवताओंने भी बड़ी भारी जिज्ञासा इस आत्माके सम्बन्धमें की है। **विचिकित्सितं पुरा**—खोज की है, अनुसन्धान किया है इस आत्माके सम्बन्धमें। पूछा—जान लिया देवताओंने? कि नहीं, 'न हि सुज्ञेयम्'—देवताओंको भी इसका पता नहीं लगा।

अब आप देखो, एक तो पौराणिक विश्वासके अनुसार देवता होते हैं। देवताओंके अनेक-रूप होते हैं—आधिदैविक देवता, आधिभौतिक देवता और आध्यात्मिक देवता।

आधादैविक कौन हैं? स्वामी दयानन्दजीने देवता शब्दका अर्थ विद्वान् किया 'विद्वांसो हि देवाः'। बड़े-बड़े पण्डित लोग आत्माको खोजनेके लिए चले तो एकने कहा कि आत्मा नामकी कोई चीज शरीरमें नहीं है—आप जानते हैं, उसका नाम चार्वाक है। चार्वाकका कहना है कि आत्मा नामकी कोई चीज नहीं है, वह थोड़े दिनके लिए पैदा होती है और फिर मिट जाती है—बस, यही इसका जीवन है।

ईसाई-मुसलमान धर्ममें ऐसा बोलते हैं कि खुदाने आत्माको पैदा किया और फिर वह ईश्वरकी इच्छाके अनुसार— उनके यहाँ ईश्वरकी इच्छाकी प्रधानता है, कर्मकी प्रधानता नहीं है—ईश्वर बिलकुल स्वतन्त्र है—किसी आत्माको बहिश्त (स्वर्ग या दिव्य लोक)की प्राप्ति होती है और किसीको दोजख (नरक)की प्राप्ति होती है, परन्तु, एक बार आत्मा उत्पन्न होनेके बाद फिर हमेशा रहता है, भले ही वह इस लोकमें न रहे, स्वर्गमें रहे, नरकमें रहे—पैदा होनेके बाद

आत्मा मरता नहीं— पैदा तो होता है परन्तु मरता नहीं। बौद्धोंने कहा—आत्मा पैदा तो नहीं होता, हमेशासे है, लेकिन ज्ञान होनेपर आत्मा मर जाता है।

देखो—आपको तीन बात बतायीं—

१. आत्मा पैदा भी होता है, मरता भी है। (चार्वाक)

२. आत्मा पैदा तो होता है लेकिन मरता नहीं है। (ईसाई, मुसलमान)

३. आत्मा पैदा तो नहीं हुआ है लेकिन मर जाता है। (बौद्ध)

जैन लोगोंमें ऐसा मानते हैं कि न तो आत्मा पैदा हुआ है और न इसका आत्यन्तिक नाश होता है, लेकिन यह शरीरके हिसाबसे बढ़ता-घटता रहता है, हाथीके शरीरमें हाथी और चींटीके शरीरमें चींटी।

नैयायिक और वैशेषिक मानते हैं कि आत्मा कर्त्ता-भोक्ता प्रत्येक शरीरमें अलग-अलग है; यह न जन्मता है और न मरता है, यह अनादि है और अनन्त है। इसके लौकिक जन्म-मृत्यु तो होते हैं लेकिन आदिमें कभी पैदा नहीं हुआ है और इसका कहीं अन्त नहीं है।

सांख्य और योग मानते हैं कि आत्मा कर्त्ता तो नहीं है परन्तु भोक्ता है क्योंकि द्रष्टा होना ही भोक्ता होना है। परन्तु आत्मा अनेक है।

वैष्णव, शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर—सब उपासक मानते हैं कि आत्मा प्रति शरीर अलग-अलग है और ये एक नियोज्य ईश्वरके अधीन कर्त्ता भी है और ईश्वरके अधीन भोक्ता भी है; आत्मा परतन्त्र है और ईश्वर स्वतन्त्र है जो इसका संचालन करता है—उनको किसी लोकमें रखे, नरकमें रखे, स्वर्गमें रक्खे, अपने साथ लेकर पैदा हो—सब कर्मके अनुसार होता है।

यह अद्वैत वेदान्त जो है यह प्रत्यक् चैतन्य (आत्मा)का स्वरूप बिलकुल विलक्षण बताता है। वह क्या बताता है कि कारणकी जो आत्मा है, कार्यकी वही आत्मा है, जैसे समूची धरतीमें जो आकाश है एक कणमें भी वही आकाश है, अथवा जैसे समूची विश्व-सृष्टिको जो चैतन्य देख रहा है, वही व्यष्टि-सृष्टिको देख रहा है। पूरे सपनेको जो देख रहा है वही स्वप्नमें एक व्यक्तिके संसारको भी देख रहा है। देश-काल-वस्तुके द्रष्टा, देश-काल-वस्तुके प्रकाशक, देश-काल-वस्तुके अधिष्ठान स्वयं प्रकाश स्वरूपभूत चैतन्यमें दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं।

विचिकित्सितम्में 'वि' चिकित्सतम्को विशेष बनाता है। चिकित्स्य माने दवा करना। तो ये जो पंडित लोग खुर्दबीन लेकर लेबोरेटरीमें आत्माबटी बनानेकी कोशिशमें हैं—आत्माका अमृत-रस बनाकरके शीशीमें भरकर बेचनेकी

कोशिशमें हैं कि जब आदमी मरे और जब आत्मा वह शरीरमें-से निकले तो शरीरको आत्म-रससे भर देंगे अथवा एक इञ्जेक्शन आत्माका लगावेंगे और एक बटी खिलावेंगे, तो मनुष्य जीवित रह जायेगा, परन्तु ऐसा हुआ नहीं, ऐसा हो सकता नहीं। पहले भी इसके लिए विद्वानोंने बड़ा अनुसन्धान किया था।

अब इसका दूसरा अर्थ देखो—देवता माने इन्द्रादिक देवता। यदि इन्द्र चाहें, वरुण चाहें, कुबेर चाहें और जिसको भी हमलोग स्वर्गमें देवता मानते हैं वे चाहें कि आवो हम आत्माको देख लें, तो वे भी आत्माको देख नहीं सकते, क्योंकि वे तो भोग-प्रधान व्यक्ति हैं न, उनको तो अप्सरा चाहिए, विमान चाहिए, उद्यान चाहिए। वे तो सब भोगमें लगे हुए हैं। वे कहते हैं कि आत्माको जानकर क्या करेंगे। माने भोगाधिक्यके कारण उनके मनमें जिज्ञासा नहीं होती। और जो दैत्य हैं उनको द्वेषाधिक्यके कारण जिज्ञासा नहीं होती। द्वेष ज्यादा है उनके चित्तमें। और जो मनुष्य है उसको संग्रहाधिक्यके कारण जिज्ञासा नहीं होती; यह इकट्ठा करें, यह इकट्ठा करें, यह इकट्ठा करें-यह पट्ठा खुद भूखा रहता है और अगली पीढ़ीके लिए इकट्ठा करता है—मनुष्यका सबसे बड़ा दोष लोभ ही है!-मनुष्यमें अगली पीढ़ीके लिए इतनी फिकर कि तुम समझते हो कि तुम्हारा जो बेटा होगा वह निकम्मा होगा, उसके प्रारब्ध नहीं होगा और वह कमाई नहीं करेगा? तो तुम काहे को सौ वर्षका इन्तजाम करते हो? अरे भाई बीस वर्ष बाद तुम्हारा बेटा कमाने लगेगा, सब काम कर लेगा, तुम अभी तो पेट भर खाओ, अच्छा पहनो, अपने चित्तको स्वस्थ रखो। तो मनुष्य जो है वह संग्रहाधिक्यके कारण तत्त्वज्ञानसे वंचित हो जाता है। तो 'देवैरत्रापि विचिकित्सितं'—भोगसे गये देवता, द्वेषसे गये दैत्य और संग्रहसे गया मनुष्य।

अब देखो, देवता माने इन्द्रियाँ। आओ, आत्माको इन्द्रियोंसे ढूँढें! तो क्या सूर्यकी रोशनीमें आत्मा दिखेगा कि अग्निकी रोशनीमें आत्मा दिखेगा कि चन्द्रमाकी रोशनीमें आत्मा दिखेगा? कि नहीं!

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ (गीता १५.६)

आत्माका क्या स्वरूप है कि वह सूर्यकी रोशनीमें माने आँखसे नहीं दिखता है; वह चन्द्रमाकी रोशनीमें माने मनसे नहीं दिखता है अर्थात् ध्यानसे नहीं दिखता।

एक आदमी एकान्तमें ध्यान करने लगा। बड़ा आदमी नाम काहे को लें

उसका? अब महाराज वह एकान्तमें बीसों वर्ष बैठा; उसको अपने एकान्त सेवनका और तपका ऐसा अभिमान हो गया कि वह सद्गुरुके पास भी नहीं जाता था क्योंकि उसमें तो अभिमान छोड़ना पड़ता है, और जो-जो उसको मनोराज्य होवे उसको वह ईश्वरका इलहाम समझे, ईश्वरका आदेश समझे, बोले कि यह ईश्वरकी प्रेरणा आयी! उसका मन एक शक्ल बना दे तो बोले कि यह ईश्वर आ गया, उसका मन एक बात बोल दे तो कहे कि यह ईश्वरकी आज्ञा आ गयी! बोले—जहाँ वेद नहीं पहुँचे थे वहाँ हम; जहाँ कृष्ण नहीं पहुँचे थे वहाँ हम; जहाँ राम नहीं पहुँचे थे वहाँ हम; जो पतञ्जलि और कपिलको नहीं सूझा वह हम; जो शङ्कराचार्यको नहीं सूझा वह हम! यह महाराज यह हम-हम जो है न वह अहंकार है। गुरु-ग्रन्थसाहबमें एक जगह आया है कि जो मालिकके हुक्मको समझता है वह-**हौं मैं कहे न कोई**—उसके मनमें अहंकी जागृति नहीं होती है, अहं नहीं आता है; परमात्माको जो जानता है उसमें अहं नहीं आता है।

तो बोले देखो—मनसे, ध्यानसे जो चीज बनायी जाती है उसमें अपनी वासना होती है, उसमें अपनी प्रियता होती है। तो ध्यानमें अपनी वासना और प्रियता है और इन्द्रियोंमें असामर्थ्य है और देवता लोग इन्द्रियोंके द्वारा ही दिखा सकते हैं बोले—अच्छा, बोल कर बतावेंगे! **देवैरत्रापि विचिकित्सितं**—अग्नि देवताने भी वाणीके द्वारा बोलनेकी बहुत कोशिश की परन्तु बोल नहीं पाये। तब फिर आखिर है क्या?

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥

(गीता १५.१२)

सूर्यमें रोशनी कहाँसे आती है, चन्द्रमामें रोशनी कहाँसे आती है, अग्निमें रोशनी कहाँसे आती है? माने हमारी आँख कैसे देखती है, हमारा मन कैसे सोचता है, हमारी जीभ कैसे बोलती है—इस आध्यात्मिक ज्योतिका पता लगाओ तब परमात्माकी प्राप्ति होगी। तो यह देवता जो हैं—सूर्य-चन्द्रमा-अग्नि आदि ये भी हार गये और इन्द्र, वरुण, कुबेर आदि जो हैं ये भी हार गये और ये आँख, कान, नाक जीभ, मन आदि जो शरीरमें हैं ये भी हार गये परन्तु **न हि सुज्ञेयम्**—पता नहीं लगा।

हमारे गाँवमें अनन्तचतुर्दशीका व्रत करते हैं। उसमें चौदह गाँठ लगाकर एक सूत बनाते हैं। हमको वह गाँठ लगाना आता है, सैकड़ों-अनन्तोंमें हमने वे

गाँठें लगायी हैं और फिर गाँठ लगे सूतकी पूजा करते हैं। बादमें जो घरमें सोनेका या चाँदीका, ताँबेका जो अनन्त होता है उसमें भी चौदह गाँठें लगायी जाती हैं और फिर उसकी पूजा करके उसे दूधमें डाल देते हैं। उसके बाद एक आदमी उसमें हाथ डालकर उस अनन्तको ढूँढ़ता है। तो पूछते हैं—का ढूँढेला? क्या ढूँढते हो? बोले—अनन्त ढूँढते हैं। कि पवला?—माने मिल गया? बोले—नहीं।

वह अनन्त क्षीर सागरमें नहीं है भला, वह तमसके समुद्रमें नहीं है, वह रजसके समुद्रमें नहीं है, वह सत्यके समुद्रमें नहीं है, वह दूधके समुद्रमें नहीं है—उलटे उसमें ही ये सब समुद्र अपनी सत्ता छोड़ देते हैं! इनका समुद्रेक और इनकी शान्ति—इनका ज्वार और इनका भाटा सब बन्द हो जाता है—ऐसा है वह समुद्र! **अणुरेष धर्मः।**

न हि सुज्ञेयम्—आत्मा सुज्ञेय नहीं है, क्योंकि बहुत सूक्ष्म है। **एष धर्मः आत्मा अणुः।** यहाँ आत्माका नाम धर्म है। बौद्ध-धर्ममें आत्माको धर्म बोलते हैं। और गौड़पाद कारिकाके चौथे प्रकरण 'अलात शान्ति' में भी आत्माके लिए धर्म शब्दका बहुत प्रयोग है। तो कई लोगोंने कहा कि गौड़पादाचार्यजीने बौद्ध-धर्मसे लेकर आत्माको धर्म कहा। लेकिन यह तो कठोपनिषद्में भी आत्माको धर्म कहा हुआ है—अणुरेष धर्मः—शङ्कराचार्य महाराजने इसका यही भाष्य किया है—**आत्माख्यो धर्मः**=आत्मा नामक धर्म। अब यह कठोपनिषद् तो बुद्धसे बहुत पहलेका है—यह तो तैत्तीरियारण्यकमें भी है और काठकारण्यकमें भी है और यह कृष्ण-यजुर्वेदकी एक खास संहिता है। तो ये चारों वेद बुद्धके समयमें पहले से ही मौजूद थे। इसलिए यही कहना ठीक है कि आत्माके लिए धर्म शब्द बुद्ध-साहित्य और माण्डूक्यकारिका दोनोंमें उपनिषद्से ही लिया गया है।

तो आत्माको बोलते हैं धर्म। क्योंकि धारणात् धारण करनेके कारण। देखो जब रोटी लेकरके हाथ चलता है या चम्मच हाथमें लेकर जब हम भोजन मुँहमें डालने लगते हैं तब यह मुँहमें ही क्यों डालता है? जब हमको पानी पीना होता है तब कानमें पानी क्यों नहीं डालते हैं, मुँहमें ही क्यों डालते हैं? ऐसे डाक्टर लोग तो नाकसे भी खिला-पिला देते हैं, वह तो नससे भी पिला देते हैं, पर आप विचार करो कि खून ठीक-ठीक नाड़ियोंमें क्यों चलता है? यह जो शरीरकी एक क्रिया दूसरी क्रियाकी पूरक क्यों होती है? पाँव फिसले तो हाथ तुरन्त टेक दे, सहारा ले ले; और आँखमें कोई मच्छर पड़नेवाला हो तो हाथ जाकर उसको तुरन्त उड़ा दे और सोते समय भी ऐसा होता है, नींदमें भी ऐसा होता है, अनजानमें भी हाथ काम

करता है। तो यह शरीरकी व्यवस्थाका धारण करनेवाला कौन है? बोले सबके शरीरमें एक-एकः-मैं-मैं है-इसीको आत्मा बोलते हैं; और इसकी उपस्थितिमें शरीरकी व्यवस्था दूसरे ढंगकी होती है, इसकी अनुपस्थितिमें शरीरकी व्यवस्था दूसरे ढंगकी हो जाती है जिसकी अनुपस्थितिमें रक्त पानी हो जाता है, शरीरमें दुर्गन्ध आने लगती है। बोले—यह तो एक प्रकारकी चेतना है! कि ठीक है! सब शरीरोंमें अलग-अलग, चींटीके शरीरमें अलग और मनुष्यके शरीरमें अलग, पशुके शरीरमें अलग और पक्षीके शरीरमें अलग! परन्तु इस चेतनाका जो तात्त्विक-रूप है वह सारी सृष्टिमें एक है भला। बोले सारी सृष्टिमें ही नहीं, जहाँ सृष्टि नहीं है वहाँ भी उसका रूप यही है; क्योंकि सृष्टि नाम-रूपके भाव और अभावके अनुभवका प्रकाशक यही है। बोले—सृष्टिके 'हाँ' और 'ना' में इन दोनोंके अनुभवके अनुकूल जो शक्ति है उस शक्तिसे जो पूर्णमें, अद्वय तत्त्वमें अवच्छिन्नता है, उस अवच्छिन्नतासे भी अनवच्छिन्न जो तत्त्व है उसको प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्म बोलते हैं। वही आत्मा है। **अणुरेष धर्मः**—यह प्रत्यक्तमधर्म, यह आत्मा बड़ा सूक्ष्म है इसलिए इन्द्रियोंके द्वारा या सूर्यकी रोशनीमें या ब्रह्मा-इन्द्रादिके द्वारा यह जानने योग्य नहीं है। कि तब?

अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व—हे नचिकेता तुम दूसरा वर माँग लो।

मा मोपरोत्सीः एनम् मा अति सृज—मुझे तुम घेरेमें मत डालो, मुझे तुम बाँधो मत, रोको मत कि तुमने तीसरा वर देनेको कहा था और अब जब मैंने जो माँगा है सो तुमको देना पड़ेगा—जैसे कर्जदारको कर्ज देनेवाला चारो ओरसे घेर लेता है कि तुम्हें हमारा कर्ज चुकाना पड़ेगा वैसे तुम हमको मत घेरो—**ऐनं वरं मा माम् प्रति अतिसृज**—अब इस वर को तुम मेरे लिए छोड़ दो, मेरे लिए इस वरका परित्याग करो, यह तीसरा वर देने योग्य नहीं है।

नचिकेताने कहा कि बस-बस, अब तो बिलकुल पक्की बात हो गयी कि आप ही यह वर दे सकते हैं और आपके सिवाय दूसरा कोई यह वर नहीं दे सकता। तो अब आपको यह वर देना ही पड़ेगा।

❖

नचिकेताकी दृढ़ता

(अध्याय—१ वल्ली—१ मन्त्र-२२)

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल
त्वं च मृत्यो यन्न सुज्ञेयमात्थ।
वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो
नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्॥ १.१.२२

अर्थ :—नचिकेता बोला—हे मृत्यु! आपने अभी कहा कि इस आत्मज्ञानके विषयमें निश्चय ही देवताओंको भी संशय हुआ था और यह कि आत्मा जाननेमें सुगम नहीं है। ऐसे कठिन विषयका वक्ता आपसे दूसरा कोई ढूँढे भी नहीं मिल सकता। अतः इस आत्मविद्याके समान मेरे लिए कोई दूसरा वर नहीं हो सकता।

नचिकेतासे यमराजने एक बात तो यह कही कि वह आत्मविज्ञान बड़े-बड़े देवताओंको भी नहीं होता, वे भी अनादिकालसे इसके सम्बन्धमें जिज्ञासा रखते हैं। दूसरी बात यह बतायी कि यह आत्मा बहुत अणु है, बहुत सूक्ष्म है। इसलिए हे नचिकेता! तुम दूसरा वर माँग लो और जैसे कोई ऋण देनेवाला अपने ऋणीको बाध्य करता है कि तुम हमारा ऋण चुकाओ, वैसे ही मैं तो तुम्हें वर दे चुका हूँ, तुम्हारा ऋणी हूँ, मेरे ऊपर दबाव मत डालो कि मेरे इस प्रश्नका उत्तर दो, मेरे प्रति 'ऐनम् अतिसृज'—छोड़ दो इस माँगको।

इसपर नचिकेता बोलते हैं—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल—निश्चय ही बड़े-बड़े देवताओंको भी आत्माके सम्बन्धमें विचिकित्सा है, प्रश्न है, जिज्ञासा है—वे भी इसका निर्णय नहीं जानते हैं। उपनिषद्‌में विचिकित्सा शब्द संशयके अर्थमें, प्रश्नके अर्थमें, जिज्ञासाके अर्थमें आता है। जैसे एक चिकित्सक जब रोगीकी चिकित्सा करता है तो रोगके लक्षण क्या हैं और रोगका कारण क्या है और आगे रोग क्या रूप ग्रहण कर सकता है और रोगका परिणाम क्या है और इसकी शान्ति कैसे होगी—इन सब बातोंपर

वह विचार करके रोग और उसकी शान्तिके लिए योग और प्रयोग—दोनोंका निश्चय करता है। इसी प्रकार यह जो अध्यात्म ज्ञान है इसकी जिज्ञासा पहले तो जाग्रत ही किसी-किसीके हृदयमें होती है, क्योंकि लोग तो चाहते हैं भोग—और हमको ही नहीं, हमारे बेटे, नाती-पोतेको भी भोग मिलें, उसके लिए हमारे पास बहुत बड़ा मकान हो, बहुत बड़ा धन हो, बहुत बड़ा परिवार हो। लोग आँखसे दीखने वाली वस्तुको चाहते हैं, इस सूक्ष्म वस्तुको चाहने वाले तो बहुत थोड़े होते हैं। उनकी आँखको मजा आवे, नाकको मजा आवे, कानको मजा आवे, जीभको मजा आवे—अपने दिलको अपनी वासनाके अनुरूप वस्तु मिले—जो हम चाहते हैं बस वही मिले, इसमें संसारके लोग फँसे हुए हैं। जो सबके भीतर गुफामें छिपी हुई वस्तु है उसको कौन चाहता है?

तो—**देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल**—हमारी किसी भी इन्द्रियको इसके बारेमें ठीक-ठीक ज्ञान नहीं है! यह तो कहती हैं कि हमें भीतरसे प्रकाश देनेवाला कोई है, परन्तु वह कौन है यह इन्द्रियाँ नहीं बता सकतीं। सूर्यमें, चन्द्रमामें, अग्निमें भीतरसे प्रकाश देनेवाला है परन्तु वह कौन है यह सूर्य-चन्द्रमा-अग्नि नहीं बता सकते। इसको ब्रह्म भी जो बहिर्मुख हैं, नहीं बता सकते, क्योंकि यह तत्त्व बहिर्मुखताके विपरीत वस्तु है! देशकी सीमा, कालकी सीमा, वस्तुकी सीमा, व्यक्तिकी सीमा, जातिकी सीमा, राष्ट्रकी सीमा!—यह तो महाराज नये-नये कर्त्तव्य रोज पैदा करती रहती हैं—यह सम्हालो, यह सम्हालो, यह बिगड़ा, यह बिगड़ा, परन्तु यह अध्यात्म-ज्ञान जो है यह तो एक शाश्वत समस्याका समाधान है। यह जीवन-मुक्तिका विलक्षण सुख देनेवाला है, यह जो दुनियामें छोटी-छोटी वस्तुओंकी पकड़ है उससे मुक्त करनेवाला है। इसकी चाह तो बहुत थोड़े लोगोंको होती है।

अच्छा भाई, आओ इसीको जानें। तो बोले कि—**त्वं च मृत्यो यन्न सुज्ञेयमात्थ**—जब देवताओंको भी जल्दी नहीं मालूम पड़ता और तुम स्वयं 'मृत्युदेव—यमराज यह कर रहे हो कि यह वस्तु सुज्ञेय नहीं है—इसको जानना बड़ा कठिन है। तो इसको तुम स्वयं नहीं जान सकते, क्योंकि जाननेके जितने औजार हैं वे सब बाहरी चीजोंको ही जाननेके लिए हैं। आँखसे बाहरके रूप ही देख सकते हैं भीतरके नहीं। दूरबीन, खुर्दबीन आँखकी शक्तिको ही बढ़ाते हैं स्वतन्त्र कुछ नहीं दिखा सकते। आँखके पीछे रह कर जो आँखको शक्ति प्रदान कर रहा है उसे आँख या यंत्र कैसे देखेंगे? आत्मा नेत्रका दृश्य नहीं है, नेत्रको

ज्योति जहाँसे मिलती है, उसको नेत्र नहीं देख सकता, कानको ज्योति कहाँसे मिलती है, हृदयको ज्योति कहाँसे मिलती है, सम्पूर्ण विश्व-ब्रह्माण्डको ज्योति कहाँसे मिलती है, अनन्त कोटि ब्रह्माण्डके महाप्रलयको ज्योति कहाँसे मिलती है, उसको प्रकाश कहाँसे मिलता है, उस वस्तुको देखना है। इसलिए उसको जानना सुज्ञेय नहीं है माने बड़ा कठिन है।

यमराज बोले कि—जानना तो कठिन है लेकिन तुम्हारी लगन बहुत बच्छी है, तुम और किसीके पास जाकर जान लेना, बाबा, मुझको छोड़ो। नचिकेताने कहा—वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यः—यह बहुत गम्भीर ज्ञान है और बड़ी सुगमतासे जाननेमें आनेवाला नहीं है इसलिए वक्ता भी सुगमतासे नहीं मिलता है। बोले—जाओ भाई, गली-गलीमें श्रोत्रिय, गली-गलीमें ब्रह्मनिष्ठ, मंचपर बैठे हैं और आत्मज्ञान करानेका ठेका ले रहे हैं! व्याख्यान देना आया, लाउडस्पीकरके सामने बैठे और महामण्डलेश्वर हो गये! हम हँसी उड़ानेके लिए यह बात नहीं कहते हैं—ब्रह्मज्ञान बड़ी दुर्लभ वस्तु है! काशीमें जाते हैं तो वहाँके जो पण्डित हैं—वेदान्ताचार्य एक नहीं कितने ही वाराणसी संस्कृत-विश्वविद्यालयके वेदान्त विभागके अध्यक्ष भी मेरे पास आते हैं और काशी हिन्दू विश्वविद्यालयके जो प्राच्य विद्या विभागमें वेदान्त अध्यक्ष हैं वे भी हमारे पास आते हैं। उपकुलपति—वाइस-चान्सलरकी बात नहीं करता क्योंकि वाइस—चान्सलर तो ऐसे लोग भी बन जाते हैं जो वेदान्त बिलकुल नहीं जानते हैं—उन विद्वानोंसे जब बात होती है तब मालूम पड़ता है कि यह वेदान्त तो जैसे तिलकी ओटमें पहाड़ छिपा हो, ऐसे उन बड़े-बड़े विद्वान्, वे वेदान्ताचार्य, शाङ्करवेदान्तसे डाक्टरेट करके, फिलासफी—दर्शनशास्त्रके आचार्य होकरके वे अपने बारेमें तो कुछ जानते ही नहीं हैं।

छान्दोग्योपनिषद्में नारदजी सनत्कुमारजीसे कहते हैं—'सोऽहं भगवत् शोचामि'—मुझे बहुत दुःख है, शोक है, 'मन्त्रवित् एवाहमस्मि'—मैं केवल वेदोंके मन्त्रोंको जानता हूँ, उनके अर्थ (शब्दार्थ)को जानता हूँ परन्तु मैं आत्मविद् नहीं हूँ। 'श्रुतम् ह्येव भगवद् दृशेभ्यः'—आप सरीखे महापुरुषोंसे मैंने सुना है कि 'तरति शोकम् आत्मवित्'—जो आत्मवेत्ता पुरुष होता है वह शोकसे तर जाता है। जो वेदान्त-शास्त्रका मात्र पण्डित होता है वह वेदान्त महाविद्यालयमें अध्यापक या प्रिंसिपल तो हो सकता है, लेकिन, आत्मवित् नहीं हो सकता है। और जो आत्मवित् महापुरुष होता है उसके लिए प्राध्यापक प्रिंसिपल या वाइस-चांसलर

होना आवश्यक नहीं है, उसके लिए तो 'तरति शोकम् आत्मवित्'—जो आत्मवेत्ता पुरुष होता है वह शोकके परले पार पहुँच जाता हैं। नारदजी कहते हैं कि 'त्वं हि मम् पिता'—तुम हमारे पिता हो, 'तं मां भगवन् शोकस्य पारं तारयतु'—हमको आप शोकके उस पार पहुँचा दीजिये, हमको अक्षर ज्ञान नहीं चाहिए, वाक्य ज्ञान नही चाहिए, हमको मन्त्र-ज्ञान नहीं चाहिए क्योंकि—

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदं अथर्वाङ्गिरसम्।

हमने ऋगवेद पढ़ा, यजुर्वेद पढ़ा, सामदेव पढ़ा, हमने अर्थवाङ्गिरस पढ़ा लेकिन फिर भी मैं शोकसे ग्रस्त हूँ, आप मुझे शोकसे पहले पार ले चलिये। इसीसे श्रुति कहती है—**आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा**—इसका वक्ता आश्चर्यरूप होता है। एक ऐसी बातको वह कहता है जो वाणीसे कही नहीं जा सकती। वह कितना बड़ा कौशल है कि जो अवाच्य पद है, अवाङ्मनसगोचर है, जहाँ वाणीकी पहुँच नहीं, मनकी पहुँ च नहीं—**न विद्मो न विजानीमः**—जिसके लिए श्रुति कहती है कि हम नहीं जानते, हम नहीं जानते—

दूरमथो विदितात् अविदितादधि—जो विदितसे भी दूर है अविदितसे भी दूर है—

'अन्यत्र धर्मात्, अन्यात्राधर्मात् अन्यत्रास्मात् कृताकृतात्'—जो धर्मसे परे है, जो अधर्मसे परे है, जो कर्मसे परे है, जो कर्माभाव माने नैष्कर्म्यसे भी परे है—**अन्यत्र भूतात् च भव्यात् च**—जो भूतसे भी परे है और भव्य माने भविष्यसे भी परे है, उस वस्तुको किसी संकेतसे, किसी इशारेसे अपने शिष्यको समझा सकना, जिस जिज्ञासुको समझा सकना, यह कितने आश्चर्यका समझाना है!

आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा—इसका वक्ता आश्चर्य-रूप है और इसको जो प्राप्त कर लेता है वह भी आश्चर्य-रूप है—दुनियामें दोनों आश्चर्य हैं—वक्ता भी आश्चर्य और लब्धा भी आश्चर्य—

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनं आश्चर्यवद्वदति तथेव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥ (गीता)

एक महात्मा पुस्तक पढ़ रहे थे। किसीने पूछा कि क्या पढ़ रहे हो महात्माजी? बोले—मैं यह पढ़ रहा हूँ कि इसमें मेरी क्या तारीफ लिखी हुई है!

एक महात्मा घास छील रहे थे। राजा गये उनके पास। महाराज, ब्रह्मका स्वरूप बताओ! बोले—उतार दे मुकुट। उतार दिया! बोले—मुकुट था सिरपर तब कौन? कि राजा! मुकुट नहीं तब कौन? बोले—मनुष्य! कि देख मेरे हाथमें

खुरपा। मैं कौन? कि घसियारा! छोड़ दिया खुरपा। अब कौन? कि मनुष्य! मुकुट और खुरपे की उपाधि गयी तो राजा और घसियारा गया, मनुष्य रह गया। बोलो इसका नाम तत्त्वज्ञान है! अन्तःकरणकी उपाधि लेकर बैठ गये तो घसियारे हो गये,मायाकी उपाधि लेकर बैठ गये तो मुकुटधारी महाराजा हो गये। मायाका मुकुट उतार दिया, अविद्याका खुरपा हटा दिया—न जीव, न ईश्वर, दोनोंमें एक अखण्ड-संविद्-मात्र वस्तु! संविद्-मात्रवस्तु,जिसमें दोनों उपाधिके कारण भासते हैं।

यह नेति-नेतिकी प्रक्रिया अद्भुत है। यह भी नहीं, यह भी नहीं, यह भी नहीं! कि भाई, सबको तो नहीं-नहीं कर दिया,जरा अपनेको भी नहीं करो? कि महाराज अपनेको नहीं करते हैं तब भी बच रहते हैं। कि अच्छा! अपनेको नहीं करनेवाले तुम्हीं हो,बच गये? कि हाँ बच गये। कि हाँ बच गये, कि अरे, कालमें मरे तो नहीं? कि नहीं। कि देशमें छोटे तो नहीं पड़े? कि नहीं। कि वस्तुओंमें तुम्हारा कुछ वजन तो नहीं बना? कि बना महाराज। कि बना तो अब उसको भी हटा दो और अब जो शेष बचा सो? बोले—यह नन्हा-मुन्ना नहीं है, यह तो अनन्त-कोटि-ब्राह्माण्डोंकी जो विवर्त-शक्ति है उस विवर्त-शक्तिका अधिष्ठान है—यह तो ब्रह्म है, यह तो अद्वितीय है। यह महाराज निरूपणकी शैली है! **वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यः**—बड़े-बड़े देवताओंके मनमें तो इसके प्रति जिज्ञासा और स्वयं मृत्युदेवता देवाधिदेव कहता है कि यह सुज्ञेय नहीं और तुम्हारे सरीखा ब्रह्मविद्याका उपदेष्टा दूसरा कोई मिलनेवाला नहीं। **अन्विष्यमाणोऽपि**—शङ्कराचार्य भगवान्ने भाष्यमें कहा कि यदि हम हाथमें मशाल लेकरके ढूँढनेके लिए निकलें कि तुम्हारे समान वक्ता मिल जाये तो नहीं मिलेगा!

तो सन्देह है क्यों? बोले—देवताओंको भी तो समझमें नहीं आता, इसलिए संदिग्ध है। आत्माका स्वरूप क्या है? निर्विशेष कि सविशेष; निर्गुण कि सगुण; निराकार कि साकार; सादि कि अनादि; सान्त कि अनन्त; परिपूर्ण कि परिच्छिन्न; मैं और तुमके भेदसे ग्रस्त कि अग्रस्त? और दूसरे आत्माका ज्ञान सप्रयोजन भी है। सप्रयोजन क्या है कि **अयं तु वरो निःश्रेयस् प्राप्तिहेतुः**—इसके जान लेनेसे निःश्रेयस् (मोक्ष) प्रयोजनकी सिद्धि होती है! जिसको जाननेसे कोई प्रयोजन ही सिद्ध न हो उसको जान कर क्या करेंगे।

आपको एक बात सुनायें—हमारे पूर्व-मीमांसाके जो दार्शनिक हैं—बड़े-बड़े पण्डित, बड़े-बड़े विद्वान् जैमिनीने पूर्व-मीमांसाके सूत्र लिखे और सबर

स्वामीने उसपर भाष्य बनाया। सबसे प्राचीन भष्य सबरस्वामीका मिलता है, उस भाष्यपर कुमारिल भट्टका वार्तिक है। बड़ा विस्तार है पूर्व मीमांसाका उसमें जब धर्मका लक्षण बताना हुआ तब पहले तो बड़ा ही शास्त्रार्थ किया कि धर्मका लक्षण ऐसा होना, ऐसा होना, ऐसा होना। अन्तमें सारे लक्षण जैसे छोड़ दिये हों! **चोदना लक्षणोर्थो धर्मः**—इस दूसरे सूत्रके भाष्यमें उन्होंने कहा—**यः यः श्रेयस्करः स स धर्मः**—जो-जो श्रेयस्कर है वह-वह धर्म है। अरे नारायण! अन्तमें धर्मका लक्षण क्या निकला? कि जिसकी श्रेयस्-साधनता निश्चित है उसको धर्म कहते हैं। यदि किसी धर्मसे श्रेयकी कल्याणकी सिद्धि न होती हो, तो उसको धर्म नहीं कहते हैं। अकल्याणकारी धर्म नहीं होता, कल्याणकारी ही धर्म होता है। फिर ब्रह्म-जिज्ञासासे आत्म-विज्ञानसे तो निःश्रेयस्की प्राप्ति होती है।

देखो, यदि अपनेको देह माना तो पूँछ जुड़ी, भला! ऐसा है कि पशुओंके, पक्षियोंके, जो पूँछ होती है वह तो उनके साथ लगी रहती है,दिखती है; परन्तु मनुष्यने अपनेको देह मानकर जो अपने साथ पूँछ जोड़ी है वह आँखसे दिखायी नहीं पड़ती है, वह मनसे दिखायी पड़ती है-भला! कितने लोगोंको घसीटते फिर रहे हो और किनके-किनके साथ घिसटते हुए घूम रहे हो? यह देहके साथ पूँछ जुड़ गयी—अनुबन्ध बोलते हैं इसको भला! साथ बाँधी हुई यह पूँछ है! अपनेको देह माना तो जन्म-मरण लग गया तुम्हारे साथ और अपनेको प्राण माना तो भूख-प्यास लग गयी तुम्हारे साथ; अपनेको इन्द्रियाँ मानी तो संसारके विषयोंकी जरूरत पड़ गयी; अपनेको मन माना तो राग-द्वेष करनेकी जरूरत पड़ गयी। अपनेको बुद्धि माना तो संशयने आकर घेरा और अपनेको कर्त्ता माना तो पापी- पुण्यात्मा बन गये; अपनेको भोक्ता माना तो सुखी-दुःखी बन गये और यह सारा अनर्थ कहाँसे आया कि अपनेको परिच्छिन्न माननेके कारण। तो, इन सम्पूर्ण अनर्थोंकी निवृत्ति कैसे होगी कि जिस अज्ञानके कारण तुमने अपनेको परिच्छिन्न माना है उस अज्ञानकी निवृत्ति होनेसे तुम्हारी पूँछ जो है, जिसके कारण पक्षपात करके, क्रूरता करके पशु होना पड़ता है, वह पूँछ कट जायेगी; जिसके कारण जन्मना-मरना पड़ता है उस देहका तादात्म्य कट जायेगा; जिसके कारण तुम भूख-प्याससे व्याकुल होकर पाप करते हो उस प्राणके साथ तादात्म्य नहीं रहेगा; जिस मनके साथ तादात्म्यापन्न होकरके उधर राग किया,उधर द्वेष किया; जिस बुद्धिके साथ मिलकरके वह भ्रान्त हुए, वह संशय किया; और जिस अज्ञानके कारण अपनेको पापी मानकर रो रहे हो, पुण्यात्मा मानकर अभिमान कर रहे हो; सुखी मानकर

फूल रहे हो ओर दु:खी मानकर पटक रहे हो—ये सारे अनर्थ कर जाते हैं। कब कि अपने आत्माका ज्ञान होनेसे। यह आत्मज्ञान तो बड़ा प्रयोजनवान विषय है, इसको यदि ठीक-ठीक समझ लिया जाये तो जो संसार के दु:ख हैं वे सब-के-सब कट जाते हैं, जिन्दा रहते ही मिट जाते हैं।

धर्मका कहना है कि तुम यहाँ यज्ञ करो और मरनेपर तुमको स्वर्ग मिलेगा, तुम्हारे दु:ख मिट जायेंगे। उपासनाका कहना है कि यहाँ उपासना करो, मरनेके बाद जब इष्टदेवके लोकमें पहुँचोगे तब तुम्हारे दु:ख कट जायेंगे। योग कहता है कि योगसे दु:ख कट तो यहीं जायेंगे लेकिन, समाधि-कालमें कटेंगे व्यवहार-कालमें नहीं कटेंगे, ज्ञान कहता है कि इसी धरतीपर, इसी जिन्दगीमें, इसी परिवारमें, इसी परिस्थितिमें—परिवार बदले बिना, परिस्थिति बदले बिना—इसी शरीरमें रहते हुए, बेहोशीमें नहीं, ऐसे ही होश-हवाशमें रहते हुए, खाते हुए, पीते हुए, चलते हुए, खेलते हुए, स्त्रियोंके बीचमें रहते हुए, अपने हमजोलियोंके बीचमें रहते हुए— नारायण, तुमको वह ज्ञान प्राप्त होगा जिस ज्ञानके बलसे तुम इसी जीवनमें सम्पूर्ण दु:खोंसे मुक्त, सम्पूर्ण पापों-पुण्योंसे मुक्त, जन्म-मरणके चक्करसे मुक्त, अशना या पिपासासे मुक्त हो जाओगे। ऐसी जीवनमुक्ति इसी जीवनमें ऐसा सुख मिलेगा, ऐसा आनन्द मिलेगा, इसमें मरनेके बादकी कोई चर्चा ही नहीं है।

वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यः—तुम्हारा सरीखा वक्ता कोई मिलनेवाला नहीं है। लो आनन्द, लो आनन्द! यह वेदान्त-ज्ञान संसारके सम्पूर्ण धर्मोंसे विलक्षण है। जो लोग इसको गतार्थ मानते हैं, माने यह समझते हैं कि जो धर्म सो वेदान्त, जो उपासना सो वेदान्त, जो योग सो वेदान्त, जो तन्मयता सो वेदान्त, वे लोग वेदान्तके रहस्यको बिलकुल नहीं जानते। वेदान्त वह चीज है जिसमें इन्द्रियोंका सम्प्रयोग किये बिना परमानन्दकी प्राप्ति होती है। देखो, विषय तब सुख देगा जब विषय और इन्द्रियका संयोग होगा। उसमें भी विषय नाशवान है, अपनी रुचिका हो या न हो, और यदि, इन्द्रियोंमें शक्ति न हो तो गया विषय-सुख। और तन्मयता तभीतक सुख देगी जबतक मनमें कोई ढेला न फेंके—भला! नींद न आवे तबतक तन्मयतासे सुख मिलेगा, नहीं तो तन्मयता तो एक कौआके काँव-काँव कर देनेसे ही चली जाये।

गोरखपुरमें एक सज्जन आये, बोले समाधि लगायेंगे। पहले बोले पचहत्तर दिनकी लगावेंगे, फिर बोले कि इक्कीस दिनकी लगावेंगे। गड्ढा खोदा गया,

समाधि बनायी गयी, बैठे, पर तीन दिन बाद ही बड़ी जोर से चिल्लाये—निकालो, निकालो। खोला गया उनको। पूछा—क्या हुआ महाराज, समाधि लगी कि नहीं आपकी? बोले—लग गयी थी, समाधि तो लग गयी थी? कि अच्छा, तो आपकी समाधि टूटी कैसे? बोले कि हमारी नाकमें एक चींटी घुस गयी और चींटीने जाकर ब्रह्माण्डमें काट दिया।

अब चींटी जिस समाधिको तोड़ सकती है वह आत्यन्तिक सुख भला कैसे देगी। हम योगकी हँसी नहीं उड़ाते हैं, लेकिन यदि आपका मन शरीरकी किसी नस-नाड़ीमें ही रहता है तो क्यों नहीं इन्जेक्शन आपको वहाँसे जगायेगा अथवा क्यों नहीं इन्जेक्शन आपको वहाँ सुला देगा? तो वेदान्तका जो परमानन्द है वह योगके सुख से विलक्षण है, तन्मयताके सुखसे विलक्षण है, स्वर्गके सुखसे विलक्षण है, वैकुण्ठके सुखसे विलक्षण है, अभी है, यहीं है। गुड़ खानेमें आनन्द आता है। संसारी पुरुषको विषयका और ब्रह्मज्ञानीको गुड़ खानेमें आनन्द आता है!' ब्रह्मका। गुड़ानन्द ब्रह्मानन्द है। आपलोग पंचदशी कभी पढ़ें, उसमें 'ब्रह्मानन्द विषयानन्द प्रकरणम्' पढ़ें—ब्रह्मानन्दमें विषयानन्द मालूम पड़ेगा। एक बच्चा फूल देखकर ललचा जाता है, उसको आता है आनन्द इन्द्रिय और फूलके संयोगसे और ब्रह्मज्ञानीके लिए आँख भी बाधित है और फूल भी बाधित है, आनन्द काहेका है? बोले—ब्रह्मका।

आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।

यह कोई मामूली बात है कि आपके चित्तपर घरके झगड़ेका कोई असर ही न पड़े; दुश्मनके आक्रमणसे आपका चित्त व्याकुल ही न हो—ऐसे धैर्यसे, स्थिरतासे, गाम्भीर्यसे आप उसका उत्तर देंगे कि वह भी चकित रह जायेगा। यह तो जो लोग व्याकुल हो जाते हैं वे मनोवृत्तिसे तादात्म्यापन्न होकरके व्याकुल हो जाते हैं।

आजकल लोग समझते हैं कि हम बड़े वैज्ञानिक हैं लेकिन महर्षि जैमिनीने एक 'देवता विग्रहाधिकरण'की रचना की है। उसमें यह प्रश्न उठाया गया है कि देवताके शरीर होता है कि नहीं—**देवता विग्रहवती न वा?** उसमें उन्होंने निश्चय कर दिया कि देवताके शरीर होता ही नहीं। आजकल देवताका कोई क्या खण्डन करेगा? शबर स्वामीने ठीक उसका भाष्य किया—देवताके शरीर होता ही नहीं; कुमारिल स्वामीने ठीक उसका निरूपण किया कि देवताके शरीर होता ही नहीं, तो फिर बात क्या है? कि बात यह है कि ईश्वर तो एक ही है और उसमें कोई

स्थूल आकार नहीं है, परन्तु उसमें सम्पूर्ण कार्यके अनुकूल शक्तियाँ रहती हैं। तो जब, जिस कार्यके अनुकूल शक्तिका हम परमात्मामें चिन्तन करते हैं वही शक्ति क्रियाशील होकरके हमारे अन्तःकरणमें आ जाती है—अन्तःकरणसे तादात्म्यापन्न होती है। कर्मशक्तिके अनुकूल विग्रहका जब अवतरण होता है तब उसका नाम इन्द्र होता है, आप-शक्तिके अनुकूल विग्रहका जब अनुकूलन होता है तब उसका नाम वरुण होता है, धन-शक्तिके अनुकूल विग्रहका जब अवतरण होता है, तब उसका नाम कुबेर होता है। एक ही ईश्वर है—**एकं स तं बहुधा कल्पयन्ति, एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति**—सब नामोंमें एक अनामी, सब रूपोंमें एक अरूपी, सब आकारोंमें एक निराकार। और यह संसारकी बात बोल रहा हूँ! भला संसारके आकारोंमें निराकार, संसारके नामोंमें अनाम, संसारके रूपोंमें अरूप, संसारकी सब प्रतीतियोंमें एक अधिष्ठान, संसारके सब अध्यस्तोंमें एक स्वयंप्रकाश आत्मचैतन्य। वह तो कार्यानुकूल तत्-तत्-शक्ति-विशिष्ट ईश्वरका ध्यान करनेसे तत्-तत्-शक्तिको अन्तःकरणमें अवतरण होकरके तादात्म्य होता है और अन्तःकरण होता है तत्-तत्-आकारवाला; अन्तःकरणमें उदय होते हैं इन्द्राकार, वरुणाकार, कुबेराकार, सूर्याकार, अग्न्याकार—और हम कहते हैं कि देवता आया। ये देवता अनतःकरणके परिणाम होते हैं, ईश्वरके परिणम नहीं होते, अन्तःकरणके ध्यानके परिणाम होते हैं और महाराज, वह ध्यानाधिष्ठान, वह ध्यानका प्रकाशक, वह स्वयं प्रकाश, वह अपना आत्मा ब्रह्म है, ज्ञान-स्वरूप है। वेदान्तकी भाषामें मृत्यु देवताको कैसे बोलेंगे निषेधाधिष्ठातृदेवता, नेति-नेतिके द्वारा जो निषेध है उस सर्वाभावका अधिष्ठातृ देवता जो है उसको यमराज बोलते हैं। नेति-नेतिके द्वारा निषेधकर देनेपर वह जो अभावोपलक्षित ब्रह्म है, वह अभावोपलक्षित ब्रह्म अन्तःकरणोपलक्षित ब्रह्मको उपदेश कर रहा है कि अरे बाबा, तू मैं एक। इससे बड़ा उपदेष्टा और कोई नहीं है।

नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित्—इस वरकी बराबरीका दूसरा कोई वर नहीं है। यह बात नचिकेताने दृढ़तापूर्वक कह दी।

यमराजका नचिकेताको प्रलोभन देना

(अध्याय-१ वल्ली-१ मंत्र २३-२५)

यमराजने कहा कि आओ एक बार फिर जरा ठोंके-पीट लें। अरे भाई, दो पैसेका घड़ा खरीदते हैं तो हाथसे ठोंककर उसको देख लेते हैं कि कहीं फूटा तो नहीं है—इसमेंसे पानी बह तो नहीं जायेगा—है न! अब यह चेला-रूप घड़ा जो मिला और इसमें जो ब्रह्मज्ञान अमृत रखना है तो यह भी कहीं फूटा होगा, तो कहीं बह नहीं जाय—यह देख लेना चाहिए। इसका फूटना क्या है? कि ऐन्द्रियक भोगकी आकांक्षा। इसीसे अमृत-क्षरण हो जाता है। तो इस एक बातका विश्वास तो गुरुको होना ही चाहिए, वह शिष्यके वादा करनेसे नहीं होता।

एक चेला आया और आकर दोनों हाथसे पाँव पकड़ लिया और सिर रख दिया और बोला कि महाराज, आप हमारा विश्वास कीजिये। तो मनमें आया कि बेटा तू मेरे ऊपर विश्वास करेगा कि मैं तेरे ऊपर विश्वास करूँगा? फिर बोला कि गुरुजी मैं तुमको कभी नहीं छोड़ूँगा। बोले—बाबा मुझको तेरी इतनी जरूरत नहीं है कि तू मुझको जिन्दगी भर पकड़कर रखे; मैं इतना लोभी नहीं हूँ कि तू जिन्दगी भर मुझे पकड़कर रखे। अरे आज तुम्हारा मन ऐसा है, तुम्हारा वादा ऐसा है, क्या तुम्हें अपनी स्थिरताके सम्बन्धमें कोई स्थिर आधार प्राप्त है? जबतक तुमको स्थिर आधार प्राप्त नहीं होगा, जबतक तुम स्वयं अधिष्ठानसे एक नहीं होओगे, जबतक हम-तुम दोनों एक नहीं हो जायेंगे तबतक छोड़ने-न-छोड़नेका सवाल कहाँ आया? ये दुनियाके वादे सब लौकिक दृष्टिसे होते हैं। प्रोफेसर जो बताता है उसपर विद्यार्थी विश्वास करे कि विद्यार्थी जो बताता है उसपर प्रोफेसर विश्वास करे? यदि तुम ब्रह्म हो तो अडिग हो, यदि तुम ब्रह्म हो तो दृढ़ हो। यदि तुमको यह ज्ञान नहीं हुआ तो? तो यह ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

तो, ठोंकने-पीटनेका अभिप्राय क्या है, यह आपको संक्षेपमें सुना देता हूँ! असलमें ईश्वरको कुछ भी अज्ञात नहीं होता है और ब्रह्म-दृष्टिसे कुछ भी अज्ञात नहीं है, सब परमात्माका स्वरूप है। परीक्षा तो वह लेता है जिसको दूसरेका दिल दीखता नहीं है; अतः ईश्वर किसीकी परीक्षा नहीं लेता है। जब श्रीकृष्णने गोपियोंसे कहा कि तुम लौट जाओ तब श्रीकृष्णका अभिप्राय गोपियोंकी परीक्षा लेनेका नहीं था; गोपियोंके हृदयमें श्रीकृष्णके प्रति कितना प्रेम है, इसको प्रकट कर देनेका था कि दुनिया जाने कि गोपियोंका श्रीकृष्णके साथ कितना प्रेम था, तब तो

श्रीकृष्णने उनके साथ रास किया। गोपियोंके प्रेमको श्रीकृष्ण समझते थे! इसी प्रकार यमराज भी नचिकेताके वैराग्यको जानते थे परन्तु उसे भविष्यके जिज्ञासुओंके लिए प्रकट करना चाहते थे। जिज्ञासुके मुख्य अधिकारकी कसौटी है वैराग्य। क्योंकि यदि संसारकी एक-कण-मात्र वस्तुमें भी राग होवे तो वृत्ति परिच्छिन्नाकार रहेगी, तब वह अपरिच्छिन्न पदार्थके निरूपणको कैसे ग्रहण कर सकेगी? इसीलिए अपरिच्छिन्न पदार्थके निरूपणको ग्रहण करनेके लिए यह आवश्यक है कि वृत्ति परिच्छिन्न पदार्थ-ग्राहिणी न हो। ज्ञानमें इस वैराग्यकी उपयोगिता देखो; इसको कोई संन्यास नामसे बोलते हैं, कोई निवृत्ति नामसे बोलते हैं, कोई नैष्कर्म्य नामसे बोलते हैं, कोई वैराग्य नामसे बोलते हैं।

यदि वृत्ति परिच्छिन्न पदार्थमें ही रुचि रखनेवाली है और वृत्ति यदि परिच्छिन्न-पदार्थ- ग्राहिणी है तो अपरिच्छिन्न पदार्थका ग्रहण कैसे होगा? नारायण! वृत्ति यदि घड़ेको पकड़ ले तो कपड़ा दिखायी नहीं पड़ता! वह सुना नहीं आपने? एक स्त्री अपने यारसे मिलने जा रही थी और मियाँजी पढ़ रहे थे नमाज और लग गया स्त्रीका पाँव। गुस्सेमें आ गये। स्त्री बोली—**नर राची मैं ना लखी**—एक मनुष्यसे मेरा प्रेम है तो मैंने तुमको नहीं देखा और तुम ईश्वरसे प्रेम कर रहे हो और मुझे देख रहे हो? खुदासे प्रेम और नजर खुदी पर? खुदासे प्रेम करो और नजर रखो खुदीपर तो खुदा चपत नहीं मारेगा तुमको? खुदी तो खुदाकी घरवाली होती है न—खुदासे प्रेम करो और उसकी घरवाली पर नजर रखो; मायापर नजर रखो और मायाके अधिष्ठानको जानना चाहो—यह कैसे बनेगा? तो, परिच्छिन्न पदार्थको ग्रहण करनेवाली जो वृत्ति—उससे यह पकड़ा, यह पकड़ा, यह पकड़ा, कि बाबा, इसमें धर्म-अधर्मकी बात नहीं है, चाहे धर्म हो चाहे अधर्म, परिच्छिन्नको पकड़ा तो ब्रह्म छूट गया, भला। इसमें साकार-निराकारकी बात नहीं है, इसमें इष्ट-अनिष्टकी बात नहीं है, वह तो परिच्छिन्नको पकड़नेवाली वृत्ति मैं-के रूपमें पकड़े तो और तुमके रूपमें पकड़े तो—यहके रूपमें, बेटेके रूपमें पकड़े, पत्नीके रूपमें पकड़े, देवताके रूपमें पकड़े मैं-के रूपमें पकड़े—वह वृत्ति जो परिच्छिन्नको पकड़ करके बैठी है—समाधिके रूपमें पकड़े, ध्यानके रूपमें पकड़े, तदाकारताके रूपमें पकड़े—यह प्रश्न ही नहीं है कि किस रूपको पकड़ती है, वह यदि परिच्छिन्नको पकड़कर बैठती है तो अपरिच्छिन्नका प्रकाश कैसे होवेगा? मृत्यु नचिकेताको यही बता रहा है।

देखो, वैराग्य माने किसीसे घृणा करना नहीं है। नोट कर लो—किसीसे घृणा करनेका नाम वैराग्य नहीं है, क्योंकि जिससे घृणा होती है वह परिच्छिन्न होता

है और वह दिलमें आकरके बैठ जाता है, वैराग्य माने ग्लानि नहीं, क्योंकि ग्लानि परिच्छिन्नके विषयमें होती है, कर्ताके विषयमें होती है, अपने विषयमें होती है। घृणा यदि परिच्छिन्न अन्यसे है तो द्वेष होगा, और यदि परिच्छिन्न स्वसे है, तो ग्लानि होगी। ग्लानिका नाम वैराग्य नहीं है, घृणाका नाम वैराग्य नहीं है, द्वेषका नाम वैराग्य नहीं है और रागका नाम वैराग्य नहीं है—वैराग्य नामंकी कोई वृत्ति नहीं होती। वैराग्य माने चित्तकी वह अवस्था जिसके पेटमें कोई चमक न रहा हो—गर्भवती वृत्तिका नाम वैराग्य नहीं है, जिसके गर्भमें कोई होवे सो नहीं—यह तो कुमारी शुद्ध ब्रह्मचारिणी है। वैराग्य-वृत्ति तो बिल्कुल ब्रह्मचारिणी है, गर्भवती नहीं है। ब्रह्मचारिणी माने क्या होता है—ब्रह्मके साथ जो चारिणी हो सो ब्रह्मचारिणी—जो ब्रह्मके सिवाय और किसीके साथ न जुड़े उस वृत्तिका नाम ब्रह्मचारिणी होता है। असलमें वही वैराग्य-वृत्ति है।

इसलिए ठोंकने-पीटनेका अभिप्राय कई होता है— वह आपको सुना देते हैं। ग्लानिका नाम वैराग्य नहीं, घृणाका नाम वैराग्य नहीं, द्वेषका नाम वैराग्य नहीं, वैराग्याकार-वृत्तिका नाम भी वैराग्य नहीं—यह तो राग-द्वेषसे रहित एक साम्य है, साम्य। यह नहीं कि राग नहीं है परन्तु द्वेष है—ऐसा नहीं। वैराग्य माने राग-द्वेष भी जिसमें नहीं है, दोनों नहीं है जिसमें उसका नाम वैराग्य होता है। तो एक बात देखें—क्यों तत्त्वज्ञान देनेमें गुरु लोग इसका विचार करते हैं कि इसकी वृत्ति परिच्छिन्न-पदार्थ-ग्राहिणी है कि नहीं ? बोले—देखो भाई जो कुछ करना हो ज्ञान प्राप्त करनेसे पहले करलो। अपनेको सदाचारी बनाना हो तो ज्ञान पानेके पहले बनाओ, अपनेको भक्त बनाना हो तो ज्ञान पानेके पहले बनानेकी कोशिश कर लो और अपनेको योगी बनाना हो तो ज्ञान पानेके पहले ही योगी बनानेकी कोशिश कर लो और मिनिस्टर-विनिस्टर बनना हो तो वह भी पहले ही बन लो—बादके लिए यह वासना मत रखना कि हम ज्ञानी होकर यह सब बनेंगे। ज्ञानमें तो ऐसा है कि जब सदाचार और दुराचारका साम्य होनेपर भी तुम्हारी वृत्ति स्वभावसे सदाचारिणी होवे; जब उपास्य और अपास्यमें साम्य होनेपर भी तुम्हारी वृत्ति उपास्याकार हो; जब समाधि और विक्षेपमें साम्य होनेपर भी तुम्हारी वृत्ति स्वभावसे समाहित होवे; जब परिच्छिन्न और अपरिच्छिन्न एक होनेपर भी तुम्हारी वृत्ति अपरिच्छिन्न ग्राहिणी हो, तब वह शुद्ध ज्ञानकी अवस्था है। इसमें लाखों लोग वेदान्ती हो जायें—यह कल्पना वेदान्त ज्ञानमें नहीं है; यदि सृष्टिमें—समूचे विश्व-ब्रह्माण्डमें, एक ब्रह्माण्डकी उपस्थितिमें, एक तत्त्वज्ञ भी बना हुआ होवे तो तत्त्वज्ञानकी परम्परा चालू रहती है; लेकिन लोग तो अर्थ चाहते हैं, काम चाहते हैं, धर्म चाहते हैं, चित्तकी स्थिति चाहते हैं, उपासना चाहते

हैं—यह ब्रह्मज्ञान, यह अद्वितीयताका बोध कौन चाहता है ? इसलिए यमराजने कहा कि आओ जरा ठोंक-पीटकर देख लें।

इसलिए अब यमराज बोले—

शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व बहून्पशून्हस्तिहिरण्यमश्वान्।
भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव शरदो यावदिच्छसि॥ १.१.२३

अर्थ :—'अरे नचिकेता—तुमको हम सौ-सौ वर्ष जीनेवाले बेटे और पौत्र देते हैं—माँग लो! बहुत-से पशु, हाथी, सोना और घोड़ा देते हैं—माँग लो! सप्तद्वीपवती पृथ्वीका तुम वरण कर लो और यदि कहो कि अल्पायु होनेपर सब व्यर्थ है, तो स्वयं भी जितने वर्ष जीनेकी इच्छा हो सो माँग लो—हम तुमको इच्छा-मृत्युका वरदान भी देते हैं।'

एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च।
महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि॥ १.१.२४

अर्थ :—'यदि तुम इस ब्रह्मज्ञानकी बराबरीका कोई दूसरा वर मानते हो तो उसे माँग लो—धन माँगो, चिरजीविका माँगो, बड़ी भारी धरतीपर दिनों-दिन बढ़ता हुआ साम्राज्य माँग लो; और भी जो कामना तुम्हारे मनमें होवे वह कामना मैं तुम्हारी पूरी करता हूँ—अर्थात् तुमको इच्छानुसार भोगनेवाला किये देता हूँ।'

ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामा.श्छन्दतः प्रार्थयस्व।
इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशा लभ्यनीया मनुष्यैः।
अभिर्मत्प्रत्ताभिः परिचायस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः॥ १.१.२५

अर्थ :—'मर्त्यलोकमें जो-जो दुर्लभ भोग हैं उन सब भोगोंको तुम अपनी मौजसे माँग लो—मैं तुम्हारी सारी कामना पूरी कर सकता हूँ। लो ये रमणियाँ, लो ये रथ और लो ये बाजे-गाजे इन रमणियोंके साथ—मनुष्योंके लिए ऐसी रमणियाँ दुर्लभ हैं—ये सब स्वर्गलोककी चीजें हैं, हमारी कृपाके बिना इनको मनुष्य अपने पुरुषार्थसे प्राप्त नहीं कर सकता। मैं इन सबको तुम्हें देता हूँ। तुम इन रमणियोंसे अपनी सेवा कराओ। लेकिन नचिकेता! यह मत पूछो कि सबके मरनेके बाद कौन बचा रहता है। अर्थात् वह निषेधावधिरूप जो तत्त्व है—अशेष-विशेष निषेधाधिष्ठान, माने अशेष-विशेषके निषेध्यका जो अधिष्ठान है प्रत्यक् चैतन्या-भिन्न ब्रह्मतत्त्व, उसके बारेमें प्रश्न मत करो; उसका जानना बड़ा मुश्किल है और उसका अधिकारी भी संसारमें कोई-कोई ही होता है।' ❖

नचिकेताका वैराग्य

अध्याय—१ वल्ली—१ मन्त्र २६-२९

नचिकेता बोले—हे अन्तक! आप यह क्या बोल रहे हैं? (अन्तक माने मृत्युदेवता)।

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः।
अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते॥ १.१.२६

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा।
जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव॥ १.१.२७

हे अन्तक ! हे मृत्युदेवता, इस मनुष्यके लिए जिसके सिरपर मौत सवार है उसके लिए यह सब दुनियादारीकी चीजें आज हैं, कल नहीं हैं— जिनके पास बड़े-बड़े महल थे अब वे किरायेके मकानमें अपनी जिन्दगी व्यतीत करते हैं और जो किरायेके मकानमें रहते थे वे महल वाले ही गये—दुनिया बदलती है, काले बाल सफेद हो गये, जो सुन्दर थे वे कुरूप हो गये, बढ़िया दाँत टूट गये—यह जिनका तुम वर्णन करते हो ये कल सुबह रहेंगे कि नहीं रहेंगे क्या पता है! और ये अप्सरा आदिके भोग तो इन्द्रियोंकी शक्तिको क्षीण करनेवाले हैं, इनसे दाँत घिस जाते हैं, इनसे जीभ निकम्मी हो जाती है, इनसे नाक निकम्मी हो जाती है, कान बहरे हो जाते हैं, आँख अन्धी हो जाती है, शरीरमें जो वीर्य है, जो शौर्य है यह सब-का-सब बह जाता है। अरे, तुम जिसको सौ वर्षका जीवन बोलते हो यह तो बहुत नन्हा-सा जीवन है। ये हाथी-घोड़े आपको ही मुबारक हों और आपके सामने ही ये नाच-गान हों, यह हमको नहीं चाहिए।

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः—धनसे कभी मनुष्यकी तृप्ति नहीं होती और जब आप हमको मिल गये, आपके जैसा देवता मिल गया—तो क्या हमको धन नहीं मिलेगा? अरे, वह तो मिल ही जायेगा। और यदि आप यह कहते हो कि लम्बी आयु दे दें तो जबतक आप शासन करेंगे तब तक वह भी मिल

ही जायेगी। अर्थात् जबतक आप मिनिस्टर रहेंगे तबतक हम चपरासी रहेंगे? जबतक आप यमराजके पदपर रहेंगे तभीतक न मुझको जिन्दा रखेंगे? जब आप मरेंगे तब क्या यह सिफारिश करके मरेंगे कि इसको जिन्दा रहने देना ? अरे आप मरेंगे तो हमको भी मरना पड़ेगा। आप तो जायेंगे ही साथ-साथ आपकी यह पूँछ भी जायेगी। यह किसीकी पूँछ बनना बड़े खतरेका काम है–किसी व्यक्तिके आधारपर अपने जीवनको निश्चित कर देना ठीक नहीं है। इसलिए **वरस्तु मे वरणीयः स एव**–मैं तो बस एक यही वर माँगता हूँ कि जो अमृत है, अविनाशी है, अक्षरणशील है, परिपूर्ण है, अद्वय है, प्रत्यक्चैतन्याभिन्न है, उस ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान हमको दो, बस हमको तो वही चाहिए। (२७)

आगे नचिकेता अपने ब्रह्मज्ञान सम्बन्धी वरको ही माँगनेका और कारण बताते हैं–

अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधः स्थः प्रजानन्।
अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत॥ १.१.२८

'जिनको कभी जरावस्था प्राप्त नहीं होती और जो अमर हैं–ऐसे आप सरीखे महान् देवताओंको प्राप्त करके ऐसा कौन इस पृथ्वी पर रहनेवाला जरा मृत्युग्रस्त विवेकी पुरुष होगा जो केवल शरीरके रागसे प्राप्त होनेवाले अप्सरा आदिके सुखोंको अस्थिर रूपमें भावना करता हुआ भी अति दीर्घ जीवनमें सुख मानेगा?'

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत।
योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते॥ १.१.२९

''हे मृत्यो! जिस आत्माके सम्बन्धमें लोग ऐसा संशय करते हैं कि वह है या नहीं तथा जो महान् प्रयोजन निःश्रेयसके निमित्तभूत परब्रह्मके बारेमें विज्ञान है वही हमसे कहिये। यह जो अत्यन्त कठिनतासे निर्वचन किया जानेवाले ब्रह्मज्ञान विषयक वर है उससे भिन्न कोई अन्य वर नचिकेता नहीं माँगता।''

यमराजने नचिकेतासे कहा कि तुम धन लो, लम्बी उम्र लो, राज्य लो, अपने सम्पूर्ण मनोरथकी पूर्ति करो, दुर्लभ-से-दुर्लभ अभिलाषा पूर्ण कर लो जो मनमें हो सो माँग लो; लो स्त्रियाँ, लो रथ, लो बाजे-गाजे, लो हाथी-घोड़े—ये सब

तुम्हारी सेवामें संलग्न रहेंगे, परन्तु अशेष-विशेषका निषेध कर देनेपर जो शेष रहता है उस मरणोपलक्षित माने सर्वाभावोपलक्षित परिच्छेदसामान्याभावोपलक्षित उस वस्तुको मत पूछो, उसके बारेमें प्रश्न मत करो और जो चाहे सो ले लो। इसके उत्तरमें नचिकेताने कहा—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्—हे अन्तक! यमराजका एक नाम अन्तक है। अन्त कर दे सो अन्तक। अन्तमें मृत्यु होनेपर सबका अभाव हो जाता है, सब छूट जाते हैं, इसलिए दुनियाकी सभी चीजें आज हैं कल नहीं हैं—श्वोभावा—'श्व' माने संस्कृतमें सुबह होता है। सुबह तक भी तो इनका अस्तित्व नहीं है कि सोकर उठनेके बाद ये मिलेंगी कि नहीं मिलेंगी? यह जो जँभाई आती है, छींक आती है, इनमें प्राण-वायु अपने काबूमें नहीं रहती है; और यह जो दिल धड़कता है, यह भी अपने काबूमें नहीं है कि कबतक इसको धड़काते रहें और कब इसको बन्द कर दें! यह तो महाराज दुनियाकी स्थिति ही ऐसी है।

श्वोभावा मर्त्यस्य मर्त्यस्य मृत्युना आपतस्य मृत्युना गृहीतस्य।

संसारकी सभी वस्तुओंको मौतने अपने पंजेमें कर रखा है और ये सब-के-सब सुबह मिलेंगे कि नहीं इसमें शंका ही है। और यदि मिल जायँ तो?

सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः—ये जिन इन्द्रियोंसे भोगे जाते हैं उन इन्द्रियोंके तेजको बढ़ाते नहीं घटाते हैं, उन इन्द्रियोंके तेजको क्षीण करते हैं किसीको अप्सरा मिले, किसीको बढ़िया खानेको मिले—एक ही इन्द्रियके भोगमें कोई लग जाय। कोई आदमी शीतल स्पर्श या मधुर स्पर्श या सुकुमार स्पर्श ही करता रहे—तो करते-करते क्या होगा आपको मालूम है? वह स्पर्श मालूम ही नहीं पड़ेगा, संवेदना-शक्ति ही क्षीण हो जायेगी, एक आदमी सुन्दर दृश्य ही देखता रहे तो उस दृश्यमें सौन्दर्यकी जो कल्पना है वह क्षीण हो जायेगी। यह महाराज बम्बईमें जिनका मकान समुद्रके सामने होता है न, उनके घरमें कोई मेहमान आ जाय तो बड़े गौरवके साथ दिखाते हैं कि देखो, समुद्रके दर्शन होते हैं। लेकिन, उनसे यदि पूछो कि आप चौबीस घण्टोंमें-से कितनी देर समुद्रको देखते हैं—समुद्रके दर्शनका कितना आनन्द लेते हैं? तो वह तो वस्तुके उपलब्ध होते ही उसकी प्राप्तिकी लालसाका जो वेग होता है वह वेग समाप्त हो जाता है। खुद कभी ऐसे-वैसे ही यदि दिख गया तो दिख गया कि यह बगीचा है, ये फूल लगे हैं, ये पेड़ लगे हैं, यह समुद्र है—उल्टे यदि कभी हवा तेज चलती है और कभी तरंगें आकर मक़ानको पीटने लगती हैं तब एक प्रकारका उद्वेग अवश्य होता है कि अरे राम-

राम-राम। तो मनुष्यके धर्म, वीर्य, प्रज्ञा, तेज, यश आदि भोग-परायण होनेसे क्षीण हो जाते हैं।

धर्मकी एक बात आपको सुनावें—धर्ममें आत्मबलकी वृद्धि होती है। आप देखो—वस्तुको बुरी समझकर आप छोड़ते हो या वस्तुको अच्छी समझते हुए भी उसको छोड़नेका सामर्थ्य आपमें है? आपसे यह एक प्रश्न है। आप पर-स्त्रीका वर्जन, कुमारीका वर्जन केवल इसलिए करते हो कि वह कुरूप है? या दुर्गुणवाली है? या उसके सम्पर्कसे आपको टी. बी. हो जायेगी या दमा हो जायेगा? केवल लौकिक हानिके डरसे ही आप परस्त्री या परपुरुषका वर्जन करते हो? आप अपने मनमें निश्चय करके देखो। अपनी पत्नीसे पर-पत्नीमें सौन्दर्यकी कमी है, गुणकी कमी है, शीलकी कमी है, स्वभावकी कमी है—इस दृष्टिसे उसका वर्जन नहीं होता, उसमें सौन्दर्य होनेपर भी, सौशिल्य होने पर भी, साद्गुण्य होनेपर भी, सौकुमार्य होनेपर भी, यौवन होनेपर भी उसके प्रति जानेवाले अपने मनको रोकना पड़ता है। यह रोकना ही तो धर्म बल है। धर्मसे उस मनको रोक लेनेका जो बल है, जो आत्म-बल है वह बढ़ता है। यह धर्म हमारे भीतर रहकर हमारे मनको रोकता है, इसका नाम आत्मबल है। धर्म माने आत्मबल। यह विधि और निषेधसे—शास्त्रोक्त विधि और निषेधसे, सामाजिक विधि और निषेधसे, राजनैतिक विधि और निषेधसे अपने मनको रोकनेका जो बल हमारे हृदयमें उत्पन्न होता है उस आत्मबलको धर्म बोलते हैं। यदि हम इन्द्रियोंको भोगके पीछे खुला छोड़ दें तो उनमें आत्मबल बिल्कुल नहीं रहेगा।

अब एक दूसरी बात प्रसङ्गवश कह देता हूँ। किसीने पूछा कि महाराज, डॉक्टरीकी रीतिसे और आयुर्वेदकी रीतिसे प्याजमें कोई दुर्गुण नहीं है, लहसुनमें कोई दुर्गुण नहीं है, शलजममें कोई दुर्गुण नहीं है, छत्तेमें कोई दुर्गुण नहीं है—आयुर्वेदकी रीतिसे तो जैसे और सब ठीक हैं वैसे ही ये भी ठीक हैं फिर धर्मशास्त्र इनका क्यों निषेध करता है? तो देखो, आयुर्वेदमें भी ''ठीक''का बड़ा बढ़िया हिसाब हमको डॉक्टरने बताया। डॉक्टरने हमको यह बताया कि औषधियोंकी जब परीक्षा करते हैं तब यदि सत्तर प्रतिशततक वह दवा रोग मिटा दे तो उसको ठीक नहीं मानते हैं, गलत मानते हैं—सत्तर प्रतिशततक तो वह बिना औषधि हुए भी रोगको मिटा सकती है, परन्तु यदि वह अस्सी प्रतिशत रोग मिटा दें तब कहेंगे कि हाँ यह इस रोगकी दवा है। माने सब रोगोंको मिटानेकी गड़-बड़झाला शक्ति सब चीजोंमें रहती है—सब चीज सब रोगोंपर दवा हो सकती है

और सब चीज सब रोगोंपर कुपथ्य हो सकती है, वे तो परीक्षा करके देखते हैं कि भाई यह अधिक-से-अधिक, कम-से-कम अस्सी प्रतिशत लाभ करती है इसलिए उसको दवा मान लेते हैं। अच्छा, हम यह नहीं कहते कि आयुर्वेदिक दृष्टिसे या डॉक्टरी दृष्टिसे लशुन या प्याजके क्या गुण और क्या दोष हैं। हम यह कहते हैं कि निषिद्ध होने पर भी आपका मन उसकी ओर आकृष्ट क्यों होता है और आपके अन्दर अपने मनको रोकनेका सामर्थ्य क्यों नहीं है? यदि आपमें सामर्थ्य होवे तो उसको धर्म कहेंगे, उसको आत्मबल कहेंगे, उसको वीर्य कहेंगे, उसको प्रज्ञाकी प्रधानता कहेंगे, उसको आपके अन्तःकरणकी तेजस्विता कहेंगे। और **त्यजतः लभ्यते यशः**—जो त्याग करता है वह यशस्वी होता है कि भाई, देखो मधुर होनेपर भी, सुन्दर होनेपर भी, सुशील होनेपर भी, सुकुमार होनेपर भी, जिह्वाके लिए सुस्वादु होनेपर भी, नेत्रके लिए स्वादु होनेपर भी, त्वचाके लिए स्वादु होनेपर भी, कर्णके लिए स्वादु होनेपर भी, इन्होंने इस विषयका परित्याग किया। इसको बोलते हैं धर्म।

अब धर्ममें भी दो कक्षा है—एक बहिरङ्ग धर्म और एक अन्तरङ्ग धर्म। जब हम शास्त्रोक्त विधि, निषेधके आधारपर अपने मनको रोक लेते हैं तब उसका नाम होता है बहिरङ्ग धर्म और जब हृदयमें प्रेरक जो अन्तर्यामी ईश्वर है—सबके प्रति निष्पक्ष, सबके प्रति सम, सर्वभूतान्तरात्मा, सर्वान्तर्यामी कर्माध्यक्ष—उसपर विश्वास करके जब अपने मनको रोकते हैं, तब उसको बोलते हैं अन्तरंग धर्म। यह ईश्वरपर विश्वास करना बड़ा भारी आत्म-सम्बल है—ईश्वर कमजोरोंकी चीज नहीं है, बड़े बलवानोंकी चीज है। आप पुलिसपर विश्वास करके रात्रिके समय घोर जंगलमें नहीं जा सकते हैं। नहीं, आप फौजपर विश्वास करके अपने हाथमें साँप नहीं ले सकते हैं? आप बिल्कुल सूंनसान, एकान्तमें राज्यके बलपर नहीं रह सकते हैं? यह तो निर्बलके बल राम हैं—जहाँ संसारका कोई बल नहीं रहता है वहाँ हमारे हृदयमें स्थित ईश्वरके प्रति विश्वास हमारा आत्मबल बनता है—इसको अन्तरङ्ग धर्म बोलते हैं।

बहिरङ्ग धर्म मनुस्मृत्यादिमें प्रोक्त है और अन्तरङ्ग धर्म उपासना शास्त्रोक्त है, यह आत्मधर्म?

अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्म दर्शनम्

योगके द्वारा आत्म-दर्शन—यह परम धर्म है। बोले यह आत्म-दर्शन परमधर्म है तब आत्मा क्या है? तो यह तो इसी उपनिषद्में आनेवाला है—अन्यत्र धर्मात् अन्यन्ता धर्मान् अन्यत्रास्मात्कृताकृतात्—वह तो धर्माधर्मसे विलक्षण है,

धर्माधर्मके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित है, स्वयंप्रकाश है, सर्वावभासक है, सर्वाधिष्ठान है—जिज्ञासुको समझानेके लिए उसके बारेमें ऐसा बोलते हैं।

सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः—ये जो संसारके विषय हैं वे हमारी इन्द्रियोंके तेजको समाप्त करनेवाले हैं, कोई तेज हमारी इन्द्रियोंमें नहीं रहेगा, निषिद्ध वस्तुके दर्शनसे आँख तेजो-हीन हो जायेगी, नेत्रमें आत्मबल नहीं रहेगा; निषिद्ध-वस्तुकी गन्धसे नाक भी तोजो-हीन हो जायेगी; निषिद्ध-वस्तुके भक्षणसे जिह्वा भी तेजो-हीन हो जायेगी; निषिद्ध-वस्तुके स्पर्शसे त्वचा भी तेजोहीन हो जायेगी; निषिद्ध-वस्तुके स्मरण और चिन्तनसे मन और बुद्धि भी तेजोहीन हो जायेंगे, इसलिए आप यदि अपने धर्म, यश, प्रज्ञा, तेज, वीर्यको बनाये रखना चाहते हैं तो नारायण! त्यागके मार्गपर चलना चाहिए।

देखो, लोकमें एक बहुत साधारण नीति है। वह नीतिकी बात आपको सुनाता हूँ। क्या नीति है?

त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामार्थे कुलमुत्सृजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥

बहुत सामान्य नीति प्रसिद्ध है—अगर अपने खानदानमें एक आदमी बिगड़ जाय और उसकी वजहसे सारे वंशका नाश उपस्थित हो तो अपने वंशकी, कुलकी रक्षाके लिए उस फोड़ेका ऑपरेशन कर देना चाहिए—उस अँगुलीको कटवा देना चाहिए।

अभी हालमें ही बम्बईमें एक आदमीके तलवेमें जरा गड्ढा हो गया था, तो डाक्टरके यहाँ गया ऑपरेशन करवाने। डाक्टरने समझा बहुत साधारण ऑपरेशन है। पर जब चीरा तब उसके भीतर कैंसर निकला—जाँच करके निश्चय हो गया। रोगीकी उम्र तीस वर्ष थी। अतः डाक्टरने सलाह दी कि घुटनेतक पाँव कटवा दोगे तब तो बचोगे और नहीं तो नहीं बचोगे। अब उस तीस वर्षके नौजवानको घुटनेतक पाँव कटवाना पड़ा। तो सारा शरीर मर न जाय इसके लिए घुटनेतक पाँव कटवा देना पड़ा। अब लकड़ीका पाँव लग गया है उसको।

तो कुलकी रक्षाके लिए एकका परित्याग करना पड़ता है, ग्रामकी रक्षाके लिए कुलका परित्याग करना पड़ता है और देशके लिए ग्रामका परित्याग करना पड़ता है और सम्पूर्ण विश्वके कल्याणके लिए देशका अभिमान भी छोड़ना पड़ता है। और आगे बढ़े तो बोले—**आत्मार्थे पृथ्वीं त्यजेत्**—आत्माके लिए सारी पृथ्वीको छोड़ दो।

अब आज तो लोग कहेंगे कि यह आत्मा क्या है? आगये न फिर व्यक्ति-निष्ठापर, तो भाई असत्यमें यह व्यक्ति-निष्ठा नहीं है। अन्तमें घूम-फिर करके अपने व्यक्तित्वपर आये सो बात नहीं है। देखो, सूक्ष्म जगत्‌की रक्षाके लिए स्थूल जगत्‌की उपेक्षा करनी पड़ती है—यह बात अगर आध्यात्मिक सिद्धान्तवादी नहीं समझता है तो समझ लेना चाहिए। देखो, यह संसार ऐसा है कि इसमें रोज कहीं-न-कहीं आग लगती है, कहीं-न-कहीं मृत्यु होती है, कहीं-न-कहीं लड़ाई होती है, कहीं-न-कहीं अवर्षण होता है, कहीं-न-कहीं दुर्भिक्ष पड़ता है, कहीं दवाकी जरूरत है, कहीं कपड़ेकी जरूरत है, कहीं अन्नकी जरूरत है, कहीं शिक्षाकी जरूरत है— तो जीवन-रक्षाके लिए अन्नकी, औषधिकी, वस्त्रकी आवश्यकता है; ज्ञानकी वृद्धिके लिए पाठशालाकी, विद्यालयकी, पढ़ने-लिखनेकी जरूरत है; आनन्दकी रक्षाके लिए अनेक-अनेक मनोरंजनकी वस्तुओंकी जरूरत है और उसके विरोधी भावोंके विरोधकी आवश्यकता है। यह संसार तो है संघर्षमय; यदि छोटी-छोटी समस्याओंके समाधानमें मनुष्यने अपने आपको लगा दिया तो यह जो सबसे बड़ी समस्या है आत्मा और ब्रह्मकी एकताकी, वह धरी-की-धरी रह जायेगी— इसलिए असली जिज्ञासु वह होता है जो छोटी-छोटी समस्याओंमें अपनेको न उलझा करके पहले इस बड़ी समस्याको सुलझानेका प्रयत्न करता है। **आत्मार्थे पृथ्वीं त्यजेत्**—वैराग्य होना चाहिए प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न ब्रह्म तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए। **हम अपने लिए सबको छोड़ सकते हैं। बोले—यह तो स्वार्थ है** कि नहीं, अपने आपको ब्रह्म जाननेके लिए पहले हम सबको छोड़ते हैं और अपने आपको ब्रह्मसे एक अनुभव करनेके बाद **एष सर्वेषां आत्मा भवति**—अरे भाई, सौ रुपया पानेके लिए नब्बे रुपये तक लोग छोड़ देते हैं; जैसे समझो एक प्रान्तीय विधान-सभाका सदस्य यदि केन्द्रमें मिनिस्टर बना दिया जाता है, तो वह विधान-सभाई पदको छोड़कर तुरन्त केन्द्रमें मिनिस्टर होनके लिए चला जाता है; कारण क्या है कि बड़ेके लिए छोटेका परित्याग करना पड़ता है; इसी प्रकार वृहत्तम आत्मवस्तुके ज्ञानके लिए परिच्छिन्न बड़ी-से-बड़ी वस्तुका त्याग करना पड़ता है। संसारकी सभी वस्तुएँ अभावग्रस्त हैं और जो वस्तु अभावसे ग्रस्त नहीं है वह सबसे बड़ी है। पृथिवीसे, पाँचभौतिक सृष्टिसे बड़ी यह सूक्ष्म सृष्टि है और सूक्ष्म सृष्टिसे बड़ी यह कारणसृष्टि है। संसारके सौन्दर्यको ध्यानके सौन्दर्यके लिए छोड़ता है और ध्यानके सौन्दर्यको समाधिके सौन्दर्यके लिए छोड़ना पड़ता है और समाधिके सौन्दर्यको आत्म-सौन्दर्यका साक्षात् अपरोक्ष अनुभव होनेके लिए

छोड़ना पड़ता है-यह आत्म-सौन्दर्य समाधिके सौन्दर्यसे भी विशेष है। तो यह जो ब्रह्म है यह अनन्त-कोटि ब्रह्माण्डोंके सौन्दर्यका भी प्रकाशक है- इस रोशनीमें अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्डोंका सौन्दर्य क्षुद्र हो जाता है—यह अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंके प्रकाशकोंका भी **प्रकाशक है भला!**

तो, जो केवल ऐन्द्रियक आकर्षणमें ही आकृष्ट हो जाता है, जिसकी बुद्धि परिच्छिन्न-ग्राहिणी हो जाती है— छोटी चीजको पकड़कर बैठ गया— वह इस मार्गपर चल नहीं सकता। इसलिए नचिकेताने कहा कि हम इन इन्द्रियोंके तेजको नष्ट करनेवाले विषयोंको नहीं चाहते और कितनी भी लम्बी आयु हो अन्तमें मरना पड़ता है; ये हाथी-घोड़े, यह नृत्य-संगीत तुमको मुबारक हो।

नचिकेता फिर कहता है कि धन देकरके किसीका तुष्टीकरण उचित नहीं है—क्योंकि **न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः**—बाहरी वस्तु देकरके किसीको तृप्त नहीं किया जा सकता। रही यह बात कि फिर तुम्हें धन कहाँसे मिलेगा? तो बाबा, आपका दर्शन हमें हो गया, मृत्यु हमारा दृश्य हो गया तब क्या हमको धनकी कमी रहेगी? कर्माध्यक्ष हमारा दृश्य हो गया, कर्माध्यक्षसे आकर हाथ मिला लिया, उसका पाद्य लिया,उसका अर्घ्य लिया, उसके अतिथि बने—अब क्या हमको धनकी कमी रहेगी? और कहो मरनेकी बात—तो अब तुम्हारे यमराज रहते तो हम मरनेवाले हैं नहीं। जितने दिन तुम जीओगे उतने दिन तो हम जीयेंगे ही! इसलिए क्यों अब हम माँगें कि हमको धन दो, हमको आयु दो? हम तो बस एक वही चीज माँगते हैं जो देना तुम्हारे लिए भी मुश्किल है और वह है—आत्माका ज्ञान—हम क्या हैं?

एक नन्हीं-सी कथा है—महाभारतके शान्ति-पर्वमें इसका नाम कुण्ड-धारोपाख्यान है। एक ब्राह्मण था। उसने एग यक्षकी आराधना प्रारम्भ की। ऐसा प्रसिद्ध है कि यक्ष लोग धनाधिपति होते हैं। धनाध्यक्ष कुबेरके अनुचर और धनके मालिक। ब्राह्मणकी आराधनासे प्रसन्न हुआ और ब्राह्मणके सामने प्रकट होकर बोला—ब्राह्मण देवता तुमको जो चाहिए सो माँग लो। ब्राह्मण बोला—हमको तो धन चाहिए। यक्षने कहा कि देखो, संसारमें बड़े-बड़े धनी हुए हैं परन्तु कोई भी धनी आजतक सुखी हुआ हो, इतिहासमें यह बात देखनेमें नहीं आती है। अतः तुम यह धन मत माँगो।

हमारे गाँवमें तो एक बार इस बातपर लड़ाई हो गयी कि जब साम्यवाद आवेगा तब सबका धन बराबर बाँट दिया जायेगा! अब एकके पास दस बीघा

खेत था तो लेकर हाथमें लाठी तैयार हो गया कि आओ देखें कौन बाँटेगा और आपसमें लाठी चल गयी और मूँड़-फुटव्वल हो गया। तो यह जो हिन्दुस्तानी धनी हैं ये यहाँ हम लोगोंके बीचमें तो बड़े-धनी बनते हैं कि हमारे समान करोड़पति कौन है और ये ही जब अमेरिकामें जाते हैं तो वहाँके धनियोंके बीच अपनेको बड़ा गरीब समझते हैं, भला!

तो, यक्षने कहा कि देखो, धन और सुखका कोई सम्बन्ध हमने सृष्टिमें नहीं देखा है—धनी भोग नहीं कर सकता, धनी निश्चिन्त नहीं हो सकता, धनी सुखसे सो नहीं सकता, धनी दूसरेको तकलीफ पहुँचाये बिना रह नहीं सकता—इसलिए मेरे प्यारे भक्त ब्राह्मण! तुम मुझसे धनका वरदान मत माँगो।

ब्राह्मणने कहा कि नहीं महाराज, हमको धन मिलेगा तो हम विद्यालय चलायेंगे,औषधालय खोलेंगे, अस्पताल खोलेंगे। हमको धन मिलेगा तो हम यह करेंगे, वह करेंगे—बड़ा भारी लोकोपकार करेंगे, हमको तो धन चाहिए।

उस कुण्डधार नामक यक्षने कहा कि देखो, तुम हो हमारे भक्त और हम हैं तुम्हारे देवता, हम जान-बूझकर तुम्हें हानि नहीं देंगे और बिना वरदान दिये लौट गया।

ब्राह्मणने फिर अनुष्ठान प्रारम्भ किया कि जिस अनुष्ठानसे खुश होकर यक्षजी आये थे, फिर आवेंगे। अब रातको जब ब्राह्मण देवताने शयन किया तब यक्षने उनकी आत्माको शरीरमें-से खींच लिया और ले गया नरकमें और ले जाकर नरकमें सब दिखाया और कहा—पहचानो इनको, ये कौन-कौन हैं? बोला—ना बाबा, हम तो इनको नहीं जानते! यक्ष बोला—यह देखो, यह जो कीड़ेकी तरह बिलबिला रहे हैं ये वे लोग हैं जिनके पास मर्त्य-लोकमें बड़ी भारी सम्पत्ति थी और उस सम्पत्तिके बलपर जिन लोगोंने गरीबोंको बड़ा दुःख दिया है—यह अमुक राजा है, यह अमुक राजा है। नाम बताया—बड़े-बड़े राजाओंका नाम है, उनको हम दोहरायेंगे तो आपलोगोंको उनके धर्मात्मा होनेपर जो श्रद्धा है वह घट जायेगी। वहाँ सेठ-साहूकारेंका नाम नहीं है, वहाँ राजाओंका नाम है, तो आपलोग अपनेको उनसे बचा लेना—बड़ें-बड़े राजा लोग बिलबिला रहे थे नरकमें। पूछा—यह क्या है महाराज? यक्ष बोला—यह अधिक सम्पत्ति होनेका जो अभिमान और उसके कारण जो प्राणी-हिंसा हुई, जो प्राणियोंको कष्ट पहुँचाया गया—उसका यह सब फल है। सब दिखलाकर अन्तमें यक्षने पूछा—ब्राह्मण-देवता, हम आपको धन तो दे सकते हैं पर उसको पानेके बाद इस गतिसे बचा नहीं सकते।

ब्राह्मणने कहा—ना बाबा, हमको यह गति नहीं चाहिए। फिर पूछा कि तब हमको क्या करना चाहिए? यक्ष बोला—देखो, हम तुमको अमुक महात्माका नाम बताते हैं उनके पास जाओ, उनका सत्संग करो, आत्मज्ञान प्राप्त करो, जब तुम अपने स्वरूपको जानोगे तब न तो तुम्हारे मनमें धनकी इच्छा रहेगी, न तुम दूसरेको दुःख पहुँचाओगे, और न तुम्हें नरकमें आना पड़ेगा—कोटि-कोटि जन्म-मरणके चक्करोंसे तुम छूट जाओगे।

एक टिप्पणी और कर दें। वह टिप्पणी यह है कि आजकल लोग रोचक कहानियाँ, चुटकुले, उपन्यास आदि पढ़नेमें बड़ी दिलचस्पी लेते हैं; जिससे दिमागपर भार बढ़े ऐसी बात लोग पढ़ना नहीं चाहते! दर्शन-शास्त्र कौन पढ़े? तो उन लोगोंको हम यह बताना चाहते हैं कि चार हजार वर्षके भीतर महाभारत जैसे रोचक और उपदेश-पूर्ण और यथार्थ—उसमें आदर्श भी और यथार्थता भी है—यह नहीं कि केवल अदर्श-ही-आदर्श है। हमारे प्राचीन जो ग्रन्थ हैं वे केवल आदर्शवादी ग्रन्थ नहीं हैं, वे मनुष्यकी यथार्थ वृत्तिका चित्रण करनेवाले ग्रन्थ हैं। अगर आपको कहानी पढ़नेका शौक हो तो आप किसी पुराणको उठाकर पढ़िये, आप महाभारत पढ़िये।

एक टिप्पणी और। एक सज्जन थे—पहले वे बम्बईमें ही मास्टर थे, फिर जब पत्नी मर गयी तो मास्टरी छोड़ दी—सन् ३१-३२ की बात है, हमारे गाँवके पासके ही थे, मैं जानता था उनको। तो वे गीता-प्रेसमें आ गये। बी.ए. पास तो थे ही, उनके मनमें आता था कि हम लेख लिखें और वह छपे। तो मुझसे सलाह करते थे। मैंने एक दिन यह कुण्डारोपाख्यानकी कहानी पूरी-की-पूरी हिन्दीमें उनको लिखवा दी और कहा कि तुम इसको अंग्रजीमें लिखो। फिर यही कहानी जो आपको सुनायी है—उन्होंने अंग्रेजीमें लिखी और वह 'कल्याण-कल्पतरु' नामकी पत्रिकामें छपी। किसी तरह वह कहानी अमेरिका पहुँच गयी और वहाँके लोगोंको अच्छी लगी तो यह अमेरिकाकी 'यूनिटी' पत्रिकामें लाखोंकी संख्यामें छपी। हमारे विद्वानोंको पहले इसका महत्त्व नहीं समझमें आया था, पर जब अमेरिकाकी छपी पत्रिका यहाँ आयी और लोगोंने यहाँ पढ़ी तब बोले—अरे यह कहानी इतनी अच्छी है? तो हमारे प्राचीन ग्रन्थ इस तरहकी कथाओंसे भरे पढ़े हैं, आप उनको पढ़कर देखिये तो।

नचिकेता बोला—मैं मनुष्य, बूढ़ा होनेवाला, मरनेवाला, धरतीपर रहनेवाला यहाँ आ गया हूँ जहाँ लोग न बूढ़े होते हैं, न मरते हैं और यहाँ आकर अब भी मैं

विषयोंका सेवन करूँ, अन्धकारमें भटकता रहूँ इससे बढ़कर और मेरी क्या मूर्खता होगी? हे मृत्यु देवता! तुम मुझे प्रलोभन मत दो—हमारा मन छोटी-छोटी चीजोंमें मत लगाओ, हमको लम्बा जीवन नहीं चाहिए; लम्बी आयु होनेसे ही मनुष्य बड़ा कल्याण प्राप्त कर लेता है, ऐसा नहीं है। **मुहूर्तमपि जीवेत नरः शुक्लेन कर्मणा**—मनुष्य एक मुहूर्त ही भले जीवे लेकिन सफेद कर्म करके जीवे। काला काम न करे—शुक्लेन कर्मणा-श्वेत कर्म करो। योगदर्शनमें शुक्ल-कर्म और कृष्ण-कर्म—दो प्रकारके कर्म बताये हैं। जो पुण्य-कर्म हैं, धर्म-कर्म हैं उनका नाम शुक्ल-कर्म है और जो बुरे कर्म हैं—अपने मनको गन्दा करनेवाले कर्म हैं उनका नाम कृष्ण-कर्म है। मूल सूत्रमें ही यह व्याख्या है—श्वेत-कर्म, कृष्ण-कर्म और मिश्र कर्म। मिश्र कर्म माने, जिसमें थोड़ा शुक्ल और थोड़ा कृष्ण दोनों हो। यह 'ब्लैक' शब्द जो है न, कृष्ण कर्म उसीके अर्थमें है; तो नारायण, बुरे कर्म करके अपने हृदयको गन्दा मत करो—उसपर अपनी आस्था मत रखो।

मुहूर्तमपि जीवेत नरः शुक्लेन कर्मणा—दो घड़ी आदमी जीये लेकिन चमककर जीये और नहीं तो कल्प भर आदमी जीये और हिरण्याक्ष होकर जीये तो क्या? हिरण्याक्ष माने जिसकी आँख हिरण्यपर—अक्ष माने आँख, हिरण्य माने सोना—जिसकी आँख सोनेपर।

भागवतमें एक सुन्दर प्रसङ्ग है—कलियुग और अधर्ममें क्या रिश्ता है? वहाँ बताया कि दोनों आपसमें दोस्त हैं—**अधर्मः सखा कलिः**—कलियुग और अधर्म आपसमें सखा हैं—इसका अर्थ है कि अधर्मका जो पन्थ है उसमें बाप-बेटेका, भाई-भाईका, मित्र-मित्रका कोई नियम नहीं है, अधर्ममें स्थिरता ही नहीं है।

तो कहा—हे मृत्यो, हे यमराज! माने नचिकेताकी मृत्युपर दृष्टि है—यह सम्पूर्ण परिच्छिन्न पदार्थ एक दिन छिन्न-भिन्न हो जायेंगे, एक दिन ये कट-पिट जायेंगे, एक दिन ये मर जायेंगे, एक दिन ये नहीं रहेंगे। बोले—किस कालमें मरेंगे, किस देशमें मरेंगे, किस वस्तुमें मरेंगे? बोले—नहीं, हर स्थान ऐसा है जहाँ ये छिन्न-छिन्न ही हैं, जहाँ ये भिन्न-भिन्न ही हैं केवल देश और काल और वस्तुमें नहीं। किसी वस्तुकी मृत्यु काल-विशेषमें होती है, किसी वस्तुकी मृत्यु देश-विदेशमें पहुँचनसे हो जाती है और किसीकी वस्तु विशेषसे हो जाती है। महाप्रलयमें सब मर ही जाते हैं, ठण्डे देशमें रहनेवाली चिड़ियाको गर्म देशमें ले जाओ तो वह मर जायेगी और गर्म देशमें रहनेवाली चिड़ियाको ठण्डे देशमें ले

जाओ तो वह मर जायेगी; और कोई वस्तु-विशेषका सेवन करनेसे मर जाता है, जैसे कि आदमी कोई विशेष वस्तु खा ले तो मर जायेगा। तो वस्तु विशेषमें भी मृत्यु होती है, देश-विशेषमें मृत्यु होती है, काल-विशेषमें भी मृत्यु होती है और भाव-विशेषमें भी मृत्यु होती है और स्थिति-विशेषमें भी मृत्यु होती है। परन्तु जो सर्वाधिष्ठान वस्तु है—सर्वशेष-विशेषके अशेष निषेधसे उपलक्षित—जहाँ देश नहीं, जहाँ काल नहीं, जहाँ वस्तु नहीं उस अभावमें सबकी मृत्युका निवास है।

उस सर्वाधिष्ठानमें अपने अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं। अच्छा, बताओ जिसके सम्बन्धमें यह विचिकत्सा है, संशय है, विचार करते हैं, ढूँढते हैं—किसके बारेमें कि **महति साम्पराये**—सबके होनेमें और न होनेमें महान् आत्मलोकके सम्बन्धमें यह विचिकित्सा है, संशय है मनमें कि यह है कि यह नहीं है—साधरण लोग तो यही प्रश्न करते हैं, असाधारण लोग प्रश्न करते हैं कि यह है तो अविनाशी है, कि नहीं? और फिर वे प्रश्न करते हैं कि अविनाशी है तो परिपूर्ण है कि नहीं? कि परिपूर्ण भी है तो सर्वोपादान है कि नहीं? सर्वोपादान है तो सर्वाधिष्ठान है कि नहीं? सर्वाधिष्ठान है तो स्वयंप्रकाश है कि नहीं? इसके ज्ञानसे सम्पूर्ण दुःखोंसे मुक्ति मिलती है कि नहीं? तो बाबा, यह वरदान तो बड़ा गूढ़ है—**योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो**—यह जो हमारा वर है, कोई मामूली नहीं है। यह वह वर नहीं है जो पीछे-पीछे घूमता है। यह वर वह है जिसके पास स्वयं जाना पड़ता है। एक वर वह होता है जिसके पीछे-पीछे लड़की घूमती है। तो हमारा यह वर कैसा है? कि **योऽयं वरः गूढमनुप्रविष्टः** बड़े गुप्त स्थानमें रहता है, उसके पास पहुँचना बड़ा मुश्किल है।

गूढमनुप्रविष्टःका अर्थ होता है—गुहामें है—अन्नमयकी एक गुहा, प्राणमयकी दूसरी गुहा, मनोमयकी तीसरी गुहा, विज्ञानमयकी चौथी गुहा, आनन्दमयकी पाँचवीं गुहा—जैसे सिंह कोई पाँचवीं गुहाके भीतर जाकरके निवास करता हो और वहाँ किसीका पहुँचना बड़ा मुश्किल हो वैसे ही यह हरि, यह सिंह—यह सर्वापहारी हरि अर्थात् जो सबकुछ ले ले तब मिले, जो पहले सबकुछ छुड़ा दे तब मिले और मिले तो फिर वही-वही रहे; मिले तो तुमसे एक हो जाये—ऐसा यह हरि कहाँ रहता है? कि **गूढमनुप्रविष्टः**—यह तो अत्यन्त मध्य देशमें—**परमव्योम्नि**—परम-व्योममें रहनेवाला है। यह पृथिवी गुहामें नहीं, जल-गुहामें नहीं, वायु-गुहामें नहीं, अग्नि-गुहामें नहीं, आकाश-गुहामें नहीं यह परम व्योममें रहनेवाला है। यह जाग्रत-गुहामें नहीं, स्वप्न-गुहामें नहीं, सुषुप्ति-गुहामें

नहीं, यह सम्पूर्ण-गुहाओंसे परे होकर सम्पूर्ण-गुहाओंको खाये हुए है—सम्पूर्ण गुहाओंमें व्याप्त है—यही-यही है जो गुहाके रूपमें मालूम पड़ रहा है।

फिर बोले—**नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते**—यह श्रुति भगवतीने कहा। इसलिए बाबा, हमारे भीतर कोई नोट-वोटका बण्डल डालोगे तो वह जल जायेगा—क्योंकि नचिकेता माने अग्नि होता है—नोटका बण्डल डालोगे तो जल जायेगा, भोग करने आवोगे तो तुम्हारा शरीर भस्म हो जायेगा—यह नचिकेता है, **नचिकेता! न चिनोति न च केतति—यह न तो किसी चीजका चयन करता है—** इकट्ठा करके अपने भीतर नहीं रखता है और न तो हमेशा प्रज्वलित दशामें रहता है, इसको न घर चाहिए, न धन चाहिए, इसको कोई भोग नहीं चाहिए—यह नचिकेता है!

तो श्रुतिने कहा—**तस्मात् नचिकेता अन्यं न वृणोति**—इसलिए नचिकेता आत्मज्ञानके सिवाय दूसरा वर नहीं माँगता, अथवा नचिकेत्ता स्वयं छाती ठोंककर बोल रहा है ऐसी व्याख्या भी कर सकते हैं—**तस्मात् अयं नचिकेता अन्यं वरं न वृणोति**—यह नचिकेता जो आपके सामने है और पिताके सामने भी सत्याग्रह करके आया है, न्याय-परायण है, सत्य-परायण है, यथार्थ-परायण है, वह जिसने मृत्युका वरण किया है, जिसने मृत्युसे अपने पिताका परितोष प्राप्त किया है, अग्नि-विद्या प्राप्त की है, अग्नि-संज्ञा प्राप्त की है, अग्निसे तादात्म्यापन्न है वह नचिकेता अब ब्रह्मज्ञानके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं चाहता है—

योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते॥ २९॥

इसमें अपनी अधिकार-सम्पत्तिका दावा है—माने परब्रह्म परमात्माके साक्षात् अपरोक्ष अनुभवके सिवाय नचिकेताको और दूसरी कोई वस्तु नहीं चाहिए।

अब नचिकेताकी यह दृढ़ता, यह स्थिरता, यह अधिकार-सम्पत्ति देखकर यमराज आगे नचिकेताको आत्म-ज्ञानका उपदेश करते हैं।

श्रेय-प्रेय-विवेक

अध्याय—१ वल्ली—२ मंत्र १-२

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषꣳसिनीतः।
तयोः श्रेय आददानस्य साधुर्भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते॥ १.२.१

अर्थ :–श्रेय अन्य है और श्रेय अन्य ही है। वे दोनों भिन्न प्रयोजनवाले हैं और दोनों ही पुरुषको बाँधते हैं। उन दोनोंमें-से श्रेयको स्वीकार करनेवालेका कल्याण होता है और जो प्रेयका वरण करता है वह परमार्थसे प्रच्युत हो जाता है।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते॥ १.२.२

अर्थ :–ये श्रेय और प्रेय परस्पर मिले हुएसे मनुष्यको प्राप्त होते हैं। धीर पुरुष उन दोनोंका सम्यक् विवेक करके प्रेयके मुकाबले श्रेयका ही वरण करता है, और जो मन्द बुद्धि वाले हैं वे योग और क्षेमके कारण प्रेयका वरण करते हैं।

कठोपनिषद्के प्रथम अध्यायकी प्रथम वल्ली पूरी हुई, अब दूसरी वल्ली प्रारम्भ होती है। आपको सुनाया था कि कठोपनिषद्को काठकोपनिषद् भी कहते हैं। महाभाष्यमें ऐसा लिखा है कि कोई समय ऐसा था कि काठकोपनिषद् और व्याकरणका अध्ययन ग्राम-ग्राममें होता था। इस काठकोपनिषद्के प्रवचनकर्ता कठ ऋषि हैं और यह कृष्ण यजुर्वेदके काठक ब्राह्मणकी उपनिषद् है। 'क' से लेकर 'ठ' तक—इन बारह अक्षरोंका समाम्नायका न्यास जहाँ किया जाता है उस द्वादशदल कलमवाले हृदय-चक्रको ही कठ कहते-बोलते हैं। अतः कठोपनिषद् माने हृदयोपनिषद्!

तो पहली वल्लीमें नचिकेताके माध्यमसे यह बताया कि ब्रह्मविद्याका अधिकारी कैसा होना चाहिए—उसमें न्यायप्रियता होवे, सत्य परायणता होवे, अपने पिता और बड़े-बूढ़ोंके प्रति उसमें हितैषिताका भाव होवे, मृत्युसे भी निर्भय होवे, प्रलोभनोंसे सत्यके मार्गसे विचलित न होवे, मेधावी हो और धर्म-उपासना

तथा ब्रह्मविद्यामें श्रेष्ठ रुचिवाला होवे। अब ब्रह्मविद्याकी प्रशंसा करनेके लिए यमराजके वचन हैं— **अन्यच्छ्रेयो** इत्यादि।

दो विभाग हैं—एक विद्याका और दूसरा अविद्याका। उन्हींको क्रमशः यहाँ प्रेय कहा है। अविद्याकी अपेक्षा विद्या श्रेयस्कर है। विद्या-अविद्याके विभागको आप ऐसे देखो कि आपके शरीरमें जो कर्मेन्द्रियोंका विभाग है वह अविद्याका विभाग है और जो ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मनका है वह विद्याका विभाग है। पहले आप आँखसे देखते हैं फिर आगे पाँव रखते हैं। पाँव अन्धा है और आँख देखती है। पाँव चलनेको काम तो कर सकता है लेकिन अगर आँख न हो और आप पाँवसे चलते जायँ तो गड्ढेमें गिर पड़ेंगे कि नहीं? काँटा लग जायेगा कि नहीं? तो केवल कर्म व्यवहारमें हमारे जीवनको उन्नतिकी दिशामें नहीं ले जा सकता। पहले हाथसे, मुँहमें डाल लें और बादमें विचार करें कि क्या चीज है तो मूर्खता होगी न! पहले सोच समझ लें कि यह क्या चीज है तब मुँहमें डालना चाहिए। अच्छा, यदि जीभसे बोलना है तो पहले समझ लें तब बोलना चाहिए, न कि पहले बोल दें फिर समझना चाहिए।

अब आप अपने विभागपर ध्यान दो—यह वाक् जो है यह अविद्या विभाग है, हाथ, पाँव मूत्रेन्द्रिय और गुदा अविद्या विभाग है माने कर्मेन्द्रियाँ अविद्या विभाग हैं और हमारी बुद्धि, हमारा मन, हमारी आँख, हमारी नासिका, हमारे कान, हमारी त्वचा, हमारी रसना—ये समझदारीके, ज्ञान देनेवाले विभाग हैं—विद्या-विभाग हैं। एक विभाग ज्ञानेन्द्रियका और एक कर्मेन्द्रियका। ज्ञानेन्द्रिय विद्या-विभाग और कर्मेन्द्रिय अविद्या-विभाग। आप विद्याके अनुसार जानते हैं और अविद्या विभागके अनुसार करते हैं।

इसमें भी देखो—जिस मनुष्यका जीवन उद्देश्य-हीन होता है वह साधनमें स्थित नहीं हो सकता। एक बचपनकी बात आपको सुनाते हैं। हमारे गाँवकी ओर ब्राह्मणोंमें भी और छोटी जातिवालोंमें भी छोटे-छोटे बच्चोंका ब्याह हो जाता है। शायद अब तो नहीं होता होगा पर अबसे तीस-चालीस वर्ष पहले ऐसा होता था, तो जब सात-आठ वर्षके बच्चे होते और धूल-माटीमें खेल रहे होते, इतनेमें आकर कोई कहता कि अरे देखो, देखहरू आया है—देखहरू माने देखने वाला लड़कीका बाप, ताऊ, चाचा कोई भी—क्या माटी-धूलमें खेल रहे हो? तो सुनते ही चुपकेसे घरमें भाग जाते और जाकर स्नान कर लिया, तेल लगा लिया, साफ-सुन्दर कपड़े पहन लिये—भले ही कोई देखनेके लिए आया हो कि न आया हो!

लेकिन जब ब्याह करनेका मन हुआ, जब मन हुआ कि हमको कोई पसन्द करे तो बढ़िया बननेका ख्याल हुआ कि नहीं हुआ?

और देखो, हम अपने बाबाके साथ खेतोंमें-से चलते थे। तो चार कोनेका खेत है—ऐसी जगहसे हमारा रास्ता निकला है कि दो भुजा खेतकी चलनी पड़े। दो भुजा चलें तो अपने रास्तेपर पहुँच जायें तो हमारे बाबा जो थे वे तो बिलकुल रास्तसे दोनों भुजा चलकर रास्ते पर पहुँचते थे और हम तो बीचमें ही भागते कि सीधे पहुँच जायेंगे कोणपर। पर, बाबा कभी ऐसा नहीं करते और बादमें मुझको डाँटते भी कि देखो, बीचमें-से चलते हो, उसकी जुती हुई जमीन रौंद जायेगी, बीज नष्ट हो जायेंगे, खेती खराब हो जायेगी—रास्ता छोड़कर तुम क्यों चलते हो?

हम आपको बताते हैं—आदमी रास्ता क्यों छोड़कर चलता है? जो मर्यादा बनी हुई है, उसको छोड़नेका कारण क्या है? एक तो बचपना है कि हम रास्तेको छोड़कर चलते हैं। कई बार हमको शहरमें ऐसा हुआ और गाँवमें तो हम ऐसा कर ही लेते थे कि रास्ता छोड़कर चलते तो भटक जाते। खेत लाँघते हुए, तालमें होकर, पानीमें होकर चलते कि कैसे जल्दी-से-जल्दी पहुँच जायें—एक बार चित्रकूट गये तो कामदगिरिसे देखा कि वह गाँव दिख रहा है—मनमें आया कि सीधे ही चलें—यह भी बचपनकी ही बात है—और सीधे चले तो भूल गये! बम्बईमें भी यदि ठीक-ठीक रास्तेपर न चलें और किसी गलीमें घुस जायें तो अपने लक्ष्यपर पहुँचना कठिन हो जाये—तो अपना शुद्ध मार्ग छोड़कर अशुद्ध मार्गपर निकल पड़ना अविद्या-विभागकी यात्रा है, विद्या-विभागकी यात्रा नहीं है। तो, जो अपना श्रेय चाहता है, जो अपनी भलाई चाहता है, उसको ठीक मार्गसे चलना पड़ता है, उसको अज्ञात मार्गसे नहीं चलना चाहिए—मार्गका ज्ञान प्राप्त करके चलना चाहिए!

अच्छा, अब श्रेय और प्रेय देखो! श्रेय उसको कहते हैं जो अतिशय प्रशस्त होवे—**अतिशयेन प्रशस्यं श्रेयः**। श्रेयमें जो 'श्र' है और यशमें जो 'श' है वही प्रशस्यमें शस्य है। तो श्रेय माने—**अतिशयेन प्रशस्यं श्रेयः**—जो अत्यधिक श्रेष्ठ हो वह श्रेय है। श्रेयस्‌से ही श्रेष्ठ और ज्येष्ठ भी बनता है, श्रेयान् और ज्यायान् भी बनता है—**ज्यायसी चेत् कर्मण स्ते मता बुद्धिर्जनार्दनः**। श्रेयसी, ज्यायसी, प्रेयसी—सब ऐसे ही बने हैं—पुरुषके लिए प्रेयान्, स्त्रीके लिए प्रेयसी और जो प्रेयान्-प्रेयसीके चक्करमें न हो, वह श्रेयस्। प्रेयस् शब्दका अर्थ होता है कि जो अपनी इन्द्रियोंको तत्काल प्रिय लगे। खानेमें तो बहुत अच्छा लगा, परन्तु पेट खराब हो गया, तो वह

प्रेयस् है श्रेयस् नहीं है और करेलेका कड़ुआ रस पीना पड़ा तो, पीनेमें तो प्रेयस् नहीं है, पर श्रेयस् है—रोगकी औषधि है।

तो अब यह बताते हैं कि यमराजने शिष्यकी परीक्षा करके देख लिया कि यह वास्तवमें विरक्त है, अतः ब्रह्मज्ञानका अधिकारी है। इसलिए यमराजने कहा—

अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषꣳसिनीतः

संसारमें जिसका किसीसे राग होता है वह सत्यको नहीं जान सकता, जिसका किसीसे द्वेष होता है वह भी नहीं जान सकता, क्योंकि द्वेषीका दिल कड़ुवा है, उसमें जलन है, और रागीका दिल है तो मीठा लेकिन उसमें और-औरकी प्यास है—द्वेषीके दिलमें जलन है और रागीके दिलमें प्यास है इसलिए दोनों यथार्थ ज्ञानके अधिकारी नहीं हैं। जैसे भूख-प्याससे कोई तड़प रहा हो और उसको यथार्थ ज्ञान सुनाने जायँ तो वह क्या सुनेगा? और ऐसे ही किसीकी दाढ़ीमें आग लगी हो और हम बोलें कि सुनो-सुनो हम तुमको ज्ञानकी बात सुनाते हैं तो क्या वह सुनेगा? और दाढ़ीमें नहीं—द्वेष माने कलेजेमें आग लगी हो तो वह कैसे ज्ञानकी बात सुनेगा? और प्याससे किसीका दिल सूख रहा हो तो वह क्या ज्ञानकी बात सुनेगा? तो जिसके दिलमें राग-द्वेष भरा हुआ है वह ज्ञानकी बात न ठीक-ठीक सुन सकता है और न समझ सकता है। इसलिए शिष्यकी यह परीक्षा हुई कि इसकी बुद्धि परिच्छिन्नग्राहिणी है कि नहीं है। घृणा होती है दूसरेमें दोष-बुद्धि होनेसे, ग्लानि होती है अपने चरित्रकी हीनतासे, द्वेष होता है दूसरेको अनिष्टकारी समझनेसे, राग होता है दूसरोंको इष्टकारी समझनेसे और वैराग्य? वैराग्य वृत्ति नहीं है, वैराग्य राग-द्वेषका शैथिल्य है—भला! देखो रागमें दिलमें अपना प्यारा है और द्वेषमें दिलमें अपना दुश्मन है—और तुम्हें तो ब्रह्म समझना है, परमात्मा समझना है, यथार्थ समझना है, तो अपने दिलमें दुश्मन या दोस्तको बैठाकरके अपरिच्छिन्न—ब्रह्मको कैसे समझोगे? तो बोले भाई कि नचिकेतामें ब्रह्म-योग्यता है, इसलिए आओ अब उपदेश करें।

पहले बताते हैं कि **अन्यत् श्रेयः अन्य दुतैव प्रेयः अपि च अन्यत् प्रेयः**—श्रेय अलग वस्तु है और प्रेय अलग वस्तु है। सिनेमा देख आना दूसरी चीज है और सत्संगमें जाकर बैठना दूसरी चीज है—यह श्रेय और प्रेयका नमूना देख लो। सिनेमामें जाकर बैठे—एयर कण्डीशन है, अच्छी कुर्सी वहाँ लगी हुई है, अच्छे-अच्छे दृश्य आँखोंके सामने आ रहे हैं—मजा आ रहा है—प्रेयस् है। अब वहाँ

देखा सबकुछ बनावटी—बनावटी मर्द, बनावटी औरत—वहाँ प्यारे झूठे और प्यारी झूठी क्योंकि वे तो नाटक कर रहे हैं—और वह सब देखकर आये तो क्या लेकर आये कि हमारे पति हमारे साथ ऐसा ही व्यवहार करें, हमारी पत्नी हमारे साथ ऐसा ही व्यवहार करे। अरे बाबा, नाटकमें हजार-दो-हजार रुपये रोज लेते हैं तब वह बनावटी व्यवहार जाकर कर लेते हैं, अब घरमें वैसा ही व्यवहार लेनेके लिए जब आवोगे तो पतिकी गाली सुननी पड़ेगी और पत्नीको तो मनाना पड़ेगा, उसके पाँव छूने पड़ेंगे। तो सिनेमा घरमें उतरकर नहीं आ सकता और उसको देखकर तुम्हारे मनमें ऐसी वासना, ऐसी प्यास भर जायेगी कि तुम उसको देखकर सुखी नहीं हो सकते, केवल रो सकते हो, क्योंकि न तो देखनेवालेके घरमें वैसे दृश्य होने शक्य हैं—बड़े-से-बड़े आदमीके घरमें भी वैसे पहाड़, वैसी नदी, वैसे मकान होना कठिन है, न वैसी पत्नी होगी, न वैसा बच्चा होगा, न वैसा सौन्दर्य होगा, न वैसा स्वास्थ्य होगा—एक ऐसा दृश्य तुम्हारे दिमागमें भर जायेगा जो कहेगा कि तुम्हारे घरमें तो कुछ नहीं है, नरक है—तो वह सिनेमा आप घर-गृहस्थी, पति-पत्नी सबके प्रति हीन-बुद्धि उत्पन्न कर देगा। तो दो घण्टे तो तुम आनन्द लूट आये सिनेमाका, देख-देखकर खुश हो आये और घरमें २२ घण्टेके लिए दुःखी हो गये, छह महीनेके लिए दुःखी हो गये, जिन्दगी भरके लिए दुःखी हो गये—इसको बोलते हैं प्रेय—देखनेमें मजेदार लेकिन उसका जो चित्तपर असर होता है, जो उसका नतीजा निकलता है वह जिन्दगीमें चूँकि कभी सच्चा होनेवाला नहीं है, इसलिए हम तो चले जाते हैं ख्वाबमें और हमारा वास्तविक जीवन अग्निमय बन जाता है—यह बात उपनिषद्में लिखी हुई नहीं है, यह प्रेय शब्दकी व्याख्या है।

अब श्रेय कैसा होता है सो देखें—एक बार हमारे पितामहने हमको मारा, खूब मारा, क्यों मारा कि मैं किसी कारणसे रूठ गया था—बहुत रूठ गया था। उम्र थी मेरी कोई आठ-नौ वर्षकी—तो मैंने बदमाशी क्या की कि कुँएमें पाँव लटकाकर बैठ गया। तो आकर पहले उन्होंने हमको मनाया और हाथ पकड़कर वहाँसे हटाया और कुएँपरसे हटाकर वह पीटना शुरू किया कि बस-बस! अब देखो, उनका पीटना कैसा था—देखनेमें तो खराब है न, पर उनकी उस मारमें वात्सल्य था कि नहीं, हित था कि नहीं? हमारी भलाई थी कि नहीं? अन्यथा कोई दुर्घटना भी हो सकती थी!

कई लोग धमकाकर अपना काम लेना चाहते हैं—कोई सोनेकी गोलीसे

धमकाता है, तो कोई जहरकी गोलीसे धमकाता है, तो कोई मरनेसे धमकाता है, तो कोई अखबारमें बदनामी करनेसे धमकाते हैं—ऐसे लोग धमकाते हैं न! जो नारायण, जीवनको यदि सत्यके मार्गपर ले चलना हो तो हमको तात्कालिक इन्द्रिय-सुखकी ओर नहीं देखना चाहिए, हितकी ओर देखना चाहिए। तो श्रेय उसको कहते हैं जिसमें अपना हित हो! भलाईकी बात जिसमें हो, जिससे जीवनका निर्माण होता हो, उसको श्रेय कहते हैं।

एक आदमीसे कहते हैं कि सन्ध्या-वन्दन रोज किया करो। तो पूछता है कि क्या फायदा होगा सन्ध्या-वन्दन करनेसे? तो बेटा, जिस काममें फायदा होगा क्या बस वही-वही करोगे? जिससे तुमको लड्डू खानेको मिले वही-वही करोगे? अरे, कुछ काम तो ऐसा भी करो जिससे तुमको फायदा न हो और फिर भी करो—इसको निष्काम-कर्म बोलते हैं, और यह नहीं करोगे तो पकड़े जाओगे! कि अच्छा करेंगे तो क्या फायदा होगा—कि एक बढ़िया आदत पड़ेगी जीवनमें किहम रोज पाँच मिनट बिना किसी कामनाके—स्वर्ग-प्राप्तिके लिए नहीं, धन-प्राप्तिके लिए नहीं, लक्ष्मी-प्राप्तिके लिए नहीं—केवल अपना अन्त:करण शुद्ध रखनेके लिए पाँच मिनटका समय निकालते हैं—निष्काम कर्मका एक उदाहरण है सन्ध्या-वन्दन!

अपनी भारतीय संस्कृतिमें तो गीता पढ़नेवाले तो निष्काम-कर्म, निष्काम-कर्म बहुत ही करते हैं! उनसे पूछो कि तुम कौन-सा निष्काम-कर्म करते हो? अरे हमारे वृन्दावनमें कुछ लोग रहते हैं—परन्तु हर साल उनके बच्चे होते हैं और टेलीफोनपर ही कलकत्ते, बम्बई 'के भाव है' 'के धारणा है' हो जाता और उनसे सन्ध्या-वन्दन करनेके लिए यदि कहें तो कहेंगे कि यह सकाम-कर्म हो जायेगा! उनको व्यापार सकाम-कर्म नहीं लगता, बच्चा पैदा करनेमें भी सकामता नहीं लगती, पैसा कमानेमें भी सकामता नहीं है, पर धर्मका काम करना उनको सकाम लगता है। तो, ऐसे लोगोंका दिमाग जो है वह खराब हो गया है। जीवनमें निष्काम-कर्मका अभ्यास चाहिए—वह अभ्यास क्या है? कि प्रतिदिन सन्ध्या-वन्दन करें—यह अपने लिए श्रेय हो जायेगा। लेकिन, यहाँका जो प्रसङ्ग है श्रेय और प्रेयका, वह विलक्षण है!

श्रेय और प्रेय—इसके विभागको पहले आप ठीक-ठीक समझें। श्रेय और प्रेयमें विभाजक रेखा क्या है? कि विभाजक रेखा यह है कि दोनोंका प्रयोजन भिन्न-भिन्न है। एक चाहता है मुक्ति और एक चाहता है—भुक्ति। वर्णमालामें 'म'

से पहले 'भ' आता है प, फ, ब, भ, म—इसलिए पहले भुक्ति और फिर मुक्ति। एक चाहता है भोग और एक चाहता है मोक्ष।

भोग और मोक्षमें पहले कौन? तो देखो इसमें भी कोई जबरदस्ती नहीं — आप लोग माफ करना, अपना विचार कुछ अलग है—जंगली जो साधु हैं न, गंगा-किनारे विचरण करनेवाले, वनमें रहनेवाले, निवृत्ति-परायण—उनसे हमने सीखा हुआ है। वैसा ही संस्कार अपने चित्तमें और वैसा ही प्रभाव है! यह हम नहीं कहते है कि सब बैलोंको हाँको और एक ही रास्ते पर ले चलो! तुम्हें मोक्ष चाहिए, तुम्हें मोक्ष चाहिए, तुम्हें मोक्ष चाहिए—ये नेता लोग जो हैं न, ये अपनी वासनाको जनताकी आवाज कहकर बोलते हैं—जो चीज नेता चाहते हैं कि यह होनी चाहिए, तो बोलेंगे कि यह जनताकी आवाज है अथवा कि जनता यह चाहती है कि हमारी पार्टी जीत जाय—हमारी पार्टीके पक्षमें सारी जनता है! तो महाराज प्रचारका जो यह ढंग है न, कि ऐ, तुमको मालूम है कि तुम क्या चाहते हो, तुमको मोक्ष चाहिए मोक्ष। कि महाराज, हमको तो मालूम नहीं कि यह मोक्ष क्या चीज है? कि यह मोक्ष बड़ी बढ़िया चीज है, बड़ा मजा आता है मोक्षमें—परमानन्द आता है उसमें और सर्वानर्थकी निवृत्ति है उसमें, स्वर्गसे भी श्रेष्ठ है। ईसाई लोग जिस दिव्य स्वर्गमें जाते हैं उससे भी बढ़िया, मुसलमान लोग जिस बहिश्तमें जाते हैं उससे भी बढ़िया, हिन्दू लोग जिस स्वर्गमें जाते हैं उससे भी बढ़िया—आओ, आओ तुमको एक ऐसा मोक्षका परमानन्द देते हैं, तुमको वही चाहिए असलमें। आवो-आवो! कैसे मिलेगा महाराज? कि आ जाओ हमारी पार्टीमें, हमारी पार्टीमें दाखिल हुए बगैर तो मिलेगा ही नहीं!

परन्तु भाई मेरे, ऐसे मोक्ष नहीं मिलता है भला! चार पुरुषार्थ भारतीय संस्कृतिमें, वेदमें माने हुए हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। मनुष्य धन कमाये और भोग भोगे लेकिन दोनोंमें धर्मका नियन्त्रण होवे—धर्मके विपरीत धन न कमाये, धर्मके विपरीत भोग न भोगे! यदि कहो कि पहले ही दिन हम यह कह दें कि अर्थ छोड़ो, भोग छोड़ो तो ऐसे लोग असलमें ढोंगी हो जाते हैं और अन्तमें इनके जीवनमें दम्भ आता है, क्योंकि वासनाको निकास-मार्ग नहीं दिया गया! लोगोंके मनमें अर्थकी वासना है, लोगोंके मनमें भोगकी वासना हैं और यदि उसको मार्ग नहीं दिया गया तो वह तो जीवनमें विप्लव मचा ही देगी! वह तो नहर निकलनी चाहिए। कैसी नहर निकले? कि धर्मसे नियन्त्रित नहर निकले। इसलिए धर्म दो तरहका होता है—

वैराग्य रागोपाधिभ्याम् आम्नातोभय लक्षणा

अपने धर्मशास्त्रोंमें बताया कि एकके अन्त:करणमें राग-द्वेष होता है और एकके अन्त:करणमें वैराग्य होता है। तो जिसके अन्त:करणमें राग-द्वेष होवे उसको पहले धर्मानुसार अर्थ और काम—ये दोनों पुरुषार्थ हैं—प्राप्त करना चाहिए, उसे धन कमाना चाहिए, उसे भोग भी करना चाहिए, परन्तु रोक इतनी रखनी चाहिए कि चोरी-बेईमानी करके धन न कमाये और धर्मके विपरीत भोग न करे; धर्मानुसार भोग करे। इससे क्या होगा कि अर्थ रास्तेसे चलेगा, भोग रास्तेसे चलेगा। तो तीन पुरुषार्थ एक साथ समन्वित हैं—धर्म, अर्थ और काम, और ये राग-द्वेष जिस अन्त:करणमें हैं उस अन्त:करणको रास्तेसे चलानके लिए हैं। हमारे यहाँ तो पुरुषार्थ चिन्तामणि-धर्मशास्त्रके ग्रन्थ हैं, हेमाद्रिका बड़ा विशान ग्रन्थ है उसका नाम है—चतुर्वर्ग चिन्तामणि। अब यह है कि जब तक यह बात ब्राह्मण विद्वान्‌के हाथमें रही तब तक तो उन्होंने गृहस्थोंके लिए धर्म, अर्थ, कामका शास्त्रोक्त निर्वाचन किया—विवाह कौन कराता था, वे ही कराते थे, बसनेकी पूजा कौन कराता था, सत्यनारायणकी पूजा कौन कराता था—ब्राह्मण ही तो करते थे। लेकिन जब ब्राह्मणोंके आचारमें, उनके व्यवहारमें कुछ न्यूनता दिखी तो इस क्षेत्रमें साधु आ गये और तब उन्होंने मोक्ष पुरुषार्थकी विशेषता सबके सामने रख दी, चाहे अधिकारी हो, चाहे अनधिकारी हो, चाहे रागी हो चाहे वैराग्यवान् हो! भले वह पाप करता हो, चोरी-बेईमानी करता हो! अब साधु लोग कहले लगे—आओ, हम तुम्हें बृहदारण्यक उपनिषद् सुनाते हैं—बोले 'अहं ब्रह्मस्मि'—जो सबसे उत्तम बात तुमको सुना दी। कि इसका फायदा क्या होगा? तो बोले जो चोरी-बेईमानीसे तुमने कमाया है, उसमें हमारा भी हिस्सा दो। कि क्यों? अरे भाई, हमने भी तो तुम्हें चोरीसे ही 'अहं-ब्रह्मस्मि' बताया है, कोई अधिकारीने पुरुष अधिकारी पुरुषको थोड़े ही बताया है? तुम भी अनधिकारी हो और हम भी अनधिकारी हैं, हमको तुम धन दो, हम तुम्हें अहं-ब्रह्मास्मि देते हैं, आओ हो जाय हम दोनोंमें मेल-मिलाप। देखो बात हम बोलते हैं दो टूक—आपको भली लगे, चाहे बुरी लगे! यह जो नचिकेताके सामने यह बात कही गयी कि 'बेटा! हाथी लो, घोड़ा लो, धन लो, लोक लो, परलोक लो—सब लो लेकिन ब्रह्मविद्या मत माँगो'—इसका अभिप्राय क्या है? इसका अभिप्राय यही है कि वैराग्यवान् जो है वही मुक्तिका अधिकारी होता है।

अब मुक्ति क्या है तो पहली बात आपको सुनावें—किससे मुक्ति? जो

जलमें होता है वह वहाँसे छोड़ा जाता है!—उसने प्रार्थना—पत्र दिया राष्ट्रपतिके सामने कि बहुत दिन हम जेलमें रह चुके, अब हम वादा करते हैं कि हम कोई गड़गड़ी नहीं करेंगे, हमें जेलसे मुक्त कर दिया जाय। वादा करे बगैर कभी किसीको जेलसे मुक्ति नहीं मिलती। तो यहाँ मुक्ति किससे होनी है? कि

नाविरतो दुश्चरितात् नाशान्तो ना समाहितः।
नाशान्त मानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ (कठ० १.२.२४)

यह आरध्यक-विद्या है महाराज—एक नम्बरकी बात है कि दुश्चरित्र छोड़ो, दूसरे नम्बरकी बात है—काम, क्रोध भी निकाल दो। तीसरी बात है कि सिद्धिकी इच्छा छोड़ो, चौथी बात है कि मनको शान्त करो—यह श्रेयसका मार्ग है, कल्याणका मार्ग है। जरा साधनपर भी तो दृष्टि डालो।

असलमें जिसके लिए अर्थ सुख हो जाता है, जिसके लिए भोग दुःख हो जाता है, जिसके लिए यज्ञ-यागादि कर्मका अनुष्ठान भी दुःख हो जाता है, वही मुक्तिका अधिकारी होता है। तो मुक्ति किससे? कि अब धनके झगड़ेमें न पड़ना पड़े, अब भोगमें पड़कर हम बारम्बार ग्लानि न भोगें, बारम्बार आगके सामने बैठकर अब होम न करना पड़े! तो मुक्ति माने यह जो अर्थके लिए, भोगके लिए, सांसारिक वस्तुओंके लिए दिन-रातका जो लोक-परलोकके लिए विक्षेप है उससे हमको मुक्ति मिले।

आप किससे मुक्ति चाहते हैं, जरा सोचिये तो! मुक्तिकी तो बात यह है कि यदि किसीसे पूछ बैठें कि तुम किससे मुक्ति चाहते हो तो आश्चर्य ही होता है। देखो, अपने घरकी बात सुनाता हूँ—हमारे पितामह थे, बहुत वृद्ध थे और उन्होंने अपने मुँहसे यह बात सुनायी है। इसलिए आपको यह बात मैं सुनाता हूँ, कल्पना करके नहीं। वे गये एक बार जगन्नाथपुरी! दर्शन-वर्शन करनेके बाद पण्डोंने उनसे कहा कि जगन्नाथपुरीमें आये हो तो कुछ छोड़कर जाना—माने कुछ त्याग करके जाना—तीर्थमें आये हो तो कुछ त्याग नहीं करोगे तो कैसे बनेगा? तो वे बताते थे कि उनके मनमें यह बात आयी ही नहीं कि त्याग माने काम छोड़ दें, क्रोध छोड़ दें—यह स्फुरणा ही नहीं हुई कि झूठ बोलना छोड़ दें। तो उन्होंने सोचा कि कोई खानेकी चीज छोड़ दें—सब्जी या फल छोड़ दें! तो अब सब्जीमें पहले तो आया आलू—सब्जियोंका राजा। तो ख्याल आया कि यही छोड़ देंगे तो खायेंगे क्या? फिर याद आया कि भण्डारेवाला काशीफल—तो ख्याल आया कि अपने घरमें तो छोड़ देंगे पर कभी किसीके यहाँ ब्याहमें गये अथवा किसी ब्रह्मभोजमें गये जो

काशीफलके बगैर तो चलेगा ही नहीं—वह तो खास फल है, तो पण्डाजीसे बोले कि अच्छा, कल बतावेंगे और रात भर जगन्नाथपुरीमें विचार करके दूसरे दिन पण्डाको उन्होंने क्या बताया सो बताऊँ आपको? कि गूलरका फल नहीं खायेंगे—संस्कृतमें गूलरको उदुम्बर बोलते हैं—उसको खानेका तो जिन्दगी भरमें कभी मौका ही नहीं पड़ता है तो हमारे त्यागकी तो यह दशा है कि दुनियामें छोड़ने लायक हमें कोई चीज मालूम ही नहीं पड़ती और हम चाहते हैं भुक्ति। भुक्तिवाला शास्त्र!

तो मुक्ति माने तलाक। जिससे हम छूटना चाहेंगे उससे ही मुक्ति मिलेगी, जिसको चाहते हैं उसको तो तलाक देंगे नहीं, जिसको नहीं चाहते हैं उसीको तो तलाक दे सकेंगे। तो दुनियाकी सभी चीजोंको जब हम चाहते हैं तब तलाक किसको देंगे, त्याग किसका करें गे, मुक्ति किससे होगी? तो मुक्तिको ही श्रेयस् बोलते हैं, निःश्रेयस् बोलते हैं। इस मुक्तिमें राग-द्वेषका अत्यन्ताभाव हो जाता है। मनुष्य जिन्दा रहता है पर राग-द्वेष ऐसे ढीले पड़ते हैं, ऐसे ढीले पड़ते हैं कि आपको क्या बतावें—

तेरे आवे जो करे भलो-बुरो संसार।
नारायण तू बैठके अपनो भवन बुहार॥

एक दिन यहाँ एक आदमी आया। वहाँसे आया जहाँ छह-छह महीनेतक रात नहीं होती है जिसको—ध्रुव बोलते हैं। अब यहाँ तो उसको बारह घण्टोंके बाद ही रात आती दिख गयी, तो वह बोलने लगा—भागो रे भागो, यह तो असमयमें ही अन्धकार आ गया, सृष्टिमें कोई उपद्रव होने जा रहा है! लेकिन यहाँ तो एक दूसरा आदमी शान्तिसे अपने कमरेमें बिजलीका बल्ब जलाकर बैठा हुआ था और पहला चिल्ला रहा था—भागो-भागो, अन्धेरा आ गया, अन्धेरा आ गया! तो उसने कहा कि भाई, तुम्हारे लिए बारह घण्टे बाद अन्धेरा आना आश्चर्य है, हमारे तो रोज ही बारह घण्टे बाद अन्धेरा आता है! यह तो कालचक्र है—कलियुग आता है, द्वापर आता है, त्रेता आता है, सतयुग आता है—कालचक्रसे रोज अन्धकार आता है। बोला कि तुम इसको दूर करनेके लिए कुछ करते नहीं हो—जप करो, तप करो, कुछ करो, ताकि यह रात न आवे! महात्माने कहा—बाबा देखो, हम तो दीया जलाये बैठे हैं और थोड़ी देरमें सो जायेंगे और रात बीत जायेगी, और तुम जो यह अन्धकार हटानेके लिए कोलाहल कर रहे हो—यह अपने-आप तुम्हारे बिना कुछ किये ही हट जायेगी और प्रकाश हो जायेगा। फिर बोला कि यह अन्धकार

रूप अधर्मको दूर करनेके लिए तुम भी कुछ करो। बोले महात्मा कि हम यही कर रहे हैं कि हम शान्त-चित्तसे दीपक जलाये बैठे हैं और शान्तिसे फिर सो जायेंगे और जब यह कालक्रम बीत जायेगा तब फिर प्रकाश हो जायेगा। यही कालक्रम है—प्रकाशके बाद अन्धकार और अन्धकारके बाद प्रकाश, यह सृष्टिका कालधर्म है, इसमें अपने चित्तको शान्त रखना। बच्चोंका चित्त अशान्त होता है, जो महापुरुष होते हैं उनका चित्त महाप्रलयके समय भी शान्त रहता है!

आप कहो तो, आज रेल-दुर्घटनाके बारेमें आपको एक व्याख्यान दे दें; एक महापुरुष रामस्वामी अय्यर मर गये हैं—कहो तो उनकी मातमपुर्सी कर लें; कहो तो छात्र-आन्दोलनपर एक व्याखान दे दें—लेकिन तब आप कठोपनिषद् नहीं सुन सकेंगे, तब आप सामयिक परिस्थिति पर व्याख्यान सुनेंगे। कठोपनिषद् पर व्याख्यान आप कब सुनोगे कि जब इन सामयिक परिस्थितियोंसे हटोगे। दिन आता है, रात आती है; सत्युग, द्वापर, त्रेता, कलियुग बदलते हैं, मन्वन्तर-पर-मन्वन्तर आते हैं, कल्प-पर-कल्प होता है, ब्रह्म मरते हैं, विष्णु मरते हैं, रुद्र मरते हैं, ब्रह्माण्ड आपसमें टकरा करके फूट जाते हैं और प्रकृति कभी शान्त हो जाती है और कभी क्षुब्ध हो जाती है! जब इधरसे दृष्टि हटाकर आप उस अधिष्ठान चैतन्य, स्वयंप्रकाश सर्वावभासककी ओर अपना ध्यान करेंगे तब आप कठोपनिषद्के तत्त्वको समझ सकेंगे। क्या यह कोई मामूली चीज है! क्षुद्र उपद्रवसे विद्रवित होकर जो स्वप्रकाश सर्वाधिष्ठानता है, उसके अभिमुख होना, यह कोई साधारण बात नहीं है। और—नारायण! यह श्रेयसके मार्गमें चलना बड़ा विलक्षण मार्ग है।

अब कहते हैं कि श्रेय और प्रेयके प्रयोजन भिन्न-भिन्न हैं—श्रेयस्का प्रयोजन भिन्न है, प्रेयस्का प्रयोजन भिन्न है और जिसका जैसा प्रयोजन होता है उस अधिकारीको वैसे साधनमें ये दोनों लगाते हैं। देखो, एक आदमी सड़कपर हमसे दाहिनी ओर जाता है और एक आदमी बायीं ओर जाता है—एक ही सड़कपर आदमी दो ओर चल रहे हैं विभिन्न दिशाओंमें! क्यों चल रहे हैं? कि एकका प्रयोजन दाहिनी ओर है और एकका प्रयोजन बायीं ओर है और अपने-अपने प्रयोजनकी दिशामें सब-के-सब जा रहे हैं। आप हृदयसे पूछें कि क्या आपका प्रयोजन मुक्ति प्राप्त करना है? या कि आपका प्रयोजन निःश्रेयस् है? या कि आपका प्रयोजन प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वका साक्षात्कार है? क्या आपका प्रयोजन धर्म-अर्थ-कामके निमित्तसे जो सुख मिलता है, उस नैमित्तिक सुखसे विरक्त होकर नित्य पारमार्थिक सुखको प्राप्त करना है?

तो, यह उपनिषद् बताती है कि—**ते उभे नानार्थेः पुरुषं सिनीतः**—माने श्रेय और प्रेय दोनों— पुरुषको, माने वर्णाश्रमादि विशिष्ट अधिकारीको, नानार्थे माने भिन्न-भिन्न प्रयोजनमें सिनीतःयानी लगाते हैं। जो चाट खाना चहता है वह **चौपाटीपर** जायेगा और जो सत्संग करना चहता है वह प्रेम- कुटीरमें आयेगा। प्रयोजन अपना भिन्न-भिन्न हो गया न! जो संसारका भोग चाहता है वह संसारमें जायेगा, उसको सत्सङ्ग अच्छा नहीं लगेगा, उसको तमाशा अच्छा लगेगा, उसको चौरंगी चौमुहानी अच्छी लगेगी; और जिसको पैसा चाहिए उसको बाजार अच्छा लगेगा। और जिसके हृदयमें यह प्रयोजन है हम सत्यका साक्षात्कार करें, ब्रह्मका साक्षात्कार करें, संसारके बन्धनसे, राग-द्वेषसे, आवागमनसे, जन्म-मृत्युसे, स्वर्ग-नरकसे मुक्त होवें—यह विद्याके मार्गमें, श्रेयके मार्गमें चलता है—

तयोः श्रेयं आददानस्य साधुर्भवति।

हमारे उपनिषद्, वेदमन्त्र बताते हैं कि श्रेय और प्रेयको समझ करके—प्रेय अर्थात् इन्द्रियोंकी तृप्ति और अपना अनन्त-कालिक श्रेय। दोनोंमें-से श्रेयको ग्रहण करना है, श्रेयको स्वीकार करता है उसको अमृतत्वकी प्राप्ति होती है; और प्रेयको स्वीकार करनेसे केवल लौकिक अभ्युदय होता है—इनके साथ पुरुष सिनीतः—माने बँधे हुए हैं—बँधे हुए हैं मानो खींच कर ले जाते हैं—जो श्रेय चाहेगा वह सिनेमा मधुशलामें जायेगा? अब कहो कि बहुमत तो आजकल उधर ही जा रहा है, तो क्या, वोटसे मोक्षका निर्णय होगा? कि नहीं, सम्पूर्ण विश्वमें यदि एक भी तत्त्व ज्ञानी पुरुष शेष रहेगा तो फिर तत्त्वज्ञानकी परम्परा चल जायेगी! तत्त्वज्ञानका कभी लोप नहीं हो सकता! क्यों? कि वह परमार्थ है न, वह यथार्थ सत्य है, वह ईमानदारीकी बात है और बाकी सब अपने लाभ और लोभकी बात है।

तो जो श्रेयको स्वीकार करता है उसका कल्याण होता है—साधुर्भवति और जो प्रेयका वरण करता है वह—**हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते**—जो परम अर्थ है और नित्य है और अविनाशी है और शाश्वत है उससे वह वंचित हो जाता है! कौन? कि जो इन्द्रियोंके भोगमें लग जाता है और केवल प्रेयका वरण करता है कि हमको तो भाई, यही अच्छा लगता है। कि अच्छा भाई, अच्छा लगे; मगर इसका उपसंहार तो कड़ुआ ही होगा! बोले—अब तो आनन्द ही है बादमें कड़ुआ ही सही।

हमारे गाँवके पास एक क्षत्रिय रहते थे; तो वे मांस-मछली सब खाते थे। यहाँ भी लोग खाते ही हैं, उसपर हमारा आक्षेप नहीं है। उससे कोई मतलब भी

नहीं है, उससे जो सीखनेकी बात है वह बताते हैं। उनको हो गया जलोदर अब मछली तो बहुत खाते ही थे और मछलीमें पानी बहुत होता है। तो जलोदर होनेपर डाक्टरने उनसे कहा कि अब तुम मछली कभी मत खाना! अगर मछली खाओगे तो मर जाओगे, यह बात एकदम पक्की है—यह बात मैं गीताप्रेसमें जब रहता था तबकी है। मैं स्टेशनसे उतर कर घर जा रहा था, रास्तेमें देखा कि कँहार उनको पालकीपर उठाये लिये जा रहे हैं। मुझको देखा उन्होंने तो पालकी रुकवायी। जैसे-तैसे उतरे। मैंने पूछा—क्या बात है? बोले—डाक्टरके पास जा रहा हूँ। क्यों? बोले—मुझको जलोदर हो गया है, डाक्टरने मना कर दिया था कि मछली मत खाना, पर कल मैंने जीभकी लालचमें आकर मछली खा ली-इतने दिनमें बहुत ठीक हो गया था, पर कल जीभकी लालचमें आ गया और खा ली मछली, अब आज पेट फूल गया है, तकलीफ है, इसलिए जा रहे हैं डाक्टरके पास। और महाराज, उसी दिन वे मर गये। तो जैसे यह जीभ होती है वैसे ही और भी इन्द्रियाँ होती हैं—मनुष्य उनके सामने अपने ज्ञानका तिरस्कार कर देता है, अपनी बुद्धिका तिरस्कार कर देता है, अन्तरात्माका तिरस्कार कर देता है—अपनी भलाई का, अपने हितका तिरस्कार कर देता है।

तो यह श्रेय जो है यह शाश्वत है, नित्य है, परमार्थ है—अपना हित है। यदि आप अपनी भलाईको छोड़कर केवल तात्कालिक इन्द्रियोंके सुखको वरण करोगे तो परमार्थसे वंचित हो जाओगे। यह तुम्हारी बुद्धिकी परीक्षा है, तुम्हारी भलाई और तुम्हारा प्यार—दोनों दो दिशामें जा रहे हैं—लड़ाई हो गयी है दोनोंमें; तुम्हारा प्यार तुम्हें नरककी ओर ले जा रहा है और तुम्हारी बुद्धि, तुम्हारी भलाई तुम्हें दूसरी दिशामें आनेका इशारा कर रही है कि तुम चलते हो भलाईके मार्गमें कि नहीं!

(२)

श्रेय एक अलग वस्तु है और प्रेय एक अलग वस्तु है, माने अपने जीवनको ऐन्द्रियक भोगमें, तात्कालिक तृप्तिमें लगा देना एक दूसरी चीज है और हमेशाके लिए जिससे अपना भला हो, हित हो वह बात दूसरी है। प्रज्ञाको अपने आगे-आगे ले चलना दूसरी बात है और इन्द्रियोंको अपने जीवनका नेता बना लेना दूसरी बात है। माने तुम्हारे जीवनका नेतृत्व कौन करता है? तुम्हारी मोटरका ड्राइवर कौन है? वह होश-हवाशमें है कि शराब पीये हुए है? तो, यदि ये मतवाली इन्द्रियाँ तुम्हारे जीवनका नेतृत्व कर रही हैं और तात्कालिक तृप्तिपर ही

जोर दे रही हैं और तुम्हारी प्रज्ञा या तो बेहोश हो गयी है और या तो इन्द्रियोंके अधीन हो गयी है—जैसे इन्द्रियाँ खुश हों, जैसे इन्द्रियोंको भोग मिले वैसा ही उपाय, वैसी ही युक्ति तुम्हारी बुद्धि बताती है, तो भाई, यह जो वर्तमानमें तुमको मीठा खानेको मिल रहा है इसमें जहर मिला हुआ है। कहनेका तात्पर्य यह है कि यह जो तात्कालिक इन्द्रिय-सुख है—खानेको ऐसा चाहिए, न मिले तो मरे; पहननेको ऐसा चाहिए, सूँघनेको ऐसा चाहिए—अभिमान करनेके लिए भी बाहरकी ही चीजें चाहिए—इस बातका अभिमान नहीं है कि हम अच्छे खानदानमें पैदा हुए हैं, इसका भी अभिमान नहीं है कि हम सच बोलते हैं, इसका अभिमान नहीं है कि हम ईमानदार हैं, इसका अभिमान नहीं है कि हम सदाचारी हैं यह जैसे गाँवमें गुण्डे लोग इकट्ठे होकर अभिमान करते हैं कि हमने दस कतल किये हैं; व्यभिचारी लोग आपसमें इकट्ठे होकर गिनती करके बताते हैं कि हमारा सैकड़ों स्त्रियोंके साथ सम्बन्ध हुआ है, तो जैसे मनुष्य कोई अपने अभिमानके लिए कोई गन्दा विभाग चुन ले, इस प्रकार है मनुष्यकी मनोवृत्ति—हमने ऐसे-ऐसे कपड़े पहने हैं इसका अभिमान है, अपने ऐसे-ऐसे जेवर पहने हैं इसका अभिमान है, हमने ऐसे-ऐसे भोग किये हैं, इसका अभिमान है, परन्तु हमने ऐसे-ऐसे भोग छोड़ दिये हैं इसका अभिमान नहीं आता है। अभिमान गलत दिशामें जब चलता है तब मनुष्यको पतनकी ओर ले जाता है।

देखो—अभिमान बुरी चीज नहीं है—यह हमको एक सन्तने बहुत पहले बचपनमें बताया था—छोटा था तब मुझको यह शिक्षा मिली थी। उन्होंने कहा कि अभिमान बुरी चीज नहीं है—जब कोई कहे कि हमारा जूठा खा लो तो कहो कि हम सदाचारी होकर जूठा कैसे खालें? आपको एक बात सुनावें—गाँवकी बात है, हम भी तो गृहस्थ रह चुके हैं न, हमारी ही बात है। हमारे रिश्तेमें एक लड़की थी, तो उसकी शादी हुई जिससे वे एम. ए. पास थे। आजकल तो बड़े आफिसर हैं, जब शादी हुई तब हमारी उनसे बहुत दोस्ती भी थी; फिर एक दिन वह बाबू बोले कि आओ, हम एक ही थालीमें खायें। मैंने कहा—बाबा, हमको तो बचपनसे अबतक किसीकी थालीमें खानेका अभ्यास नहीं है— हमने तो किसीका जूठा नहीं खाया है, हम नहीं खायेंगे। चुप हो गये वे, क्या बोलते? थोड़ा दुःख तो हुआ उनको पर, मैंने खाया नहीं।

आपको यह बात इसलिए बताते हैं कि अभिमान काहेका करना—हमको सन्तने शिक्षा दी, बचपनमें दी कि जब कोई तुमसे कहे कि जूठा खाओ, तो कहो

कि मैं ब्राह्मण हूँ, मैं पण्डित हूँ, मैं यज्ञोपवीती हूँ, मैं भला जूठा कैसे खा सकता हूँ? जूठा छोड़नेके लिए तुम अपनेमें बिलकुल ब्राह्मणपनेका अभिमान भर लो। जब कोई कहे कि चलो, हमारे मुकदमेमें झूठी गवाही दे दो तो कहो कि राम-राम-राम, हम ब्राह्मण होकर झूठ बोलें? यह अभिमान बुरा नहीं है—बिना कुछ अभिमान धारण किये मनुष्य जिन्दा नहीं रह सकता—हम ऐसे खानदानमें पैदा हुए, ऐसी हमारी माता, ऐसे हमारे पिता, ऐसे पति, ऐसी पत्नी, ऐसा पुत्र—हम इतना बुरा काम कैसे कर सकते हैं? अभिमान धारण कर लो। और जब किसीके तिरस्कारकी बात आवे कि ऐ तू शूद्र है, क्षुद्र है—तो ऐसा अभिमान कभी मत धारण करना। अपनेसे किसीको छोटा बतानेके लिए अपना बड़प्पन मत बघारना, लेकिन छोटे कामसे बचनेके लिए अपना बड़प्पन भी बघार लेना।

यह अभिमान भी भगवान्का दिया हुआ है, सबके भीतर रहता है, बिलकुल निरभिमान कोई नहीं रहता है। तो, तुम उस अभिमानका उपयोग कहाँ करते हो—यह मत कहो कि हम भोगी हैं, यह कहो कि हम योगी हैं, यह मत कहो कि हम रोगी हैं—रोगीपनेका अभिमान मत धारण करो, यह कहो कि हम स्वस्थ हैं। मैं जन्मने-मरनेवाला हूँ, मैं दोषी-दुर्गुणी हूँ, मैं दुर्भाव-ग्रस्त हूँ, मैं अज्ञानी हूँ—ऐसा अभिमान मत धारण करो, मैं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त परब्रह्म-परमात्मा, से एक हूँ ऐसा अभिमान धारण करो। यह अभिमान तुम्हारे सब संकटको दूर कर देगा, बिना समझे धारण करोगे तब भी दूर कर देगा और समझ-बूझ कर धारण करो तब तो पूछना ही क्या। यह ऐसा सत्य है, यह इतना है, इतना सत्य है कि अनजानमें भी यदि कोई इसको धारण करे तो इस सत्यके बलसे उसका कल्याण हो जाये।

तो भाई इन्द्रियोंकी तृप्तिके मार्गपर मत चलो, अपने आत्माकी नित्य-शुद्धि जो है उसको जानो। श्रेयका मार्ग दूसरा और प्रेयका मार्ग दूसरा। एकने हमको कल बताया कि वे जाते थे पहले सिनेमा देखने, तो वहाँ देखते कि अमुक अभिनेताने कैसी पोशाक पहन रखी है और अमुक अभिनेत्रीने कैसी पोशाक पहन रखी है और फिर घरमें आकर दर्जीको बुलाते और उससे कहते कि हमको अमुक अभिनेताके जैसा कपड़ा चाहिए और दर्जी जब कहता कि हम नहीं जानते हैं वह कैसा पहनते हैं तो उसको हम सिनेमाकी टिकटके लिए पैसा देते और उससे कहते कि जाओ सिनेमा देखकर आओ और फिर वैसा कपड़ा हमारे लिए बनाओ—अब समझो कि कभी किसीको कोई अभिनेता/अभिनेत्री ही पसन्द आ

गया और आकर उसने अपने पति/पत्नीसे कहा कि तुमको वैसा ही बनना चाहिए। तो हे भगवान्—न पति अभिनेता बन सकता है और न पत्नी अभिनेत्री बन सकती है; वह तो दिखावा है, वह तो नाटक है—सिनेमा जीवनका ठोस सत्य नहीं है। तो यह जो प्रपञ्चका सिनेमा हो रहा है उसमें पर्दा तो है ब्रह्म और स्वयं प्रकाश आत्म तत्त्व भिन्न-भिन्न प्रकारसे फुर्र रहा है, सिनेमा हो रहा है। इस दृश्यमें-से यदि कोई वस्तु पकड़ोगे कि यह ऐसा हो, यह ऐसा हो, तो वह तुमको दु:ख दिये बिना नहीं मानेगा। यदि अपना श्रेय चाहते हो, अपना कल्याण चाहते हो तो हम बड़े भोगी—यह अभिमान छोड़ दो, जिस भोगके पीछे सारी दुनिया परेशान है उसको हम छोड़ सकते हैं अपने अन्दर इस सामर्थ्यका विकास करो, इसमें तुम्हारा जितना बड़प्पन है उतना बड़प्पन भोगी होनेमें नहीं है।

एक ड्राइवरने दूसरे ड्राइवरको गाली दी, दूसरेने उसको गाली दी। अभी आ रहे थे न, तो दो ड्राइवर गाड़ी खड़ी करके आपसमें गाली-गलौज करने लगे—मोटर लड़ी नहीं थी, पर करने लगे गाली-गलौज। तो यदि ऐसे जगह-जगह लड़ते फिरोगे, टकराते चलोगे, धक्कम-धुक्की करते चलोगे तो तुम्हें अपने जीवनमें कौन-सा लक्ष्य प्राप्त होगा? तो श्रेय शान्तिका मार्ग है—इसका प्रयोज़न प्रेयके प्रयोजनसे भिन्न है।

देखो, सबलोग कुछ-न-कुछ पानेके लिए काम करते हैं—एक आदमी रुपया पानेके लिए काम कर रहा है; लेकिन रुपया उतना ही चाहिए जितनेसे जीवन निर्वाह हो ज़ाय। कपड़ा उतना ही चाहिए जितनेसे जीवन निर्वाह हो जाय। यह महाराज जिनके घरमें ज्यादा कपड़े होते हैं न, रखे-रखे गल जाते हैं और जब वे निकलते हैं तब छूते ही फट जाते हैं।

एक बार एकके घर गये थे तो पत्नी १०-१२ साड़ियाँ खरीद कर ले आयी। पतिने मेरे सामने ही कह दिया—काहेको ले आयी इतनी साड़ियाँ? तो बोली—मेरे पास कम हैं इसलिए। बोले—कितनी हैं सच-सच बताओ। बोली साढ़े तीन-सौ मगर मेरी नन्दके पास तो पाँच-सौ हैं, इसलिए मैं खरीद कर ले आयी। अब समझो कि साल भरमें एक बार भी पहननेमें नहीं आयी—तो रखे-रखे सड़ जाती हैं और कितने लोग नंगे रह जाते हैं, उनको पहननेको भी कपड़ा नहीं मिलता है—इसका ध्यान नहीं रखोगे तो इसका जो पाप है वह एक दिन तुम्हारे सिरपर पड़ेगा। एक आदमीके बच्चेको दूध न मिले पीनेको और दूसरे आदमीके घरमें दूध रखा-रखा सड़ जाय—ऐसा नहीं होना चाहिए।

तो—श्रेयका मार्ग त्यागका मार्ग है और प्रेयका मार्ग भोगका मार्ग है। ऐसे लोग विमूढ़ हैं—विमूढ़ शब्दका प्रयोग ही किया है श्रीशङ्कराचार्य भगवान्ने—**विविधं मूढः विमूढः,विविधं** मूढः का क्या अर्थ होता है कि जहाँ गया वहीं अटक गया। साड़ीकी दुकानमें गया तो वहीं अटक गया, शृंगार-प्रसाधनकी दुकानमें गया तो वहीं अटक गया, इत्रकी दुकानमें गया तो वहीं अटक गया। पहले दादाका ऐसा था कि कहीं दवाकी दुकानमें चला जाता तो यह सोचता था कि दुकानकी सारी दवा हमारे घरमें पहुँच जाय—तो उसको बहुत सम्भालकर रखना पड़ता था, हम डरते रहते थे कि इसे कहीं दवाकी दुकान रास्तेंमें न मिल जाय! तो आदमीका दिमाग है—सोचता है सब हीरा हमारे घरमें हो, सब सोना हमारे घरमें हो। नहीं भाई, जीवन-निर्वाहके लिए वस्त्र चाहिए, जीवन-निर्वाहके लिए भोजन चाहिए, जीवन-निर्वाहके लिए धन चाहिए, सो तो ठीक है, परन्तु तुम अपनी पच्चीस पीढ़ीके लिए इकट्ठी करो और वर्तमान पीढ़ी भूखी मर जाय यह श्रेयका मार्ग नहीं है। तो **विविधं मूढः**—जहाँ सुन्दरतापर दृष्टि पड़ी वहाँ मूढ़ हो गये, स्त्रीपर मूढ़ हो गये, पुरुषपर मूढ़ हो गये। बोले—बड़े गुण हैं, बड़ी सुन्दरता है, बड़ा रूप है, बड़ी मीठी आवाज है—कि भले मानुष सृष्टिमें जितनी सुन्दरता है, क्या सब तुम्हारे लिए ही है? वह मूढ़ हो गया। जो प्रेयको पकड़ता है। और **यः उ प्रेयो वृणीते**—इस प्रकार जो प्रेयका वरण करता है, केवल इन्द्रियोंका भोग जो चाहता है, वह अपने नित्य परमार्थसे, जिससे निःश्रेयस् होता है उससे च्युत हो जाता है।

अब, बोले—भाई, भगवान्ने बताया ही ऐसा है।

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।
श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते॥ २॥

ये कहते हैं कि मनुष्यके सामने श्रेय और प्रेय दोनों आते हैं—एतः माने चल कर आते हैं। भगवान्ने सृष्टि ऐसी ही बनायी है।

हमलोगोंके यहाँ एक संस्कार होता है—आजकल तो संस्कार सब उठ गया न—बच्चेकी उम्र जब कोई दो वर्षके लगभग होती है तब एक दिन पण्डितको बुलवाकर पूजा करवाते हैं और फिर बच्चेके सामने कई चीजें रखी जाती हैं—पुस्तक, चाकू, तराजू, कुदाल, फावड़ा, हँसिया, हीरा हो तो हीरा, सोना—सब रखा जाता है। और फिर देखते हैं कि किसकी ओर बच्चा स्वाभाविक रूपसे आकर्षित होता है, हाथ बढ़ाता है और फिर उससे यह निर्णय किया जाता है कि किस ढंगकी पढ़ाई इसे पढ़ाई जाय। यह नहीं कि सबको एम० ए० की पढ़ाई पढ़ा कर उनका

निर्वाह कर दिया जाय—ऐसे नहीं। उसकी ईंट-पत्थरमें रुचि हुई कि सोने-चाँदीमें रुचि हुई, कि तराजू-बाटमें रुचि हुई कि अन्नमें रुचि हुई, कि पुस्तकमें रुचि हुई? हमारी तरफ तो अभी भी यह संस्कार होता है। बच्चेका स्वाभाविक रुझान पता लगानेकी यह एक पद्धति है। आजकल तो तरह-तरहकी वैज्ञानिक पद्धतियाँ हैं, लेकिन इतने वैज्ञानिक उत्थानके युगमें भी दस वर्षतक सबको एक ढंगकी शिक्षा देकर तब विभाजन करते हैं कि तुम ईंट-पत्थरके विभागमें जाओ और तुम कल-कारखानेके विभागमें जाओ और तुम विज्ञानके विभागमें जाओ और तुम डाक्टर बनो और तुम इञ्जीनियर बनो। और पहले यह होता था कि शुरूसे ही बच्चे अध्यापकके संसर्गमें रहते थे और आठ वर्षकी उम्रके बाद तो बच्चे घरमें रहते ही नहीं थे—माँ-बापके संसर्गमें भी नहीं रहते थे, अध्यापकके संसर्गमें रहते थे। इससे परिवारका पक्षपात कम हो जाता था, परिवारके जो दुश्मन होते उनके साथ दुश्मनी नहीं होती थी, भोगमें-रागमें ज्यादा आदत नहीं बिगड़ती थी, अपरिचित लोगोंमें असङ्ग रहनेका अभ्यास हो जाता था—पहलेकी बात है यह अब तो माँ कहती है कि हम अपनी गोदमें-से बच्चेको उतारेंगी ही नहीं।

तो **श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः**—मनुष्यके सामने श्रेय और प्रेय आते तो दोनों ही हैं परन्तु असलमें मनुष्य स्वतन्त्र है। हमारे एक मित्र थे, तो उनको तिपाई चलानेकी विद्या आती थी—कहीं जाकर सीख आये थे—तो अब उनको घरमें-से कभी निकलना होता तो कभी साँस मिलायें। एक हमारा दूसरा मित्र था तो उसके सामने खानेकी थाली रख दो तो ऐसे करके बैठता और साँस-वाँस मिलाकर पाँच-चार मिनट बैठकर तब खाता और घरसे कहीं जाना होता तो 'प्लैन चैट' चलाते कि जायँ कि न जायँ! यह सारी-की-सारी पराधीन होनेकी विद्या है। ईश्वरसे आदेश आवे, कि कोई ग्रह आकर आशीर्वाद दे जाय, कोई प्रेत आकर आदेश दे जाय—यह सब अपनेको पराधीन बनानेकी विद्या है।

हम बम्बईमें थे, तो एक सज्जन अपने भाईको लेकर आये कि महाराज, यह तो बिना परलोकसे आदेश आये घरमें-से निकलता ही नहीं है, क्या करें? तो मैंने उसको बहुत समझाया कि यह पराधीनताकी विद्या है, इसके चक्करमें मत पड़ो, इसमें आदमीको कभी बड़ा भारी धोखा होता है, एक आदमीको सपना आया था—फीचरका, तो उससे उसको चालीस-पचास लाख तक रुपया इकट्ठा हो गया, पर एक दिन ऐसा सपना आया कि सब बंटाधार हो गया! तो सपनेपर क्या किसीका काबू है? आदमीको पराधीन बिलकुल नहीं होना चाहिए।

यह मनुष्य श्रेय और प्रेय दोनोंमें स्वाधीन है, तुम्हारी आँखके सामने ईश्वर दोनोंको भेजता है। यह नहीं समझना कि जो भी सुन्दर स्त्री और गुणवाली स्त्री और सुशील स्त्री और युवा स्त्री तुम्हारे सामनेसे निकलती है वह तुम्हारी भोग्या ही है— मना किया है कि नहीं? मना किया है कि नहीं, इसकी ओर बुरी नजर नहीं डालना। तो पूछा, क्यों भाई, ऐसा क्यों?

जब बाजारमें जो सबसे बढ़िया फूल है वह हम खरीदकर लाते हैं, सबसे बढ़िया फल लाते हैं, सबसे बढ़िया अन्न लाते हैं, तब यह बढ़िया स्त्री हमारे लिए क्यों नहीं? बोले यह बात बिलकुल गलत है, एकदम सोलहो आने गलत है। यह जो लोग गुण देखकर चीजको अपनाते हैं, यह प्रणाली ही गलत है। यह जो लोग विधान स्वीकार करते हैं कि डाक्टर कहता है इसको खानेमें बड़ा लाभ है, इसलिए उसको खाओ, तो इसमें गलती यह है कि डाक्टरकी सलाहसे भोजन नहीं होता, उसमें अपना धर्म भी देखना पड़ता है, अपनी संस्कृति देखनी पड़ती है, अपनी जाति देखनी पड़ती है, अपना सम्प्रदाय देखना पड़ता है, अपने बुजुर्गोंका आचरण देखना पड़ता है! डाक्टरकी सलाहसे कहीं भोजन बनता है? वह तो बिल्कुल एकांगी दृष्टिकोण है, जैसे दलालकी सलाहसे स्त्री अपनी नहीं होती, वैसे ही डाक्टरकी सलाहसे भोजन अपना नहीं होता। धर्मका विज्ञान बिल्कुल दूसरा है, वह अपने मनके निर्माणकी दृष्टिसे होता है, अध्यात्मके निर्माणकी दृष्टिसे होता है, वह अपने कल्याणकी दृष्टिसे होता है।

तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः—मनुष्यके सामनेसे दोनों चीजें गुजरती हैं— अच्छी भी और बुरी भी, तत्काल देखनेमें जो प्यारी लगे सो भी और जो परिणाममें हितकारी हो सो भी। जो विवेकी और धीर पुरुष होगा वह दोनोंपर विचार करके जो हितकारी चीज है उसको चुनेगा और जो तत्काल तो प्यारी लगे और बादमें नुकसान करे ऐसी चीजको विवेकी और धीर पुरुष वरण नहीं करता।

व्याकरणकी रीतिसे मनुष्य पदका मुख्य अर्थ यही होता है कि जो मनुकी सन्तान सो मनुष्य और मनु कौन? तो, मननशीलको ही मनु बोलते हैं—ऐसा समझो, और शतरूपा कौन? कि शतरूपा माने श्रद्धा। तो मनुष्य जातिके मूलमें दो भाव मुख्य हैं—एक विवेक और एक श्रद्धा। जो सम्मुख उपस्थित है उसके सम्बन्धमें तो विवेक करना पड़ता है और जो सम्मुख उपस्थित नहीं है उसके सम्बन्धमें वेदसे, शास्त्रसे, पुराणसे, महापुरुषोंसे जानकरके श्रद्धा करनी पड़ती है। जो लोग ऐसा समझते हैं कि जीवनमें बिना श्रद्धाके काम चल सकता है उन्होंने

गम्भीरतासे जीवनका अध्ययन नहीं किया है। नाईपर श्रद्धा करनी पड़ती है कि यह उस्तरेसे काटेगा नहीं, डाक्टरपर श्रद्धा करनी पड़ती है कि यह विष नहीं देगा, अपनी माँपर श्रद्धा करनी पड़ती है कि यह बापका नाम ठीक बताती है! अगर माँ पर श्रद्धा नहीं हो तो बाप ही गबड़ा जायेगा, अध्यापक पर श्रद्धा न हो तो ऐसी लकीरका नाम 'क' है और ऐसी लकीरका नाम 'ख' है यह मालूम ही नहीं पड़ेगी, बच्चा जन्म लेते ही वैज्ञानिक नहीं हो जायेगा, उसको श्रद्धा-सम्पत्तिसे ही आगे बढ़ना पड़ेगा, मार्ग-दर्शक द्वारा बताये गये मार्गपर चलकर वह अनुसन्धान भी कर सकेगा, नहीं तो वह कोई अनुसन्धान भी नहीं कर सकता—न आणविक, न रासायनिक और न मानसिक तो श्रद्धा और मनन दोनोंके मिश्रणसे जिसके जीवनका निर्माण हुआ हो और इन्हीं दोनोंकी मददसे अपनेको जो पूर्णता तक पहुँचा सके, उसको मनुष्य कहते हैं।

निरुक्तमें मनुष्य शब्दकी व्युत्पत्ति बतायी है—'मनसा सीव्यति'—यह मानसिक सम्बन्ध जोड़नेवाला व्यक्ति है, यह अपने मनसे सम्बन्ध जोड़ लेता है। यह राष्ट्रीयता क्या है? यह मनसे जोड़ा हुआ सम्बन्ध है, और यह जो हमलोग 'भारत माताकी जय' बोलते हैं तो यह 'भारत माता' क्या है? यह राष्ट्र-पुरुष क्या है? यह राष्ट्र-पिता क्या होता है? जिस राष्ट्र-पिताका हम बड़े आदरसे स्मरण करते हैं वह हमारे मनकी ही तो रचना है न! राष्ट्र-पति, राष्ट्र-पिता, राष्ट्र-पुरुष, भारत-माता और अपनी जातीयता, अपनी प्रान्तीयता, अपनी साम्प्रदायिकता बनाकरके एक छोटेसे घेरेमें घिर जायें—यह मनसे बनाया हुआ बन्धन है, और अपनेको महान् रूपमें जानकरके इन बन्धनोंसे मुक्त हो जाये—वह भी मनुष्य ही है। हमने कपड़ेपर सुईसे बखिया करते भी आदमीको देखा है और सुईसे ही बखियाको उधेड़ते हुए भी देखा है! तो सीनेके लिए भी सुई लगाते हैं और सीनेके बाद जब उधेड़ना पड़ता है तब भी सुई लगाकर उधेड़ते हैं—**मनसा सीव्यति** जो मनसे सीये—मनसे सम्बन्ध जोड़े और जो मनसे ही सम्बन्ध तोड़े उसको मनुष्य बोलते हैं।

तो सामने आया श्रेय और सामने आया प्रेय। डाक्टरने कहा कि पेटमें खराबी है सो आज भूखे रहो और किसीने बहुत बढ़िया मिठाई लाकर सामने रख दी, अब जीभने कहा थोड़ी-सी खा लो। तो, जीभ तुम्हें प्रेय बता रही है और डाक्टर तुम्हें श्रेय बता रहा है, और तुम्हारे सामने दोनों खड़े हैं—श्रेय और प्रेय—'श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः'। यह घटना तुम्हारे जीवनमें रोज घटती है। सूर्यकी धूप

आवेगी तो लेनेका मन नहीं होगा, लेकिन चन्द्रमाकी चाँदनी छिटकेगी तो उसका आह्लाद लेनेका मन होगा।

आपको विरक्तोंकी एक बात सुनाता हूँ—ये जो साधु नंगे रहते है न—ये दिसम्बर जनवरीकी सर्दी रातमें नंगे रहकर सह लेते हैं, तो उसका विज्ञान क्या है कि ये दिन भर धूपमें नंगे रहते हैं और यदि वे दिनमें खुले शरीर धूपमें नहीं रहें तो रातकी सर्दी नहीं सह सकते। जो जेठकी गर्मीके लिए एयर-कन्डीशन ढूँढे और सोचे कि जनवरीकी सर्दी हम सह लेंगे तो वह नहीं सह सकता, लेकिन जो जेठकी गर्मी सह लेता है वह जनवरीकी सर्दी भी सह सकता है।

तो हमारे जीवनमें रोज गर्मी-सर्दी आती रहती है। एक आदमीकी कड़ी बात यदि हम नहीं सह सकेंगे तो उसकी मीठी बात भी तो नहीं सुन सकेंगे न! किसी भी मीठी बात सुननेके लिए उसकी कड़वी बात सहनी पड़ती है। कड़वी सह लो मीठी भी सुननेको मिलेगी—यह नियम है। और मनुष्यके जीवनमें यह दोनों बातें आती हैं।

तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः—धीर माने जो तुरन्त बह गया, जिसके अन्दर धैर्य ही नहीं है। कालीदासने धीर शब्दका प्रयोग किया है कि विकारके निमित्त प्राप्ति होनेपर भी जिसका चित्त विकृत नहीं होता, जो अपने चारित्र्यसे च्युत नहीं होता—उसको धीर कहते हैं। **विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि स एव धीरः**, जैसे कि एकने गाली दी और बदलेमें तुम्हारी आँख लाल हुई, चेहरा चढ़ा और तुमने एक गालीके बदले दो गाली दे दी, तो धीरका लक्षण यह है कि तुम तो बदलेमें गाली दो ही नहीं, दूसरेको भी समझाकर मना लो ताकि वह फिर गाली न दे। उसने गाली दी और तुमने भी बदलेमें गाली दी, तो तुम्हारे दुश्मनकी जीत हो गयी और उसने गाली दी और तुमने सह लिया और उसको आगे गाली न देनेके लिए मना लिया तो जीत तुम्हारी हो गयी। तो धीर उसको कहते हैं कि विकारके निमित्त उपस्थित होनेपर भी जिसके चित्तमें विकार न हो।

अब, ये धीर पुरुष दो तरहके होते हैं—श्रुतिमें इसकी चर्चा है और यह 'धीर' शब्द अनेक रूप धारण करके वेदोंमें प्रयुक्त होता है।

तं धीरः सः कवयः उन्नयन्ति तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वति ब्राह्मणः।

'जो धीर पुरुष होता है वह अपने जीवनमें परमात्माका, सत्यका अनुसन्धान करता है। धीर पुरुषका लक्षण भोगमें आसक्त होना नहीं है, सत्यकी खोज करना है।' और दूसरे धीर पुरुष उसको (सत्यको) जानकर अपनी प्रज्ञा

उसीमें कर देते हैं—ये दोनों वेदके मन्त्र हैं। धीर पुरुष उसीको ढूँढते हैं और धीर पुरुष उसीको जानकर, उसीको पाकर अपनी प्रज्ञा उसीके साथ ब्याह देते हैं। **प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः**—माने फिर उसकी प्रज्ञामें उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं रहती। और जो इन्द्रिय-लोलुप है उसके सामने कभी विषय आया तो बोला कि परमात्मा कहीं जाता थोड़े ही है।

ब्रजवासी ऐसे बोलते हैं—बड़े मजेदार होते हैं। एकने ब्रजवासीसे पूछा कि लड्डू कैसे खाओगे? तो बोला कि अभी नहाया नहीं हूँ, दातुन नहीं की है, गोपालजीकी पूजा नहीं की है, सेवा नहीं की है, अभी लड्डू कैसे खायेंगे? पहले ऐसे बोलते हैं। तो सामने वालेने कहा कि तब तो न जाने तुम कब तैयार होओगे, कब पूजा करोगे, तबतक तो हम तुम्हारा इन्तजार लड्डू खिलानेके लिए करेंगे नहीं, हम और किसीको खिला देते हैं। तो बोलेगा कि अच्छा लाओ-लाओ, गोपालजी तो अपने घरके हैं, अभी लड्डू खा लेते हैं बादमें गोपालजीकी पूजा कर लेंगे, गोपालजी कोई पराये थोड़े ही हैं।

तो महाराज जो लोग यह कहते हैं कि हम परमात्माको कभी भी पीछे प्राप्त कर लेंगे, आओ पहले इन्द्रियोंको ही तृप्त कर लें, उनके लिए भगवान् कृष्णने स्वयं ही कहा है—

महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्—इस कामकी भूख बड़ी भारी है। यह महाशन है और यह महापापी है। और ये जो इन्द्रियाँ हैं, ये विषय-भोगमें लगा देंगी। न तो परम सत्यकी खोज होगी और न तो परम सत्यकी प्राप्ति होगी और न तो परम सत्यके साथ प्रज्ञाका अवस्थान होगा। तो धीर पुरुष कौन है? भाष्यकारके शब्दोंमें **अतो हंस इवाम्भसः पयस्तौ श्रेयः प्रेयः पदार्थौ सम्परीत्य सम्यक् परिगम्य मनसालोच्य गुरु लाघवं विविनक्ति पृथक्करोति धीरो धीमान्**। जैसे हंसके सामने पानी और दूध मिलाकर रखे तो वह उसमें-से दूध निकाल लेता है और पानी छोड़ देता है ऐसे ही संसारमें जब श्रेय और प्रेय दो पदार्थ सामने आते हैं तब जो बुद्धिमान मनुष्य है, धीर मनुष्य है—वह श्रेयको वरण कर लेता है और प्रेयको छोड़ देता है।

धीर शब्दका अर्थ कई तरहसे होता है। (१) एक होता है—**धत्ते इति धीरः** अर्थात् अपनी इन्द्रियोंको धारण करनेमें समर्थ है, उनपर नियन्त्रण रखता है—वह धीर पुरुष है।

(२) **धियं रति इति धीरः**—जो बुद्धिको अपने साथ रखता है मनोवृत्तिके प्रवाहमें बह नहीं जाता, वह धीर है।

(३) धियं ईरयति इति धीरः—'धियो यो नः प्रचोदयात्' बुद्धिका जो प्रेरक है उसको धीर बोलते हैं।

(४) गीतामें भी धीरकी परिभाषा दी हुई है—

मात्रा स्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदा।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभः।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृत्वाय कल्पते॥

कहते हैं—ये शीत-उष्णादि पदार्थ सुख और दुःख देनेवाले तो हैं परन्तु हैं ये 'आगमापायी'—आने-जानेवाले ये रहनेवाले नहीं हैं, अतः इनको तो सहन ही करना चाहिए। ये सुखद-दुःखद पदार्थ जिसको व्यथा नहीं पहुँचाते, वही धीर है।

हमने देखा है, बम्बईमें ही देखा है—जिस दिन गर्मी पड़ जाय तो कहेंगे हाय-हाय आज बड़ी गर्मी है, जिस दिन सर्दी पड़ जाय तो बोलेंगे कि हाय-हाय आज बड़ी सर्दी है, और वर्षा हो तो बोलेंगे बरसात तो काम ही नहीं करने देती है! अब ईश्वरको किसी तरहसे भी तो उलाहना दिये बिना छोड़ो—कोई एक-आध दिन तो जीवनमें ऐसा हो जब ईश्वरको उलाहना न दो—सर्दीमें तुम घबड़ाओ, बरसातमें तुम घबड़ाओ! चटनी आयी तो बोले इसमें मिर्च ज्यादा है और खीर आयी तो बोले इसमें शक्कर ज्यादा है, दाल आई तो बोले पतली बहुत है, चावल आया तो बोले जल गया—कोई तो एकाध चीज घरमें ऐसी होनी चाहिए कि रसोइयाको कह दें कि यह बहुत बढ़िया बनी है, वह बेचारा भी खुश हो जाय! रोज ईश्वरकी तारीफ करनेके लिए कोई तो चीज रखो कि हे ईश्वर! आज तुमने यह बहुत बढ़िया चीज दी। तो, हम तो अपने मनके वशमें ऐसे हो जाते हैं कि ईश्वरकी प्रत्येक क्रियामें दोष ही बताते हैं, उसका गुण तो हमको सूझता ही नहीं है। यह धीरताका लक्षण नहीं है।

विविनक्ति शब्दका अर्थ है—विवेक करता है, बीनता है। देखो, चींटी बीनती है। कहाँसे, क्या? कि बालूमें जरा शक्कर डाल कर देखो—चीटीं शक्कर-शक्कर बीन लेगी और बालू छोड़ देगी। हमने हिमालयमें कहीं देखा—पचासों स्त्रियाँ एक झरनेके किनारे लगी हुई थीं और झरनेका पानी उठा-उठाकर बालूपर डाल रही थीं और फिर बालूको वहाँसे बहाती थीं—बड़ा भारी परिश्रम कर रही थीं, बात समझमें आयी तो मैंने किसीसे पूछा कि ये स्त्रियाँ क्या कर रही हैं? तो मालूम हुआ कि झरनेमें कभी-कभी सोनेके कण बहते हुए आते हैं तो ये दिन भर

उन कणोंकी खोजमें लगी रहती हैं। मैंने पूछा कि मिलता है? तो बोले—यह बात नहीं है कि रोज-रोज मिल जाय, कभी-कभी मिल जाता है और जब मिल जाता है तो उसमें इनकी महीने भरकी मजदूरी निकल आती है।

इसी तरह विदेशकी एक नदीके बारेमें कहीं पढ़ा था हमने कि उसमें कभी-कभी हीरे बहते हुए आते हैं—लोग तीन-तीन वर्ष, पाँच-पाँच वर्ष लंगोटी पहनकर और तेल लगाकर नंगे उसके किनारे रहते हैं और पानीमें डुबकी लगाते हैं और उसमेंसे ढेर-सा कंकड़ निकाल कर ले आते हैं—महीने, दो महीने छह महीने यही काम करते हैं और जिन्दगीमें यदि एक हीरा भी उनको मिल जाता है तो अपने परिश्रमको सफल मानते हैं।

तो यह बीनना जो है — वह क्या है क बुराई-अच्छाईके मिश्रणमें-से अच्छाईको ढूँढ निकालना, बन्धनमें-से मुक्तिको निकाल लेना, दुःखके समुद्रमें-से सुख निकाल लेना! यह धीर पुरुषका काम है, जरा-जरा-सी बातसे घबड़ाने वाले लोग यह काम नहीं कर सकते, इसके लिए बड़ा धैर्य चाहिए।

श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते—जो धीर पुरुष है वह 'प्रेयसः श्रेयः अभि वृणीते'—वह प्रेयकी अपेक्षा श्रेयको तरजीह (वरीयता) देता है—श्रेयकी ओर अपना मुँह कर लेता है ओर प्रेयकी ओरसे अपना मुँह मोड़ लेता है।

भर्तृहरिने कहा—'भोगा न भुक्तवा वयमेव भुक्तवा'—भोग तो भोगे नहीं गये, इन भोगोंने ही हमें भोग लिया। हमारे दाँत घिस गये, हमारा गला खराब हो गया, हमारी अँतड़ियाँ खराब हो गयी, हमारा पेट खराब हो गया—भोगा न भुक्तवा! हम समझते हैं कि हम गेहूँको चबा रहे हैं, हम यह नहीं जानते कि गेहूँ दाँतको चबा रहा है, गेहूँ अँतड़ीको चबा रहा है, गेहूँ पेटको चबा रहा है। तो जितना प्रयोजन हो उतना ही गेहूँ लेना उससे ज्यादा नहीं, उससे ज्यादा पेटमें जायेगा तो एक छेद कर देगा!

भोगा न भुक्तवा वयमेव भुक्तवा, तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव याताः, तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णाः॥

भोगोंको हमने नहीं भोगा, भोगोंने ही हमको भोग डाला! तपस्या तप्त नहीं हुई, हम ही तप्त हो गये! काल नहीं बीता, हम ही बीत गये! तृष्णा बुड्ढी नहीं हुई हम ही बुड्ढे हो गये!

तो धीर पुरुष क्या करता है कि जब श्रेय-प्रेय दोनोंका द्वन्द्व सामने आता है तब विवेक करके ही इसमें सोनेका कण कौन-सा है और बालूका कण कौन-सा

है, दूध कौन-सा है और पानी कौन-सा है, मुक्ति किसमें हैं और बन्धन किसमें है, योग क्या है भोग क्या है—इसका विवेक करके प्रेयस्‌में-से श्रेयस्‌को निकाल लेता है

और **मन्दः**—मन्द लोग क्या करते हैं? तो मन्द कौन है? कि जो प्रगतिशील नहीं है सो मन्द, ग्रहोंमें मन्द कहते हैं शनिश्चरको चन्द्रमा जितना सवा दो दिनमें चलता है शनिश्चर बढ़ाई वर्षमें उतना चलता है—इसलिए शनिश्चरका नाम हो गया मन्द! तो मन्द माने तुम्हारी गति मन्द है। अपने प्रियकी ओर चलनेमें त्वरा क्यों नहीं है? बोले—चारों ओर देखते चलते हैं, इसलिए।

एक मालिकने अपने नौकरसे कहा कि देखो, घरमें दवाकी बड़ी जरूरत है, जल्दी जाकर बाजारसे दवा ले आवो! गया दवा लेने, तो रास्तेमें देखा—कोई डमरू बजाकर बन्दरका तमाशा दिखा रहा था, खड़ा हो गया और लगा वहीं तमाशा देखने। २-३ घंटों तक तमाशा देखता रहा और घरमें मरीज मर ही गया! हमारे गाँवमें इसको बोलते हैं—गये कार्तिकमें और लौटे अगहनमें। इसका मतलब यह है कि कार्तिकमें खेती होती है—तो किसीके हल चल रहा था खेतकी बुआई हो रही थी, तो उसमें हेंगाकी जरूरत पड़ी। हेंगा उसको बोलते हैं जिससे खेतको बराबर करते हैं। तो उसने अपने भाईसे कहा—जाओ घरमें हेंगा रखा है उठाकर ले आवो। बीज बोनेके बाद जमीनको बराबर करनेके लिए चाहिए, तो वह गया लेनेको। अब वह गया लेने तो गायब ही हो गया और जब फसल पैदा हुई, निराई हो गयी, पक गयी फसल, कट गयी फसल जब गाय चर रहीं थी उसके ऊपर अगहन महीनेमें (माने साल भर बाद) तब वह हेंगा सिरपर लिए आया और बोला कि भई, तुम हर काममें जल्दी करते हो, देखो, हम कितनी जल्दी लेकर आये हैं।

श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते—इन्द्रियोंके तात्कालिक स्वादके चक्करमें नहीं पड़ना। यह इन्द्रिय बोलते हैं न! तो इसका भी एक मर्म है—संस्कृत भाषामें शब्दको बहुत भीतरसे रखते हैं। इन्द्र कहते हैं कर्मके देवताको। हाथका देवता इन्द्र है और यज्ञ जो होता है वह प्रमुख रूपसे इन्द्र देवताके लिए होता है—जो लोग वैदिक यज्ञ जानते हैं, उनको यह मालूम है तो इन्द्रियको मिलेगा क्या? कि इन्द्रने इससे काम कराया और इससे कराये हुए कर्मको इन्द्रने ले लिया, तो उसी कर्मके फल-स्वरूप जो फल-भोग मिलता है वही मजदूरीके रूपमें मिलता है। कर्मका जो फल है वह तो करनेवालेकी मजदूरी है, मजदूरी।

तो (१) इन्द्र=हाथके प्रेरक—अनुग्राहक देवता, (२) कर्ता जीव और (३) करण हाथ (४) कर्म—होनेवाला कर्म, (५) कर्म-फल, कर्मफल देनेवाला ईश्वर और (६) कर्म-फल भोगनेवाला जीव, भोक्ता इतनी चीजोंसे जो मुक्त होगा, वास्तवमें वह इन्द्रियसे मुक्त होगा। इनमें-से एक भी बीज यदि रह जायेगी तो वह इन्द्रिय मुक्त नहीं होगा—यह मुक्तिका सिद्धान्त आप समझ लो। मुक्ति प्रमेय है मुक्ति साध्य नहीं है जैसे आँखसे रूमाल देखी जाती है ऐसे मुक्ति देखनेकी चीज नहीं है। मुक्ति जैसे रूमाल बनायी जाती है वैसे बनानेकी चीज नहीं है। तो कर्मसे मुक्ति बनती नहीं है—कर्त्ता, करण, कर्म, कर्मका अनुग्राहक देवता, उसका फल, फल देनेवाला देवता और फल भोगनेवाला जीव—इन सबका जबतक अपने ब्रह्मत्वके ज्ञानसे बाध नहीं होगा तबतक मुक्ति नामकी चीज क्या होती है यह समझमें नहीं आता! इसीलिए ये जो लोग झगड़ा करते हैं कि कर्मसे मुक्ति होती है, उनसे यह कहना है कि हाँ, होती है कर्मसे मुक्ति—अगर शुभ-कर्म करोगे, तो स्थूलसे पाप-कर्मसे मुक्ति हो जायेगी, अगर उपासना करोगे तो सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कर्मसे मुक्ति हो जायेगी, अगर योग करोगे तो स्थूल-सूक्ष्म दोनों कर्मोंसे मुक्ति हो जायेगी, पर कारण-कर्मसे मुक्ति नहीं होगी भला! यदि तुम्हारी मुक्तिमें प्रतिबन्धक केवल कर्म है, केवल कर्म-वासना है, केवल कर्म-भोग है तब तो कर्मसे मुक्ति हो जाती, यदि कर्मसे मुक्ति इन्द्रके हाथमें होती तब तो मुक्ति हो जाती, लेकिन वह तो इन्द्रके हाथमें है ही नहीं, तुम्हारी मुक्तिमें प्रतिबन्धक केवल अज्ञान है, इसलिए अपने स्वरूपके ज्ञानके बिना मुक्ति कभी हो ही नहीं सकती। और कर्म आदिसे जो मुक्ति होगी वह समाधि रूप मुक्ति होगी अथवा वह इष्ट-लोक गमन-स्वरूप मुक्ति होगी अथवा इष्टसे तादात्म्य-रूप मुक्ति होगी, सालोक्य-सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य अथवा सार्ष्टि-रूप अथवा स्वर्गादि प्राप्ति-रूप मुक्ति होगी, लेकिन जो असली मुक्ति है वह अपने स्वरूपके ज्ञानके बिना होना शक्य ही नहीं है।

इसलिए, मुक्तिके लिए कर्ममें सकाम-निष्कामका भी कोई भेद नहीं है। निष्काम कर्ममें कर्त्तापन रहता है कि नहीं रहता है? कोई निष्काम होकर कर्म करेगा तो उसका जो कर्तृत्व है वह बाधित हो जायेगा कि नहीं? नहीं होगा। जबतक जीव भाव बना रहेगा तबतक कर्तृत्व बाधित नहीं होगा, इसलिए निष्काम-कर्मका कर्त्ता भी कर्त्ता ही रहेगा और कर्त्ता रहेगा तो कर्मके नियमानुसार न चाहनेपर भी उसको भोक्ता बनना पड़ेगा—यह कर्मका नियम है। कि तब? निष्काम कर्मसे मात्र अन्तःकरणकी शुद्धि होती है और वासनाकी निवृत्ति होती है,

और परमात्माके साक्षात्कारमें जो केवल अज्ञान मात्रका प्रतिबन्ध है वह प्रतिबन्ध तत्त्वज्ञानके द्वारा निवृत्त होता है।

श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ॥ ३ ॥

जो मन्द पुरुष है—जिसकी गति मन्द है—थोड़ा मतवालापन भी है—यह जो मद है ना इसको मदी कर दो तो मन्द हो जायेगा। तो इसका अभिप्राय क्या हुआ? देखो, एक जगह सिपाहीने ड्राइवरको पकड़ा कि तुम शराब पीये हुए हो, बोला कि नहीं। सिपाही बोला कि अच्छा, तुम सौ कदम सीधे-सीधे चलकर दिखाओ। सौ-कदम चलनेमें तो उसके पाँव लड़खड़ाने लगे—तो शराबीकी गति मन्द होगी, वह धीरे-धीरे चलेगा। तो, यह जो मन्द पुरुष है न—जो परमात्माकी ओर नहीं चलता है वह मन्द है। वह कर्त्ता नहीं है, वह पापी-पुण्यात्मा नहीं है, पर अपनेको पापी-पुयात्मा मान रहा है, वह सुखी-दुःखी नहीं है, पर अपनेको सुखी-दुःखी मान रहा है—यह मन्द भाव है उसका! मन्दका लक्षण यह है कि वह यह सोचता है कि यदि हम ऐन्द्रियक-भोग नहीं भोगेंगे जो हमारा योगक्षेम कैसे होगा?

योगक्षेमात् निमित्तात्—यहाँ योगक्षेम शब्द गीतामें जैसा है वैसा नहीं है, यह तो जैसे बीमा कम्पनी कोई योगक्षेमका विज्ञापन करे—तुम्हारी रक्षा हम करेंगे, तुम्हारी कम्पनीकी रक्षा हम करें गे, तुम्हारे ब्याहका बन्दोबस्त हम करेंगे—जैसे बीमा कम्पनियाँ ऐसी योजना बनाती हैं, वैसे ही यह योगक्षेम है—योगक्षेमात्।

एक बात हमने देखा कि जो ईश्वर पर भरोसा नहीं करता है, उसकी पहले तो स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश)में एक कुटिया बनती है कि हम इसमें रहकर भजन करेंगे—वह कहता है कि हमको भजन करना है न, तो अपने रहनेके लिए पहले एक बहुत बढ़िया कुटिया बनवा लेते हैं। अच्छा भाई, बनवा लो। फिर कहते हैं कि अच्छा बैंकमें भी कुछ रख देते हैं जिससे ब्याज आता रहेगा और खाते रहेंगे। लेकिन नारायण! उनकी कुटिया उनके काम नहीं आती है दूसरे साधुके काम आती है। हम यह बात इसलिए जानते हैं क्योंकि हम वहाँके ट्रस्टी हैं। तो, इसका कारण क्या है कि न तो प्रारब्ध पर उनका विश्वास है—यदि कर्म-सिद्धान्तपर उनका विश्वास होता तो यह समझते कि हमारे प्रारब्धमें जैसा होगा वैसे हम रह लेंगे और खा लेंगे! और दूसरी बात यह है कि ईश्वर पर भी उनका विश्वास नहीं है। वहाँ तो ठन-ठनपाल हैं। ईश्वरपर यदि विश्वास होता तो? कि बेपरवाह हैं, मिलेगा तो खायेंगे, नहीं मिलेगा तो नहीं खायेंगे। ठण्ड आयेगी तो सह लेंगे और नहीं सही जायेगी तो मर जायेंगे—अपने तो परमात्मामें बैठते हैं—बेख्वाहिश, बेपरवाह—

उनके चित्तकी ऐसी स्थिति होती। न तो वे वेदान्तकी रीतिसे बेख्वाहिस-बेपरवाह है और न तो भक्तिकी रीतिसे ईश्वर पर उनका विश्वास है और न तो कर्म-सिद्धान्तकी रीतिसे प्रारब्धपर विश्वास है, वे तो वही जिस सिद्धान्तके अनुसार दुकानपर व्यापार किया जाता है, कमाई की जाती है उसी सिद्धान्तके अनुसार वे हिमालयमें रहकर भजन भी करना चाहते हैं—कि पहले अपना सारा बन्दोबस्त कर लो।

योगक्षेमात्—तो योगक्षेमके कारण महाराज क्या हुआ? एक साधु पकड़ा गया। स्वर्गाश्रममें कोठी उन्होंने बहुत बढ़िया बनायी। वह पहले वकील थे, धनी हैं। असलियत तो मैं इसलिए नहीं बता सकता कि अभी अदालतमें उनपर मुकदमा चालू है। तो उनके पास ट्रान्समीटर था—ट्रांजिस्टर नहीं, ट्रान्समीटर जो खबर लेने-भेजनेवाला होता है। तो उनका नौकर जब ऋषिकेश बाजारमें कुछ सौदा खरीदनेके लिए जाता था, तब वे उससे बातें करते थे कि यह चीज लो, यह चीज मत लो, एक बार वे देहरादून गये तो वहाँसे भी बात कर ली। पुलिसको हो गयी शंका कि साधुके पास तो ट्रान्समीटर है—पकड़ा गया साधु। अब सोचो नौकरको पहले ही सब बात बताकर नहीं भेजता था कि वह बाजारमें जाय तो फूलगोभी खरीदे कि पत्तागोभी खरीदे—यही तो बताते थे ट्रान्समीटरपर कि आज आश्रममें यह सब्जी बनेगी, यह नहीं बनेगी! यही योगक्षेमकी फिक्र होती है।

तो—**प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते**—जब आदमी बहुत योगक्षेम चाहता है तो यही चाहता है कि हम अपने लिए यह बन्दोबस्त कर लें, यह बन्दोबस्त कर लें, इतने पैसे रख लें, ऐसा मकान बना लें, कि हमको एक ऐसा आदमी चाहिए जो हमको अभी यह विश्वास दिला दे, वह जिन्दगी भर हमारा साथ देगा। अरे भाई, आज तो वह विश्वास दिलाता है पर खुदसे तो पूछो कि कल तुम्हारा मन क्या ऐसा ही होगा? बोले—ऐसा ही रहेगा। बोले—बेवकूफ है वह जो ऐसा मानता है कि आज जैसा हमारा मन है वैसा ही छह महीने बाद रहेगा। क्योंकि प्रियताको पकड़नेवाला जो यह मन है वह तो तभी तक उस प्रियताको पकड़ता है जबतक दूसरी नयी प्रियता प्राप्त नहीं हो जाती या जबतक उसमें कोई असुविधा नहीं होती, अरुचि नहीं होती—संसारकी पकड़का यही हाल है।

तो, मन्द-पुरुष वह है जो संसारमें फँसा हुआ है और जो यह चिन्ता करता रहता है कि जो हमारे पास है वह कैसे बचा रहेगा? देखो, लोग लोहेकी चद्दरसे

गुफा तहखाने बनवाते हैं, चहारदीवारी बनवाते हैं कि यहाँ रखेंगे अपना धन तो सुरक्षित रहेगा, पर वहाँ भी चींटी सूँघ लेती है कि यहाँ धन रखा हुआ है।

एक बार एक आदमी सुधर गया, माने पहले वह बुरा काम करता था, जेब-वेब काटता रहता था। जब सुधर गया तब उसने प्रतिज्ञा की कि अब हम जेब-वेब नहीं काटेंगे, कोई गलत काम नहीं करेंगे—स्वामी शुकदेवानन्दजी तो प्रतिज्ञा करवाते थे लोगोंसे, वे तो फार्म भरवाते थे और लिखवाते थे—यह सब करते थे—तो उस आदमीने प्रतिज्ञा की कि अब हम जेब नहीं काटेंगे। तो मैंने उससे पूछा कि भले मानुष, तुमको पता कैसे चलता था कि इसके जेबमें पैसा है, इसके जेबमें नहीं है। तो वह बोला कि स्वामीजी, यह पता लगाना तो बड़ा आसान है—जो व्यक्ति कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु अपने शरीरपर रखकर चलता है वह उसको बार-बार देखता जाता है कि वह है या नहीं, बार-बार उसका हाथ जेबपर जाता है कि वह है या नहीं यदि जेबमें कोई वस्तु होती है तो। तो मालूम पड़ जाती है कि कोई चीज जेबमें जरूर है जिस पर बार-बार उसका ध्यान जा रहा है।

तो हमारी वस्तु बनी रहे और दुनियाकी चीज जिसको पकड़ लिया है वह आगे और आवे—अप्राप्तकी प्राप्ति होना योग है और प्राप्तकी रक्षा होना क्षेम है। माने जो चीज हमारी है वह तो दूसरेके हाथ जावे नहीं और दूसरेकी चीज हमारे हाथ आजाय। इसमें दुनियाके लोग फँसे हुए है। ऐसे मन्द लोग योग-क्षेमकी चिन्ताके कारण प्रेयका ही वरण करते हैं, श्रेयस्कर नहीं—**प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद् वृणीते।**

यह एक बात आपने सुनी है कि नहीं, हमको एक सज्जनने सुनायी थी और सच्ची करके ही सुनायी थी और ऐसा मेरा ख्याल है कि यहाँके राजभवनके कोई उच्च अधिकारीने यह बात सुनायी थी। हमलोग एक बार पूनामें थे, तो वहीं सुनायी थी कि एक बार हमारे कोई उच्च अफसर पंजाबमें कुछ जाँच करनेके लिए गये। उनके साथ मोटर थी, २-३ नौकर थे और उनको डेढ़-दो हजार रूपया वेतन मिलता था। पंजाबमें गये, तो वहाँ जो सरदार लोग थे उन्होंने आपसमें सलाह की कि जैसे हम आदमी हैं वैसे ही ये हैं और हमको वेतन मिलता है डेढ़ सौ-दोसौ, और इनको वेतन मिलता है इतना अधिक और ऊपरसे दो-दो, तीन-तीन नौकर और मोटर भी; तो इनके अन्दर ऐसी क्या विशेषता है—इसका हमें पता लगाना चाहिए। फिर सलाहकी कि चलकर इन्हींसे पूछ लिया जाय। अब एक व्यक्ति

गया पूछने और बोला कि हममें यह प्रश्न उठा है। एक अफसर बड़े विनोदी थे। बोले कि अच्छा देखो, मैं अपना हाथ इस मेजपर रखता हूँ, तुम इसपर एक घूँसा मारो जोरसे। पहले तो वह झिझका; पर अफसर बोले—इससे बात तुम्हारी समझमें आ जायेगी, तुम मारो तो! उसने ज्यों घूँसा मारा-त्यों उन्होंने अपना हाथ मेंज परसे हटा लिया! बेचारेको बड़ी चोट आयी। उसने पूछा—यह क्या बात हुई? अफसर बोले—देखो, फरक अक्कलका है, कि देखो हमारेमें इतनी अक्कल है कि जब तुमने घूँसा मारा तब मैंने हाथ खींच लिया। इसी अक्कलके कारण हमको ज्यादा वेतन मिलता है।

सरदारने कहा—समझमें आ गयी बात और यह कहकर बाहर निकल गया! बाहर निकलते ही सब लोगोंने घेर लिया, पूछा- जबाब मिला। बोला, हाँ मिला! क्या जबाब मिला? बोला कि हम तुमको बता ही देते हैं—और उसने अपने गालपर हाथ रक्खा और कहा कि एक घूँसा जोरसे इसपर मारो। तो जब सामने वाले सरदारने घूँसा मारा तो इसने अपना हाथ हटा लिया, और बेचारेंकी कनपटी टूट गयी। बोला—समझ गया—इसी अक्कलके कारण उसको अधिक वेतन मिलता है- बेचारेका वहाँ हाथ टूटा और यहाँ कनपटी टूटी!

तो मन्द बुद्धिमें और धीर बुद्धिमें यही फर्क है कि धीर बुद्धिकी दृष्टि परिणाममें मंगलपर रहती है, वह इस समयके कष्टको नहीं देखता है, वह यह देखता है कि इस कष्ट- सहनका परिणम क्या है, आजकी तपस्याका परिणाम क्या है, आजके श्रमका परिणाम क्या है, और जो मन्द-बुद्धि पुरुष होता है वह केवल तत्कालकी ही बात देखता है। लेकिन सत्यका यदि अनुसंधान करता है तो सत्य तात्कालिक नहीं होता है, वह तो अनादि-अनन्त होता है और प्रादेशिक नहीं होता। अत: सत्य साक्षात्कारके जिज्ञासुके लिए धीर होना अनिवार्य है।

अध्याय—१ वल्ली—२ मंत्र—३

नचिकेता जैसे अधिकारीको देखकर यमराज उसकी प्रंशसा करने लगे और पहले उन्होंने यह बात कही कि धीर पुरुषका लक्षण यह है कि जब उसके पास श्रेय और प्रेय दोनों आवें तो वह तात्कालिक हित करने वाले पदार्थकी अपेक्षा शाश्वत हित करने वाले पदार्थका वरण करता है; वह तो मन्द पुरुष है जो प्रलोभनोंमें फँस जाता है। यमराज नचिकेताकी पशंसा करते हुए कहते हैं कि वह वास्तवमें धीर पुरुष है—

स त्वं प्रियान्प्रियरूपाꣳश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः।
नैताꣳसृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः॥ १.२.३

अर्थ :—हे नचिकेता! तुम धन्य हो कि तुमने पुत्रादि प्रिय और अप्सरा आदि प्रियरूप भोगोंको उनकी असारताका चिन्तन करके परित्याग कर दिया है और धन सम्पत्तिकी बेड़ी- बन्धनको तुम प्राप्त नहीं हुए जिसमें बहुत-से मनुष्य डूब जाते हैं।

यमराज बोले—स त्वम्—वह तुम माने ऐसे तुम नचिकेता सचमुच धीर पुरुष हो! सचमुच तुम धैर्यशाली हो, धीर हो, अधिकारी हो। तुमने प्रेयका परित्याग करके श्रेयका वरण किया है। इसलिए हम तुमको अब उपनिषद्का जो मूल उपदेश है वह सुनाते हैं!

स त्वं प्रियान्प्रियरूपाꣳश्च कामान्—देखो! कोई अधिकारी पुरुष, जिज्ञासु पुरुष भरी सभामें यदि बात पूछे और उसको उत्तर न दिया जाय या उसको खुलेआम कह दिया जाय कि तुम मूर्ख हो या तुम नहीं समझते हो, तो उसका बुद्धिभ्रंश हो जाता है—

सभामध्ये मानभङ्गात् बुद्धिभ्रंशो भवेत् ध्रुवम्।

इन्द्र और वीरोचनको प्रजापति स्पष्टरूपसे नहीं बताते हैं कि अभी तुम्हारी समझमें नहीं आया, क्योंकि वे स्वयं ही एक बार आकर कहते हैं कि मैं समझ गया, मैं समझ गया! यह ब्रह्मज्ञानकी लीला तो बड़ी विलक्षण है—इसमें परिच्छन्न-पदार्थ-ग्राहिणी जो पकी हुई बुद्धि है उसको कोई-भी अपना द्वेष्य या

अपना प्रिय समझ करके उस बुद्धिसे अपरिच्छिन्न पदार्थको ठीक-ठीक समझ नहीं सकता। तो प्रजापतिको कह देना चाहिए था कि हे विरोचन! तुमने अभी नहीं समझा, परन्तु उन्होंने तो भरी सभामें आकर छाती **ठोंककर** कह दिया था कि हमने समझ लिया! अब यदि भरी सभामें प्रजापति कह देते कि तुमने नहीं समझा, तो दोनोंका बुद्धि-भ्रंश हो जाता। परन्तु विरोचन तो एकान्तमें मिलने आया ही नहीं, वह तो अपनी देहको ही आत्मा समझकर चला गया—**परछाईं** जो पानी पर पड़ती थी उस परछाईं-वालेको ही उसने आत्मा समझ लिया। बोले भाई, आँखमें परछाईं किसकी? कि **शरीरकी;** तो बोले कि दक्षिणाक्षी-पुरुषका उपदेश प्रजापतिने किया था और परछाईं तो शरीरकी पड़ती है। इसलिए यह शरीर ही आत्मा है! विरोचन लौट गया और अपनेको ब्रह्मज्ञानी, यथार्थ ज्ञानी मानने लगा।

लेकिन, इन्द्र तो एकान्तमें आये। पूछा—महाराज, यह शरीर कैसे आत्मा हो सकता है, यह तो जन्मता है, मरता है, जवान होता है, बुड्ढा होता है, बच्चा होता है, रोगी होता है—हमको तो इस शरीरमें कहीं भी शाश्वतपना देखनेमें नहीं आता है। इसलिए आपने जो उपदेश किया उससे यह सिद्ध नहीं होता कि हमारा यह शरीर शाश्वत है, सनातन है, आत्मा है! जो साक्षी होता है वह विकारी नहीं है और जो विकारी होता है वह साक्षी नहीं; और यह शरीर तो विकारी है, बदलने वाला है तो यह आत्मा कैसे?

तब प्रजापतिने कहा कि अच्छा भाई, थोड़े दिन और निवास करो! तो सद्गुरु जो है वह बड़े वात्सल्यके साथ अपने शिष्यको धीरे-धीरे आगे ले चलता है, वह शिष्यको यह नहीं कहता है कि तुम अयोग्य हो; उसको यह नहीं कहता कि तुम्हारी समझमें कभी नहीं आवेगा, उसको यह नहीं कहता कि तुम्हारी बुद्धि अशुद्ध है, उसको यह नहीं कहता कि तुम्हारी बुद्धि भ्रष्ट है; बल्कि उसको धीरे-धीरे आश्वासन देकर वात्सल्य-पूर्वक आगे ले चलता है। इसीलिए यहाँ यमराज नचिकेताकी प्रशंसा करते हैं। क्या प्रशंसा करते हैं—

स त्वं प्रियान्प्रियरूपाꣳश्च कामन् अभिध्यान्नचिकेतोऽत्य स्राक्षीः।

हे नचिकेता! न तो तुम्हारेमें पदार्थोंके चयनकी रुचि है और न तुम्हारेमें केतनकी निकेतनकी रुचि है—न तुम धन संग्रह करना चाहते हो और न तो महल बनाना चाहते हो और तुम स्वयं **नाचिकेतस्** हो, अग्नि हो; सम्पूर्ण-सांसारिक वासनाको भस्म करनेके लिए तैयार हो। इसलिए तुमको अपने प्रिय और प्रिय-रूप भोगोंका कामनाओंका ठीक-ठीक विचार करके परित्याग कर दिया है।

प्रियान्-प्रियारूपान् —प्रियान्का क्या अर्थ है? कि संसारमें जो अपनेको तृप्ति दे उसका नाम प्रिय है। संसारके लोगोंकी अक्सर यह धारणा होती है कि हमको जो सुख मिलता है वह बाहरके पदार्थ देते हैं—हमारा पुत्र हमको बड़ा सुख देता है, हमारी पत्नी हमको बड़ा सुख देती है हमारा पति हमको बड़ा सुख देता है, हमारे सगे-सम्बन्धी हमें बड़ा सुख देते हैं। देते हैं—मूढजनके द्वारा माने हुए जो प्यारे हैं उनको प्रिय बोलते हैं—यहाँ जो प्रियत्व है वह मूढ़जनोंकी मान्यताका अनुवाद है। असलमें आप देखो, प्रियता ज्ञानके सिवाय और क्या है? आपका प्रिय-से-प्रिय व्यक्ति सामने खड़ा हो—पुत्र हो, पति हो, पत्नी हो, भोजन हो, आपको कुर्सी बड़ी ऊँची मिलती हो, लेकिन आप बेहोश होवें तो क्या उसका मजा आवेगा? समाधि लग जाय तो उस प्रियका मजा आवेगा? सो जायें तो मजा आवेगा? इसका अर्थ यह है कि सुख बाहरी पदार्थका विलास नहीं है। जब हम होश-हवाशमें होते हैं तब भीतर ही कोई ऐसी प्रक्रिया होती हो जो प्रिय-वृत्तिके परिणामके रूपमें सुखरूपमें प्राप्त होती है। वाह्य-पदार्थके विलासका नाम प्रियता नहीं है, किसी अन्तरङ्ग पदार्थके विलासका नाम प्रियता है। प्रियता भीतरसे बाहर निकलती है बाहरसे भीतर नहीं जाती। बहुत मीठी वस्तु आप खा रहे हों और मालूम पड़ जाय कि इसमें विष मिला है तो क्या प्रियता रहेगी? नहीं, उसको आप तुरन्त उठाकर फेंक देंगे! तो यह जो प्रियता व अप्रियताका भेद है यह बाह्य-वस्तुका विलास नहीं है, यह आन्तर-वस्तुका विलास है।

यह जो प्रियान् शब्द है वह मूढ़ जनोंके द्वारा, अविवेकी जनोंके द्वारा स्वीकृत जो बाहरके प्रिय, तृप्तिदायक पदार्थ हैं, उनका वाचक है। प्रिय माने तृप्ति-दायक-'प्रीणाति इति प्रियः'।

दूसरी बात बतायी **प्रियरूपान्**—इनके रूप बड़े प्यारे हैं, परन्तु वास्तवमें भीतरसे प्यारे नहीं हैं।

विष रस भरा कनक-घट जैसे।

प्रियरूपान्-प्रियाणि रूपाणि-एतान्-वस्तुतः प्रियाणि न भवन्ति।

संसारकी वस्तुएँ वस्तुतः प्रिय-रूप नहीं हैं, इनका रूप ही प्रिय है। जैसे—देखो, शरीरपर कोई चिकना मसाला लगा लेते हैं, कोई बनावटी बाल रख लेते हैं, कोई बनावटी पावडर लगा लेते हैं, कोई बनावटी स्नो लगा लेता है—इसका अर्थ है कि शरीरकी बाहरकी चिकनाई है, अपनी नहीं, शरीरकी सुन्दरता नहीं, यह बाहरी सुन्दरता है। इसी प्रकार संसारकी वस्तुएँ बाहरसे प्यारी हैं, भीतरसे प्यारी

नहीं हैं—*विष रस भरा कनक घट जैसे।* तो इस संसारमें जितने भोग प्राप्त होते हैं इनके वाहरी रूप देखनेमें बड़े प्यारे लगते हैं परन्तु भीतर तो ये विष हैं।

बोलें—यह क्या है कि अप्सरा है; यह क्या है कि विमान है; यह क्या है कि उद्यान है। कैसे उद्यान है कि अपार्क है माने सूर्यकी किरणें भी इसके भीतर प्रवेश नहीं करती! यह अपार्क ही अकारका लोप हो जाने पर अंग्रेजीका पार्क हो गया; तो पार्क माने इतनी घनी छाया, इतनी-घनी-छाया कि यहाँ सूर्यकी किरणें प्रवेश नहीं करतीं! तो ये विमान, ये अप्सराएँ, ये उद्यान इनके रूप प्यारे हैं परन्तु वस्तुतः ये प्यारे नहीं हैं—इनको मूढ़ जन ही प्रिय समझते हैं!

कहना क्या है? कि अपने परमानन्दका जो स्रोत है वह तो भीतर है बाहर नहीं है। यह अन्तःकरणमें जो प्रियता आती है वह जब हमारा सच्चिदानन्दघन स्वरूप वृत्तिमें प्रतिविम्बित होता है और उस प्रतिविम्बके साथ जब हम तादात्म्य कर लेते हैं तब हमको संसारके पदार्थ प्यारे और प्रिय रूप मालूम पड़ते हैं। तो जिसको वृत्तिको अपरिच्छिन्न ग्राहिणी बनाना है, उसे परिच्छिन्न विषयोंकी मोह-ममता तो छोड़नी ही पड़ेगी। परिच्छिन्न ग्राहिणी वृत्तिसे अपरिच्छिन्न ब्रह्मका बोध कैसे होगा? कि सत्ता तुमको दे दी परिच्छिन्नको, चेतना दे दी परिच्छिन्नको, आनन्द दे दिया परिच्छिन्नको, तो शाश्वत-जीवन, अनन्त चैतन्य और परमानन्दकी उपलब्धि कैसे होवे? इसके लिए कामना, इसके लिए भोग छोड़ने पड़ते हैं—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि सृताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते॥ (कठोपनिषद्)

जब मनुष्य हृदयकी सब कामनाओंको छोड़ देता है तब वह यहीं अमृत हो जाता है और इसी जीवनमें ब्रह्म सुखका अनुभव करता है। कामका प्ररित्याग किये बिना किसीको अमृतत्वकी प्राप्ति नहीं होती। यह उपनिषद् गाय है और इसका जो परम तात्पर्य है वह अमृत है—ब्रह्म अमृत है—मोक्ष अमृत है—उस अमृतकी प्राप्ति, इस गोरसकी प्राप्ति कब होगी कि जब कामका परित्याग होगा—

कामान्यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मानस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः॥ (मुंडकोपनिषद्)

मनुष्य कामनाओंके चक्करमें पड़ा हुआ है कि हमको यह चाहिए, हमको यह चाहिए, हमको यह चाहिए—हम क्या है यह मालूम नहीं, परमात्मा क्या है यह मालूम नहीं, यह सच्चिदानन्द-घन परब्रह्म क्या है यह मालूम नहीं, इनको जाननेकी इच्छा भी नहीं, बस हमको यह चाहिए, हमको यह चाहिए, हमको यह

चाहिए—बच्चेकी जैसी इसकी स्थिति हो गयी है। लेकिन **पर्याप्त कामस्य कृतात्मानस्तु**—जो कामनाओंकी ओरसे मुँह मोड़ लेता है और अपने आत्माको जानता है उसकी सारी कामनाएँ इसी जीवनमें प्रलीन हो जाती हैं। यह जो हम जिसको आत्मा बोलते हैं—यह सच्चिदानन्दघन, शास्त्रीय त्वं-पद लक्ष्यार्थ और कोई नहीं वही है, वही है।

इहैव सर्वे प्रविलियन्ति कामाः—मरनेके बाद कामना छूटती है सो बात नहीं! स्वर्गमें जायेंगे तब कामना छूट जायेगी? कि नहीं बेटा, स्वर्गमें जाओगे तब कामना और बढ़ेगी; बोले, ब्रह्मलोकमें जायेंगे तब कामना छूट जायेगी? कि नहीं, यहीं छुड़ा लो न; जो छुड़ानेकी चीज है उसको यहीं क्यों नहीं छुड़ाते? तो—**इहैव सर्वे प्रविलियन्ति कामाः**—सारी कामनाएँ यहीं प्रविलीन हो जाती हैं।

तो यमराज कह रहे हैं नचिकेतासे कि **स त्वं प्रियान् प्रियरूपान् च कामान् अभिध्यायन् चिन्तयन् तेषां अनित्यत्वासारत्वादिदोषान् हे नचिकेतोऽत्यस्त्राक्षीः परित्यक्तवान्।** तुमने संसारके जो विषय-भोग हैं उनमें जो अनित्यता है उनमें जो जड़ता है, पराधीनता है; उनमें जो दुःखरूपता है उसको तुमने पहचान लिया और अनको छोड़ दिया!

पहचाननेका एक ढंग होता है। एक आदमी यदि कहे कि हमने पहले दिन ही यह बात पहचान ली कि संसारके सब विषय असत् हैं। तो बोले भाई कि अन्तःकरणको भी असत् पहचान लिया या नहीं? कि हाँ, पहचान लिया? कि अच्छा, अब असत् अन्तःकरण असत् **विषयोंमें** जाये तो तुम्हें कोई आपत्ति तो नहीं है? बोले—कोई आपत्ति नहीं है! बस मर गये, भला! मर गये!! यह असत्-असत्की बातोंसे काम नहीं चलता; इसकी प्रक्रिया है, इसीसे इसमें गुरु-शिष्यका सम्प्रदाय होता है। पहले यह पहचानना पड़ता है कि हमें अपने जीवनमें परमानन्द प्राप्त करना है, तो परमानन्द यदि अपना स्वरूप होवेगा तभी वह आनन्द होगा, नित्य होगा और यदि अन्य होगा तो उसमें पराधीनता होगी, दुःख होगा। तो पहले अपने स्वरूपानन्दके अतिरिक्तसे वैराग्य होना चाहिए और उसके बाद अपने स्वरूपका विवेक चलना चाहिए कि अपना स्वरूप क्या है; तब चिदचिद् विवेक होगा, तब यह मालूम पड़ेगा कि आत्मा द्रष्टा है और अपने सिवाय जो कुछ है सो दृश्यत्वेन मालूम पड़ता है; तब यह मालूम पड़ेगा कि हम सम्पूर्ण-दुःखसे न्यारे आनन्द-रूप हैं और सम्पूर्ण जड़-दृश्यसे न्यारे द्रष्टा-रूप हैं। वैराग्यके बाद सदसद् विवेक होवे तो ही मालूम पड़ेगा कि दुःख असत् है और आनन्द सत् है और

अचित् जो जड़ है वह असत् है और जो चित् है, आनन्द है, वह सत् है। इस तरहसे पहले वैराग्य और फिर सदसद्-चिदचिद् विवेक! सदसद् विज्ञान होनेके बाद तो आत्माके अतिरिक्त और कुछ रहा ही नहीं और वैराग्य हुआ नहीं तो बोलेंगे—अन्त:करण और इन्द्रियाँ असत् हैं, विषय असत् हैं तो जाने दो असत्को असत्में। अथवा बोलेंगे—यह अन्त:करण भी जड़ है, विषय भी जड़ है—जड़में जड़ गया तो क्या हुआ? है न! लेकिन गुरु-शिष्य सम्प्रदायमें जैसे इसका विवेक होता है, उस प्रक्रियासे जब विवेक करेंगे तो पहले वैराग्य होनेसे अन्त:करण-शुद्धि होगी और फिर चिदचिद् विवेक होनेसे अविवेक मिटेगा और फिर सदसद् विवेक होने पर असत् तो नित्य निवृत्त ही है—असलमें सच्चिदानन्दघन परब्रह्म आत्मतत्त्व ही सब कुछ है—यह निश्चय, यह बोध प्राप्त होगा। ये जो है कामनाएँ और संसारके जो भोग हैं, इनके दो रूप बताये—एक तो यह जो आकरके सेवा करते हैं, जो आकरके तृप्ति देते हैं—**प्रीणाति इति प्रिय:**—उनको प्रिय कहते हैं—जैसे स्त्री है, पुत्र है, मित्र है, सगे- सम्बन्धी हैं—वे अपनी ओरसे भी कुछ सुख देनेकी चेष्टा करते हैं; और एक ऐसे होते हैं जिनका रूप बड़ा प्यारा लगता है—हमको प्यारे लगते हैं, वे प्रियरूप कहलाते हैं, परन्तु वास्तवमें वे प्यारे होते नहीं। **प्रियाणि रूपाणि येषां ते प्रियरूपा: भवन्ति किन्तु प्रिया: न भवन्ति—प्यारा होता है** परन्तु वे प्यारे नहीं होते—वे असलमें प्रियाभास हैं—उनसे हमारी आसक्ति होती है, उनकी हमसे आसक्ति नहीं होती। जैसे धन-सम्पत्ति, अप्सरा आदि। ये भोग व्यक्तियोंका और वस्तुओंका रूप धारण करके हमारे सम्मुख आते हैं परन्तु, यदि हम व्यक्तियों और वस्तुओंमें लग जायेंगे तो प्रत्यग्-निष्ठा-मतिका उदय नहीं होगा, यह बात आप ध्यानसे समझें। आत्मा सर्वान्तर है—वह तो बेटेसे भी आन्तर है, पत्नीसे भी आन्तर है, अप्सरासे भी आन्तर है, हिरण्य—सोनासे भी आन्तर है—यहाँ तककी अपने हाथ-पाँव, आँख-नाक-जीभसे आन्तर है, अपनी मनोवृत्तिसे भी आन्तर है। आत्मा कूटस्थ है, साक्षी है, देश-काल-वस्तुकी कल्पनाका अधिष्ठान है और प्रकाशक है। ऐसी उस आत्म वस्तुको यदि ग्रहण करना हो और भोगमें हो जाये हमारी रुचि, तो जब बाह्य या आन्तर भोगमें रुचि होगी तो जो भोगकी कल्पनाका साक्षी है, भोग कल्पनाका प्रकाशक है, भोग-कल्पनाका अधिष्ठान है, उसका ध्यान कैसे होगा? अर्थात् नहीं होगा। अत: जिज्ञासुके लिए यह आवश्यक है कि वह उनका परित्याग करे।

तो यमराजने कहा—वाह नचिकेता! **अभिध्यायन्**—तुमने चिन्तन किया।

क्या चिन्तन किया ? कि बाह्य जो पदार्थ हैं वे आनन्द-रूप नहीं हैं, वे स्वयं-प्रकाश नहीं हैं, पर प्रकाश हैं, जड़ है। एक इकहरा प्रेम होता है और एक दुहरा प्रेम होता है, जैसे पति-पत्नी आपसमें प्रेम करते हैं, तो दुहरा प्रेम होता है, माँ-बेटेका दुहरा प्रेम होता है, लेकिन सोने-चाँदीसे जो प्रेम होता है वह दुहरा प्रेम नहीं होता, इकहरा प्रेम होता है। इकहरा प्रेम होता है माने—हम तो उससे प्रेम करते हैं लेकिन वह हमसे प्रेम नहीं करता है, उनके तो सब दुकान बराबर है, सब तिजोरी बराबर है, उनको तो चोर-डाकू और साहूकार भी बराबर हैं—सोना-चाँदी हमसे प्रेम नहीं करते। तो अभिध्यायन्—यह देखना कि यह आनन्द रूप नहीं है, दुःखद है, यह देखना कि ये स्वयं प्रकाश्य नहीं हैं, जड़ हैं,—हम इनसे प्रेम करते हैं, ये हमसे प्रेम नहीं करते और यह देखना कि ये अनित्य हैं—माने यह देखना कि यह सच्चिदानन्द नहीं है—संसारके विषय-भोग, **संसारके काम्यमान** पदार्थ न आनन्द है, न चेतन है और न सत् हैं। आनन्द नहीं है इसलिए दुःखरूप है, चेतन नहीं है इसलिए जड़ है और हमेशा रहने वाले नहीं हैं इसलिए ये सत् नहीं हैं, असत् हैं—इनकी प्राप्तिमें पराधीनता है, इनकी प्राप्तिमें बड़ा भारी परिश्रम है। और देखो—संसारका कोई पदार्थ होवे, वह हमेशाके लिए मिल नहीं सकता और स्वयं हमारा दिल लिये बिना दुःख दे नहीं सकता और स्वयं सुख दे नहीं सकता। बिना परिश्रमके सुख दे नहीं सकता। आयासके बिना, परिश्रमके बिना सुख दे नहीं सकता—पराधीन किये बिना सुख दे नहीं सकता—यह संसारके पदार्थोंका नियम है।

चार बात संसारके पदार्थमें हैं—एक तो संसारके पदार्थ हमेशा मिल नहीं सकते, दूसरे—इन्द्रियोंमें उनके भोगकी शक्ति हमेशा रह नहीं सकती, तीसरे—मनमें रुचि हमेशाके लिए नहीं हो सकती और चौथे—हम हमेशा भोक्ता नहीं रह सकते। विषयोंमें नित्यता नहीं, इन्द्रियोंमें सामर्थ्य नहीं, मनमें रुचि नहीं और आत्मामें भोक्तापन नहीं। **नात्र किञ्चित् भोग्यः।**

इस संसारके पदार्थोंमें हम कुछ भी भोग्य नहीं देखते हैं। विचारवान् पुरुष इनका चिन्तन करते हैं, इनका अभिध्यान करते हैं कि इनमें क्या रखा है ?

अब जरा कामके बारेमें एक-दो बात सुनाता हूँ। यह काम छूटना बड़ा मुश्किल है। पहले मोटी-मोटी बात बताता हूँ। जीवनकी एक स्थिति ऐसी होती है जिसमें कामना और कर्म दोनों रहते हैं—मनमें कामना है और बाहर कर्म है। ये कर्म दो तरहके होते हैं—एक विहित और एक निषिद्ध। मनमें कामना है और निषिद्ध कर्म करके उसको पूरी करना चाहते हैं—जैसे धनकी कामना है और चोरी

करना चाहते हैं, बेईमानी करना चाहते हैं, ब्लैक करना चाहते हैं, और एक आदमीके मनमें धन कामना तो है परन्तु वह चोरी-बेईमानी, ब्लैक नहीं कर सकता, बिलकुल संवैधानिक रीतिसे धन कमाना चाहता है, विहित रीतिसे धन कमाना चाहता है—माने वेदोक्त रीतिसे धन कमाना चाहता है। अच्छा, तो यह पहली स्थिति है कि मनमें काम है और बाहरसे कर्म करते हैं—आप लोग अपनेको इसमें तो बिलकुल नहीं लेंगे, क्योंकि आप लोग अपनी कामनाकी पूर्तिके लिए निषिद्ध-कर्म तो बिलकुल नहीं करते होंगे? पुलिसका डर कभी लगता है कि नहीं? इनकम-टैक्सके अफसरका डर लगता है कि नहीं? यदि आप उनके भयसे ग्रस्त रहेंगे और बैठेंगे वेदान्तका विचार करने कि कहीं पुलिस पीछा न कर रही हो और हमारा मालिक हमको पकड़ न ले, सरकारी-अधिकारी हमको पहचान न ले—उधर तो धुक-धुक लग रही है दिलमें और इधर बैठे हैं वेदान्तका विचार करने! तो जो निषिद्ध कर्म करते हैं उनके हृदयमें कामना अत्यन्त क्षुद्र-रूपसे निवास करती है। जब कामना उग्र होती है तब निषिद्ध कर्म करवाती है और एक वे हैं जिनके मनमें कामना तो है परन्तु केवल विहित-कर्म करते हैं, विधानके विपरीत, विधिके विपरीत कर्म नहीं करते हैं। तो वे साधनाके मार्ग पर एक कदम चले—वे निषिद्धसे निवृत्त हुए और विहितमें प्रवृत्त हुए—उनके मनमें भले ही कामना है, पर यह जो निषिद्धसे निवृत्ति है इसके कारण उन्होंने संसारकी ओरसे अपना एक कदम खींच लिया, हटा लिया।

अब एक दूसरी स्थितिकी कल्पना करो कि मनमें कामना तो है परन्तु बाहरसे कर्म नहीं करते। ऐसे लोग बिना कर्म किये बाहरके पदार्थोंका भोग चाहते हैं कि नहीं? अगर चाहते हैं बाहरके पदार्थोंको कि हम दूसरेके हकका ले लें, हम माँगकर ले लें, हमको घर बैठे मिल जाये, हमको भोग तो मिले लेकिन कर्म न करना पड़े, तो बोले कि ये मिथ्याचारी हैं—भला!

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ (गीता)

यह दम्भी है, यह ढोंगी है। लेकिन, एक आदमी ऐसा है जो बाहरसे काम तो नहीं करता है और भीतर मनमें जो कामनाएँ उठती हैं उनको मिटानेके लिए भगवान्‌की उपासना करता है, प्राणायाम करता है, प्रत्याहार करता है, धारणा करता है, ईश्वरसे प्रार्थना करता है, धर्मानुष्ठान करता है कि हे भगवान् हमारे हृदयमें जो कामना है उसको मिटा दो—वह उसकी पूर्ति नहीं चाहता है, वह

उसकी निवृत्ति चाहता है और ईमानदारीसे निवृत्ति चाहता है। तो भले वह कर्म न करे और भले उसके मनमें कामना होवे, परन्तु वह कामनाओंसे अपना पिण्ड छुड़ाना चाहता है, इसलिए वह वैराग्यके मार्गपर चल रहा है, वह ईश्वरके मार्गपर चल रहा है इसलिए उसको मिथ्याचारी नहीं कह सकते। मिथ्याचारी तब कहेंगे जब कि भीतर-भीतर तो कामना पूरी करना चाहता हो और बाहरसे कर्म न करता हो। अगर वह भीतरसे कामना मिटाना चाहता है तो वह मिथ्याचारी नहीं।

अब, एक तीसरी कल्पना करो कि मनमें कामना तो नहीं है परन्तु कर्म करता है—निष्काम-भावसे कर्म करता है। सेठ जयदयालजीसे इस बारेमें कई बार बात होती थी। जैसे निष्काम कर्म-योगके आचार्य इधर लोकमान्य तिलक हैं न, वैसे उधर सेठ जयदयाल गोयन्दका हैं। तिलक महाराज कहते हैं कि तत्त्वज्ञानके अनन्तर भी कर्म ही करना चाहिए और जयदयालजी गोयन्दकाका यह सिद्धान्त था कि तत्त्वज्ञानके पूर्व निष्काम-कर्मका योग करना चाहिए और तत्त्वज्ञान होनेके बाद कोई कर्म करे कि न करे इसमें स्वतंत्र है, कोई आग्रह नहीं है। तो कई बार उनसे बात होती थी। क्यों कि सन् ३३-३४से लेकर जबतक उनका शरीर रहा। अभी सन् ६५में उनका शरीर गया न—तो तबतक उनके साथ अपना सम्बन्ध बड़े प्रेमका बना रहा। तो उनसे बात होती—हम कहते कि सेठजी, भोक्तापनको लिये रहते कोई निष्काम कैसे हो सकता है ? जिसको यह निश्चय है कि मैं भोक्ता हूँ, जिसको यह निश्चय है कि मैं भोक्ता परिच्छिन्न जीव हूँ—मैं कर्ता तो हूँ परन्तु निष्काम हूँ, मैं भोक्ता तो हूँ परन्तु निष्काम हूँ—उससे निष्काम कर्मकी बात कैसे बनेगी? जब तक हमारे अन्दर भोक्तापनेका भाव है तबतक भोग तो होगा ही और उसके लिए कामना भी होगी—क्योंकि कामनाकी गति बड़ी सूक्ष्म है। देखो, एक दिन अपने मनमें कोई कामना नहीं थी, बैठे हुए थे, एक सज्जन आये और बैठ गये—व्यापारी थे, बिना प्रणाम किये ही बैठ गये। मनमें आया कि मैं ब्राह्मण और वे व्यापारी—इन्होंने प्रणाम क्यों नहीं किया हमको? तुरन्त अपमानका अनुभव हो गया। देखो, आपको एक बात सुनायी मैंने और हम तो समझते थे कि हम बिलकुल निष्काम हैं। देखो, असलमें उनके प्रणाम न करनेसे अपने मनमें अपमानका अनुभव हुआ तो हमारे मनमें मानकी कामना जरूर थी। यदि मानकी कामना न होती कि ये हमको प्रणाम करें—हम जानते नहीं थे, उनको देखनेके पहले हमारे मनमें यह ख्याल भी नहीं था कि हमको आकर कोई प्रणाम करे, लेकिन जब देखा कि वे प्रणाम नहीं करते हैं तो हमारे मनमें यह ख्याल हुआ कि आखिर इन्होंने हमें प्रणाम किया क्यों नहीं ? तो इसका मतलब यह है कि

हमारे मनमें मानकी इच्छा थी। यदि किसीसे कोई खास तरहका व्यवहार न मिलने पर अपने मनमें दुःख होता है तो हम दुःखके भोक्ता हैं और मनकी प्राप्ति होनेपर उसके भी भोक्ता हैं। जो दुःखका भोक्ता होता है वही तो सुखका भोक्ता होता है। यदि तुम्हारे अन्दर दुःखीपना शेष है तो सुखीपना भी शेष है, अगर कहीं भी दुःख हो जाता है तो यह नहीं समझना कि हम भोक्तापनसे ऊपर उठ गये—बड़ा सूक्ष्म है यह।

अच्छा, क्या यह ख्याल होता है कि और सब तो सुखी-दुःखी होते रहते हैं, और सब तो कर्ता-भोक्ता हैं और हम अकर्ता हैं, अभोक्ता हैं और सुखी-दुःखी नहीं होते हैं? अगर यह कल्पना आपके मनमें है तो बिलकुल परिच्छिन्नताका अभिमान बैठा हुआ है भला! वह तो त्यागके द्वारा परिच्छिन्नताका अभिमान आवे तो और संग्रहके द्वारा परिच्छिन्नताका अभिमान आवे तो—दोनों दशाओंमें अपनी परिच्छिन्नताका अभिमान जिन्दा है। एक सेठके मन में यह अभिमान था कि हमने पाँच रुपया दान किया है, एक साधुके मनमें यह अभिमान था कि हमने पाँच रुपये त्याग किया है—तो पाँच रुपयेका दान अभिमानका जनक हो गया और पाँच रुपयेका त्याग अभिमानका जनक हो गया—दोनों ही स्थितियोंमें यह परिच्छिन्नता ही तो भूषण बनी न—खण्डका ही भूषण बना, अखण्डका स्पर्श इसने नहीं किया।

अच्छा, अब आपको एक तीसरी स्थिति बताते हैं—जिसमें कर्म तो है परन्तु, कामना नहीं है। एक स्थिति तो वह जिसमें कामना और कर्म दोनों हैं और उसके दो भेद– विहित-कर्म और निषिद्ध-कर्म; और एक स्थिति वह जिसमें कर्म तो नहीं है परन्तु कामना है—उसके भी दो भेद—ढोंगी होना और कामनाकी निवृत्ति ईमानदारीसे चाहना; और अब एक स्थिति वह जिसमें कामना नहीं है परन्तु कर्म है।

सेठजीसे बात हुई तो मैंने कहा कि कर्त्ताके रहते, भोक्ताके रहते निष्काम कैसे होगा? तो बोले कि देखो, पण्डितजी, (मैं उनदिनों पण्डित ही था) हम जब निष्काम-कर्मका वर्णन करते हैं तो जितनी सूक्ष्मतासे तुम निष्कामताका विवेचन कर रहे हो उतनी सूक्ष्मतासे हम उसका वर्णन नहीं करते; हम कहते हैं कि मनुष्यके मनमें निःस्वार्थ भाव होवे, वह लोगोंकी भलाईके लिए अपना जो स्थूल स्वार्थ है उसको छोड़करके कर्म करे-निष्काम-कर्म करे! निष्काम-कर्म माने निष्काम-भावसे कर्म। यहाँतक उन्होंने कहा कि सच्ची निष्कामता प्राप्त करनेके लिए जो कर्म है उसीको हम निष्काम-कर्म बोलते हैं। निष्कामता-पूर्वक कर्म निष्काम-कर्म नहीं, निष्काम होकर किया हुआ कर्म, निष्काम कर्म नहीं, निष्कामकी प्राप्तिके लिए जो कर्म सो निष्काम कर्म!

निष्काम होनेपर ही त्याग परमात्माकी प्राप्तिका साधन हो सकता है,बाहरसे कोई त्याग करे और मनमें कामना हो तो यह परमात्माकी प्राप्तिका साधन नहीं है। इसी प्रकार बाहरसे कोई करे ग्रहण और मनमें कामना हो तब तो वह परमात्माकी प्राप्तिका साधन नहीं है; लेकिन, मनमें कामना न हो तो वहाँ यज्ञ-यागादि साधनका ग्रहण भी, भगवद्भजनके साधनका ग्रहण भी परमात्माकी प्राप्तिका साधन हो जाता है। लेकिन कर्त्तापनका सवाल तो वहाँ भी ज्यों-का-ज्यों रहता है—कर्त्तापन है कि नहीं है?

असलमें अन्तःकरण-शुद्धि और कुछ नहीं है, निष्कामता ही अन्तः-करणकी शुद्धि है। बोले—कर्म करो और निष्काम रहो,त्याग करो और निष्काम रहो। यदि तुम्हारे अन्तःकरणमें कामना नहीं है तो अन्तःकरण शुद्ध है और यदि भगवत् प्राप्तिकी कामना हो, आत्मज्ञानकी कामना हो, तो वह कामना भी अन्तःकरणकी शुद्धि ही है! बोले—कि फिर यह कार्त्तापन? कि हमारा कर्त्तापन तो मिट गया! तो भाई, कर्त्तापन मिटा तो अपने अपरिच्छिन्न-ब्रह्म-स्वरूपका ज्ञान होकरके, कर्त्तापर मिटा कि केवल भाव ही बना कि कर्त्तापन नहीं है! यदि भाव ही बना तो परमार्थकी प्राप्ति नहीं हुई और यदि अपरिच्छिन्न-तत्त्वका ज्ञान हुआ और कर्तृत्व-भोक्तृत्व मिट गया तो वास्तविक निष्कामता आ गयी, क्यों कि द्वैतका बाध होनेपर, कर्क्तृत्व-भोक्तृत्वका बाध होनेपर जो निष्कामता आती है वह वासतविक निष्कामता होती है, जबानी-जमाखर्चसे नहीं। दुकानपर बैठकर चाहते तो हैं कि दूसरेकी जेब काट लें और बोले कि हम निष्काम-भावसे जेब काटते हैं महाराज; हर साल एक बच्चा पैदा होता जाता है। बोले निष्काम-भावसे बच्चा पैदा हो रहा है-भला; अरे भाई, निष्कामताकी भी कोई व्याख्या होती है, निष्कामताकी भी कोई स्थिति होती है। देखो, नचिकेता यमराजके सामने खड़ा है और यमराज कह रहे हैं—लो हाथी, लो घोड़ा, तो सोना, लो चाँदी, लो अप्सरा, लो स्वर्गका भोग और नचिकेता केवल उसका त्याग ही नहीं करते हैं-'अत्यस्त्राक्षी' पदका प्रयोग किया हुआ है—चिन्तन-पूर्वक, विचार-पूर्वक विषय और भोगोंमें जो दोष हैं उसको जानकर अपने स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करनेके लिए नचिकेताने सबका परित्याग कर दिया!

नैताः सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः॥

यमराज शिष्यकी प्रशंसा करते हैं कि शाबास! इससे शिष्यके मनमें उत्साह भर जाता है। यहाँ तक कि विरोचनसे, इन्द्रसे गलती होती है; विरोचन अज्ञान-दशामें ही ज्ञान मान लेता है लेकिन, प्रजापति यह नहीं कहते हैं कि तू मूर्ख

है, ऐसे नहीं बोलते हैं। क्या बोलते हैं कि भाई-**सभा मध्ये मान-भङ्गात् बुद्धि-भ्रंशो भवेत् प्रदम्**—अनुभूति प्रकाशकारने लिखा कि प्रजापतिने यह विचार किया कि इसका भरी सभामें तिरस्कार नहीं करना चाहिए, क्योंकि अयोग्य व्यक्तिका भी यदि कोई दोष बताना हो तो उसको एकान्तमें बताया जाता है,भरी सभामें उसका तिरस्कार करनेके लिए उसका दोष नहीं बताया जाता।

तो—**नैताःसृङ्कां**—पहले भी सृङ्का शब्दका प्रयोग आया, यह कठोपनिषद्-का अपना शब्द है—सृङ्कस् शब्दका अर्थ है वित्तमयी कुत्सित गति—

अहो बुद्धिमत्ता तव! नैताम् अवाप्तवानसि-सृङ्कां सृतिं कुत्सितां मूढजनप्रवृत्तां वित्तमयीं धनप्रायाम्। (शंकर भाष्य)

यह सृति कैसी है? कि कुत्सित है, जिसमें चैतन्यका आदर नहीं है,जड़का आदर है—यह सृङ्का है। सृङ्का क्या है कि आप देखो, आप ज्यादा आदर किसका करत हो? जो तुम्हारे हृदयमें आत्माराम बैठे हैं, उनका आदेश-सन्देश सुनते हो, उनका आदर करते हो,उनका ध्यान करते हो, उनका दर्शन करते हो, उनका साक्षात्कार करते हो कि यह संसारमें जड़ वस्तुएँ फैली हुई हैं उनपर तुम्हारी दृष्टि रहती है? तुम्हारी नजर कहाँ है—यह प्रश्न है। तो—

नैताःसृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो—यमराज कहते हैं यदि तुम धनके चक्करमें पड़ जाते, तो डूब जाते! अनेक लोग पहले भी डूब चुके हैं।

यह जो हमारे महात्माओंने अध्यात्म-विद्या प्राप्त की है वही यह कठोपनिषद् दुग्धामृत है। यह कठोपनिषद् रूप जो गाय है उसका यह दुग्धामृत है। यह हमारी बुद्धिको परमात्माके सम्मुख करनेके लिए है। देखो, एक दिन समाचार पत्रोंमें समाचार छप जाता है कि अमुक कुतियाने अमुक बच्चेको दूध पिलाया, अमुक बकरीने अमुक बच्चेको दूध पिलाया-लेकिन अपनी माता रोज अपने बच्चेको दूध पिलाती है, लेकिन अखबारवाले कभी नहीं छापते हैं कि अमुक माँने अपने बच्चेको दूध पिलाया। क्यों नहीं छापते है? इसलिए कि यह बिल्कुल स्वाभाविक काम है, कृत्रिमता इसमें बिल्कुल है ही नहीं। तो,जैसे माता अपने बच्चेको दूध पिलाती है वैसे ही यह अध्यात्म विद्या, यह ब्रह्म-विद्या, यह उपनिषद् हमारी बुद्धिको, जिज्ञासुको, जीवको यह ब्रह्मामृत, अमृतत्वका प्रदान करती है भला; यह अखबार वालों का समाचार नहीं है। जैसे माँका बच्चेको दूध पिलाना अखबारवालोंका समाचार नहीं है वैसे ही यह उपनिषद् जो शक्ति, जो अमृतत्व, जो मोक्ष, जो मुक्ति देती है हमको—यह उपनिषद्-रूप गाय

(सर्वोपनिषदो गावो) जो दूध हमको पिलाती है यह अखबारका विषय नहीं! लेकिन महाराज, जो धनके चक्करमें फँस जाय, इसके लिए यह नहीं है।

आपको सुनया था—मणिभद्र और कुण्डधारका उपाख्यान—ब्राह्मणने कहा हमको धन चाहिए; कुण्डधारने मणिभद्रसे प्रार्थना की—हमारे भक्त ब्राह्मणको धन दो! मणिभद्रने कहा कि कुण्डधार, अपने भक्तको इस चक्करमें मत फँसाना; और स्वप्नमें ब्राह्मणको ले गये नरकमें और वहाँ उसको दिखाया कि जो लोग परमात्मासे विमुख होकर, सत्यसे विमुख होकर, धर्मसे विमुख होकर संसारके क्षणिक भोगोंमें फँस जाते हैं उनको कितना दुःख भोगना पड़ता है। जिस हृदयमें रहना चाहिए ईश्वर उस हृदयमें बस गयी अप्सरा, उस हृदयमें बस गया पैसा, उस हृदयमें बस गया-चोरी-बेईमानी, पुलिस, टैक्स, सरकारी अधिकारी। यह तो देखना कि हमारे हृदयमें कौन-सा आकार आ रहा है?

यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः—धनके चक्करमें बहुत सारे मनुष्य डूब जाते हैं! असलमें-डूब जानेका अभिप्राय क्या है कि अपने परमार्थसे वंचित हो जाते हैं, वैसे ही जैसे यदि कोई पानीमें डूब जाय तो उसका असली घर छूट जाय, पति छूट जाय, पत्नी छूट जाय, बेटा छूट जाय, शरीरसे भी हाथ धोना पड़े। पानीमें डूब जाता है, उसका यही होता है। इसी प्रकार महाराज जो संसारके भेगोंमें डूब जाता है उसका तो सबकुछ छूट जाता है—अपने आत्माका ज्ञान नहीं, अपने आत्माकी ब्रह्मताका ज्ञान नहीं, ईश्वरका ज्ञान नहीं,धर्म नहीं, भक्ति नहीं, सम्पूर्ण पुरुषार्थोंसे वंचित होकरके अपनी इन्द्रियोंकी हिंसामें, अपने मनकी हिंसामें, केवल भोगासक्तिमें वह लग जाता है। इसलिए मार्ग केवल दो हैं, जैसे हमरे नीति जानने वाले पुरुष कहते हैं कि हम आपको साफ-साफ रास्तासं बता देते हैं—

आपदां कथितः पंथ इन्द्रियाणां असंयमः।
तज्जयः सम्पदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम्॥

तुम्हें एक आपद्-विपद्का रास्ता बताते हैं, इस रास्तेंमें तूफान है, इस रास्तेंमें समुद्र है, इस रास्तेंमें नदियाँ हैं, इस रास्तेमें ऊबड़-खाबड़ धरती है, इस रास्तेमें हिंस्र-जन्तु हैं, साँप है, शेर हैं, बड़ा दुःख है—वह रास्ता कौन-सा है? कि अपनी इन्द्रियोंको काबूमें न रखना; और इन्द्रियोंपर विजय प्राप्त करना—यह सम्पत्तिका मार्ग है,सुखका मार्ग है—**येनेष्टं तेने गम्यताम्**—तुम्हारी मौज हो आपद्-विपद्में फँसो और तुम्हारी मौज हो तो सम्पति-समृद्धिके मार्ग पर चलो।

इसी प्रकार यह आत्मज्ञानका मार्ग, परमानन्दका मार्ग, परम सुखका मार्ग,

अमृतत्वका मार्ग-यह ब्रह्मविद्या है, और दूसरे मार्ग छोटे-छोटे, टुकड़े-टुकड़े क्षुद्र पंथ हैं जिनके द्वारा चलकरके मनुष्य संसारके भोगोंमें रच-पच जाता है; अब जो तुम्हें रुचे उस रास्तेसे तुम चलो! कोई-कोई आते हैं और बोलते हैं, महाराज हम बड़ा वैराग्य लेकर ज्ञान-प्राप्तिके लिए आये हैं। पूछा कि कैसे वैराग्य हुआ? बोले—कि घरमें घरवालीसे लड़ाई हो गयी।

तो अप्रियसे वैराग्य करना सहज है, अप्रियसे तो वैराग्य क्या घृणा हो गयी, द्वेष हो गया, ग्लानि हो गयी, वहाँ वैराग्य कहाँ हुआ? वैराग्य तो तब है न जब वह प्रियसे होवे? जिससे सुख मिलता है, जिससे तृप्ति मिलती है—'अभिध्यायन्'। उसके अनित्य तत्त्वका चिन्तन करके होवे, उसके जड़त्वका चिन्तन करके होवे, उसके दु:ख रूपत्वका चिन्तन करके होवे!

यह अनित्यतत्त्व—सत्‌का चिन्तन हुआ क्योंकि अनित्यतत्त्वका निषेध कर देनेसे सत् शेष रहता है। जड़त्वका चिन्तन चित्‌का चिन्तन है क्योंकि जड़त्वका निषेध कर देनेसे चित्तामात्र शेष रहता है। दु:ख का चिन्तन आनन्दका चिन्तन है क्योंकि दु:खका निषेध कर देनेसे आनन्द मात्र शेष रहता है। और देश-काल-वस्तुका चिन्तन अपरिच्छिन्नका चिन्तन है क्योंकि उनमें स्थित जो परिच्छिन्न है उसका निषेध कर देनेपर अपरिच्छिन्न शेष रहता है। यह वैराग्यकी प्रणाली बड़ी बिलक्षण है—यह घृणा नहीं है, यह ग्लानि नहीं है, यह द्वेष नहीं है, यह राग-द्वेष दोनोंका शैथिल्य है, जिससे परिच्छिन्न-ग्राहिणी बुद्धि शान्त हो जाय और अपरिच्छिन्नके ग्रहणकी योग्यताका उदय हो जाय।

एक महाशय बोलते थे कि इस संसारको तुमलोग असार-असार क्यों कहते हो? जिसमें सम्यक् सार होवे उसका नाम संसार है। ये बाबाजी लोग जो हैं ये सम्यक् सार वाले पदार्थको असार बताते हैं, इनकी बुद्धि उलटी है।

वेदान्तियोंमें तो संसार शब्दका अर्थ संसरण है; जन्म-मृत्युका अनादि और नित्य प्रवाह—इसको संसार बोलते हैं, और इसमें और इसके किसी अंशमें तादात्म्य हो जानेके कारण और तादात्म्य भी अपने स्वरूपके अज्ञानके कारण हो जानेसे यह जो जन्म-मरणका प्रवाह है यह अपनेमें आरोपित हो जाता है कि असलमें हम जन्म ले रहे हैं और हम मर रहे हैं! और जहाँ अपने स्वरूपका ज्ञान हुआ तो अरे! भासता रहे हजार-हजार जन्म और भासती रहे करोड़-करोड़ मौत—इनके भासनेमें क्या लगता है, मस्त हैं।

तो यमराज नचिकेतासे कहते हैं—विषयभोगकी अनित्यता, इन्द्रियोंकी

असमर्थता, मनमें रुचिका हमेशा न रहना, भोक्तृत्वका हमेशा न होना—ये सब चिन्तन करके, तुमने संसारको असार समझ करके—'अत्यस्राक्षीः' — इसका बिलकुल अतिसर्जन कर दिया, त्याग दिया, धन्य है तुम्हारी बुद्धि! और मेरे द्वारा दिये गये प्रलोभनोंको भी तुमने त्याग दिया।

इसमें देखो, दो तरहकी बात हो गयी—एक तो स्वयं विरक्त होकर आते हैं—छोड़ दिया, छोड़ दिया और फिर जब दूसरा कोई देता है तो कहते हैं कि इसमें तो हमारी इच्छा नहीं है न, तो चलो स्वीकार कर लें। लेकिन, यहाँ यमराज दे रहे हैं और नचिकेताने त्याग कर दिया।

नैता्ँसृङ्कां वित्तमयीमवाप्तः—मैंने तुमको वित्तमयी गतिमें, कुत्सित गतिमें ले जानेका प्रलोभन दिया परन्तु तुम नहीं गये। क्योंकि धनमयी, वित्तमयी जो गति है वह कुत्सित है; जो आत्मज्ञानके प्रेमी हैं वे उसमें नहीं चलते। इसमें उसकी कोई प्रशंसा नहीं है, कोई स्तुति नहीं है, क्योंकि धन तो भटकानेवाली वस्तु है। यह सृङ्का नहीं शृंखला है। देखो, एक आदमी बैठा है हृदयमें और उसको चाहिए नोटका बण्डल, तो उसकी नजर कहाँ होगी? अपने ऊपर नहीं होगी कि मैं कौन हूँ, कहाँ हूँ—ऐसी मनकी कुत्सित गति है कि क्या बतावें—एक सज्जन पच्चीस वर्षसे ऋषिकेशमें रह रहे हैं और उन्होंने हमसे आकर पूछा कि एक आदमी हमसे दुश्मनी करता है तो क्या हम चार गुण्डे लगवाकर उसको मरवा डालें? पच्चीस वर्षसे ऋषिकेशमें रहता है और द्वेषका उदय हो गया चित्तमें। साधुता क्या हुई? एकने हमसे पूछा कि हम यदि ऐसी बेईमानी कर लें तो हमको लाख रुपयेकी आमदनी हो जायेगी।

अरे, यहाँ तो नचिकेता लाख रुपये देने पर भी नहीं लेते हैं—**नैता्ँसृङ्कां वित्तमयीमवाप्तः**—यमराज कह रहे हैं—ले हाथी, ले घोड़ा, ले सोना, ले चाँदी, ले घर, ले अप्सरा, ले स्वर्गका भोग; लेकिन, नचिकेता कहता है—हमको परमात्मा चाहिए, हमको अपरिच्छिन्न वस्तु चाहिए, हमको यह संसारकी वित्तमयी शृंखला नहीं चाहिए; जो हमारे दिलको, हमारे दिमागको, हमारी आत्माको भीतरसे निकालकर बाहर पहुँचा देती है, वह चीज हमको नहीं चाहिए।

यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः—बोले—बाबा, वोट तो उधर ही ज्यादा है—बहवो मनुष्याः—बहुमत है न—वोटकी चोट किधर है? बोले जिधर है उधर झुक जाओ। तो बोले, यह वोट नहीं है, यह खोट है। बोले क्यों? कि इसमें डूब जाओगे। यदि हमलोग परब्रह्म परमात्माका चिन्तन छोड़कर दुनियाकी छोटी-छोटी

बातोंमें लग जायँ, स्थूल बातोंमें लग जायँ, सूक्ष्म बातोंमें लग जायँ, स्वर्गके लिए होम करने लगें और धन कमानेके लिए व्यापार करने लगें और समाधि लगानेके लिए प्राणायाम करने लगें और लोकान्तरमें जानेके लिए पूजा-पाठ करने लगें तो यह जो प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वका चिन्तन है इसकी परम्परा, इसका नमूना भी सृष्टिमें नहीं रहेगा। तो, **यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः**—लोग स्थूलतामें बह जाते हैं, बह नहीं जाते हैं, डूब जाते हैं—**मज्जन्ति**—डूब जाते हैं आमूल-चूल। तो, आत्माको ब्रह्म जाननेके लिए जरा वैराग्यकी आवश्यकता होती है, निवृत्तिकी आवश्यकता होती है।

अभी हमारे एक मित्र कुछ लिखकर दे गये हैं, जो कल हमने बताया था उनमेंसे कुछ उनको पूछना है। जैसे—किसी मनुष्यके हृदयमें कामना और कर्म दोनों हैं—शरीरसे कर्म होता है, मनमें कामना है, तो प्रश्न यह है कि वह पाप कर्म करता है कि पुण्य-कर्म करता है; निषिद्ध करता है कि विहित करता है? निषिद्ध करता है तब तो वह पामर है और विहित कर्म करता है; विषयी है—कोई अपनेको निष्काम भी कहे और निषिद्ध-कर्म करे तो समझना कि वह ढोंगी है—धोखेबाज है बिलकुल। निष्काम होवे और निषिद्ध-कर्म करे यह बात नहीं हो सकती। काम, कर्म दोनों होवे और निषिद्ध-कर्म करे तो पामर और विहित-कर्म होवे तो विषयी।

और देखो, बोले—कर्म तो नहीं है लेकिन, कामना है—निषिद्ध कर्म भी नहीं है, विहित-कर्म भी नहीं है, परन्तु कामना है। तो बोले कि यदि कामनाको पूरी करना चाहता है तब तो वह ढोंगी है—कर्म नहीं करता और कामनाको पूरी करना चाहता है तो ढोंगी है, मिथ्याचारी है और यदि कामनाको मिटाना चाहता है तो वह साधक है, निवृत्ति-परायण साधक है।

अब देखो—कर्म तो है परन्तु कामना नहीं है तो प्रश्न यह हुआ कि ठीक है निष्काम कर्म करता है, परन्तु कर्त्तापनेका भाव है कि नहीं है? बोले कि कर्त्तापनेका भाव है। कि तब तो वह अभी संसारी है—कर्त्ता होगा तो भोक्ता भी होना पड़ेगा। बोले—कर्त्तापनेका भाव नहीं है। नहीं है तो ज्ञान होकरके कर्त्तापन मिट गया है कि केवल अकर्त्तापनकी भावना ही करता है? माने अकर्त्तापनकी भावना अज्ञानकी उपस्थितिमें कि अज्ञानकी निवृत्तिमें? अज्ञान मिटना जरूरी है—चार स्थितिके दो-दो विभाग करके आठ विभाग बता दिये—तो, अज्ञान मिटना जरूरी है।

❖

विद्या और अविद्याके मार्ग परस्पर विपरीत हैं : नचिकेता विद्याका अभीप्सु है।

अध्याय-१ वल्ली—२ मन्त्र—४

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता।
विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त॥ १.२.४

अर्थ—पण्डित लोग जिसको विद्या और अविद्यारूपसे जानते हैं वे परस्पर विरुद्ध स्वभाववाली तथा विरुद्ध फल वाली हैं। हे नचिकेता! मैं तुझे विद्याभिलाषी मानता हूँ क्योंकि तुझको बहुत-से भोगोंने भी लुभाया!

दूरमेते विपरीत विषूची—आपको पहले विद्या और अविद्या इन दोनों शब्दोंके बारेमें एक साथ सुना देता हूँ। वैसे कहते हैं कि—

अन्योन्यस्मिन् अन्योन्यात्मकताम् अन्योन्यधर्मांश्च अध्यस्य इतरेतराविवेकेन अत्यन्त विविक्तयोः धर्म धर्मिणोः मिथ्याज्ञान निमित्तः सत्यानृते मिथुनीकृत्य अहमिदं—ममेदिमिति नैसर्गिकोऽयं लोकव्यवहारः। ....एवम् प्रत्यगात्मनि अपि अनात्माध्यासः। तमेतमेवं लक्षणं अध्यासं पण्डिता अविद्येति मन्यन्ते तद्विवेकेन च वस्तुस्वरूपावधारणं विद्यामाहुः॥

सत्य क्या है और अनृत (झूठ) क्या है—इन दोनोंका ठीक-ठीक विवेक न करके सत्यको झूठ समझ बैठना और झूठको सत्य समझ बैठना—इसका नाम अविद्या है; और सच और झूठका ठीक-ठीक विवेक करके वस्तुके स्वरूपका निश्चय करना विद्या है।

परन्तु, यह विद्या और अविद्याके सम्बन्धमें भी लोगोंकी जो धारणा है न, वह बड़ी विचित्र-विचित्र है।

आप जीवनमें देखें कि जहाँ आपको काम करना होगा वहाँ विद्या और अविद्या दोनोंकी जरूरत पड़ेगी। जरूरत कैसे पड़ेगी? कि आपने आँखसे कोई बहुत बढ़िया चीज देखी—यह विद्या हुई, आँखसे देखा यह ज्ञान हुआ; अब हाथसे

उस चीजको उठावेंगे तो हाथसे कर्म होगा—कर्मको तो विद्या है नहीं, आँख देखेगी और हाथ उठावेगा—आँख देखेगी जमीन और पाँव उसपर पड़ेगा। तो, बिना आँखसे देखे पाँव रखना नहीं बनता है माने हमारे जीवनमें ज्ञान और कर्म दोनोंका सम्मुच्य व्यवहारमें देखनेमें आता है। एक चीजको हम पहले जानेंगे, चाहेंगे तब करेंगे। और ऐसे भी होता है कि करेंगे और तब जानेंगे। एक डॉक्टर एक दवाका प्रयोग सैकड़ों मरीजपर करता है और देखता है कि उससे कितनोंका रोग मिटता है और कितनोंका नहीं मिटता है! और विद्यार्थियोंको महाराज, विज्ञान पढ़नेके लिए कितने प्राणियोंपर नस्तर लगाना पड़ता है! तो करके समझना और समझकर करना यह बात लोक-व्यवहारमें चलती है जहाँ कर्म और भोग दोनों होते हैं। व्यवहार कोई ऐसा नहीं होता जिसमें विद्या और अविद्याका समुच्चय न हो।

एक बार सनातन-धर्मी और आर्य-समाजी दोनोंका शास्त्रार्थ हुआ। बात पुरानी है परन्तु सच्ची है, क्योंकि अब ४० वर्षके करीबसे तो आर्य-समाज और सनातन धर्मका शास्त्रार्थ जरा ठण्डा पड़ गया, पहले ज्यादा होता था। तो, एक गाँवमें मन्दिर था और उसमें प्रतिदिन शंकरजी की पूजा होती थी। महाशयजी ने कहा कि शास्त्रार्थ हो जाय! सनातन-धर्मी लोग तैयार हो गये। समय निश्चित हो गया। सभा जुड़ गयी, पर सनातन-धर्मकी ओरसे जो पण्डित आने वाले थे वे नहीं आये। तो पुजारीजीने कहा कि देखो भाई-पण्डित नहीं आया तो नहीं आया, हम तो अपने भगवान्को लेकर शास्त्रार्थ करेंगे, आओ,जिनको शास्त्रार्थ करना हो वे कर लें। और वह महाराज शंकरजीका जो बड़ा पिण्ड था उसको कपड़ेमें लपेट कर ले गये। जाकर आर्य-समाजियोंसे बोले कि आपको निराकारकी ओरसे जो करना हो, जो कहना हो, सो सब कर लो, कह लो आपको छुट्टी है।

आर्य-समाजीने ज्ञान-विज्ञानसे मूर्ति-पूजाका खूब खण्डन किया।

पुजारीजी बोले—देखो, तुम्हारा खण्डन ज्ञान-विज्ञानसे हो गया न! अब तुम देखो, हमारी साकार-मूर्तिका चमत्कार! अब हम अपने साकारको मारेंगे तुम्हारे सिरपर और तुम अपने निराकारको मारो हमारे सिरपर, देखें विजयी कौन होता है, जीत किसकी होती है?

आर्य-समाजी लोग इतना सुनते ही मंच छोड़कर भाग गये। बोले—बाबा. यह शंकरजीकी मूर्ति तो जिसके सिरपर पड़ेगी, उसका सिर ही फोड़ देगी।

पर, मैं लड़ाईका समर्थन करनेके लिए यह बात नहीं कह रहा हूँ! और एक बात और बता दूँ आपको कि हमारा जो परमेश्वर है वह तो निराकार भी है, साकार

भी है और निराकार-साकार दोनोंसे विलक्षण भी है-भला। वह तो निराकार-साकार-भावके अनुकूल शक्तिसे अवच्छिन्न जो ब्रह्म है उसमें निराकारता और साकारता दोनों विवर्त-मात्र हैं; तो क्या निराकारके लिए लड़ना,क्या साकारके लिए लड़ना? वेदान्तमें लड़ाई-झगड़ा नहीं है। यह तो साकार-निराकार उभय भावानुकूल शक्तिसे अवच्छिन्न ब्रह्ममें साकारता-निराकारता दोनों केवल विवर्त-मात्र है और वह भी उस तत्त्वको समझानेके लिए कल्पना करके यह बात कहते हैं-बड़ा विलक्षण तत्त्व है! तो हमको क्या पक्षपात है कि इधरका पक्ष लें कि उधरका पक्ष लें, उस वस्तुको तो समझो!

तो जीवनकी सामान्य बात यह है कि आँखके बिना पाँवका चलना नहीं हो सकता और हाथमें चाहे लड्डू हो लेकिन; जीभके बिना उसका स्वाद नहीं आ सकता; तो हाथमें लड्डूका होना कर्मका फल है और जीभको स्वाद आना-यह ज्ञान है। परन्तु अब प्रश्न यह है कि जैसे ज्ञान और कर्म दोनोंके समुच्चयसे भोग होता है,जैसे आँखसे देखना और पाँवसे चलना—ज्ञान और कर्म इन दोनोंके समुच्चयसे व्यवहार होता है। इसी प्रकार यदि आत्मज्ञान प्राप्त करना हो तो क्या ऐसे ही समुच्चय होगा? प्रश्न यह है कि क्या वहाँ भोगकी गति है? क्या वहाँ कर्मकी गति है? नहीं,क्योंकि वस्तुका बोध प्रमाणसे होता है। तो आत्मामें यदि स्थिति प्राप्त करनी हो तो पहले अविद्यासे निवृत्त होकर विद्यामें स्थित होना पड़ेगा और फिर विद्या-अविद्या दोनोंका अधिष्ठान अपना आत्मा है—यह ज्ञान होगा। विद्या कबतक? कि जबतक अविद्याकी निवृत्ति न हो तब तक! अपना जो स्वरूप है वह विद्या-अविद्या दोनोंसे विलक्षण है।

साधन कालमें विद्या और अविद्या—इनका कैसे निर्णय करना? तो बोले भाई, **दूरमेते विपरीते विषूची**—नासमझीका रास्ता दूसरा है, समझदारीका रास्ता दूसरा है। और ये दोनों विपरीत हैं माने 'परीत' नहीं हैं। परीत माने अनुगत, समन्वित्; विपरीत माने विसमन्वित्।

विद्याका मार्ग विवेकका मार्ग है। इस मार्गमें ज्ञान और कर्म,ज्ञान और भोगका विवेक करना पड़ेगा, सद्वितीयसे अद्वितीयका विवेक करना पड़ेगा-यह विवेकका मार्ग है, यह जिज्ञासुओंका मार्ग है!

बोले—कि नहीं, हमको तो विषय-भोग चाहिए! कि खूब आनन्दसे विषय-भोग करो, रोकता कौन है? कि हमको तो कल-कारखाना चाहिए। कि कल-कारखाना खोलो। तुमको कौन कहता है कि तुम सब छोड़-छोड़ कर आकर

ब्रह्मज्ञान प्राप्त करो। बोले कि नहीं भाई,हमको तो अमुक-अमुक वस्तु इकट्ठी करनी है। कि तुम इकट्ठी करो! लेकिन जब अर्थ-संग्रहसे,जब भोगसे, जब **ज्ञानकी इच्छा होवे, जिज्ञासा होवे तब इधर आना। अविद्याका मार्ग दूसरा है उसकी गति भिन्न है, वह परिच्छिन्नमें ले जाकर डालती है; और विद्याका मार्ग दूसरा है। वह परिच्छिन्नसे ले जाकर अपरिच्छिन्नमें डालती है।**

अविद्या या च विद्येति ज्ञाता—लोकमें जिसको विद्या कहते हैं वह असली विद्या नहीं है। **श्रेयः आददानस्य साधुर्भवति**—जो विद्याके मार्गमें चलता है वह श्रेयको ग्रहण करना चाहता है और वह निःश्रेयसका भागी होता है। और **हीयते** अर्थात् **य उ प्रेयो वृणीते**—वह अपने स्वार्थ-परमार्थसे भ्रष्ट हो जाता है जो केवल इन्द्रियोंकी तृप्तिके मार्गमें लग जाता है। अविद्या अन्धी है, अविवेकात्मक है और विद्या दृष्टि है, विवेकात्मक है। विद्या साफ कर देती है कि हम कौन हैं और कहाँ रहते हैं?

लौकिक दृष्टिसे भी यदि हम विद्याका विवेक करें तो संसारमें इसके लिए स्थान प्राप्त होता है। देखो, हम जीना चाहते हैं-जीना चाहते हैं माने हमको जिजीविषा है और इसके लिए बुभुत्सा (भोगकी इच्छा) भी है। हम बने रहें यह जिजीविषा है और इसके लिए भोग चाहते हैं,यह बुभुत्सा है। देखो, शरीरंके रूपमें जब जीना चाहते हैं तब हमको खानेके लिए अन्न चाहिए—पाञ्चभौतिक शरीरके लिए पाञ्चभौतिक भोजन चाहिए, पाञ्चभौतिक वस्त्र चाहिए, पाञ्चभौतिक मकान चाहिए, पाञ्चभौतिक औषधि चाहिए। किसको, कि पाञ्चभौतिक शरीरको। यह क्या है? कि यह संदेशके प्राधान्यसे कल्पित जो जीवन-चर्या है इसमें सतकी प्रधानसे जो विवर्त रूप वस्तुएँ हैं उनकी अपेक्षा होती है। और जब मैं जानना चाहता हूँ और जानते रहना चहता हूँ, माने जब हममें जिज्ञासा होती है, तब हमको क्या चाहिए? उस चिदंशकी प्रधानतासे जो हमारी जीवनचर्या है उसके लिए हमें चित्के विवर्त रूपमें जो वस्तुएँ हैं उनकी अपेक्षा होगी। जैसे अपनेको शुद्ध सत्-स्वरूप न जानकरके, मरणसे भयभीत होकर अपनेको जिलाये रखनेके लिए हमको सद्विवर्तरूप परिच्छिन्न उपकरणोंकी आवश्यकता होती है वैसे ही अपनेको शुद्ध-चित् रूपमें न जानकरके चिद्-विवर्त अन्तःकरणवाला अपनेको जान करके हमको पुस्तककी जरूरत है, पुस्तकालयकी जरूरत है, शिक्षककी जरूरत है, और सत्संग और जब अपनेको चिन्मात्र शुद्ध-वस्तु जान गये तब न वहाँ पोथी-पत्रा है,

न विद्यालय है और न वहाँ अखबार है और न वहाँ ज्ञान-प्राप्तिके साधनोंकी अपेक्षा है।

अच्छा हमको आनन्द होनेके लिए क्या चाहिए? यदि हमको आनन्दित होनेके लिए दूसरेके घर जाना पड़ता है, दूसरेसे कुछ लेना पड़ता है, दूसरेसे कुछ माँगना पड़ता है, दूसरेकी अपेक्षा, जरूरत होती है, तो हम जरूर दुःख रूप ही हैं। अपनेको आनन्द स्वरूप नहीं जानते। परन्तु हमारी आनन्द-प्रधान जीवनचर्याके लिए आनन्द-विवर्त चाहिए, नृत्य चाहिए, मनोरंजनकी सामग्री चाहिए, भोगकी सामग्री चाहिए। यह सब क्यों? कि हमने अपने शुद्ध-आनन्द-स्वरूपके अज्ञानसे अपनेमें आनन्दाभावकी कल्पना कर ली, भ्रान्त, दुःखी हो गये, तब दुःख मिटानेके लिए इन सब उपकरणोंकी आवश्यकता हो गयी। अपनेमें जहाँतक परिच्छिन्नताकी बुद्धि है, भ्रान्ति है वहाँ तक सारी लौकिक सामग्री—जीवन-सम्बन्धी, ज्ञान-सम्बन्धी, आनन्द-सम्बन्धी, उपस्थिति-सम्बन्धी—सब कुछ चाहिए। लेकिन जब अपने आपको प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वके रूपमें जान लेते हैं तब बाहर तो रहता है सब परन्तु अविद्यामूलक जितने भय हैं, जितनी जड़ता है, जितने दुःख हैं सब निवृत्त हो जाते हैं। समाधिका नाम ब्रह्म ज्ञान नहीं है, निवृत्तिका नाम ब्रह्मज्ञान नहीं है, समाधि और विक्षेप दोनोंमें एक ब्रह्म है, यह बोध ब्रह्मज्ञान है। ब्रह्मलोक, मर्त्यलोक और नरकलोक सबमें एक ब्रह्म है—यह बोध ब्रह्मज्ञान है जीवनमें और मरणमें; सृष्टि और प्रलयमें एक अद्वितीय ब्रह्म ही है—यह बोध ब्रह्मज्ञान है।

ब्रह्म-तत्त्वका जब ज्ञान होता है तब अविद्यामूलक जितने दुःख है, जितनी जड़ता है—सब काफूर हो जाते हैं। इसीको बाण बोलते हैं। बाण लगता है तो क्या होता है? कि तीन बातें होती हैं—(१) बाण लगनेसे पीड़ा होती है, दुःख होता है; (२) बेहोश हो जाते हैं और (३) मर जाते हैं। दुःखी होना, बेहोश होना और मर जाना—ये तीनों बातें बाणसे होती हैं और जब हम अपने स्वरूपको जान जाते हैं तब दुःखरूप बाण नहीं है, हम आनन्द स्वरूप हैं; बेहोशी-रूप बाण—जड़ता नहीं है, हम चित-स्वरूप हैं, और मृत्यु-रूप, प्रलय-रूप बाण नहीं है, सत्-स्वरूप हैं; और ब्रह्ममें कोई द्वैत न होनेके कारण राग किससे? द्वेष किससे? अपेक्षा किसकी? सबसे निर्मुक्त हो जाते हैं। इसलिए विद्याकी गति अलग है और अविद्याकी गति अलग है।

तो हे नचिकेता! तुम तो विद्यार्थी होकरके, विद्याभीप्सित होकरके आये हो, क्योंकि

न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त—बहुत सारे काम-भोगोंने तुम्हारा विच्छेद नहीं किया। अलोलुपन्त माने तुम्हारा लोप नहीं किया। यह जो जिज्ञासा तुम्हारे हृदयमें उदय हुई—सद्गुरुके पास तुम आये, मृत्यु पर भी तुमने विजय प्राप्त की—तुमको लौकिक भोगोंने, कामनाओंने विच्छिन्न नहीं किया, तुम सच्चे विद्यार्थी हो, सच्चे जिज्ञासु हो, आओ, हम तुमको ब्रह्मज्ञानका उपदेश करते हैं।

यमराजने कहा कि अविद्याका मार्ग दूसरा है और विद्याका मार्ग दूसरा है और ये दोनों मार्ग परस्पर विरुद्ध हैं।

दूरं दूरेण महता अन्तरेण ऐते विपरीते विवेकाविवेकात्मकत्वात्।

एक विवेकका मार्ग है, एक अविवेकका मार्ग है, एक संसारमें फँसनेका मार्ग है, एक संसारसे छूटनेका मार्ग है; एक क्रिया-कारक और फलका मार्ग है और एक स्वतः-सिद्ध आत्माके स्वरूपके ज्ञानका मार्ग है—दोनों एक दूसरेसे बिलकुल् जुदा हैं।

कोई भी वस्तु आपको देखनी होगी तो आँखसे ही देखेंगे, पाँवसे नहीं देखेंगे। पाँव तो आँखको वस्तुके पास पहुँचानेमें मदद करेगा। यही बात वेदान्तकी भाषामें यदि बोलनी हो तो बोलेंगे ज्ञानमें कर्म सहायक है। ज्ञानेन्द्रिय आँखसे व्रस्तु देखते हैं और उसमें कर्मेन्द्रिय पाँव मददगार है। ज्ञानसे किसी वस्तुकी उपलब्धि होती है और उपलब्धि करनेमें कर्म मददगार होता है। पाँव कर्म-प्रधान है और आँख ज्ञान-प्रधान है।

अब प्रधानताको छोड़ दें और ज्ञान और कर्मको ले लें—ज्ञानका सहायक कर्म है। क्योंकि जबतक ज्ञान नहीं होगा तबतक तो कोई वस्तु आपको मिलेगी नहीं। एक आदमीके घरमें धन होवे, उसकी पॉकेटमें होवे, उसके पाँवके नीचे होवे, लेकिन उसको मालूम न होवे, तो धन मिला हुआ है क्या? वह तो अपनेको गरीब समझता है, कङ्गाल समझता है। मालूम पड़े बगैर तो उसकी गरीबपनेकी भ्रान्ति दूर नहीं होगी। एक आदमी स्वर्गमें होवे लेकिन उसको मालूम न हो कि हम स्वर्गमें हैं; एक आदमी बादशाह होवे, लेकिन उसको मालूम न हो कि हम बादशाह हैं तो वह स्वयं ब्रह्म है लेकिन उसको मालूम नहीं है कि हम ब्रह्म हैं तो उसका आनन्द उसको प्राप्त होगा क्या? नहीं होगा।

तो, दोष असलमें कहाँ है यह देखना है। क्या परमात्मा हमको इसलिए नहीं मिल रहा है कि परमात्मा दूसरे देशमें है और हम दूसरे देशमें हैं? यहाँ ईश्वर नहीं है? अगर यहाँ ईश्वर नहीं हो तो वह ईश्वर ही नहीं होगा। क्योंकि ईश्वर तो उसको

कहेंगे जो सर्वदेशमें है, देशका आधार, देशका अधिष्ठान, देशका प्रकाशक है, देश जिसमें कल्पित, देश जिसमें सत्ताशून्य है—ऐसा होकर परमात्मा यहीं विराजमान हैं। इसलिए यह सोचना निरर्थक है कि हम जब पाँवसे चलेंगे तब परमात्माके पास पहुँचेंगे, अथवा जब इतनी दूर चलेंगे तब पहुँचेगे।

फिर बोले—भाई, हम परमात्माको जरा छातीसे लगाना चाहते हैं तो छातीसे वह तब लगेगा जब दानों हाथसे उसे पकड़ेंगे माने कर्म-साध्य परमात्मा होवे तब हाथसे पकड़ा जाय और पकड़कर छातीसे लगाया जाय। बोले—भाई, पहले बात-चीत करेंगे परमात्मासे और फिर मिलेंगे। तो आप देखो, कोई भी नित्य प्राप्त वस्तु कर्मसे प्राप्त नहीं होती, उसकी अप्राप्तिका जो भ्रम है, अविद्या है, मौर्ख्य है उसको मिटाना पड़ता है—परमात्माकी प्राप्तिमें केवल अज्ञान ही प्रतिबन्धक है।

अच्छा, परमात्मा यदि इस समय न हो तो क्या करेंगे? कि चुपचाप इन्तजार करो या कुछ खटपट करो कि परमात्मा आ जायँ। दो ही बात तो हो सकती है—माने या तो समाधि लगाओ और या तो कुछ कर्म करो—कुछ नाचो, कुछ कूदो, कुछ उछलो। जोर-जोरसे कीर्तन करो या 'अल्लाह हो अकबर' करो माने दूर हो तो आवाज पहुँचाओ और वह इस समय अगर न हो तो इन्तजार करो, व्याकुल हो जाओ उसके लिए। परन्तु जो है उसके लिए व्याकुल हो रहे हो कि जो नहीं है उसके लिए व्याकुल हो रहे हो? किसका इन्तजार कर रहे हो? अगर इस समय ईश्वर नहीं है तो यह बात हुई न कि पहले भी नहीं था—या तो पहले रहकर अब नहीं रहा या अभी पैदा ही नहीं हुआ, आगे पैदा होगा। ईश्वरको कालसे परिच्छिन्न मान लिया ना!

तो इसी समय ईश्वर यहीं मौजूद हैं; फिर मिलता क्यों नहीं है? क्योंकि अभी यहीं रहकर भी वह हमसे अज्ञात बना हुआ है। केवल अज्ञान ही ईश्वरके मिलनेमें प्रतिबन्धक है।

फिर बोले कि ऐसी कौन-सी वस्तु है जो ईश्वर-रूप नहीं है सो बताओ। है कोई वस्तु जिसका अभिन्न-निमित्तोपादान कारण ईश्वर नहीं है? वह भी परिणामी उपादान नहीं विवर्त्ती उपादान? कालका अधिष्ठान होनेसे परमात्मा अविनाशी है; परमात्मा कालका प्रकाशक है, काल परमात्मामें कल्पित अध्यस्त है परमात्माके स्वरूपमें कालका अस्तित्त्व ही नहीं है। इसलिए कालमें परमात्माका इन्तजार नहीं करना है और परमात्मा देशका आधार है, देश परमात्मामें अध्यस्त है, परमात्मा देशका प्रकाशक है, परमात्मा देशकी कल्पनासे परिच्छिन्न नहीं है, परमात्मामें

देशका अस्तित्त्व नहीं है अर्थात् परिपूर्ण है परमात्मा और ये जो अलग-अलग पदार्थ दिखायी पड़ते हैं—एक दूसरेका रिश्ता कभी मालूम पड़ता है कभी नहीं मालूम पड़ता है एक चीज दूसरीसे जुदा-जुदा मालूम पड़ती है जैसे घड़ा कपड़ा नहीं है, कपड़ा घड़ा नहीं है—मालूम पड़ता है ना? इन सब वस्तु कल्पनाका वस्तुका, वस्तुकी कल्पनाओंका जो अधिष्ठान है, वस्तुओंका जो प्रकाशक है, वस्तुएँ जिसमें अध्यस्त हैं, जिसमें भिन्न-भिन्न वस्तुओंका अस्तित्त्व ही नहीं है वह वस्तु भेदसे रहित परमात्मा इन सत्ता-शून्य वस्तुओंमें क्या नहीं है? तब पहचानते क्यों नहीं हैं? हममें-तुममें, इनमें-उनमें, जब तब, यहाँ-वहाँ जो कुछ मालूम पड़ता है वह सब परमात्मा है। तो परमात्माके मिलनमें प्रतिबन्ध क्या है? कि केवल अविद्या प्रतिबन्ध है। विद्याके अतिरिक्त और कोई प्रतिबन्ध नहीं है।

देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न पदार्थ, मैं और तुमसे अपरिच्छिन्न पदार्थ, यह और वहसे अपरिच्छिन्न पदार्थ, यहाँ और वहाँसे अपरिच्छिन्न पदार्थ तथा अब और तबसे अपरिच्छिन्न पदार्थकी उपलब्धिमें बाधा क्या है, उसकी प्राप्तिमें प्रतिबन्ध क्या है? कि केवल अज्ञान प्रतिबन्ध है, हम उसको पहचानते नहीं हैं। तो उसको पहचाननेकी चेष्टा करनी चाहिए।

जो क्रिया-कारक-फलमें आसक्त हो जाते हैं वे ऐसा सोचते हैं कि यह क्रिया करनी है और उसके कारक ये हाथ-पाँव आदि हैं अथवा कि बाहर हो तो अमुक-अमुक सामग्री है। और यह उस क्रियाका फल होगा परमात्मा—माने अहं कर्त्ता—मैं कर्त्ता हूँ और परमात्मा मिलेगा, तो मैं उसका भोक्ता हो जाऊँगा—अहं भोक्ता। अथवा मैं कर्त्ता हूँ और जब परमात्मा मिलेगा तो परमात्मा भोक्ता हो जायेगा और हम भोग्य हो जायेंगे। बोले—परमात्मा भोक्ता होगा तो तुम उसके साक्षी हो जाओगे भला, परमात्मा दृश्य, परिच्छिन्न हो जायेगा और यदि तुम उसके भोक्ता हो जाओगे तब तुम जड़ हो जाओगे तुम्हारा कर्तृत्व-भोक्तृत्वका बन्धन तो छूटा ही नहीं, परमात्माकी भी फजीहत हो गयी।

विद्याभीप्सिन नचिकेतसं मन्ये—परमात्माकी प्राप्तिका सच्चा इच्छुक कौन है कि जो विद्याभिप्सी है—जो परमात्माके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करना चाहता है। यमराजने कहा—नचिकेता, धन्य हो तुम। मैं मानता हूँ कि तुम सचमुच कोई क्रिया-कारक-फलरूप अविद्याके विस्तारको नहीं चाहते हो, तुम कोई प्रेय हिरण्य हस्ती आदिको नहीं चाहते हो, तुम परमात्माकी विद्या चाहते हो। नहीं तो महाराज, मनमें तो होवे कि हमको बहुत बढ़िया विमान चाहिए हवाई-जहाज,

मोटर चाहिए, मकान चाहिए बहुत बढ़िया उद्यान चाहिए, अप्सरा चाहिए, अफ्सरी चाहिए—बहुत बड़े अफसर हो जायँ हम और दिखाओ कि हमको ब्रह्मविद्या चाहिए। यदि ये सब चाहिए बाबा, तो तुम अभी विद्याऽभीप्सी नहीं हो। अमुक कालकी समाधि इतने कालमें लगे, इतनी मात्रामें लगे ऐसी समाधि चाहते हो, अमुक स्थान मिले ऐसा कोई देश चाहते हो, अमुक वस्तु भोगनेको मिले—कोई भोग चाहते हो, ऐसा अभिमान हमारे बड़प्पनका हो जाय! कोई अभिमान चाहते हो, तब तुम सत्यका, यथार्थका ज्ञान चाहते हो कि नहीं?

नचिकेता सचमुच यथार्थका ज्ञान चाहता है। क्यों?—**न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त**—क्योंकि वह **अविद्वत् प्रलोभिनः** है—माने अविद्वानोंकी बुद्धिको प्रलोभित करनेवाले, जो समझदार नहीं है उनकी अक्कल जिनके लिए मारी जाती है, नासमझ लोग जिसके चक्करमें आ जाते हैं, ऐसे भोग नचिकेताको प्रलोभित नहीं कर सके। बच्चा गया दवा लेने, मदारीका खेल ही देखने लग गया। इसके विपरीत हनुमानजी सीताजी को ढूँढनेके लिए निकले तो मैनाक पर्वत स्वागत करनेके लिए आया—लो खाओ, पीओ, मौज करो तो बोले—

राम-काज कीन्हे बिना मोहि कहाँ विश्राम।

दूरसे ही नमस्कार कर लिया। छाया पकड़ने वालीने पकड़ा, लेकिन उसके चक्करमें नहीं आये; लङ्किनीने रोका—किसीको घायल कर दिया, किसीको मार दिया, किसीको हाथ जोड़ लिया, लेकिन जब तक सीता नहीं मिलेगी तबतक विश्राम नहीं। हनुमानजी विवेककी मूर्त्ति हैं, जा रहे हैं सीताका पता लगानेके लिए, रास्तेके किसी प्रलोभनसे, किसी बाधासे वे अपनी यात्राको शिथिल नहीं करते हैं, थोड़ी देरके लिए विश्राम भी नहीं लेते हैं।

कार्यं वा साधयामि शरीरं वा पातयामि।

अब तो ज्ञान लेकर छोड़ेंगे क्योंकि ज्ञान सर्वस्व परमात्मा है—

ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् (गीता)

यह ज्ञान स्वरूप साक्षात् परमात्मा है इसको पाकर छोड़ेंगे।

अध्याय-१ वल्ली-२ मन्त्र-५

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं मन्यमानाः।
दन्द्रव्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥ १.२.५

अर्थ :-जो अविद्यासे घिरे हुए और आविद्यक तृष्णाओंसे बँधे हुए हैं किन्तु अपनेको स्वयं ही बुद्धिमान और शास्त्र कुशल मानते हैं वे मूढ़ नाना कुटिल गतियों की इच्छा करते हुए जन्म-मृत्यु आदि दुःखोंमें भटकते रहते हैं और अपने अनुगतोंको भी वैसे ही भटकाते हैं जैसे अन्धेके पीछे चलनेवाले अनेक अन्धोंकी दुर्दशा होती है।

विद्या और अविद्याका स्वरूप यह है कि क्रिया-कारक-फलमें जो भेदवाली बुद्धि हैं उसको अविद्या कहते हैं और वस्तु-तत्त्वका स्वरूप निर्णय करनेवाली जो आत्माके एकत्वकी बुद्धि है उसको विद्या कहते हैं। अब नचिकेता तो विद्या चाहता है और दूसरे जो अविद्यामें पड़े हैं उनकी दुर्दशा अव बताते हैं।

क्रियाकारक-फल-भेद-बुद्धिः-अविद्या आत्मैकत्व बुद्धिस्तु-**अविद्याया-मन्तरे वर्तमानाः**—वे कहाँ वर्तमान हैं? कि क्या सच है क्या झूठ है इसका विवेक नहीं, एक-दूसरेका परस्पर अध्यास करके अविद्यासे ग्रस्त हो रहे हैं! **अविद्यायामन्तरे वर्तामानाः ये तु संसार भाजना जनाः**—क्या मिल रहा है? बोले—संसार। संसार माने ईंट, पत्थर नहीं, ईंट-पत्थरका नाम संसार नहीं है। **कर्तृत्व-भोक्तृत्व लक्षणाः संसारः**—संसारका लक्षण है कर्त्तापन और भोक्तापन—यह किया और यह पाया। यह योग किया और यह भोग पाया; यह प्रयोग किया और यह भोग पाया। ऐसे लोग कहाँ हैं? कि **अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः**। जैसे कोई अन्धकारमें घिर गया हो—**घनीभूत इव तमसि वर्तमाना वेष्टयमानाः पुत्र-पश्वादितृष्णापाशशतैः**। घने अन्धकारमें जा रहे थे, इधरसे बेटा आया, उधरसे हाथी-घोड़ा-मोटर आये, हृदयमें से तृष्णा निकली और सौ-सौ-फन्दे, सौ-सौ-पाशमें फँस गये! एक तो अन्धकार-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण-पूरब सूझे नहीं; कहाँ जाना लक्ष्यका पता नहीं,मार्गका पता नहीं। अन्धेरेमें यह नहीं पता चलता कि अपना लक्ष्य किधर है—होवे भीतर और ढूँढे बाहर, होवे पास और ढूँढे दूर!

अब वे अविद्याग्रस्त बर्त तो रहे हैं अंधकारमें, परन्तु ललक यह है कि कोई

उनको धीर और पण्डित कहे! जब कोई दूसरा नहीं कहता तो स्वयं ही अपनेको धीर और पण्डित मानने लगते हैं :—

स्वयं वयं धीराः प्रज्ञावन्तः पण्डिताः शास्त्रकुशलाश्चेति मन्यमानाः।

खुद एक अभिमान-पाण्डित्यका अभिमान, धैर्यका अभिमान कि हम बड़े इन्द्रिय-विजयी हैं।

अब परमात्मा तो महाराज ऐसा है कि जो मानके भीतर अटे नहीं, जहाँ मान हुआ वहाँ परमात्मा नहीं अटता। देखो, परमानन्द स्वरूप भगवान् तो यह ऐसा ही होगा जैसे कोई आकाशको एक घड़ेमें बन्द करना चाहे या जैसे कोई हवाको मुट्ठीमें पकड़ना चाहे। तो यह परमात्मा मानके चक्करमें नहीं आता-इसकी कोई माप नहीं है कि परमात्मा एक इंचका है, कि एक फुटका है, कि एक गजका है, कि एक मीलका है, कि करोड़ों-अरबों मीलका है—अर्थात् परमात्मा देश-मानके भीतर नहीं है। परमात्मा काल-मान या वस्तु-मानके भीतर भी नहीं है। एक मिनट, दो मिनट, इस मिनट—यह काल मान है। वस्तु-मान कि इसमें इतना वजन है। तो परमात्मा अमान है।

कालमें परिणाम नहीं होता, विवर्त ही होता है; देशमें भी परिणाम नहीं होता, विवर्त ही होता है; देश-कालके परिणाम उनके परिणाम नहीं है—विवर्त ही हैं-भला! ये आजकल परसों-तरसों—ये कालके परिणाम नहीं हैं, टुकड़े नहीं हैं ये, कालमें ये टुकड़े कल्पित पूरब-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण—ये दिक्-तत्त्वके परिणाम नहीं हैं ये सारे परिणाम दिक्-तत्त्वमें कल्पित है, क्योंकि असलमें दिक्-तत्त्व और काल-तत्त्व अपने अधिष्ठान ब्रह्म-तत्त्वसे पृथक् तो कुछ हैं ही नहीं हैं, और यह वस्तु-तत्त्व? इसमें भी यह-वह वस्तुयें परिणाम नहीं हैं, सत् जो वस्तु-तत्त्व है उसके विवर्त हैं। ये जो परिमाण वाले पदार्थ हैं ये सन्मात्र वस्तुमें परिणााम नहीं हैं, इनका जो परिमाण मालूम पड़ता है यह विवर्त ही है।

अब घेर लिया भगवान्‌को—मानते हैं कि एक देशमें भगवान्, एक कालमें भगवान्, एक वस्तुमें भगवान्—अविद्यामें फँस गये—अमानको मानमें कर लिया और फिर बोले कि हम धीर हैं, हम पण्डित हैं। **पण्डितंमन्यमानाः।**

केवल साध्य-साधनका सम्बन्ध थोड़ा-सा मालूम पड़ा और साधन-साध्य वस्तुकी इच्छा हुई और बस उसी साधनमें लग गये। संसारके साधनमें, भोगके साधनमें लग गये। यह करनेसे इतना पैसा कमाते हैं, यह करनेसे स्वर्ग मिलता है, स्वर्ग पानेके लिए यह करो—यह साधन-साध्यका सम्बन्ध है। इससे हमको यह

सुख मिलेगा, हम ऐसे भोक्ता बनेंगे—यह फलका ज्ञान है। तो केवल कर्मका ज्ञान, कर्मके फलका ज्ञान, कामका ज्ञान, कर्तापनेका ज्ञान—केवल इसीमें फँस गये और अपनेको मानते हैं धीर और पण्डित। इसका फल क्या होता है तो कहा—

दन्द्रव्यमाणाः परिय़न्ति मूढा।

मुण्डकोपनिषद्‌में **जङ्घन्यमानाः** पाठ है और यहाँ दन्द्रम्यमाणाः पाठ है। यहाँ द्रम् गतौ धातु है इससे **नित्यं कौटिल्ये गतौ**—इस अर्थमें दन्द्रम्यमाण शब्द बनता है—इसका अर्थ है टेढ़े-मेढ़े इसी संसारमें घूमते रहते हैं—कभी बायें गये, तो कभी ऊपर गये, तो कभी दाहिने गये, तो कभी नीचे गये—जैसे सर्पकी गति कुटिल होती है टेढ़ा-मेढ़ा चलता है, इसी प्रकार ऊपर-नीचे, नीचे-ऊपर, दाहिने-बायें, बायें-दायें कभी सुखकी ओर, कभी दुःखकी ओर; कभी नरककी ओर, कभी स्वर्गकी ओर; कभी जड़ताकी ओर, कभी चेतनताकी ओर भटकते रहते हैं। वे पण्डितंमानीः कि वे धीरमानीः भटकते रहते हैं—**परियन्ति मूढा**—चारो ओर भटकते रहते हैं क्योंकि मूढ हैं।

उनकी स्थिति क्या है कि महाराज, पहाड़में कहीं यात्रा करनी हो और एक अंजान आदमी मिल जाय और कहे कि चलो हम रास्ता बता देते हैं, तो जैसे वह अञ्जान आदमी जंगलमें इधर-से-उधर भटकाता फिरे, इसी प्रकार जो परमार्थको नहीं जानते हैं वे अज्ञ पुरुष जो परमार्थके सम्बन्धमें अन्धे हैं, जिन्होंने प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मके रूपमें परम-तत्त्वको, यथार्थ-तत्त्वको नहीं जाना है वे परमार्थके सम्बन्धमें स्वयं भी भटकते हैं और जिनको अपने पीछे चलाते हैं उनको भी भटकाते हैं। जैसे बहुत-से अन्धे पुरुष किसी एक अन्धेको आगे करके चलें तो सब ही भटक जाते हैं, उसी प्रकार अगला आदमी यदि जानकार नहीं है, मार्गको नहीं जानता है, लक्ष्यको नहीं जानता है, तो उसके पीछे उसकी पीठपर हाथ रखकर चलनेवाले सभी अन्धे भी भटक जायेंगे। जैसे आगेवाला अज्ञानी होवे तो उसके पीछे चलनेवाले सबके सब भी आनी, वैसे ही स्वतः सिद्ध परमात्मा इसी देशमें, इसी देशकी उपाधिसे इसी देशका प्रकाशक, इसी देशका अधिष्ठान, यही देश जिसमें कल्पित, यही काल जिसमें कल्पित, यही वस्तु जिसमें कल्पित, यही वस्तु जिसमें कल्पित, यही मैं-तुम जिसमें भास रहा—उस वस्तुको महाराज, जहाँ-का-तहाँ, ज्यों-का-त्यों तो देखा नहीं और जा रहे हैं ढूँढ़ने।

एक पागल कहीं जा रहा था। लोगोंने पूछा कहाँ जा रहे हो? बोला—अपनेको ढूँढ़ने जा रहे हैं। ❖

प्रमादी और वित्त-मूढों को नहीं सूझता

अध्याय-१ वल्ली-२ मन्त्र-६

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्त्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इतिं मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥ १.२.६

अर्थ :–प्रमादी और धनसे विमूढ़ लोगोंको परलोक और उसका साधन नहीं सूझता। जो ऐसा मानते हैं कि यह लोक तो है किन्तु कोई परलोक नहीं है वे बारम्बार मेरे वशको प्राप्त होते हैं।

कोई हो तो अविद्याग्रस्त और अपनेको माने पण्डित—माने अविद्यामें तो फँसा हुआ हो परन्तु अविद्यासे बाहर निकलनेकी कोई चेष्टा न करे तो उसको तो बारम्बार संसारके कुटिल रास्तोंपर चक्कर लगाना पड़ता है—**दन्द्रम्यमाणाः** जैसे कहते हैं कि दिन-भर चले अढ़ाई कोस—दिन भरे चले पर कुल मिलाकर अढ़ाई कोस ही पूरा होवे। चक्कर लगावेगा तो सारे दिन चक्कर लगाकर भी चलेगा तो उस चक्रकी परिधिके बराबर ही न! जो मनुष्य विद्वान्की संगति नहीं करता, सन्तका संग नहीं करता, अनुभवीका संग नहीं करता वह इस संसार-चक्रसे बाहर नहीं निकल पाता।

अब आगे वर्णन करते हैं कि क्योंकि वे मूढ हैं इसलिए साम्पराय उनको भासता नहीं है। साम्पराय शब्दका अर्थ विद्वानोंने किया है—पर-अपरब्रह्म अर्थात् कार्य--कारणात्मक ब्रह्म और कार्य-कारणातीत ब्रह्म।

श्रुतियाँ परब्रह्मका और अपर ब्रह्मका निरूपण करती हैं। क्या प्रयोजन है? प्रयोजन यह है कि परब्रह्म परमात्माको अद्वितीय रूपसे सिद्ध करना है, जिज्ञासुकी बुद्धिमें परब्रह्मकी अद्वितीयताको बैठाना है। यदि जिज्ञासु न होवे और जिज्ञासुको समझाना न होवे तो निरूपणकी कोई आवश्यकता नहीं रहती, निरूपण तो

जिज्ञासुके लिए है। जिज्ञासुके सामने यह प्रत्यक्ष अनेकता है, यह भेदरूप सृष्टि है, यह प्रपञ्च भास रहा है। प्रपञ्च माने पाँचका बखेड़ा, पाँचका विस्तार—पाँच कर्मेन्द्रियोंका विस्तार, पाँच ज्ञानेन्द्रियोंका विस्तार, पाँच प्राणोंका विस्तार, पञ्चभूतोंका विस्तार, पञ्च तन्मात्राओंका विस्तार, पञ्च विषयोंका विस्तार। इस प्रकार यह जो पाँच-पाँचका विस्तार भास रहा है, वह यदि एकमें समन्वित न हो कि एकमें से ही पाँचों निकले और एकमें ही पाँचोंका लय होता है—यदि उत्पत्ति और लयकी प्रक्रियासे एक कारणत्वकी सिद्धि न हो—ये किसी अन्य कारणसे उत्पन्न हों और अन्य कारणमें लीन होते हों—तो द्वैतकी ही सिद्धि होगी, अद्वैतकी सिद्धि नहीं होगी। यदि इस प्रपंचकी उत्पत्ति परमाणुसे हुई हो या प्रकृतिसे हुई हो या चित्तसे हुई हो या किसी कारणान्तरसे हुई हो या शून्यसे हुई हो या चार-भूतसे हुई हो या उत्पत्ति न हुई हो नित्य ही हो तो अद्वितीय तत्त्वकी सिद्धि नहीं हो सकती। इसलिए पहले अपर ब्रह्मका अर्थात् कारण ब्रह्मका निरूपण करना पड़ता है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्तिं।
यत्प्रयन्त्भिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति॥ तैत्तिरीय. ३.१

यह कारण ब्रह्मका निरूपण है। जिज्ञासुकी बुद्धिमें यह बैठानेके लिए कि यह जो प्रपंच है—पाँच-पाँचका विस्तार है, इन्द्रियोंका, विषयोंका बखेड़ा भास रहा है—वह वस्तुतः एकका ही विस्तार है; और फिर उसी कारण ब्रह्मको परब्रह्मके रूपमें निरूपण किया जाता है, कि यह उसका विस्तार उसके परमार्थ स्वरूपमें नहीं है—यह प्रपंच ब्रह्मका केवल विवर्तमात्र है—अद्वितीय वस्तु केवल प्रपंचके रूपमें भास रही है अर्थात् यह कार्य-कारण भाव ब्रह्ममें कल्पित है, वस्तुतः परब्रह्म-ही-परब्रह्म है।

तो अद्वितीय परब्रह्ममें इस प्रपञ्चको संगत करनेके लिए अपरब्रह्मका निरूपण भी शास्त्र करते हैं, परन्तु जो बालक है माने नासमझ है वह यदि चाहे कि हम परब्रह्म और अपरब्रह्मको जान जायँ तो वह संभव नहीं है। **न साम्परायः प्रतिभाति बालम्** अर्थात् **बालं प्रति साम्परायः न भाति** अर्थात् बालकके प्रति अविद्वान्‌के प्रति, मूर्खके प्रति बुद्धिहीनके प्रति यह परापर-ब्रह्मका ज्ञान है वह प्रकट नहीं होता।

बालकको यह परापर ब्रह्म भासता ही नहीं है। क्यों नहीं भासता? कि **प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्**—कि अरे भाई, वह तो प्रमादमें है न! प्रमादका

अभिप्राय है कि वह खेल-खिलौनेमें लगा हुआ है— माँ-बाप कहते हैं कि बेटा पढ़ो और बेटा तो चला गया पतंग उड़ाने, गुल्ली-डण्डा खेलने। तो बालक जो है सो प्रमाद करता है—प्रमाद करना बालकका लक्षण है, वह अमृतत्त्वके मार्गमें चलना नहीं चाहता है, जानता नहीं है, वह मृत्युके मार्गमें चलता है—यही प्रमाद है—माने खेल-खिलौनेमें वह मतवाला हो गया है।

सनत्सुजातीयमें यह प्रसङ्ग आया है कि प्रमाद क्या है? उसमें लिखा है कि मौत बाघकी तरह आकर किसी को खाती नहीं है—मौत मूर्त्तिमान होकरके किसीको खानेके लिए नहीं आती—

न वै मृत्युः व्याघ्रइवऽत्ति जन्तून्।

मौतको किसीने देखा नहीं है, लाल है कि पीली है, कि काली है कि लम्बी है कि चौड़ी है, कि उसकी आकृति कैसी है, उसका वजन कितना है, उसकी उम्र कितनी है—कुछ पता नहीं, उसको तो किसीने देखा नहीं है।

पुराणोंमें एक कथा आयी है कि ब्रह्माजीने मृत्युकी रचना की—एक कुमारीके रूपमें पहले बच्ची थी, फिर जरा जवानीकी ओर बढ़ी तो ब्रह्माजीको उसके विवाहकी चिन्ता हुई। उससे ब्रह्माजीने कहा कि जा बेटी दुनियामें और तुझको जो पसन्द हो उसका वरण कर ले। मृत्यु चल पड़ी, तो पहले-पहल उसको नारदजी मिले। मृत्युने देखा यह खूबसूरत है, जवान है, ब्रह्मचारी है; मृत्यु नारदजी पर लुभा गयी। बोली—नारदजी मैं तुमसे ही व्याह करूँगी।

नारदजी बड़े घबड़ाये। बोले—मैंने तो आजीवन ब्रह्मचर्यका व्रत ले रखा है और हमारे पास न घर है, न धन-दौलत है और विवाह करनेके लिए तो सब कुछ चाहिए। तो तुम सारे लोकमें जाकर घूमो और किसी दूसरेको पसन्द कर लो।

मृत्यु गयी लोकमें तो कोई उसे पसन्द ही न करे, सब इन्कार कर दें कि हम तुमसे व्याह नहीं करेंगे। तो वह फिर लौटकर ब्रह्माजीके पास गयी और बोली—पिताजी, हमको तो कोई स्वीकार नहीं करता है—सब मृत्युको अस्वीकार करते हैं। ब्रह्माजी ने कहा कि हम क्या करें बेटी जब तुमको कोई अंगीकार नहीं करता तब वह बैठकर एकान्तमें रोने लग गयी। रोने लग गयी तब झट ब्रह्माजी उठे और उसके आँसूको उन्होंने अँगुलीपर ले लिया और बोले कि बस-बस बेटी अब बस। तुमको कोई वरण करे चाहे न करे, तुम्हारा तो किसीको कुछ पता ही नहीं लगेगा, तू तो निराकार हो जायेगी और ये जो तेरे

आँसूकी बूँदें हैं ये संसारमें रोग बनेंगी—टी.बी., दमा, बुखार—तो ये तेरे आँसू ही मारनेको काफी होंगे। इसीसे स्त्रीको कभी-कभी उलाहना देते हैं न, तो कहते हैं कि देवी, तुम्हारे आँसू ही मारनेको काफी हैं, तुमको किसी और अस्त्र-शस्त्रकी जरूरत नहीं है।

तो मृत्युके आँसू ही संसारको मारनेके लिए पर्याप्त हैं। देखो, मौत तो कहीं दिखती नहीं, रोग ही दिखते हैं। असलमें यदि मृत्युको पहचानना हो कि मृत्यु क्या है तो जब मनुष्यके जीवनमें प्रमाद आवे, वह अपने कर्तव्यसे विमुख होवे, भगवान्‌से विमुख होवे, सत्पथसे विमुख होवे, सत्सङ्गसे विमुख होवे, तब समझना कि अब मृत्यु इसके सिरपर नाच रही है; बिना मृत्युका आवेश हुए कोई भले मार्गको छोड़ता नहीं है।

प्रमादं वै मृत्युः अहं ब्रवीमि। (महाभारत-सनत्सुजातीय)

वह राष्ट्र, वह जाति वह सम्प्रदाय नष्ट हो जाता है जो अपने कर्तव्यके सम्बन्धमें प्रमाद करता है। जो प्रमाद कर रहा है वह मृत्युके चंगुलमें फँसा रहेगा, वह मृत्युके फन्देसे मुक्त होकरके अमृतत्त्वकी प्राप्ति कैसे करेगा?

बोले भाई, आखिर ये मनुष्य प्रमाद क्यों करता है? तो बोले—**वित्तमोहेन मूढम्।** अर्थात् धनके मोहने उनको मूढ़ बना दिया है, अविवेकी बना दिया है। अविवेकके कारण उसका चित्त, पुत्र, पशु आदि प्रयोजनीय प्रवृत्तिमें आसक्त हो जाता है, उसीसे फिर प्रमाद होता है। वह प्रवृत्ति, निवृत्तिका भेद नहीं कर पाता और परब्रह्म परमात्माके ज्ञानसे वंचित हो जाता है।

महात्मा लोग अपने हृदयमें ही ईश्वरका अनुभव कर लेते हैं कि यहीं है, कहीं जानेकी जरूरत नहीं—प्रवृत्ति भी नहीं और निवृत्ति भी नहीं, क्योंकि हम जहाँ हैं वहीं ईश्वर है—हमारे आत्माका अस्तित्व और ईश्वरका अस्तित्व, ये दोनों अलग-अलग देशमें, अलग-अलग कालमें, अलग-अलग रूपमें नहीं हैं। ऐसी अवस्थामें भी मनुष्यको परमात्माका अनुभव क्यों नहीं होता? तो बताया—**वित्तमोहेन मूढम्**—मनुष्य असलमें धनके मोहमें मूढ़ हो गया है।

वित्तमोहेन मूढम्—वित्त माने जानी हुई वस्तुएँ। जो दृश्य पदार्थ हैं उसीको वित्त बोलते हैं। यह विद् धातु कई अर्थमें हैं—सत्ताके अर्थमें, विचारके अर्थमें, लाभके अर्थमें। तो वित्त माने? आत्माके अतिरिक्त जो भी ज्ञात होता है वह सब-का-सब वित्त है। तो असलमें मनुष्य अनात्माके मोहमें मूढ़ हो गया है, दृश्यके मोहमें मूढ़ हो गया है। जिसको वह अपनेसे अलग अनुभव करता है उसको तो

चाहता है और अपने आपको जिसके लिए चाहता है उसको भूल गया है—**वित्तमोहेन मूढम्।**

ऐसे समझो कि जैसे कोई रास्तेमें चलता हो और कभी उसका पाँव पीछेकी ओर फिसल जाय तो वह गिर जायेगा, और कभी उसका पाँव आगेकी ओर फिसल जाय तो भी गिर जायेगा और जहाँ पाँव रखे वहीं पाँव फँस जाय तो भी गिर जायेगा—उसकी यात्रा पूरी नहीं होगी, वह आगे नहीं बढ़ सकेगा। इसी प्रकार यह मनुष्यका जो मन है यह क्या प्रमाद करता है कि कभी पीछे फिसलता है तो कभी आगे और कभी वर्तमानमें ही अटक जाता है। जब भूतमें फिसलता है तो मनमें शोक आता है। जब भविष्यमें फिसलता है तब भय आता है और जब वर्तमानमें अटकता है तब मनमें मोह आ जाता है। कहता है—बचपनमें हमारा जीवन जैसा था अब वैसा नहीं रहा; हमारा ऐसा अच्छा बेटा था, अब नहीं रहा। तो भूतमें जब हमारा मन पीछेकी ओर फिसल जाता है, तब शोक आ गया मनमें। और जब आगेकी ओर गया तब मनमें भय आ गया। आगेके लिए या तो लोभ होता है—यह काम है न! यह यही सोचता है कि आगे और मिले, और मिले, और मिले; और फिर आशंका होती है कि शायद न मिले तब भय आ जाता है। इस प्रकार भय और लोभ दोनों भविष्य-वृत्तिसे होते हैं—भविष्यमें हमको यह लाभ होवे और भविष्यमें कहीं हमको यह हानि न हो जाय—भय होता है। अब यह सब क्या है? कि यह सब मोहके विलास हैं। जैसे रामलीला होती है, कृष्णलीला होती है वैसे ही हमारे जीवनमें एक मोहलीला होती है। **जयत्यसौ काचन मोहलीला।** बीते हुएकी याद करें तो रोवें और आगेका ख्याल करें तो विनाशका भय होवे; और वर्तमानमें जिससे प्रेम करते हैं उसको यदि पकड़कर बैठ जायँ कि यह बदलने न पावे, यह कहीं जाने न पावे तो वहीं मोह हो जाता है।

मोह माने चित्तका विपरीत हो जाना—**मुह वैचित्ये।** विपरीत चित्तका मतलब है कि जो चीज जानेवाली है उसको रोककर रखनेकी कोशिश करना। अब कोई आदमी यदि यह कोशिश करे कि हमारा बचपन हमेशा बना रहे, तो क्या वह बना रहेगा? कोई आदमी यह कोशिश करे कि हमारे बाल हमेशा काले ही रहें, सफेद न हों, हमारे दाँत न टूटें, हमारे चेहरे पर झुर्रियाँ न पड़ें, हमको बुढ़ापा न आवे, हमारी मौत न होवे—तो वह अपनी जवानी के मोहमें फँस गया। इसी प्रकार यह धर्म भी आता है और जाता है—कुछ व्यष्टि-प्रारब्धके अनुसार और कुछ समष्टि-

प्रारब्धके अनुसार। **फलमतः उपपत्तेः**—ईश्वर हमारे पूर्व कर्मानुसार बहुत सारे फल हमारे सामने भेजता है और उनको हटाता है, अपना उसमें कोई वश नहीं है। परन्तु, मनुष्य धनके मोहमें ऐसा मूढ़ हो जाता है-(वित्तमोहेन मूढम्)-मूढ़ माने अटक जाना-ऐसा अटक गया कि टस-से-मस नहीं होता है—हमारे पास तो यही रहना चाहिए—यही होना चाहिए—यही मूढ़ता है।

मूढ़ कौन है? माँके पेटमें बच्चा था, अब उसको जब पैदा होना चाहिए तब वह निकले नहीं, वहीं रह गया, तब उसको बोलते हैं कि गर्भ-मूढ़ हो गया—उसको रास्ता नहीं मिला निकलनेका! इसी प्रकार यह आदमी धन और सम्पत्तिके चक्करमें पड़ करके ऐसा मूढ़ हो जाता है कि जब निकलनेका अवसर प्राप्त होता है तब भी वह नहीं निकल पाता, यही उसकी मूढ़ता है।

कहते हैं कि एक बार एक आदमीको चहारदीवारीके भीतर डाल दिया गया। चाहरदीवार थी चौरासी कोसकी और उसमेंसे निकलनेका एक ही दरवाजा था और वह आदमी था अन्धा। उससे कह दिया गया कि यह दीवार पकड़े हुए तुम चलो, जहाँ दरवाजा मिले वहाँसे निकल जाना। तो, उसने एक हाथमें ली लाठी और एक हाथसे पकड़ी दीवार। अब रास्तेंमें चलते-चलते हुई उसको खुजली, तो एक हाथमें था डंडा, इसलिए दूसरे हाथसे खुजलाने लगा और चलता रहा, पर इसी बीचमें दरवाजा निकल गया और फिर उसको चौरासी कोसका चक्कर लगाना पड़ा। इसी प्रकार यह जो संसारमें जीव भटक रहा है चौरासी लाख योनियोंमें, उनमें यह मनुष्य-योनि जो है यह निकलनेका द्वार है। यहाँ आकरके भी यदि वह वित्तमोहसे मूढ़ हो गया, यदि धनमें फँस गया, परिवारमें फँस गया, शोकमें, लोभमें, भयमें, मोहमें, काममें, तृष्णामें ग्रस्त हो गया—यहाँ आकरके भी उसने परमात्माको न जाननेकी चेष्टा नहीं की तो महान् हानि हो गयी। केनोपनिषद् का वचन है—**इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन् महती विनष्टिः**—इस मनुष्य जीवनमें यदि परमात्माको जान लिया तब तो तुम्हारा जीवन सत्य और यदि इस जीवनमें तुमने उनको नहीं जाना तो बड़ा भारी विनाश, सत्यानाश कर दिया।

ये प्रमादी लोग ऐसा समझते हैं—**अयं लोको नास्ति पर इति मानी**—कि जो कुछ है सो यही लोक है, मरनेके बाद तो कुछ है ही नहीं इसलिए खाओ, खेलो, मौज उड़ाओ, यही जगत्का मेला है। कि जगत् इतना ही है कि इसमें खा लो, पी लो, खेल लो, संसारके सुख भोग लो, मरनेके बाद तो कुछ है ही

नहीं। ऐसा करके वे मानी हो जाते हो जाते हैं। वे समझते हैं कि हमारे पास चार पैसा है।

नारायण, हमने देखा एक बार काशीविद्यापीठ, वाराणसीमें एक सभा हुई, सम्मेलन हुआ और उसके सभापति बनाये गये एक सेठ-करोड़पति! अब वह सम्मेलन तो विज्ञान-परिषद्, दर्शन-परिषद्, साहित्य-परिषद् आदिका था और सेठजीको तो तार-चिट्ठी बाँचनेके सिवाय और कुछ आता नहीं था, पर थे करोड़पति सो बना दिया प्रेसीडेण्ट! वह बड़ा सेठ था। वैसे पैसेवाले जो होते हैं न, वे अपनेसे बड़े पैसे वालेका तो कुछ लिहाज करते हैं, अपनेसे छोटे-पैसे वालोंका लिहाज तो वे करते ही नहीं हैं। तो जब उसे प्रेसीडेण्ट बनाया तो वह सेठ बोला कि देखो जी, तुमलोगों ने जो हमको यह विज्ञान-परिषद्, साहित्य-परिषद्, दर्शन-परिषद्का प्रेसीडेण्ट बना दिया, सो हम जानते हैं कि यह प्रेसीडेण्ट तुमने हमको नहीं बनाया है, हमारे पैसेको बनाया है। सो तुम्हें जो चाहिए सो ले लो, हम यह तुम्हारे घटाकाश-मठाकाशके चक्करमें पड़नेवाले नहीं हैं, यह तुम्हारी विज्ञान-दर्शन-परिषद् नहीं जानते, जो चाहिए हमसे सो ले लो हम देनेको तैयार हैं!

एक बार एक सज्जन मिनिस्टर हो गये और मिनिस्टर होते ही दर्शन-परिषद्के अध्यक्ष चुन लिये गये। अब हम लोग तो सब दर्शन-परिषद्में भगुये जैसे दायें-बायें बैठे रहे और मिनिस्टर साहब बैठे अध्यक्ष-पदकी कुर्सीपर। उनको तो यह भी पता नहीं था कि दर्शन कहते किसको हैं? दर्शन माने आँखसे देखना होता है कि दर्शन कोई शास्त्र होता है—यह बात उनको नहीं मालूम थी। वे तो अनुसूचित जातियोंमें-से चुनकर आये थे और उनका आदर करनेके लिए उनको बना दिया प्रेसीडेण्ट और व्याख्यान भी उनका बड़ा विलक्षण हुआ। बोले-रामचन्द्र भगवान् बड़े भारी क्रान्तिकारी थे। कैसे क्रान्तिकारी थे? कि जिसके बापका कुछ पता नहीं ऐसी जो जार-जाता खेतमें मिली हुई लड़की—उसके साथ उन्होंने आगे बढ़कर ब्याह किया। दर्शन-परिषद्का सम्मेलन और मिनिस्टरका ऐसा भाषण!

वित्तमोहेन मूढ़म-यह तो जहाँ ऊँची कुर्सी मिली नहीं कि 'मानी' हुए। **अयं लोको नास्ति पर इति मानी** मानी हो जाते हैं कि हमारे बराबर और कौन है? हम बड़े पैसे वाले, हम बड़ी ऊँची कुरसिका-वाले। कुरसिक तो हैं वे इसमें तो कोई सन्देह नहीं, परन्तु जहाँ मान आ जाता है वहाँ परमात्माका आविर्भाव कैसे होवे? परमात्मा देश-मानमें माने गज इन्चमें आनेवाला नहीं।

परमात्मा काल-मानमें—मिनटमें, घण्टेमें आनेवाला नहीं और वस्तु-मानमें, छँटाकमें, सेरमें आनेवाला नहीं। और ये मानी लोग यही चाहते हैं कि परमात्मा अगर कोई होवे, तो वह भी हमारी मुट्ठीमें होवे और हमारी मौजके अनुसार हमारी सेवा करे।

तो यमराज कहते हैं कि ऐसे लोग मृत्युके घेरेसे पार नहीं होते, मृत्युके चक्करमें रहकर **पुनः पुनर्वशमापद्यते मे**—बारम्बार जन्म लेते हैं, बारम्बार मरते हैं, इनको अमृतत्त्वका साक्षात्कार कभी नहीं होता। मृत्युके अनन्तर परापर ब्रह्मकी प्राप्ति होती है; उस परापर ब्रह्मकी प्राप्तिके सम्बन्धमें इनको कुछ पता नहीं है।

यह जो वेदान्त-विद्या है, अमृत-विद्या है, अमृतत्त्व-विद्या है। यह तो महाराज बहुत लोगोंको सुननेके लिए भी नहीं मिलती, क्योंकि यदि इस रास्तेमें चलें तो अनेक बाधा बीचमें आती हैं। हनुमानजी चले संजीवनी-बूटी लेनेके लिए, तो बीचमें रुकावट मिली कि नहीं? रुकावट मिली, पर वे तो रुकावटको पार करके चले गये, यदि अटक जाते उसमें तो? उन्हें संजीवनी-बूटी नहीं मिलती और वे लक्ष्मणजीको स्वस्थ नहीं कर पाते—है न! लक्ष्मणजी को हनुमानजीने कैसे स्वस्थ किया? कि वे बीचके प्रतिबन्धोंमें नहीं अटके, तब जाकर उन्हें संजीवनी-बूटी मिली और लक्ष्मणजी स्वस्थ हुए। तो, जो लगे हुए हैं संसारके काममें उनको तो ब्रह्म-विद्याका श्रवण भी प्राप्त नहीं हो सकता। हजारों लोग दुनियामें ऐसे हैं जिन्होंने कानसे वेदान्तका नाम ही नहीं सुना होगा, कठोपनिषद्का नाम ही नहीं सुना होगा। हजारों आदमी ऐसे होंगे जिन्होंने ब्रह्म-विद्याका नाम ही नहीं सुना होगा। और बहुतसे लोग सुनते तो हैं, पर सुनकर भी वे समझ नहीं सकते।

ब्रह्मविद्याका वक्ता-श्रोता आश्चर्य है

अध्याय-१ वल्ली-२ मन्त्र-७

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥ १.२.७

अर्थः–जो बहुतोंको तो सुननेको भी नहीं मिलता और जिसको सुनकर भी बहुत-से लोग नहीं समझते–ऐसे उस आत्मतत्त्वका निरूपण करनेवाला वक्ता आश्चर्यरूप है और उसको ग्रहण करनेवाला श्रोता भी कोई निपुण ही होता है। इस आत्मतत्त्वका ज्ञाता आश्चर्यरूप है जिसने कुशल आचार्य द्वारा अनुशासन प्राप्त किया है।

यमराज नचिकेताके अधिकारकी प्रशंसा करनेके लिए कह रहे हैं कि जो प्रेय न चाहे—केवल श्रेय चाहे, जो अनात्माको न चाहे—आत्माको चाहे, जगत्‌में न फँसे ईश्वरसे प्रेम करे, ऐसा श्रेयस चाहनेवाला पुरुष हजारोंमें कोई एक होता है। नचिकेता सरीखा सच्चा जिज्ञासु कहीं-कहीं हजारों-लाखोंमें कोई एक मिलता है। संसारके लोगोंके लिए तो यह आत्मविद्या सुननेके लिए भी मिलना मुश्किल है—**श्रवणा-यापि बहुभिर्यो न लभ्यः** बहुतसे लोग दुनियामें ऐसे हैं जिन्हें श्रवणायापि, श्रवणार्थ मपि, श्रोतुमपि—अयमात्मा ब्रह्मः—यह सुननेके लिए भी नहीं मिलता—दुर्लभ है।

राजकथा, जग-कथा अरु भोग-कथा त्याग दो। जहाँ जाओ वहाँ या तो खाने-पीने-पहननेकी चर्चा मिलेगी या तो व्यवहारकी चर्चा मिलेगी या राजनीतिकी चर्चा मिलेगी, ब्रह्मचर्चामें किसको रस है? लोग समझते हैं कि ब्रह्मचर्चा करनेसे क्या फायदा होगा? न चुनावमें वोट मिलेंगे, न मिनिस्टरी मिलेगी, न संसारी लोग प्यार करेंगे—उनको तो संसारकी ही चर्चा चाहिए।

एक बचपनका संस्मरण आपको सुनाता हूँ—मैं भाग-भागकर साधुओंमें

जाता था और मेरी उम्र कोई १७-१८ वर्षकी थी; तो जब जाकर किसी आश्रममें, मठमें ठहर जाता तो कोई-न-कोई भण्डारा जरूर आता और जिस दिन भण्डारा आता उस दिन आश्रममें रोटी नहीं बनती थी तो खानेके लिए जाना पड़ता था। सो महाराज, तीन दिन पहलेसे यह चर्चा छिड़ती—कौन करोड़पति यह भण्डारा करा रहा है, कैसे लड्डू बननेवाले हैं, कैसी सब्जी बनेगी—आदि-आदि; और जब खानेका दिन आता तब सबेरेसे रहते भूखे और पंगत तो ग्यारह बजेसे जाकर लगानी होती थी इसलिए फिर वही चर्चा चलती कि लड्डू कैसे बनेंगे? एक-दो बजे तक भण्डारेसे लौटकर आते तो साधु लोग कहते—कपड़ा तो सड़ा हुआ दिया, लड्डू डालडाका बना दिया और फिर तीन-चार दिन इसकी ही चर्चा रहती। तो तीन-चार दिन पहलेसे लड्डूकी चर्चा शुरू होती और फिर तीन-चार दिन बाद तक यह चर्चा रहती—सप्ताह भर बीत जाता एक भण्डारेकी चर्चामें।

तो जो बहिरंग विषय हैं उनमें लोगोंकी वृत्ति फँसी हुई है—वे तो दूसरेकी बहू कैसी, दूसरेकी बेटी कैसी, दूसरेके घरमें पैसा कितना, तुमने साँप कब-कब देखे, भूत कभी देखा कि नहीं, कभी चोर देखा कि नहीं—इनकी चर्चामें घण्टों बिता देते हैं।

तो **श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः**—लोगोंको यह वेदान्त श्रवण करनेके लिए भी नहीं मिलता, क्योंकि यदि सुनें तब तो यह कानके रास्तेसे दिलमें घुस जायेगा, श्रवणकी तो बड़ी महिमा है। श्रीमद्भागवतमें तो बताया है कि जब हृदयमें ईश्वर-विषयक चर्चा श्रवण करनेकी इच्छा होती है तो ईश्वर तत्क्षण हृदयमें आकर कैद हो जाता है **सद्यो हृद्यवरुद्ध्यतेऽत्र कृतिभिः सुश्रुषुभिस्तत्क्षणात्**—क्या सुनने जा रहे हो? देखो श्रीमद्भागवत्‌में ऐसे बोलेंगे—'मुरलीमनोहर, पीताम्बरधारी, श्याम सुन्दर, यमुनातट बिहारी, मन्द-मन्द मुस्कान वाला, प्रेम भरी आँखोंवाला, गाय चरानेवाला, व्रजविहारी श्यामसुन्दरकी चर्चा सुनने जा रहे हैं। अथवा नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-सच्चिदानन्दघन अद्वितीय परमानन्द प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न ब्रंह्मतत्त्वका श्रवण करने जा रहे हैं। जो श्रवणकी इच्छा आयी कि उसी क्षण वैसा ही परमात्माका स्वरूप हृदयमें कैद हुआ। मनुष्य क्या सुनना चाहता है इससे उसकी मनोवृत्तिका, उसके अधिकारका पता लगता है। परमेश्वरकी चर्चा सुननेमें उसको रस आता है कि नहीं आता है? दुनियामें लोग दुकानदारीकी चर्चामें लगे हैं, जिससे स्वार्थ सिद्ध हो, जिससे भोग मिले, जिससे कल-कारखाने खड़े हों, उसमें सत्र लगे हुए हैं, परमात्माका श्रवण कौन चाहता है? यह तो—

यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे। भक्तिरुत्पद्यते पुंसां शोकमोहभयापहा॥

श्रूयमाणानाम्—श्रवण करो, तुरन्त अनात्म पदार्थका त्याग होकरके आत्म-चिन्तन होने लगेगा। लेकिन ऐसा श्रवण मिलेगा कहाँ? वे तो श्रवण जाकर ऐसा करेंगे जिससे राग-द्वेष हो—अपना दिल बिगाड़नेवाला श्रवण करेंगे, जिससे मोह-ममता बढ़े, जिससे अभिमानकी वृद्ध होवे, ऐसा श्रवण करेंगे। इस वेदान्त-श्रवणका मिलना बड़ा कठिन है।

पं० रामकिंकरजी जो रामायणकी कथा करते हैं, इनके पिता भी कथा करते थे और वे भी हमारे पास आते थे और ये तो जब बहुत बच्चे थे—उन्नीस वर्षके ही तबसे ही हमारे पास आते हैं।

तो इनके पिताजी जब एक दिन कथा करके उठे तो एक आदमी जो सामने ही दुकान करके बैठा था बोला कि 'देखो पण्डितजी, हम दुकान पर बैठे-बैठे पान भी बेच लेते हैं और आपकी कथा भी सुन लेते हैं'। तो पण्डितजी बोले—क्यों नहीं भैया, तुम दुकान जो हो—एक कान कथामें और एक कान ग्राहककी आवाज सुननेमें—दो कान हैं तुम्हारे तो दोनोंका उपयोग करते हो।

हमने देखा है—कथामें लोग बैठते हैं तो कथा भी सुनते जाते हैं—**श्रृण्वन्तोऽपि**—और कथामें बैठकर क्या करते हैं कि कोई माला बना रहा है, कोई स्वेटर बुन रहा है, कोई लिख रहा है—लोग तो महाराज किनारे अखबार रख लेते हैं और धीरे-धीरे पढ़ते जाते हैं और यह भी दिखाते रहते हैं कि हम सुन रहे हैं। तो वे समझते हैं कि यह जो कानमें आवाज पड़ती है उसीसे कल्याणं हो जायेगा इसमें समझने-बूझनेकी तो कोई बात है ही नहीं, क्योंकि समझदारीकी जरूरत तो व्यापारमें पड़ती है, वेदान्तमें समझदारी लगानेकी क्या जरूरत है?

श्रृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः—बहुतसे लोग सुनते हैं पर यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि इसको सुनकर समझना भी बड़ा मुश्किल है, क्योंकि जब कोटि-कोटि जन्मके पुण्य इकट्ठे होते हैं, गुरुकी कृपा होती है, ईश्वरकी कृपा होती हैं तब वेदान्त श्रवण करनेको मिलता है। खण्डन-खण्डखाद्यका कर्त्ता अपने ग्रन्थके अन्तमें कहता है—

ईश्वरानुग्रहादेव पुंसां अद्वैतवासना—

ईश्वरकी बड़ी भारी कृपा हो तब अद्वैतकी वासना उत्पन्न होवे और यही बात इतने बड़े अवधूत—अवधूत शिरोमणि दत्तात्रेयजी महाराज अपनी अवधूत-गीताके पहले श्लोकमें बोलते हैं—

ईश्वरानुग्रहादेव पुसां अद्वैतवासना।

शुरूमें बोलते हैं और एक अन्तमें बोलते हैं—ईश्वरकी बड़ी कृपा हो तब वेदान्त-श्रवणमें रुचि हो, और वेदान्त मिले। ईश्वरकी कृपा, जन्म-जन्मके पुण्य सत्कर्मोंका परिपाक, आचार्यकी कृपा, अपने हृदयमें शुभेच्छा तब तो वेदान्त सुननेको मिले और सुननेके बाद समझमें आवे—यह और भी कृपाकी बात है।

शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।

एक बड़े भारी विद्वान् थे, गंगा किनारे रहते थे, बचपनसे वेदान्त सुनते थे और बादमें सुनाते भी थे—छहों दर्शनके विद्वान् माने जाते थे, दण्डी-स्वामी थे। मैंने उनसे पूछा कि महाराज, आपको तत्त्वज्ञान हुआ कि नहीं? देखो, एक बचपनकी ढिठाईकी बात।

वे बोले कि देखो भाई, शास्त्र-रक्षाके लिए—माने हमारे अद्वैत-ज्ञानकी परम्परा बनी रहे, इसके लिए—हम शास्त्रका अध्ययन-अध्यापन करते हैं; अभी हमारा अन्तःकरण इतना शुद्ध कहाँ है कि हमको ज्ञान हो जाय?

शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः—कोई अविद्या-वृत्तिके चक्करमें पड़ जाता है तो कोई लक्षणा-वृत्तिके चक्करमें पड़ जाता है—जिन्दगी भर रटते हैं—जहद-लक्षणा, अजहद-लक्षणा, जहद-अजहद-लक्षणा। अरे यह कोई चीज है? यह तो जिनकी बुद्धि ब्रह्ममें प्रवेश नहीं करती, सचमुच अन्तर्मुख नहीं होती, उनके लिए यह सब बखेड़ा है।

देखो, हम लक्षणा बताते हैं आपको। आपके घरमें कोई मेहमान आवे और आप उससे भोजन करनेको कहें और वह कहे कि हमें भूख नहीं है और आप कहें कि अच्छा, दो ग्रास खा लो--यह क्या हुआ? कि यह लक्षणा हो गयी। कौन-सी लक्षणा हुई? कि अजहद-लक्षणा होगयी। क्योंकि जब वह खायेगा तो दो ग्रास तो खायेगा ही अधिक भी खायेगा।

अच्छा, किसीने कहा—अरे भाई, तुमने खबर क्या सुनायी, हमको तो विच्छू डंक मार गया। भला यहाँ विच्छू कहाँ है? ढूँढो विच्छूको टॉर्च लेकर। बोले राम-राम विच्छू मत ढूँढो, इसका नाम है जहद-लक्षणा विच्छू और डंकको छोड़ दो, तत्सम्बन्धी दुःखमें कहनेवालेका तात्पर्य है, लक्षणा है; इसका नाम है जहद लक्षणा। माने ये लक्षणाएँ जो हैं यह हमलोगोंकी बोलनेकी शैली जो हैं उनका शास्त्रीय-भाषामें परिभाषीकरण है—शास्त्रीय-भाषामें उसको बाँध देते हैं—यह बोलनेका ढंग है। नहीं तो महाराज, यह महावाक्य जो है यह बमगोला है—अहं

ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि आदि। यह वह बमगोला है जो **विनैव लक्षणं विनैव सम्बन्धान्तरं शब्दशक्तेः अचिन्त्यत्वात्**—शब्दशक्तिके अचिन्त्य होनेके कारण बिना लक्षणाके, बिना सम्बन्धान्तरके अविद्या निवृत्तिपूर्वक तत्त्वज्ञान करा देता है। जैसे सुषुप्त पुरुषको पुकारो—देवदत्त! और वह उठ बैठता है, तो वहाँ कौन-सा सम्बन्ध-ज्ञान हुआ, कौन-सी लक्षणा हुई, कौन-सा शब्दार्थका ज्ञान हुआ? अरे, शब्दमें अचिन्त्य शक्ति है, देवदत्त जाग गया। इसी प्रकार महाराज, तत्त्वमसि बोल दिया और सुननेवालेको ज्ञान हो गया। अष्टावक्रजी महाराज बोलते हैं—

तत्त्व श्रवणमात्रेण शुद्ध बुद्धिर्निराकुलः।
आजीवमपि जिज्ञासुः परस्तत्र विमुह्यति॥

अष्टावक्रजी महाराज कहते हैं कि जो शुद्ध-बुद्धि पुरुष है वह श्रवणमात्रसे ही कृतार्थ हो जाता है—तत्त्व श्रवण मात्रेण—उसको अति श्रवणकी जरूरत नहीं है। ऐसे किसी अधिकारी पुरुषको कहें 'तत्त्वमसि' और वह तत्-त्वं तो श्रवण कर ले परन्तु असि उसके कानमें नहीं पहुँचे तो भी उसे तत्त्वज्ञान हो जायेगा। देखो, 'गोविन्द' बोला था गजने—तो 'गो' तो पहुँचा भगवान्के पास और 'विन्द' सुननेसे तो पहले ही वे गजके पास पहुँच गये। 'विन्द' रास्तेमें ही रह गया। ऐसे ही तत्त्वमसि बोलना हो तो तत्त्वं तो श्रोताके कानमें पहुँचे और असि रह जाय और तब तक तत्त्वज्ञान हो जायेगा—

तत्त्व श्रवणमात्रेण शुद्ध बुद्धिर्निराकुलः।
आजीवमपि जिज्ञासुः परस्तत्र विमुह्यति॥

और जिनकी बुद्धि इधर प्रवेश नहीं करती, जिनकी इधर रुचि नहीं है, वे जिन्दगी भर सुनते हैं फिर भी उस तत्त्वको नहीं जान पाते—

शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः—उनके मनमें यह असंभावना बनी रहती है कि भला आत्मा नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो सकता है? भला आत्मा अद्वितीय हो सकता है? भला आत्माके ज्ञानमात्रसे अविद्याकी निवृत्ति हो सकती है? भला आत्माके ज्ञान-मात्रसे मुक्ति हो सकती है?

अरे, ज्ञानसे सद्यो मुक्ति होती है, विदेह मुक्ति नहीं, क्रम-मुक्ति नहीं। जीवन्मुक्ति, विदेहमुक्ति, क्रम-मुक्ति-मुक्तिमें हजार-दो हजार भेद करनेकी कल्पना ही छोड़ दो। अपने नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करो। अपने दुर्भाग्यको मत कोसो, अपने प्रतिबन्धोंके बारेमें भी सोच-सोचकर निराश मत होओ। कहते हैं कि हिरण्यगर्भका प्रतिबन्ध जो है वह निवृत्त ही होता है

वामदेवका प्रतिबन्ध गर्भमें निवृत्त हो जाता है, श्वेतकेतुका प्रतिबन्ध जो है वह नौ बार उपदेश श्रवण करनेसे निवृत्त होता है—**भूतो वा भावी वा वर्तते तथा**—ये तीन तरहके प्रतिबन्ध होते हैं—प्रतिबन्ध माने ऐसी रुकावट जिससे ज्ञान नहीं हो पाता। भूत प्रतिबन्ध, भावी प्रतिबन्ध, वर्तमान प्रतिबन्ध। बस इन्हीं बातोंको सुन-सुनकर अपने अज्ञानकी निवृत्तिसे वंचित रहते हैं। परन्तु हमारी अक्कल मारी गयी है—यह ख्याल नहीं होता। सुनते हैं रोज-रोज, समझनेकी कोशिश करते हैं रोज-रोज, लेकिन फिर-नोन-तेल-लकड़ी। अक्कल वहीं-की-वहीं। सत्यपर व्याख्यान चाहे कितना भी सुनो व्यापार तो झूठावाला ही करेंगे; ब्रह्मचर्यपर व्याख्यान चाहे जितना भी सुनो, बच्चे तो हर साल होंगे। तो धारण करनेकी रुचि नहीं, समझनेकी रुचि नहीं। **शृण्वन्तोऽपि**—सुन रहे हैं, पर नहीं सुन रहे हैं।

वेदान्तका श्रवण मिलना बड़ा मुश्किल है। ऐसी वस्तुको सुनना जिसके बारेमें श्रुतिका वचन है—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह

एक बार वाणी इकट्ठी हुईं—वाग्देवी, एक वाग्देवी, दो वाग्देवी, तीन वाग्देवी, चार वाग्देवी—बहुत सारी वाग्देवियाँ इकट्ठी हुईं; बोलीं, चलो हम लोग ब्रह्मको ढूँढकर ले आवेंगी।

बोले कि जहाँ सूर्य नहीं जाता, जहाँ चन्द्रमा नहीं जाता वहाँ तुम कैसे जाओगी देवी? बोली—हमने देखा है कि जब कोई अन्धेरेमें आदमी आता है और वहाँ सूर्य, चन्द्रकी रोशनी नहीं होती है, तो आँखसे आदमी नहीं दीखता; तब अन्दाज लगाते हैं कि कौन होगा? पर, जब मनको भी अनुमान नहीं लगता—प्रत्यक्ष और अनुमान दोनों जहाँ हार जाते हैं—तब वहाँ अग्नि-ज्योतिसे प्रकाशमान वाग्देवी बोलती हैं—कौन है और जैसे ही सामनेवालेने कहा कि मैं श्याम हूँ, मैं राम हूँ, मैं मोहन हूँ, मैं सोहन हूँ, वैसे ही उसकी पहचान हो जती है। माने जहाँ सूर्य-ज्योति आँख नहीं देख सकती, जहाँ चन्द्र-ज्योति मन अनुमान नहीं कर सकता, वहाँ अग्निके द्वारा प्रकाशित वाग्ज्योति काम करती है।

वाग्देवीने कहा—चलो-चलो हम ब्रह्मको ढूँढकर लावेंगे फिर बोली—हम सबकी-सब स्त्री-जाति और ब्रह्म जो हैं सो तो सुना है—सन्नाटा है वहाँ तो, बिलकुल सूना—दूसरा वहाँ कोई है ही नहीं, तो कैसे जायँ? इसलिए चलो, ऐसे किसीको साथ ले लो। तो मनको लेकर चलीं।

बोले—मनको क्यों साथ लिया, किसी पुरुषको क्यों नहीं साथ लिया?

बोली—जाना है पतिदेवके पास, ब्रह्मदेवके पास, पुरुषको साथ लेकर जायेंगे तो पता नहीं वह क्या समझें! इसलिए हिजड़ेको साथ ले लो। यह मन जो है न, यह हिजड़ा है, नपुंसक; संस्कृत-भाषामें मनको नपुंसक बोलते हैं—

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह—तो मनके साथ गयी; ब्रह्मके पास तक तो पहुँच गयी; लेकिन वह इनकी गोदमें आया नहीं, वाणी-मनका विषय हुआ नहीं, तो लौट आयी वहाँसे। इसीसे श्रुतिमें वर्णन आता है कि **अवचनेनैव प्रोवाच**—ब्रह्मका वर्णन कैसे कि बिना बोले, जीभ हिलाना न पड़े और ब्रह्मका वर्णन हो जाय!

न तत्र वाक् गच्छति न मनो गच्छति—वाणीकी गति नहीं, मनकी गति नहीं, बुद्धिकी गति नहीं; तो कैसे वर्णन हो। पर फिर भी महाराज, ये महापुरुष लोग कोई-न-कोई युक्ति निकाल ही लेते हैं—अविषयको विषय करनेक। युक्ति, अपरिच्छिन्नके साक्षात्कारकी युक्ति।

तो एक बात तो यह कि बहुत लोगोंको तो यह सुननेको मिलता ही नहीं—सुनानेवाला मिले तब तो सुनें-दुनियामें तो राजकथा सुनानेवाला मिलेगा, भोगकथा सुनानेवाला मिलेगा, जगत्-कथा सुनानेवाला मिलेगा, बहू-बेटीकी बात सुनानेवाला मिलेगा, ब्रह्मविद्याको सुनानेवाला तो जल्दी मिलेगा नहीं! और सुननेको मिले भी तब भी सुननेपर भी, यदि बुद्धि परिच्छिन्न ग्राहिणी होवे-ग्रह-ग्रस्त होवे, पूर्वाग्रहसे ग्रस्त हो तो?

एक महात्माके पास हम गये और बोले—महाराज, ब्रह्मज्ञानका उपदेश करो। बोले-अच्छा, यह बताओ कि हम जो बात समझावेंगे अगर वह तुम्हारी समझमें ठीक-ठीक आ जावेगी तो अबतक जो तुमने समझा है वह सब छोड़ देनेके लिए तैयार हो? अबतककी सारी समझ—यह पूर्व-ग्रह लगा है—राहुग्रह है यह, यह पापग्रह है, इसको पूर्व ग्रह बोलते हैं। पहलेसे ही अपने मनमें कोई बात बैठा ली—यही पूर्व-ग्रह है—

मैं बौरी ढूँढन चली रही किनारे बैठ।

एक बात आपको सुनावें—कई लोगोंके मनमें ऐसा होता है कि वेदान्त हमारे लिए नहीं है, किसी औरके लिए है। कई लोग कई तरहसे डराते हैं। कई लोग यह कहकर डराते हैं कि वेदान्त सुनोगे तो घर-गृहस्थी छूट जायेगी; पर वेदान्तकी घर-गृहस्थीसे कोई दुश्मनी तो है नहीं; वेदान्तकी, ज्ञानकी दुश्मनी अगर किसीसे है तो केवल अज्ञानसे है। बेवकूफी तुम्हारी मिट जायेगी यह बात तो

बिलकुल पक्की है और सिवाय बेवकूफीके ज्ञान तुम्हारी और कोई चीज नहीं मिटायेगा। अगर ज्ञानसे तुम्हारी दुश्मनी हो तो बेवकूफीको रखो और बेवकूफीसे यदि दुश्मनी हो तो ज्ञान प्राप्त करके उसको मिटा दो। ज्ञान तुम्हारा घर नहीं मिटावेगा, तुम्हारा परिवार नहीं मिटावेगा, तुम्हारे धनके साथ छेड़-छाड़ नहीं करेगा, तुम्हारे शरीरका कुछ नहीं बिगाड़ेगा; और यह जो तुम्हारे मनमें मान्यताएँ हैं, संस्कार हैं-छोटी-छोटी बातोंमें जो तुम उलझे हुए हो—ये बेवकुफीकी जो मान्यताएँ हैं, इनको तो जरूर मिटा देगा-बिलकुल मिटाकर छोड़ेगा उनको!

भगवान् श्रीकृष्णने क्या निमन्त्रण दिया है! ये हमारे भगत लोग जो हैं ये कहते हैं कि भगवान्ने भक्ति करनेके लिए तो पापियोंको भी न्यौता दे रखा है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ (गीता ९.३०-३१)

भगवान्ने कहा—पापी-से-पापी कोई भी हो, मेरी ओर आवे। अच्छा भक्ति करनेके लिए सबको न्यौता दिया, परन्तु पापियोंके लिए क्या ज्ञानका दरवाजा बन्द? कि नहीं नहीं—

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥ (गीता ४.३६).

आओ-आओ इस ज्ञानकी नाव पर बैठे जाओ। बोले—महाराज, हम तो पापी हैं। कि क्या नम्बर है तुम्हारा पापियोंमें? नारायण! कहाँ गया पाप, कहाँ गया पुण्य? इस समय तुम अपना अभिमान छोड़कर, बढ़िया फर्नीचर और अपना मकान छोड़कर धरतीपर श्रद्धासे बैठे हुए हो और वेदान्तका श्रवण कर रहे हो-क्या अभी तुम्हारे अन्दर पाप लगा हुआ है? वेदान्तका एक शब्द भी जिसने सुन लिया वह तपस्वी है स्वयं पवित्र है और भूयस्तपस्वी माने दूसरोंको पवित्र करनेवाला है :

भूयस्तपस्वी भवति पंक्ति पावन पावनः।

इस समय तुम तपस्वी हो, इस समय तुम पुण्यात्मा हो, इस समय तुम सौभाग्य-भाजन हो, लेकिन यदि तुम अपनेको पापी मानते हो तो बताओ किस नम्बरका पापी मानते हो? जरा, भगवान्के वचनपर ध्यान दो—**अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः**—संसारके सब पापियोंमें-से—भूत, भविष्य, वर्तमानके सब पापियोंमें-से तीन पापी यदि छाँट लिये जायँ कि भाई, हमको

नम्बर देना है—पापकृत्, पापकृत्तर और पापकृत्तम्—नीचेसे पहले नम्बरका पापी है पापकृत्, इससे बड़ा पापी पापकृत्तर दूसरे नम्बरका है और तीसरे नम्बरका पापी है पापकृतम्-इससे बड़ा और कोई पापी नहीं है; तो बोले--चाहे इसमें तुम्हारा नम्बर बिलकुल तीसरा ही क्यों न होवे, परन्तु आ जाओ—**सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि**—ज्ञानकी नौकापर चढ़ जाओ, तुम पापोंसे तर जाओगे। **ज्ञानप्लवेनैव-कर्मोपासनायोगाभिनिर्पेक्षम्** 'एव'का अर्थ है कि इसमें कर्म,योग, उपासना आदिकी अपेक्षा नहीं है। आओ, केवल ज्ञानकी नौकापर चढ़ो, श्रवण-मनन-निदिध्यासन करो, जरा बुद्धिका प्रयोग करो वस्तुको समझनेमें!

अपिचेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लानेव वृजिनं संतरिष्यसि॥

इसमें ध्यान दो। **वृजिनं तत्रापि सर्वं**—वृजिनमें यह नहीं कहा कि थोड़ा-सा भी पाप बाकी रह जावेगा। देखो, कर्मसे जो वृजिन नाश होता है उसमें मल नाश तो होता है; परन्तु विक्षेप नाश नहीं होता। कर्मोपासनासे मल और विक्षेप दोनोंका नाश होता है; किन्तु आवरण-भङ्ग नहीं होता। परन्तु-सर्वंवृजिनंका अर्थ है—आवरण-पर्यन्त-मल-विक्षेप। आवरण त्रिविध वृजिनका नाश हो जाता है माने जो फिर लौट कर न आवे। इस पापके समुद्रसे ऐसे पार हो जाओगे—मलसे, विक्षेपसे, आवरणसे ऐसे पार हो जाओगे कि फिर इनके साथ मैं आवृत, मैं विक्षिप्त, मैं मलीन—इस प्रकारका तादात्म्य कभी तुम्हारे हृदयमें उदय ही नहीं होगा।

भगवान्ने कहा तो आओ बाबा सुनो, क्योंकि—

आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा।

कठोपनिषद्का यह मन्त्र श्रीकृष्ण भगवान्को बड़ा प्यारा था। तभी तो उन्होंने इसी मंत्रमें-से गीताका यह श्लोक (२.२९) निकाल लिया—

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनं आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श‍ृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

कठोपनिषद् ही श्रीकृष्ण भगवान्को बड़ा प्यारा था। उसके कई मन्त्र-कुछ मन्त्र अर्थसे और कुछ मन्त्र शब्दसे गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने लिये हुए हैं। कठका मंत्र है :

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ १.२.१९

इसके समानान्तर गीतामें—

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तो न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ २.१९

न जायते म्रियते वा० वाला श्लोक तो दोनों जगह ७५% एक ही है। **ऊर्ध्वमूलोऽवाक शाखः** और **ऊर्ध्वमूल-मधः शाखा०** वाले श्लोक अर्थतः समान हैं और भी बहुत-सी समानाताएँ हैं।

श्रृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः—देखो, खास करके सत्सङ्गमें हम देखते हैं कि यदि एक आदमीको तुम कह दो कि हमारे प्रवचनके बाद तुम्हारा गाना होगा, तो श्रोताके मनर्में तो कभी गाना सुननेकी इच्छा हो, कभी न हो, उसमें तो विकल्प हो सकता है; परन्तु जो गाने वाला होगा वह तो यही सोचेगा कि जल्दीसे सत्सङ्ग बन्द हो तो हम गाना सुनावें—उसके मनमें अपना गाना सुनानेकी इच्छा ज्यादा होगी और सत्संग सुननेकी इच्छा कम होगी! तो, यहाँ **श्रृण्वन्तोऽपिमें** कहाँ दृष्टि रहेगी? बोले—घड़ीपर। कहाँ दृष्टि रहेगी? कि बैठेंगे सत्सङ्गमें और सोचेंगे दूसरेकी। कहाँ परिच्छिन्नताको काटनेके लिए सत्संग करते हैं? जातिको लेकर, सम्प्रदायको लेकर, प्रांतको लेकर, जिलाको लेकर, परिवारको लेकर, व्यक्तित्वको लेकर, अपनी अहंताको लेकरके यहाँ अपना दिल और दिमाग खण्ड-खण्ड हो गया है, टुकड़े-टुकड़े हो गया है वहाँ यह अखण्ड होनेकी बात सुनकर अपनेको वैसा ही समझ लेना जरा मुश्किल पड़ता है; परन्तु इस विद्याके अधिकारी सब हैं—अपने घरमें जाना है यह पराया घर नहीं है। यह अपना आत्मा अपना घर है। दरवाजेपर लिखा हो कि बिना इजाजत अन्दर आना मना है और घरका मालिक आ जाय तो क्या वह उसके लिए भी लिखा है? अरे, यह वेदान्त, यह आत्मा तो अपना आपा है, अपने पास लौटनेके लिए क्या झगड़ा? बोले भाई, यह बात जरूर है कि अपने घरमें भी जब ठाकुरबाड़ी बनाते हैं तब जरा पाँव धोकर जाते हैं, गन्दे पाँवसे प्रवेश नहीं करते हैं, पवित्र होकरके जाते हैं। तो वेदान्त-श्रवणके लिए पवित्र-बुद्धिसे आओ—ईर्ष्या-द्वेष, कलुषित बुद्धिसे नहीं, राग-द्वेष कलुषित बुद्धिसे नहीं, अहंता, ममतासे कलुषित बुद्धिसे नहीं। इस वेदान्त-विद्याका वक्ता आश्चर्य है! **अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथा रसं नित्यमगन्धवच्च यत्**—जिसमें शब्द नहीं, स्पर्श नहीं, रूप नहीं, रस नहीं उस तत्त्वको यह बोलकरके समझा देगा! **आश्चर्यो वक्ता**—कि देखो न, स्वयं अपनी परिच्छिन्नताका अतिक्रमण कर गया, स्वयं अपरिच्छिन्नमें अहंता नहीं है, फिर भी वह परिच्छिन्नमें बैठकरके बोलता है! देखो न—सर्वदा प्रकाशमान जो परमात्मा है वह अप्रकाश-सा हो रहा है, जो अपरिच्छिन्न है वह

परिच्छिन्न-सा हो रहा है, जो चैतन्य है वह जड़-सा हो रहा है, जो सत् है वह असत्-सा मालूम पड़ रहा है, जो आनन्द है वह दुःख-सा मालूम पड़ रहा है। तो इन सारी बातोंको वह आश्चर्य-रूप-वक्ता जब सुनाता है तो उसको सुनकर श्रोता आश्चर्य करने लगते हैं। आश्चर्य माने जिसको सुनकर श्रोता आह, आह-आह कहने लगे। आश्चर्य माने जैसे आजकल कविसम्मेलन जब होता है तब उसमें बोलते हैं—क्या खूब, कलम तोड़ दी—ऐसे जो बोलते हैं वैसे ही सुनकर जो बोले—आह, आह सो आश्चर्य। **आह-आह इति चर्यते यस्मिन्** जिसमें आह-आह बोला जाय—क्या बात है, क्या खूबी है कि देखनेमें शरीर ज्यों-का-त्यों बना रहे, लेकिन मैं पापी हूँ, मैं पुण्यात्मा हूँ यह अभिमान कट जाय—देखनेमें शरीर बना रहे लेकिन मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ यह अभिमान कट जायँ। देखनेमें परिच्छिन्नता बनी रहे। लेकिन मैं नरकमें जाऊँगा, मैं स्वर्गमें जाऊँगा, मैं संसारी हूँ कि मेरा पुनर्जन्म होगा—ये सारी भ्रान्तियाँ चित्तसे निकल जायें; तुम ज्यों-के-त्यों बने रहो और तुम्हारी बुद्धिमें जो भ्रम बैठे हुए हैं उन सबको जो निकाल दे—ऐसा वक्ता आश्चर्य है और ऐसा प्रवचन करनेपर समझमें आ जाय यह और भी आश्चर्य है।

बहुतसे लोग तो संसारमें ऐसे हैं जिन्हें ये वेदान्तोक्त पदार्थ सुननेके लिए भी कि जिसके माहात्म्यसे कान पवित्र हो जायँ—इतने भरके लिए भी उनको वेदान्त सुननेको नहीं मिलता—माने इसका श्रवण मिलना दुर्लभ है यह बात बताते हैं। क्यों? कि दुनियामें पहले तो दुःखकी चर्चा सुननेको बहुत मिलती है, फिर भोगकी चर्चा बहुत सुननेको बहुत मिलती है, फिर विषयकी चर्चा बहुत सुननेको मिलती है माने लोग जहाँ फँसे हुए हैं उसके आगेकी बात सुनना पसन्द नहीं करते—सुननेमें रुचि नहीं होती और सुनानेवाला मिलता भी नहीं। चर्चा होगी तो ऐन्द्रियक-सुखकी होगी—यह भोग ऐसे भोगना, यह कमायी ऐसे करना या फिर जड़की चर्चा होगी। जिससे अपना हृदय अशुद्ध होता हो ऐसी चर्चा न करनी चाहिए, न सुननी चाहिए। पर लोग तो यही नहीं समझते कि हृदय अशुद्ध होता कैसे है?

एक बार मैं मलाबार-हिलसे लेडी नॉर्थ-कोट पैदल आ रहा था कि बालकेश्वर रोडसे उतरते-उतरते एक सेठ मिल गये, जान-पहचान उनसे बहुत पुरानी। वहाँसे वे मेरे साथ-साथ गये लेडी-नॉर्थ-कोट। उतनी देरमें उन्होंने संसारकी इतनी चर्चा सुनायी, इतना राग सुनाया, इतना द्वेष सुनाया—इतने गुण-दोष सुनाये कि हमको तो सुनकर आश्चर्य हो गया कि इन लोगोंका दिमाग कितना

पक्का होता है कि इतने राग-द्वेषके वातावरणमें रहते हैं, उसकी चर्चा करते हैं, उसमें मजा लेते हैं और इनका हार्ट-फेल नहीं हो जाता। इतनी जलन अपने दिलमें रखते हैं नारायण! उनके लिए तो उनमें यह दोष है—संसारमें सब दोष हैं, गुणकी कोई चर्चा ही नहीं। हमलोग तो ऐसा सुन नहीं सकते—अरे, इसमें परब्रह्म परमात्मा है, यह बात भूल गयी। यह तो बताया कि उनकी नाक-चपटी और इनकी नाक ऊँची; लेकिन यह नहीं बताया कि दोनोंकी नाक सामने ही है। देखो, कैसी बराबरी है, कैसी एकता है—दोनोंके दो आँख, दोनोंके कान, दोनोंके सिर, दोनोंके दिल—जो अलगावकी बात है, विरोधकी बात है वह तो झट बता दी और जो समानताकी बात है, एकताकी बात है सो नहीं बतायी। तो, संसारके लोग भेद-चर्चामें लगे हुए हैं—कोई स्त्रीकी चर्चा करता है, कोई धनकी चर्चा करता है, कोई पुत्र-पुत्रीकी चर्चा करता है, कोई बैरीकी चर्चा करता है, कोई दुःखकी चर्चा करता है, कोई भोगकी चर्चा करता है, कोई जड़की चर्चा करता है—उसमें कोई परिच्छिन्न छोटी-छोटी बातोंकी चर्चा करता है—नितान्त असत् चर्चामें संसार लगा हुआ है। इसमें तो भगवान् किसीको सद्बुद्धि दे, थोड़ा परिच्छिन्न पदार्थोंसे वैरागय होवे और यह मनमें आवे कि हम तो अपरिच्छिन्न ब्रह्म-पदार्थ का श्रवण करेंगे—ईश्वरकी बड़ी कृपा हो, हृदय पवित्रताकी ओर बढ़े, जन्म-जन्मके जो सत्कर्म हैं वे जाग्रत् होवें तब यह महाराज, जो सबके दिलमें एक है वह सुननेको मिले—

शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः—कल सुना चुका हूँ। सुननेपर भी किसी-किसीको विषयासक्ति है, क्योंकि वह सुननेके पहले विषयासक्त था, थोड़ी देर सुन लिया और सुनकर गया तो फिर विषयासक्ति जाग्रत् हो गयी।

किसीको अपने विपर्ययमें बड़ा दुराग्रह है। विपर्ययमें दुराग्रह माने मैं यह हाड़-मांस-चामका पुतला इस देहवाला मनुष्य हूँ। मैं देह हूँ—यह भ्रान्ति नहीं होती, क्योंकि यह तो साक्षात् जड़-द्रव्य है न! तो इसमें मैं ब्राह्मण हूँ, मैं संन्यासी हूँ, मैं हिन्दू हूँ और बहुत हुआ तो मैं मनुष्य हूँ—यही भ्रान्ति होती है, प्राकृत पदार्थमें आत्मा-बुद्धि होना विपर्यय है। यह मनुष्य-शरीर कैसे बना कि प्रकृतिसे बना; पशु-शरीर कैसे बना कि प्रकृतिसे बना, स्त्री-शरीर कैसे बना कि प्रकृतिसे बना—तो प्रकृतिके परिणामसे जो वस्तु बनी है प्रकृतिके परिवर्तनसे, प्रकृतिके परिणामसे जो भी चीज बनी हुई है उसको मैं समझ बैठना इसका नाम विपर्यय है। तुम चैतन्य हो, तुम आत्मा हो, तुम साक्षी हो, तुम वस्तुतः अद्वितीय परब्रह्म परमात्मा हो और प्रकृतिसे बने हुए पदार्थको जब तुम मैं मान बैठते हो, तो उसका

नाम हुआ—विपर्यय। विपर्यय माने सत्यकी पयानुगति नहीं होना। पर्यय माने सत्यके साथ सत्य होना और विपर्यय माने सत्यके विपरीत होना। यह बात सत्यके नितान्त विपरीत है कि प्रकृतिके परिणाम-स्वरूप बदलनेवाले, परिवर्तनशील, जन्म-मरणवाले पदार्थको मैं माना जाये, चेतनको जड़ माना जाय, द्रष्टाको दृश्य मान लिया जाय—यह नितान्त विपर्यय है; यदि इस विपर्ययमें दुराग्रह होगा तो **शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः**—सुनकर भी नहीं समझ सकोगे।

और कुतर्क? **तर्क्यतां किन्तु मा कुतर्क्यताम्।** अनुभवके अनुसार तर्क करो और यथार्थको जानो लेकिन बालकी खाल निकालने लग गये तो कुतर्क करनेसे भी बुद्धि विपर्यय-ग्राहिणी हो जाती है। प्रज्ञामाद्य—प्रज्ञामें संस्कारका न होना भी एक दोष है। शंकराचार्य भगवान्‌ने कहा—**शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः—न** ***विदन्ति अभागिनः असंस्कृतात्मानः न विजानीयुः***—अभागे हैं, उन्होंने अपनी अन्तरात्माका संस्कार नहीं किया, वे तो विकारमें फँस गये—जैसे एक पशु दूसरे पशुसे लड़ता है। लाल आँख और काला दिल—संस्कार किया नहीं, आँखमें जो द्वेषकी लाली है, उसको मिटाया नहीं, हृदयमें जो कालिमा है उसको धोया नहीं—परमात्माके ज्ञानमें असत्कृतात्मा होना बाधक है।

परमात्मज्ञानमें विषयासक्ति बाधक है, देहाभिमान बाधक है, कुतर्क बाधक है और प्रज्ञामें संस्कारका न होना बाधक है।

ज्ञानमें पौरुषेय और अपौरुषेय होनेसे क्या भेद हो जाता है, इस बातको थोड़े वेदान्ती समझते हैं। ज्ञानका पौरुषेय होना माने ज्ञानजन्य ज्ञान होना। यह डॉक्टरका ज्ञान कैसा होता है कि पौरुषेय ज्ञान होता है। कैसे? कि उसने एक दवा बनायी, एक रोगपर उसका प्रयोग किया, देखा कि रोगी अच्छा हो गया—तो संसारमें प्रयोग कर-करके, इन्द्रियोंसे देख-देख करके, परीक्षा कर-करके उसने निश्चय किया—तो ऐन्द्रियक-अनुभूतिसे उत्पन्न जो ज्ञान होता है उसको ज्ञान-जन्य ज्ञान कहते हैं। परन्तु यह अपरिच्छिन्न अद्वय जो आत्म-तत्त्व है वह तो इन्द्रियोंकी परीक्षाका विषय होता नहीं, किसी प्रयोगशाालामें इसकी जाँच होगी नहीं, दूरबीन-खुर्दबीनसे तो यह जाना जायेगा नहीं—यह अन्तःकरणरूप मशीनके द्वारा दृश्य तो होगा नहीं, यह तो अन्तःकरणका भी प्रकाशक है। इसलिए आत्माका जो स्वरूपज्ञान है वह जन्य नहीं है, अपौरुषेय है। इसीसे आचार्य-प्रोक्त होनेसे ज्ञान ज्ञान नहीं होता, स्वतः सिद्ध होनेसे ज्ञान होता है, आचार्य प्रोक्त तो जिज्ञासुकी श्रद्धा बढ़ानेके लिए है। भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, कर्णापाटव आदि दोषसे रहित, व्यक्तित्वके सम्बन्ध-

गन्धसे असंस्कृत इस ज्ञानके होनेके पश्चात् कोई व्यक्ति अथवा कोई अव्यक्त शेष नहीं रह जाता। अशेष-विशेष-निषेधावशेष। इस वस्तुका जो ज्ञान है वह ज्ञान ऐन्द्रियक-अनुभव-जन्य ज्ञान नहीं है। तो ऐसे ज्ञानको जबतक अधिकारी-विशेष होकरके—शम-दमादि-सम्पन्न शुद्धान्त:करण होकर, शास्त्रोक्त रीतिसे श्रवण मनन-निदिध्यासन नहीं करोगे तबतक इस आत्माका ज्ञान नहीं होगा।

शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः—बहुतसे लोगोंने इसका श्रवण किया परन्तु श्रवण करनेसे उनकी समझमें यह बात आ गयी हो सो बात नहीं। क्यों? बोले—**आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा**—इसको बोलना भी आश्चर्य है, इसका वक्ता भी आश्चर्य है।

वक्ता कैसे आश्चर्य है? एक बार कुम्भके मेलेमें गये, तो देखा वहाँ बड़ा भारी साइन-बोर्ड लगा हुआ था—श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ। देखा, तो घुस गया भीतर, देखा गद्दीपर महन्तजी बैठे हैं। साष्टाङ्ग दण्डवत् किया। उनसे पूछा महाराज, यह श्रोत्रिय किसको कहते हैं?

उन्होंने पूछा कि तुम कौन हो? मैंने बताया कि हम काशीके हैं, सरयूपारीण ब्राह्मण हैं, पण्डित हैं—तबकी बात है। तो बोले वे कि देखो पण्डितजी, जब हमारे गुरुजी इस गद्दीपर बैठते थे तब उनके नामके साथ श्रोत्रिय-ब्रह्मनिष्ठ लगता था; अब हम उनकी गद्दीपर बैठ गये तब हमारे नामके साथ भी लग गया—उत्तराधिकारमें हमें श्रोत्रियता और ब्रह्मनिष्ठता प्राप्त हो गयी—गद्दीधारी। उनको तो श्रोत्रिय शब्दका अर्थ ही नहीं मालूम था। कि श्रोत्रिय क्या होता है, ब्रह्मनिष्ठा क्या होती है।

तो इसका वक्ता और श्रोता—दोनोंका मिलना आश्चर्य है।

आप देखो, बोलते हैं कि हिरण्यगर्भ निवृत्त-प्रतिबन्ध है अर्थात् उसको कोई प्रतिबन्ध नहीं होता—इधर नारायणने ज्ञान दिया और उधर उसको ज्ञान हुआ। वामदेव भूत-प्रतिबन्ध है—जन्म हुआ और प्रतिबन्ध दूर हो गया। श्वेतकेतु वर्तमान प्रतिबन्ध है—उसको नौ बार तत्त्वमसि-तत्त्वमसि, तत्त्वमसि तरह-तरहसे समझाना पड़ा तब कहीं उसकी समझमें आया। तो तरह-तरहका दृष्टान्त देकरके अधिकारी श्रोताको ध्यानमें रखकरके वक्ताको यह समझाना पड़ता है कि यह तत् और त्वम् दोनों एक कैसे हैं। कहाँ वह जो सम्पूर्ण भूत-भौतिक प्रपंचके कारण अव्याकृतका भी अधिष्ठान है—तत्पदार्थ, और कहाँ इस अन्त:करणमें बैठा हुआ प्रमाता—यह त्वं-पदार्थ यह त्वम् वह तत् कैसे हो सकता है? 'असि' पद बताता

है कि दोनों एक हैं परन्तु तत् परोक्ष होता है और त्वं प्रत्यक्ष होता है—जो परोक्ष है सो प्रत्यक्ष कैसे और जो प्रत्यक्ष है सो परोक्ष कैसे? दोनोंको एक बतानेके लिए उपनिषदोंमें क्या आश्चर्यमय युक्ति अपनायी गयी है। बृहदारण्यक उपनिषद्में दूसरे अध्यायमें, चौथे अध्यायमें, छठे अध्यायमें—एक-एक अध्यायके दो-दो ब्राह्मणमें '**स एष आत्मा नेति-नेति**' आता है। असका अर्थ यह है कि तत् पदके साथ जो उपाधि, जो इल्लत जुड़ी हुई है, उसका नेति-नेतिके द्वारा निषेध करना; और त्वं पदके साथ जो उपाधि जुड़ी हुई है उसका नेति-नेतिके द्वारा निषेध करना; पहले वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थका निश्चय करना, फिर दोनोंमें जो वाच्यार्थ भाग है उसका नेति-नेतिके द्वारा अपवाद करना और फिर लक्ष्यार्थमें लक्षणके द्वारा दोनोंकी एकताका निरूपण करना यही है—**आश्चर्यो वक्ता**।

नचिकेताने कहा—यमराज, तुम्हारे समान दूसरा कोई वक्ता मिलनेवाला नहीं है—"**वक्ता लोके तादृशो न लभ्यः**'। जहाँ नेति-नेतिके द्वारा सम्पूर्ण निषेध करके केवल मृत्यु मात्र सम्मुख है और वह मृत्यु बता रहा है कि सब असत् है केवल तू ही सत् है, क्या आश्चर्य है। मृत्यु जो है सो बिना बोले ही उपदेश कर रहा है कि तू सत् है और सब असत् है—देख, और सब मेरे गालमें समा गया, मेरे चंगुलमें सब, मेरे पञ्जेमें सब, सारी सृष्टि मृत्युके अधीन है, केवल तू ही ऐसा है जो मृत्युके अधीन नहीं है। वहाँ मृत्यु बिल्कुल स्पष्ट रूपसे बिना बोले ही इशारा कर रहा है कि तू अमर है, तू अमर है।

ऐसा वक्ता महाराज जो बिना बोले समझा दे, लक्षणा करके समझा दे आश्चर्य नहीं तो क्या है? कोई-कोई तो महाराज लक्षणा भी नहीं करते हैं, अविद्या-वृत्तिसे ही समझा देते हैं। सबके मतमें लक्षणा नहीं है, किसीके मतमें लक्षणा है, किसी मतमें नहीं है—किसीके मतमें तो शब्दकी अचिन्त्य शक्तिसे ही बोध हो जाता है—सुरेश्वराचार्यने पाँच-दस श्लोकोंमें बड़े विस्तारसे इसका प्रतिपादन किया है। सो महाराज आश्चर्यमय होता है इसका वक्ता।

एक महात्माके पास गये, बोले—महाराज क्या करें कि तत्त्वज्ञान मिले? बोले—देखो गुरु, बिना किये-कराये तो इतना दिख रहा है, कुछ करोगे तो और बढ़ेगा घटेगा काहे को? अरे, करने-करानेका संकल्प छोड़ो, जो तुम हो सो हो। यह अद्भुत लीला है।

एक महात्मा घास छील रहे थे। एक राजाने जाकर उनसे कहा—महाराज, आत्माका उपदेश करो। महात्माने पूछा—मैं कौन? बोला—घास छील रहे हैं

आप। बोले—मैं घसियारा और तुम कौन? बोला—देखें, मैं मुकुट धारण किये हुए हूँ, राजा हूँ। बोले—उतार दो मुकुट। उतार दिया। कि अब तूँ कौन? कि मनुष्य। बोले—देख, मैंने भी फेंक दिया खुरपा अब मैं कोन? कि मनुष्य। बोले—जो तू सो मैं।

एक ब्राह्मणको हिन्दू होनेमें जितनी देर लगती है, एक हिन्दूको मनुष्य होनेमें जितनी देर लगती है, एक हिन्दूको मनुष्य होनेमें जितनी देर लगती है, उतनी ही देर जीवको ब्रह्म होनेमें लगती है। हिन्दू मनुष्य है कि नहीं है? ब्राह्मण मनुष्य है कि नहीं है? है तो मनुष्य, लेकिन वह अपने हिन्दूपनेसे, ब्राह्मणपनेसे ऊपर नही उठ रहा है; है तो मनुष्य लेकिन वह अपने संन्यासीपनेसे ऊपर नहीं उठ रहा है—प्राकृत वस्तुमें मैं करके बैठा है। मनुष्य भी प्राकृत है, पशु भी प्राकृत है। है वह जीवात्मा, पर मानता है अपनेको मनुष्य और जीवात्मापना भी संस्कारके कारण, उपाधिके कारण है; उपाधिको छोड़ दो तो तुम शुद्ध ब्रह्म हो।

तो स्वयं श्रवण और मनन करके, नेति-नेतिके द्वारा यह निश्चय कर लेना कि अशेष-विशेषसे रहित, अशेष-विशेषके निषेधका जो अवशेष है—सर्वनिषेधावशेष-सर्वनिषेधावधिमें जो वस्तु है वह मैं हूँ। उस सर्वनिषेधावशेषमें देशकी कल्पना नहीं, वह परिपूर्ण है, क्योंकि वह पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिणकी देश-कल्पनाका अधिष्ठान है। वह आज-कल-परसोंकी कल्पनाका अधिष्ठान्न है, इसलिए वह नित्य है; वह-वह, यह-तू-मैं आदिकी कल्पना का अधिष्ठान है इसलिए सर्वव्यापक है। और कल्प्य जो वस्तु होती है वह कल्पनासे पृथक् नहीं होती है—कल्प्यावच्छिन्न चैतन्य और कल्पनावच्छिन्न चैतन्य दो नहीं होता। कल्पित सर्वावच्छिन्न चैतन्य और सर्वकल्पनावच्छिन्न चैतन्य दोनों दो नहीं हैं; जिस देशमें कल्प्य सर्प है उसी देशमें सर्पकी कल्पना है, जिस देशमें सर्पकी कल्पना है उसी देशमें कल्पित सर्प है; इसलिए कल्प्यावच्छिन्न-चैतन्य और कल्पनावच्छिन्न चैतन्य, ये दोनों दो नहीं हो सकते। ऐसा यह अखण्ड पदार्थ है।

कुशलोऽस्य लब्धा—कितना कुशल है वह जिसने गुरुके इशारेसे तत्त्व मस्यादि महावाक्यके श्रवण मात्रसे उस अखण्ड ब्रह्मको जान लिया। **कुशलोऽस्य लब्धा**—बड़ा कौशल है उसके अन्दर।

आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः—लेकिन इस बातको जानता कौन है? बोले—**कुशलेन पुरुषेण कुशलं यथास्यात् तथा अनुशिष्टः**—सचमुच अनुभवी पुरुष,तत्त्वज्ञानी पुरुष किसी विशेष कौशलके द्वारा जिसका अनुशासन करता है,

जिसको इसका शिक्षण देता है, वही इसका ज्ञाता होता है और वह आश्चर्य-रूप होता है। कोई कहे कि हमने अपनी बुद्धिसे जान लिया; तो बुद्धिका अभिमान तो तुम्हारा अभी शेष है न! तुम्हारी बुद्धि और तुम बुद्धिवाले और उस बुद्धिमें तुम्हारा मैं! जान तो लिया तुमने परन्तु किसी बुद्धिके बच्चेको ही तुमने जाना है!!

क्या आश्चर्य है यह ब्रह्मज्ञानकी रीति कि फल-व्याप्ति न हो और वृत्ति-व्याप्ति होवे। **आश्चर्यो ज्ञाता**का अर्थ यह है कि ब्रह्म और आत्माकी एकाताकी जो अविद्या है, एकताके ज्ञानके बारेमें जो हमें भ्रम हो रहा है कि यह आत्मा ब्रह्म नहीं हैं, इस भ्रमको तोड़नेवाला ज्ञान तो पैदा होवे परन्तु उसका अभिमान पैदा न हो। अन्धकार तो मिट जाय, वस्तु भी दिख जाय; परन्तु मैंने देख लिया यह अभिमान उदय न हो।

देखनेकी रीति तो अलग-अलग होती है न! आप जानते हो—घरमें घड़ा रखा हो और आँखसे न दीखता हो तो क्या चाहिए? कि प्रकाश चाहिए—लालटेन चाहिए, टार्च चाहिए तब ना उसका ज्ञान होगा! रोशनीसे दो काम होगा—एक, अन्धेरा दूर होगा और दूसरा, आप देखेंगे कि यह घड़ा है और घड़ा मैंने जान लिया। तो दो वृत्ति हुई—एक अन्धकारकी निवृत्तिसे घटका दर्शन और एक, मैं घटज्ञ हूँ—यह अभिमान। लेकिन महाराज यदि वहाँ रोशनीको ही जानना हो कि वहाँ दीपक है कि नहीं, तो क्या किसी और दीपककी जरूरत पड़ेगी? दीपकको जाननेके लिए दीपककी जरूरत नहीं पड़ेगी, घड़ेको जाननेके लिए दीपककी जरूरत पड़ेगी। अच्छा, हमारी आँख है कि नहीं, यह जाननेंके लिए क्या चाहिए? अच्छा कि मैं हूँ या नहीं यह जाननेके लिए क्या चाहिए? तो यह जो इदं-इदं करके अनेक वस्तुएँ दीख रही हैं ऐसा मालूम पड़ता है, इसका कोई कर्ता अलग बैठा हुआ है ऐसा जो मालूम पड़ता है—यह जो भेद-भ्रान्ति है न, यह भेद-भ्रान्ति जिस अज्ञानान्धकारके कारण हो रही है उस अज्ञानान्धकारको निवृत्त करनेके लिए अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमस्यादि महावाक्य-जन्य वृत्ति-रूप बत्ती तो चाहिए- अन्धकार दूर करनेके लिए, परन्तु अहं ब्रह्म जानामि ऐसा अभिनान उत्पन्न होता नहीं क्यों कि वहाँ तो स्वयं-ही-स्वयं है, ज्ञाता और ज्ञेयका भेद ही नहीं है, कोई अन्यका ज्ञाता अन्य नहीं है और स्वयंका ज्ञाता स्व होता नहीं; क्योंकि कर्तृ-कर्म-विरोध होता है—जो कर्ता सो कर्म नहीं होता। किसीने कहा कि हम अपने कन्धेपर चढ़कर बैठ गये, तो अपने कन्धेपर चढ़कर बैठ जाना जैसे शक्य नहीं है वैसे ही अपने आपको अपना विषय बना लेना शक्य नहीं है। क्षण-भरके लिए तत्त्वमस्यदि

महावाक्य-जन्य-वृत्ति उदय हुई अविद्याको निवृत्त किया और तुम तो **स्वयं च तत्त्वं स्वयमेव बुद्धं**—तुम स्वयं ही हो, तो ब्रह्मज्ञानी कुशल गुरु उपदेश करनेवाला चाहिए—इसमें अभिमान नहीं चलता—

सोहं विचारो वपुरात्मभावे साहायकारी परमावगत्ये।
बुद्धे तु तत्त्वे स पुनर्निरर्थो यथा नरत्वं प्रमितिर्नरस्य॥

एक आदमी जानता है कि मैं मनुष्य हूँ तो बारम्बार यह प्रमाणित करनेकी कोई जरूरत नहीं है कि तुम मनुष्य हो, तुम मनुष्य हो। इसी प्रकार महाराज, जबतक **वपुरात्म भावे**—देहमें अहं-बुद्धि है तब तक वह मैं हूँ, वह मैं हूँ रटो—इससे तत्त्वज्ञानमें मदद मिलेगी, परन्तु, **ज्ञाते तु तत्त्वे स पुनर्निरर्थः**-तत्त्वज्ञान हो गया तो सोहं-सोहं करनेकी भी जरूरत नहीं है, भला! 'अहं ब्रह्मास्मि' जप करनेका मन्त्र नहीं है; 'तत्त्वमसि' जप करनेका मन्त्र नहीं है—यह तो जबतक अविद्या-निवृत्त नहीं होती तबतक इनके विचारकी जरूरत रहती है परन्तु जैसे ही अविद्या निवृत्त हुई उसी समय द्वैत-जाल भस्म हो जाता है।

तो **कुशलानुशिष्टः**—कुशल पुरुषके द्वारा ऐसी कुशलतासे यह बात समझायी गयी कि जिसने जाना वह जानते ही स्वयं वही हो गया।

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनं आश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्॥

(गीता)

सुननेवालोंमें भी बहुतसे लोग ऐसे निकलते हैं जो समझ नहीं पाते, इसलिए श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठके कुशल अनुशासनकी आवश्यकता है, तब आश्चर्य ज्ञाता जो है वह आश्चर्यरूप हो जाता है। कहो कि भाई, किसी ऐसे-वैसेसे जो राग-द्वेषके चक्करमें पड़े हैं उनसे ही सुन लेंगे, जान लेंगे, तो बोले कि नहीं, अवर नरके द्वारा प्रोक्त होनेसे इसका ज्ञान नहीं होता, इसका वक्ता तो वर नर होना चाहिए। वह कौन होना चाहिए,यह बात अगले मन्त्रमें बतायी गयी है।

ब्रह्मविद्याका वक्ता 'वर' नर होना चाहिए

अध्याय-१ वल्ली-२ मंत्र-८

अर्थ :–यह आत्मा 'अवर' नरके द्वारा कहा जानेपर अच्छी प्रकारसे ज्ञात नहीं हो सकता क्योंकि आत्माके बारेमें बहुत प्रकारसे वादियोंने चिन्तन किया है। अनन्य अर्थात् अपनेको जो ब्रह्मसे पृथक् नहीं जानता ऐसे पुरुषके द्वारा कथन किया जाने पर यह पता चलता है कि आत्मामें 'है' या 'नहीं है' ऐसा विकल्प नहीं है और फिर पुनः इसका अज्ञान नहीं होता। यह आत्मा अणु-से-अणु है तथा अतर्क्य है।

अवर नर द्वारा कहे जानेपर यह तत्त्वज्ञान नहीं होता—यह बात समझनेके लिए इस मंत्रकी प्रवृत्ति है : **आगमवतां प्रोक्तं ज्ञानं सफलमेव।**

प्रश्न उठाया कि **शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः**—सुने जिन्दगी भर लेकिन समझमें कुछ न आवे! चलें दिन भर और अढ़ाई कोश भी न पहुँचे! हाथ-पाँव बहुत चलावे परन्तु एक तिल भी न हटे! ऐसा क्यों? यह तो तिलकी ओटमें पहाड़ छिपा हुआ नहीं है, दूसरे कालमें छिपा हुआ नहीं है,दूसरी वस्तुके रूपमें छिपा हुआ नहीं है, वह तो ज्यों-का-त्यों है, फिर भी 'शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः'-सुन-सुनकर भी बहुत लोग इस बातको समझते नहीं हैं! कारण क्या है?

तो पहले कारण बताये। जैसे पहले यमराजने परीक्षा ली नचिकेताकी। अगर वैराग्यकी कमी होती तो नचिकेताको ज्ञान नहीं होता—खूब प्रलोभन दिया। बादमें बताया कि बुद्धिमें संस्कार चाहिए—विषयासक्ति नहीं चाहिए, विपर्ययमें दुराग्रह नहीं चाहिए, कुतर्क नहीं चाहिए, प्रज्ञावान होना चाहिए—प्रतिबन्ध निवृत्त होवे तो तत्काल ज्ञान हो जावे।

अब एक कारण और बताते हैं कि तत्त्वज्ञान क्यों नहीं होता? **शृण्वन्तोऽपि कस्मात् न विद्युः**—सुनते हुए भी क्यों नहीं लोगोंकी समझमें यह बात आती है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि इसका वक्ता जो है वह अवर नर नहीं चाहिए, माने अवर क्लासका नहीं चाहिए। अवर, अपर, अधर-संस्कृत-भाषामें ये सब शब्द हैं। वक्ता

उच्चकोटिका चाहिए; क्योंकि नरका स्वभाव है कि उसके पास कोई पूँजी होवे तो वह जल्दी दूसरेको देता नहीं, नर शब्दके अर्थमें यह बात भी हुई है। ज्ञान भी तो एक पूँजी है, वह ऐरे-गैरे नत्थू-खैरेको देनेकी चीज नहीं है। और देखो, ज्ञान होनेपर सुख-और-दु:ख दोनों एक हो जाते हैं—अब कोई कहे कि सुख और दु:ख दोनों जब एक हैं तब हम दु:खी ही रहेंगे, तो ऐसे आदमीको ज्ञान देनेकी जरूरत कहाँ है? वह तो ज्ञानकी बदनामी करेगा; बोलेगा—सुखी रहो तो भी ठीक, दु:खी रहो तो भी ठीक—तो उसको ज्ञानका उपदेश नहीं करना। वह तो यह मालूम पड़े कि ज्ञान होनेपर यह वैराग्य-निष्ठ रहेगा तब उसको ज्ञान दिया जाता है।

तीसरी बात देखो, किसीको मालूम पड़े कि पाप-पुण्य बराबर है तो अब वह क्या करेगा बोले कि हम तो पाप ही करेंगे! तो जो संस्कृत-आत्मा होकर अपने जीवनमें पुण्यका, सदा सदाचारका स्वभाव डाल लेता है, विश्वास हो जाता है कि ज्ञान प्राप्त करके यह ज्ञान-सम्प्रदायकी शोभा बढ़ायेगा, ज्ञान-सम्प्रदायको बदनाम नहीं करेगा। तो उसको ज्ञान देते हैं। जैसे कि पुजारी किसको रखा जाय? कि जिसके बारेमें विश्वास हो कि यह पवित्रतासे देवताकी पूजा करेगा क्योंकि देवता तो रोकेगा नहीं कि हमारे सिरपर तुम पवित्र फूल चढ़ाते हो कि, अपवित्र फूल चढ़ाते हो! तो पुजारी नियुक्त करनेवालेको ही यह विश्वास होना चाहिए कि यह पवित्रतासे पूजा करेगा! और देखो,

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्—ब्रह्मज्ञानकी यह महिमा है कि न कर्मसे उसकी उन्नत्ति होवे, न कर्मसे अवनति होवे। तो ऐसी दशामें किसीको पहुँचा देना और फिर उससे बुरे कर्म होवें तो यह विश्वास हो जाना चाहिए कि यह बुरे कर्म नहीं करेगा—ऐसा सदाचारका अभ्यास जिसके जीवनमें है, सद्भावका अभ्यास जिसके जीवनमें है, शान्ति-समाधिका अभ्यास जिसके जीवनमें है उसको इसका दान किया जाता है।

इसका उपदेश कौन करे जो सफल होवे? बोले—बाँझ न होवे; उसके लिए अवर शब्दका प्रयोग किया—**न नरेण अवरेण**। यदि अवर मनुष्य, अश्रेष्ठ मनुष्य, कनिष्ठ मनुष्य, स्वयं पाप-पुण्य-राग-द्वेषके चक्करमें फँसा हुआ मनुष्य इसका उपदेश करेगा तो उपदेश समर्थ नहीं होगा; उपदेशमें सामर्थ्य आनेके लिए उपदेष्टाका वर नर होना आवश्यक है।

वर कौन होता है? वर उसको कहते हैं जो वरणीय होवे; कन्या जिसको वरण करती है वह वर होता है। वर कौन है? कि बोले भाई जो वरसे एक होवे सो वर। वर

कौन है ? कि **वरेण्य सविता** जो देवताओंका भर्ग है, वह ईश्वर जिसका गायत्री मन्त्रसे ध्यान करते हैं वह है वरेण्य परमात्मा। जो उस परमात्माको जानकर **तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्** उससे एक हो गया है, जिसने अपने तादात्म्यसे उसका अनुभव कर लिया है, अविद्या निवृत्त होनेसे जो उससे एक हो गया है, वही वर नर है। जो सबके वर परमात्मासे एक सो वर। माने वर मनुष्य यदि उपदेश करे तब विद्या अज्ञानकी निवृत्तिमें समर्थ होती है। और जो ऐरे-गैरे दिन भर तत्त्वमसि बोलते रहते हैं—जिज्ञासु आया तो बोले कि तुम ब्रह्म, हम ब्रह्म और जब उपदेशका समय बीत गया तब बोले कि भाई आजकल हमें बड़ा दुःख है, आजकल हम बड़े दुःखी हैं और हमारा एक दुश्मन है उसको कैसे नीचा दिखावें, झूठ बोलकर भी यह काम कैसे बने; रिश्वत देकर भी यह काम कैसे बने—उनसे ब्रह्मज्ञान नहीं होता। यदि उपदेश-कालमें तो ब्रह्म और उपदेशके कालानन्तर कालमें बिल्कुल जीव तो दूसरा जो जिज्ञासु होगा उनके सामने वह यही न कहेगा कि जब हमारे उपदेश करनवाले ही पाप-पुण्यके चक्करमें हैं राग-द्वेषके चक्करमें हैं, सुख-दुःखके चक्करमें हैं, शुभ-अशुभके चक्करमें हैं, तो हम हैं तो क्या हुआ! कोई उनसे बोले कि महाराज, आज आपका चेहरा उदास क्योंहैं ?तो बोले—क्या करें, प्रारब्ध कर्म भोग रहे हैं। तत्त्वज्ञानीकी स्वदृष्टिमें प्रारब्ध नहीं होता—जो चेले लोग पूर्वजन्म, उत्तर-जन्म, वर्तमान-जन्म मानते हैं वे शिष्य लोग गुरुके जीवनमें प्रारब्धकी कल्पना करते हैं। महन्तजीसे जाकर पूछा कि आपके पास इतना धन है, इतनी समृद्धि कैसे? बोले भाई, क्या करें पूर्व-जन्मका, प्रारब्धका जो फल है वह भोगना ही पड़ता है। कि महाराज, आपका पूर्व-जन्म था? कि अरे तुम तो ब्रह्म हो बाबा, तुम्हारा न पूर्व-जन्म, न उत्तर जन्म, यह प्रारब्ध लेकर कहाँ से बैठ गये? हाँ, शिष्यजी से किसीने पूछा कि ज्ञानीजी के पास समृद्धि कहाँसे, बोले यह सब प्रारब्ध है। तो शिष्यकी दृष्टिसे तो प्रारब्ध हो सकता है लेकिन, जहाँ गुरुने स्वयं ही अपनेपर प्रारब्ध आरोपित कर रखा है तब पूर्व-जन्म भी आरोपित कर रखा है, कर्तृत्व-भोक्तृत्व भी आरोपित कर रखा है, जीवत्व भी आरोपित कर रखा है—जीव न होता तो कर्म कहाँसे होते और जब कर्म है तो कर्त्तापन-भोक्तापनके बिना कहाँ होगा? तत्त्वज्ञानीके प्रारब्ध नहीं होता, उसके पूर्वजन्म, उत्तरजन्म, वर्तमान-जन्म नहीं होता। तो जिज्ञासुके प्रारब्धसे उसका शरीर होता है और सो भी जिज्ञासु लोग ऐसी कल्पना करते हैं—तत्त्वकी दृष्टिमें तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा के सिवा दूसरा कोई है ही नहीं, न जीव है न जगत् है।

तो वर मनुष्यका अभिप्राय क्या हुआ कि यह ब्रह्ममें जो 'वर' है न, उसीको

वर कर दिया—'वर' माने ब्रह्मसे एकत्व-प्राप्त जो पुरुष है। **भव बारिधि मृग तृषा समाना। अनुछिन यह भासत नहिं आना।** वर वह है जो कहता है कि यह प्रतीयमान प्रपञ्च मृगतृष्णाके जलके समान है और नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्म-तत्त्वके सिवाय और कुछ है ही नहीं। तो वर मनुष्य इसका उपदेष्टा चाहिए। यदि 'अवर' मनुष्य—माने दूसरे नम्बरका आदमी जो दीनोंमें है, दासोऽहं में है, जो प्रारब्धमें है, कर्त्तामें है, भोक्तामें है, पापी-पुण्यात्मा, सुखी-दु:खी, रागी-द्वेषी, संसारी, परिच्छिन्नसे तादात्म्य करके अज्ञानवश बैठा हुआ है वह यदि उपनिषद्‌का उपदेश करे तो **सुविज्ञेय** यह परमात्मा सुविज्ञेय नहीं है—सुगमतासे इसका विज्ञान नहीं हो सकता।

श्रीशङ्कराचार्य भगवान्‌ने इस नरेण अवरेणका अर्थ किया है—**अवरेण हीनेन प्राकृत बुद्धिना इत्येतत्** जिसकी बुद्धि सर्व-साधारण सरीखी है। यह प्राकृत-बुद्धि क्या होती है? आनन्द गिरिमें जो शांकर-भाष्यकी टीका है, इसकी व्याख्या नहीं है, पर एक गोपाल यातीन्द्र हैं, उन्होंने 'प्राकृत-बुद्धिना'की व्याख्या की है। कठोपनिषद् पर बीस-तीस प्रकारकी संस्कृत टीकाएँ मिलती हैं। तो 'प्राकृत बुद्धिना'का अर्थ इस प्रकार किया है कि अवर मनुष्य माने दो नम्बरका आदमी। एक नम्बरका मनुष्य तो वह है जो अपनेको अद्वितीय, अविनाशी परिपूर्णतम, प्रत्यक्-चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्व—एक जाने; और दो नम्बरका कौन? कि प्राकृत-बुद्धिवाला। प्राकृत बुद्धि क्या कि प्रकृतिके जो विकार हैं—देह, इन्द्रिय, बुद्धि, प्राण, मन, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-त्रिवित्करणसे जो बनता है सो, पञ्चीकरणसे जो बनता है सो, तीन अवस्थामें जो रहता है सो, जो बनता-बदलता-बिगड़ता है सो—ये सब प्रकृतिके विकार हैं—इनमें जिसकी बुद्धि अटकी हुई है कि "यह मैं हूँ और यह मेरा है" उसका नाम 'अवर' प्राकृत-बुद्धि—दो नम्बरका मनुष्य है।

यदि वह अवर पुरुष उपदेश करे कि तुम ब्रह्म हो तो सुननेवालेकी समझमें नहीं आवेगा, बड़ी कठिनाई पड़ेगी—**सुविज्ञेय**। क्योंकि? **कि-यस्मात् बहुधा चिन्त्यमानः**—क्योंकि परमात्माका लोगोंने बहुत प्रकारसे चिन्तन किया है। जब बुद्धि तत्त्वमें प्रवेश ही नहीं करती है तो अस्ति-नास्तिका संशय बना ही रहेगा, कर्ता अस्ति कि अकर्ता अस्ति? शुद्ध अस्ति कि अशुद्ध अस्ति? **बहुधा चिन्त्यमानः**—एतरेय उपनिषद्‌के प्रथम अध्यायके अन्तमें आत्माके सम्बन्धमें कितने विकल्प हैं, इसकी चर्चा स्वयं भगवान् भाष्यकारने की है। कोई कहते हैं कि **अस्ति आत्मा**—आत्मा है; कोई कहते हैं **नास्ति आत्मा**—आत्मा नहीं है; कोई

कहते हैं **अस्ति च नास्ति च**—है भी और नहीं भी है; कोई कहते हैं **स्यात् अस्ति स्यात् नास्ति**—शायद है, शायद नहीं है; कोई कहते हैं नास्ति नास्ति—एकदम नहीं है।

चार्वाक कहते हैं—देह ही आत्मा है। कोई कहते हैं इन्द्रिय ही आत्मा है। कोई कहते हैं मन-ही आत्मा है। कोई कहते हैं प्राण-ही आत्मा है। कोई कहते हैं विज्ञान ही आत्मा है। कोई कहते हैं आनन्द ही आत्मा है। कोई कहता है कि आत्मा कर्ता होने से पाप-पुण्यसे ग्रस्त है। कोई कहते हैं कि आत्मा अकर्ता होने से पाप-पुण्यसे ग्रस्त नहीं है। कोई कहते हैं आत्मां परिच्छिन्न होनेसे आवागमनवाला संसारी है। कोई कहते हैं आत्मा अपरिच्छिन्न होने से आवागमनवाला नहीं है; उसमें जन्म-मृत्यु, नरक-स्वर्ग आदि नहीं है, क्योंकि वह अद्वितीय, शुद्ध अपरिच्छिन्न है।

तो—**बहुधा चिन्त्यमानः**—भिन्न-भिन्न महात्माओंने भिन्न-भिन्न प्रकारसे इसका चिन्तन किया है और भिन्न-भिन्न कक्षामें जो भ्रान्तियाँ होती हैं उनके निवारणका प्रयत्न किया है। चा ककका भी दर्शन-शास्त्रमें उपयोग है। क्या उपयोग है? बोले—किसीने कहा कि हम तो अपने बेटेके लिए मर जायेंगे, अपनी पत्नीके लिए मर जायेंगे, धनके लिए मर जायेंगे—माने छठे कोषमें (इसको उपनिषद्में छाठा कोष बोलते हैं) यदि किसीकी अत्यन्त आसक्ति है तो उसको यह समझाना कि तुम देह हो पैसेके लिए मत मरो, घरके लिए मत मरो, स्त्री-पुत्रके लिए मत मरो—खा-पीकरके अपनेको जरा स्वस्थ रखो। पैसेके लिए इतना काम करते हैं कि बीमार पड़ जाते हैं। तो देखो चार्वाककी जरूरत है न कि पहले दूध-दही खाकरके तब काम करो, अपनेको बीमार करके तब काम मत करो।

तो चार्वाककी जरूरत है; इसी तरह सब दर्शनोंकी आवश्यकता होती है और भिन्न-भिन्न स्तरपर भिन्न-भिन्न प्रकारकी भ्रान्तियोंको दूर करनेमें वे काम आते हैं। तो महात्माओंने बहुत प्रकारसे इसका चिन्तन किया है और उपनिषदोंमें इन सबका बीज मिलता है, यह नहीं कि चार्वाक सिद्धान्तका बीज उपनिषदोंमें नहीं हो—

न वा अरे प्रेत्य संज्ञा अस्ति—'अरे मरकर व्यक्तिकी संज्ञा नहीं रहती'—यह चार्वाक-दर्शनका बीज है। इसी प्रकार शून्यका भी वर्णन है, लोकातीत-गमनका भी वर्णन है, बढ़ने-घटनेका भी वर्णन है; वैकुण्ठ-गोलोकमें जाने-आनेका वर्णन है, स्वर्ग-नरकमें जाने-आनेका वर्णन है, पापी-पुण्यात्मा होने-न-होनेका वर्णन

है। तो इसमें कौन-सी बात किस कक्षामें है और अपरिच्छिन्न जो ब्रह्म है उसको स्पर्श करनेवाली कौन-सी बात है—यह बात तो पता होनी चाहिए न! जिसकी बुद्धि अपरिच्छिन्न ब्रह्म-तत्त्वसे पहले ही कहीं अटक गयी वह वेचारा जिज्ञासुको क्या बतायेगा? जबतक जिज्ञासुको अनुभवी गुरु न मिले तबतक उसको ज्ञान होगा ही नहीं क्योंकि चार-कोटियोंमें ही प्रायः लोग भटक जाते हैं—

अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः।
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव बालिशः॥

(माण्डूक्य कारिका ४.८३)

अर्थात् आत्मा है, नहीं है, है भी और नहीं भी है तथा नहीं है-नहीं है-इस प्रकार क्रमशः चल, स्थिर, उभयरूप और अभावरूप कोटियोंसे मूर्ख लोग परमात्माको आवृत करते हैं।

आत्माका बहुत प्रकारसे चिन्तन किया हुआ है, इसलिए जबतक उपदेश करनेवाला अनुभवी गुरु न मिले तबतक ज्ञान नहीं हो सकता। यजुर्वेद संहितामें एक मन्त्र आता है—

तदपश्यत् तदभवत् तदासीत्।

उसको जाना—तद्‌अपश्यत्, तद्‌अभवत्—वही हो गया; क्योंकि तदासीत् वही था। बोले—असम्भव! जिसको जानेंगे वही कैसे हो सकते हैं? हम घड़ा जानते हैं तो घड़ा नहीं हो जाते हैं, हम हाथी जानते हैं तो हाथी नहीं हो जाते हैं। फिर ब्रह्मको जानते हैं तो ब्रह्म कैसे हो सकते हैं? तो बोले-ब्रह्मके सम्बन्धमें यह विचित्र बात इसलिए हो गयी क्योंकि जाननेवाला पहलेसे ही ब्रह्म था—**तदासीत्**। वेदका अर्थ जाननेके लिए अनुभवी गुरु चाहिए। **आचार्याद्ध्येव विदितं विद्या साधिष्ठं प्रापत**—श्रुति कहती है कि आचार्यसे जानी हुई जो विद्या है वही जिज्ञासुको ठीक-ठीक प्राप्त होती है और आचार्यसे प्राप्त न हो और अपने मनसे कुछ ऊटपंटाग सोचने लगें तो मिलेगा क्या? बोले—स्टडी कर रहे हैं! कि कहाँ? कि पुस्तकालयमें बैठकर! बाबा जिस पदका जो अर्थ तुम्हें मालूम है उससे अधिक किताब पढ़नेसे तुम्हें कैसे मालूम हो जायेगा? जिस पदका जो संकेत तुम्हें बताया हुआ है वही जानोगे।

एक अक्षर तुम कोई ऐसा बताओ जो तुम्हें बिना किसीके बताये मालूम पड़ा हो-अ,आ, इ, ई, क, ख, ग, घ-कोई भी अक्षर वर्णमालाका बिना किसीके बताये आप एक अक्षर भी पहचानते हैं क्या? अच्छा, इसका नाम आँख है, इसका

नाम नाक है, यह कान है। क्या अपने-आप ही आपने बचपनमें सीख लिया यह पदार्थको देखकरके पदका निश्चय और पदके द्वारा पदार्थका निश्चय—यह जो पद और पदार्थका सम्बन्ध है—यह औत्पत्तिक है, दोनोंका सम्बन्ध औत्पत्तिक है। इसलिए ज्ञान कराना पड़ता है। ज्ञान अर्थात् शब्द और अर्थका सम्बन्ध।

जैसा कि आप यह समझते हैं कि हम पुस्तकालयमें बैठकर और चोरी-चोरीसे अपरिच्छिन्न ब्रह्मको जान लेंगे वैसा श्रुति नहीं मानती। श्रुतिकी स्पष्ट घोषणा है कि—**आचार्यवान् पुरुषो वेद**—आचार्यवान् पुरुष ही इसको जानता है।

ना वेदवित् मनुते तं बृहन्तम्।

जो अवेदवित् है—वेदके परम तात्पर्यको जो नहीं जानते हैं—वे परब्रह्म परमात्माको नहीं जान सकते। **त्वं तु औपनिषद पुरुषं पृच्छामि**—हम उपनिषद् प्रतिपाद्य जो पुरुष है उसके बारेमें प्रश्न कर रहे हैं।

भौतिक विज्ञान जो है सो तो ज्ञानसे विज्ञान है। ज्ञानका अर्थ है कि पहले इन्द्रियोंसे हम बाहरके पदार्थोंका अनुभव कर लेते हैं और उसके बाद उनके बारेमें निश्चय करते हैं। भले ही दूरबीनसे करें, खुर्दबीनसे करें, रसायन बनावें, कुछ करें। बाहरके पदार्थोंका ज्ञान तो इन्द्रियोंसे पहले हम कर लेते हैं फिर निश्चय करते हैं। परन्तु आत्माके सम्बन्धमें जो ज्ञान है- ज्ञान-स्वरूप जो आत्मा है वह इन्द्रियोंके द्वारा कहाँ जाना जायेगा? ज्ञान-जन्य ज्ञान, ऐन्द्रियक-ज्ञान-जन्य आत्माका ज्ञान नहीं होता। इसके लिए अवर नर नहीं चाहिए, वर चाहिए माने जो वरेण्य परब्रह्म परमात्मा है उससे जो अपने एकत्वको जान चुका है उसके द्वारा यह बात मालूम पड़ेगी।

'अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति'—अनन्यप्रोक्तोऽनन्येन अपृथग्दर्शिना आचार्येण प्रतिपाद्यब्रह्मात्मभूतेन प्रोक्ते उक्ते आत्मनि गतिरनेकधास्ति नास्तीत्यादि। (शांकरभाष्य)

जो अपने आपको निःशंक ब्रह्म जानता है वह अनन्य है। और जो थोड़ी देरके लिए ब्रह्म हो जाता हो और बादमें न रहता हो, बादमें तो पापी-पुण्यात्मा, रागी-द्वेषी, सुखी-दुःखी, छली-कपटी, बादमें तो प्रारब्धवान् हो गया, कर्मी हो गया, भोक्ता हो गया, उसका तो जो वह ब्रह्मज्ञान है वह ब्रह्मज्ञान केवल वाचिक है, अनुभव नहीं है। जो अनन्य है-माने अपनेको ब्रह्मसे अन्य जानता ही नहीं, अपृथक्दर्शी आचार्य है, जो जानता है कि मैं ही ब्रह्म हूँ, प्रतिपाद्य-ब्रह्म ही जिसका

आत्मा है जब वह इस ब्रह्मज्ञानका उपदेश करता है तब—**अनेकधास्ति नास्ति इत्यादि लक्षणा चिन्ता गतिरत्रास्मिन् आत्म नि नास्ति न विद्यते** फिर यह शङ्का नहीं होगी कि आत्माको सत् कहें कि आत्माको असत् कहें, कि आत्माको सदसत् कहें, कि कर्ता कहें कि अकर्ता कहे, भोक्ता कहें कि अभोक्ता कहें; शुद्ध कहें कि अशुद्ध कहें, लोकान्तरगामी संसारी कहें, कि असंसारी कहें, परिच्छिन्न कहें कि अपरिच्छिन्न कहें—इसको क्या समझें, क्या जानें क्या अनुभव करें? जब छाती ठोककर बोलने वाला आचार्य अनुभवी, 'अयमात्मा ब्रह्म, अहं ब्रह्मास्मि'—इस प्रकार अनुभव करनेवाला आचार्य जब तुमको मिलेगा तब वह तुमको अनुभव करा देगा और तुम्हारे मनमें कोई विकल्प नहीं रहेगा—क्योंकि **सर्वविकल्पगतिप्रत्यस्तमितत्वादात्मनः**—अपने आत्माके सम्बन्धमें असलमें किसी प्रकारका विकल्प नहीं है। **निर्विकल्पत्वादात्मनः**—आत्मा जो है वह निर्विकल्प है। अपने होनेके बारेमें क्या कोई विकल्प है? क्या हम सुषुप्तिके समय कर्त्ता रहते हैं? सारा कर्त्तापन क्या स्वप्न और जाग्रत्में ही नहीं छूट जाता है? क्या शुद्ध साक्षी कहीं भोक्ता होता है? देश, काल-वस्तुका साक्षी कहीं परिच्छिन्न होता है? नारायण! तो जब तत्त्वज्ञ, अनुभवी, श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ शान्ति-परायण गुरु आत्म-तत्त्वका उपदेश करता है तो सारे विकल्प शान्त हो जाते हैं।

अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्तिका अर्थ चार प्रकारसे श्रीशङ्कराचार्य भगवान्ने किया है। वह अगले प्रवचनमें है।

प्रवचन-२

यही अपना आत्मा है, यही वक्ता जो बोल रहा है, यही द्रष्टा जो देखता है, यही श्रोता मन्ता जो सुनता है, मनन करता है—यही अपना आत्मा है, दूसरा कोई नहीं है। **बहुधा चिन्त्यमानः** महात्माओंने जब चिन्तन करना शुरू किया तो जैसे जिस कोणसे किसी चीजकी फोटो उतारी जाती है उसके हिसाबसे उसकी फोटो जुदा-जुदा आती है। कोई आगेसे, कोई पीछेसे, कोई ऊपरसे, कोई नीचेसे ऐसे ही बुद्धिकी जैसी स्थिति होती है उसके अनुसार आत्माके सम्बन्धमें वर्णन करने लग जाते हैं! तो कोई कहते हैं कि आत्मा है परन्तु कर्त्ता है, पापी-पुण्यात्मा है; कोई कहते हैं आत्मा है परन्तु छोटा है और कोई कहते हैं आत्मा है, परन्तु बहुत बड़ा है—बहुधा चिन्त्यमानः। इसका फल यह हुआ कि अपने बारेमें ही आदमी संशयग्रस्त हो जाता हैं कि मैं कैसा हूँ-मैं हूँ-इसमें संशय नहीं है, परन्तु मैं कैसा हूँ—कर्त्ता हूँ कि अकर्त्ता हूँ; शुद्ध हूँ कि अशुद्ध हूँ; परिच्छिन्न हूँ कि अपरिच्छिन्न हूँ-

इस बारेमें बहुत सारी बातें बुद्धिके सामने आ जाती हैं। तो बोले कि किसीने आकर कुछ कहा, किसीने आकर कुछ कहा, किसीने आकर कुछ कहा। तो ये अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग कभी-कभी एक शब्दका प्रयोग करते हैं—कन्फ्यूजन, वही हो जाता है। हमको तो ध्वनि सुननेमें कन्फ्यूजन शब्द 'कनफोड़' शब्दके जैसे लगता है। तो आदमीकी बुद्धि चकरा जाती है—**न एष सुविज्ञेयः**। यही कारण है कि इसको आसानीसे आदमी नहीं समझ पाता है। जब इसको 'वर' पुरुष बोलता है तब यह समझमें आता है।

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयः—जो अवर नर होता है वह भूलमें हो सकता है—भ्रममें हो सकता है, बतानेमें प्रमाद कर सकता है, विप्रलिप्सा-उसके मनमें ठगनेकी इच्छा हो सकती है और करणापाटव दोष उसमें हो सकता है—माने सचमुच वह इस वस्तुको ग्रहण न कर पाता हो! अरे, कोई मामूली आदमी ही आकर ऐसे बता दे कि तुम शुद्ध हो कि अशुद्ध हो, तो कैसे मान लोगे? देखो, कहीं भी तुम जाओ और पूछो कि हमारा स्वरूप क्या है—यह हँसीकी बात नहीं बताता हूँ—आपलोग भले ही दाढ़ी-मूँझवाले होवें या अपनेको पुरुष मानते होवें, वृन्दावनमें आप चले जाओ, तो वे बता देंगे कि आप स्त्री हो। अब आप ध्यान करो अपने मनमें कि हम सोलह वर्षकी सुकुमारी कुमारी हैं, हम साड़ी पहने हुए हैं, माँग काढ़े हुए हैं और बहुत चिकने-चुपड़े हैं और श्याम-सुन्दरसे व्याह करनेके लिए जा रहे हैं। बोलेंगे—यह तुम्हारा असली स्वरूप है जिसे तुम भूल गये हो। अयोध्यामें चले जाओ और पूछो कि मेरा क्या स्वरूप है महाराज, मैं क्या हूँ, तो बोलेंगे—तुम रामचन्द्र भगवान्‌के दास हो—ऐसे! और हनुमानजीके दास होवें तो ध्यान करो कि मैं नन्हा-सा बन्दर हूँ, हनुमानजीके पीछे रहता हूँ; काशीमें चले जाओ तो बता देंगे कि तुम शंकरजीके गण हो। तो यह तो नाम-रूपका अध्यारोप होता है अपने ऊपर, इस नाम-रूपके समूचे अध्यारोपका तिरस्कार करके-न तुम सखी हो न सखा; न तुम दास हो न दासी, तुम अणु हो न विशाल; सम्पूर्ण नामोंका और सम्पूर्ण रूपोंका निषेध करके तुम्हारे असली स्वरूपको बतानेवाला कहाँ मिलेगा?

देखो, एक आदमी दिन-रात तुमको बताता है कि वह आदमी बहुत बुरा है और वह आदमी बहुत अच्छा है। आप थोड़ा-सा ध्यान दो—एक महात्मा हैं, आप उसके पास जाते हो और जब जाते हो तब वह किसीकी तारीफ करता है कि वह बड़ा गुणवान् है, पुण्यात्मा है और फिर कहता है कि वह बड़ा पापी है, निन्दित है,

दुष्ट है और वही महात्मा जब कथा करने बैठता है तब कहता है कि आत्मा नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्त है! तब आप कैसे यह बात मान सकते हो कि उस महात्माको शुद्ध आत्माका ज्ञान है जो पोथीपर बैठता है तब तो आत्माको शुद्ध-बुद्ध-मुक्त बताता है और जब अपने कमरेमें बैठता है तब आदमीको पापी-पुण्यात्मा बताता है। अरे बाबा, आत्मा तो वही है जिसको तुम भरी सभामें कहते हो कि आत्मा न पापी है न पुण्यात्मा है, न रागी है न द्वेषी है, न सुखी है न दुःखी है—यह परिच्छिन्न नहीं है, सबके शरीरमें एक है। मनुष्यका वास्तविक स्वरूप तो वही है। तो जब तुम घरमें बैठकर बात करते हो तब तुम स्वयं उस शुद्ध आत्माको नहीं जानते हो, नहीं मानते हो, उसको धारण नहीं करते हो तो, तुम्हारे कहनेसे कोई अपने आत्माको शुद्ध-बुद्ध-मुक्त कैसे मान लेगा? तो कहनेका अभिप्राय क्या हुआ कि वह अवर नर है, दो नम्बरका आदमी है; वह असलमें 'अपर' (Upper) क्लासमें नहीं है लोअर (Lower) क्लासमें है, अवर क्लासमें है। अवर माने लोवर क्लास—वह लोवर क्लासका आदमी है, अवर है। तो गुण-दोषका आरोप करके कि यह अच्छा यह बुरा वह जीवात्माको कहाँ देख रहा है—वह ईश्वरको कहाँ देख रहा है, वह परब्रह्म परमात्माको कहाँ देख रहा है, उसकी दृष्टि तो गुण-दोषपर लगी हुई है, परिच्छिन्न पर लगी हुई है। इसके लिए वर नर चाहिए। वर नर कौन है? कि जिसको वर ही वर दिखायी पड़े। वर माने-**तत् सवितुः वरेण्यं**—वरेण्य तत्त्वको जानना, देखकर अनुभव करके जो उस वरेण्यसे एक हो गया वह वर है।

अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति—कहो कि बाबा हम कहाँ जायें वर नर ढूँढने, अपने आप ही कहीं मिल जाय तो ठीक है। तो देखो, रेलमें जाते हैं कभी-कभी और रातको दो-तीन बजे उतरना होता है, तो गार्डसे कह देते हैं कि हमको जगा देना, क्योंकि जो खुद जगा है वही जगा सकता है। नींद समय पर अपने-आप नहीं टूट जाती है। बोले कि हम खुद नींद तोड़नेका प्रयास करेंगे अब सोचो भला कि जो खुद नींदमें होगा वह नींद तोड़नेका प्रयास क्या करेगा? यह अज्ञान-निद्रा जिसमें तुम शयन कर रहे हो और जिसमें यह मेरा-यह तेरा, यह मैं, यह तू हो रहा है यह न तो स्वयं अपने आप टूटेगी और न कोई अवर नर जो इसी निद्रामें सो रहा है इसको तोड़ सकता है। यह आध्यात्मिक शान्ति अभिनयकी वस्तु नहीं है, इसका अभिनय नहीं हो सकता, ऐसा निर्णय किया है शास्त्रमें! यदि किसीको बताना हो कि मैं शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा है और कोई जाकर रंग-मंचपर बैठ जाये और ऐसे बोले कि **शुद्धोऽहं-बुद्धोऽहं-मुक्तोऽहं**—तो शास्त्रकी दृष्टिसे उसको दम्भ

बोलेंगे, दम्भ। शान्त-रस दृश्य नहीं होता है, वह निर्विकार है, उसको आँख मटका करके या नाक फुला करके या ठुड्डी मटकाकर नहीं दिखाया जा सकता—वह (शान्त-रस) निर्विकार-रस है, निर्विकार। तो, यह अपनी नींद हम खुद तोड़ लेंगे, नींदमें यह कोशिश नहीं की जा सकती। उसको तोड़नेवाला कोई दूसरा चाहिए।

तो **अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति**—जबतक अन्य-प्रोक्त नहीं होगा, जब तक जगानेवाला गुरु नहीं होगा तबतक अज्ञान निद्रा टूटेगी नहीं। तुम अपनेको पापी-पुण्यात्मा मानकर रो रहे हो और जबतक कोई यह नहीं कहेगा कि तुम निष्पाप हो, निष्पुण्य हो, तुम कर्म-सम्पर्कसे रहित हो; तुम अपने को रागी-द्वेषी मानकरके व्याकुल हो रहे हो और जबतक कोई तुमको यह नहीं समझावेगा कि तुम राग-द्वेषसे मुक्त हो-अरे कितनोंसे राग करके छोड़ दिया, कितनोंसे द्वेष करके छोड़ दिया! दुनिया बदल रही है—कल खाते समय कुछ अच्छा लगा, परसों खाते समय कुछ अच्छा लगा—कहीं याद है उसकी? इस संसारके सारे विषय ऐसे ही हैं—जैसे रोजके व्यञ्जन खाते समय अच्छे लगते हैं और बादमें बिल्कुल भूल जाते हैं। तो, जैसे जीभका व्यञ्जन होता है वैसे ही कानका व्यञ्जन होता है, वैसे ही नाकका व्यञ्जन होता है, वैसे ही आँखका व्यञ्जन होता है, वैसेही त्वचाका व्यञ्जन होता है—इसमें कहाँ राग है, कहाँ द्वेष है? मतलब बिगड़नेपर दुश्मन दोस्त हो जाता है। असलमें न कोई दोस्त है न दुश्मन है, ये सब राजनीतिक-कूटनीतिक खेल चल रहे हैं—दुनियाका सारा हिसाब मतलबको लेकरके चलता है, इस बातको समझना चाहिए। जबतक तुमको कोई यह नहीं बतावेगा कि तुम नन्हे-मुन्ने नहीं हो, तुम तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म हो, तुम्हारा स्वरूप छोटा-मोटा नहीं है, तुम परमात्माके स्वरूप हो, अंश हो, जो सच्चिदानन्द परमात्मा है वही सच्चिदानन्द तुम हो, तबतक गति नहीं है। बिन्दु और सिन्धुमें कोई अन्तर नहीं है-

बिन्दु में सिन्धु समान सुनि कोई अचरज ना करे।
हेरनहार हेरान रहिमन आपहिं आपमें॥

तो **अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र-नास्ति**—जबतक अन्य उपदेश करके, प्रवचन करके इसको न बतावे तबतक—*अत्र आत्मनि गति प्रवेश-अनुभूति न अस्ति*—इसमें गति, इसमें पहुँच, इसमें प्रवेश नहीं हो सकता।

इस 'अनन्य प्रोक्ते' शब्दका चार अर्थ शंकराचार्य भगवान्ने अपने भाष्यमें किया है।

अनन्येन अपृथग्दर्शिना आचार्येण प्रतिपाद्यब्रह्मात्मभूतेन प्रोक्त उक्त आत्मनि

गतिरनेकधास्ति नास्तीत्यादि लक्षणा चिन्ता गतिरत्रास्मिन् आत्मनि नास्ति न विद्यते। यदि अभेददर्शी सच्चा आचार्य मिल जाय और वह यह उपदेश करदे कि तुम्हारा जो चिन्मात्र साक्षी स्वरूप है वह निर्विकार है, वह न कर्ता है न भोक्ता है, देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न है, वह आने-जानेवाला संसारी नहीं है, तो फिर अपने बारेमें कि मैं शुद्ध हूँ कि अशुद्ध, मैं कर्ता हूँ कि अकर्ता—यह सारी चिन्ता जो है सो अपने आप मिट जाती है, क्योंकि आत्मामें अपने बारेमें कोई विकल्प नहीं है।

(२) दूसरा अर्थ उन्होंने किया कि **अथवा स्वात्मभूतेऽनन्यस्मिन् आत्मनि प्रोक्तेऽनन्यप्रोक्ते गतिः अत्रान्यावगतिर्नास्ति ज्ञेयस्यान्यस्य अभावात्।** यदि यह बात बिलकुल समझा दी जाये कि आत्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है तो फिर अन्य ज्ञेयका अभाव होजानेके कारण उसमें कोई गति यानी अवगति नहीं रहती। जो जिसका प्रकाशक होता है प्रकाश्य उससे भिन्न नहीं होता; जो जिसका अधिष्ठान होता है अध्यस्त उससे भिन्न नहीं होता; जो चीज जिसको मालूम पड़ती है वह उससे जुदा नहीं होती—यह क्या लीला है इस बातपर आदमी गम्भीरतासे विचार ही नहीं करता है।

यह घड़ी कहाँ है? घड़ीमें है कि आँखकी पुतलीमें है कि कलेजेमें है? घड़ी हमको कहाँ मालूम पड़ रही है? अपने कलेजेमें मालूम पड़ रही है कि बाहर मालूम पड़ रही है? बोले कि बाहर मालूम पड़ रही है। हम कहते हैं कि यह बाहर आपको कहाँ मालूम पड़ रहा है? यह बाहर है, यह घड़ी है, यह इस समय आठ बज चुके हैं, यह आपको कहाँ मालूम पड़ रहा है? घड़ीमें कि मनमें? अच्छा, बाहर लाउड-स्पीकर है, बाहर किताब है—यह बात अपको कहाँ मालूम पड़ती है? बाहर मालूम पड़ती है कि मनमें मालूम पड़ती है? देखो, इसका नतीजा निकालो-कोई भी चीज आपको तब मालूम पड़ती है जब वह अपके भीतर होती है। आँख बन्द करनेपर भी घड़ी है ऐसा मालूम पड़ता है, बाहर है ऐसा मालूम पड़ता है, आठ बज चुके हैं ऐसा मालूम पड़ता है—आँख बन्द करने पर भी मालूम पड़ता है। तो जिस देशमें कल्पना है उसी देशमें बाहर मालूम पड़ता है; जिस देशमें कल्पना है उसी देशमें घड़ी मालूम पड़ती है, जिस देशमें कल्पना है आठका बजना मालूम पड़ता है—माने देश-काल-वस्तु तीनों आपको एक ही प्रयत्नमें मालूम पड़ते हैं। तो प्रतीयमान जो बाह्यदेश, प्रतीयमान जो बाह्यकाल, प्रतीयमान जो बाह्य वस्तु—वह प्रतीयमान आन्तर्देशमें, प्रतीयमान आन्तर्कालमें, प्रतीयमान आन्तर्वस्तुमें ही है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि इस प्रतीतिसे

अवच्छिन्न जो द्रष्टा है उससे पृथक् यह प्रतीति नहीं है अर्थात् तुमको अलग जो चीज मालूम पड़ती है वह तुमको जुदा नहीं है। कहो कि फिर भी यह ख्याल तो रहा ही कि हम शरीर हैं, तो बोले कि शरीर भी मालूम पड़ता है, शरीर देश मालूम पड़ता है, शरीरकी उम्र मालूम पड़ती है और ये जिस अन्त:करणमें मालूम पड़ते हैं, उस अन्त:करणसे अवच्छिन्न जो चैतन्यसे पृथक् न देश है, न काल है, न वस्तु है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि तुम स्वयं देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, अद्वितीय चेतन ब्रह्म हो।

तो जब यह बात उपदेश की गयी कि आत्मा अनन्य है तब यदि ऐसा न मालूम पड़ता हो तो अन्वय-व्यतिरेक की रीतिसे उसपर विचार कर लो। क्या? कि **ज्ञेयस्यान्यस्य अभावात्**—दूसरा कोई अन्य ज्ञेय पदार्थ है ही नहीं क्योंकि **ज्ञानस्य ह्येषा परानिष्ठा यदात्मैकत्व-विज्ञानम्**—ज्ञानकी यही परा निष्ठा है। इसमें हाथ नचाकरके नहीं बता सकते, इसमें मुँह हिलाकरके नहीं बता सकते, इसमें कमर नहीं हिल सकती, इसमें आँख नहीं हिल सकती। इसमें तो शरीर हिलानेका या जीभ हिलानेका जो मजा है वह नहीं आ सकता—यह निर्विकार आत्म-स्वरूप संविद् है। इसलिए जिन्हें स्थिरताका अभ्यास नहीं होता है उनको यह कठिन पड़ता है।

(३) अथवा अनन्ये आत्मनि प्रोक्ते संसार गतिर्वात्र नास्ति—यह तीसरा अर्थ है। तीसरा अर्थ क्या है कि जब इस आत्माका ज्ञान हो जाता है—तो संसारकी गति नहीं रहती। अब महाराज, सेठ-साहुकारोंको तो पैसेका ज्ञान होता है और वे समझते हैं कि हम इतने बड़े हैं, इतने बड़े हैं! और फिर यदि जरा हाथ भी जोड़ने लगें, सिर झुकाने लगें, तब तो अभिमानका कहना ही क्या! एक तो अभिमान यह कि हम इतने बड़े आदमी और दूसरा अभिमान यह कि हम विनयी कि पाँव छूते हैं-डबल अभिमानसे ग्रस्त हो जाते हैं। लोग कहते हैं कि हा-हा-हा, पैसा होनेपर भी सेठजी कितने विनयी हैं! इस (डबल) अभिमानको समझना मुश्किल है। वेदान्तके ज्ञानके बिना अभिमानकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती। **संसारगतिर्वात्र नास्ति**-माने ***नान्तरीयकत्वात्तद्विज्ञानफलस्य मोक्षस्य*** -जहाँ अपने आत्माको जाना वहाँ मोक्षरूप फल अलग नहीं रह जाता,मोक्ष अपना स्वरूप ही ज्ञात हो जाता है। माने मोक्ष पानेके लिए कहीं जाना, कुछ करना शेष नहीं रहता—*जो कबीरा काशी मरै तो रामहि कौन निहोरा*—काशीमें मरनेसे मुक्त हुआ तो रामने कौन-सी कृपाकी? जब मुक्तिके लिए गंगा किनारे ही जाना पड़ा, हिमालयमें ही

जाना पड़ा, हाथ ही जोड़ना पड़ा, लल्लो-चप्पो ही करनी पड़ी कि हमको मुक्ति दे दो, तो *रामहि कौन निहोरा?* रामने कौन-सी कृपा की? और कृपा करके मुक्ति देनेवाले जो होते हैं वे चाहें तो वापस भी ले सकते हैं। कैसे ? जैसे कि देखो, एक आदमीने गोदान किया। ब्राह्मणके घरमें गाय जब गयी, तब उसके घरमें भूसा नहीं था; तो उसने गायको खिलाया नहीं, अब यजमान गये ब्राह्मणके घरमें; बोले कि अरे गाय ले आये और इसको तुमने खिलाया नहीं। अब यह नहीं कि उसके खानेका वह बन्दोबस्त कर दे, यजमानका काम है कि खानेका बन्दोवस्त करे-पर वह तो ले आया गाय वापस पकड़ करके कि हम तुमको गाय नहीं देंगे।

असलमें, ये लोग देते-वेते कुछ नहीं हैं, केवल अभिमान थोड़ा बढ़ा लेते हैं। जिनके पास तालाब भरा है—पाँच करोड़ रुपया जिसके पास है, वह आदमी पाँच आनेका जब दान करता है तब वह चाहता है कि अखबारमें हमारा नाम छपे और लोग कहें कि यह बड़ा भारी दाता है। हमारे पास कई लोग ऐसे आते हैं जो पहले दिन कहते हैं कि नहीं-नहीं, हमारा नाम किसीको मालूम न पड़े; और दूसरे दिन कहते हैं कि महाराज, यह तो ऐसा है; और तीसरे दिन अपने आप ही गाँवमें दो-चार जनोंसे कह आते हैं; और चौथे दिन अखबारमें छप जाता है। यह व्यक्तित्वकी, अहंकारकी पूजा और अपने-आपको परमात्माके साथ एक करना—ये दोनों दो चीज हैं। देखो, भक्तिकी पुस्तक पढ़ो तो कैसे पढ़ो, यह आपको बताते हैं। सेठ जयदयालजी सत्सङ्गमें बताते थे कि कैसे पढ़ो। वे कहते—जब **वसुदेवसुतं देवं**—श्लोक पढ़ो तब ऐसे सोचो **वसुदेवसुतं देवं**—माने भगवान् बच्चे हैं; **कंसचाणूरमर्दनम्**—भगवान् किशोर हो गये; **देवकीपरमानन्दं** भगवान् द्वारिकामें विवाह आदिकी लीला कर रहे हैं; **कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्**—भगवान् उद्धवको, अर्जुनको ज्ञानोपदेश कर रहे हैं। मतलब यह कि श्लोकके उच्चारणके साथ-साथ भाव बनता जाय। एक सत्सङ्गी हैं—महात्मा हैं—वे बोलते हैं कि जितनी बार **शिवोऽहं** बोलो छाती थोड़ी ऊँची हो जाय।

देखो, यह ज्ञान ऐसी चीज है जिसमें न-आना न-जाना, न कोई विकार, न दुत्कार, न फटकार—इसमें संसारकी गति नहीं है। आत्माका ज्ञान और मोक्ष दोनों एक ही चीज है।

(४) अर्थ आचार्यने यह किया—**प्रोच्यमानब्रह्मात्मभूतेनाचार्येण अनन्यतया प्रोक्त आत्मनि**—जब अपनेको ब्रह्म जाननेवाला गुरु शिष्यको बताता है कि तू ब्रह्म है तो उसको ज्ञान होगा-ही-होगा; उसके अन्दर अज्ञान बना रहे, इसका कोई

कारण नहीं है; जैसे आचार्यने जाना कि मैं ब्रह्म हूँ वैसे शिष्य भी जानेगा कि मैं ब्रह्म हूँ—**भवत्येवावगतिस्तद्विषया श्रोतुस्तदस्म्यहमित्याचार्यस्येवेत्यर्थः।**

इस प्रकार एक ही शब्दका चार अर्थ श्रीशङ्कराचार्य भगवान्‌ने बताया—**एवं सुविज्ञेय आत्मा।** इस प्रकार आगमवेत्तामें एक प्रकारकी तरंग उठ गयी, बोधकी झलक उठ गयी। नाम क्या रखा जाये? बोले कि रख दो ब्रह्मानन्द।

देखो, एक तो किसी छोटी चीजमें, परिच्छिन्न वस्तुमें आपका अहं कोई कराये—देशसे परिच्छिन्न कि तुम एक इंचके सौवें हिस्से हो, कालसे परिच्छिन्न कि कालके नोकके बराबर तुम्हारा स्वरूप है; कोई बतावेगा—एक बार पैदा हुए, एक बार फिर मर जाओगे; कोई बतावेगा कि एक माशेका हजारवाँ हिस्सा तुम्हारा वजन है—ऐसे जैसे कोई चिन्गारी बनती है—चिन-चिन-चिन, ऐसे ही तुम हो (चिन्मस्तका अर्थ चिन्गारी है); अथवा कोई यह कहे कि तुम किसीपर विश्वास मत करो, श्रद्धा मत करो, वेद-वेदान्त मत मानो, गुरुशास्त्र मत मानो, अश्रद्धा उत्पन्न कर दे, तो आपके मार्गपर तो अवरोध हो गया—कुठाराघात हो गया। परन्तु वेदान्तका आचार्य ऐसे कुछ नहीं बता सकता; क्योंकि वेदान्त माने तो तत्त्वमस्यादि महावाक्योंका प्रतिपादन करनेवाला जो वेद-भाग है उस वेद-भागको, उपनिषद्‌को वेदान्त कहते हैं। जो विद्या हृदयमें अपरिच्छिन्नतात्मक बोधको उदित करती है उसको वेदान्त कहते हैं। तो यदि (वेदान्त विद्यामें) श्रद्धा ही कट गयी, विश्वास ही उठ गया और अपनेको तुम खुद मानते हो कि मैं बड़ा पतित हूँ, तब अब गुरु तुमको क्या बतावे? गुरु तो कहता है कि 'भाई, तुमने भगवान्‌का नाम लिया है तुम पतित नहीं हो, भगवान्‌का दर्शन किया है तुम पतित नहीं हो, भगवद्धाममें आये हो, तुम पतित नहीं हो, सत्सङ्गमें आये हो अब तुम पतित नहीं हो। मैं तो अपने पातित्यके कारण तुमको जो दुःख हो रहा था उससे तुमको मुक्त करने आया और तुमने अभिमान कर लिया कि नहीं मैं तो पतित ही हूँ, मैं क्या बताऊँ?''

ढोंग बड़ा भारी है—तुम खुद नहीं समझते हो तो दूसरोंके समझानेसे समझ लो! अगर सड़क पर तुम चल रहे हो और काई कहे कि ओ पतित! तो क्रोध आवेगा कि नहीं? गोरखपुरमें जब हम रहते थे तब वहाँ एक सज्जन थे, जिन्होंने अपना नाम 'अधम' रख लिया—कविता करते थे वे, तो कवितामें उन्होंने अपना नाम अधम रख लिया। अब वहाँ ऑफिसमें काम करनेवाले लोग उनको बोलें—ओ अधमाधम! कोई धमाधम बोले तो कोई अधमाधम बोले। तो वे चिढ़ने लगे

और वहाँसे उनका निकलना मुश्किल हो गया। यह जो लोग अपनेको पापी-पापी, दीन-हीन, पतित-पतित बोलते हैं, ये महाराज इसलिए ऐसा बोलते हैं कि लोग हमको अच्छा समझें और हमको विनयी, निरभिमानी समझें—अपनेको पतित और दीन-हीन समझनेके लिए नहीं बोलते हैं।

गुरु सीधे-सीधे कहता है कि तुम पतित नहीं हो, तुम दीन-हीन नहीं हो। जब खुद ही तुम अपना परिचय दोगे कि मैं मच्छर हूँ तो कोई तुमको शेर क्या बतलावेगा? अरे, भगवान्के स्वरूपमें स्थित, भगवान्के अंश तुम—जो सच्चिदानन्दघन भगवान्में सो तुममें, जो देश-काल-वस्तुके प्रभावसे मुक्त परमात्मा वही तुम्हारी स्थिति, तुम अपनेको यह क्या दीन-हीन मानकर बैठे हो? देखो, यदि अनुभवी आचार्यकी बात नहीं मानोगे तो क्योंकि **ह्यणीयानणु-प्रमाणादपि**-यह आत्मा अणु प्रमाणसे भी अणु है—अत्यन्त सूक्ष्मतम है यह आत्मा, **अतर्क्यः स्वबुद्ध्याभ्यूहेन केवलेन तर्केण**—इसलिए यदि तुम केवल अन्दाज लगा-लगा करके इसके बारेमें तर्क करोगे, कुतर्क करोगे, अपनी अक्ल लगाओगे, तो बाहरी वस्तुका सम्बन्ध जरूर जोड़ दोगे; क्योंकि तुम्हारी बुद्धिमें बाहरी चीजोंका सम्बन्ध जरूर हुआ हुआ है।

तुम कौन हो—यह पूछनेपर तुम क्या बताओगे? कि हम कलकत्तेके रहनेवाले हैं कि बम्बईके रहनेवाले हैं—यही न बतावोगे। बोले कि कलकत्ता-वलकत्ता हम नहीं पूछते हैं, हम पूछते हैं कि तुम कौन हो? बोले कि हमारे माँ-बाप अमुक जातिके हैं, हम बंगाली हैं, हम गुजराती हैं, हम महाराष्ट्रीयन हैं। भला बंगाली-गुजराती कोई जाति होती है? ये कोई जाति नहीं होती है, यह तो धरतीके सम्बन्धसे लगी है। यह कोई जाति थोड़े-ही है, जाति तो मनुष्य है, जाति तो गाय है, जाति तो भैंस है, जाति तो बकरी है। अरे भाई इस देहके भीतर जो है, उसपर जरा नजर जाने दो कि वह कौन-सा चिन्मात्र पदार्थ है, वह कौन-सी वस्तु है जिसके होनेसे सब मालूम पड़ता है, जिसके बिना कुछ मालूम नहीं पड़ सकता; वह चीज क्या है?

जब तुम अपनी बुद्धिसे अपने बारेमें तर्क-वितर्क करने लगोगे तब अपनेको क्या बतावोगे? वही न, जिसका संस्कार मनमें बैठा हुआ कि हम औरत हैं, कि हम मर्द हैं। बोले—भाई, तुम औरत-मर्द कैसे हो? कि हमारे नाकके नीचे बाल उगते हैं इसलिए हम मर्द हैं और इनके नाकके नीचे बाल नहीं उगते हैं, इसलिए ये औरत हैं। तो तुम्हारी पहचान क्या हुई? कि बाल। सो महाराज,

पाश्चात्य देशमें वह आपने सुना होगा कि एक दिन दो जने साथ-साथ जा रहे थे—एकको उमर छोटी थी और एकको जरा बड़ी थी। कोई तीसरा व्यक्ति उधरसे निकला। उसने पूछा—आपके पुत्र हैं ये? बड़े सुन्दर, बड़े योग्य मालूम पड़ते हैं। तो उन्होंने कहा ये हमारे पुत्र नहीं हैं पुत्री हैं। वे बोले—धन्य हैं आप कि ऐसी योग्य पुत्रीके पिता हैं। तो वे बोले—हम इनके पिता नहीं हैं इनकी माता हैं। है न? माने शक्ल-सूरत, पोशाक देखकरके तो आजकल माता-पिताका भी निश्चय नहीं हो सकता कि ये माता हैं, कि ये पिता हैं और इसीका अभिमान लिये लोग डोलते हैं कि हम इस माताके बेटे हैं, इस पिताके बेटे हैं।

फिर यह कहोगे कि हमने यह मन्दिर बनाया, यह कल-कारखाना बनाया, यह अस्पताल बनाया: हमने यह दान किया, हमने यह धर्म किया! अरे, जो तुमने दूसरोंका ठगा है वह थोडे ही याद है तुमको? हम साँची-साँची बताते हैं, दो टूक बताते हैं। एक दिन लिस्ट बनालो कि तुमने कितनी बार दान किया है, तो हम मान लेते हैं कि सब दान तुमको याद नहीं आवेगा, जो दो-चार रुपया किसीको दिया होगा, दस-बीस रुपया दिया होगा किसीको, तो वह सब भूल गया होगा, पर हजार, दो हजार रुपया किसीको यदि दिया होगा तो वह जरूर याद आ जायेगा; लेकिन किसीका हजार-दो हजार ठग लिया होगा, किसीको धोखा दिया होगा कभी, तो उसकी याद नहीं आवेगी। जो दूसरेकी जेब काटकर धर्मात्मा बने हो वह याद नहीं आवेगा भला! तो यह सब झूठा अभिमान है, इस चक्करमें बिलकुल नहीं पड़ना चाहिए। जो सच्चाई है भीतर, जो हक है, जो असलियत है,जो तत्त्व है, जिसपर स्थूल द्रव्यका असर नहीं है, कर्मका असर नहीं है, जिसपर वासनाका असर नहीं है, जिसपर अभिमानका असर नहीं है, समाधि और विक्षेपं जिसका कुछ नहीं बिगाड़ती और नरक और गोलोक दोनोंमें जो एक सरीखा रहता है वह पदार्थ अपना आत्मा है, न कहीं जाना पड़े, न कहीं समाधि लगानी पड़े, न करना पड़े, न चेला बनना पड़े, न धेला देना पड़े। पर बिना अनुभवीके केवल अपने संसारके संस्कारसे संस्कृत बुद्धिके द्वारा **स्वबुद्ध्याभ्यूहेन केवलेन तर्केण**-कुछ-न-कुछ तुम दुनियाकी तर्क उसमें लगा दोगे, दुनियाको जोड़ दोगे! यह तो बिलकुल नेति-नेति करके, सम्पूर्ण अनात्माका निषेध करके आत्माका ज्ञान होता है। अपने शरीरमें ऑपरेशन करना हो तो अपने हाथसे ठीक नहीं होता है, वह दूसरे डाक्टरसे करवाना चाहिए, नहीं तो अपना आपरेशन करते-करते कहीं थोड़ा छूट जायेगा, अपने शरीरके मोहके कारंण कहीं थोड़ी गन्दगी छूट जायेगी। यह

तत्त्वज्ञान क्या है? कि यह तो ऑपरोशन करना है; जैसे ऑपरेशनमें बेहोश करते हैं वैसे इसमें दुनियाकी ओरका ख्याल छोड़ देना और एक रत्ती भर भी गन्दगी भीतर शेष न रह जाये-उसको काट कर फेंक देना—यह उपदेशका अभिप्राय है।

जहाँ-कहीं भी अनात्माका सन्देश है कि यह मैं और यह मेरा, उसको सम्पूर्ण रूपसे निकाल देनेमें समर्थ जब तुम कहोगे कि मैं मुक्त हूँ तब गुरु जी कहेंगे कि मूर्ख है बिलकुल; और जब तुम कहोगे कि मैं बद्ध हूँ तब गुरुजी कहेंगे कि महामूर्ख है। तो तुम अपने आपको बहुत कर सकते हो तो यही कर सकते हो कि अपने बद्ध होनेकी कल्पना ढीली कर दो और अपने मुक्त होनेकी कल्पना प्रबल कर लो। अगर अपने आप कुछ कर सकते हो तो यही कर सकते हो। लेकिन, बन्धन भी इल्लत है और मुक्ति भी इल्लत है; बन्धन भी कल्पित है और मोक्ष भी कल्पित है—तुम बन्धन और मोक्षसे न्यारे हो, यह बात केवल तर्कसे नहीं जानी जा सकती क्योंकि आत्मा जो है वह अतिशय अणुतर है और तर्ककी निष्ठा कहीं है नहीं! एक आदमी आवेगा कहेगा—इससे सूक्ष्म यह है, फिर दूसरा कहेगा इससे सूक्ष्म यह है, फिर तीसरा कहेगा—इससे सूक्ष्म यह है और जो सब सूक्ष्मताओंके स्तरका प्रकाशक स्वयं प्रकाश सर्वावधिष्ठान आत्म-वस्तु है उसको दूसरा कोई (अज्ञानी) कैसे बतावेगा? वह तो देखेगा कि तुम्हारी क्या रुचि है? जैसे कोई मेहमान घरमें आवे तो उससे पूछते हैं कि तुम्हारी क्या खानेकी रुचि हैं? जब वह कहेगा कि हमारी तो यह रुचि है; कि अच्छा, तब तुम्हारे लिए यही बनवा देते हैं। आप मेहमानके लिए ऐसा करोगे कि नहीं? उसकी रुचि देखकरके आप काम करोगे।

एक बहुत भले मानुषकी बात, जिसको बहुत भला मैं मानता हूँ, दिलसे, उसकी बात मैं आपको सुनाता हूँ। संन्यासी होनेके बादकी बात है। जब दुबारा श्रीमद्भागवतका (अनुवाद) प्रकाशन हुआ गीता प्रेसके द्वारा। पहले तो वह भागवताङ्कके रूपमें छपा था जिसमें हिन्दी-हिन्दी ही थी, बादमें गीता प्रेस वालोंने यह निश्चय किया कि अब उसको श्लोकोंके साथ-साथ छापेंगे। तब हम संन्यास लेनेके बाद गीता प्रेसमें गये थे; हम और दादा दोनें गये थे। हमको तबतक डायबिटीज हो गयी थी, उनलोगोंको भी मालूम था कि हमको डायबीटिज है। यह बात अठारह-उन्नीस बर्ष पहलेकी है। तो भाईजी श्रीहनुमान प्रसार पोद्दारने हमको सलाह दी कि हमको चावल नहीं खाना चाहिए। मैंने कहा—ठीक है भाईजी, आजसे चावल खाना बन्द कर देते हैं, खाना तो तुम्हारे घरमें ही है, हम पाँच-

सात घरमें तो खाते नहीं हैं, तुम्हारे ही घरमें खायेंगे, तुम्हारी पत्नी बनायेगी। मैं जबतक वहाँ रहता तबतक उनकी पत्नी बनाती और मैं खाता। तो बोले कि ना-ना बाबा, यह बात अभी नहीं होगी; हमारे यहाँ जबतक रहोगे तबतक तो रोज चावल खिलावेंगे, जब यहाँसे जाओ तब छोड़ देना। बड़े आदरके साथ-संस्मरण, आपको सुना रहा हूँ। उन्होंने ऐसा क्यों कहा? इसलिए कि हम तो अब उनके अतिथि थे न, तो वे अपने घरमें हमारा-चावल नहीं छुड़ाना चाहते थे, वे कहते थे कि यहाँसे जब जाना तब चावल मत खाना, और जबतक यहाँ तबतक रोज चावल बनेगा और रोज चावल खाना होगा! वहाँ आम भी खाते थे और घीके लिए चाहे जितना भी मना करें खिलानेवाले मानते ही नहीं थे। वे कहते कि सावित्रीकी माँ मानती नहीं है, जबरदस्ती डाल देती है, हम तो मना करते हैं—ऐसे बोलते थे। आपको यह बात दृष्टान्तके लिए सुनायी। दार्ष्टान्त इसका क्या है कि जो जिज्ञासु अपने पास आते हैं न और जब हम देखते हैं कि इनके मनमें तो यहाँ रुचि है, इनका यहाँ खिंचाव है, इसको तो ये छोड़ सकते नहीं, इस बातकी इनको पकड़ है, तो फिर उनको उसी ढंगकी बात बताते हैं।

पंचदशीमें एक दृष्टान्त है। एक राजा रोज-रोज वेदान्त सुननेके लिए तो आवे लेकिन उसको ज्ञान न होवे। तो स्वामीजी महाराजने बहुत विचार किया कि क्या बात है जो ज्ञान नहीं होता है? फिर विद्यारण्य स्वामीने राजासे पूछा कि अच्छा, राजा! तू यह बता कि जब तू एकान्तमें बैठता है तब तुझे किसका चिन्तन होता है, किसकी याद आती है? राजाने बताया कि रानीका चिन्तन होता है। तो विद्यारण्य स्वामीने बताया कि तू ऐसा चिन्तन कर कि रानी ब्रह्म है। राजाने कहा—महाराज, रानी ब्रह्म कैसे होगी? तो बोले—कि जा तू ध्यान तो कर। तो ध्यान करने लगा कि रानी ब्रह्म है। दूसरे दिन आया, बोला—महाराज, नहीं, रानी ब्रह्म नहीं हो सकती, हम ध्यान नहीं करेंगे। बोले—भाई, कि ठीक है, रानीका शरीर ब्रह्म नहीं हो सकता क्योंकि वह तो हड्डी-मांस-चामका है, परन्तु, उसमें जो शक्ति है सो तो ब्रह्म है। कि अच्छा महाराज! दूसरे दिन शक्तिका ध्यान करके आया। बोला—महाराज, शक्ति तो जड़ होती है। बोले कि अच्छा, शक्ति ब्रह्म नहीं है, तो उसमें जो संकल्प है, प्रेम है सो तो ब्रह्म है! चला गया! तीसरे दिन फिर आया कि नहीं महाराज, सो जाते हैं तब प्रेम नहीं रहता है, तो प्रेम कहाँसे ब्रह्म होगा? तो बोले कि जो प्रेमी है सो ब्रह्म है बाबा! चौथे दिन आया कि महाराज, प्रेमी भी ब्रह्म कैसे होगा? पहले वह प्रेमी

नहीं था, बादमें वह प्रेमी नहीं रहेगा, तो प्रेमी कैसे ब्रह्म हो सकता है? तो बोले कि अरे, जो शान्ति है रानीमें सो ब्रह्म है। फिर आया कि महाराज, शान्ति भी ब्रह्म नहीं हो सकती। बोले कि उसमें जो साक्षी है सो ब्रह्म है। अब राजा यह चिन्तन करने लगा कि रानीके शरीरमें जो साक्षी है सो ब्रह्म है; फिर बोले कि ऐसे ही तेरे शरीरमें भी देख—हड्डी है, मांस है, शक्ति है, प्रेमी है, शान्ति है, साक्षी है—तू शान्तिका साक्षी है, जो साक्षी इधर वही साक्षी उधर, साक्षी-साक्षीमें भेद नहीं है।

अब देखो, यह बात तो जब हम बड़े लोगोंमें आये तब मालूम हुई कि महिषीने, रानीने तत्त्वज्ञान कराया, पर जब हम देहातमें पंचदशी पढ़ते थे तब-वहाँ तो गाँवके पढ़ानेवाले महात्मा थे; वे बोले **महिष्या** माने भैंसने तत्त्वका उपदेश किया। उन्होंने सुनाया कि एक किसान था, वह ब्रह्मज्ञानकी बात रोज समझता; तो एक दिन उसकी भैंस मर गयी। मर गयी भैंस तो रोने लगा, भैंस भूले नहीं उसको। अब वे महात्मा जंगलमें रहते थे और खूब जंगली भैंस होती थीं। तो एक दिन आये राजाके अन्त:पुरमें, खूब पूजा-पत्री हुई; महारानी खूब मोटी, चार-पाँच मन वजनकी, मचियापर बैठकर हुक्का गुड़गुड़ा रही थी। महात्माने देखा, तो बोले यह महिषी जैसी जंगलमें मैंने देखी थी वैसी ही तो है और उन्होंने उसका नाम राजमहिषी रख दिया।

तो जहाँ मनुष्यकी प्रीति होती है वहाँ उसको स्थिर करना पड़ता है। लेकिन, क्या मनुष्य इस बातके लिए तैयार है कि जहाँ उसकी आसक्ति हैं, जहाँ उसकी रुची है, जहाँ वह फँसा हुआ है, उसकी तहमें उसके भीतर प्रवेश करके, अपने शरीरमें प्रवेश करके देखे कि यह परब्रह्म परमात्मा है—वेदान्त विद्या यह बात बताती है। **आणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात्**—यह आत्मा अणुप्रमाणसे भी अणीयान् है, इसको तर्कके द्वारा नहीं जान सकते, तर्कमें अपनी वासना लग जाती है, यह अतर्क्य है, वासनाके विस्तारको हटाकर तब अपने अपको देखना पड़ता है।

आत्मबुद्धि न तर्कसे प्राप्त हो सकती है, न छोड़ी जा सकती है

अध्याय-२ वल्ली-२ मंत्र-९

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ।
यां त्वमापं सत्यधृतिर्बतासि त्वादृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा॥ १.२.९

अर्थ :–हे प्रियतम ! यह अभेद दर्शी आचार्यके द्वारा जो आत्म-विषयक बुद्धि है वह तर्कके द्वारा प्राप्त नहीं की जासकती और किसीके तर्कसे छोड़ी भी नहीं जा सकती। अहा! हे नचिकेता! तू उसी बुद्धिको प्राप्त हो गया है.। तू बड़ा ही सत्यकी धारणवाला है। हमें तेरा जैसा प्रश्न पूछने वाला ही प्राप्त होवे !

नैषा तर्केण मतिरापनेया—यमराज नचिकेतासे कहते हैं कि केवल तर्क-वितर्क करनेसे तत्त्वज्ञानकी, आत्मज्ञानकी प्राप्ति नहीं होती। बाहर जो वस्तु होती है वह बाहरी यन्त्रसे मालूम पड़ती है, परन्तु बाहर-भीतर दोनों जिससे मालूम पड़ता है, वह न बाहरी यन्त्रसे मालूम पड़ता है, न भीतरी यन्त्रसे मालूम पड़ता है। यह आत्मा जो है वह न बाहर है, न भीतर है। चामके बाहर हवा चल रही है, सूर्यकी रोशनी फैल रही है और चामके भीतर हड्डी-मांस हैं, चामके भीतर इन्द्रियाँ-मन काम कर रहे हैं! यन्त्र दो तरहके होते है—करण और उपकरण। आँखसे बाहर देखते हैं, पर अगर बाहर दूरतक न दिखायी पड़े तो आँख पर दूरबीन लगा लो तो दूर तक दिखायी पड़ेगा, खुर्दबीन लगा लो तो बहुत छोटी-छोटी चीज दीखने लग जायेगी; और भीतर कोई चीज होवे और वह न मालूम पड़ती होवे तो अन्वय-व्यतिरेककी युक्तिसे उसपर विचार कर लो या थोड़ा धर्मानुष्ठान कर लो, उपासना कर लो, योगाभ्यास कर लो, अन्तःकरणकी शुद्धि कर लो, तो जैसे शीशेपर कोई मैल हो साफ कर दिया तो उसमें प्रतिबिम्ब स्पष्ट दीखने लगता है, कि इसी प्रकार अन्तःकरणको थोड़ा स्वच्छ कर दिया तो उसमें प्रतिबिम्ब स्पष्ट पड़ता है। परन्तु, आप यह बात बिलकुल ठीक-ठीक समझो कि (उपकरणोंसे) खुर्दबीन या दूरबीनसे (या करणसे) आँख-कान-नाक-जीभसे जो मालूम पड़ता है वह बाहरी

पदार्थ है और भीतर कर्मसे अन्त:करण शुद्ध करनेपर, उपासनासे अन्त:करण शुद्ध करनेपर, योगाभ्याससे अन्त:करण शुद्ध होनेपर जो मालूम पड़ता है वह भीतरी पदार्थ है। परन्तु जो कि अधिष्ठान है—बाहर-भीतर दोनों जिसमें अध्यस्त हैं, वह अपना स्वरूप, अपनी इन्द्रियोंका और यन्त्रोंका विषय नहीं है, यह तो कहना ही क्या, और वह बुद्धि और मनका विषय नहीं है यह तो कहना ही क्या, परन्तु वह स्वयं अपना विषय भी नहीं है अर्थात् वह साक्षी-भास्य भी नहीं है—माने हम बिना किसी औजारके स्वयं अपने आपसे उसको जानते हैं—जैसे सुषुप्ति साक्षी-भास्य है, समाधि साक्षी-भास्य है, तो सुषुप्तिमें जैसे साक्षीके द्वारा भास्यता है, समाधिमें जैसे साक्षीके द्वारा भास्यता है, समाधिमें जैसे साक्षीके द्वारा भास्यता है ऐसी भास्यता साक्षीमें नहीं है, माने साक्षी स्वयं ऐसा भास्य नहीं है। तो, ऐसी स्थितिमें जब अपना स्वरूप प्रमेय-प्रमाणका विषय, विज्ञेय-विज्ञानका विषय, अनुभाव्य अनुभवका विषय, भास्य-साक्षीका विषय नहीं है, तब वह तो स्वयं है। तो इस स्वयंताको यदि कोई चाहे कि हम यन्त्रके द्वारा या बुद्धि-वृत्तिके द्वारा या तर्क-वितर्कके द्वारा जान लें, तो नहीं जान सकता; वह तो जब सामनेवाला जानकार कहेगा कि अरे, वह तो तुम खुद हो जिसको तुम ढूँढ़ रहे हो, तभी वह जाना जा सकता है। यह बात बताये बिना इस परमात्माका, इस परमार्थका अनुभव नहीं होता। यह अनुभवका विषय नहीं है स्वयं अनुभव-स्वरूप है।

स्वयमेवानुभूतित्वात् विद्यते नानुभाव्यताम्—पंचदशीमें विद्यारण्य स्वामीने कहा कि यह स्वयं अनुभव-स्वरूप है। इसलिए अनुभाव्य नहीं है—अनुभाव्य माने अनुभवका विषय नहीं है। जैसे नेत्रका विषय घड़ी है—घड़ीको हम आँखसे देख रहे हैं, लाउडस्पीकरको हम आँखसे देख रहे हैं, किताबोंको आँखसे देख रहे है—बोले आवो, ऐसे ही हम अनुभवसे आत्माको देखें, तो अनुभवसे जो देखा जाता है सो आत्मा नहीं है, जो देख रहा है सो आत्मा है।

तो **नैषा तर्केण मतिरापनेया**—यह प्रत्यक् चैतन्यको ब्रह्म जानना, अपने आपको ब्रह्म जानना—यह तर्कसे नहीं सिद्ध होता। क्योंकि **अचिन्त्याः खलु ये भावाः न तांस्तर्केषु योजयेत्।** जो भाव चिन्त्य नहीं हैं—चिन्ताके विषय जो पदार्थ नहीं हैं उनको तर्ककी कसौटी पर कसना नहीं चाहिए। जैसे सोनेको कसौटीपर कस लेते हैं वैसे तर्क कोई ऐसी कसौटी नहीं है जिसके ऊपर आत्मा कसा जाये। अरे, आत्मामें तो कभी तर्क होता है, कभी तर्क नहीं होता है। इसीसे हमारे प्राचीन शास्त्रकारोंने यह बात कही—वाक्यपदीयकार श्रीभर्तृहरि महावैयाकरण बोलते

हैं—**यत्नेनानुमितोप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः**—बड़े-बड़े कुशल अनुमानकर्ता बड़े प्रयत्नसे किसी वस्तुके बारेमें अनुमान करते हैं, परन्तु **अभियुक्ततरैः अन्यैः अन्यथैवोपपद्यते**—परन्तु जब उससे भी बड़े अनुमान करनेवाले आते हैं तब वे पहलेके अनुमानका खण्डन करके नये अनुमानकी स्थापना कर देते हैं। अमुक यन्त्रसे कोई चीज अमुक प्रकारकी मालूम पड़ रही है परन्तु जब और नये यन्त्रका आविष्कार हुआ तब वह चीज फिर कुछ और ही देखनेमें आती है। पच्चीस वर्ष पहले चन्द्रमाके बारेमें लोगोंकी ही नहीं, समूचे विज्ञानकी क्या धारणा थी? समूचे वैज्ञानिकोंकी सौ वर्ष पहले धरतीके बारेमें क्या धारणा थी? दो हजार वर्ष पहले सूर्यके बारेमें लोगोंकी क्या धारणा थी? तो नये-नये यन्त्र बनते हैं, नये-नये वैज्ञानिक आते हैं, नये-नये आनुमानिक आते हैं—नयी-नयी युक्तियाँ दृश्य-पदार्थोंके बारेमें निकालते हैं और नये यन्त्र निकालते हैं और जब नया यन्त्र निकलता है तब पुराने यन्त्रकी जो अनुभूति है, पुराने यन्त्रका जो विज्ञान है वह व्यर्थ हो जाता है। हम किसी चीजकी जाँच-पड़ताल करते हैं तो समझो कि अभी वह यन्त्र नहीं निकला है जो चीजको पकड़ सके—तो सामने उस चीजको देखते हैं और बोलते हैं कि यह तो यह है, यह है, यह है; थोड़े दिनोंके बाद कोई ऐसी मशीन निकलती है जो उसी चीजमें-से कोई तीसरा पदार्थ निकाल देती है, चौथा पदार्थ निकाल देती है जो अभी तक हमलोगोंको नहीं मालूम था।

तो ये सारे भेद-विभेद कहाँ होते हैं? कि ये दृश्य-पदार्थमें होते हैं। इसलिए चाहे विज्ञानकी कितनी भी उन्नत्ति हो और चाहे तर्ककी कितनी भी उन्नति हो, अनुमानकी चाहे कितनी भी उन्नति हो, वह दृश्यके सम्बन्धमें और दृश्यको ग्रहण करनेवाले बाह्य अथवा आभ्यन्तर-यन्त्रके सम्बन्धमें होंगे; जो स्वयं-प्रकाश द्रष्टा है उसके सम्बन्धमें विज्ञान कोई उन्नत्ति नहीं करता।

इसका आपको देखो, एक और भी गुर बताते हैं—क्या? कि भूत-भौतिक पदार्थके सम्बन्धमें, दृश्य-पदार्थके सम्बन्धमें ज्यों-ज्यों वैज्ञानिक उन्नत्ति होती जायेगी त्यों-त्यों उसके ज्ञानका विकास होता जायेगा, लेकिन क्षण मात्र स्वयं-प्रकाश आत्मा जो ब्रह्म है उसके बारेमें भविष्यमें वैज्ञानिक उन्नत्तिसे ज्ञानका विकास नहीं होगा, उसके लिए तो जो प्राचीनतम, आन्तरतम, जो वैदिक औपनिषद ज्ञान है वह यथार्थ होगा। जब आत्माकी बात समझानी होगी तब यों कहेंगे कि सृष्टिके आदि-ग्रन्थ ऋग्वेदमें यह बात लिखी हुई है इसलिए आत्माका स्वरूप ऐसा है और जब दवाके बारेमें बताना होगा या रॉकेटके बारेमें बताना होगा या अणुबमके बारेमें बताना

होगा तब यह कहना होगा कि आज तकके विज्ञानसे, नवीनसे नवीनतम विज्ञानसे यह बात सिद्ध हुई है। आत्मज्ञानके लिए अपने स्वरूपके सम्बन्धमें प्राचीनतम सबके मूलमें विराजमान स्वतःसिद्ध अपौरुषेय ज्ञानजन्य -ज्ञान प्रमाण होगा; और नवीनतम जो विज्ञान है, नवीनतम जो यन्त्र है, नवीनतम जो आविष्कार है वह प्रमाण होगा भूत-भौतिकके बारेमें। विकसित ज्ञान प्रमाण होगा भूत-भौतिकके बारेमें और आदि ज्ञान प्रमाण होगा स्वरूपके बारेमें। नारायण! तो यह वृत्ति कहाँसे उठती है, यह संकल्प कहाँसे उठता है, यह अहं कहाँसे उठता है, उसकी जड़में जाना पड़ेगा—आत्मज्ञानके लिए वस्तुके मूलमें जाना पड़ेगा; और भूत-भौतिकके विज्ञानके लिए उसके विकासकी अवधि कहाँ है वहाँ जाना पड़ेगा।

तो यह आत्मज्ञान जो है उसके बारेमें—

यत्नेनानुमितोऽप्यर्थः कुशलैरनुमातृभिः।
अभियुक्ततरैरन्यैरन्यथैवोपपाद्यते ॥ (वाक्यपदीय)

बड़े प्रयत्नसे बड़े कुशल तार्किकोंने अनुमान लगाया, तर्क किया, परन्तु जब दूसरे तार्किक आये तब उन्होंने दूसरा ही सिद्ध कर दिया। तो अनुमानकी गति आत्मासे बहिरंग है—बहिरंग पदार्थमें है अथवा अन्तरंग पदार्थमें है; लेकिन बहिरंग और अन्तरंग तो देशमें होता है, पहले और पीछे तो कालमें होता है और यह और वह पदार्थमें होता है और इन सबको अपनी गोदमें लिये हुए जो आत्मविज्ञान है—इन सबका स्वयं प्रकाश अधिष्ठान उसके बारेमें तर्ककी गति नहीं है। इसीलिए ब्रह्मसूत्रमें 'तर्काप्रतिष्ठानाद् अधिकरण' है। वहाँ बताया है कि तर्ककी प्रतिष्ठा नहीं होती है—माने तर्कके द्वारा एक निश्चय करना, एक निश्चयपर पहुँचना शक्य नहीं है। यह जैसे मामले-मुकदमे होते हैं न—यदि सरकार इसी बातपर छोड़ दे कि संविधानकी, कानूनकी पोथी नहीं होनी चाहिए और इसी बातपर छोड़ दिया जाय कि तर्क-वितर्क करनेवाले वकील-बैरिस्टरोंकी युक्ति ही ठीक है और जज अपनी बुद्धिसे निश्चय कर ले और मुकदमेमें फैसला दे दे तो क्या दशा होगी? प्रत्येक जजका फैसला अलग हो जायेगा, प्रत्येक बैरिस्टरकी बहस अलग हो जायेगी। तो इसके लिए एक आधार-भूत सिद्धान्त स्वीकार करना पड़ता है।

अब दूसरी बात देखो—क्या धर्म और ब्रह्म दोनोंके सम्बन्धमें तर्क और बुद्धि बिलकुल चलती ही नहीं? तो मनुस्मृतिमें धर्मके बारेमें इसका विचार है। उसमें ऐसा लिखा है—**न हि सर्वं विधीयते**—दुनियाकी एक-एक बातके लिए कानून बनाना शक्य नहीं है विधि-विधान बनाना शक्य नहीं है, कुछ-न-कुछ छूट जाता है।

मनुष्यके जीवनमें, जातिमें, सम्प्रदायमें, राष्ट्रमें ऐसी-ऐसी समस्याएँ आती हैं कि सब बात अगर पोथीमें से ही कोई निकालना चाहे तो नहीं निकाल सकता, क्योंकि बहुत-सी बातें ऐसी हैं जो पुस्तकमें नहीं लिखी गयीं—ऐसे लिखा है मनुजीने। तो, ऐसे स्थान पर क्या करना चाहिए? देखा, कितने स्पष्टवादी हैं—कहते हैं—

यं शिष्टा ब्राह्मणाः ब्रूयुः स धर्मः इति निश्चयः।

जिन धर्मोंका प्रत्यक्ष वर्णन शास्त्रमें नहीं मिलता है, जो आम्नात नहीं हैं, उनके बारेमें जो निर्लोभ, आप्तकाम, विचारशील, शीलवान, शिष्ट होवें वे पुरुष जैसा निर्णय दें—सो भी ऐसा एक पुरुष नहीं ऐसे पुरुषोंकी परिषद् बनाकर वह परिषद् जो निर्णय दे वह निश्चय ही धर्म है। वहाँ ऐसा भी वर्णन है कि परिषद्में दस आदमी शामिल हों, पाँच आदमी शामिल हों—ऐसे बताया।

फिर बोले कि भाई, क्या तर्कका कोई स्थान धर्ममें नहीं है, तो उसका भी निर्णय दिया—

आर्षं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मः वेद नेतरः॥

जो ऋषि-प्रोक्त धर्मानुशासन है उसके लिए तर्क तो करना; परन्तु वेद-शास्त्रके अविरुद्ध तर्क करना। देखा, वेद-शास्त्रके अनुकूल तर्क करना यह बात नहीं है, वेद-शास्त्रके अप्रतिकूल तर्क करना—यह बोलनेकी रीति है। तर्क होवे, परन्तु प्रतिकूल तर्क न होवे—बस इतना ही चाहिए; विरोध नहीं चाहिए; अनुरोध ही हो यह आवश्यक नहीं है, परन्तु विरोध नहीं हो। वेद-शास्त्रके अविरोधी तर्कसे जो धर्मका अनुसन्धान करता है वह धर्मके रहस्यको समझता है।

अब तर्कको वेदान्तमें कितना ग्रहण करना चाहिए? धर्मकी बात तो आपको उदाहरणके लिए सुनायी। वेदान्तमें तर्क-वितर्क, युक्ति-प्रयुक्ति कहाँतक बोले—**श्रुत्यनुगृहीतस्य तर्कः परिगृहीतमेव।**

श्रुति जिस तर्कपर अनुग्रह करती है, जिसकी पीठपर हाथ रखती है कि हाँ बेटा, तुम बहुत अच्छे; तो उस तर्कको स्वीकार करना चाहिए।

आगमोपपत्तिर्हि करामलकवत् समर्पतयः।

माण्डूक्य उपनिषद्के भाष्यमें भगवान् शङ्कराचार्यने कहा कि आगम और उपपत्ति—शास्त्र और युक्ति—दोनोंके द्वारा आगे बढ़ना चाहिए, केवल शुष्क तर्क नहीं होना चाहिए। केवल आगम, केवल श्रद्धाकी बात है और केवल तर्क केवल काटनेकी बात है; यह तो अन्धेरे घरमें ढेला फेंकना है।

एक बार हमारी माँ बीमार थी। हम तो बच्चे थे, काशीमें पढ़ते थे—१५-१६ वर्षकी उम्र होगी हमारी—तो हमें डॉक्टरके पास दवा लेनेके लिए बारम्बार जाना पड़े। महीना भर हो गया, माँ अच्छी नहीं हुई। डॉक्टर बहुत अच्छा था, उसका नाम डॉक्टर सेठ था। मैंने एक दिन पूछा कि डॉक्टर, तुम हर चौथे-पाँचवे दिन दवा बदल देते हो और फायदा कुछ होता नहीं, यह क्या बात है? उसने कहा कि जैसे अन्धेरे घरमें कोई चूहा हो और बाहरसे कोई उसपर ढेला फेंककर निशाना लगाना चाहे, ऐसे ही शरीरके भीतर जो रोग है वह दीखता तो है नहीं कि क्या है, हम बाहरी लक्षणसे अनुमान लगाते हैं कि छींक आती है, खाँसी आती है, कफ निकलता है—अनुमान लगाते हैं और एक दवा देते हैं; जब देखते हैं कि तीन-चार दिनमें उस दवाका कोई असर नहीं पड़ा तो दूसरा अनुमान लगाते हैं और दूसरी दवा दे देते हैं। वह भी असर नहीं करती है तो फिर तीसरा अनुमान लगाते हैं। तो यह सारा काम हमारा अनुमानपर चल रहा है—यह बात सन् पच्चीस-छब्बीसकी होगी और वह स्पष्ट कहता था कि हम अन्धेरे घरमें ढेला फेंकते हैं। तर्क-युक्तिसे आत्मा और ईश्वरके बारेमें सोचते हैं, अपनी अक्कल लगाते हैं वे क्या करते हैं कि वे अन्धेरे घरमें ढेला फेंकते हैं। ईश्वरके बारेमें कुछ मालूम तो है नहीं; ईश्वरके बारेमें उनको कुछ अनुभव तो है नहीं; जब उनकी वासनाके अनुसार कोई काम हो जाय तब कहते हैं कि ईश्वरने बड़ी कृपा की और उनके मनके खिलाफ कोई काम हो जाय तो कहते हैं कि ईश्वरसे भी कभी-कभी गलती हो जाती है। तो तर्क जो है उसको कहाँतक लेना? जहाँ तक वह आगमके अनुरूप हो। जैसे देखो, श्रुति वर्णन करती है—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।

जो अविनाशी है उसका नाम आत्मा है, क्योंकि विनाशका साक्षी है—जैसे घड़ेका बनाना और फूटना दोनों मनुष्य देखता है वैसे अन्तःकरणमें वृत्तिका उदय होना और मिटना दोनोंको पुरुष देखता है, आत्मा देखता है। घड़ाका बनना-बिगड़ना आँखसे दिखायी पड़ता है और वृत्तिका बनना-बिगड़ना साक्षीको दिखायी पड़ता है। और काल जितना मालूम पड़ता है वह वृत्तिसे मालूम पड़ता है—बिना वृत्तिके काल नहीं मालूम पड़ता; क्योंकि सुषुप्तिमें वृत्ति न रहनेपर कहाँ मालूम पड़ता है कि एक मिनट हुआ कि पाँच मिनट हुए। सुषुप्तिमें कालके अवयव नहीं मालूम पड़ते, वह तो जागकर जब घड़ी देखते हैं तब मालूम पड़ता है कि अरे राम! इतना समय नींदमें निकल गया। तो आत्मा जो है वह वृत्तिके द्वारा

मालूम पड़ने वाले दिनमें, रातमें, क्षणमें, संवत्सरमें, युगमें, कलामें, मन्वन्तरमें मरता नहीं—सत्य है।

अब देखो, आत्मा ज्ञान है। ज्ञानम् कैसे? कि प्रत्येक पदार्थका जो ज्ञान होता है वह किसको होता है? कि वह हमको होता है—जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति, घट-पट सबका ज्ञान हमको होता है। बोले—हमको हमारा अज्ञान होता है। तो बोले कि अज्ञान होता है, इसको कौन जानता है? हाँ, अज्ञानका भी प्रकाशक ज्ञान है।

आत्मा ज्ञान-स्वरूप है, अर्थात् आत्मा जड़ नहीं है और आत्मा अनन्त है। कैसे? कहो कि हमारा ओर-छोर कहीं है, तो ओर-छोरकी कल्पना तो चित्तकी वृत्तिमें होती है और उस वृत्ति के तुम साक्षी हो इसलिए तुम अनन्त हो।

तब यह आगमने बताया कि आत्माका स्वरूप सत्य है, आत्माका स्वरूप ज्ञान है, आत्मा अनन्त है, इसलिए आत्मा ब्रह्म है, सबका अधिष्ठान है, सबका प्रकाशक है, स्वयं प्रकाश है। अब इसके अनुसार तर्क होवे—कि देखो, आत्माके होनेसे सबकी सिद्धि होती है, आत्माके बिना किसीकी सिद्धि नहीं है। इसलिए आत्माका सबमें अन्वय है—यह अन्वयका तर्क है। और व्यतिरेकका क्या बढ़िया तर्क है कि हम अन्नमय कोषको जानते हैं इसलिए उससे परे हैं, हम प्राणमय कोष को जानते हैं इसलिए उससे परे हैं, क्योंकि जो जिसको जानता है वह उससे परे होता है। जैसे घड़ेको जाननेवाला घड़ेसे जुदा है वैसे ही शरीरको जाननेवाला शरीरसे जुदा है—यह तर्क है, परन्तु आगमानुसारी, वेदानुसारी तर्क है भला! हम जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिके द्रष्टा हैं इसलिए तीनोंसे न्यारे हैं। जाग्रत्के पाप-पुण्यसे, स्वप्नके सुख-दुःखसे और सुषुप्ति कालीन अन्धकारसे हमारा कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि हम तीनोंके द्रष्टा हैं। तो आगमानुसारी जो तर्क है वह करना।

तर्क तो करना परन्तु गुरु-शास्त्रसे सुनी हुई जो बात है उसको सिद्ध करनेके लिए तर्क करना—**तर्क्यतां मा कुतर्क्यताम्**—तर्क करो भाई, कुतर्क मत करो। तर्क और कुतर्क इन दोनोंका जो अन्तर है वह समझो। तर्क माने काटना, आगमको सिद्ध करनेके लिए काटना और कुतर्क माने कैसे भी बस काटना। एक तर्क माने गुहन होता है, कोई अन्दाज लगाना, जैसे अन्धेरेमें किसीके पाँवकी आहट सुनायी पड़ी तो बोले कौन होगा कि अरे मोहन होगा, अरे मोहन नहीं! सोहन होगा, मैत्र होगा, चैत्र होगा; और बोले अन्तमें क्या निकला कि चोर निकला! कि अन्तमें क्या निकला कि कुत्ता निकला! तो अन्धेरेमें जैसे अन्दाज लगाना निश्चित रूप-रेखा लानेवाला नहीं है ऐसे ही केवल तर्क-वितर्कसे आत्मज्ञान नहीं होता, इसको

उपनिषद्के अनुसार, आगमके अनुसार तर्क करके ब्रह्मनिष्ठ गुरुसे प्राप्त करना होता है। ब्रह्मनिष्ठ गुरु माने जिसके लिए यह संसार—दृश्यमान प्रपञ्च आत्माके अतिरिक्त न हो; जिसके लिए यह अन्यथा मिथ्या हो; जिसके लिए जहाँ राग-द्वेष, राग-द्वेषका विषय और रागी-द्वेषी व्यक्ति जिस अपने अधिष्ठान-आत्मामें बाधित हो गये हों; वह समदर्शी, वह जीवन्मुक्त, वह ब्रह्मनिष्ठ गुरु है और वह जो उपनिषद्का उपदेश है उसके अनुसार प्राप्त करना होता। यह ब्रह्मविद्या केवल तर्कसे प्राप्त नहीं होती है **अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्ति**। बिना अभेददर्शी, आत्मनिष्ठ, ब्रह्मनिष्ठ गुरुके उपदेशके हम इस बातको नहीं समझ सकते और **यतश्च**—क्योंकि दूसरी रीतिसे इस आत्माके बारेमें तर्क नहीं किया जा सकता—

अतः अनन्यप्रोक्ते आत्मनि उत्पन्ना येयमागमप्रतिपाद्यात्ममतिः (भाष्य)

इसलिए अनन्यप्रोक्त आत्मामें यह जो आगम प्रतिपादित आत्ममति उत्पन्न होती है, इसको कोई चाहे कि हम अपनी बुद्धिके तर्क-वितर्कसे अन्दाज लगा करके कि ऐसा होगा, ऐसा होगा, ऐसा होगा—ऐसे इसको कोई प्राप्त नहीं कर सकता। **न आपनेया प्रापणीया इत्यर्थः**।

नापनेतव्या वा न हातव्या—इस बुद्धिको यदि तर्ककी कसौटीपर खरी न उतरे तो भी इसको नहीं छोड़ना। देखो, एक बात है कि या तो अपनेको तुम नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्मा जानो-मानो अगर श्रद्धा हो हृदयमें तो मानो और अगर श्रद्धा न हो तो जानो, ज्ञान प्राप्त करो; जान सको तो जानो, और न जान सको तो मान लो। लेकिन अगर दोनोंमें-से एक बात भी नहीं होगी तो? अपनेको शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्माके रूपमें तुम नहीं जानोगे, तो अपनेको क्या जानोगे, इसका कुछ ख्याल है? तब अपनेको दिनभरमें दस बार तो पापी मानोगे और रोओगे कि हाय-हाय हमसे बुरा काम हुआ और दस बार अपनेको पुण्यात्मा मानोगे और अभिमान करोगे और जो अपनेको पापी-पुण्यात्मा मानता है वह क्या दूसरेको पापी-पुण्यात्मा माने बिना रहेगा? तो जिसको पापी मानेगा उससे द्वेष करके जलेगा और जिसको-पुण्यात्मा मानेगा उससे राग करने जायेगा, फँस जायेगा तो यह दशा होगी। अच्छा, तब तुम खुद अपनेको रागी-द्वेषी मानोगे कि हम उसकी मुहब्बतमें फँसे हैं, उसके हम दुश्मन हैं—और दूसरेको मानोगे रागी और द्वेषी, तो तुम्हारे दिलकी क्या दशा होगी? मुसाफिरखाना बन जायेगा न तुम्हारा कलेजा। अगर अपनेको शुद्ध-बुद्ध-मुक्त, पाप-पुण्यके सम्बन्धसे शून्य, कर्मके सम्बन्धसे शून्य नहीं जानोगे तो अपनेको कर्मी मानकर के दिनभर रोते रहोगे या फूलते रहोगे और दूसरेको कर्मी-कर्त्ता मानकर

रोओगे या हँसोगे और नहीं तो दिनभर हम आज सुखी हैं, हम आज दुःखी हैं। अरे भाई, बाजारमें चार पैसा रोज आता है, चार पैसा रोज जाता है, चौबीस घण्टोंमें एक-दो-चार बार हँसनेका मौका आता है, एक-दो-चार बार रोनेका मौका आता है; तो यह तो रोजके जीवनकी सामान्य घटना है, मामूली घटना है यदि तुम अपने स्वरूपको जानोगे तो दिनभरमें यह चार बारका रोना और चार बारका हँसना तुम्हारे ऊपर कोई असर नहीं डालेगा और यदि तुम अपने आपको नहीं जानोगे तो इस असरसे ग्रस्त हो जाओगे—यह तो साफ खा जाता है।

तो, इसलिए क्या है कि फिर तो केवल तर्क-वितर्क करके तुम अपने इस जीवन को मत खाओ—

तार्किको ह्यनागमज्ञ स्वबुद्धि-परिकल्पितं यत्किञ्चिदेव कथयति कल्पयति च

क्योंकि ये लोग महाराज, जो तर्क-वितर्क करनेवाले हैं इनकी क्या दशा है? यहाँ बुद्धिका निषेध नहीं है, तर्कका निषेध है भला! इनको यह पता नहीं चलता है कि हम अपने लिए भलाईका काम कर रहे हैं कि अपने लिए बुराईका काम कर रहे हैं, माने यदि हम हृदयमें संसारका जो संस्कार है उसको दृढ़ बना रहे हैं तो संसारको दृढ़ बना रहे हैं माने रेशमका कीड़ा जालमें और अधिकाधिक फँस रहा है—रेशमका कीड़ा रेशम उगलता है और समझता है कि हम बड़ा बढ़िया कारखाना चला रहे हैं, लेकिन वह तो उसमें फँसता जाता है और वही एक दिन उसकी मृत्युका कारण बनता है। तो जो लोग अपने मनसे बनाये हुए संसारमें बँधते जाते हैं, खुद ही तो फंदा तैयार कर रहे हैं, खुद ही तो वे जेलखानेमें ठूँसे जा रहे हैं—तो अपने-आप जानबूझकर अपने लिए जेल नहीं बनाना। देखो, एक आदमी मिलता है और वह हमसे बात करता है और बात करता है तो वह समझता है कि हम दूसरेके बारेमें इनको जानकारी दे रहे हैं। बात करनेवाला तो यह समझता है कि जो बात इनको नहीं मालूम है कि इनसे कौन दुश्मनी करता है, इनसे कौन मुहब्बत करता है—उसकी हम इनको जानकारी दे रहे हैं। अच्छा, अब हम कैसे सोचते हैं? हम यह सोचते हैं कि वह तीसरा आदमी तो हमसे मुहब्बत करता होगा कि दुश्मनी करता होगा, यह तो भगवान् जानें या वह जाने, पर इसके, हमसे बात करनेवालेके दिलमें क्या भरा है यह बात यह जाहिर कर रहा है, यह अपने दिलकी उगल रहा है। मनुष्य जो बोलता है, जो करता है, जो सोचता है वह उसके हृदयमें भरे हुए संस्कारोंकी अभिव्यक्ति है। जैसे कि जो खाया होता है, उसीकी डकार आती है—मूली खाते हैं तो मूलीकी डकार आती है, ऐसे ही आदमीके दिलमें जो भरा होता है उसकी डकार आती है। तो

तुम यह नहीं समझना कि दूसरेके ऊपर कीचड़ उछालते हैं तो दूसरेके ऊपर कीचड़ पड़ेगी, पड़ेगी तो ऊपर-ऊपर पड़ेगी, कपड़े पर पड़ेगी, चामपर पड़ेगी और वह उसको धो देगा, लेकिन तुम जो कीचड़ उछाल रहे हो उससे तो यह जाहिर होता है कि तुम्हारे कलेजेमें कितनी कीचड़ भरी है; तुम तो बाल्टी-की-बाल्टी कीचड़ लेकर आये हो और दूसरेके ऊपर फेंक रहे हो।

तो मनुष्यको यह समझना चाहिए कि हमारी भलाई किसमें है और हमारी बुराई किसमें है। यदि तुम अपनेको पापी-पुण्यात्मा समझोगे तो दूसरेको भी पापी-पुण्यात्मा समझोगे। अपने पापकी ग्लानि होगी, दूसरेके पापसे घृणा होगी—दूसरेके ऊपर तो घृणा होगी कि यह पापी है और अपनेपर ग्लानि होगी कि हाय-हाय हमने पाप किया; और दूसरेको पुण्यात्मा समझोगे तो राग करोगे और अपनेको पुण्यात्मा समझोगे तो अभिमान बढ़ेगा; दूसरेमें गुण देखोगे तो राग करोगे और दूसरेमें दोष देखोगे तो द्वेष करोगे; और दिनभरमें स्वयं तुम कई बार जलोगे और कई बार तलोगे। हम यह नहीं मानते हैं कि जो ज्यादा व्याख्यान सुन लेता है वह ज्यादा सत्सङ्गी है या जो नहीं आता है वह सत्सङ्गी नहीं है—ऐसा हम नहीं समझते हैं; हम ऐसा समझते हैं कि किसका दिल स्वच्छताकी ओर चल रहा है, कौन अपने-आपको जाननेकी कोशिश करता है।

असलमें अपना आत्मा जो है वह तर्क-वितर्क करने लायक नहीं है। क़म-से-कम यह समझो कि जिससे अपनेको दुःख होता है, हम बन्धनमें फँसते हैं, हम मौतके पास जाते हैं वह तो अपनेमें मत जोड़ो। तो **तार्किकाः आनागमज्ञः**-तर्क-वितर्कवालोंके चक्करमें मत पड़ो, ये अक्लमन्द लोग जो हैं वे बच्चोंकी बुद्धि बिगाड़नेवाले होते हैं।

एक दिन ऐसे ही कहीं हम गये तो हाई-स्कूल था वहाँ, और वहाँ कोई व्याख्यान दे रहा था कि पत्थरकी पूजा करनेसे तुम्हारी बुद्धि पत्थर हो जायेगी। कि भई, तुम अपने चाम पर साबुन लगाते हो तो क्या चाम हो जाते हो? कि अपने घरमें तुम झाड़ू लगाते हो तो क्या तुम मिट्टी हो जाते हो? अपने सुखके लिए तो तुम सब काम करते हो, यदि पाँच मिनट तुमको ईश्वरके नाम पर जिसमें तुम्हारा कोई स्वार्थ नहीं है वह काम करनेको मिले, तो भले कैसे भी मिले अपने मनमें भाव यह होवे कि हम ईश्वरके लिए कर रहे हैं—चन्दन लगावें शालग्रामपर और ख्याल यह होवे कि हम ईश्वरकी पूजा कर रहे हैं, फूल चढ़ावें शालग्रामपर और ख्याल यह होवे कि हम ईश्वरकी पूजा कर रहे हैं—तो तुम्हारा ख्याल तो ईश्वरका

बना न, तुम्हारा दिल तो बढ़िया बना न? यह दिल बनानेकी, अध्यात्मके निर्माणकी विद्या है। जो इस साधन-पद्धतिको, अध्यात्म-विद्याको जानते हैं, जिन्होंने बचपनसे इसका अभ्यास किया है, सद्गुरुओंसे सीखा है, वेदान्त-विद्याका अभ्यास किया है, वे जानते हैं कि अपना आत्मा नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है। इसलिए तार्किकोंके चक्करमें न पड़कर जो आगमाभिज्ञ आचार्य हैं उनका आश्रय ग्रहण करना चाहिए।

उपनिषद्के रहस्यको जाननेवाला जो आचार्य है वह जब बतावेगा कि तुम कौन हो तब यह नचिकेताकी-सी बुद्धि तुमको प्राप्त होगी। **प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ**—देखो, यह गुरुका अपने शिष्यपर क्या अनुग्रह है! यह प्रेष्ठ शब्द जो है न—इसका अर्थ होता है अत्यन्त प्रिय, प्रियतम। यमराज कहते हैं नचिकेतासे—हे प्रेष्ठ! हे प्रियतम यमराजको तो आप जानते ही हैं, मामूली चीज नहीं हैं—सर्वविशेषनिषेधावशेष; सबको ना-ना-ना-ना करके शेष रहनेवाले, नेति-नेतिके द्वारा जो सबका निषेध उस निषेधके रूपमें मृत्यु प्रकट है, मानो सारा विशेष मर गया और विशेषका अभाव अपने सामने प्रत्यक्ष हो गया और वही जिज्ञासुको उपदेश कर रहा है—मेरे प्रियतम, मेरे प्यारे, तुम पहले सबका निषेध करक देखो! तुमको कोई कहे कि यह है, यह है, यह है, तो ऐसे नहीं; फिर कैसे? कि जो 'यह' मालूम पड़ता है सो 'मैं' नहीं और जो 'मैं' मालूम पड़ता है सो 'यह' नहीं—मैं कभी 'यह' नहीं होता और यह कभी नहीं होता—ऐसे। यह माने अनात्मा और मैं माने आत्मा और यह जो सब अनात्माओंसे अलग किया हुआ मैं है आत्मा है। इसको—**प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ**—जब कोई कहेगा तत्त्वमसि, कि अरे ओ निषेधावशेष, ओ द्रष्टा-पुरुष, ओ साक्षी ओ ज्ञानस्वरूप, ओ आत्मन्—तू इस देहमें नन्हा-मुन्ना नहीं है, तू सम्पूर्ण देश-काल-वस्तुका अधिष्ठान, अद्वितीय साक्षात् ब्रह्म है—जब इस प्रकार आचार्य बोलेगा तो **सुज्ञानाय प्रेष्ठ**, तो बहुत जल्दी समझ जाओगे।

पहले निषेध क़रो। निषेध करनेके बाद गुरुने कहा कि तुम अनन्त-अद्वितीय ब्रह्म हो। अब तुम तर्क करो कि नहीं महाराज, मैं तो शरीर हूँ साढ़े तीन हाथका, मैं ब्रह्म कैसे? तो गुरु कहेगा कि बेटा, अभी निषेध नहीं किया तुमने; यह साढ़े-तीन हाथकी लम्बाई-चौड़ाई जिसमें कल्पित है वह देश, पहले उसका निषेध कर लो। देशकी कल्पनाका निषेध कर दो, तुम ब्रह्म हो! बोले महाराज, हमारी तो उम्र सौ-पचास-वर्षकी, हम अनादि-अनन्त ब्रह्म कैसे? तो बोले—बेटा, यह शरीर जो है, इसकी आयु सौ-पचास वर्षकी होती है, पहले तुम अपनेको

शरीरसे अलग समझो कि सौ-पचास वर्षमें मरनेवाला शरीर तुम नहीं हो, तुम इसके साक्षी हो और तुम साक्षी-रूपसे ब्रह्म हो। बोले—महाराज, हमारा वजन तो डेढ़ मन, दो मन, ढाई मन, हम भला ब्रह्म कैसे? ब्रह्म भला दो-अढ़ाई मनका होता है? तो बोले कि नहीं, यह दो-ढाई मनका जो देह है यह दृश्य है और तुम इसके द्रष्टा हो; ओ द्रष्टा-पुरुष, ओ साक्षी पुरुष, अरे तू इस दो-ढाई मनमें बँधा हुआ नहीं हैं, तू तो अनन्त ब्रह्म है। बोले—महाराज, हम आँखवाले, कानवाले, नाकवाले, जीभवाले; हम मनवाले, बुद्धिवाले, हम जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिवाले, हम ब्रह्म कैसे? बोले कि अरे तू इन सबका साक्षी है, तू ब्रह्म है बेटा!

तो यह जो अपना आत्मा साक्षी-रूप है, उसको जब गुरु ब्रह्म बताता है तब **प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ!** अभिमानी लोग गुरु वरण नहीं करते। अभिमानीका एक लक्षण-दो बात समझो इसकी। बोले—भाई, तुमने आजतक गुरु क्यों नहीं बनाया? तो बोले कि हमको हमसे योग्य कोई मिला नहीं। बोले—भाई, कि तुमको दुःख होता है कि नहीं? तुम्हारे मनमें जलन होती है कि नहीं? तुम अपनेको अज्ञानी समझते हो कि नहीं? तो इससे छुड़ानेवालेकी तुमको कभी जरूरत मालूम पड़ती है कि नहीं? क्या कोई मददगार नहीं है तुम्हारा? असहाय पड़े हो इस अज्ञानान्धकारमें तुम, तुमको निकालनेवाला कोई नहीं इस अज्ञानान्धाकारसे और तुमको इतना बड़ा अभिमान कि हमारी इस अयोग्यताको मिटानेवाला कोई योग्य पुरुष नहीं!

इह सन्तो न वा सन्ति सतो वा नानुवर्तते।
यथैवं विपरीता ते बुद्धि आचार्यवर्जिताः॥

यह श्लोक वाल्मीकि रामायणमें है, महाभारतमें है, विष्णु-पुराणमें है। महाभारतमें तो कई जगह है। कहते हैं—क्या तुम्हारे गाँवमें कोई सन्त नहीं है? बोले—महाराज होंगे, लेकिन हमको तो किसीके पास जानेकी रुचि नहीं है! कि ठीक है, इसीकी तो यह पहचान है।

यथैव विपरीता ते बुद्धि आचार्य वर्जिता—इसीका तो यह फल है कि तुम दिन भर जलते रहते हो—किसीसे द्वेष करते हो, किसीसे घृणा करते हो, कभी ग्लानि करते हो और कभी अभिमान करते हो। कभी ग्लानिसे मरते हो और कभी अभिमानसे मरते हो। यह जो तुम्हारी जिन्दगीमें दुःख-ही-दुःख, दुःख-ही-दुःख दिखालायी पड़ता है इसका कारण क्या है कि जो तुम्हारे शुद्ध स्वरूपको लखा देता उसके पास तुम नहीं गये।

प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ—हो प्रियतम, हे प्रेष्ठ, हे अतिशय प्रिय, यदि तुम सुख चाहते हो, अपना भला चाहते हो तो जो तुमको पापी बतावे उसका सम्पर्क मत करो और करोगे तो चित्तमें और ग्लानि आ जायेगी। रोज-रोज तुम यही बोलते रह जाओगे—मैं मूरख खल कामी, मैं मूरख खल कामी। नहीं तो कोई तुमको रागी-द्वेषी बना देगा, पार्टीबन्दीमें डाल देगा, तुम्हारे दिलमें आग डाल देगा, जलन डाल देगा। ऐसा-ऐसा भाव डाल देगा कि तुम दूसरेको देखोगे तो तुम्हारा कलेजा जलने लगेगा। वह आग लाकर तुम्हारे दिलमें डाल देगा। तुमको मालूम नहीं पड़ेगा। तुमको मालूम पड़ेगा कि यह हमारा बड़ा हितैषी है और दिन भर तुम उसकी याद करके जलते रहोगे; वह तो आग लगाकर रफूचक्कर हो गया, रवाना हो गया। अरे बाबा, ऐसे आदमीके पास बैठो जो तुम्हारे दिलमें लगी आगको बुझा दे, जो तुम्हारे दिलमें लगी हुई मैलको धो दे; जो तुम्हारे दिलपर पड़े हुए परदेको फाड़ दे, जो तुम्हारे दिलमें आये हुए अज्ञानान्धकारका निवारण कर दे। संग करना तो ऐसा करना।

बोले—देखो, कि वह बुद्धि कौन-सी है? कि एक बुद्धि तो वह है कि मैंने तुमको वरोंका प्रलोभन दिया और तुमने अपने आत्मविषयक प्रश्नको नहीं छोड़ा। तुम्हें सत्य धृति प्राप्त हुई है और मेरे वर देनेसे भी तुमको सत्य धृति प्राप्त हुई है। सत्य-धृति माने बुद्धिमें पकड़ कहाँ है?

पकड़की बात सुनावें आपको! जब आदमी रास्तेमें चलता है तो कभी उसका पाँव फिसल भी जाता है भला—यह नहीं कि आदमी रास्तेमें चले और उसका पाँव कभी न फिसले। हमको तो गाँवमें कच्चे रास्तेपर पचासों बार गिरनेकी याद है, बम्बईमें भी एक बार रास्तेपर फिसल कर गिर पड़े; उत्तर काशीमें भी एक् बार रास्तेपर फिसल कर गिर पड़े—तो जो रास्तेमें चलता है उसका पाँव कभी फिसलता है, कभी गिर भी जाता है। वैसे ही जो बोलता है उससे अशुद्ध शब्द भी निकल जाता है। जैसे एक आदमी बैठा व्याख्यान सुन रहा था। पाँच हजार शब्द उसने सुना। बोला—महाराज, यह शब्द आपको मुँहसे कैसे निकल गया? पकड़ लिया हो। तो उसकी धृति कहाँ हुई? पकड़ कहाँ हुई? अशुद्धि पर; उसे और सब भूल गया, बस अशुद्धि याद रही!

हमारे एक साथी हैं उनको हमारे बचपनका बनाया श्लोक तो याद नहीं पर यह याद है कि अमुक समयमें तुमने यह श्लोक बनाया था जिसमें यह गलती हो गयी थी—वह गलती उनको याद है।

तो, मनुष्यकी धृति कहाँ है? यह हम आपको सब सच्ची घटना सुना रहे हैं। आप क्या पकड़ते हैं? देखो, एक आदमीने आपकी हजार बार तारीफ की है, एक बार यदि उसके मुँहसे कोई निन्दाकी बात निकल गयी तो आपको वह गड़ जाती है, आपको वह याद रहती है—क्यों? इससे पता चलता है कि आपकी धृति कहाँ है? आपकी पकड़ कहाँ है? आप कौन-सी चीज पकड़ते हैं, प्रश्न तो यह है, तो जबतक मनुष्य यह नाम-रूपात्मक प्रपञ्चकी असत्य वस्तुओंको, असत्य नामों और असत्य-रूपोंको पकड़नेमें संलग्न है तब तक वह सच्चा जिज्ञासु नहीं होता; सच्चा जिज्ञासु तब होता है जब वह संसारके नाम और रूपकी पकड़ छोड़कर जो उसमें अनुस्यूत, अन्वयी-व्यतिरेकी और अन्वय-व्यतिरेकातीत जो तत्त्व है उस तत्त्वको पकड़नेकी बुद्धि आवे कि हम तो सत्यको पकड़ेंगे, हम जानेंगे कि हमारा आत्मा क्या है, ब्रह्म क्या है।

अमुक सेठके पास कितना पैसा है यह जाननेसे तुमको शान्ति नहीं मिलेगी; अमुककी बहू-बेटी कैसी है यह जाननेसे तुमको शान्ति नहीं मिलेगी; अमुक आदमीने जिन्दगीमें कितनी चोरीकी है यह जाननेसे आपको शान्ति नहीं मिलेगी; जब आप जानोगे कि सम्पूर्ण नाम-रूपके अन्तरालमें क्या अमृतकी धारा बह रही है, क्या आनन्दकी धारा बह रही है, क्या सत्-चित्की धारा बह रही है, सबके अन्तरालमें अपना आत्मा ब्रह्म-रूप परिव्याप्त है—जब यह आप जानोगे तब आपको शान्ति मिलेगी।

अपनेसे अन्यका जो अस्तित्व है वह केवल प्रतीतिपर अवलम्बित है। मालूम पड़ता है इसलिए अन्यके सम्बन्धमें यह निश्चय करना कि वह है, यह अपनी एक मनकी प्रतीतिको सत्य मानना है, परन्तु वह जिसको मालूम पड़ता है, जिसको प्रतीत होता है, जो आत्मा है, जो ब्रह्म है, वह एक दृढ़ सत्य निश्चित वस्तु है। वह(आत्मसत्ता) अकाट्य है—कोई न तो बोल सकता है कि मैं नहीं हूँ और न तो कोई ऐसा अनुभव कर सकता है कि मैं नहीं हूँ। तो आत्मसत्ता अकाट्य है और इसी आत्माको वेदान्त-शास्त्र यह बताता है, ब्रह्म विद्या यह बताती है कि वह ब्रह्म हैं, अविनाशी है, परिपूर्ण है, एकरस है। इस ब्रह्मबुद्धिको तर्क-वितर्क करके वह व्यक्ति प्राप्त नहीं कर सकता जो कभी आँखके पीछे चलता है, कभी नाकके पीछे चलता है, कभी जीभके पीछे चलता है, तो कभी हाथ-पाँवके पीछे चलता है कभी मशीनके पीछे चलता है। साथ-ही ऐसें तर्क-वितर्कके द्वारा कोई इस

आत्म-सत्यका, आत्म-विद्याका खण्डन करना चाहे तो वह भी नहीं कर सकता—यह ब्रह्म-विद्या केवल तर्कसे नहीं प्राप्त हो सकती। जितना तुम काट सकते हो, निषेध कर सकते हो उसका तुम निषेध कर लो और जो सबका साक्षी, कूटस्थ, परम प्रेष्ठ शेष बचा उसको वेदान्तने बताया कि यह ब्रह्म है। सद्गुरुने तत्त्वमस्यादि महावाक्यके द्वारा उपदेश किया कि वह सबका साक्षी है,कूटस्थ है, एकरस है, जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिका साक्षी है, अन्नमय-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमय-आनन्दमयसे न्यारा है, एकरस है, अपरिवर्तनशील है—यही ब्रह्म है, क्योंकि इसमें किसी प्रकारके नाम-रूपका आरोप नहीं है। यमराजने कहा—हे प्रियतम, तुम हमारे बड़े प्यारे हो, इसलिए यह रहस्य हम तुमको बताते हैं कि आत्म-सत्यके सम्बन्धमें तर्क-वितर्क के चक्करमें मत पड़ना, इसके लिए सद्गुरुकी आवश्यकता है और ऐसी बुद्धि जो तर्कसे नहीं मिलती वह तुमको मिल गयी है—**यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि। बत इति अनुकम्पयन् आह**—'बत' इस अव्ययसे यमराज अनुकम्पा करते हुए कहते हैं कि सचमें तुम्हारी प्रीति देखकर, तुम्हारी योग्यता देखकर हमारा हृदय दयासे, प्रेमसे भर गया।

ईश्वर और सद्गुरुमें—उनकी प्रत्येक क्रियामें प्रीति-ही-प्रीति होती है। कल मैं एक पुराना ग्रन्थ पढ़ रहा था तो उसमें एक कथा लिखी थी कि दो सज्जन गये तिरुपति बालाजी। दक्षिणमें है। तो एकने कहा कि ये क्या भगवान् हैं लक्ष्मीपति नारायण, कि पहले जब लोग बोलते हैं कि हम इतनी भेंट चढ़ावेंगे, इतनी पूजा करेंगे यदि हमारा यह काम हो जाय; तब वे उसका काम करते हैं और बोलकर काम हो जाय और भेंट न चढ़ायें तो फिर मय-ब्याजके वसूल भी कर लेते हैं—यह क्या भगवान् हैं, ऐसे उसने कहा।

दूसरेने कहा कि देखो, असलमें तुम ईश्वरको पहचानते नहीं हो—रत्नाकर समुद्र तो इनका श्वसुर है, चन्द्रमा इनका साला है, लक्ष्मी इनकी पत्नी हैं, कौस्तुभमणि इनके कण्ठमें है, कल्पवृक्ष इनके संकल्पसे उदय हुआ, फिर भी ये भेंट लेकरके काम करते हैं इसमें तो इनका उदग्र अनुग्रह है। जिसका काम हो उसको ये अपना समझते हैं, काम तो उसका होता ही है, उसको इतना अपना समझते हैं, उसके ऊपर इतनी करुणा करते हैं कि उसकी छोटी-से-छोटी भेंट स्वीकार कर लेते हैं। तो तिरुपति बालाजीकी क्रियामें दोष मत देखो, उनका जो अनुग्रह है उसको देखो, कि स्पृहा न होनेपर भी, आवश्यकता न होनेपर भी, तृष्णा न होनेपर भी, कोई कामना न होने पर भी भक्त-वात्सल्य—कारुण्यके कारण वे

अपने भक्तकी पूजा स्वीकार करते हैं। यह उनकी कृपा है, उनका अनुग्रह है लोग उनके अनुग्रहको समझते नहीं हैं।

एक बारकी बात है—मैं एक महात्माके साथ था, बच्चा ही था। सच्ची बात बताता हूँ। वहाँसे थोड़ी दूरपर एक बड़े प्रसिद्ध महात्मा रहते थे। मेरा मन हुआ कि उनका दर्शन कर आऊँ, पर उन्होंने मना कर दिया। बोले—मत जाओ। समझाया कुछ नहीं, मना कर दिया—मत जाओ। तो मनमें थोड़ा क्षोभ हुआ। फिर मैंने युक्ति निकाली कि घर जानेके लिए इनसे छुट्टी लें और रास्तेमें उनके दर्शन करके चले जायेंगे। तो उन्होंने घर जानेकी तो छुट्टी दे दी लेकिन साथ-साथ एक ऐसा काम बता दिया कि कल हम जरूर घर पहुँच जायें, तो इससे रास्तेमें जो दर्शन करनेवाली युक्ति थी वह बेकार हो गयी। थोड़े दिनोंके बाद देखो, अपने मनमें विचार उदय हुआ कि उन्होंने हमको जो वहाँ जानेके लिए मना किया तो, उसमें उनका अनुग्रह था। क्या कि उन दिनों हम एक श्रद्धाके मार्गपर चलकर, एक जप-पूजा करके भगवान्‌के सगुण-साकार रूपके दर्शनके लिए एक साधना कर रहे थे और वे महात्मा तो बड़े फक्कड़ थे, उनके पास यदि हम जाते तो पता नहीं क्या उनके मुखसे निकल जाता। तो जिस ढंगसे वे हमारे जीवनको गढ़ रहे थे, हमारे हृदयका निर्माण कर रहे थे, उसमें बाधा पड़ जाती—इसमें उनका कोई स्वार्थ नहीं था, उनका अनुग्रह था।

आपने सुना होगा—स्वामी विवेकानन्दजीने परमहंस रामकृष्णसे कहा—महाशय, राजा भरतकी आसक्ति हरिणसे हो गयी थी तो उनको तीन जन्म लेना पड़ा और आपकी आसक्ति हो गयी मुझसे तो कहीं आपको भी जन्म लेना पड़ेगा तो? आप इतनी प्रीति हमसे क्यों करते हैं? इसके उत्तरमें परमहंसजीने कहा कि नरेन्द्र-नरेन्द्र ही नाम था उनका—तुम हमको ईश्वरका रूप मानते हो केवल श्रद्धासे, अन्जानमें, अन्धेरेमें; लेकिन, मैं अनुभव करता हूँ कि तुम ईश्वर-स्वरूप हो और अपने साक्षात् अपरोक्ष निरावरण अनुभवसे यह जानता हूँ कि परमात्माके सिवाय न मैं हूँ, न तुम हो, न यह है, न वह है—परमात्माके सिवाय दूसरा कोई नहीं है; तुम स्वयं परमात्माके स्वरूप हो—आसक्तिका भला क्या अर्थ हुआ? तत्त्ववित् यदि किसीसे प्रीति करता है तो वह तो ईश्वर है, वह तो उसका आत्मा है, वह तो उसका स्वरूप है।

तो हे प्रेष्ठ! मेरे परम प्रियतम आत्म-स्वरूप नचिकेता! जो बुद्धि तुम्हें मिली

है वह तर्क-वितर्कसे नहीं मिलती, वह जन्म-जन्ममें सत्कर्मका अनुष्ठान करनेसे, ईश्वरकी कृपा होनेसे, सद्गुरुओंका प्रीतिभाजन, वात्सल्यभाजन होनेसे वह मति मिलती है, वह तर्क-वितर्कसे, चालाकीसे नहीं मिलती है। तुम्हारी बुद्धि सत्य-धृति है।

सत्य-धृतिका अर्थ क्या है? धृतिके लिए तो आपने गीतामें पढ़ा ही होगा—तीन तरहकी धृति होती हैं—सात्त्विकी, राजसी, तामसी—

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी॥ (१८.१३)

जिससे मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाको हम अपने काबूमें रखें—यह सात्त्विक धृतिका लक्षण है। आदमीको जब क्रोध आता है तो अपने दिलके वेगको वह रोक नहीं सकता, छिपा नहीं सकता, छह महीनेसे,बारह महीनेसे ज़ो बात दिलमें भरी होगी वह क्रोधके समय मुँहसे निकल जायेगी—अरे हम तुमको खूब समझते हैं, खूब जानते हैं—जब क्रोध आता है तब बात निकल जाती है। तो धृति उसको कहते हैं कि जिसमें मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रिया योगके द्वारा, अभ्यासके द्वारा अपने काबूमें कर लिया जाय और धृति व्यभिचारिणी न होवे—यह सात्त्विक धृति हुई। राजसी धृति और तामसी धृतिसे हमारा कोई प्रयोजन नहीं, क्योंकि हम तरह-तरहकी धृतिका वर्णन करनेके लिए तो आपके सामने बैठे नहीं हैं, परन्तु यहाँ जो सत्य धृति है, यह उस सात्त्विक धृतिसे विलक्षण है, तामससे भी विलक्षण, राजससे भी विलक्षण हैं और मन-प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाको अभ्याससे धारण करनेवाली जो धृति है उससे भी विलक्षण है। धृति माने धारण करनेकी शक्ति। यहाँ विलक्षणता क्या है कि यह धृति मन-प्राण-इन्द्रियोंकी क्रियाको धारण करना नहीं है, यहाँ तो सत्यको धारण करना है। वह बुद्धि तुमको प्राप्त हुई है जो सत्यको धारण करे—तुम सत्य-धृति हो, तुम्हारी बुद्धिके पेटमें सत्य आ गया।

लोगोंको जरा ध्यान होता है कि हम बड़े सत्यवादी हैं—कोई-कोई तो दूसरेका तिरस्कार भी कर देते हैं कि तुम झूठ बोलते हो, मैं सच्चा हूँ। ईश्वर-कृपासे ऐसा अभिमान होना भी अच्छा है, लेकिन केवल सत्य ही गुण नहीं होता, दूसरेका अपमान न करना भी एक गुण है, उसको भी तो ध्यानमें रखना चाहिए। तुम तो एक ही गुणमें फँस गये, दूसरा गुण तुम्हारा गायब हो गया बोले, कि हम सच्चे हैं। कि सच्चे तो हो पर अभिमानी हो, दूसरेका तिरस्कार करनेवाले हो। बोले कि हम

सत्यवादी हैं, कि हो तो बहुत अच्छा है, ईश्वर करे तुम बने रहो, परन्तु तुम्हारे सत्य-भाषणके साथ-साथ तुमसे यह पूछना है कि क्या तुमको सत्यका ज्ञान है जिसका तुम भाषण करते हो? क्या तुम सत्यको पहचानते हो? तुम तो दूसरोंके बहकावेमें आ गये हो। दूसरोंने बहका करके जो तुमको सत्य समझा दिया उसको तुम सत्य समझते हो। बोले—नहीं नहीं, हम किसीकी नहीं सुनते हैं। कि अरे तुम सुनते हो आँखकी, तुम सुनते हो जीभकी, तुम सुनते हो नाककी, तुम सुनते हो कानकी, तुम सुनते हो त्वचाकी—है न और इस वासना-वासित मनीरामकी सुनते हो—इन्होंने तो तुमको एक सत्यको पाँच प्रकारका बताकर रख दिया—कान कहता है शब्द है, आँख कहती है रूप है, त्वचा कहती है कि स्पर्श है, नाक कहे कि गन्ध है, जीभ कहे कि रस है—एक ही सत्ताको पाँच ढंगसे फाड़-फूड़ करके, तोड़-फोड़ करके रख दिया और तुम इनकी बातोंको सत्य मानते हो, इनके बहकावेमें आ गये। तुम सत्य-धृति कहाँ हो? पहले सत्य-धृतिको समझो तो। देखो न, तुम्हारे मनमें कृष्णकी वासना है, तो रामको तुम ईश्वर ही नहीं मानते हो, मनने तुमको बहकाया है कि नहीं? और तुम्हारे मनमें रामकी वासना है, तो कृष्णको ईश्वर नहीं मानते, शिवकी वासना है, तो विष्णुको ईश्वर नहीं मानते, विष्णुकी वासना है तो शिवको ईश्वर नहीं मानते। नारायण! तो तुम्हारे वासनावाले मनने तो तुमको बहका दिया है, तुमको सत्यका ज्ञान ही नहीं है, तुम सत्य-धृति कहाँसे हो? परन्तु इसमें भी एक गुण है।

एकने कहा कि यह तो शिव-शिवको छोड़ करके विष्णु-विष्णु बोलता ही नहीं, एकने कहा कि भई यह तो विष्णु-विष्णु छोड़कर के शिव-शिव बोलता ही नहीं; दोनों बड़े कट्टर-पंथी हैं। कि इन्हें कट्टर-पंथी मत कहो भाई! सती-स्त्री तो वही है जो पर-पुरुषका स्पर्श नहीं करती, तो जिसके हृदयमें शिव-भक्ति है वह अपने हृदयको शिवाकर रक्खे; जिसके हृदयमें विष्णु-भक्ति है वह अपने हृदयको विष्णवाकार रखे; जिसके हृदयमें राम-भक्ति है वह अपने हृदयको रामाकार रखे; जिसके हृदयमें कृष्ण-भक्ति है वह अपने हृदयको कृष्णाकार रखे। ठीक है, इस भक्तिसे राम, कृष्ण, शिव, विष्णु, गणेश, शक्ति, सूर्यादि औपाधिक जो एक परमात्मा है उस परमात्माकी प्राप्तिमें मदद मिलेगी, लेकिन सत्य कौन है? कि सत्य वह परमात्मा है जो इन सबके भीतर एक है, जो प्रकृतिके विकारसे विकृत नहीं होता और जो तुम्हारी वासनाके संस्कारसे संस्कृत नहीं होता, जो अवितथ है-सत्य माने अवितथ—जो वैतथ्यको प्राप्त न होवे, उसको सत्य कहते हैं।

तो सत्य धृति क्या है? कि **अवितथविषया धृतिर्यस्य तव स त्वं सत्यधृतिः**— तुम्हारी धृति कहाँ है कि अवितथ विषयमें लगी है, जो वैतथ्यको प्राप्त नहीं होता। यह दुनिया बहुरूपिया है महाराज! हमने तो कई फूल ऐसे देखे हैं जो जन्मा तब सफेद और बड़ा हुआ तो लाल और बुड्ढा हुआ तो नीला। एक ही फूल-जब खिला तब सफेद, जब प्रौढ हुआ तब लाल और टूटनेके समय तक नीला पड़ गया-उस फूलका कौन-सा रंग है आप बताओ तो? वह तो बहुरूपिया है, वह वितथ है। अच्छा, बाल काले होते हैं कि सफेद होते हैं? कि भूरे होते हैं कि सुनहले होते हैं? नारायण! अरे ये तो अनेक रूप हैं भाई, इसमें क्या सच है? यह इन्द्रियोंसे जितना संसार, जितनी सृष्टि मालूम पड़ती है यह केवल प्रतीति मात्र है, अपना नाम बदलती रहती है अंग्रेजीमें इनका नाम कुछ, तो हिन्दीमें कुछ, तो तमिलमें कुछ और तेलगूमें कुछ, जर्मनीमें कुछ, तो रशियनमें कुछ। नाम क्या है इनका? ये देश-देशमें नाम बदलें, जाति-जातिमें नाम बदलें, बारह-बारह कोसपर तो अपना नाम बदल दें और क्षण-क्षणमें अपना रूप बदल दें—इनका नाम सत्य है? ये सब-के-सब वितथ हैं, जैसा दीखते हैं वैसा इनका स्वरूप नहीं है! अपनी इन्द्रियोंसे संसारको जैसा तुम देख रहे हो वह इसका स्वरूप नहीं है! यदि उनमें-से किसी एक रूपको पकड़ लोगे तो तुम वितथको पकड़ोगे, जैसा वह नहीं है उसको पकड़ोगे; जो उसके अन्दर एक रस कूटस्थ-सत्य है उसको पकड़ो तब मालूम पड़े। तो यमराज नचिकेताकी प्रशंसा करते हैं—मेरे प्यारे नचिकेता, मन यह होता है कि सचमुच सारा तत्त्वज्ञान तुम्हारे ऊपर उँडेल दें, क्योंकि तुम सत्यको पकड़ते हो, सत्य-धृति हो।

त्वदृङ्नो भूयान्नचिकेतः प्रष्टा।

नचिकेता, तुम्हारे सरीखा पूछनेवाला सृष्टिमें हमको और कौन मिलेगा? न बेटा मिलेगा, न चेला मिलेगा, तुम तो सचमुच सत्यके प्रष्टा हो। लोग सत्यके बारेमें प्रश्न नहीं करते हैं, प्रश्न करते हैं कि हमको सुख कैसे मिलेगा!

अच्छा, कोई बात सच्ची होवे, लेकिन यदि उसको खोल देनेसे तुमको तप होता हो, कष्ट होता हो तो तुम उसको खोल देनेके लिए राजी हो कि नहीं? यदि नहीं तो क्या तुम सत्यके प्रेमी हो? अच्छा, एक बात है तो सच्ची, लेकिन खोल देनेपर तुम्हें यदि रुपयेका थोड़ा नुकसान होता होवे या लोकमें तुम्हारी थोड़ी बदनामी होवे तो क्या तुम उसको खोल देनेको राजी हो? एक बात है तो सच्चीपर खुलनेसे यदि आज तुमको रोटी नहीं मिलेगी, तो क्या बोलोगे—यही न कि चुप रहो, सत्यको मत खोलो!

असलमें सत्यका प्रेमी कौन है? देखो, प्रेमका तो यह मतलब होता है कि जो अपने प्रियतमके साथ संकट उठानेको, कष्ट उठानेको तैयार होवे, अपने प्रियतमके साथ रहना मिले और उसके लिए चाहे जितनी तकलीफ उठानी पड़े, सहनेको तैयार होवे—तब न उसको प्रेमी बोलेंगे। तो तुम्हारे सत्यके साथ रहनेसे यदि इन्द्रियोंका भोग छूट जाये, मनकी वासना पूरी न हो, तुम्हें ऊँचा सिंहासन न मिले, लोकमें थोड़ी बदनामी हो जाये तो क्या तुम सहनेको तैयार हो?

बोले-नारायण! कभी-कभी कोई ऐसा प्रश्न करता है कि तबियत खिल जाती है! एक बात कभी किसीको समझायी और उसको वह समझमें आगयी या उसने समझनेकी कोशिश की तो तबिअत खुश हो जाती है। समझनेकी कोशिश करनेकी भी पहचान होती है। जो समझनेकी कोशिश करता है उसको समझनेमें जहाँ अड़चन आती है वह उसका आगेका प्रश्न बन जंाता है। तो उसके प्रश्नोंसे यह बात जाहिर हो जाती है। ऐसा भी है कि—एक बार समझ जानेपर दूसरा प्रश्न उठता है, उसका अगला प्रश्न जब उठता है तब मालूम पड़ता है कि इसने समझा है या समझनेकी असली कोशिशकी है। मगर अक्सर होता यह है कि बातको समझनेमें जो असली अड़चन है उस पर तो नजर ही नहीं जाती है या उसको समझ लेनेके बाद जो दूसरा प्रश्न उठता है वह प्रश्न उठता ही नहीं! कभी-कभी लोगोंको ऐसा ख्याल हो जंाता है कि हम समझ गये, समझ गये, समझ गये-अरे समझ गये माने? कि अब तुम्हें समझकी जरूरत नहीं रही! समझ गये माने यह होता है कि तुम स्वयं ज्ञान-स्वरूप हो, सत्य हो! अब तुम्हें समझनेकी कोई जरूरत नहीं है।

तो नारायण नचिकेता-सरीखा प्रश्न-कर्त्ता दुर्लभ है। गुरुजी तो ऐसे बोलते हैं कि बेटा, तुम तो हमसे भी एक कदम आगे हो। जितना वैराग्य तुम्हें है, हमारा काम तो इससे कम वैराग्यमें ही चल गया था, तुम तो बड़े त्यागी, बड़े तपस्वी, बड़े विरक्त हो!

यमराजकी दृष्टिमें नचिकेता उनसे भी आगे है

अध्याय-१ वल्ली-२ मंत्र-१०-११

जानाम्यहꣳशेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।
ततो मया नाचिकेताश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम्॥ १.२.१०

अर्थ :—मैं जानता हूँ कि कर्मफलरूप निधि अनित्य है। क्योंकि अध्रुव साधनके द्वारा वह ध्रुव आत्मा प्राप्त नहीं किया जा सकता। (फिर भी क्योंकि इस बातको जानकर भी साधन दशामें) मेरे द्वारा नाचिकेत अग्निका चयन किया गया था (कारण कि उस समय मुझे इतना तीव्र वैराग्य नहीं था जितना तुमको अपनी इस साधन-दशामें है—हमने तो आत्मज्ञानके लिए तुम्हारेसे कम वैराग्यमें ही काम चला लिया था।) अतः उन (अग्निचयन-विषयक) अनित्य पदार्थोंसे मैं इस अपेक्षाकृत नित्य यमराजके पदको प्राप्त हुआ हूँ (जिस पदका निर्वाह अब मैं आत्मज्ञानी होकर भी कर रहा हूँ। अतः हे नचिकेता! तुम तो मुझसे भी आगे ही हो क्योंकि—)

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम्।
स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्य धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः॥ १.२.११

अर्थः-हे नचिकेता! तुमने तो धीर होकर और बड़े धैर्यपूर्वक उन भोगोंकी अवधिको, जगत्की प्रतिष्ठाको, यज्ञफलके अनन्तत्वको, अभयकी मर्यादाको, स्तुत्य और महती विस्तृत गतिको(जो हिरण्यगर्भ-पदसे उपलक्षित होती हैं) देखकर भी त्याग कर दिया है!

जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यम्—यमराज कहते हैं कि मैं जानता हूँ कि ये दुनियाके खजाने—शेवधि माने खजाना—अनित्य हैं।

अहं जानामि! किं जानामि? शेवधि इति यदुच्यते तदनित्यम्।

दुनियामें जिसको खजाना कहा जाता है वह अनित्य है। शेवधि कहते हैं उसको जो अपने सुखमें अवधि-रूप होवे। **शे कल्याणे अवधिः यस्मात्**—जिसके बारेमें हम सोचें कि वाह-वाह! इससे हमारी खूब भलाई होगी वह है शेवधि। अथवा शेवेधि माने जिसमें हम सो गये।

तो शेवधि माने खजाना या निधि! लेकिन संसारमें कितनी भी निधि प्राप्त हो जाय, बस एक कहानी ही शेष रह जायेगी। आप कभी दक्षिणमें गये होंगे—जिसने रामेश्वरका मन्दिर बनवाया, मदुरा-मीनाक्षीका मन्दिर बनवाया, जिसने श्रीरङ्गम्का मन्दिर बनवाया—करोड़ों रुपये जिन्होंने खर्च किये, मुहरोंमें उन दिनों गिनती होती थी—बारह लाख मुहरें खर्च हुईं कि सत्रह करोड़ मुहरें लगीं। अब उनकी कहानी ही सुननेको मिलती है, न वे बनवाये वाले रहे न उनका वह धन रहा! यह धन जिसको इकट्ठा करनेमें लोग अपनी जिन्दगी गाँवा देते हैं वह अनित्य हैं। संसारमें जहाँ-जहाँ सुख मालूम पड़ता है वहाँ-वहाँ भय है!

भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयं वित्ते नृपालाद् भयं
मौने दैन्यभावं बले रिपुभयं रूपे जराया भयम्।
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं काये कृतान्तात् भयं
सर्वं वस्तुभयं भुवि नृणां वैराग्यमेवाभयम्॥

(वैराग्य शतक)

बहुत भोग करोगे तो रोग होनेका डर है। वंशका, कुलका अभिमान करोगे तो यह डर रहेगा कि कोई वंशका नाम न डुबा दे। बहुत धन इकट्ठा करोगे तो चोरका, राजाका डर रहेगा। मौनी बन जाओगे तो उसमें दीनताका भय रहेगा कि हाय-हाय हमारा काम कैसे चलेगा। बल हो तो दुश्मनका भय है। सौन्दर्य हो तो बुढ़ापा आनेका डर है। शास्त्रका ज्ञान ज्यादा हो तो वाद-विवादका डर रहता है। गुणी हो तो दुष्टोंका डर है कि वे नीचे गिरानेकी कोशिश न करें। शरीरपर यमराजका भय है। संसारकी सभी वस्तुओंमें भय लगा हुआ है। केवल वैराग्य ही निर्भय है, नहीं तो संसारमें ऐसा स्थान नहीं जहाँ भय न हो।

तो लोग जिसको खजाना बोलते हैं, उसमें देखो, पहली बात तो यह कि वह हमेशा रहनेवाला नहीं; दूसरे—हम तो उससे प्रेम करते हैं वह हमसे प्रेम नहीं करता; हम चैतन्य हैं वह जड़ है। यह तो पागलसे प्रेम हुआ!

गाँवमें एक आदमीने कुत्ता पाला, बड़े प्रेमसे बहुत दिनोंतक पाला। उसका ख्याल था कि यह हमारा पहरा देगा। पर जब चोरोंको उसके घर चोरी करनेका ख्याल आया तब वे दिनमें उसके घरके आस-पास आवें और कुत्तेको गुड़ खिला जावें। अब वह उनको ऐसा पहचान गया कि रातको वे आये और चोरी करके सब माल-मत्ता ले गये और, कुत्तेने भूँका ही नहीं, वह तो उनके पास पूँछ हिलाता फिरता रहा कि ये तो वही गुड़ खिलानेवाले हैं।

यह पैसा किसी दुकानदारको नहीं पहचानता है कि यह हमारा मालिक है। यह चाँदी, यह सोना, यह नोट, इनके लिए सब बराबर—चोर-साहूकार बराबर, राजा-प्रजा बराबर, सब दुकानदार बराबर, सच्चे-झूठे बराबर। यह हमेशा रहनेवाला नहीं है, तुम उससे इतना प्रेम करते हो और वह तुम्हारे प्रेमको पहचानता नहीं, तुम्हारे हाथमें आकर उसको कोई मजा नहीं आता और अभिमान देकर तुमको धोखेमें डालता है—हम जानते हैं इस संसारके सारे खजाने अनित्य हैं।

न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।

वह जो परम सत्य वस्तु है वह अध्रुव वस्तुओंसे, अध्रुव माने अनित्य—प्राप्त नहीं होती। अनित्य वस्तुसे कोई चाहे कि हम नित्यको प्राप्त कर लेंगे तो नहीं कर सकते। एक सज्जन गये अमेरिका तो वहाँ उनको मशीनी दिमाग दिखाया गया कि वह कैसे काम करता है। अब तो मशीनसे मस्तिष्कका अधिकांश तो नहीं पर बहुत काम ले लेते हैं। मस्तिष्कके कई पुर्जे मशीनसे बना लिए गये हैं। कोई १० अरब पुर्जे हैं मस्तिष्कमें, उनमें कोई १० लाख पुर्जेके करीब विज्ञानके द्वारा बना लिये गये हैं और वे अपना काम बिल्कुल ठीक-ठीक करते हैं। तो किसीने उन सज्जनसे कहा कि देखो, यह हमलोगोंने यह मशीनसे कैसा बढ़िया मस्तिष्क बनाया है। वे बोले कि हम इस बनाये हुए मस्तिष्ककी तारीफ नहीं करते हैं, हम तो उस ईश्वरके बनाये हुए मस्तिष्ककी तारीफ करते हैं जिसने इसको बना लिया, इसको खोज लिया। प्रशंसा करने योग्य कौन है? कि ईश्वरका बनाया मस्तिष्क।

एक हमारे मित्र हैं, अभी कलकत्तामें रहते हैं। वे अमेरिका गये थे, वहाँ उनके एक अमेरिकन मित्रने उनसे पूछा कि अब तुम बताओ तुम्हारे देशमें ऐसी कौन-सी चीज है जो हमारे यहाँ नहीं है? बड़े सम्पन्न पुरुष हैं। वे बोले कि देखो, पैसेसे जितनी चीजें यहाँ मिलती हैं, उतनी हमारे देशमें नहीं मिल सकतीं, माने खरीदकर जितनी चीजें यहाँ मिल सकती हैं—माने जितनी चीजें अमेरिकामें हैं उतनी हमारे देशमें नहीं हैं। हमारे देशकी सब चीजें यहाँ मिल जायेंगी, पर हमारे देशमें एक ऐसी चीज़ है जो पैसेसे नहीं खरीदी जा सकती। क्या? कि कोई कितना भी सम्पन्न होवे—पैसेके बलपर आप एक महात्माको लाकर ट्यूशनपर नहीं लगा सकते कि ट्यूशन करो और हमको ब्रह्मज्ञान सिखाओ! ये ट्यूशनी लोग ब्रह्मज्ञान नहीं सिखा सकते। हमारे देशमें ब्रह्म-विद्या है, हमारे देशमें ब्रह्म-विद्याके जानकार संत हैं, महापुरुष हैं, वे पैसेसे नहीं खरीदे जा

सकते, वे तुम्हारे देशमें नहीं हैं—हमारे देशकी विशेषता भौतिक-विज्ञानकी उन्नतिमें नहीं है, आत्मज्ञानकी उन्नतिमें है।

हम पहचानते हैं कि इन अनित्य वस्तुओंसे नित्य-वस्तुकी प्राप्ति नहीं हो सकती! तो, देखो नचिकेता, अनित्य जो वस्तु है, अनित्य सुखात्मक जो खजाना है वही अनित्य द्रव्यसे प्राप्त होता है: मैंने अनित्य द्रव्योंसे यह जानकर भी अनित्यसे नित्यकी प्राप्ति नहीं होती। अग्निका चयन किया और अनित्य द्रव्योंके द्वारा यह यमराजकी पदवी प्राप्त की। वह तो उससे अन्तःकरण शुद्ध हुआ, और इसके प्रभावसे बादमें तत्त्वज्ञान हो गया। तो पहलेसे स्वीकृत जो पद है उसकी अवधि पूरी करनी पड़ेगी—यह बात ठीक है; लेकिन तुम्हारे हृदयमें तो आजही इतना वैराग्य है कि तुम अग्नि-विद्याका जो फल है उसको बिना अग्निकी आराधना किये ही हम देना चाहते हैं और तुम उसको लेना नहीं चाहते हो, जब कि हमने तो परिश्रम करके, अग्निकी आराधना करके ये सब वैराग्य नहीं था जितना वैराग्य आज तुम्हारे अन्दर है, इसलिए हम तुमसे प्रसन्न हैं।

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम्।
स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेताऽत्यस्राक्षीः॥ ११॥

तुमने **कामस्याप्ति** माने जहाँ कामकी आप्ति माने समाप्ति हो जाती है, जहाँ सारे काम-मनोरथ परिपूर्ण हो जाते हैं, जो अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव आदिकी प्रतिष्ठा-आश्रय है—सर्वात्मक होनेसे। जो क्रतु उपासनाका फल है—हिरण्यगर्भ पद; और जो औरोंकी अपेक्षा अनन्त है, जो अभयकी परा-निष्ठा है, जो स्तोम, माने जो स्तुत्य है, और जो महत् माने-जो अणिमादि अनेक ऐश्वर्यादि गुणोंसे जुष्ट है, जो वह स्तोम है, महत् है निरतिशय होनेके कारण और जो बड़ी विस्तीर्ण गति है, जो प्रतिष्ठा-स्थिति है-सबसे उत्तम, तुमने धीरतासे, धैर्यसे नचिकेता उन सबका परित्यग कर दिया है; और केवल ब्रह्मविद्या, आत्मज्ञानका वरण किया है और सारे संसारके भोगका तुमने परित्याग कर दिया है—अनुत्तम गुणवाले हो तुम। सचमुच तुम जिस ज्ञानको प्राप्त करना चाहते हो वही ज्ञान सबसे श्रेष्ठ है-महत् फलत्वात्—क्योंकि जिसको आत्मज्ञानकी प्राप्ति होती है उसके जीवनकी समस्याका ही हल हो जाता है।

अध्याय-१ वल्ली-२ मंत्र-१२

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥ १.२.१२

अर्थ :–उस कठिनाईसे देखे जानेवाले, गहराईमें अनुप्रविष्ट, बुद्धिरूप गुफामें स्थित, विषम स्थान(द्वैत जगत्के अनेक कष्टों) में स्थित, पुराण देवको अध्यात्मयोगके अधिगमके द्वारा जानकर धीर पुरुष हर्ष और शोक दोनोंको त्याग देता है।

मनुष्यके जीवनमें यह धूप-छाँह चलती रहती है—क्षणमें खुश हुआ, क्षणमें नाराज हुआ। हमारे बाबा जब किसी स्त्रीपर नाराज होते थे तो बोलते थे—**क्षणे रुष्टा क्षणे तुष्टा, रुष्टा तुष्टा क्षणे-क्षणे**। क्षणमें रुष्ट हुई, क्षणमें तुष्ट हुई, पता नहीं कब नाराज होती है कब खुश होती है। हमने भी स्वयं देखा है कि एक साथ आँखमें आँसू भी हैं और होठों पर मुस्कान भी है। लेकिन यह बात स्त्रीकी नहीं है, अपने भीतर जो चित्त-वृत्ति है उसकी यह दशा है कि जरा-सी बातमें खुश और जरा-सी बातमें नाराज! मगर यह क्या कोई जिन्दगी है कि न खुशका पता चले न नाराजगीका? अगर आज एकाएक किसीसे प्रश्न कर दें कि बताओ तुम संसारमें सुखी हो या दुःखी हो-तो एकाएक कोई इसका जवाब नहीं दे सकता! और ऐसा भी है कि पूछो तो सबेरे एक उत्तर देगा, दोपहरको दूसरा उत्तर देगा और शामको तीसरा उत्तर देगा! एक बार कहेगा-वाह-वाह-वाह आनन्द आगया; और दूसरी बार कहेगा-हाय-हाय! हमारी तो जिन्दगी खराब हो गयी। परन्तु सत्य ऐसा है कि यदि उसका ज्ञान हो जाय तो धीर पुरुष हर्ष और शोक दोनोंको दुनियाँमें केंचुलकी तरह छोड़ देता है—

मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।

ये हर्ष-शोक तो आते-जाते रहते हैं, ये तो धूप-छाँहकी तरह हैं, ये तो जिन्दगीके मजा हैं! जैसे आप कोई नाटक देखने जायँ और उसमें करुण-रसका कोई बढ़िया नाटक आवे तो उसका मजा आनेके लिए भी यह आवश्यक है कि बीच-बीचमें हास्य-रसका पुट आता जाये। विदूषक लोग बीच-बीचमें हँसा जाते

हैं। केवल करुण-रस ही नहीं चाहिए, शृंगार-रस भी चाहिए, हँसी भी चाहिए। जैसे नाटकमें है वैसे ही चित्रशालामें भी है।

एक बार दक्षिणमें हम कहीं चित्रशाला देखने गये। बड़ी बढ़िया चित्रशाला थी। जब शृङ्गार-रसका चित्र देखें तब मनमें ललित-भावका उदय होवे और जब वीर-रसका चित्र देखें तब चित्तमें उत्साह आवे, जब करुण-रसका चित्र देखें तब आँखमें आँसू आ जाये और जब हास्य-रसका चित्र देखें तो हँसते-हँसते लोट-पोट हो जायें!

काशीमें एक भारतमाताका मन्दिर है-डाक्टर भगवानदासके प्रयत्नसे वह बना था, पहले उसे शिवप्रसाद गुप्तने बनवाया था। तो अंग्रेजोंके जमानेमें उसमें जाते थे। उसमें पराधीन भारतका नक्शा था, उसको देखें तो आँखोंमें आँसू आ जाये! लेकिन देखो, जब चित्रशालासे या नाटकशालासे बाहर निकलते हैं या सिनेमा-हॉलसे निकलते हैं तो यह लगता है कि मजा आता है-सब तरहका रस लेकर भी वहाँ मजा आता है-रोकर भी मजा आता है, हँस कर भी मजा आता है।

यह जीवन तो एक नाटक है, इसमें कभी हर्ष आता है कभी शोक आता है, आप तो उस सत्य आत्माको देखो जो हर्षके दृश्यको पार करता जा रहा है, जो शोकके दृश्यको पार करता जा रहा है, जिसके सामने हजारों रोनेके मौके आये और वह ज्यों-का-त्यों, हजारों हँसनेके मौके आये और वह ज्यों-का-त्यों; सैकड़ों ब्याह हुए और सैकड़ों बच्चे हुए; सैकड़ों बार पैसा आया और सैकड़ों बार गया और सैकड़ों मौतें हुई और वह ज्यों-का-त्यों है; तो उसका पता लगाना चाहिए कि वह कौन है? सब झेलता हुआ भी वह कौन है जो पहाड़की चोटीकी तरह, पहाड़के शिखरकी तरह, चित्रकूटकी तरह, त्रिकूटकी तरह, कूटस्थ बैठा है—वर्षा आयी, हो गयी; गर्मी आयी, पड़ गयी; जाड़ा आया, चला गया; और वह ज्यों-का-त्यों है। ऐसा कौन है—उसका पता लगाओ! उसके ज्ञानसे क्या होता है? कि हर्ष शोक दोनों छूट जाते हैं।

परन्तु बात यह है कि वह दुर्दर्श है। दुर्दर्शका अर्थ क्या है? कि *दुःखेन दर्शनम् अस्य इति दुर्दशम्*—बड़ी मुश्किलसे दीखता है। क्यों? क्यों कि दसवाँ पुरुष ही गायब हो गया है-बोले-हाय-हाय! दसवाँ पुरुष ही नहीं मिलता है, हमलोग दस चले थे, नौ तो नदी पार कर आये परन्तु दसवाँ डूब गया। कि नहीं, दसवाँ डूबा नहीं है। डूबा नहीं है तो दीखता क्यों नहीं है? कि अरे, दिखेगा कैसे, वह तो तुम स्वयं ही हो न! अपने आपपर नजर ही नहीं जाती है इसलिए दुर्दर्श हो गया है।

एक जैन कथा आती है—एक राजकुमार थे बड़े सुन्दर। उनको जवानीमें ही वैराग्य हो गया, तो उन्होंने जैन-साधुसे दीक्षा ग्रहण कर ली और यह व्रत लिया कि रोज दस आदमियोंको जैन-सम्प्रदायमें दीक्षित करनेके बाद भोजन करेंगे, नहीं तो नहीं करेंगे। एक दिन ऐसा हुआ कि एक वेश्या थी गाँवमें, सो उसके प्रति उनकी आसक्ति हो गयी, फँस गये। अत्यन्त आसक्ति हो गयी, धर्म-व्रत सब टूटने लगे, परन्तु उन्होंने यह एक नियम बनाये रखा कि दस आदमियोंको रोज जैन-धर्ममें दीक्षित करेंगे, नहीं तो खाना नहीं खायेंगे। एक दिन क्या हुआ कि नौ व्यक्तियोंको तो उन्होंने दीक्षित कर दिया, दसवाँ उनको नहीं मिला। दसवाँ मिला नहीं और वेश्या कहे कि भोजन करो और वह कहे कि हमारा व्रत पूरा नहीं हुआ, हम करें कैसे भोजन? हम भोजन नहीं करेंगे! बात ज्यादा बढ़ी। अन्तमें उस वेश्याने कहा कि तुम दसवें पुरुषको ढूँढ रहे हो जैन-धर्ममें दीक्षित करके उसका उद्धार करनेके लिए, तो तुम दसवें हो तुम अपना ही उद्धार क्यों नहीं करते हो? बोला—ऐं, मेरा उद्धार क्या अभी बाकी है? मैं तो जैन-धर्ममें दीक्षित हो चुका हूँ। वह बोली कि जब तुम्हारे अष्टादश दूषण दूर नहीं हुए, तुमको त्रिरत्नकी प्राप्ति नहीं हुई, तुमको सम्यक् चारित्र्यकी प्राप्ति नहीं हुई-एक वेश्याके साथ फँसे हुए हो और तुम दूसरोंका उद्धार करने जाते हो? तुम क्या उद्धार करोगे? तुम ही दसवें हो—दशमस्त्वमसि! बोला-अच्छा, मैं दसवाँ! दसका उद्धार रोज करता था पर मेरा उद्धार अभी बाकी है यह ख्याल ही नहीं आता था!

तो यह मनुष्यका क्या चक्कर है कि यह दूसरेके बारेमें चाहे जो कुछ जान ले, चाहे जो कुछ बता दे, चाहे जो कुछ कह दे, लेकिन अपने बारेमें क्या यह बता सकता है कि हमारी आँख ठीक देखती है कि नहीं? हमारा कान ठीक सुनता है कि नहीं, क्या यह इसको मालूम है? हमारे मनमें क्या-क्या आता-जाता है, क्या यह भी इसको मालूम है? बोले-मालूम है! तो माना कि सबके बारेमें इसको मालूम है-पड़ोसीके कुत्तेके बारेमें मालूम है, उसकी बहूके बारेमें मालूम है, उसकी बेटीके बारेमें मालूम है, विलायतमें जाकर उसने क्या किया यह मालूम है-परन्तु मैं कौन हूँ? यह इस मनुष्यको मालूम नहीं है। यह आत्मा बड़ा दुर्दर्श है—पर्दानशीन बोलते हैं इसको-यह पर्दा नशीन है—**तं दुर्दर्शम्**। जब बाह्य पदार्थकी ओरसे अपनी वृत्तिको हटाते हैं और 'मैं कौन हूँ'-यह प्रश्न उठता है तब इसका ज्ञान होता है। **गूढमनुप्रविष्टं**-बहुत छिपा हुआ है यह आत्मतत्त्व। **गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्**। इस आत्मदेवको यदि जान लो-अपने

हृदयमें रहनेवाले परमात्माको जान लो तो संसारके जो हर्ष-शोक हैं वे तुमको कष्ट नहीं पहुँचायेंगे।

अब इस मात्रका जो अभिप्राय है वह आपको आगे सुनावेंगे। यह अभी बारहवाँ मन्त्र है, अठारहवें मन्त्रसे आत्माके स्वरूपका निरूपण प्रारम्भ होगा; तो उस आत्माके स्वरूपका ज्ञान कितना महत्त्वपूर्ण है—यह ज्ञानकी स्तुति है।

यमराज बताते हैं कि नचिकेता जिस आत्मतत्त्वको तुम जानना चाहते हो—**यं त्वं ज्ञातुम् इच्छसि आत्मानम् तं दुर्दर्शम्**—जिसको तुम जानना चाहते हो उसका दर्शन दुर्लभ है। **दुःखेन दर्शनम् अस्य इति दुर्दर्शः**—जिसका दर्शन बड़ी कठिनाईसे होवे, सो दुर्दर्श क्यों है? कि दुर्दर्श यों है कि हमारे पास जो दर्शनके कारण हैं, औजार हैं वे सब बहिर्मुख हैं—

परांचि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूः तस्मात् पराङ्पश्यति नान्तरात्मन्।

विधाताने जब इस शरीरका निर्माण किया तब हमारी इन्द्रियोंको बाहरकी चीज देखने वाला बना दिया; और आत्मा जो है वह कोई बाहरी वस्तु तो है नहीं, वह तो स्वयं है। तो हम आँखसे नीला-पीला-काला तो देख सकते हैं परन्तु आत्मवस्तुको आँखसे नहीं देख सकते। यह जो स्त्री नाम है या पुरुष नाम है यह आँखसे नहीं दिखायी पड़ता; यह तो कोई ऐसा कल्प था जिसमें दाढ़ी-मूँछवाले पिताका नाम स्त्री था और दाढ़ी-मूँछ रहित गर्भको धारण करने वालेका नाम पुरुष था—परन्तु इस कल्पमें हमलोगोंके दिमागमें यह संस्कार भर दिया गया कि जो गर्भ धारण करे वह स्त्री और जो गर्भ धारण करावे वह पुरुष—ये नाम अबकी बार बदल दिये गये हैं। तो आँखसे तो नीला-काला-पीला-लाल रंग और लम्बी-गोल आकृति, नाटी आकृति—यह सब दीखता है। बोले जाति? एक समय था जब आज जिसका नाम ऊँट है उसका नाम मनुष्य था और आज जिसका नाम मनुष्य है उसका नाम ऊँट था नाम बदलते रहते हैं, रूप बदलते रहते हैं, क्रिया बदलती रहती है। मनुष्य तो इन्द्रियोंके चक्करमें पड़ गया और अपने संस्कारमें इतना दृढ़ हो गया, इतना पक्का हो गया कि उसके संस्कारको बदल कर यदि कोई बात कही जाय तो वह बिल्कुल माननेको तैयार नहीं होगा। तो, इन्द्रियाँ हमारी बाहर देखती हैं, बाहर सुनती हैं, बाहर सूँघती हैं, बाहर स्वाद लेती हैं, बाहर छूती हैं—इनके भीतर बैठकर कौन द्रष्टा है, कौन श्रोता है, कौन मन्ता है, कौन विज्ञाता है—इस बातकी पहचान इन्द्रियोंसे थोड़े ही होती है?

अच्छा, आप बताओ, आपकी आँखकी पुतली कैसी है? बोले, हमने

शीशेमें देखी है महाराज! अरे, शीशेमें क्यों देखी? अपनी आँखसे ही देख लेते, उसमें शीशेकी जरूरत क्यों पड़ी? इसका अभिप्राय है कि जो अत्यन्त निकट वस्तु होती है और जो अत्यन्त सूक्ष्म वस्तु होती है उसको देखना बड़ा कठिन होता है। जो मनके पीछे रहकर मनको प्रकाशित कर रहा है, हृदयके पीछे रहकर हृदयको प्रकाशित कर रहा है, जो हृदयका अधिष्ठान है, हृदयकी कल्पना जिसमें हुई है, हृदयकी कल्पनाका जो प्रकाशक है, हृदयकी कल्पनाका जो अधिष्ठान है जो स्वयं-हृदय-रूपमें भास रहा है—वह अपना आत्मा कौन है? उसको क्या टॉर्चकी रोशनीमें देखोगे? सूर्यकी रोशनीमें देखोगे? इन्द्रियोंकी रोशनीमें देखोगे? उसको देखना बड़ा मुश्किल है। बहीखातेका काम देख सकते हो भाई, अणु-परमाणुको जान सकते हो, जो भी छोटी-छोटी अलग चीजें होंगी उनको तुम यन्त्रोंसे जान सकते हो, परन्तु यन्त्रोंमें-से जो झाँकनेवाला है—हृदय-यन्त्रके भीतर रहकर जो उसमें-से झाँकता है उसको कैसे जानोगे?

कश्चित् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत आवृतचक्षुः अमृतत्वमिच्छन्।

कोई-कोई धीर पुरुष ऐसे होते हैं जिनको अपने आत्माका दर्शन होता है। किनको होता है? **आवृतचक्षुः अमृतत्वमिच्छन्** बाहर देखनेवाली इन्द्रियोंकी जो प्रवृत्ति है उसको शान्त करके और सम्पूर्ण मरनेवालोंमें अमर कौन है, इसकी जब जिज्ञासा होती है—सचमुच जब धर्मकी, अर्थकी, कामकी इच्छा नहीं रहती है—अमृतत्वमिच्छन्, जब केवल अमृतत्वकी इच्छा होती है तब उसका पता लगता है। लोग तो बाजार देखनेमें लगे हैं—

रमैयाकी दुल्हन लूटा बजार।

लोग तो मायाका खेल देखनेमें लगे हैं, मदारीकी घण्टी सुननेमें लगे हैं, अपनी तरफ तो उनका ध्यान ही नहीं है इसलिए तं **दुर्दर्शं**—ये परमात्मदेव दुर्दर्श हैं।

बोले—क्यों? **गूढमनुप्रविष्टं**—ये छिपकरके सबमें अनुप्रविष्ट हैं। **गूढं** माने गुप्त-रूपसे छिपकरके जैसे पानीमें शक्करकी डली डाल दी और बोले ढूँढो इसमें, तो समुद्रमें नमककी डली डाल दी और ढूँढो उसमें। तो **गूढम् अनुप्रविष्टं**—सबके भीतर गूढ होकरके प्रविष्ट हैं।

गहनम् तथा अनुप्रविष्टं—**प्राकृतविषयविकारविज्ञानै प्रच्छन्नम्।**

बस जहाँ हम जाते हैं प्राकृत विषयको देखने लगते हैं। प्रकृति माने सबको आकृति देनेवाली; इसलिए प्राकृत क्या है कि जिससे प्रारम्भिक आकृति प्राप्त होती है वह प्राकृत। क्या देखेंगे? कि आँखकी बनावट देखेंगे, चमड़ेका रंग देखेंगे।

मनुष्यकी बुद्धि स्वाद जानेगी, गन्ध जानेगी, रिश्तेदार-नातेदार जानेगी, अपना-पराया जानेगी, दोस्त-दुश्मन जानेगी। लेकिन वह वस्तु जो दोस्तमें और दुश्मन दोनोंमें एक है—वह आपने देखी? जो गुण और दोष दोनोंमें एक है, जो पाप-पुण्य दोनोंमें एक है, जो सुख-दुःख दोनोंमें एक है, जो जागते-सोते दोनोंमें एक है क्या वह वस्तु आपने देखी?

हमारी बुद्धि साधारण विषय-विकारके विज्ञानसे प्रच्छनन हो गयी है, इसलिए बुद्धिमें गूढ़ आत्माको ग्रहण नहीं कर पाती। देखो, खिलौना देखने जाते हैं तो किसकी बनावट अच्छी है, किसकी खराब यह देखते हैं, दोनों खिलौनेमें एक कौन-सी चीज है इसको नहीं देखते हैं—दोनोंमें माटी है, दोनोंमें लकड़ी है, दोनोंमें सोना है, दोनोंमें चाँदी है—इस बातको कहाँ देखते हैं? **तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टम्**—आप देखो जितने मुण्ड हैं न यहाँ—स्त्रीके, पुरुषके, सब अलग-अलग मालूम पड़ रहे हैं, पर क्या उस वस्तुपर ध्यान जाता है जो सबमें एक है? एक ऐसी चीज है जो सबमें है, परन्तु, हम तो शरीरको देखते हैं। शरीरको ही प्राकृत बोलते हैं। तो प्राकृत जो विषय है उनमें वजन प्राकृत है कि कौन मोटा, कौन दुबला? आकृति प्राकृत है कि कौन लम्बा, कौन नाटा? गुण प्राकृत हैं कि कौन गुणी और कौन दोषी? बुद्धि प्राकृत है कि कौन बुद्धिमान और कौन मूर्ख? तो यह बुद्धिमान होना या मूर्ख होना यह प्राकृत दृष्टि है, प्राकृत वस्तु है। बुद्धि तो प्रकृतिका विकार है, तो यह देखना कि यह बुद्धिमान है कि मूर्ख है, यह देखना कि यह ज्यादा शान्त रहता है कि ज्यादा विक्षिप्त रहता है यह प्राकृत दृष्टि है। क्या देख रहे हो? आत्मा? अरे नहीं, शान्त और विक्षिप्त तो प्रकृति रहती है आत्मा नहीं। यह जहाँ सत्त्वगुणकी प्रधानता है वहाँ शान्ति है, जहाँ रजोगुणकी प्रधानता है वहाँ चाञ्चल्य है, जहाँ तमोगुणकी प्रधानता है वहाँ मूढ़ता है। तो, यह जो मूढ होता है वह गूढ़को नहीं देख पाता। मूढता और गूढता परस्पर विरोधी हैं। दुनियामें लोग क्या देखते हैं कि इनकी आँख खुली रहती है कि बन्द, ये समाधिमें रहते हैं कि विक्षेपमें— आकृति देखते हैं, प्रकृति देखते हैं, विकृति देखते हैं, संस्कृति देखते हैं—यह तो सब अलग-अलग होता है। तो प्राकृत-विषयोंके विज्ञानके कारण अलगावकी परीक्षा हम करते हैं, अलगावकी निरीक्षा हम करते हैं, इसलिए सबमें विद्यमान जो परमात्मा है उसका दर्शन हम नहीं कर पाते। **तं दुर्दर्शम् गूढमनुप्रविष्टम्**

गुहाहितं—कि अच्छा, परमात्मा है कहाँ? बोले—**गूढमनु** छिपकर सबके भीतर है, सबमें बाल-बालमें है—वह बालमें है, वह खालमें है—सबके अन्दर

छिपा हुआ है। तो फिर देखनेमें क्यों नहीं आता है? कि देखनेमें यों नहीं आता है कि बुद्धि आत्मदेवका दर्शन करनेमें कहाँ प्रवृत्त होती है? वह तो चाहती है कि ऐसी चीज देखें जो खानेमें आवे, जो पहननेमें आवे, जो तिजोरीमें रखनेमें आवे, जो अपने बच्चोंके काममें आवे, जो सोनेमें आवे—ऐसी चीज ढूँढ़नेमें बुद्धि लगी हुई है, सच्ची चीजको बुद्धि ढूँढती कहाँ है? तो गुहाहितंका अर्थ है कि बुद्धिगुहामें वह आत्मा बैठा हुआ है।

यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। (तैत्तिरीय उपनिषद)

यह श्रुति कहती है कि जैसे सिंह गुहामें रहता है वैसे ही आत्मदेव भी गुहामें रहते हैं। यह गुहा क्या है? कि पहाड़में जैसे गुफा होती है, वैसे यहाँ बुद्धि गुहा है—यह बात है कि गुहामें यदि शेरका पता न लगे तो उसमें गीदड़, सियार रहते हैं लेकिन एक बार यदि सिंह दहाड़ दे तो सब भग जाते हैं।

बुद्धिको गुहा बतानेका अभिप्राय क्या है? जैसे गुहाकी चीजोंको देखनेके लिए प्रकाशकी आवश्यकता होती है उसी प्रकार हमारी बुद्धि जब किसी चीजको देखती है तो उसको भीतरकी रोशनीकी जरूरत होती है। ऐसे देखो कि जब हम आँखसे घड़ी देखते हैं तब भले यहाँ बल्ब न जल रहा हो, सूर्यकी रोशनी न हो, बादल छाये हुए हों, लेकिन हम घड़ीको आँखसे कब देख सकेंगे? कि जब रोशनी होगी। हमारी आँख अध्यात्म है और रोशनी अधिदैव है और घड़ी अधिभूत है। तो बाहरकी वस्तुको देखनेके लिए—जैसे घड़ीको देखनेके लिए, किताब देखनेके लिए, लाउड-स्पीकर देखनेके लिए, स्त्री-पुरुष देखनेके लिए—हमें आँखके लिए रोशनीकी जरूरत होती है। लेकिन बौद्ध पदार्थोंको देखनेके लिए? बाहरी रोशनीकी जरूरत नहीं है। जैसे देखो, आपको बुद्धिसे कोई बात समझनी है या निर्णय करना है कि यह पाप है, यह पुण्य है; यह मित्र है, यह शत्रु है ऐसा निर्णन करती है; और यह सुख है यह दुःख है ऐसा निर्णय करती है; तो बुद्धिमें ही तो निर्णय होता है न!आदमी अक्लसे ही तो यह बात समझता है; तो जैसे आँखसे कोई वस्तु देखनेके लिए रोशनी चाहिए वैसे ही बुद्धिसे समझनेके लिए भी भीतर एक रोशनीकी जरूरत पड़ती है, एक प्रकाशकी जरूरत पड़ती है। जैसे टॉर्चमें बिजली आती है, जैसे दीपकमें अग्नि आती है, जैसे काँचमें सूर्यकी रोशनी आती है ऐसे ही आपकी बुद्धि-रूप गुहामें कहीं से रोशनी आती है और उसी रोशनीमें आप संसारकी सब वस्तुओंका निर्णय करते हैं। अब बोलो वह रोशनी कौन-सी है जिसमें बुद्धि सत्यका निर्णय करती है, सुख-दुःखका निर्णय करती है, न्यायका

निर्णय करती है, शत्रु-मित्रका निर्णय करती है, पाप-पुण्यका निर्णय करती है, कर्तव्य-अकर्तव्यका निर्णय करती है? तो आँखके लिए तो आपको रोशनी चाहिए परन्तु, बुद्धिसे निर्णय करनेके लिए क्या आपको रोशनी नहीं चाहिए? अरे, लो ईश्वरका दर्शन करो, वह ईश्वरकी रोशनी है जिसके प्रकाशमें आपकी बुद्धि निर्णय करती है।

अब होता क्या है, नारायण कि जैसे हम आँखसे रूमाल देखते हैं, तो बच्चेसे पूछा कि क्या देखते हो, बोला रूमाल। पूछा कि और कुछ भी है कि रूमाल ही है? बोला, हमको तो रूमाल ही दीखती है और कुछ नहीं दीखता। तो भला बिना रोशनीके क्या रूमाल दिखेगी? लेकिन, बच्चेसे हजार बार पूछोगे तो भी उसका ध्यान रोशनीपर नहीं जायेगा, वह तो रूमाल ही देखेगा। तो, हमारी जो बुद्धि है वह जिस रोशनी में देख रही है उसको तो भूल जाती है और जो चीज दीखती है उसका ख्याल रखती है कि यह घड़ा है, यह कपड़ा है, यह पाप है, यह पुण्य है। बुद्धि जिसको देखती है उसका तो ख्याल रखती है और जिसकी रोशनीमें देखती है उसका ख्याल नहीं रखती है। कैसे कि जैसे बच्चा। कि देखो, बच्चेको आग जलती हुई दीखे तो यह बड़ी सुन्दर है, अच्छी है, यह तो बच्चा देखेगा; परन्तु इससे हाथ जल जायेगा यह वह नहीं देखेगा। तो बच्चेकी बुद्धि जो है वह आपातदर्शिनी होती है, जहाँ नजर गिरी उसीको देख रहा है—नजर जिससे देख रही है उसको बच्चा नहीं देख रहा है।

तो यह जो ज्ञान स्वरूप परमात्मा है यह बुद्धिरूपी गुहामें निहित है, स्थित है। **तत्रोपलभ्यमानत्वात्**—इस परमात्माकी उपलब्धि कहाँ होती है? कि इसकी उपलब्धि होती है बुद्धिमें। इसलिए भी बुद्धिको गुहा कहा है। बुद्धिमें प्रकाश और विषय दो चीज हैं और आप विषयको देखते हैं और प्रकाशको नहीं देखते हैं। जब विषय और बुद्धि दोनोंको आप बट्टे-खातेमें करके देखोगे तो आप देखोगे कि प्रकाश-ही-प्रकाश है, परमात्माका आपको दर्शन होगा। परमात्माके दर्शनके लिए कहीं जानेकी जरूरत नहीं है। लोग जो यह समझते हैं कि अमुक स्थानपर जानेसे परमात्मा मिलता है अथवा कि अमुक समयपर परमात्मा मिलता है वह गलत है अथवा कि यह जो सोचते हैं कि अमुक कर्मके फल स्वरूप परमात्मा मिलता है, यह भी गलत है और यह तो सोचते हैं कि अमुक-अमुक स्थितिमें मिलता है सो भी गलत है, परमात्मा तो—

धियाहम् शोधय जन्महेतुम्—अपनी बुद्धिसे विचारसे यह देखो, कि

धीजन्मका, धीके विभाग और क्षयका प्रकाशक कौन है? बुद्धिका उदय, बुद्धियोंका अलगाव और बुद्धियोंका क्षय—यह किसकी रोशनीमें दीख रहा है? सुषुप्तिकालमें बुद्धि काम नहीं करती थी, जब जगे तब बुद्धिका उदय हुआ और फिर यह स्त्री है यह पुरुष है—ऐसी बुद्धि हुई, यह घड़ी है, यह पुस्तक है—ऐसी बुद्धि उदय हुई—यह बुद्धिका विभाग हो गया और फिर बुद्धि शान्त हो गयी! तो यह बुद्धिका उदय, बुद्धिका विभाग और बुद्धिका क्षय किसीकी रोशनीमें हो रहा है। यह देखो—**भावेऽहं सर्वमिदं विभाति लयेऽहं नैव विभाति किंचित्**—जब अहं-भावका उदय होता है तब सम भासता है और जब अहं-भावका लय हो जाता है, तब कुछ नहीं भासता है, तो इस अहं-भावके मूलमें बैठी हुई जो चीज है जहाँसे अहं-अहं-अहं-अहं फुर रहा है, वह परमात्मा है—**अहमहमिति साक्षीत् ब्रह्मरूपेण भाति**—इस बुद्धिरूप गुहामें यह जो अहं-अहं-अहं बोलता है ना, वह हरि है, वह सिंह है, वह ब्रह्म है।

हमको एक महात्माने बताया कि जैसे जब दाल पकानेके लिए आगपर चढ़ाते हैं तब वह फुदुर-फुदुर करती है, वैसे ही हमारे हृदयमें एक फुदुर-फुदुर हो रहा है—अहं-अहं-अहं हो रहा है। अच्छा, तो वह जो फुदुर-फुदुर बोलता है वह कौन है? वह पानी है न, गर्मीके कारण पानी फुदुर-फुदुर कर रहा है, ऐसे ही बुद्धिके सम्बन्धसे चैतन्य जो है वह अहं-अहं-अहं ऐसा बोल रहा है। बुद्धिके सम्बन्धको काट दो तो यह जो शान्त अहं है, चैतन्य है!

तुम्हारी बुद्धिमें स्थित जो स्वयं प्रकाश सर्वावभासक चैतन्य है, देखो वह कौन है? एक अद्भुत बात है—**गह्वरेष्ठं**—जैसे कोई आदमी जंगलमें फँस जाये, उसमें जानवर भी बहुत हों, पशु भी बहुत हों, कीड़े-मकोड़े भी बहुत हों, पेड़-पौधे भी बहुत हों, चिड़िया भी बहुत हों—कहीं आग लग रही हो, कहीं बर्फ पड़ रही हो, कहीं नदी बह रही है, कहीं मच्छर बहुत हैं, कहीं मक्खी बहुत हैं—पर वहाँ मनुष्य एक है कि नहीं? अकेला है वह आदमी। इसी प्रकार यहाँ जो गह्वर है वह नानात्वका गह्वर है। **अनेकानर्थसंकटे**—इसमें यह रोग आया, यह मृत्यु आयी, यह सम्बन्धीका वियोग हुआ, यह शत्रुका संयोग हुआ, यह बुढ़ापा आ गया, यह मृत्यु रोग आ गया—अनेक अनर्थ संकुल। आँखने कहा वहाँ चल, कानने कहा वहाँ चल, नाकने कहा वहाँ चल, जीभने कहा वहाँ चल, त्वचाने कहा वहाँ चल—यह अनेक अनर्थ जीवनके साथ लगे हुए हैं।

बहवः सपत्नतयेव गृहपतिं लुडन्ति—जैसे बहुत सारी सौंते होयें और घरके

मालिकको पकड़ें—एक हाथ पकड़े, एक पाँव पकड़े, एक अँगुली पकड़े और एक कपड़ा और बोले इधर चलो, इधर चलो, इधर चलो—इसी प्रकार इस संसारमें बहुत सारी इन्द्रियाँ, बहुत सारी वृत्तियाँ, बहुत सारे विषय जिसके पीछे पड़े हुए हैं, वह अनेकानर्थ संकुल इस प्रपञ्चमें अकेला है परन्तु अकेला होते हुए भी वह अखण्ड, अद्वय अपरिच्छिन्न है जिसमें सब मिट जाते हैं और जो अकेला रहता है।

तो आत्मा कैसा है कि गूढमनु प्रविष्ट है, गुहाहित है गह्वरेष्ठ है इसलिए यह दुर्दर्श है। फिर कहते है कि यह पुराणम् है—पुराणा माने जो सबसे पुराना है। अद्भुत लीला है यह! विज्ञान सबसे बढ़िया कौन कि जो सबसे नया हो और ज्ञान सबसे बढ़िया कौन कि जो सबसे पुराना हो। सबसे पुराना माने ऐसा नहीं समझना कि जैसे तुम्हारे घरमें कोई बुड्ढा है—अस्सी-नब्बे वर्षका, सौ वर्षका तो जैसे सबसे पुराना घरमें यही बुड्ढा है। ऐसे ही संसारमें जो सबसे पुराना है वह आत्मा है—ऐसे नहीं समझना। ऐसे समझना कि जैसे आँख है न, तो इसके पहले कौन है? पहले देखने-वाला है तब आँख है कि पहले आँख तब देखनेवाला है? आँखका होना ही देखनेवालेसे सिद्ध होता है, अगर देखनेवाला न हो आँख सिद्ध नहीं हो सकती, यह हाथ जो है यह कर्ता हो तब सिद्ध होता है, यह हृदय जो है यह ज्ञाता हो तब सिद्ध-सिद्ध होता है। तो ये अलग-अलग कई पुर बने हैं—जैसे एक घरमें कई खिड़की हो तो आँखकी खिड़की पर बैठकर रूप देखो, कानकी खिड़कीपर बैठकर संगीत सुनो, जीभकी खिड़कीपर बैठकर स्वाद लो, नाककी खिड़कीपर बैठकर गंध लो, त्वचाकी खिड़कीपर बैठकर स्पर्श-सुख लो, मनकी खिड़कीमें संकल्प-विकल्प करो, बुद्धिकी खिड़कीमें विचार करो, लेकिन ये खिड़कियाँ जब नहीं थीं, तब भी यह था और ये खिड़कियाँ जब नहीं रहेंगी तब भी यह रहेगा और ये जब हैं तब भी यही हैं। तो पुराणम्‌का अर्थ है कि **नवद्वारे पुरे देही**—इस नौ दरवाजे वाले नगरमें यही रहकर जो इसका जीवन दान दे रहा है, उस पुराणको पकड़ो! पुरानेकी भी जरूरत होती है—बिना पुरानेके—बिना अनुभवी पुरुषके नये लोग अपनेको संकटमें डाल देते हैं।

यह आत्मा पुराण (पुराना) भी है, प्राण भी है—पुरको जो उज्जीवित करे उसका नाम पुराण, जिसके होनेसे यह शरीर जीवनवाला मालूम पड़ता है और सम्बन्ध यदि टूट जाये, तो जीवनका पता ही न चले। बल्ब फ्यूज हो जाये तो बिजलीका पता ही न लगता। बिजली है, पर बल्ब फ्यूज हो गया! यह हृदय, यह

मस्तिष्क जो हैं, ये सब बल्ब हैं शरीरमें-एक दूसरेसे सम्बद्ध बल्बकी तरह है और आत्मदेव जो हैं सो बिजलीकी तरह हैं। तो आदमी जब मरता है तब आत्मा निकलकर कहीं जाता नहीं है, परन्तु बल्ब (शरीरके अवयव) फ्यूज हो जानेके कारण उसका पता नहीं चलता। आत्मा तो ज्यों-का-त्यों शरीरमें ही रहता है। शरीरके बाहर भी वही है, शरीरमें भी वही है—आना-जाना तो उसमें होता है जो एक जगह होवे और एक जगह नहीं होवे! लेकिन यह जो अपना ख्याल बन गया है कि हम शरीरमें परिच्छिन्न हैं इसीके कारण अपनेमें आने-जानेकी कल्पना हो गयी है।

ऐसा समझो कि जो लोग अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यको प्रमाता मानते हैं—अवच्छेदवादकी प्रक्रियामें, उनके मतमें भी उस अवच्छिन्न चैतन्यका गमनागमन नहीं होता, क्योंकि वह अवच्छिन्न चैतन्य तो ब्रह्माभिन्न ही है। अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य तो ब्रह्माभिन्न ही है, तो वह कहीं आता जाता नहीं, न नरकमें, न स्वर्गमें, न वैकुण्ठमें, न दूसरे शरीरमें। कि तब क्या होता है कि उसका अवच्छेदक जो अन्तःकरण है, जिसके कारण चैतन्य अन्तःकरणावच्छिन्न प्रमाताके रूपमें भास रहा है, (उसीमें अविद्याके कारण तादात्म्याध्यास होनेसे आना-जाना मालूम पड़ता है) क्योंकि भ्रान्ति तो मिटी नहीं है, अन्तःकरणमें समझते हैं कि हम परिच्छिन्न हैं, अतः अन्तःकरण पाप-पुण्यके अनुसार जिस आकारको ग्रहण करता है माने अन्तःकरणकी जैसी आकृति होती है उसीमें तादात्म्य हो जाता है, जाना कहीं नहीं है, नरक अपने दिलमें बन जाता है, स्वर्ग अपने दिलमें बन जाता है, वैकुण्ठ अपने दिलमें बन जाता है-स्वप्नवत् जैसे कि स्वप्न अपने अन्तःकरणमें बनता है वैसे।

दृष्टि-सृष्टिवादमें तो यह सारी सृष्टि ही अपनी दृष्टिमें बनी हुई है उसमें भी आना-जाना नहीं है।

आभासवादमें या बिम्ब-प्रतिबिम्बवादमें भी आना-जाना केवल आभास और प्रतिबिम्बका ही है—माने वस्तु-तत्त्वका आना-जाना नहीं है। तो यदि आप अपनेको पापीपनेसे मुक्त करना चाहते हों, पुण्यात्मापनेसे मुक्त करना चाहते हों, सुखीपनेसे-दुःखीपनेसे मुक्त करना चाहते हों, अपनेको किसीका दोस्त-दुश्मन बनाकरके जलना नहीं चाहते हों तो अपनेको जानो कि मैं कौन हूँ?

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥ १२॥

विषयेभ्य प्रतिसंहृत्य चेतस आत्मनि समाधानम् अध्यात्मयोगः—अध्यात्मयोगका अर्थ है कि आप जरा अपनी जगहपर आ जाइये। अपने स्थानपर आना क्या हुआ कि आपकी जो आँख है, वह अपने गोलकको छोड़करके कहीं

अलग चली गयी है, इसके रहनेकी जहाँ जगह है इसको जरा वहीं रहने दो। मनका घर आपको मालूम है कि मन कहाँ रहता है? अच्छा, इतना ही कर लो कि मन शरीरसे कहीं बाहर न जाये, मन अपने गोलक हृदयसे बाहर न जाये।

अध्यात्म शब्दका अर्थ होता है शरीरके भीतर—**आत्मनि शरीरे एव इति अध्यात्मम्**। अब ये जो इन्द्रियाँ हमारी बाहरके विषयोंको लूटनेके लिए जाती हैं या काटनेके लिए जाती हैं, उनका यह लूटने और काटनेके लिए जाना बन्द करके उनको अपने स्थानमें ही रहने दो।

एक बात ध्यानमें ले आओ। तुम (एक समयमें) तुम तीनमें-से एक बातका ही विचार करते हो—या तो ईश्वरके बारेमें सोचते हो यदि भक्त हो तो; और यदि विषयी हो, संसारी हो, तो संसारके बारेमें सोचते हो; या फिर जीवके बारेमें, अपने सुखीपने-दुःखीपनेके बारेमें सोचते हो। इन तीन बातोंको छोड़करके किसी चौथी बातका विचार आपके मनमें नहीं आता है। देखो सारे विचारका वर्गीकरण करके तीनमें डाल दिया—ईश्वरका विचार, जगत्का विचार और जीवका विचार। संसारमें जितने दर्शन शास्त्र हैं— उत्तर मीमांसा और पूर्वमीमांसा, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, जैन, बौद्ध और चार्वाक—ये तो दर्शन हैं आस्तिक और नास्तिक दर्शन; और जितने श्रद्धा-दर्शन हैं—ईसाई, मुसलमान और पारसी और ये मार्क्स, हैकले और जो विकासवादी हैं ये भौतिक दर्शन हैं; तो जितने भौतिक-दर्शन और आध्यात्मिक दर्शन हैं, सब दर्शनोंमें जो कुछ वर्णन है उसको तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं—ईश्वरके बारेमें, जीवके बारेमें और जगत्के बारेमें; कुल तीन ही तो बात हैं। तो इन तीनोंका विचार कहाँ होता है? सब दार्शनिकोंको समेटो। किसका दर्शन सच्चा? चार्वाकका, जैनका, बौद्धका, न्याय-वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व-मीमांसा, उत्तर-मीमांसा, विकासवादी, विकारवादी, सोपादानवादी, निरूपादानवादी, जड़वादी, पुद्गलवादी, जड़ाद्वैतवादी—भिन्न-भिन्न प्रकारके जो दर्शन हैं उनमें किसका दर्शन सच्चा है? पहले इन सब दर्शनोंका उपसंहार करो। केवल तीनमें—ईश्वरमें, जीवमें और जगत्में और फिर सोचो कि इन तीनोंका विचार कबतक होता है कि जबतक अहं-बुद्धि होती है। जबतक हम देहस्थ-बुद्धिके साथ तादात्म्य रखते हैं सर्वोत्तम निष्ठा कौन-सी होगी?

सर्वोत्तमाहम्मतिशून्य निष्ठाः।

सर्वोत्तम-निष्ठा वह है जहाँ स्वयं-प्रकाशात्मक विज्ञानके द्वारा जीव, जगत् तथा ईश्वरका विचार करनेवाली जो बुद्धि है उस बुद्धिके साथ जो तादात्म्य है कि

''यह मैं और यह मेरी और मुझमें यह कुछ है पत्थरकी डली सरीखी''—उसका अपने स्वरूपज्ञानसे बाध हो जाना—यही सर्वोत्तम-निष्ठा है, इससे बढ़कर सृष्टिमें और कोई निष्ठा नहीं है—**अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा**। आवो विचार करो इस निष्ठापर।

बोले भाई, कि मुक्ति चाहिए। कि अरे, आजकल मुक्ति चाहनेवाले तो दुर्लभ हैं—आजकल तो अर्थ चाहिए, कल-कारखाना चाहिए, भोग चाहिए और आजकल मुक्ति चाहिए उसमें भी लोग एक ही मुक्ति चाहते हैं—कौन-सी? कि तलाककी। आजकलके पढ़े-लिखे लोग जो हैं वे स्त्री-पुरुषकी परस्पर मुक्ति चाहते हैं कि हम बन्धनमें न रहें।

देखो, एक मुक्ति होती है—रूपिणी, जिसमें हम सखा-सखी, दास-सेवक कुछ बनकरके भगवान्‌के धाममें जायें—उपासक लोग ऐसी मुक्ति माँगते हैं। एक अरूपिणी मुक्ति होती है, परमात्माके साथ—निराकार-साकार किसीके साथ, सायुज्यको प्राप्त हो जायँ। एक मुक्ति होती है उभयात्मिका जिसमें रूपिणी मुक्ति मिले, कभी अरूपिणी मुक्ति मिले। बोले—नहीं-नहीं, इसका नाम मुक्ति नहीं है; रूप होनेका नाम मुक्ति नहीं, अरूप होनेका नाम मुक्ति नहीं, रूपारूप होनेका नाम मुक्ति नहीं। बोले—देखो, सच्ची मुक्ति किसको कहते हैं कि इन तीनों मुक्तियोंका विवेचन, विवेक करनेवाली जो हृद्देशमें रहनेवाली बुद्धि है उसका अपने स्वयं प्रकाश स्वरूपके ज्ञानसे बाधित हो जाना—यही परमार्थ मुक्ति है। मुक्ति तो अपना स्वरूप ही है, अपने स्वरूपका नाम मोक्ष है, साधन-साध्यका नाम मोक्ष नहीं है, प्राप्तव्यका नाम मोक्ष नहीं है, आप्यका नाम, संस्कार्यका नाम, विकार्यका नाम, उत्पाद्यका नाम मोक्ष नहीं है, मोक्ष तो अपना आपा है—'तुम स्वयं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूप हो।

तो **अध्यात्मयोगाधिगमेन**—अर्थात् जरा आ जाओ अपने पास। अपना आपा क्या है? कि देव है। उस देवको जानकर—**तं देवमात्मानं मत्वा**। कैसे जाने? कि अध्यात्मयोगाधिगमके द्वारा जानो माने समझो कि भीतर यन्त्र कैसे काम कर रहे हैं? यह बुद्धि क्या है—इस बुद्धिको तो समझो जहाँ इस परमात्माका ज्ञान होता है।

देव माने स्वयंप्रकाश देव। दीव्यति—चम-चम चमक रहा है अपना आत्मा। हीरेसे भी ज्यादा उज्ज्वल और आकाशसे भी ज्यादा विशाल, देशसे भी बड़ा। आत्मा लम्बाई-चौड़ाईमें देशसे भी बड़ा है, अधिष्ठान है भला; और उम्रमें? आत्मा कालसे भी बड़ा है। कालका जन्म और मृत्यु होता है, आत्माका जन्म-

मृत्यु नहीं होता; स्थानकी लम्बाई-चौड़ाई होती है, आत्माकी लम्बाई-चौड़ाई नहीं होती—अनन्त कोटि ब्राह्माण्डकी जो मूलभूता प्रकृति है उसमें वजन हो सकता है परन्तु आत्मामें वजन नहीं होता—सब वजनोंसे बड़ा वजन। इसको यदि विचार करो तो क्या होगा कि—**मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।**

सबसे बड़ा कष्ट तो यह दुनियामें कि क्षणमें हृष्ट और क्षणमें शोक-ग्रस्त! दिनभरमें कितनी बार हँसना और कितनी बार रोना! यह क्या मनुष्य है? **सस्यमिव मर्त्यः पच्येते सस्यमिवाजायते पुनः**—जैसे धानकी पौध एक बार बोयी जाती है और फिर पकती है, बिलकुल उसी तरह आदमी पैदा होता है और मर जाता है! बच्चा पैदा हुआ, जवान हुआ, प्रौढ़ हुआ, पक गया और पककर फिर नष्ट हो गया—यह आदमीकी जो गति है वह बिलकुल जड़ सरीखी हो गयी है। जैसे पूरी बेली, कढ़ाईमें पकायी और फिर खा गये, इसी तरहसे काल सबको खा रहा है। संसारमें एक ही तो व्यापार चल रहा है—कौन-सा? कि

मासर्त्तुदर्वी परिवर्तनेन सूर्याग्निना रात्रि दिवेन्धनेन।
अस्मिन् महामोहमये कटाहे भूतानि कालः पचतीति वार्ता॥

संसारमें सबसे बड़ा व्यापार क्या हो रहा है? बोले—मास, महीने और ऋतु—इनकी कलछीसे सब लोग पलटे जा रहे हैं, सूर्यकी आग जल रही है और रात दिनका ईंधन डाला जा रहा है और मोहकी कढ़ाईमें सारे प्राणी पकाये जा रहे हैं, और पका कौन रहा है कि काल। और भाई, इस मोहकी कढ़ाईमें-से जरा उछल पड़ो न! मोहकी कढ़ाईमें-से निकलो। अनागत विधाता न हो तो, प्रत्युत्पन्न मति होओ न!

एक कथा आती कि एक तालाबके पास गड्ढा था—तालाब बड़ा था, पर पासमें एक गड्ढा था। उसमें बहुत-सी मछली वर्षा ऋतुमें आ गयीं। और एक दिन एक मछुआ आया और देखने लगा कि गड्ढेमें कितनी मछली हैं और कितना पानी है और कैसे इनको फँसाना है। कुछ मछलियोंने मछुएको देखा और सोचने लगी कि आज यह मछुआ आया है और हमलोगोंको फँसानेकी सोच रहा है तो कल आकर हमलोगोंको अवश्य मारकर ले जायेगा—फँसा लेगा। तो उसमें कुछ मछली ऐसी थीं जो उछल करके बड़े तालाबमें चली गयीं—उनको अनागत विधाता बोलते हैं। दूसरे दिन मछुआ जाल लेकर आया मछलियोंको फँसानेके लिए। तो कुछ मछलियोंने जो उसको देखा त्यों-ही वे तुरन्त उछलकर तालाबमें चली गयीं—वे **प्रत्युत्पन्न मति** रहीं, उनको तत्काल बुद्धिका उदय हो गया और वे बाहर निकलकर बच गयीं। लेकिन

कुछ मछलियाँ ऐसी थीं दीर्घसूत्री कि बोलीं—आज ही पकड़ेगा यह कोई जरूरी थोड़ी ही है, फिर कभी आवेगा तब देखेंगे। और वे वहीं बनी रहीं। लेकिन मछुएने तो जाल बिछाया और उनको पकड़ लिया।

तो, यह काल जो है यह सबके पीछे लगा हुआ है, उसमें आप जीव-जगत् ईश्वरके विचारमें लगे मत रह जाइये, बुद्धिको पकड़े मत रहिये—इस बुद्धिको छोड़िये। बन्दर कैसे फँसता है? कि छोटे मुँहके बर्तनमें चना डालकर धरतीमें गाड़ देते हैं और बन्दर आकर उसमें अपना हाथ डाल देता है। फिर मुट्ठीभर चला उठा लिया। अब चना लेकर उसका हाथ बाहर निकलता नहीं और चना वह छोड़ता नहीं। नतीजा क्या हुआ कि मदारीने आकर बन्दरको पकड़ लिया। अगर वह चना छोड़ देता तो उसका हाथ निकल जाता। यही मोहकी सृष्टि है।

मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति—हर्ष और शोकके चक्करमें पुरुष फँस गया है। अपने आपको जान लेना इस चक्करसे मुक्ति पाना है। श्रीशङ्कराचार्य भगवान्ने बताया कि जो पुरुष अपने आपको जान लेता है वह **हर्षशोकौ—उत्कर्षापकर्षयोः अभावात् जहाति**। बोले—देखो एक पौधा हो जाना यह बहुत छोटी स्थिति है—अत्यन्त अपकर्ष है और हिरण्यगर्भ हो जाना—यह सबसे बड़ी स्थिति है, परन्तु निरुपाधिक जो परब्रह्म परमात्मा है जिसे अपने स्वरूपका ज्ञान है वह एक पौधा जैसी स्थिति नहीं है और एक हिरण्यगर्भ जैसी ऊँची स्थिति नहीं है। तो, अपने छोटे होनेका वहाँ दुःख नहीं है और अपने बड़े होनेका वहाँ अभिमान नहीं है, इसलिए उसमें हर्ष और शोक दोनोंका अभाव है। असलमें दोनों दुःख हैं, क्योंकि जो चीज आज हर्ष देती है वह कल शोक देगी और जो चीज आज शोक देती है वही कभी-न-कभी हर्ष देगी—यह सृष्टि तो बदलती रहती है। तो हर्ष और शोकके बन्धनसे वह उन्मुक्त हो जाता है जो अपने स्वयंप्रकाश तत्त्वको जानता है—भला! जवानी सुख देती है ठीक है परन्तु बुढ़ापेमें वही शरीर भारी हो जाता है, बचपनमें दुःख होता है परन्तु जवानीमें वही सुख देता है। सृष्टि ऐसे ही बदलती रहती है। तो इस बदलनेवाली सृष्टिमें जो आग्रह-विशेष है—असलमें वही दुःख देता है और वह आग्रह होता है अपने स्वरूपके अज्ञानसे। इसलिए जिसको आत्मदर्शन हो जाता है वह पुनर्जन्म, मृत्यु, स्वर्ग, नरकके सुख-दुःखसे और हिरण्यगर्भ लोक और पौधा होना—छोटे-से-छोटा बौर बड़े-से-बड़े होनेका जो सुख और दुःख है, उससे वह मुक्त हो जाता है।

❖

नचिकेताकी प्रशंसा

अध्याय—१, वल्ली—२ मन्त्र—१३

एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य।
स मोदते मोदनीयꣳहि लब्ध्वा विवृतꣳसद्म नचिकेतसं मन्ये॥ १.२.१३

अर्थ :-मनुष्य इस आत्मतत्त्वको सुनकर और आत्मभावसे ग्रहण-कर इस धर्म्य आत्माको शरीरादिसे पृथक् करके इस सूक्ष्म और आनन्द-आत्माको प्राप्त करके आनन्दित हो जाता है। इस प्रकार मैं तुझ नचिकेताके प्रति ब्रह्म-भवनको अर्थात् मोक्षको खुले हुए द्वारवाला समझता हूँ॥

यमराजने पिछले मन्त्रमें यह बात कहीं कि यद्यपि यह आत्मा स्वयं प्रकाश है तथापि बुद्धिका विषयोंकी ओर आकृष्ट होना ही उसकी उपलब्धिमें, साक्षात्कारमें बाधक है—**विषयापहतबुद्धिरेव आच्छादनं आत्मनः स्वयंप्रकाश-स्यापि।** आत्माका ढक्कन क्या है? बोले—विषयापहत बुद्धि। लूट लिया, विषयोंने बुद्धिको लूट लिया। किसीने कहा कि विषय भी तो आत्मा ही है। तो, मैं ब्रह्म हूँ, यह तो तुमको मालूम ही नहीं पड़ता, विषय ब्रह्म है यह तुमको कहाँसे मालूम पड़ेगा? जब तुमको यही साक्षात्कार नहीं होता कि सर्व-विषयोंका द्रष्टा आत्मा जो है वह ब्रह्म है—आत्माका ब्रह्म तो अपरोक्ष नहीं होता है और विषयको ब्रह्म मानते हो, तो साधनामें बाधा पड़ गयी ना! यह देहका परिच्छिन्न होना और शब्द-स्पर्श-रूप-गन्धका परिच्छिन्न होना, स्वर्ग-नरकका परिच्छिन्न होना, समाधि-विक्षेपका परिच्छिन्न होना—यह जो परिच्छिन्न-परिच्छिन्न विषयाकार बुद्धि हो रही है, इसको यदि तुम ब्रह्म कहते हो तो दुःखाकार बुद्धिको ब्रह्म क्यों नहीं कहते? अपने दुःखीपनेको ब्रह्म क्यों नहीं कहते? अपने रोनेको ब्रह्म क्यों नहीं कहते? अपनी

व्याकुलताको ब्रह्म क्यों नहीं कहते? लेकिन जब तुमको यह ख्याल है कि रोना ब्रह्म नहीं हैं, दु:खी होना ब्रह्म नहीं है, व्याकुल होना ब्रह्म नहीं है तब, यह ख्याल भी होना चाहिए कि जो देशमें, कालमें एक वस्तुके रूपमें परिच्छिन्न है वह ब्रह्म नहीं है और उनको अलग-अलग दिखानेवाली इन्द्रियाँ भी ब्रह्म नहीं हैं और उनको अलग-अलग ग्रहण करने वाली बुद्धि भी ब्रह्म नहीं है। तब तुम समझ सकोगे कि मैं विषयोंका, इन्द्रियोंका, बुद्धियोंका द्रष्टा हूँ और उस द्रष्टाको तुम स्वयं प्रकाश सर्वाधिष्ठान जान सकोगे और तब तुम्हारी अद्वितीयतामें सब इन्द्रियाँ, सब बुद्धियाँ, सब विषय अपने आप ही बाधित हो जायेंगे। तो मार्ग जो है वह मार्गकी तरह रहना चाहिए। प्रश्न तो ऐसे करते हैं कि जैसे गन्तव्यपर पहुँच चुके हों कि विषय भी ब्रह्म है—तब फिर रोना ब्रह्म क्यों नहीं है, व्याकुल होना ब्रह्म क्यों नहीं है, फिर दु:खी होना ब्रह्म क्यों नहीं है? तो भई, पहले अपनेको परिच्छिन्नसे अलग करना पड़ता है, विवेक करना पड़ता है। इसीको बोलते हैं कि यह जो परिच्छिन्नताको बुद्धिमें ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर रखा है, यही अपरिच्छिन्नके ज्ञानमें बाधक है।

और दूसरी बात क्या है? बोले कि और सब तो होता है फल और अध्यात्म ज्ञान होता है स्वयं-फल—जैसे पानीका सरोवर हो किसीके पास लेकिन उसका पानी मुफ्तमें न मिलता हो, दो पैसे खर्च करनेपर मिलता हो, तो भले ही सरोवर हो तुम्हारे सामने पर पानी तो यों नहीं मिलेगा, पानी तो दो पैसे खर्च करनेपर ही मिलेगा न, चाहे उसकी मात्रा एक गिलास होगी, एक घड़ा हो। तो जो लोग सुखको अपने धर्मके बलपर, कि उपासनाके बल पर, कि योगके बलपर खरीदते हैं, उनको जो धर्मसे, उपासनासे, योगसे सुख मिलता है, वह एक मात्रामें एक मर्यादामें फलके रूपमें मिलता है; और स्वतः सिद्ध सुखका जो ज्ञान है, जो बोध है उससे सारा सरोवर ही तुम्हारा है, तुम सरोवरके मालिक हो, तुम स्वयं प्रकाश परमानन्द स्वरूप हो।

तो, **अध्यात्मयोगाधिगमेन**—अपने चित्तको पहले विषयोंकी ओरसे इन्द्रियोंकी ओरसे, परिच्छिन्नताओंकी ओरसे हटाओ। देखो, एक तो परिच्छिन्न विषय है और एक परिच्छिन्न उपास्य है, भला! एक परिच्छिन्न विषय लौकिक देशस्थ है और एक परिच्छिन्न विषय पारलौकिक-देशस्थ है; और एक परिच्छिन्न है जो वस्तु नहीं है, परिच्छिन्न स्थितियाँ हैं—जैसे सुषुप्ति है, समाधि है। तो जब समस्त परिच्छिन्न द्रव्य—लौकिक, और पारलौकिक सम्पूर्ण परिच्छिन्न देश—

लौकिक और पारलौकि और सम्पूर्ण परिच्छिन्न स्थितियाँ—लौकिक और अलौकिक; इनका परित्याग करके अपने स्वरूपमें स्थित होते हैं तो श्रुति कहती है कि यह जो तुम्हारा स्वरूप है यह परब्रह्म परमात्मा है! 'इस स्थितमें तुम परमात्मा हो' ऐसा नहीं, तुम्हारा स्वरूप ही परब्रह्म परमात्मा है और उसमें सब स्थितियाँ, सब देश और सब वस्तुएँ और सम्पूर्ण-काल बाधित हैं—**मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति।** यह अनन्त फलकी प्राप्ति हुई है—यह परिच्छिन्न फल नहीं है, यह किसी कर्मका, उपासनाका, योगका फल नहीं है, यह वस्तु-स्थिति है, इसलिए हर्ष और शोकके चक्करसे मुक्ति मिल जाती है। इस प्रकार हर्ष और शोककी आत्यन्तिक निवृत्ति तब होती है कि जब मनुष्य अपनी वस्तु-स्थितिसे परिचित होता है। अब कहते हैं—

एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेतमाप्य।
स मोदते मोदनीयꣳ हि लब्ध्वा विवृतꣳ सद्म नचिकेतसं मन्ये॥

वैसे तो यह मनुष्य मर्त्य है—**आप्तं मृत्युना**—मौतने इसको व्याप्त कर रखा है, मौतने सबको अपने चपेटमें ले रखा है। ऐसे कीटाणु होते हैं जो दिनभरमें कई बार पैदा होकर मर जाते हैं, मरकरके फिर पैदा हो जाते हैं—रूपान्तरण हो जाता है, उनका देह बदल जाता है, कुछ ऐसे होते हैं जो वर्ष-दो वर्ष रहते हैं, कुछ ऐसे होते हैं जो सौ वर्ष रहते हैं, कुछ ऐसे होते हैं, जो हजार-लाख वर्ष रहते हैं, कोई एक चतुर्युगी—४३ लाख २० हजार वर्ष तक रहते हैं; कोई एकहत्तर चतुर्युगी-मन्वन्तर भरतक रहते हैं, कोई एक सहस्र चतुर्युगी—ब्रह्माके एक दिन भर रहते हैं, कोई महाराज ब्रह्मा की जितनी उम्र है उतना भी रहते हैं—एक सहस्र चतुर्युगी ब्रह्माका एक दिन और उतनी बड़ी रात और इस हिसाबसे तीन-सौ-साठ दिन-रातका ब्रह्माका एक वर्ष और उस वर्षसे सौ वर्ष ब्रह्माकी उम्र है, और यह तो छोटे ब्रह्माकी उम्र है भला! एक ब्रह्माण्डके ब्रह्माकी उम्र यह है!

वह ब्रह्माकी जो उम्र है वह विष्णु भगवान्‌का एक क्षण है और उस क्षणके हिसाबसे दिन, दिनका महीना, महीनाका वर्ष और फिर उससे सौ वर्ष विष्णु भगवान्‌की आयु है! और फिर विष्णु भगवान्‌की जितनी आयु है वह शिव भगवान्‌की एक पलक है। फिर उस पलकके हिसाबसे शिवजीका दिन, दिनका महीना, महीनेका वर्ष, वर्षका सौ वर्ष शिवजीकी आयु है। यह एक ब्रह्माण्डकी बात है। ऐसे-ऐसे कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंमें ब्रह्मा-विष्णु-शिव और फिर वे सब-के-सब निराकार ईश्वरके एक संकल्पमें होते हैं—

कोटि कल्प ब्रह्मा भए, दस कोटि कन्हाई हो।
छप्पन कोटि यादव भए, मेरी एक बलाई हो॥

वह निराकार ईश्वरका संकल्प और वह निराकार ईश्वर मायाकी उपाधिसे जिस परब्रह्म परमात्मामें उपाधिके कारण भास रहा है वह परब्रह्म परमात्मा अपना आत्मा है। एतच्छ्रुत्वा—ऐसे परमात्माका निरूपण गुरुदेव करेंगे। तुम्हारे आत्माका स्वरूप तो यह और तुम तो एक-एक ब्रह्माण्डके देवताको खुश करनेमें लगे हो! चित्तकी एक-एक स्थितिमें महत्त्व माने हुए हो—समाधि लग गयी तो क्या हुआ, कि एक मनकी ही तो यह स्थिति हुई, अरे योगी बाबा! तुम कहाँ रहते हो? साढ़े तीन हाथ के शरीरमें जो मन है उसको फुसलानेमें लगे हो कि बेटा जरा शान्त बैठ जा? अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड जिस हिरण्यर्भमें क्षण-क्षण पैदा होते रहते हैं और नष्ट होते रहते हैं वह हिरयणगर्भ महत्तत्त्वकी उपाधिसे है और वह महत्तत्त्व जिस मायाका परिणाम है, वह माया जिस परब्रह्म परमात्मामें कल्पित है वह तुम्हारा आत्मा है!

एतच्छ्रुत्वा—तुम्हारी अद्वितीयतामें दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं। तो इस आत्माका वर्णन आगे करेंगे। उसको यदि मनुष्य सुने और सुनकर उसको भली-भाँति पकड़े और पकड़कर उद्योग करे कि हम सारे विघ्न-बाधाओं, प्रतिबन्धोंको पार कर लेंगे, तब तो बात बनी, नहीं तो करो और मरो।

मर्त्यः—मृत्युशील शरीरमें मैं करके रहे सो मर्त्य! यहाँ सब कुछ मरणशील ही है। इसी शरीरसे साधन करके और इसीसे धर्म करके, इसीसे उपासना करके, इसी शरीरसे योग करके इसी शरीरमें भोग्य-वस्तुकी प्राप्ति करके यह शरीर तो मरता ही है। और यहाँ तो महाराज, शरीर मरता है सो तो मरता है, जिस पञ्चभूतसे यह शरीर बना है वे पञ्चभूत भी मर जाते हैं। जिस तामस अहंकारसे पञ्चभूत पैदा होते हैं वह तामस-अहंकार भी मर जाता है। जिस राजस-अहंकारसे क्रिया और प्राण पैदा होते हैं वह राजस-अहंकार भी मर जाता है। जिससे समूची सृष्टिके मन और इन्द्रियाँ पैदा होती हैं, देवता पैदा होते हैं, वह सात्त्विक अहंकार भी मर जाता है। वह हिरयण्गर्भ, वह महत्तत्त्व—हिरण्यगर्भ माने ब्रह्माओंकी समष्टि—करोड़-करोड़ ब्रह्मा जिसमे मच्छरकी तरह लोटते-पोटते रहते हैं, पैदा होते मरते रहते हैं, बिलबिलाते रहते हैं जैसे पनालेमें कीड़े—वह हिरण्यगर्भ जिसमें महत्तत्त्वकी उपाधिसे भासता है—वह महत्तत्त्व भी जिसमें मर जाता है। माया भी जिसमें मर जाती है, प्रकृतिं भी जिसमें मर जाती है। अपने परिच्छिन्न अहंकारको ग्रहण करके

तुम कहाँ फँसे हो मर्त्य? और परिच्छिंन्न भी कैसा? एक चींटीके बराबर भी नहीं, एक जुँएके बराबर भी नहीं,ऐसी देहकी परिच्छिन्नता और इसमें मैं मेरा करके बैठे हुए हो। जरा वेदान्तका विचार श्रवण करो।

यह वेदान्त-विचार देहाभिमान मूलक नहीं है, देहाभिमान-स्थापक नहीं है, किन्तु देहाभिमानके साथ इसका द्वेष भी नहीं है। यह नहीं कि यह देहाभिमानको मिटावे, अरे, यह तो उस भ्रान्तिको मिटाता है जो तुम स्वयं-ब्रह्म होकर इस देहाभिमानके साथ मिले हुए हो। यह मच्छर(सरीखे देहाभिमान) पर बन्दूक चलानेवाला नहीं है, यह देहाभिमानको मारनेवाला नहीं है, बल्कि जो ब्रह्म (होते हुए भी भ्रान्तिवश) देहाभिमानको मैं मान रहा है, उस भ्रान्तिको दूर करता है।

रहने दो देहाभिमान, करने दो इसको करम, रोने दो दिनभर, हँसने दो दिनभर—यह देहाभिमान रोये दिन भर, देहाभिमान हँसे दिन भर, देहाभिमान छटपटाये दिनभर! परन्तु यह देहाभिमान भले व्याकुल होवे दिनभर या दिनभर हँसे, और यह देहभिमान भले दिनभर समाधिस्थ रहे या दिनभर विक्षिप्त रहे, इस देहाभिमानके विक्षेप और समाधिके साथ जिस आत्मतत्त्वका कोई सम्बन्ध नहीं है, उस आत्माका देहाभिमानके साथ जो केवल तादात्म्य सम्बन्ध है, उस तादात्म्यको मिटानेवाला है वेदान्त-विचार। तो काहेको मर्त्य बने हो? मारनेवाले मौतके पंजेमें क्यों आते हो? सुनो इस अनन्त-अद्वितीय वस्तुका निरूपण, ग्रहण करो इसको और यदि एक बारमें ग्रहण नहीं होता तो हजार बार श्रवण करो क्योंकि यह बड़ा सूक्ष्म धर्म है,इसको प्राप्त करो। **श्रुत्वा परिगृह्य प्रवृह्य आप्य**—इसको सुनो, इसको धारण करो, इसके लिए उद्योग करो और इसको प्राप्त करो, क्योंकि यह अत्यन्त सूक्ष्म धर्म है। जो ऐसा करता है वह इस आनन्दको पाकर आनन्दित हो जाता है—

स मोदते मोदनीयꣳ हि लब्ध्वा।

अब महाराज, आनन्दित होनेके लिए तो बहाना चाहिए। जैसे किसीने चाट खिला दी, तो उसी पर खुश! किसीने मिठाई खिला दी, उसी पर खुश! किसीने प्रेमसे पीठ पर हाथ रख दिया उसीपर खुश! संसारमें लोगोंको आनन्दका कोई झूठा-मूठा निमित्त मिल जाता है, उसीसे खुश हो जाते हैं।

देखो, मछलीको तो काँटेमें मांसका टुकड़ा लगाकर खिलाते हैं—वह उससे खुश होती है, लेकिन फँस जाती है। संसारमें क्या सुख है? क्या काम का

सुख है? जरा फक्कड़ी बात सुना दें आपको! बम्बईमें एक आदमीने दो तीन साल पहले एक बार कहा था कि इतनी गन्दी बात खुले आम मत किया करो, लेकिन बात यह है कि अपने तो गंगा-किनारेके साधु-सन्तोंमें घूमते रहे न, तो वे तो बड़ी खुली-खुली बात बोलते हैं। गाली देते हैं, पक्कड़ लोग बड़ी-बड़ी गाली देकर बोलते हैं। कहते हैं—यह स्त्री-पुरुषके कामोपभोगका सुख कैसा है? कि बोले किसीको हो गया फोड़ा, उसमें पड़ गयी पीब, बड़ा दर्द हो रहा था—अब जब फोड़ेको फोड़नेपर पीब निकल गयी तो उसने कहा कि आहा-हा, बहुत सुख मिला! संसारी लोगोंको स्त्री-पुरुषके मिलनेसे अपने शरीरके वीर्यके क्षरणसे जो सुख होता है, वह सुख थोड़े ही है, वह तो ऐसा है जैसे शरीरमें पीब पड़ जानेसे जो पीड़ा हो रही थी वह पीड़ा पीबके निकल जानेसे मिट गयी! वह तो केवल पीड़ा मिटी, उसमें सुख कहाँ मिला? दु:ख मिटनेका नाम सुख नहीं है।

संसारके लोग चटनी लगाते हैं जीभपर और कहते हैं कि सुख मिल गया! कानसे संगीत सुनते हैं और कहते हैं कि सुख मिल गया! नाकसे सुगन्ध सूँघते हैं और बोलते हैं कि सुख मिल गया! उनका नाम सुख नहीं है, ये सुखके निमित्त हैं। ये लोग जो विलायती सेण्ट लगाते हैं वे समझते हैं कि हमारे शरीरसे बड़ी अच्छी सुगन्ध निकल रही है; लेकिन जिनको सच्चे इत्रका अभ्यास है—जो गाजीपुर-जौनपुरके गुलाबके इत्रको जानते हैं, चमेलीके इत्रको जानते हैं उनको यह सेण्टकी गन्ध दुर्गन्ध मालूम पड़ती है, काटती है, दौड़ाती है, खाती है। देखो न, हमारे यहाँ जिस मिर्च-मशाला, गुड़, तेलको बड़ा सुख समझते हैं विलायतके लोग उसको बिलकुल अखाद्य समझते हैं और वे लोग जिसको खाद्य सम्झते हैं सीताराम कहो, हम यहींसे उसको हाथ जोड़ते हैं—है न!

तो हम लोगोंने संसारमें सुखके निमित्त मान रखे हैं—एक ठाकुर साहब आते हैं हमारे पास उनकी मूँछ जितनी नुकीली होती है, वे अपनेको उतना ही गौरवान्वित समझते हैं। एक शहरका आदमी आता है वह महाराज जितनी चिकनी दाढ़ी हो, उसीको सुख मानता है। दिन भरमें तीन बार भी दाढ़ी बनानेवाले लोग होते हैं। तों क्या यह सुख है? क्या इसीका नाम सुख है? क्या मूँछका नुकीला होना सुख है? क्या दाढ़ी-मूँछका चिकना होना सुख है? इसीको वेदान्तमें बोला जाता है—कल्पित सुख। जिसकी जैसी आदत पड़ गयी है, जो जैसे लोगोंमें रहने लगा है वह वैसे रहनेको, वैसे खानेको, वैसे पीनेको, वैसे पहननेको सुख मानने लगता है। निमित्तमें सुख-बुद्धि हो गयी है—लेकिन

इसका नाम सुख नहीं है, इसका नाम निमित्त है। देखो, विलायतमें लोग दाढ़ी रखते हैं कि नहीं? रखते भी हैं और नहीं भी। लेकिन हमारे सिक्ख लोग दाढ़ी-मूँछ रखते हैं। कोई दाढ़ी-मूँछ रखनेमें और कोई दाढ़ी-मूँछ नहीं रखनेमें अपना गौरव समझते हैं।

एक चित्तमें रामाकार बने तो सुख है और एक चित्तमें वेश्याकार बने तो सुख है। वे सुखके निमित्तमें सुख-बुद्धिके उदाहरण हैं। अच्छा, योगी लोग समाधि दशामें सुख मानते हैं, परन्तु ऐसा नहीं है। एक भोगी पुरुष थे; उनको कोई स्त्री आकर बोल गयी कि आज अमुक समय हम तुमसे मिलेंगे, बड़ी उत्सुकतासे वे उसकी बाट जो रहे थे। तभी वहाँ एक साधु आ गया और उसने उसकी एक नस दबा दी, नस दबा दी तो शान्त हो गये, आँख बन्द हो गयी। शरीरमें ऐसी नसें होती हैं जिनको हाथसे भी दबा सकते हैं, अमुक ढंगसे बैठकर भी दबा सकते हैं, साँससे भी दबा सकते हैं और केवल वैसा चिन्तन करनेसे भी वैसा नशा हो जाता है, भला! हमने तो कितनी बार इसका प्रयोग करके देखा है। खूब खुश हों और दुःखका ध्यान करके रोने लग जायें, तो सुख भूल जाता है। और दुःखके हजार निमित्त सामने हों और सुखका ध्यान करके हँसने लग जायें तो दुःख भूल जाता है। यह तुमको भी होता है यदि गौरसे देखोगे तो।

तो महाराज, साधुने दबा दी नस, तो वे दो-तीन घण्टोंके लिए 'समाधिस्थ' हो गये। बेहोशीका नाम समाधि नहीं होता है, जहाँतक खुली आँख समाधि न रहे, बोलते हुए समाधि न रहे, चलते हुए समाधि न रहे, संसारका सारा व्यवहार करते हुए समाधि न रहे, वहाँतक वह समाधि झूठी है, कृत्रिम समाधि है। वह अब जब वे जगे तब उनको याद आया, पूछा—वह स्त्री हमारे पास आनेवाली थी आयी कि नहीं आयी? बोले—आयी तो थी, पर तुमको समाधिस्थ देखकर लौट गयी। बोले—हाय-हाय, इस साधुने तो हमारे साथ बड़ा भारी अन्याय किया समाधि लगवा दी!

तो ये सब सुख मान्यताके होते हैं। रामवालेको कृष्णका उत्कर्ष सुनकर सुख नहीं होता, कृष्णवालेको रामका उत्कर्ष सुनकर सुख नहीं होता और दोनों आकृतियोंमें जो एक निराकार है उसको जो पकड़नेकी कोशिश करे उसको दोनों आकृतियोंमें सुख नहीं होता। एक मुसलमानके सामने, ईसाईके सामने कृष्णके सौन्दर्यका वर्णन करो तो उसे सुख नहीं होता। अरे, छोड़ो ईसाई-मुसलमानको, हमारे घरमें जो महाशय भाई हैं उनके सामने ईश्वरकी साकारताका

वर्णन करो तो उसे सुख नहीं होता और एक साकारोपासकके सामने निराकारका वर्णन करो तो उसे सुख नहीं होता। यह सब अपनी-अपनी आदत डाल ली गयी है, अपनी-अपनी मान्यता बनायी गयी है, सत्यको समझनेकी, पकड़नेकी बिलकुल कोशिश नहीं की गयी है।

तो ये सुख नहीं हैं, सुखके निमित्त हैं और इनसे जो क्षण भरके लिए चित्तमें सुख चमक जाता है वह क्या है कि वह सुख नहीं है, वह सुखाभास है, सुखाकार वृत्ति है। अरे, वह सुख क्या जो क्षण आया और क्षण गया? उसमें तो सतीत्व ही नहीं है—वह तो सुखाकार वृत्ति है। बोले समाधिमें महाराज? वहाँ तो वृत्तिका कोई आकार नहीं? बोले—भाई, वह सुख-स्थिति है। घंटा-घड़ियाल बजानेमें जो सुख आता है। वहाँ घंटा-घड़ियाल तो निमित्त हैं और मनमें जो सुखका ख्याल होता है वह सुखाकार-वृत्ति है और जो शान्ति हो जाती है वह सुख-स्थिति है यह सब किसके लिए? असली सुख तो वह है जिसकी सेवामें ये सुखके निमित्त लगते हैं, यह सुखाकार-वृत्ति लगती है, यह सुख-स्थिति होती है। यह सब किसकी सेवाके लिए होता है? वह तो बिचारा अपने घरमें ज्यों-का-त्यों बैठा है।

मोदनीयं—ये सारे मोदन उसीके लिए हैं, ये सारे ओदन उसीके लिए हैं। किसके लिए है यह समाधि? किसके लिए हैं ये इष्ट-देवता? किसके लिए हैं विषय-सुख? जिस आत्मदेवके लिए है उसको, अपने आपको क्या तुमने जाना? अमुक रासायनिक प्रक्रियासे क्या बनाया जाता है यह तुमको मालूम है, अमुक लोकमें जानेपर क्या मिलता है यह तुमको मालूम है, लेकिन किसको मिलता है? यह तो पाने-पानेकी वासनाने पानेवालेको ही ढक दिया है। असलमें दुनियामें यह पाकर, वह पाकर कोई सुखी नहीं हो सकता—यह मिलेगा तो वह खो जायेगा, वह मिलेगा तो यह खो जायेगा—एक-न-एक झंझट दुनियामें लगी रहेगी। जिसके घरमें एक दर्जन बच्चे होंगे उसमें एक-आधको जुकाम-खाँसी तो लगी ही रहेगी न! जब तुम हजार चीजोंको चाहोगे तो नौ ग्रहमें-से एक-आध ग्रह तो उनपर लगे ही रहेंगे। हजारों चीजोंको तुम चाहोगे तो सब कैसे मिलेंगी? सब इन्द्रियोंका भोग चाहोगे तो कैसे मिलेगा? हर समय अपनी बदलती हुई मनोवृत्तियोंको सुखी रखना चाहोगे तो वे कैसे सुखी रहेंगी? उसके लिए एक निमित्त चाहिए, उसके लिए एक आधार चाहिए, उसके लिए एक प्रकाश चाहिए, उसके लिए एक अधिष्ठान चाहिए। कभी सोचा है यह सब किसके लिए? किस देवताके लिए यह

हविष्य है? **कस्मैदेवाय हविषा विधेम।** तुम मित्र किसके लिए बनाते हो? तुम धन किसके लिए इकट्ठा करते हो? तुम धर्म किसके लिए करते हो? तुम भोग किसके लिए भोगते हो? तुम नरकसे किसके लिए बचना चाहते हो? तुम स्वर्गमें किसके लिए जाना चाहते हो? तुम समाधि क्यों लगाना चाहते हो? वह अपना आत्मा है, वह अपना आत्मा है—उसका साक्षात्कार होना आवश्यक है।

एक आदमी गया रेलवे स्टेशनपर और टिकटकी खिड़कीपर जाकर बोला—हमको टिकट दे दो और पैसा भीतर डाल दिया। टिकट देनेवालेने पूछा—कहाँका? बोला—यह हमको नहीं मालूम, कहींका भी दे दो, हमको तो टिकटसे मतलब है। पूछा कि किस गाड़ीसे जाना चहाते हो? तो बोला कि किसीसे भी चले जायेंगे। टिकट बाबू बोला—अच्छा, तुम्हारा गाँव कहाँ है? उस गाँवका टिकट दे देते हैं। बोला—यह भी नहीं मालूम।

तो अब जिसको यह भी नहीं मालूम होवे कि हमको कहाँ जाना है और किस गाड़ीसे जाना है उसके लिए तो यही उपयुक्त है कि उसको उसके घर भेज दिया जाये। न तुम्हें स्वर्गके बारेमें मालूम, न तुम्हें नरकके बारेमें मालूम, न तुम्हें परलोकके बारेमें मालूम, तो सबसे उचित, सत्य बात तुम्हारे लिए यही है कि तुमको भटकने न दिया जाये! काहेको दिन भर बसपर, ट्रेनपर, ट्रामपर घूमते हो जब कि तुम्हारा कोई लक्ष्य ही नहीं है सृष्टिमें? और जो लक्ष्य होगा भी वह नाशवान होगा, अतः अपने घरमें बैठो!

तो—**स मोदते मोदनीयꣳहि लब्ध्वा**—जिसको सब आनन्द दिये जाते हैं, वह दुनियाके सब आनन्दोंसे भी प्यारा है और जो अपना आप है उसका साक्षात्कार करके आनन्दित होता है, वही आनन्दका मूल है। जैसे ज्ञानका मूल अपना आत्मा है वैसे ही प्रियताका मूल भी अपना आत्मा है।

देखो, सब चीज बनानी पड़ती हैं, पर अपनेको बनाना नहीं पड़ता। सब चीज जाननी पड़ती हैं, परन्तु जानना तो खुद है। दुनियामें दूसरेसे प्रेम करना पड़ता है और हो जाता है तो फिर बदल जाता है, मिट जाता है, पर, अपने-आपसे प्रेम करना नहीं पड़ता। आपने अपने आपसे किस दिन प्रेम किया मालूम है आपको? तारीख जानते हैं? अगर किसी प्रेयसी-प्रियतमसे प्रेम किया होगा तो आपको तारीख भी मालूम होगी कि अमुक दिन राह चलते देखा, पार्कमें देखा कि स्कूलमें देखा और प्रेम हो गया—दूसरेसे प्रेम किसी तारीखको पैदा होता है, कोई विशेषता देखकर होता है, परन्तु अपने आपसे प्रेम पैदा नहीं होता, अपने आपसे प्रेम है

ही—तुम तो स्वत: सिद्ध प्रेम हो। आत्मा स्वत: सिद्ध प्रेम है, आत्मा स्वत: सिद्ध ज्ञान है, आत्मा स्वत: सिद्ध सत्ता है। आत्म-सत्ता होवे तब ईश्वर सिद्ध होगा। हम न होवें तो ईश्वर किसके लिए। किस कामका? हम न हों तो ज्ञान किसको होगा? अपने आपसे प्रेम करना सीखो! इसीसे आत्मज्ञान होनेके बाद सत्ताकी स्थापनाके लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता ज्ञानकी प्राप्तिके कोई प्रयोग नहीं करना पड़ता और अपने आपसे प्रेम करना नहीं पड़ता—स्वत: सिद्ध प्रेम होता है। इसीलिए जीवनमुक्तिमें सहज प्रेम, सहज ज्ञान और सहज जीवनकी स्थिति होती है—

विवृतꣳसद्म नचिकेतसं मन्ये।

हे नचिकेतस् त्वां प्रति सद्म विवृतं मन्ये—हे नचिकेता! हम समझते हैं कि तुम्हारे लिए अब ब्रह्मका द्वार खुल गया।

तदेत देवंविध ब्रह्मसद्म भवनं नचिकेतसं त्वां
प्रत्यपावृतद्वारं विवृतमभिमुखीभूतं मन्ये।

तुम्हारे लिए ब्रह्मका दरवाजा खुल गया, क्योंकि अब लोक-परलोकके विषयमें तुम्हारी रुचि नहीं है।

एक बात आपको फिरसे याद दिला देते हैं—जो मृत्युके सम्मुख जाकर खड़ा हो सकता है वही लोक-परलोकके भोगको छोड़ सकता है, माने जो देहासक्तिको छोड़ सकता है वही विषयासक्तिको छोड़ सकता है! नचिकेता देहासक्ति छोड़कर यमराजके सम्मुख—मृत्युके सम्मुख खड़ा है अशेष-विशेषका निषेध करके। उसके सामने मानो सारे विषय, सारी इन्द्रियाँ, सारी मनोवृत्तियाँ मर गयी हैं! मृत्यु-मृत्यु-मृत्यु! महामृत्यु!! और वह मृत्यु उसको बता रहा है कि बेटा,बस तू है और कुछ नहीं है, विषय नहीं है, इन्द्रियाँ नहीं हैं, वृत्तियाँ नहीं हैं, गति-अगति नहीं है, बस तू है!

अध्याय—१ वल्ली—२ मन्त्र—१४

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद॥ १.२.१४

अर्थ :—जो धर्मसे पृथक् है, अधर्मसे पृथक् है, कार्यसे और कारणसे दोनोंसे पृथक् है, जो भूतसे और भविष्यसे दोनोंसे दूसरा ही है, ऐसी किसी वस्तुको यदि आप देखते हों, वह मुझसे कहिये॥ १४॥

यह नचिकेताका मूल प्रश्न है और यही उपनिषद्का प्रतिपाद्य भी है। नचिकेताने यमराजसे कहा—'भगवन्! आपकी दृष्टिमें यदि मैं अधिकारी हूँ और यदि आप मुझपर प्रसन्न हैं तो आप मुझे वह चीज बताइये जो शास्त्रीय धर्मका ठीक-ठीक अनुष्ठान करनेपर भी नहीं मिलती। **अन्यत्र धर्माद्**=जो धर्मसे अन्यत्र है माने परे है।

धर्मानुष्ठानका फल कैसा होता है कि जैसे हम यदि अपने हाथमें ढेला लेकर फेंकें तो वह उतनी दूर ही जायेगा जितना आपके हाथोंमें ताकत है और आपको फेंकनेका जितना अभ्यास है। अन्तमें ढेला गिर जायेगा। अच्छा, यदि बन्दूकसे गोली फेंके तो वह कितनी दूर जायेगी? कि जितनी बन्दूककी शक्ति है, और अन्तमें वह गोली भी गिर जायेगी। इसी प्रकार धर्मानुष्ठानका जो फल होता है वह धर्ममें जितनी श्रद्धा है, मंत्रमें जितनी शक्ति है, देवताका जितनी ऐश्वर्य है, ब्राह्मणमें जितनी पवित्रता है—इन सबसे समूहीकृत होकर धर्म-फलकी उत्पत्ति होती है। परन्तु यह परब्रह्म परमात्मा तो महाराज! किसी घेरेमें है नहीं, अनन्तता किसी धर्मका फल नहीं होता। इसलिए जब हम अद्वितीय, अविनाशी, परिपूर्ण (अनन्त), प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म-तत्त्वको चाहते हैं तब हम वास्तवमें किसी धर्मके, किसी कर्मके फलको नहीं चाहते हैं।

अन्यत्राधर्मात्—अधर्मसे भी जो अन्यत्र है, परे है, भिन्न है, पृथक् है। देखो, उत्थानकी परम् अवधि है धर्मका फल और पतनकी परम अवधि है अधर्मका फल। पतनकी अवधि माने नरकमें जाना, क्षुद्र योनिमें जाना। तो **अन्यत्र धर्माद् अन्यत्राधर्माद्** का अर्थ हुआ कि धर्म जिससे ऊपर उठा नहीं सकता (धर्म स्वयं

उससे नीचे है), और अधर्म जिससे गिरा नहीं सकता, ऐसा ब्रह्मतत्त्व हमको चाहिए। एक ऐसा तत्त्व है, एक ऐसा ज्ञान है, एक ऐसा आनन्द है जो धर्मके फलके रूपमें उत्पन्न नहीं होता, जिसकी धर्मसे प्रतिष्ठा नहीं होती और धर्मके द्वारा जिससे ऊपर नहीं जाया जाता, और जिसको अधर्म नीचे खींचता नहीं है, जिसको अधर्म नीचे गिराता नहीं है, अधर्म जिसको दु:ख नहीं दे सकता है—अर्थात् एक तत्त्व ऐसा है जिसपर धर्माधर्मरूप कर्मका उत्कर्षापकर्ष उभयविध फल नहीं पड़ता—

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्।

ब्रह्मज्ञानकी यह महिमा है कि धर्म इसमें समृद्धि नहीं दे सकता और अधर्म इसको नीचे नहीं ले जा सकता।

तो नचिकेता कहता है कि धर्म और अधर्म दोनोंका असर जिसपर न पड़े वह वस्तु हमको बताओ।

देखो, जब धर्म करोगे तो थोड़ा अधर्म भी तो हो ही जाता है। कैसे? कि होममें जो जौ- गेहूँ आगमें डालते हैं उससे धर्म तो होता है परन्तु उसके साथ जो कीड़ोंका भी हवन होता है उससे पाप भी लगता है। हवनमें लकड़ी जलानेसे धर्म भी होता है परन्तु उन लकड़ियोंमें रहनेवाले जो कीड़े जलते हैं उसका पाप भी होता है। संसारमें ऐसा कोई धर्म-कर्म नहीं है जिसके साथ थोड़ा पाप न लगा हो, और ऐसा कोई पाप भी नहीं जिसके साथ कोई पुण्य न लगा हो। ये सब अपेक्षाकृत होते हैं। वही काम गृहस्थ करे तो पुण्य होगा और संन्यासी करे तो पाप होगा, और वही काम संन्यासी करे तो पुण्य होगा और गृहस्थ करे तो पाप होगा। वही कर्म एक स्थानपर करो तो पुण्य और एक स्थान पर करो तो पाप। जगन्नाथ पुरीमें जाकर जूठा खालो तो पाप नहीं लगेगा, लेकिन दूसरी जगह जूठा खाओ तो पाप लगेगा। ये सब विचित्र बात है! धर्मशास्त्रमें एक दिन जुआ खेलनेकी भी छुट्टी होती है (दिवाली पर) और एक दिन गाली देनेकी भी छुट्टी होती है (होली पर)। ये धर्माधर्मके निर्णय बड़े विलक्षण होते हैं, लेकिन होते हैं सब संसारमें। पर ऐसा परमार्थ है, एक ऐसी वस्तु है जिसमें धर्मसे श्रेष्ठता नहीं आती और अधर्मसे जिसमें अपकर्ष नहीं आता।

अन्यत्रास्मात्कृताकृतात्—एक ऐसी वस्तु है जो न कार्य है न कारण है। दुनियामें लोग कार्य और कारणकी बात करते हैं—ईश्वर कारण है, प्रकृति कारण है, जगत् कार्य है, जो पहले रहा सो कारण और बादमें हुआ सो कार्य। परन्तु एक

ऐसी चीज है जिसमें कार्य-कारण भाव नहीं है। एक ऐसी चीज है जो पहले पैदा हुई नहीं और बादमें पैदा होगी भी नहीं—कालका सम्बन्ध उससे नहीं है।

अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च

कालका सम्बन्ध जिससे नहीं, स्थानका सम्बन्ध जिससे नहीं, कर्मका सम्बन्ध जिससे नहीं, कार्य-कारण रूप वस्तुका सम्बन्ध जिससे नहीं, जो अविनाशी परिपूर्ण वस्तु है, ऐसी जिस वस्तुको गुरुदेव! आप जानते हैं, देखते हैं, वही आप मुझसे कहिये—यह नचिकेताका प्रश्न है। **यत् तत् पश्यसि तद् वद्।**

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्—यमराजने तत्त्वज्ञानकी ऐसी प्रशंसा की कि इसके ज्ञानसे ही हर्ष-शोक, जन्म-मृत्यु, सर्व-दोष-दुःखोंसे त्राण प्राप्त हो जाता है। उससे ही यह प्रश्न निकल आता है कि वह तत्त्च अन्तोगत्वा होगा कैसा? जिसके जानने मात्रसे ही ऐसा हो जाता है। इसी प्रश्नको अपनी पहले पूछी हुई बातके साथ मिलाकर नचिकेता अब पूछ रहा है। पहले नचिकेताने तीसरे वरदानके रूपमें देहातिरिक्त आत्माके सम्बन्धमें पूछा था, अब उसको जरा और साफ-साफ करके पूछ लिया है—यह वही तीसरा वर!

नचिकेता बोला कि यदि मैं अधिकारी हूँ और आप मेरे ऊपर प्रसन्न हैं (तो आप मुझे वही तत्त्व ज्ञान दीजिये) और आपने ही यह बात कही कि तुम अधिकारी हो! असलमें जब आदमी अपनेको स्वयं अधिकारी मानता है तब अभिमानकी संभावना रहती है कि मैं बड़ा शान्त हूँ, दान्त हूँ, तितिक्षु हूँ, श्रद्धालु हूँ, उपरत हूँ, समाहित हूँ, विवेकी हूँ, विरक्त हूँ। तब तो अन्तःकरणके गुण-धर्मोंमें ही तो अभिमान हो गया न! तो जिस अभिमानको छुड़ानेके लिए तत्त्वज्ञानका उपदेश करना है उसको जिज्ञासु यदि स्वयं पकड़कर बैठ जाये कि मैं ऐसा—मैं ऐसा-मैं ऐसा, तो अच्छा भाई, तुम ऐसे, पर ब्रह्म तो नहीं हो तुम? क्योंकि जो विवेकी है, विरक्त है, शान्त है, दान्त है, उपरत है, तितिक्षु है, श्रद्धालु है, समाहित है, मुमुक्षु है—इतने गुण-धर्म तो वह अपने आपमें मानकर बैठा है, अब उसको निर्गुण ब्रह्म कैसे बतावें? तो नचिकेताने कहा कि बाबा, तुम्हीं कह रहे हो कि तुम अधिकारी हो—इसकी जिम्मेवारी भी तुम्हारे ऊपर है, तो जब तुम्हारी ही दृष्टिमें मैं अधिकारी हूँ और तुम मेरे ऊपर प्रसन्न हो तो, जो जिसपर प्रसन्न होता है वह उससे कोई बात छिपाता नहीं है—प्रसन्नताका यह लक्षण है, प्रसन्न व्यक्ति कपट कैसे करेगा तो अब हमको वह चीज (तत्त्व ज्ञान) बताओ।

तो देखो! भाषाको बहुत कठिन बनानेकी जरूरत नहीं है—हमलोग कठिनको सरल बनानेके लिए हैं, सरलको कठिन बनानेके लिए थोड़ ही हैं—व्याख्याताका जो काम है वह कठिनको सरल बनाना है।

हमको एक साधुने पूछा—अच्छा, पण्डित है, काशीमें रहता है, संन्यास हमसे ही लिया है उसने और साधक बहुत बढ़िया है, उच्चकोटिका साधक है—वह बोला कि स्वामीजी, हम व्यासकी कविता पढ़ते हैं, पुराण पढ़ते हैं, महाभारत पढ़ते हैं, तो हमारी समझमें आ जाता है और आजकलके कवियोंकी कविता पढ़ते हैं, तो हमारी समझमें नहीं आता है। ऐसा क्यों? देखो—तुलसी-सूरको हम समझ सकते हैं लेकिन पंत-निरालाको समझना कठिन पड़ता है-यह आपको मैं अपनी सच्ची बात बताता हूँ—हमारे लिए सूर-तुलसी कठिन नहीं हैं, हमारे लिए पंत, निराला, महादेवी, बच्चन—ये छायावादी, प्रयोगवादी जो लोग हैं ये हमारे लिए कठिन पड़ते हैं, क्योंकि पहलेवाले सूर-तुलसी तो बोलते हैं संस्कृतवाली शैलीमें और ये लोग बोलते है अंग्रेजीवाली शैलीमें। तो, जिनको अंग्रेजीकी शैली ज्ञात है उनके लिए इनका सरल पड़ता है और जिनको अंग्रेजीकी शैली ज्ञात नहीं है उनके लिए इनका कठिन पड़ता है। तो उस साधुने पूछा कि स्वामीजी, हम व्यासको समझ पाते हैं, पर वर्तमान कविको क्यों नहीं समझ पाते हैं ? तो मैंने कहा कि भाई, व्यास इसलिए बोलते थे कि वे बोलें और हम समझें और आजकलके पण्डित इसलिए बोलते हैं कि हम बोलें और कोई नहीं समझे और कहे कि ये बड़े भारी पण्डित हैं। ऐसा बोलते हैं कि दूसरा कोई समझता ही नहीं। तो, देखो आवाज सुरीलीका जो मजा है वह दूसरा है, संगीतका मजा दूसरा है, कविताका मजा दूसरा है और यह जो दर्शन-शास्त्रको समझनेका, तत्त्वज्ञानको समझनेका जो मजा है वह दूसरा है। यह कानका मजा नहीं है, यह आँखका मजा नहीं है, यह समझका मजा है। तो जो लोग गाने और सुननेमें फँसे हुए हैं या जो लोग क्लिष्ट—कठिन शब्दोंके चक्करमें पड़े हुए हैं वे इसको नहीं समझते है।

तो देखो, प्रश्न कितना सीधा है। ये कहते हैं कि जो धर्म और अधर्म दोनोंसे परे है वह हमको बताओ। अब दुनियाके लोग तो अधर्म-ही-अधर्ममें फँसे हैं। धर्म उसको कहते हैं जो गिरनेके समय हमको पकड़ ले—जैसे बच्चेका पाँव फिसले और माँ झपटकर, लपककर उसको हाथसे पकड़ले, गोदमें उठाले। तो धर्म उसको कहते हैं जो गिरते हुएको पकड़ ले, गिरने न दे : **धारणात् धर्म इत्याहुः** गिरते हुएको बचा लेना धर्मका काम है। मनमें आया कि उसका पैसा ले लें और

भीतरसे धर्मने वह हाँक मारी—ठहरो, दूसरोंका पैसा लेने जा रहे हो? अपराध है। तो, वह जो भीतर हमारे संस्कार बैठा हुआ बुरे कामसे रोकनेके लिए,वह धर्म है।, पर पुरुषपर नजर गयी, पर स्त्रीपर नजर गयी, पर धनपर नजर गयी और भीतरसे रोका, ब्रेक लगा दी—कहाँ जा रहे हो? इसीका नाम धर्म है। हमारी बुद्धिमें जो ब्रेक लगानेका संस्कार है उसको धर्म बोलते हैं। यह अपने आप नहीं आता, यह डालना पड़ता है। तो, धर्म माने जो पतनीय-कर्मके अनुष्ठानसे हमको रोके—और अभ्युदनीय—कर्ममें प्रतिष्ठित करे। और अधर्म कौन? कि जो छुट्टी दे दे—जो मौज हो सो खाओ, जो मौज हो सो पीओ, जो मौज हो सो चुराओ, जो मौज हो सो भोगो। इन्द्रियोंको, वासनाओंको, भोगोंको आजादी देनेका नाम अधर्म है।

अब यह बात तो बड़ी सीधी-सादी हो गयी, तुमको शास्त्रकी भाषामें कैसे समझमें आवे? ऐसे समझो कि संसारमें कानूनके अनुसार चलना शासनको प्रसन्न करनेका ढंग है और गैर कानूनी रीतिसे चलना शासनको नाराज करनेका ढंग है। इसी प्रकार धर्म माने शास्त्रीय आचरण और अधर्म माने अशास्त्रीय आचरण। यह तीन तरहका होता है—कर्म और द्रव्यसे सम्बन्ध रखनेवाला—उसको धर्म बोलते हैं, मन और कर्मसे सम्बन्ध रखनेवाला—उसको उपासना बोलते है, और इन तीनोंको रोक देनेवाला—उसको योग बोलते हैं, कर्म और द्रव्यका सम्बन्ध, मन और कर्म का सम्बन्ध और मन, कर्म और द्रव्य तीनोंको देनेवाला इन तीनोंका नाम धर्म है।

अयं तु परमो धर्मो यद् योगे नात्मदर्शनम्—यज्ञ-यागादिका अनुष्ठान बहिरङ्ग धर्म है और जप, मानस-पूजा, ध्यान—ये अन्तरङ्ग-धर्म हैं, और शान्ति-शान्ति-शान्ति समाधि यह परम अन्तरङ्ग धर्म है, तो इनके करनेसे आदमी ऊपर उठता है और इनके न करनेसे आदमी नीचे गिरता है।

नचिकेता अब यह पूछता है कि हमको वह चीज बताओ कि जिसको करनेसे तो ऊपर उठना नहीं हैं और न करनेसे गिरना नहीं है—जिसपर धर्म-रूप, उपासना-रूप, योग-रूप प्रयत्न-साध्य तीनों स्थितियोंका असर न पड़े—माने धर्म-उपासना-योग करना रूप क्रिया और जिन औजारोंसे ये किये जाते हैं जैसे-धनसे, मनसे, जीभसे, हाथसे—वे कारक, और इनसे जो फल होता है सो—इनमें-से किसीका भी असर जिसपर न पड़े। अर्थात् जिसमें धनकी जरूरत नहीं, हाथ जोड़नेकी जरूरत नहीं, जिसमें अन्तःकरणको शान्त-शिथिल करनेकी जरूरत नहीं, जिसमें रहे एक रस! माने क्रिया, कारक और फल तीनोंसे रहित तत्त्व—यह

वेदान्तकी भाषा हो गयी। हाथसे, मनसे, धन-दौलतसे कोई काम करना न पड़े—न कर्मकी जरूरत होवे, न कर्म करनेके औजारकी जरूरत होवे, न इनसे मिलने वाले फलकी जरूरत होवे—न स्वर्ग, न ब्रह्मलोक, और न समाधि—तीनोंकी जरूरत न पड़े और इन तीनोंसे गिरनेका डर भी न होवे—माने मनुष्यके कर्त्ता-भावसे साध्य, कर्त्तापनसे—प्रयत्नसे साध्य जो कुछ है उसके साथ सम्बन्ध न होवे, क्योंकि जो प्रयत्नसे साध्य होगा वह तो गिर जायेगा।

अन्यत्रास्मात्कृताकृतात्

अब दूसरी बात। बोले, अच्छा, अब अपने प्रयत्नकी बात छोड़ दो। प्रकृति और ईश्वर इन दोनोंके संकल्पसे भी तो बहुत काम होते हैं। तो वे कभी सृष्टि करते हैं **कृतात्**—और कभी प्रलय कर देते हैं, **अकृतात्**, कभी माटी-माटी होती है कभी घड़ा घड़ा हो जाता है। ईश्वर और प्रकृति—नेचर जिसको बोलते हैं—नेचर बोलो या नेक्चर बोलो—नेक माने नीचे, चर माने गति—जो हमेशा नीचेकी ओर जाये सो नेक्चर। तो नेचर भी संस्कृतका शब्द है। तो यह प्रकृति कभी शान्त होती है, कभी विक्षिप्त होती है—इसमें अपना कर्तृत्व नहीं होता है—कब सृष्टि होवे, कब प्रलय होवे—इसमें अपना हाथ कहाँ होता है? कोई कहते हैं ब्रह्माका हाथ है, कोई कहते हैं 'नेचर' का हाथ है, कोई कहते हैं खुदाका हाथ है। तो बोले कि एक ऐसी चीज है जो न नेचरके हाथसे बनती-बिगड़ती है और न खुदाके हाथसे बनती-बिगड़ती है, वह स्वत:सिद्ध है—खुदाकी आत्मा है वह खुदीका बेटा नहीं है।

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्—का अर्थ है कि वह खुदीका बेटा नहीं है माने अपने प्रयत्नसे साध्य नहीं है, और **अन्यत्रास्मात्कृताकृतात्**का अर्थ है कि वह खुदाका बेटा भी नहीं है, ऐसी एक चीज है जो खुद खुदा है, वह खुदा का बेटा नहीं है, वह सत्य है, वह सत्यका कार्य नहीं है, सत्यने उसको बनाया नहीं है, कारणने उसको बनाया नहीं है—कार्य-कारण-भावसे बिलकुल विलक्षण है—न वह घड़ा है न वह माटी है—दोनों से विलक्षण है, न वह पंचभूत है न पंचभूतका पुतला है—ऐसी चीज है।

अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च

बोले भाई, कभी-कभी किसी-किसीको बीती हुई कोई बात बहुत पसन्द आ जाती है और किसीको भविष्यके निर्माणकी बड़ी योजना होती है। ये जो जिन्दा लोग हैं तारीफ करने लायक हैं। जिन्दगीमें कोई बढ़िया चीज कभी खानेको मिल जाती है तो फिर उसकी याद आती है कि वह चीज फिर खानेको मिले। और

सोचते हैं कि एक ऐसा बढ़िया मकान बनावेंगे जैसा दुनियामें किसीका नहीं होगा। तो कोई आगेकी योजना बनाते हैं और कोई पीछेकी बात यादकर रोते हैं। यह मनुष्यकी प्रकृति होती है। तुम देखना—वर्तमानमें तुम्हारा मन कितनी देरतक रहता है? और सच पूछो तो तुम उतनी ही देर सुखी रहते हो जितनी देर तुम्हारा मन आगे-पीछे नहीं जाता है। अच्छा, पीछे कोई मर गया हो और तुम उसकी याद करो तो भी दु:खी हो तुम! और पीछे कोई बढ़िया हुआ और अब नहीं है तो उसकी याद करके खुश भले ही हो लो पर वह सुख नहीं है। बोले—हमने देखा—यज्ञ हो रहा था, बड़ा आनन्द आया था, आज भी उसको याद करके आनन्द आ रहा है, मगर वह आनन्द थोड़े ही है, वह तो भूत है, यह तो तुम वर्तमानको खो रहे हो!

एक आदमीके घर गये, हम तो उसके तख्तेपर बैठे और वह पाँव पकड़कर रोने लगा। हमको चन्दन लगाया, माला पहनायी, और बोला—धन्य है महाराज! आप हमारे घर पधारे! और उसके बाद रोने लगा। मैंने पूछा रोते क्यों हो? बोला—महाराज, आजसे दस वर्ष पहले हमारे घरमें एक महात्मा आये थे, आज हमें वे याद आ रहे हैं—आप आये और वे नहीं आये, इसलिए हम रो रहे हैं।

तो देखो, यदि तो वह बढ़िया ही कर रहा था—महात्माको ही याद कर रहा था, लेकिन उसमें गलती क्या थी कि वह वर्तमानको बिगाड़ रहा था।

फिर बोला—कि महाराज, बड़ी खुशी हुई कि आज आप हमारे घरमें आये, परसों एक महात्मा और हमारे घरमें आने वाले हैं उसकी भी मुझे बड़ी खुशी हो रही है। अब यह पता नहीं कि परसों तुम्हारे जीवनमें आयेगा कि नहीं और यह भी नहीं मालूम कि वह महात्मा भी आयेगा कि नहीं आयेगा। तो यह आशा हुई। मनुष्य अधिकतर आशामें और स्मृतिमें अपने जीवनको बिगाड़ देता है—हर क्षण यदि तुम खुश रहो तो देखो, क्या मजा निकलता है। तब तुम्हारा हर भूत खुश निकलता जायेगा और हर भविष्य खुश होगा—माने तुम्हारे पास एक ऐसा यन्त्र हो गया कि उसमें-से जो निकलेगा सो मीठा ही निकलेगा और जो सामनेसे आवेगा वह मीठा होता जायेगा। भविष्यको मीठा बनानेकी तरकीब क्या है कि वर्तमानको मीठा बनाना, और भूतको मीठा बनानेकी तरकीब क्या है कि वर्तमानको मीठा बनाना। अगर तुम्हारा वर्तमान मीठा हो जाये तो भूत कभी कड़ुआ होगा ही नहीं और अगर तुम्हारा वर्तमान मीठा हो जाये तो तुम्हारा भविष्य कभी कड़ुआ होगा ही नहीं। अपने वर्तमानको ऐसा मीठा, ऐसा मीठा, ऐसा मीठा बनाओ—सीताराम—यह साधुकी युक्ति है।

एक आदमी खाते-खाते सिर पीटने लगा। मैं भी था, मैंने पूछ लिया—भले

मानुष, क्या याद आ गया कि तुमने खाते-खाते सिर पीट लिया? बोले—हमको यह याद आया कि इस समय तो हमको खानेको रोटी मिल रही है, पता नहीं कल मिलेगी कि नहीं मिलेगी। हे भगवान्! कल आवेगा चौबीस घण्टे बाद, जो भगवान्‌के हाथ है; इस समय जो भगवान् तुम्हें रोटी दे रहा है उसके लिए तो उसे धन्यवाद दो!

तो, बहुत लोगोंकी बुद्धि ऐसे चलती है कि जैसे रास्तेमें कोई चले तो डरता जाय कि पाँव आगेको फिसल न जाय या पाँव पीछेको फिसल न जाय। ऐसा आदमी तो वहीं गड़ जाता है।

अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च—बोले राम-राज्य बहुत बढ़िया था—सही बात बहुत बढ़िया था, हम मानते हैं; कि आगे जो रामराज्य आनेवाला है वह कोई कहता है कि कैपीटलिज्म (पूँजीवाद) आवेगा और कोई कहता है कि कम्यूनिज्म (साम्यवाद) आवेगा—यह देखो, कोई आवे दोनोंमें क-कार है, एक तो कम्यूनिज्मका और एक कैपिटलिज्मका। एक पक्ष कहता है आगे वह अच्छा होगा और दूसरा पक्ष कहता है आगे वह अच्छा होगा, और दोनों उसकी कल्पना करके उसीमें लगे हुए हैं। पर, भविष्यकी चाहे जितनी सुन्दर कल्पना हो वह एक दिन ढह जायेगी और भूतकी चाहे जितनी अच्छी याद हो वह एक दिन मिट जायेगी।

यह यहाँ भूत और भविष्यकी चर्चा क्यों है—यह दार्शनिक-दृष्टिसे आपको बता दें; नहीं तो जो कोई यहाँ दर्शन-शास्त्र जाननेवाले होंगे वे यह कहेंगे कि इन्होंने तो सारा समय गप्प हाँकनेमें काट दिया। यह जो कृत और अकृत होता है न—कार्य और कारण—इसका नियन्ता काल होता है माने कालमें ही कारणसे कार्य बनता है और कार्य कारणमें लीन होता है। तो धर्म और अधर्म प्रयत्न-पूर्वक होते हैं और कृत-अकृत हमारे प्रयत्नके बिना ही होते हैं, परन्तु दोनोंका नियन्ता काल होता है। तो जो कालसे परिच्छिन्न नहीं है, कालसे कटता नहीं वह क्या है? अरे वह तुम्हारी जवानी हुई! जिसमें शरीरपर अँगुली नहीं टिकती थी? इतना चिकना शरीर था महाराज—हमने एकको अपनी आँखसे देखा—उसकी जवानी देखी और उसका बुढ़ापा भी देखा। एक जवानी थी कि जब उसके शरीरपर मक्खी बैठे तो सरक जाय—इतना चिकना। अतिशयोक्ति इसको समझो—काव्यमें एक अलंकार होता है और उसका बुढ़ापा देखा कि मुँहसे जब थूक निकले तब वह उसको थूक न सके—अपने आप ही निकले। कालने उसके सौन्दर्यको जाहिर किया। फूल खिला और मुरझा गया—वह कालके अधीन है।

हम तुम्हें उस चीजकी बात बता रहे हैं जिस सत्ताको काल कभी बाप-बेटा नहीं बनाता, कभी जवान-बूढ़ा नहीं बनाता, कभी किया-अनकिया नहीं करता, कभी सुख-दुःखका हेतु नहीं बनाता, कभी बदलता नहीं—कालकी दाल जिसपर नहीं गलती, जो कालके गालमें कभी नहीं जाता, काल जिसको निगल नहीं सकता, जो कालके विकराल गालमें नहीं जाता—कवि लोग ऐसे बोलते हैं। ऐसे अकाल तत्त्वको यमराज, तुम जानते हो? **यत् तत् पश्यसि**—तुम जरूर जानते हो। मैं जानता हूँ कि देवता लोग भी उसको नहीं जान सकते, यह तुमने कहा था और हम ध्यान करते-करते मर जायें तब भी हमको उसका साक्षात्कार नहीं होगा—यह भी हम जानते हैं, क्योंकि—

प्रोक्ता अनन्ये नैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ

तुमने कहा था कि उसके लिए उपदेश चाहिए, उसके लिए गुरु चाहिए। अच्छा, बच्चेको यदि कोई न बतावे, कभी न बतावे कि इसका नाम नाक है तो क्या इसका पता उसको स्वयं चल सकेगा? अच्छा, इसका नाम नाक है यह पता चलेगा तो किस भाषामें पता चलेगा—अंग्रेजीमें कि फारसीमें कि जर्मनीमें, कि रसियनमें कि संस्कृतमें? किस भाषामें बच्चा अपने-आप इसका नाम नाक रखेगा? वह अ-ब-क इशारा भी रखेगा तो कैसे रखेगा? जिससे गन्ध मालूम पड़ती है वह नाक नम्बर एक और जिससे शब्द मालूम पड़ता है वह कान नम्बर दो यह नम्बर एक और नम्बर दो उसको कहाँसे मालूम पड़ेगा? तो सिद्ध वस्तु जो पहलेसे मौजूद होती है उसका नाम भी बताना पड़ता है—भला!

यह जो तुम हो न, 'तुम' वह क्या है? अपनेको मानते हो शरीर, यह तो है गलत; और अपनेको मानते हो जीव—यह भी है गलत; और अपनेको मानते हो ईश्वर—सो भी है गलत; न तुम देह हो, न तुम जीव हो और न तुम ईश्वर हो—इन तीनोंसे विलक्षण जिसमें देह नाम, जीव नाम, ईश्वर नाम इशारेसे बताये जाते हैं वह हो तुम। वह चीज जो हमेशा एकरस रहती है—वह अनिर्वचनीय वस्तु जो बोलकरके नहीं बतायी जा सकती, जिसके लिए दुनियामें कोई इशारा नहीं है, उस अनिर्वचनीय वस्तुको यमराज तुम देखते हो, हमें तो तुम वही समझा दो, हम उसीको समझना चाहते हैं, जो सम्पूर्ण व्यवहारकी विषयताका अतिक्रमण करके रहता है।

अब इसके आगे यमराज उस आत्मतत्त्वका निरूपण प्रारम्भ करते हैं।

❖

यमराजका उपदेश प्रारम्भ—ओंकारोपदेश

अध्याय—१ वल्ली—२ मन्त्र—१५

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाँ्सि सर्वाणि च यद्वन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥ १.२.१५

अर्थ :—यमराजने कहा—सारे वेद जिस पदका प्रतिपादन करते हैं, समस्त तपोंका भी जिसकी प्राप्तिके लिए वर्णन करते हैं, जिसकी प्राप्तिकी इच्छासे ही ब्रह्मचर्य-व्रतका आचरण ममुक्षु लोग करते हैं, उसी पदको मैं तुम्हारे प्रति संक्षेपसे कहता हूँ। 'ॐ' यही वह पद है।

यमराजने निरूपण करना प्रारम्भ किया। पहले साधनका निरूपण करके तब सिद्ध वस्तुका निरूपण करते हैं। मन्त्र १५, १६ और १७ में—तीन मन्त्रोंमें साधनका निरूपण है और अठारवें मन्त्रसे सिद्ध वस्तुका निरूपण है।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाँ्सि सर्वाणि च यद्वदन्ति।

वैदिक लोग वेद पाठके समय जैसे मंत्रोंका उच्चारण करते है, उसमें स्वर-मात्राका बड़ा नियम होता है और सब लोग उसको नहीं बोल सकते हैं। यह नहीं कि बोलनेसे कोई पाप लगता है कि पुण्य होता है—यह बात मैं नहीं बता रहा हूँ, उसके बोलनेका कायदा ही दूसरा होता हैद्ध तो—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति

सारे वेद जिस पदका आमनन करते हैं। आपको इसी प्रसङ्गमें गीताके जो दो मिलते-जुलते श्लोक हैं उनकी याद दिलाता हूँ : एक तो १५वें अध्यायमें है : वेदैश्च सर्वै रहमेव वेद्यो; और दूसरा है आठवें अध्यायमें यदिच्छन्ती ब्रह्मचर्य चरन्ति तत्तो पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये। इन दोनों श्लोकोंपर कठके इस मंत्रकी छाया है। **वेदैश्च सर्वै रहमेव वेद्यः**—वेदैः अहमेव वेद्यः—वेदोंके द्वारा मैं ही जाननेके योग्य हूँ। देखो, इसमें जिसको जानना है उसपर ज़ोर है। **अहमेव वेद्यः**—मैं ही जानने योग्य हूँ। अब 'एव' को उठाकर वेद्यः के बाद रख दो—**वेदैः वेद्यः अहं एव**—वेदोंके द्वारा मुझे जरूर जानना। **न चेदिहादीन महती विनष्टिः**—केनोपनिषद्का कहना है कि यदि इस जीवनमें परमेश्वरको नहीं जानोगे तो बड़ी भारी हानि होगी।

इसमें भी कभी-कभी बड़ा आश्चर्य होता है। एक बात आपको सुनाते हैं—एक दिन एक पुरुष आया तो उसको मैंने कह दिया कि ईश्वर तुमको सद्बुद्धि दे। तो वह बड़ा प्रसन्न हुआ; बोला—स्वामीजीने हमको सद्बुद्धि मिलनेका वरदान दिया। पुरुषको कहा और वह खुश हुआ। अब एक स्त्री आयी बादमें; तो उसको भी मैंने कह दिया कि भगवान् तुमको सद्बुद्धि दें। तो वह स्त्री नाराज हो गयी; बोली—क्या हमारे दुर्बुद्धि है? क्या हमारे सद्बुद्धि नहीं हैं? हमने कौन-सा दुर्बुद्धिका काम किया है जो आप हमारे ऊपर आक्षेप करते हैं?

तो वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यः—अहं वेद्यः एव—जीवनमें बाबा हमको जान लेना। यह तुमको जो सद्बुद्धि प्राप्त हुई है यह केवल चश्मा, घड़ी, पर्स, स्नो-पावडर,लिपिस्टिक जाननेके लिए नहीं मिली है, केवल नोटका नम्बर जाननेके लिए नहीं मिली है; इस बुद्धिसे जो सबसे बड़ी चीज है उसको पहचानना, जिसके पहचाननेपर राग-द्वेष नहीं रह जाते, दिलमें जलन नहीं होती है, जिसके पहचाननेपर पाप-पुंण्य नहीं रह जाता, नरक-स्वर्गका डर नहीं रह जाता; जिसको पहचान लेनेपर दिन भरमें दस बार सुखी, दस बार दुःखी होनेकी जो आदत पड़ी हुई है वह छूट जाती है—यह बड़ा मजेदार जीवन है। इसलिए अहमवे वेद्यः और वेद्यः एव हमको जरूर जानना और हमको ही जानना।

अब देखो—अहमेव वेद्यः अहं वेद्यः एव और अहं वेदैरेव वेद्यः। वेदैरेव वेद्यः माने मैं केवल वेदोंके द्वारा ही जाना जाता हूँ।

बात यह है कि जो चीज इन्द्रियोंसे जानी जा सकती है उसमें तो यन्त्र मदद कर सकते हैं, उसमें विज्ञान मदद कर सकता है—यन्त्र-तन्त्र विज्ञान उसीमें मदद कर सकते हैं जिसको हम अपनी इन्द्रियोंसे जान सकते हैं; और जो चीज इन्द्रियोंसे जानने जानी योग्य नहीं है-शुद्ध आत्मा है, वह तो जैसे वेद बताता है वैसे जानी जाती है।

अब चौथी बात देखो—अहं सर्वैरेव वेदैः वेद्यः—सारे वेद चाहे कर्मकाण्डके हों, चाहे उपासनाके हों, चाहे योगाभ्यासके हों, चाहे तत्त्वज्ञानके हों—सम्पूर्ण वेद हमारा ही वर्णन करते हैं।

सर्वे वेदा यत्पदमामन्ति। आपको वेदोंके वर्णनका सनातन धर्मी ढंग बता देते हैं, क्योंकि अपने तो पले ही सनातन-धर्मकी रीतिमें हैं। वेदमें कहते हैं—**इन्द्राय स्वाहा, अग्नये स्वाहा, वरुणाय स्वाहा, पूष्णे स्वाहा**—इन्द्रको हम आहुति देते हैं, अग्निको हम आहुति देते हैं, वरुणको हम आहुति देते हैं, पूषाको हम

आहुति देते हैं। तो एक अंग्रेज आलोचकने, समीक्षक ने कहा कि ये वेद बहुदेववादी हैं—ये न एक ईश्वरका नाम जानें, न एक ईश्वरका स्वरूप जानें—ये तो इन्द्रको हवन करें, अग्निको हवन करें, वरुणको हवन करें, पूषाको हवन करें। अब आप इस परिस्थितिपर विचार करो कि यदि भारतीय संस्कृतिमें ईश्वरका नाम केवल इन्द्र ही होता, केवल अग्नि ही होता या केवल वरुण ही होता या केवल पूषा ही होता तो ईश्वर एकाङ्गी होता कि नहीं होता? जो अनेक नाममें एक है और जो अनेक रूपमें एक है—शालग्रामकी गोलीमें भी वही है और शङ्करजीकी लिङ्ग-मूर्त्तिमें भी वही है और विष्णुके चतुर्भुज रूपमें भी वही है और देवीके स्त्री-आकारमें भी वही है, सूर्यके ज्योतिर्मयमें भी वही है, गणेशके हाथी-मुँहमें भी वही है, हयग्रीवके घोड़ा-मुँहमें भी वही है, नृसिंहके सिंह-मुँहमें भी वही है, मछलीमें भी वही, कछुआमें भी वही, वराहमें भी वही—इसका अर्थ हुआ कि रूपके पीछे मत जाओ, सब रूपोंमें जो अरूप धातु है उसको पकड़ो। अगर यह हम कह देते कि केवल राम ही ईश्वर है देवी नहीं, और केवल देवी ही ईश्वर है राम नहीं, तो एक आकारका नाम ईश्वर मानना पड़ता, निराकारको समझनेके लिए कोई साधन ही नहीं रह जाता; एक ही नाम रख देते तो उसके लिए क्या लड़ाई होती।

नारायण—ईश्वरका चाहे कोई भी नाम रख सकते हो, आपलोग डरने मत लगना। आपके विनोदके लिए बताता हूँ—हमारे देशमें एक बहुत धनी व्यक्ति हैं। तो उनके परदादाने एक फक्कड़की सेवा की—फक्कड़ कैसा कि कभी नङ्गा रहे, कभो कुछ खाये, कभी कहीं लोटे, कभी गाली दे, कभी खुश हो जाये। उसको उन्होंने खिलाया-पिलाया—उनकी बड़ी सेवा की। उन सज्जनके मनमें धनकी इच्छा थी, तो फकीरने उनसे कहा कि जाओ तुम डें-डें-डें-डें बोलो महाराज, और इतना बड़ा धन उस व्यक्तिको और उसके परिवारको प्राप्त हुआ जिसको आँकना मुश्किल हुआ। बोले—यह मन्त्र किस शास्त्रका है? कि फकीरी शास्त्रका है। संसारमें जितने नाम हैं वे सब ईश्वरके नाम हैं और जितने रूप हैं वे सब ईश्वरके रूप हैं— सब नामोंमें वह अनाम है और सब रूपोंमें वह अरूप है, क्योंकि उसके नाम-रूप कल्पित हैं। तो जहाँ अपनी श्रद्धा बन जाय वहीं ईश्वर प्रकट हो सकता है। यह नामका खण्डन नहीं हुआ, यह नामका महान् समर्थन हुआ कि जिस नामको तुम श्रद्धा-सहित ईश्वरका नाम समझकर लोगे वही ईश्वरका नाम होगा और जिस रूपको तुम श्रद्धा-सहित ईश्वरका रूप समझकर पूजोगे वही ईश्वरकी पूजा होगी—इसका नाम सनातन धर्म है। अनाम है परमात्मा और सब नाम श्रद्धा-

भक्तिसे देखो, तो उसीके हैं। अरूप है ईश्वर और सब रूप श्रद्धा-भक्तिसे देखो, तो उसीके हैं।

एकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति—ऋग्वेदमें यह मन्त्र आता है। एक परमात्मा है उसका हम तरह-तरहसे वर्णन करते हैं। अच्छा, आप यह बताओ कि आपको यह शंका क्यों नहीं होती कि सब लोग अपने-अपने गुरुको ईश्वर मानते हैं तो कितने ईश्वर हैं? बोले भाई, सब गुरुओंमें एक ही ईश्वर रहता है, यह बात है। इसमें लड़ाई करनेकी तो कोई जरूरत नहीं है। अच्छा, सनातन धर्ममें ऐसा भी मानते हैं कि पति ईश्वर होता है। तो सब स्त्रियोंके अपने-अपने पति ईश्वर होते हैं—इसका क्या मतलब हुआ? यही न कि सबमें ईश्वर है, तुम उसमें ईश्वर भाव करो तो तुम्हें ईश्वरके ध्यान-भजनका फल प्राप्त होगा। अच्छा, सबकी माँ ईश्वर है-जगज्जननी जगदम्बा और सबके पिता जगत्पिता हैं और सबके पति परमपति हैं और सबके पुत्र बालगोपाल हैं और सबकी पत्नी महालक्ष्मी हैं—नारायण! क्या है इसका अर्थ? कि इसका अर्थ है कि सचमुच परमात्माके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जिसका जहाँ भाव बन जाता है, जहाँ श्रद्धा हो जाती है वहाँ उसका ईश्वर निकल आता है और तत्त्व-दृष्टिसे ईश्वर सब पत्नियोंमें महालक्ष्मी है, सब माताओंमें जगज्जनी जगदम्बा है, सब पत्नियोंमें परमेश्वर है, सब पिताओंमें जगत्पिता है,सब पुत्रोंमें बालगोपाल है। वह मछली भी है, कछुआ भी है, बराह भी है, नृसिंह भी है—यह परमात्माका स्वरूप है।

तो वेदमें चाहे जिस परमात्माका वर्णन होवे और चाहे जिस उपासनाका वर्णन होवे और चाहे जिस देवताका वर्णन होवे, चाहे जिस कर्मका वर्णन होवे चाहे जिसके लिए होवे—सब वेद, असलमें एक ही ईश्वरका वर्णन करते हैं। शालिग्रामकी गोलीमें गोल ईश्वरका वर्णन नहीं है, व्यापक ईश्वरका वर्णन है। शालग्रामकी गोली तो गोल होती है—सुपारीके बराबर, तो उसमें सुपारीके बराबर ईश्वरका वर्णन नहीं है, उसमें जो आकाशसे भी विशाल ईश्वर है उसीका वर्णन है। शिवलिङ्गमें जो ईश्वरका वर्णन है वह लम्बे ईश्वरका वर्णन नहीं है, वह परिपूर्णतम ईश्वरका वर्णन है। यह बनायी हुई मूर्तिमें जो ईश्वरका वर्णन है यह जबसे बनी तबसेका वर्णन नहीं है, यह अविनाशी ईश्वरका वर्णन है, जब वह मूर्ति नहीं बनी थी तबसे।

तो, सारे वेद चाहे कर्मका, चाहे जिस देवताका जिस यजमानका, जिस उपासनाका, जिस योगका और चाहेजो नाम लेकर चाहे जिस रूपमें जिस क्रियाके

द्वारा वर्णन करते हों वह है सब परमेश्वरका वर्णन—भला! सोनेके चाहे हजार जेवर लाकर सामने रख दिये जायँ—हम कर्णफूलका वर्णन करें, चाहे कङ्गनका वर्णन करें, चाहे हारका वर्णन करें, परन्तु वह वर्णन उसमें रहनेवाले सोनेका है। सोनेकी महिमा है वह, जेवरकी शकलकी महिमा नहीं है। माटीका अगर कर्णफूल होता तो उसकी उतनी कीमत नहीं होती, वैसा उसका वर्णन नहीं होता, वह तो सचमुच स्वर्ण है, ईश्वर है। इसलिए सारे वेदोंमें—

ॐ गणानां त्वा गणपतिं हवामहे-यह गणपति कौन है? कि वही परमेश्वर है।

ॐ विष्णोरराटमसि—कौन हैं विष्णु? कि वही परमेश्वर है।

वायो त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि—वायु कौन है? कि परमात्मा है।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः—इन्द्र कौन है? कि वही परमात्मा है। यह ही परमात्माके अनेक नाम हैं—**सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति**—सारे वेद, सब नाम, सब रूप, सब क्रिया, सब शब्द, भूत-भविष्य-वर्तमान, पूरब-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण, कंकड़-पत्थर—जो भी वर्णन करते हैं—वह उसी वर्णनीयपरब्रह्म परमात्माका ही वर्णन करते हैं और किसी दूसरेका नहीं करते हैं।

प्रवचन—२

नचिकेता द्वारा यमराजसे एक ऐसी वस्तु पूछी गयी जिसपर पाप-पुण्यका असर नहीं पड़ता माने मनुष्यके कर्तृत्वका जिसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है और संसारमें अपने आप जो क्रिया-विक्रिया-प्रतिक्रिया हो रही है—जैसे गर्मी-सर्दी-वर्षाका पड़ना या शरीरका पैदा होना, बच्चा-जवान-बूढ़ा होकर मरना—उसका प्रभाव भी जिसपर नहीं है, और जो भूत भविष्यकालसे भी मुक्त है।

इसके उत्तरमें यमराजने बताया—**सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति**—असलमें वेद ऐसे ही पदका निरूपण करते हैं। माने वेद जो है वे लोक-व्यवहारमें तो यही बताते हैं कि **अग्निर्हिमस्य भेषजम्**—जब ठण्ड लगे तब आग तापो—अग्निका प्रयोग करो—ऐसे समझो कि कमरेमें बहुत ठण्ड होवे तो हीटर जला लो, और दूसरी ओर कहते हैं कि यह धर्म करो, यह कर्म करो तो तुम्हारी अन्तरात्मा ऊर्ध्वगति प्राप्त करेगी और ऐसे कर्म करोगे तो अधोगति प्राप्त करेगी, ऐसी उपासना करोगे तो यदि जान लोगे तो तुम्ही तुम हो।

मनुष्यके मनमें तुम्हीं तुम हो की इच्छा रहती ही है। मैं कानपुर गया था तो एक सज्जन मुझे अपनी कपड़ेकी दुकानमें ले गये। पहले जब वे पाकिस्तानसे आये थे तब बड़े गरीब थे, अब बड़े हो गये हैं तो दिखानेके लिए ले गये थे। मैंने

उनसे पूछा कि तुम अपने कपड़ोंको लोगोंको कैसा क्या कहकर दिखाते हो? तो बोला कि हम ऐसे कहते हैं कि देखो यह कपड़ा बहुत बढ़िया है—इसका सूत अच्छा है, चमक अच्छी है—पहले वस्तुकी प्रशंसा करते हैं और फिर उसके गुणकी प्रशंसा करते हैं और फिर बताते हैं कि इसको वैजन्ती माला पहनती है, फिर बताते हैं कि यह इन्दिरा गाँधीको भी बहुत पसन्द है और उसके बाद कहते हैं कि तुम ले लोगे तो तुम्हीं-तुम रहोगे! तो यह जो वेदान्तका ज्ञान है, स्वरूपसे यह उत्कृष्ट है और शिष्ट पुरुषोंके द्वारा गृहीत है, आदृत है, समादृत है और इसमें केवल आत्माकी अद्वैत सत्ता रह जाती है।

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति—इसमें **सर्वे वेदा** का अर्थ केवल उपनिषद् नहीं है, बल्कि कर्मयोग प्रतिपादक, भक्तियोग प्रतिपादक, ज्ञानयोग प्रतिपादक जितने शास्त्र हैं वे सब-के-सब अन्ततोगत्वा आत्माके स्वरूपमें ही पर्यवसित होते हैं। कैसे? कि देखो, कोई कहे कि तुम खूब बढ़िया-बढ़िया काम करो, तो उसका क्या अभिप्राय है? यही कि जो चीज बढ़िया काम करेगा वह लोककी तो सेवा करेगा ही और खुद भी बढ़िया हो जायेगा, है कि नहीं? श्रेष्ठ काम करनेवालेको लोग स्मरण करते हैं, कि नहीं? रघुका स्मरण करते हैं, रामका स्मरण करते हैं, जनकका स्मरण करते हैं, गांधीका स्मरण करते हैं। तो जिन लोगोंने श्रेष्ठ काम किया है उनका स्मरण लोग करते हैं न? तो आत्माके कर्म-जन्य उत्कर्षमें ही उनका अभिप्राय है।

इसी प्रकार जो कहतें हैं कि खूब बढ़िया ध्यान करो तो तुम्हारा अन्तःकरण उत्तम हो जायेगा, तुम भले मानुष हो जाओगे, तो ये भी तुम्हारे ही उत्कर्षका प्रतिपादन करते हैं। बोले, भाई शान्त हो जाओ, निर्वासन हो जाओ, छोटी-छोटी चीजोंके लिए इधर-उधर भटको मत—ऐसा कहनेवाले भी तुम्हारे ही बड़प्पनका प्रतिपादन करते हैं। इसका नाम योग हुआ। और जो कहते हैं बाबा तुम्हें अपने स्वरूपकी चमकके लिए कुछ करनेकी जरूरत नहीं है, सचमुच बिना कर्मके, बिना उपासनाके, बिना योगके, स्वतःसिद्ध तुम्हारा स्वरूप ही ऐसा है—वे भी तुम्हारे सिद्ध उत्कर्षका दिग्दर्शन कराते हैं।

श्रीरामानुज सम्प्रदायमें तो ऐसा मानते हैं कि कर्मयोग, ज्ञानयोग करना दूसरी बात है और आचार्याभिमान करना दूसरी बात है। वे दो तरहका कर्मयोग मानते हैं—बहिरंग कर्मयोग और अन्तरंग कर्मयोग। बहिरंग कर्मयोगको वह कर्म बोलते हैं और अन्तरङ्ग कर्मयोगको उपासना बोलते हैं। और ज्ञानयोग तो अलग है ही।

बोले—सब साधन हैं परन्तु इनमें सबसे सुगम आचार्याभिमान—कि हम अमुक गुरुके शिष्य हैं, अमुक सम्प्रदायमें हैं, हमको तुम क्या समझते हो! आचार्याभिमान माने कि हमारा इतने से ही उद्धार हो जायेगा कि हम अमुक सम्प्रदायमें, अमुक गुरुसे दीक्षित होकरके, अमुकमन्त्रके द्वारा, अमुक देवताके प्रपन्न हुए हैं, शरणागत हुए हैं इसलिए हमारे कल्याणमें अब कोई शङ्का नहीं।

तो, सृष्टिमें वेद चाहे कर्मका प्रतिपादन करता हो, चाहे उपासनाका प्रतिपादन करता हो, चाहे अष्टाङ्गयोगका प्रतिपादन करता हो, चाहे तत्त्वज्ञानका प्रतिपादन करता हो—अन्ततोगत्वा वेदोंका अभिप्राय यही है कि तुम उस अवस्थामें पहुँच जाओ जहाँसे धर्मकी शक्ति वहाँसे नीचे गिरा नहीं सकती—जहाँ स्वाभाविक प्रकृति तुमको नीचे गिरा नहीं सकती और ऊपर उठा नहीं सकती—उस अचल पदको तुम प्राप्त हो जाओ जहाँ कालका प्रभाव तुम्हारे ऊपर नहीं पड़ता। सारे वेदोंका तात्पर्य यही है। तो भिन्न-भिन्न कर्मोंका उपदेश करनेपर भी, भिन्न-भिन्न मन्त्रोंका निरूपण होनेपर भी, भिन्न-भिन्न देवताओंके स्वरूपका वर्णन करनेपर भी और यज्ञ-यागादिकी भिन्न-भिन्न प्रक्रिया होनेपर भी असलमें वेद परम तात्पर्यके रूपसे आत्माके ब्रह्मत्वका ज्ञान ही कराना चाहते हैं, यही सम्पूर्ण वेदोंका समन्वित तात्पर्य है। आत्माका चरम और परम उत्कर्ष यही है चरम माने अन्तिम और परम माने **सर्वोपरिः यत्परो नास्ति**—जिससे परे कोई उत्कर्ष नहीं है। ये वेद तुम्हारा वही बड़प्पन बताना चाहते हैं। ये वेद तुम्हारे इस बड़प्पनपर जो पर्दा पड़ गया है उस पर्देको फाड़ डालना चाहते हैं। **सर्वे वेदा यत्पदम् आमनन्ति।** आमनन्तिका अर्थ है कि इनके निरूपण भरसे ही यह अज्ञान दूर हो जायेगा।

श्रीमद्भागवतकी वेद-स्तुतिमें—**सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति**के लिए एक बहुत सुन्दर श्लोक है।

बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदि वा विकृतात्

कहते हैं—तुम नाम कुछ भी लो—हमलोगोंके गाँवकी तरफ तो लोगोंका नाम बड़ा विचित्र-विचित्र होता है—घसीटा, नेउर, नेवला, मूसा—ऐसे नाम मनुष्यके रखे जाते हैं, पर नाम चाहे नेवला रखो चाहे गिलहरी रखो परन्तु रहता तो वह आदमी ही है न! बोले—ऐसे ही, नाम तुम कुछ भी रखो, है वह ब्रह्म ही।

जब दीवाली आती है न, तब उधर खाँड़का खिलौना बनाते हैं—खाँड़का हाथी, खाँड़का घोड़ा, खाँड़का गधा, खाँड़की औरत, खाँड़का मर्द और जब खरीद कर घरमें आता है तब उसको खीलके साथ खाते है, पर बच्चे आपसमें झगड़ते

है—कोई कहता है हम घोड़ा खायेंगे, कोई कहता है कि हम गधा खायेंगे, कोई कहता है हम हाथी खायेंगे, कोई कहता है कि हम औरत खायेंगे और बच्चे लड़ जाते हैं, रोने लग जाते हैं। अच्छा भाई, उसकी शकल चाहे हाथीकी हो, चाहे घोड़ेकी हो, है तो वह खाँड़ ही न? ऐसे ही शकल चाहे औरतकी हो चाहे मर्दकी हो, चाहे पशुकी हो चाहे पक्षीकी हो—शकल ही न जुदा-जुदा है, है तो वही। तो जैसे नाम मूसा, नेउर, घसीटा होनेसे भी मनुष्य मनुष्य ही रहता है, उसके मनुष्यपनेमें फर्क नहीं पड़ता है, ऐसे ही रूप मनुष्य, पशु, पक्षी होनेसे भी जो सबमें मसाला है वह वही रहता है। यही जो उपलब्ध संसार है असलमें इसका उपादान, इसका मसाला, इसका तत्त्व जिसमें किसी नाम-रूपका आकार नहीं करो तो बिलकुल ब्रह्म है, क्योंकि सब आकार टूट-फूट जानेपर सब नाम मिट जानेपर, वही रहता है।

वृहद् उपलब्धम् एतद् अवयन्ति अवशेषतया।
यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदि वाविकृतात्॥

सम्पूर्ण विकारोंका उदय और अस्त उसीमें होता है, कार्य-कारण भाव जो प्रतीत होता है उसीमें होता है और उसमें स्वयं कोई विकार नहीं होता। तो—

अत ऋषयोदधुस्त्वयि मनोवचना चरितम्—इसलिए **ऋषयः वेदाः महात्मानः**—इसलिए वेद कहो, मन्त्र कहो, महात्मा कहो जो वे बोलते हैं सो परमात्माका नाम, ब्रह्मका नाम ही बोलते हैं। जब म[illegible]मा किसीको कहता है कि ओ बेवकूफ, तब ब्रह्मका ही नाम बेवकूफ भी है कि ओ ज्ञानी—तो वह ज्ञानी नाम भी ब्रह्मका ही है।

कल विष्णु-सहस्रनाम पढ़ रहा था, उसमें भगवान्‌का एक नाम है—अविज्ञाता। अविज्ञाता माने जो नहीं जाने। अब भक्तजी उसकी व्याख्या करने लगे तो अविज्ञाता शब्दकी उन्होंने यह व्याख्या की कि जो अपने सेवकके दोषको न जाने वह अविज्ञाता—अविज्ञाता भगवान्। तो असलमें, जितने नाम हैं, सब उसीके जितने रूप हैं सब उसीके।

तब उसका नतीजा यह निकला कि ये महात्मा लोग चाहे कुछ भी अण्ट-सण्ट बोलें—लोग समझते हैं कि ये अण्ट-सण्ट बोल रहे हैं और महात्मा जानता है कि हम अपने सोनेके ही नाम रख रहे हैं। कभी उसी सोनेको सूअर कहकर बुलाते हैं और कभी घोड़ा कहकर बुलाते हैं—बाराह बना लो सोनेका, हयग्रीव बना लो सोनेका, हाथी बना लो—गणेश बना लो सोनेका, नृसिंह बना लो सोनेका!

ओ नृसिंह ! बोले—बच्चेने समझा कि सिंहको पुकार रहे हैं, कि ओ गणेश, बोले कि हाथीवाली शकलको पुकार रहे हैं, कि ओ बराह कि सूअरवाली शकलको पुकार रहे हैं, और महात्मा जानता है कि सोनेके टुकड़ोंसे ही ये सब शकल बनी है और हम सोनेका नाम ले रहे हैं, ये सब नाम उसीके हैं, सब रूप उसीके हैं।

तो, सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति—उसी परब्रह्म परमात्मामें लौकिक प्रयोजनसे कि लोग पाप न करें, नरकका नाम और रूप अध्यारोपित है, और उसी परब्रह्म परमात्मामें लोग पुण्य-कर्ममें प्रवृत्त होवें सामाजिक-सेवाकी दृष्टिसे स्वर्गका नाम और रूप कल्पित है, आरोपित है, अध्यस्त है। उसीमें लोग कर्मयोग करें इसके लिए जनकका नाम अध्यारोपित है और उसीमें लोग शास्त्रका स्वाध्याय आदि करें इसके लिए व्यासका नाम आरोपित है—ब्रह्मके ही नाम हैं। लोग रोगी होनेपर चिकित्साका काम करे, इसलिए उस परमात्मामें अश्विनी कुमारका नाम अध्यारोपित है, धन्वन्तरिका नाम अध्यारोपित है—है बिलकुल वही, लोग ज्ञानोपदेश करें इसके लिए उसीका नाम कपिल है, लोग वैराग्यसे रहें इसकेलिए उसका नाम दत्तात्रेय, शुकदेव, ऋषभदेव, वामदेव है—अमुक प्रयोजनसे अमुक नाम, अमुक रूप, अमुक गुण—इनकी कल्पना करके परमात्माका वर्णन करते हैं। बोले कि सब लोग दत्तात्रेय ही बन जायें? तो लक्ष्मी-नारायणका, सीता-रामका वर्णन कर दिया कि नहीं बाबा, ब्याह करके घर-गृहस्थीमें रहो।

देखो, मृत्युदेवता तत्त्वज्ञानका उपदेश कर रहे हैं। यह आप देखते हैं कि नहीं कि मौत तत्त्वज्ञानका उपदेश कर रही है? हम आपको शास्त्रका और साधनका हृदय बता रहे हैं भला ! तो **सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति**—यह शास्त्रका हृदय है। जितने नाम-रूप हैं सब परमात्मामें हैं, परमात्माके सिवाय और नाम-रूप कोई नहीं है। इसलिए—**अत ऋषयो दधुस्त्वयि चरितम्** वे कहते हैं कि हमारे मनमें जो आता है सो परमात्मा है, हम जो बोलते हैं सो परमात्मा है—**कथमयथा भवन्ति भुविदत्तपदानि नृणाम्**—मनुष्य पाँव रखकर चलेगा तो धरतीपर ही तो पाँव रखेगा न? इसलिए जब कोई भी कुछ बोलेगा या कोई भी कुछ सोचेगा तब जब परमात्माके सिवाय दूसरी कोई चीज है ही नहीं तो वह परमात्माके सिवाय सोचेगा क्या?

अब एक बात प्रसङ्गके अनुसार सुना देते हैं। वह क्या है कि हमारे बाबू लोग कहते हैं कि यह ईश्वर-ईश्वर करने वाले पराधीन मनोवृत्तिके हो जाते हैं। लेकिन हम आपको कहते हैं कि आपको बोलनेकी और सोचनेकी इतनी

स्वतन्त्रता संसारमें और किसी भी विचारसे प्राप्त हो ही नहीं सकती। संसारमें आगे चाहे कोई भी ज्ञान-विज्ञान, महाविज्ञानका उदय हो जावे, लेकिन मनसे सोचनेका और मुँहसे बोलनेका इतना बड़ा स्वातंत्र्य अन्य किसी सिद्धान्तसे प्राप्त नहीं हो सकता है जबकि इस सिद्धान्तमें कहते हैं कि हम मुँहसे जो बोलते हैं सो परमात्मा है और मनसे जो सोचते हैं सो परमात्मा है क्योंकि परमात्माके सिवाय और कुछ है ही नहीं। इतनी स्वतंत्रता है इस सिद्धान्तमें! इसीको मुक्ति बोलते हैं, यही जीवन्मुक्ति है। इतनी बड़ी स्वतंत्रता संसारमें आपको किसी दूसरे संविधानके अनुसार प्राप्त हो सकती है? उपासना-संविधान, धर्म-संविधान, योग-संविधान, राजनीतिक-संविधान—कौन ऐसा संविधान सृष्टिमें है जो आपको इतना बड़ा स्वातंत्र्य दे दे कि—

जहँ-जहँ चलेउँ सोइ परिकरमा जो जो करउँ सो सेवा—यह स्वातंत्र्य आपको कौन दे सकता है—

यत्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शम्भो तवाराधनम्।

बोले—भाई, पहचान गये जब कि अमृतका समुद्र है, तो चाहे पानी उछालें, चाहे पीयें, चाहे आबदस्त लें, चाहे तैरें, चाहे उसमें हम डूबें—हम पहचानते हैं कि यह अमृत है, अमृत इसमें मरनेका डर नहीं है। यह अमृतका समुद्र है ब्रह्म और हमारे आगे-पीछे, ऊपर-नीचे और दसों दिशामें ब्रह्म ही ब्रह्म है।

दसों दिशामें बाहर-भीतर नहीं आता है। यह आपको मालूम है न!

दसों दिशामें चार हो गये चारों दिशाएँ और चार हो गये कोण और एक ऊपर और एक नीचे, ये दश हो गये, इसमें बाहर-भीतर नहीं आता। तो दसों दिशाओंमें भी और बाहर-भीतर भी—इन बारहोंकी कल्पना जिसमें है सो भी और इनके द्वारा कल्पित जो है सो, और इनका कल्पक जो है सो और इनकी कल्पना जो है सो—वह सब परब्रह्म परमात्माके सिवाय और कुछ नहीं है।

तो **सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति**—इसमें 'वेदा' शब्दका अर्थ क्या हुआ? कि वेद माने ज्ञान—अरे जो भी तुमको ज्ञान होता है उस नाममें, उस रूपमें, उस गुणमें, उस स्वभावमें ब्रह्म-ही-ब्रह्म है, परमात्माके सिवाय दूसरा कुछ नहीं है—यह स्वातन्त्र्य हुआ। **तपाँसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।**

अब तपस्याकी बात करते हैं। तपस्याका नाम सुनकर डरना नहीं भला!

यह जो धन कमानेके लिए ऑफिसमें छह घण्टे बैठते हैं ना, वह भी तपस्या है। अब हमको तो यदि कुर्सीपर छह घण्टे पाँव लटकाकर बैठना हो तो

तपस्या ही हो जाय और जिनको कुर्सीपर बैठनेकी आदत है उनको पाँव समेटकर प्रेम-कुटीरकी दरीपर बैठना पड़े—तो यह उनके लिए तप है। तपकी विलक्षण रीति होती है। जब कोई समारोह होता है—संसारियोंके यहाँ जब कोई समारोह होता है, ब्याह होता है और वहाँ वह खाना-पीना! वह आईस्क्रीम!! और वह गिलास!!! और वह खटाखट!!!! होती है तब जब अपने वहाँ जाकर बैठते हैं तो तप ही करते हैं—आपकी समझमें यह बात आवे कि न आवे! इस तपको समझना बड़ा कठिन है, क्योंकि वहाँ कोई चीज ऐसी नहीं रहती कि जिसको हम आँख खोलकर देख सकें।

तपाँसि सर्वाणि च यद्वदन्ति—तपस्या शब्दका अर्थ आग तापना नहीं है, पानी में खड़े रहना नहीं है, जाड़ा सहना नहीं है। तप शब्दका अर्थ देखो, यह है कि यह जो हमारी इन्द्रियोंकी भोगार्थ प्रवृत्ति है इसको रोकनेका नाम तप है।

हमारी इन्द्रियाँ रसीली कब होती हैं? जब संसारके विषयोंको देखकरके रसका अनुभव होता है तब उसका मतलब यह होता है कि अपने अन्दर कोई चीज ऐसी नहीं है जिसको देखकर तुम रसका अनुभव करते हो। मैंने एक मजदूरसे यह बात पूछी कि तुम सिनेमा देखने क्यों जाते हो? तन्ख्वाह उसकी थोड़ी थी और काम करता था दिनभर और सिनेमा देखने जाय। बोला, महाराज, घरमें बैठनेकी जगह नहीं है; हमारे घर ही कहाँ है, झोपड़ीमें रहते हैं, तो जितनी देरके लिए हम सिनेमा देखते हैं उतनी देर हमें अच्छे मकानमें बैठनेको मिलता है, अच्छा दृश्य देखनेको मिलता है, अच्छे लोगोंमें रहनेको मिलता है और घरके अशान्त वातावरणसे छुट्टी मिलती है—इसलिए जाते हैं। तो बाहर देखने कौन जाता है कि जिसके घरमें वह चीज नहीं है—ठनठनपाल है भीतर। यह मत समझना कि हम बहुत बड़े आदमी हैं। दूसरेका घर किसको भाता है? जिसको अपने घरमें सुख नहीं मिलता है। अपने घरमें लड़ाई हो, झगड़ा हो, उद्वेग हो, कोई कमी हो, तभी बाहर अच्छा लगता है। हमको देहातकी बात मालूम है, कोई गाँवके गरीब होते थे तो उन लोगोंने तय कर रखा था—तीस दिनका ठिकाना लगाकर रखते थे—कि एक दिन उस गाँवमें जायेंगे तो उनके मेहमान हो जायेंगे, दूसरे दिन उस गाँवके मेहमान हो जायेंगे एक दिन तो ठी-ठीक भोजन कर आयेंगे।

तो यह जो हम आँखकी मोटरपर चढ़कर बाहर जाते हैं देखने और यह जो हम नाककी मोटरपर चढ़कर जाते हैं सूँघने—आर्डर दिया समझो यदि जाना न समझो—तो आँखके रास्ते कुछ मँगाया, नाकके रास्ते कुछ मँगाया, जीभके रास्ते

कुछ मँगाया—यह जो दिन-रात होटलसे ही अपने खाने-पीनेके लिए चीज़ आती रहती है, दिन-रात दुकानकी ही शरण लेनी पड़ती है इसका मतलब यह है कि न घरमें सामान है, न घरमें रसोइया है और न घरमें रसोई बनती है। चाय पीनी हो तो दुकानपर पी ली, खाना खाना हुआ तो होटलसे मँगा लिया—यह क्या जीवन है?

बोले—देखो भाई, हम कुछ पौरुष्य-जीवनकी चर्चा कर रहे हैं—**तपाँसि सर्वाणि च यद्वदन्ति**—यह जो तुम्हारा हृदय है, तुम कोई मामूली नहीं हो, तुम सम्राट् हो भला, जरा सँभलकर तुमको रहना चाहिए। 'तप' 'तप'—यह स्पर्श अक्षरोंमें सोलहवाँ और इक्कीसवाँ दो अक्षरोंसे तप शब्द बनता है—क वर्गके पाँच अक्षर, च वर्गके पाँच अक्षर और ट वर्गके पाँच अक्षर—हो गये पन्द्रह अक्षर और सोलहवाँ अक्षर आया 'त'। इसी प्रकार त वर्गके पाँच अक्षर मिलकर हो गये बीस अक्षर और इक्कीसवाँ अक्षर है 'प'। श्रीमद्भागवतमें ऐसे इसका वर्णन है—

स्पर्शेषु यत् षोडशमेकविंशम्

जब ब्रह्मा पैदा हुए तब उनको सब सूना दिखा। सूना दिखा तो आकाशवाणी हुई—तप, तप। तब परमात्माका दर्शन होता है।

अब जरा तपकी बात आपको इसलिए सुनाता हूँ कि तप भी बोलते हैं। इसमें यह लिखा है—

तपश्चसि सर्वाणि च यद्वदन्ति

जहाँ मृत्यु बोल रहा है कि तुम ब्रह्म हो वहाँ तप भी यदि बोले कि तुम ब्रह्म हो, तो क्या आश्चर्य होगा आपको? अशेष-विशेषका निषेध हो जानेपर सर्वाभाव-रूप जो मृत्यु है वह सर्वाभाव सामने खड़ा होकरके कह रहा है कि अरे तेरे सिवाय और कुछ नहीं है—यही न? सारे कठोपनिषद्का अभिप्राय यही है। वह यमराज, वह मृत्यु, वह सर्वाभाव , वह सर्वनिषेध सम्मुख मूर्त्तिमान होकर बोल रहा है—तेरे सिवाय और कुछ नहीं तू ही ब्रह्म है। इसी प्रकार **तपाश्चसि सर्वाणि च यद्वदन्ति**—तप बोलता है।

अब एक-आध तपकी बात आपको और सुनाते हैं। हे नारायण, देखो जैसे समझो आपके मनमें काम आया। तो काम जब आपके मनमें होगा तब आपके मनमें एक पुरुष अथवा एक स्त्री—दोनोंमें-से कोई एक आवेगा माने वृत्ति जब काम-रूपा होती है, जब हमारी चित्त-वृत्ति कामाकार परिणामको प्राप्त होती है तो उसमें एक स्त्री अथवा एक पुरुष-रूप साकार-विषय उपस्थित हो जाता है। कामवृत्ति होवे तो आँख बन्द करके देखो—तुम्हारे मनमें क्या है—अरे भाई चाहे

स्वर्गकी अप्सरा होवे, चाहे घरकी देवी होवे, लेकिन कोई-न-कोई स्त्री अथवा पुरुष तुम्हारे मनमें होगा-ही-होगा। अब तप क्या है—इसको इस तरहसे समझो। जब हमारा मन निष्काम है तब मनमें क्या है—स्त्री है कि पुरुष है, बोले—कोई नहीं है। माने निर्विषय हो गया मन। तो मन जब निर्विषय होता है तब संविद्मात्र-ज्ञानमात्र रहता है; इसलिए निष्काम शब्दका वाच्यार्थ क्या है? निर्विषय-संविद्—यह निष्काम शब्दका वाच्यार्थ है। तो तप क्या हुआ? कि निष्कामता तप है और वह निर्विषय संविद्-रूप है अर्थात् तप आत्मा है और इसको ब्रह्म बताना वेदान्तका काम है। तुम निष्काम हो जाओ तो देखोगे कि तुम्हारे हृदयमें निर्विषय संविद्के सिवाय और क्या है? तो यह हुआ वाच्यार्थ, इसीको देहकी उपाधिसे विमुक्त करके, शोभित करके वेदान्त कहता है कि यह ब्रह्म है। **तपाँ्सि सर्वाणि च यद्वदन्ति।**

दूसरा उदाहरण लो—आपके मनमें आया लोभ। लोभमें धनका ज्ञान निश्चित रूपसे मनमें रहेगा कि नहीं? रहेगा, क्योंकि ज्ञानका उपादेय-बुद्धिसे घनाकार होना लोभ है। सोना हो, चाँदी हो, नोट हो, जमीन हो, मकान हो—कोई-न-कोई विषय जब मनमें होगा तब न लोभ रहेगा? अब बताओ सन्तोषके समय आपके मनमें क्या है? सीताराम! सन्तोषमें निर्धन-संवित् है, माने निर्विषय-संवित् है, और यह निर्विषय-संवित् आत्माका स्वरूप है। तो जिस समय आप निर्लोभ होते हों, तो वह जो निर्लोभता है, वह जो निर्लोभ-संवित्-रूप-चैतन्य है, यह चैतन्य ब्रह्म है।

अच्छा, क्रोध ले लो। जिस समय आपके मनमें क्रोध आता है, तो या तो अपना सिर फोड़ोगे या दूसरेका सिर फोड़ोगे—गुस्सा दो तरहका होता है। वैसे हैं तो दोनों बुद्धिसागर ही—अरे दूसरेका सिर फोड़ो तो भी अपना ही है और अपना सिर फोड़ो तो भी अपना ही है—दोनोंमें आत्मा तो एक ही है; यह नहीं समझो कि हम दूसरे पर थूकेंगे तो हमारे ऊपर नहीं पड़ेगा। तो क्रोधमें शत्रु-रूप-विषयाकारताको प्राप्त वृत्ति होती है—वहाँ बाहर शत्रु होता नहीं है, भीतर शत्रु होता नहीं है, शत्रु है विलायतमें, परन्तु वृत्ति ही शत्रुका आकार ग्रहण करती है। तुम चाहते तो यह हो कि हमारे गाँवमें हमारा दुश्मन न रहे, जिस धरतीपर हम उस पर हमारा दुश्मन न रहे; लेकिन जब तुम गुस्सा करते हो तब वह दुश्मन कहाँ रहता है? कलेजेमें, दिलमें। जहाँ तुम्हारा प्रीतम रहना चाहिए वहाँ तुमने अपने शत्रुको बैठाया, जहाँ कृष्ण रहना चाहिए वहाँ सौत आकर बैठ गयी!

अच्छा, तो क्रोध छोड़ दो। अक्रोध हो गया, अहिंसा हो गयी। अब क्या रहेगा चित्तमें? तो क्रोध-विषयके राहित्यसे उपलक्षित, संविद्-मात्र रहेगी न? यही संविद्-मात्र—तप है, यह तुम्हारा आत्मा है और इस संवित्‌का उपलक्षण होनेके कारण यह अकाम, अक्रोध, अलोभ इत्यादि तप हैं। ये तप तुम्हारी ज्ञान-स्वरूपताको बताते हैं। लेकिन एक बात है—मूर्ख आदमीको, **न साम्परायः प्रतिभाति बालम्**—बच्चेको यह बात नहीं मालूम पड़ती है।

अब देखो, हम आपको थोड़ी-थोड़ी बात और सुनाते हैं—निर्दान-संवित्। यदि तुम्हें आत्माका ज्ञान प्राप्त करना है तो वह बाँटनेके समय नहीं होगा, उसके लिए बैठना पड़ेगा, निष्क्रिय होना पड़ेगा। देखो, दया करोगे तो सामने दयाका विषय आयेगा और दान करोगे तो सामने दानकी वस्तु और देय सामने आयेगा। यह अध्यात्म ज्ञान दूसरी चीज है और आन्दोलन दूसरी चीज है, यह बाहरकी खटपट दूसरी चीज है और आत्मज्ञानका जो प्रशस्त मार्ग है वह दूसरा है। अब और आगे सुनाते हैं। क्या? कि निरुपास्य संवित्। उपास्याकार जो है वह वृत्तिका परिणाम है। इसलिए उपास्याकार-विरहित जो संविद्‌मात्र वस्तु है वह तप है।

नारायण! तो चांचल्य और स्थैर्यसे विरहित जो कर्तृत्व पूर्वक स्थैर्य है वह चित्तकी एक पकड़ है, वह भी एक आकार है। अतः चाञ्चल्य-स्थैर्य आदिसे विरहित जो संविद्-मात्र वस्तु है, वह तप है। देखो, तप वही है जो संविद्‌के चाञ्चल्यको, स्थैर्यको, आकारको, परिणामको शान्त कर दे। शान्तिका नाम तप है, चित्तकी शान्तिका नाम तप है।

अब आपको एक और बात सुनाता हूँ। वैसे तो आप सब लोग जानते हो! **तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति** यदि सद्‌गुण अनेक हों तो मनुष्यको उनको धारण करनेमें बड़ी कठिनाई हो, लेकिन दुर्गुण अनेक होते हैं और सद्‌गुण एक होता है,इसीसे उसको धारण करनेमें सुगमता है। यह हम सड़कवाले सद्‌गुणकी बात नहीं बोलते हैं—सभामें सद्‌गुण दूसरे होते हैं, सभ्यता दूसरी होती है और यह जो हमारे बाप-दादासे सद्‌गुण चले आ रहे हैं वह तो संस्कृति है। सभामें जिस भलनमनसाहतके साथ हम रहते हैं वह सभ्यता है—सभ्यता दूसरी चीज है और संस्कृति दूसरी चीज है। सभ्यता उधार कपड़ा लेकर भी या धोबीसे कपड़े किरायेपर लेकर भी सभामें जाकर बनायी जा सकती है लेकिन संस्कृति उधार लेकरके नहीं बनायी जा सकती, वह भीतरसे निकलती है, और यह जो तप है,

यह न बाहरसे आता है और न भीतरसे निकलता है, यह तो केवल एक उद्घोष है—आत्म-वस्तुके स्वातन्त्र्यका।

तो आपको यह सुनाते हैं कि जैसे काममें स्त्री या पुरुष मनमें आया और क्रोधमें शत्रु आया और मोहमें परिवार आया और दयामें दुःखी आया और उपासनामें उपास्य आया—ये सब अलग-अलग आते हैं, लेकिन शान्तिमें ऐसा नहीं होता! शान्ति जो होती है वह एकरूप होती है। मनमें शत्रुका न होना, स्त्री-पुरुषका न होना, परिवारका न होना—इन अनेकका 'न होना' जो है, इनकी जो शान्ति है वह शान्ति एकरूप है, इसलिए चित्तमें शान्तिरूप सद्गुण एक है—यह तप है। यह परब्रह्म परमात्मा ज्ञान तो नहीं है, पर यह तप है।

दुर्गुण अनेक हैं—एक दुर्गुण शत्रुको लेकर आया, एक दुर्गुण स्त्री-पुरुषको लेकर आया, एक दुर्गुण कुटुम्बको लेकर आया—माने सब दुर्गुण अपनी एक-एक शकल पकड़कर बैठते हैं, एक-एक आकृति है सबकी, गुस्सेका दाँत निकला हुआ है, लोभकी आवाज बड़ी मीठी है, कामके चेहरेपर मुस्कान है, और शान्ति इन सब दुर्गुणोंके न होनेपर जो शान्ति है वह निराकार है। शान्ति निराकार होती है और निराकार होनेसे ही वह नाम—और रूपसे मुक्त होती है ज्ञान तो होता ही है शान्ति।

शान्ति क्या है? बोले—आकारका ऐसा सरोवर जिसमें तरङ्ग न उठती हो शान्ति है, और शान्तिका ऐसा अमृतमय समुद्र जिसमें संसारके नाम-रूप न उदय होते हों—ऐसा जो संविद्-समुद्र है उसको बोलते हैं—तप। और वह तप क्या बोलता है? तप बोलता है कि यह जो देहके कारण, अपने दुराग्रहके कारण, काम-क्रोध, लोभ-मोहके कारण, अज्ञानके कारण, अंहकारके कारण जो तुम अपनेको परमात्मासे अलग एक इकाईके रूपमें मान रहे हो यह तुम्हारी भूल है! यह बात वह तप बताता है—**तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति**। सारी तपस्या उसी परमात्माका उपदेश करती है।

अब एक बात देखो—दुर्गुण ग्रहण करनेमें बड़ा कष्ट है। एक आदमीको सच-सच कोई बात मालूम थी और उसने दो-टूक उसको कह दिया, अब जब भी कहनेकी जरूरत पड़े, उसे याद रखनेकी कोई जरूरत नहीं है, ज़ब जरूरत हुई तब कह दिया। और एक दूसरे आदमी हैं, उसको सच मालूम है एक बात परन्तु उसने झूठ बोल दिया दूसरी बात, तो एकसे दूसरा झूठ बोला, दूसरेसे तीसरा झूठ और तीसरेसे चौथा झूठ! झूठ जो है सो अपनी शकल बदलता है और सच जो है

वह अपनी शकल नहीं बदलता। देखो, यह सच और झूठकी पहचान है—झूठ उसको कहते हैं जो अपनी आकृति बदल दे और सच उसको कहते हैं जो अपनी आकृति नहीं बदले—एक सरीखा। देखो, जिसके मनमें है कि हमको लोभ नहीं करना है, वह चाहे जहाँ रहे निर्लोभ रहेगा और जो कहीं लोभ करे और कहीं न करे उसके सिरपर कितना बोझ। एक आदमी चोरी करके आया, पर यही फिकर करता रहा कि कहीं कोई सुराग न छूट जाय—घरवालोंको कहीं पता न लग जाय, पुलिस वालेको न पता लग जाये, कहीं पड़ौसी कोई खबर न दे दे—उसका दिमाग यह सोच-सोचकर खराब है, और एक आदमी है जो चोर नहीं है, तो उसको कोई डर नहीं है? तो सद्‌गुण जो होता है उसमें निरुद्वेग है, निर्विक्षेप है, निर्भय है। इसीसे सद्‌गुणीकी बुद्धि सत्यके अनुसंधानमें, परमात्माकी खोजमें लगती है—**तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति। यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति**—आपकी चर्या कैसी है? किसकी तरह आपकी चर्या है। जड़ चर्या है कि भूतचर्या है, कि मनुष्य चर्या है, कि पशु चर्या है, कि देव चर्या है कि ब्रह्मचर्या है? ब्रह्मचर्यं चरन्ति —यह अद्भुत है। ब्रह्मचारीका ब्रंह्मचर्य यह है कि ब्याह तो नहीं किया है आगे ब्याह करेगा, ऐसी संभावना है, ब्रह्मचर्यसे रहता है। और गृहस्थने ब्याह किया हुआ है पर अपनी पत्नीके सिवाय और किसी स्त्रीपर कुदृष्टि नहीं डालता है, तो वह गृहस्थ ब्रह्मचारी है। और वानप्रस्थका ब्रह्मचर्य क्या है कि पत्नी साथ है और ब्रह्मचारी है। और संन्यासीका ब्रह्मचर्य क्या है कि पत्नी है नहीं और आगे होनेकी संभावनां भी नहीं है और ब्रह्मचारी है। तो ये चारों ब्रह्मचारी हैं—ब्रह्मचारीका मतलब केवल अपने नामके साथ ब्रह्मचारी, बालयोगी लगाना नहीं, ब्रह्मचारी माने चमत्कारी नहीं होता, ब्रह्मचारी माने होता है कि उसकी चर्या ब्रह्मवत् हो। अभी अपनेको ब्रह्म जानता तो नहीं है, पर रहनी ब्रह्मवत् हो। जैसे ब्रह्म अपनेको किसी नाम और रूपमें आबद्ध नहीं करता वैसे यदि तुम ब्रह्मको प्राप्त करना चाहते हो तो अपने साधनमें, अपने भजनमें ब्रह्मवत् चर्या कर दो—सारे नाम आवें-जावें सारे रूप आवें-जावें, सारी वस्तुएँ आवें-जायें लेकिन असंग रहो। यह जो असंगता है, अलेप होता है, वह ब्रह्मचर्य है! **ब्रह्मचर्यं चरन्ति**—कि भाई तुम यह व्यक्तिगत रूपसे ब्रह्मचर्य क्यों कर रहे हो? तो बोले कि व्यक्तिगत रूपसे ब्रह्मचर्य है ब्रह्मकी उपलब्धिके लिए—**यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति।**

यह संसारमें जो राग-द्वेष है न, यह बड़ा बखेड़ा है। यहाँ सम्प्रदायका भी आग्रह होता है, पोथीका भी आग्रह होता है, उपासनाका भी आग्रह होता है, इष्टका

भी आग्रह होता है—आदमी जबतक समझता नहीं है कि सत्य क्या है और उसके पहले जब वह कहीं स्थिर हो जाता है—तो क्या होता है? कि सत्यका ज्ञान तो है नहीं, पर एकको सत्य मानकरके,पकड़ करके, दुराग्रह करके और दूसरेकी निन्दा, दूसरेका खण्डन करके खुद तो अन्धेरे में भटक रहे हैं और दूसरोंको और अन्धेरेमें भटका रहे हैं—**स्वयं नष्टः परान्नाशयति**। यहाँ कठोपनिषद्में भी आया था—

अन्धेनैव नीयमानां यथान्धाः—उस दिन मैंने उसकी व्याख्या नहीं की थी। उस दिन तो बड़े मण्डपमें कथा हो रही थी न—और वेदान्तकी कथाके लिए वोट ज्यादा नहीं चाहिए समझदार ज्यादा चाहिए, उसके लिए जिज्ञासु अधिक उपस्थित होने चाहिए, उपस्थिति अधिक नहीं होनी चाहिए, क्योंकि अधिक उपस्थितिमें तो सब कक्षाके अधिकारी होते हैं और सबके लिए बोलना पड़ता है—कुछ असूयुः होते हैं—दोष निकालने वाले।

अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा—आगे-आगे एक अन्धा चला, उसके कन्धेपर दूसरे अंधेका हाथ, उसके कंधेपर तीसरे अंधेका हाथ, सब चले। कहाँ पहुँचेंगे? जहाँ पहला अंधा ले जायेगा। वह सबको भटकायेगा। सब मिलकर पहुँचना तो चाहेंगे तो भी भटकेंगे क्योंकि एक अन्धेको जो चीज नहीं दीखती हो, सौ अन्धे मिलकर भी उस चीजको नहीं देख सकते हैं। यह जो परब्रह्म परमात्माका ज्ञान है, वह पंचायती नहीं है, जो आग्रह करके बैठ जाता है, जो किसी पंथमें दीक्षित हो गया—फिरकेमें शामिल हो गया—उसको फिरका ही बोलते हैं, फिरकापरस्त हो गया पन्थाई हो गया, जिसको रास्तेकी जिद्द है, उसे परमात्मा नहीं मिलता। एक यात्रा करनी हो और आदमी बसमें या ट्रेनमें या प्लेनमें बैठ जाये और जहाँ बदलनेकी जरूरत हो वहाँ न बदले—बोले हम तो इसीमें बैठे रहेंगे—तो क्या वह अपने गन्तव्यपर पहुँचना चाहता है? वह अपने गन्तव्यपर पहुँचनेका आग्रही नहीं है, वह तो बोलता है कि हम तो जायेंगे, तो इसी मोटरसे जायेंगे। बोले कि मोटरमें तो आग लग गयी है उतर जाओ, तो बोले कि नहीं मरेंगे, इसी मोटरमें मरेंगे। तो यह जो फिरका परस्त पन्थाई लोग होते हैं ये अपनी मोटरमें ही जान देते हैं, इनका वाहनमें ही आग्रह होता है। अरे भाई, जहाँ तुम्हें पहुँचना है वहाँ पहुँचनेके लिए अगर रास्तेमें एक मोटरसे दूसरी मोटरपर बैठना पड़े, एक ट्रेनसे दूसरी ट्रेनमें जाना पड़े, प्लेनसे दूसरे प्लेनमें जाना पड़े तो—यह पंथका दुराग्रह कैसा? दुराग्रह तो गन्तव्यका होना चाहिए न कि अमुक जगह पहुँचना है, यह रास्ता नहीं तो यह रास्ता सही!

एक बार हमारे लोग वृन्दावनसे बम्बई आ रहे थे, तो सूरतके आस-पास लाईन टूट गयी, कुछ खराब हो गयी, तो यह नहीं कि सूरतमें ही बैठ जायें कि यह लाईन बनेगी तब बम्बई जायेंगे, वे सूरतसे भुसावल गये और फिर वहाँसे दूसरी ट्रेन पकड़कर यहाँ आये। मार्गमें आग्रह नहीं, सवारीमें आग्रह नहीं, पंथमें आग्रह नहीं—सत्यसे प्रेम होना चाहिए न? वस्तुसे प्रेम होना चाहिए। तो ये पन्थाई लोग जो हैं ये पूर्वाग्रहसे ग्रस्त हो जाते हैं। कहेंगे—हम तो साकारवादी हैं, हम तो सगुणवादी हैं, हम तो निर्गुणवादी हैं, हम घटपंथी हैं—एक घटपंथ भी होता है—हम पटपंथी है, हम मठपंथी हैं—ऐसे हैं सब! बोले कि हमारे तो राधा स्वामी दयालके सिवाय और कोई गति नहीं है कि ठीक है, बहुत अच्छा, हम उसको काटते थोड़े ही हैं, लेकिन यह देखो कि जिस सत्यको तुम प्राप्त करना चाहते हो, उसको पहले जान लो तब आग्रह करो न! तो—**यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति**का अर्थ है कि ब्रह्म जैसे सर्वनाम, सर्व-रूप, सर्व-परिस्थितिमें अलेप रहता है ऐसे यदि तुम ब्रह्मको चाहते हो तो तुमको संसारकी प्रत्येक परिस्थितिसे अलेप रहकर आगे बढ़ना पड़ेगा।

प्रश्न सिद्ध वस्तुके सम्बन्धमें किया गया है। सिद्ध वस्तु उसको कहते हैं जिसका निर्माण नहीं करना पड़ता, जो पहलेसे मौजूद रहती है। इसके सम्बन्धमें वेदान्तियोंका बिलकुल स्पष्टम्-स्पष्टम् यह निर्णय है कि जो वस्तु किसी चीजसे पैदा होती है, बनती है—माने जो पहले नहीं थी और अब बन गयी—वह उत्पन्न होनेसे वह अनित्य हो गयी। तो यदि हम साधन करके ऐसी ही (उत्पन्न होनेवाली) वस्तु प्राप्त करें जो साधनसे पैदा हुई तो वह मरनेवाली होगी और उस वस्तुकी प्राप्तिसे भी जन्म और मरणकी निवृत्ति नहीं होगी।

तो फिर यह हुआ कि जो वस्तु उत्पन्न होती है वह तो जन्म-मरणवाली है—चाहे वह वस्तुसे बने, जैसे हलुआ बनाओ और चाहे कर्मसे बने, जैसे कर्म करके धर्म स्वर्ग बनाओ और चाहे भावना करके ध्येयकी मूर्तिका प्रत्यक्ष करो और चाहे सम्पूर्ण ध्येयोंको छोड़करके वृत्तिको समाहित करो—यह बाहरी वस्तुओंसे बननेवाला हलुआ, कर्मोंसे बननेवाला स्वर्ग, भावनाओंसे बननेवाला आकार और केवल निवृत्तिसे, निरोधसे बननेवाला निराकार स्थितिमें, ये सब-की-सब चीजें पैदा होती हैं, इनका संस्कार किया जाता है, ये प्राप्त की जाती हैं और अन्तमें ये बिगड़ जाती हैं। कहनेका मतलब यह कि असलमें ये चारों रूप विनाश्यके ही

हैं—उत्पन्न होना, संस्कृत होना, प्राप्त होना और विकृत होना—ये विनाश्यके ही चारों रूप हैं इसलिए स्वयं विनाश्य हैं। तो वेदान्ती लोग कहते हैं कि हमको साध्य वस्तु नहीं चाहिए, हमको तो जो सिद्ध वस्तु है, ज्यों-की-त्यों, वह चाहिए। असलियत क्या है, सच्चाई क्या है, परमार्थ क्या है, हम वह चाहते हैं—हम कोई खिलौना बनाकरके उसके साथ खेलना नहीं चाहते हैं।

फिर यह हुआ कि जो साधनसे साध्य होगा—वह तो होगा अनित्य, नष्ट हो जायेगा, और जो साधन-सिद्ध नहीं है, स्वयं-सिद्ध है वह तो प्राप्त ही है, तो साधन करनेकी क्या जरुरत है? इसका उत्तर यह है कि जो सिद्ध वस्तु है वह तो मालूम तो नहीं पड़ती है कि क्या सिद्ध है, तो उसके मालूम पड़नेमें जो बाधा है उसको दूर करनेके लिए साधनकी जरूरत पड़ती है, सिद्ध वस्तुको पैदा करनेके लिए साधनकी जरूरत नहीं है। समझो कि अन्धेरे घरमें कोई चीज कहाँ रखी है मालूम नहीं पड़ती, तो दीया जलाते हैं, तो जैसे दीया वस्तुको पैदा करनेके लिए नहीं जलाते हैं, अन्धेरा हटानेके लिए जलाते हैं, इसी तरह यह जो ज्ञानकी रोशनी, ज्ञानकी बत्ती जलायी जाती है वह आत्माको या ब्रह्मको पैदा करनेके लिए नहीं जलायी जाती बल्कि वह अपने आश्रयको आवृत करनेवाले अज्ञानको दूर करनेके लिए जलायी जाती है। स्वाश्रयावरक अज्ञानको दूर करनेके लिए अखण्डार्थ धी-रूप, दीपक प्रज्वलित करना पड़ता है—यह अज्ञानान्धकारको दूर करनेके लिए है, वस्तुकी उत्पत्तिके लिए नहीं है।

तमसका यह स्वभाव है कि वह जिसमें होता है उसीको ढक देता है—स्वाश्रयावरक बोलते हैं उसको तो उस अज्ञानान्धकारको मिटानेके लिए कोई उपाय करना चाहिए। इसका अभिप्राय यह हुआ कि ईश्वर इसी समय और इसी जगह और इसी रूपमें, अरे जो तुम हो उसी रूपमें विद्यमान है, भला! पर बुद्धिमें कोई ऐसा अन्धेरा छा गया है कि ईश्वर पहचानमें नहीं आता। बुद्धिका वह अन्धेरा कैसे दूर किया जाये? तो बोले कि वेदान्त उसी अन्धेरेको दूर करनेके लिए ज्ञानका दीपक जलाता है। वेदान्त ईश्वरको बनाता नहीं है, बस जिस अन्धकारके कारण यहाँ मौजूद होनेपर भी ईश्वर दिखायी नहीं पड़ रहा है उस अन्धकारको दूर करनेके लिए वेदान्त ज्ञान-ज्योति प्रज्जवलित करता है। अच्छा तो—

यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳसंग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

ओम् इति एतत्—अब आपको दो-चार बात ओंकारकी सुना देते हैं, क्योंकि यह ओंकार जो है यह संग्रह है—**संग्रहेण ब्रवीमि ॐ इति एतत्**—सृष्टिमें

परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिके लिए जितने भी उपाय हैं, जितने भी साधन हैं—ज्ञान-दीपकको प्रज्ज्वलित करनेके लिए, ज्ञान-मणिको उद्भासित करनेके लिए, ज्ञान-सूर्यको उदित करनेके लिए जितने उपाय हैं उन सबका मूर्धन्य है यह ॐ संग्रह।

संग्रह माने संक्षेप थोड़ेमें। अब ओंकारमें मात्र एक अक्षर कर दिया। इससे अधिक और क्या संक्षेप होगा? सारे शास्त्र वेदमें हैं और सारे वेद गायत्रीमें हैं और समूची गायत्री ॐकारमें है, तब अब ओंकारसे बढ़कर और कौन होगा? तो ओंकारके बारेमें कुछ थोड़ा-सा बता देते हैं।

जैसे जब किसी चीजका विवेक करना होता है तो उसका वर्गीकरण कर देते हैं, ऐसे ही ओंकारमें भी वर्गीकरण करते हैं—अक्षरोंका। जाग्रत् अवस्थामें जो कुछ मालूम पड़ता है—पति-पुत्र, धन-दौलत, मकान, स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, यज्ञ-याग, धर्म-उपासना-मन्दिर, आना-जाना, लम्बाई-चौड़ाई, उमर-वस्तु, जो भी जाग्रत् अवस्थामें मालूम पड़ता है, वह जिसको मालूम पड़ता है उसको 'अ' ओकार बोलते हैं। और स्वप्नावस्थामें जितना मालूम पड़ता है—हजारों हाथी-घोड़े, कुम्भका मेला, नदी और उत्तर-पूरब-पश्चिम, दक्षिण और आज, कल और परसों, यह-वह, स्वर्ग-नरक—वह सब जिसको मालूम पड़ता है उसे (उकार) बोलते हैं। और शान्त दशामें—सुषुप्तिमें समाधिमें जो कुछ नहीं मालूम पड़ता है—वह कुछ नहीं जिसको मालूम पड़ता है उसे 'म' (मकार) बोलते हैं। व्यष्टिमें अकार 'विश्व' है उकार तैजस है मकार 'प्राज्ञ' है। और समिष्टमें इनके नाम क्रमश: विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर हैं। इस ॐमें एक अमात्त भी छिपा हुआ है, वह है आत्मा—तुरीय, शुद्ध, साक्षी—वह ब्रह्म है और उसमें न जाग्रत् है, न स्वप्न है, न सुषुप्ति है, न उसकी संज्ञा विश्व है, न तैजस है, न प्राज्ञ है, एक अद्वितीय ब्रह्म है। तो यह जो विश्व-तैजस-प्राज्ञ-रूप अवस्था-त्रय और अवस्थाभिमानी और अवस्थाओंका दृश्य सबका संग्रह करके इनका जो अधिष्ठान है, साक्षी है, स्वयं प्रकाश है, अद्वितीय है, अविनाशी है, परिपूर्ण है, अद्वय है उस प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न ब्रह्मको ही 'ॐ' बोलते हैं और यह प्रमाण प्रतिपन्न—श्रुति बोलती है कि वह तुम हो।

अच्छा, यह एक बात हुई अब दूसरी लो। हमारे बस्ती जिलेमें एक सूरदास हैं, हमने उनका दर्शन किया था। उनका कहना यह था कि सृष्टिमें अबतक जितने शास्त्र हुए हैं, हैं और प्रकट होंगे वे सब हमारे अन्त:करणके एक-एक कणमें भरे

हुए हैं। थे अन्धे बिलकुल। आजकल बहुत-से ग्रन्थ उनके बनाये हुए बाजारमें छपे हुए हैं। उनसे पूछा गया कि प्राचीन शास्त्रकी कोई विद्या है कि नहीं? बोले है—**समराङ्गण सूत्रधार** और वह ग्रन्थ उन्होंने लिखवा दिया ऐसे बहुत सारे ग्रन्थ उन्होंने लिखवाये जो सृष्टिमें आजकल कहीं मिलते नहीं हैं लाखों-लाखों श्लोकके ग्रन्थ लिखवाये। तो डाक्टर भगवानदास उनके पास गये और बोले कि हम तत्त्वज्ञानकी ऐसी प्रणाली ठीक समझते हैं कि जिसमें 'मैं यह नहीं हूँ'—**अहं एतत् न**—इस प्रणालीसे तत्त्वका विचार होवे, तो क्या कोई प्राचीन शास्त्र ऐसा है जिसमें इस ढंगसे आत्मज्ञानका विचार किया गया होवे? क्योंकि जब अपनेको सबमें मिला देते हैं तब अपनी विशेषता खो देते हैं और जब नेति-नेति करके निषेध करते हैं तब अपनी वास्तविक विशेषताको जानकरके फिर और सब विशेषताओंके समान उस विशेषताका भी बाध कर देते हैं। तो उन्होंने (सूरदासने) बताया कि प्राचीनकालमें एक प्रणववाद नामका ग्रन्थ था और गार्ग्यायन ऋषिने उसकी रचना की थी और कुल बाईस हजार श्लोक उसमें हैं। तो काशीसे महामहोपाध्याय पण्डित अम्बादास शास्त्री गये, डॉक्टर भगवानदास गये और उन्होंने वह समूचा ग्रन्थ लिखा, जो उन दिनों मद्राससे प्रकाशित हुआ था—डॉक्टर भगवानदासकी बहुत बड़ी भूमिका उसमें छपी है। उस ग्रन्थका सारांश यह है कि 'अ' माने 'अहं', 'उ' माने 'एतत्' और 'म' माने 'नहीं' अर्थात् ॐ माने **अहं एतत् न, अहं एतत् देहादिरूपं यत् आत्मानम् अनुभवामि तत् अहं नास्मि**—यह जो मैं अनुभव करता हूँ कि मैं देहादि रूप हूँ यह मैं नहीं हूँ।

नारायण! आप देखो, यह देह तो बड़ा मोटा कोश है—ऐसे आप समझो कि इस देहके भीतर इन्द्रियोंका कोश है और इन्द्रियोंके भीतर प्राणोंका कोश है, प्राणोंके भीतर मनका कोश है और मनके भीतर बुद्धिका कोश है; तो जैसे कोई पाँच कपड़ेके भीतर रोशनी जला दी जाय और वह पाँचोंमें-से छन-छनकरके निकले, तो बिलकुल सन्निहित जो वस्त्र है उसमें प्रथम तादात्म्य हुआ और उससे बाद वाला जो वस्त्र है उसमें द्वितीय तादात्म्य हुआ और उसके बाद वाले वस्त्रमें तृतीय तादात्म्य हुआ, और इसी प्रकार चतुर्थ और पंचम तादात्म्य होता है। जैसे कि कपड़ेकी पाँच तह करके यदि पानी छानें तो पानीका प्रथम संयोग किससे होगा और द्वितीय किससे होगा, तृतीय किससे होगा और चतुर्थ किससे होगा?—इसी प्रकार यह शरीर द्रव्य-रूप है और इसमें जो इन्द्रियोंके द्वारा क्रिया हो रही है और इसमें जो प्राणोंका संचार हो रहा है और इसमें जो संकल्प-विकल्पका उदय हो

रहा है, इसमें जो निर्णय-निश्चय हो रहा है और उस निर्णय-निश्चयकी भी जो शान्ति-दशा है; तो उसमें आत्माका प्रथम तादात्म्य शान्ति-दशासे, द्वितीय तादात्म्य निर्णय-दशासे, तृतीय तादात्म्य संकल्प-दशासे, चतुर्थ तादात्म्य क्रिया-दशासे और पञ्चम तादात्म्य द्रव्यदशासे है और इसी प्रकार जैसे एक ही रोशनीके लिए एक ऐसा बल्ब बनावें जिसमें पाँच शीशे लग रहे हों और छनते-छनते रोशनी बाहर आती हो तो पहले बल्ब (शीशे) में उसका दूसरा रूप होगा—छोटा बल्ब है दूसरे शीशेमें, जो उससे बड़ा बल्ब है और रूप होगा फिर उससे बड़े तीसरे बल्बमें और रूप होगा इत्यादि। इसी तरहसे एक ही आत्मदेव हैं इस शरीरके भीतर जिसमें पाँच बल्ब (शीशे) हैं—शरीर तो जैसे बल्ब होवे और व्यापक जो बिजली है सो इसमें प्रतिबिम्बित होकरके भिन्न-भिन्न रूपमें प्रकट हो रही है। तो पहले तुम देहको कहो कि 'अहं एतत् न' मैं तो चैतन्य बिजली हूँ मैं शरीर नहीं हूँ। फिर इन्द्रियोंको कहो—मैं चैतन्य विद्युत् हूँ, मैं इन्द्रियाँ नहीं हूँ। इसी प्रकार आगे भी। मैं चैतन्य विद्युत् हूँ, मैं प्राण नहीं हूँ, मैं चैतन्य विद्युत् हूँ मैं संकल्प, इच्छा आदि नहीं हूँ, मैं चैतन्य विद्युत् हूँ, मैं निर्णय-निश्चय आदि नहीं हूँ—इनके साथ अपनेको जोड़ो मत, मैं शान्ति-दशासे भी जुड़ा हुआ नहीं हूँ—'अहं एतत् न'। यह दो नम्बरकी बात आपको सुनायी। प्रथम नम्बरकी वही है—क्या? कि जो जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिमें जो एक अखण्ड चैतन्य है वह ब्रह्म है। और दूसरे नम्बरकी बात है कि पञ्चकोशसे अपनेको न्यारा करके—नेति-नेति-मैं यह नहीं हूँ, मैं यह नहीं हूँ, 'अहं एतत् न' ये दो अर्थ 'ॐ' इस अक्षरमें निहित हैं।

अच्छा, अब आपको तीसरी बात सुनाता हूँ। वह यह है कि अपने मन्-ही-मन ॐ का उच्चारण करो। ॐ का उच्चारण करें माने स्त्री-पुत्र; घर-धन-पशु-मनुष्य—ये जो विषय हैं—शब्द--स्पर्श-रूप-रस-गन्ध—ये जो विषय हैं इनका ध्यान छोड़ दो और बोलो ओऽऽऽऽम्। असलमें यह जो ॐ है इसमें एक नाद है, एक बिन्दु है, एक शान्ति है, एक निवृत्ति है, एक विद्या है, एक ऐश्वर्य है, एक वैराग्य है—बड़ी विलक्षण-विलक्षण वस्तुएँ हैं—सारी सृष्टि इस ॐ में भरी हुई हैं। तो जब ॐ का उच्चारण करें तब ज्ञान तो होवे परन्तु विषय नहीं होवे—संविन्मात्र स्थिति।

नारायण, आजकल लोग शब्दोंका अर्थ ठीक समझते नहीं हैं। देखो, यह तुलसीका पत्ता है। यह प्रत्यक्ष हुआ कब? कि चाक्षुष-प्रत्यक्ष हो रहा है इसका, हरा-हरा आँखसे दिख रहा है; लेकिन इसका नाम तुलसी है यह आँखसे नहीं

मालूम पड़ता है। यह तुलसी नाम तो अन्त:करणसे मालूम पड़ा है। कैमरेसे जब फोटो लेते हैं तो बाहरवाली चीजकी छाया कैमरेके शीशेमें से, लैंस-से होकर जब फोटो रीलपर पहुँच जाती है तब फोटो खिंचती है, वैसे यह आँख तो कैमरेपर लगा हुआ शीशा है और उसके भीतर जो फोटो लेनेकी जगह है वहाँ जब इस तुलसीके पत्तेकी छाया आँखके रास्तेसे पड़ती है तब हमारा अन्त:करण तुलसीपत्रके आकारको ग्रहण कर लेता है और हमको तुलसीका चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है तब तुलसीके पत्तेकी छाया और हमारा अन्त:करण दोनों दो स्थानमें नहीं रहते; एक ही प्रकाशकसे प्रकाशित होते हैं—कल्प्यमान तुलसीदल और कल्पनारूप अन्त:करण कल्प्यावच्छिन्न और कल्पनावच्छिन्न चैतन्य जब एक होता है तब तुलसीके पत्तेका ग्रहण होता है। तो तुलसीका पत्ता नहीं, कोई भी अन्य पदार्थ अपने अन्त:करणमें न हो केवल ओऽऽऽऽम् हो—सविन्मात्र, ज्ञानमात्र । बोले यह ज्ञान कैसा है? कि यह ज्ञान ऐसा है कि जो मालूम पड़ता है कि जितनी देर हम ॐकार का उच्चारण करते हैं उतनी देर रहता है माने काल-परिच्छिन्न मालूम पड़ता है, और यह मालूम पड़ता है कि यह भीतर है माने देश परिच्छिन्न मालूम पड़ता है और यह मालूम पड़ता है, और यह मालूम पड़ता है कि यह विषयाभावको ग्रहण कर रहा है; परन्तु असलमें न यह भीतर है, न इसकी उम्र है और न यह विषयाभाव-ग्राही है; कि असलमें इसी संविन्मात्रका विचार करें तो यह देश-काल-वस्तु सबकी कल्पनाका प्रकाशक है और इस बातका बोधक है कि कल्प्य देश-काल-वस्तुसे अवच्छिन्न जो चैतन्य और देश-काल-वस्तुकी कल्पनासे अवच्छिन्न जो चैतन्य—वे दोनों एक हैं।

तो संविन्मात्र ॐकारका उच्चारण करके, चित्रको निर्विषय करके उसकी संविन्मात्रताको अपरोक्ष करके उसे ब्रह्मरूपसे जनाना—यह प्रणवका काम है।

अपरोक्ष करना क्यों? जैसे आँख बन्द करके आप स्वर्गका ध्यान करते हैं तो वह स्वर्ग क्या हुआ? कि वह परोक्ष हुआ। स्वर्ग परोक्ष होता है और यह तुलसीका पत्ता प्रत्यक्ष होता है। और यह जो संविन्मात्र, ज्ञानमात्र स्थिति है, वह न तुलसीदलके समान प्रत्यक्ष है और न स्वर्गके समान परोक्ष है, वह अपरोक्ष है—कहाँ है वह? कि अपने दिलमें ही है, अपना आपा ही है। इस अपरोक्ष संवेदनको ब्रह्म-रूपसे जनाना, ब्रह्म-रूपसे मालूम कराना, यह प्रणवका काम है—यह तीसरी बात हुई।

अब चौथी बात सुनो। ऐसा नहीं है कि आप उपनिषद्को बाँच जायँ और

आपके ध्यानमें सारी बात आ जाय—सब उपनिषदोंमें एक वाक्यता होती है। जैसे बाजारमें सबकी राय भिन्न-भिन्न होती है न—घरमें भी स्त्रीकी राय दूसरी, पतिकी राय दूसरी, बेटेकी दूसरी, बापकी दूसरी, तो इसको बोलते हैं पागलोंकी दुनिया—एककी नजरमें दूसरा पागल है, एककी नजरमें दूसरा बेवकूफ है—यदि पहले वालेकी बुद्धिके अनुसार दूसरा न चले तो पहलावाला समझता है कि दूसरा बेवकूफ है—इसीको बोलते हैं भ्रान्त-पुरुषोंकी दुनिया, पागलोंकी दुनिया। पर ये शास्त्र जो बोलते हैं ये एकवाक्यता करके बोलते हैं—जो बृहदारण्यक बोलेगा वही कठ बोलेगा, जो कठ बोलेगा,वही छान्दोग्य बोलेगा, छान्दोग्य जो बोलेगा वही ईशावास्य बोलेगा—सब शास्त्रोंकी एक वाक्यता होती है। जैसे सौ सयाने एक मत होते हैं वैसे ही ये सब उपनिषदें मिलकरके एक बात बोलती हैं। अच्छा, अब आपको ऐसे ही बोलते हैं—

आप लम्बे प्रणवका उच्चारण करें—

ओ.........म्।

लम्बा उच्चारण करनेपर जब आपकी साँस पूरी हो जाती है तब उस उच्चारणकी नोकपर जहाँ उच्चारण तो समाप्त हो गया और दूसरा ॐकार प्रारम्भ हुआ नहीं (फिर आपने साँस खींची नहीं) वहाँ जरा एक सेकेण्ड, दो सेकेण्ड टिक जायँ और वहाँ देखें कि वहाँ कौन-सा विषय रहता है? अकार चला गया, उकार चला गया, मकार चला गया, अर्द्धमात्रा चली गयी—साँस खत्म हो गयी, संकल्प खत्म हो गया—अब वहाँ क्या रहता है? तो आप दो चीज बता सकते हैं—या तो कह सकते हैं कि कुछ नहीं रहता है और या कह सकते हैं कि मैं रहता हूँ। तो कुछ न रहना, और 'मैं का होना' ये दोनों एक सरीखा वहाँ हुआ न! जहाँ कुछ नहीं है,ऐसा मालूम पड़ता है वहाँ तो आप हैं—तो वहाँ जो आप हैं वह त्वं पदका अर्थ है, वह अहं पदका अर्थ है और उसीको जब आप विवेकपूर्वक देखेंगे, अनुभव करेंगे तब यह ॐ कहता है वही ब्रह्म है, वही जो शेष रहता है वही ब्रह्म है।

आपको कैसे-कैसे इसको सुनावें। ॐकारमें एक नाद होता है; **नादान्ते सिद्धभावितम्**—जब नादका अन्त होवे तब जो चीज रह जाती है उसको ब्रह्म-रूपसे देखो—यह सब अज्ञान-निवृत्तिके लिए दीपक प्रज्वलित करनेकी प्रणाली है। अच्छा, अब पाँचवीं बात सुनाते हैं—ॐ में जो नाद है, नाद तो जहाँ ध्वनि होती है वहाँ धक्का भी होता है—यह आपको मालूम है ना? यह जो

हम उच्चारण करते हैं आकाशमें, उससे एक आकृति बनती है। ओ.....म्—यह जो कण्ठ-तालु आदिका आघात होता है—उससे यह आवाज कैसे निकलती है? आप लोगोंने कभी मन्दिरमें घण्टा बजाया है? या नहीं बजाया है, कभी सुना तो होगा? और यदि इतनी बड़ी जिन्दगीमें आपको कभी उस घण्टेका अनुभव ही न हुआ। हो तो फिर क्या कहें उसको! तो जो घण्टेको पकड़ करके टन्-टन्-टन्-टन् बजाते हैं न, तो वह टन्-टन् आघात तो अलग होता है और उनसे मिलकर एक ऐसी अखण्ड ध्वनि उठती है कि वह टन-टन अलग रह जाता है और ध्वनि अखण्ड हो जाती है। आपलोग कभी मन्दिरमें आरती होते समय केवल आँख बन्द करके तन्मय हो जाइये—वह जो गिज-बिज बाजे बज रहे हैं उसकी तरफ ध्यान मत दीजिये, उन सबकी मिलकरके जो एक अखण्ड ध्वनि हो रही है उसकी तरफ ध्यान दीजिये; तो वह टन्-टन्-टन् जो अलग है न वह तो है संसार और उसमें जो अखण्ड-ध्वनि है वह है ॐकार। अलग-अलग नाम होनेपर भी अलग-अलग टन्-टन् होनेपर भी और उनसे अलग-अलग तरङ्ग उदय होनेपर भी—तरङ्ग है आकृति, तरङ्गसे आकृति बनती है और ध्वनिसे नाम बनता है—तो नाम और आकृतिकी पृथक्ता होनेपर भी जो सबमें एक अखण्ड-ध्वनि है, उसमें ब्रह्म-चिन्तन कीजिये।

अब छठीं प्रणाली बताते हैं—आप आँख बन्द करके थोड़ा आँखपर हाथ लगावें तो भीतर मालूम पड़ेगा कि प्रकाशके बिन्दु-बिन्दु-बिन्दु छिटक गये हैं। यह नाद, बिन्दु और रेखा—ये सृष्टिके निर्माणकी प्रणाली है—पहले ध्वनि होती है, फिर उससे प्रकाशकी बूँद-बूँद-बूँद और फिर उससे रेखाएँ बनती हैं। यह ॐ में जो रेखाएँ हैं न, इतनी ही रेखाओंसे सब अक्षर बनते हैं। यह केवल जो उसके ऊपरकी लकीर और फिर एक टेढ़ी लकीर फिर एक बिन्दु, फिर एक टेढ़ी, फिंर बिन्दु फिर नोक, फिर उकारकी मात्रा, फिर अर्द्धमात्रा, फिर बिन्दु—इतनेसे क ख ग घ ...ये जितने अपनी संस्कृत भाषाके अक्षर हैं बन जाते हैं। संस्कृत भाषामें पचास अक्षर मानते हैं ध्यानके लिए—छब्बीससे संस्कृतका काम नहीं चलता है। तो ये पचासों अक्षर जो लिखे जाते हैं उनको अगर टुकड़े-टुकड़े कर दें तो सब अक्षर केवल ॐ पर रखे जा सकेंगे—कोई बिन्दु रखा जा सकेगा, कोई उ की मात्रापर रखा जा सकेगा।

ॐ आप लिखते तो होंगे ही—तो अ का जो पहला—तीन (३) सरीखा हिस्सा है वह तो अकारमें-से लिया हुआ है और उसकी जो पूँछ है वह उकारमें-

से ली हुई है—जैसे कु यदि लिखना होवे तो कके नीचे जैसी मात्रा लगायेंगे वैसे आधा अकार 'उ'के पीछे लगा दो—आधा अ और उसके पीछे 'उ'की मात्रा और बिन्दी लगा दें। ऊपर तो हो गया ॐ। इन्हीं तीनोंसे यह सृष्टि बनती है॥

आपके शरीरमें ॐकार भरा हुआ है—यह जो आपकी नाक है न, नाक ॐकारका बिलकुल बीचो-बीच है और एक भौंह इधर और एक भौंह उधर और दोनोंके बीचमें-से ऊपरकी ओर उकारकी मात्रा जाती है, और बिन्दु यहाँ होता है सिरमें, ब्रह्मरंध्रमें। आपका मुँह नहीं है, ॐकार है, आप अपने मुँहका ध्यान मत कीजिये ॐकारका ध्यान कीजिये और दूसरा ॐकार देखिये—हृदयमें मध्य भाग और दोनों हाथ और उसकी पूँछ सिरकी तरफ। और तीसरा ॐकार—दोनों पाँव, पूँछ नाभिकी तरफ और बिन्दु नाभिमें। स्थूल ॐकार पाँवसे बनता है, सूक्ष्म ॐकार कर्मसे-हाथसे बनता है, और कारण ॐकार ज्ञानकी प्रधानतासे बनता है। और तीनोंमें जो एकत्व है ना—जिसमें ये तीन बने ही नहीं हैं उसको ब्रह्म बोलते हैं।

तो बिन्दुसे सब-की-सब रेखाएँ बनती हैं। कागजमें आप देखते हैं न—यह लम्बी रेखा है, यह खड़ी रेखा है, यह आड़ी है, यह पड़ी रेखा है—इनको जब कभी शीशेसे (मैग्नीफाइंग ग्लाससे) आप देखें, तो देखोगे कि सब बिलकुल बिन्दु-बिन्दु हैं—अणु अणु हैं। यह पृथिवी बिलकुल अलग-अलग है। अणु-अणु है। इन सब अणुओंकी पृथक्तामें जो एकत्व है, जो अद्वितीयत्व है वह तत्त्व है। यह जितनी आकृतियाँ बनी हैं, रेखाओंसे जितने अक्षर बने हैं,जितने शब्द बने हैं, जितने वाक्य बने हैं और इनसे जितने नाम रखे गये हैं और जितनी लम्बी-टेढ़ी-आड़ी रेखाओंसे जितनी शकल बनी है, देखो, ऊँटकी गर्दन कैसी और वह महाराज, पशुशालामें मैंने देखा जिराफ जिसका मुँह ऊपर ही रहता है, हाथी है, घोड़ा है—ये जो अलग-अलग शक्लें बनती हैं न, ये सब रेखा ही हैं, सब बूँद-बूँद हैं। तो जैसे बूँद-बूँदकी हम रेखा देखते हैं, बूँद-बूँदको अक्षर देखते हैं और फिर उनमें कल्पित संकेत, कल्पित पद और उनमें कल्पित अर्थ देखते हैं—ये शब्द क्या हैं कि बिलकुल हरी झण्डी, लाल झण्डीकी तरह कल्पित संकेत हैं। हरी झण्डी देखना तो समझना रास्ता खुला है और लाल झण्डी देखना समझना रास्ता बन्द है।

देखो, एक बिन्दु बनाओ और जरा-सी नीचे लकीर खींच दो तो क्या हो गया? बोले कि एक हो गया और उसके ऊपर जरा-सी लकीर खींच दो और एक

नीचे खींच दो तो क्या हो गया कि दो हो गया; उसीके ऊपर-नीचे खींच दो तो तीन हो गया। बिना बिन्दुके कोई संख्या नहीं होगी—एक, दो, तीन, चार, पाँच, छह, सात—सातमें बिन्दु आगेकी ओर आ गया, आठमें बिन्दु पीछेकी ओर चला गया—सब बिन्दुका खेल है, चाहे अक्षर लिखो चाहे संख्या लिखो; और यह जो हमलोगोंकी शकल है सो? अरे यह बापके बिन्दुका फल है—यह बापका बिन्दु ही फैल-फैलकर ऐसा बन गया—कोई नाटा, कोई लम्बा, कोई गोरा, कोई काला, कोई मोटा, कोई दुबला—कोई सीकिया पहलवान, तो कोई हथिया पहलवान—ये सब बापके बिन्दुके ही फल हैं और बिन्दु कहाँसे फैला? कि उसमें भी कण होते हैं वे कण कहाँसे आये? कि अणुसे आये और अणु कहाँसे आया? कि परमाणुसे आया। कि परमाणु कहाँसे आता है? कि शक्तिसे परमाणु बनता है और उस शक्तिका जो अधिष्ठान है, जो उसका प्रकाशक है उसको चैतन्य बोलते हैं, उसको सर्वज्ञ,सर्व-नियन्ता बोलते हैं।

तो यह जो ॐकार है उसको शरीरमें चाहे जहाँ बना लो। यह तो हम देखते हैं पैसा, हम देखते हैं भोग—हम यह देखते हैं कि यह ककड़ी खाने लायक है कि नहीं, हम भोगकी दृष्टिसे वस्तुको तौलते हैं; इसलिए उसके भीतर जो सचाई है वह दिखायी नहीं पड़ती है। यदि भोगकी दृष्टिसे न तौलें, अपने उपयोगकी दृष्टिसे न तौलें तो उसके भीतर जो चीज बैठी हुई है न—एक ईश्वर वह जाहिर हो जायेगा। एक जगह चौबीसों अवतारकी मूर्त्ति बनी हुई है—मछली, कछुआ, बराह; एक जगह भगवान्‌के हजार नाम इकट्‌ठे ही लिखे हुए हैं और ये हजार ही नहीं हैं, एक-एक शब्द भगवान्‌के नाम हैं—ये चौबीस आकृतियाँ ही भगवान्‌की नहीं हैं,सर्व आकृतियाँ भगवान्‌की हैं। तो आकृतिका भेद होनेपर भी जो भिन्न नहीं होता, शब्दका भेद होनेपर भी जो भिन्न नहीं होता वह इस ओंकार पदका वाच्यार्थ है परमेश्वर। उससे राग नहीं करना, द्वेष नहीं करना, मोह नहीं करना, क्रोध नहीं करना, लोभ नहीं करना; अपनी चित्तवृत्तिके साथ तादात्म्यापन्न होकरके बिगाड़ना नहीं और देखो सत्यके रूपमें, यथार्थके रूपमें केवल वही-वही है।

अच्छा, अब सातवीं बात सुनाते हैं—यह ॐकारका अक्षर जैसे लिखते हैं न वैसे ही हृदयमें एक सुनहला ॐकार अक्षर लिख लें या आकाशमें आँखके सामने एक ॐ प्रकट कर लें। देखो इस दुनियामें दुश्मनकी याद करते हो और ॐकारकी याद नहीं करते? दोस्तकी याद करते हो और ॐकारकी याद नहीं

करते? धनकी याद करते हो और ॐकारकी याद नहीं करते? अरे! यह ॐ तो जन्म-मरणका साथी है—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्।

अब हृदयमें उस सुनहले ॐकारका ध्यान करें।

अब आपको सुनाते हैं कि ये देवता जितने होते हैं न, ये सब ओंकाररूप ही हैं। ये कृष्ण जो टेढ़े हैं न टेढ़े—कमर अलग, पाँव अलग और भौंह अलग, सिर अलग—कैसे हैं ये—यह ॐकारका जो टेढ़ापन है न वह श्रीकृष्णमें है। ॐकारकी जो ध्वनि है वह श्रीकृष्णकी वंशी है और ॐकारकी निराकारता श्यामतामें है। बिना टेढ़े हुए तो आकृति बनती नहीं है—सीधी-सीधी रेखासे आकृति नहीं बनती, कुछ-न-कुछ टेढ़ा करना पड़ेगा तो यह श्रीकृष्णकी ॐकारकी वक्रता है, श्रीकृष्णकी श्यामता, वक्रता ॐकारकी निराकारता है और उनकी निराकारता श्यामता है। आपलोगोंने चित्र देखे होंगे न—ॐके बीचमें श्रीकृष्ण और श्रीरामचन्द्रको देखा है—यह धनुष-वाण क्या है? आप गौरसे देखेंगे तो आपको वाणमें भी ॐ दीखेगा और धनुषमें भी ॐ दीखेगा। यह शक्ति क्या है? ॐमें देवी। ॐमें नारायण। ॐमें सूर्य।

कहनेका अभिप्राय यह है कि आपको एक ओर तो यह बात कह रहा हूँ कि ॐकार परब्रह्मका संकेतक है, लक्षणाके द्वारा यह ओंकार परब्रह्म परमात्माका बाध कराता है और ॐकारका वाच्यार्थ है परमात्मा, माने एक ओर बताया कि ॐकार प्रतीक है भगवान्‌का और दूसरी ओर यह बताता हूँ कि ऐसा कोई मन्त्र नहीं होता जिसमें यह ओंकारका सेतु—मन्त्रकी मेड़, मन्त्रकी मर्यादा नहीं होती। तो—'संग्रहेण ब्रवीमि'—आप कहाँ हैं? आप भले ही ॐकारमें मूर्त्ति-ध्यानसे प्रारम्भ कीजिये, ॐकारमें देह-ध्यानसे प्रारम्भ कीजिये—तीन ॐकार बताये ना देहमें—हृदयमें ॐकारकी कल्पना कीजिये या सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिको ॐकारसे बनी हुई दखिये—ॐकारके नादसे, ॐकारके अवयवसे, ॐकारके बिन्दुसे ॐकारकी नोकपर आनेवाली शान्तिसे, ॐकारमें रहनेवाली संविन्मात्रतासे, ॐकारमें रहनेवाले देहके निषेधसे कैसे भी इस विश्व-सृष्टिको ओंकारमय देखिये। गायत्रीका अर्थ ॐकारमें है, उपनिषद्‌का अर्थ ॐकारमें है, वेदोंका अर्थ ॐकारमें है, ब्रह्मा-विष्णु-महेश—तीनों ॐकारके तीन सिरेपर लटके रहते हैं क्योंकि जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति ॐकारमें कल्पित हैं। यह होता है **'संग्रहेण ब्रवीमि आमित्येतत्'**। ॐ—ऐसा जो है संक्षेपमें, उस पदका निरूपण यही है।

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्

'हि' माने क्योंकि क्योंकि यह ॐ अक्षर है; अत: *'एतद् एव अक्षरं ब्रह्म अपरं एतद्ध्येव अक्षरं परम् च'*—अपर ब्रह्म भी यही है और परमब्रह्म भी यही है। तो ब्रह्म अक्षर ब्रह्म है। अक्षर-ब्रह्म माने एक तो होता है अविनाशी ब्रह्म *न क्षरति इति अक्षरः*—जिसका क्षरण न हो वह अक्षर; दूसरे, *'अश्नुते इति अक्षरः'* जो व्यापक है उसको अक्षर बोलते हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलिने अक्षरकी यह दूसरीवाली परिभाषा की है अर्थात् जो सबमें व्यापक है सो अक्षर है।

देखो, यदि आप दो-चार लिपि जानते हों तो बड़ी आसानीसे पता लग जायेगा। देखो, अंग्रेजीमें अ कैसे लिखते हैं और हिन्दीमें कैसे लिखते हैं और तमिल-तेलगूमें कैसे लिखते हैं और रसियनमें कैसे लिखते हैं और चीनी भाषामें कैसे लिखते हैं, तो लिपि तो अलग-अलग है लेकिन उसका उच्चारण 'अ' है कि नहीं? उच्चारण 'अ' ही है। तो इसका मतलब यह हुआ कि रूप जुदा-जुदा होनेपर भी अक्षर एक है—लिपि जुदा है और कण्ठ अलग-अलग लिपिमें 'अ' 'अ' एक है। है कि नहीं? अलग-अलग लिपमें 'अ' लिखा हुआ है, तो उस लिपिके भेदके रहते हुए भी उसको सब अपनी-अपनी लिपिको देखकर 'अ' बोलते हैं। और सबका गला अलग-अलग है तब भी उसको 'अ' बोलते हैं। तो गलेके भेदमें 'अ' एक है और लिपिके भेदमें 'अ' एक है, ऐसे ही देखो, संसारमें आकृतिके भेदमें और नामके भेदमें ब्रह्म एक है—देखो, हजार तरहका मन होता है और उसमें एक रहते हो कि नहीं? एक दिन मनमें उदारता आती है कि दान कर दो, एक दिन मनमें कंजूसी आती है कि मत दो, एक दिन मनमें आता है कि हमारा शत्रु है, दूसरे दिन मनमें आता है कि नहीं मित्र है—मन बदलता रहता है और तुम एक रहते हो कि नहीं? ऐसे ही दुनिया बदलती रहती है और परमात्मा एक रहता है; और बदलनेवाली चीज-चीज नहीं होती, वह जिसमें दीखती है और जिससे दीखती है, उससे न्यारी नहीं होती है।

ओंकारोपासनाकी महिमा

अध्याय—१ वल्ली—२ मन्त्र १६-१७

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥ १.२.१६
एतदालम्बनꣳश्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥ १.२.१७

अर्थ :—यह अक्षर ही अपर ब्रह्म है, और यह अक्षर ही परब्रह्म है। इस अक्षरको जानकर जो जिसकी इच्छा करता है वही उसका हो जाता है। यही श्रेष्ठ आलम्बन है और यही परम् आलम्बन है। इस आलम्बनको जानकर ब्रह्मलोकमें महिमान्वित होता है॥ १६-१७॥

सम्पूर्ण वेदोंका परम तात्पर्य जिसमें है मानो वेद-रूप अपौरुषेय ज्ञानके द्वारा, सिद्ध वस्तुके ज्ञापकके द्वारा प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न ब्रह्मका जो बोध कराया जाता है वह क्या है तो बाले कि वह संक्षेपमें ॐ है। तपस्यासे जो प्राप्त किया जाता है—शम-दम-आदि साधन-सम्पत्ति, दैवी-सम्पत्तिसे, अमानित्वादि-सम्पत्तिसे जो प्राप्त की जाती है, वह चीज ॐमें है। जिसके लिए ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रथ, संन्यास आश्रम-धर्मका पालन करते हैं वह वस्तु संक्षेपमें 'ॐ' इसमें है।

अब बताते हैं कि यह जो अक्षर है ॐ—यही अपर ब्रह्म है और यही परब्रह्म है और इस अक्षरको यदि ठीक-ठीक जान लिया जाय तो तुम परब्रह्म चाहो तो परब्रह्म मिल जाये, अपर-ब्रह्म चाहो तो परब्रह्म मिल जाये—**यो यदिच्छति तस्य तत्—एतद् हि एव अक्षरं अपरं ब्रह्म, एतद् हि एव अक्षरं परं ब्रह्म**—यह जो अक्षर है ॐ, यह सर्वात्मक है—*'ओंकार एवेदं सर्वम्'*। इससे क्या हुआ कि ॐ अपर ब्रह्म हुआ क्योंकि सर्वात्मा होना ही अपर-ब्रह्मका लक्षण है। ये संन्यासी लोग हैं न, ये लोग ॐ—इस मन्त्रका जप करते हैं—इनका जप करनेका मन्त्र ॐ

है; यह नहीं कि जो चाहें सो ॐका जप करने लग जायें। इसका अभिप्राय क्या होता है कि सबको स्वीकार करते जाना; *ओम् इति स्वीकारेन।* ॐ माने बहुत बढ़िया। वर्षा हो गयी तो ॐ—बहुत बढ़िया; ठण्ड पड़ी कि ॐ बहुत बढ़िया; गरमी पड़ी कि ॐ बहुत बढ़िया। जन्म हुआ कि ॐ, बुढ़ापा आ गया कि ॐ, मृत्यु हो गयी कि ॐ। ॐ माने हाँ—जिस रूपमें तुम प्रकट हो रहे हो वही ठीक है, हम तुमको पहचानते हैं। सीधी-सीधी बात है—

देखो, *मृत्युका रूप धरे मैं नहीं डरूँगा तुमसे नाथ!* तुम मृत्युका रूप धारण करके आओ तो भी ॐ—तुम्हीं तो हो।

छान्दोग्योपनिषद्में आया है कि जब शरीरमें ताप होवे तब क्या चिन्तन करना। बोले ॐ। कैसे? तो बोले कि तुमने जेठके महीनेमें साधुओंको देखा कि नहीं, दोपहरीमें बालूमें नंगे बैठते हैं और चारों ओर आग जला लेते हैं और बीचमें बैठ कर तप करते हैं, तो उस समय उनको गर्मी लगती है कि नहीं? कि गर्मी तो लगती है पर वे तो सोचते हैं कि हम तप कर रहे हैं। तो जब तुमको बुखार आवे तब यह मत समझो कि यह रोगकी गर्मी है—ॐ यह समझो कि तपस्याकी, आगकी गर्मी है। क्या आनन्द है, रोग तो आया कर्म-सिद्धान्तकी रीतिसे, प्रारब्धसे और जब इसमें तपका भाव किया तो यह नीवन-कर्म हो गया फल प्रद, जैसे किसीने जेलमें डाला, लेकिन वहाँ ऐसा धन्धा कर लिया कि कमाई होने लगी। तो यह ईश्वरने बुखार तो इसलिए भेजा था कि तुमको पूर्व-कर्मका दण्ड मिले; लेकिन तुमने तो उसमें ऐसा भाव जोड़ दिया कि वह नवीन पुण्य हो गया।

यह आपको छोटी-छोटी बात सुनाता हूँ—उपनिषद्में यह ॐ ॐ ॐ। बोले कि ऐसा ख्याल आ जाय कि हम मर जायेंगे और लोग अर्थीपर उठाकर हमको ले जायेंगे और हम न हिल सकेंगे, न डुल सकेंगे, तो बोले—डरना नहीं, तुमने काष्ठ-मौनी देखे हैं कि नहीं? साधु होते हैं न! काष्ठ-मौनी-जबानसे बोलें नहीं, सिर हिलावें नहीं—तो उनकी तपस्या होती है कि नहीं? ऐसे ही वह तुम्हारा काष्ठ मौन हो जायेगा, वह तुम्हारी तपस्या हो जायेगी। ॐ—यही तप है।

फिर बोले कि जब चितापर सुला देंगे और आग लगा देंगे और आगमें शरीर जलने लगेगा तब क्या होगा? कि अरे बाबा, अभी तक तो तुमने घीका होम किया है, शाकल्यका होम किया है, बाहरकी चीजोंका होम किया है, असली होम तो किया ही नहीं है, असली होम तो तुम्हारे शरीरका अब हो रहा है। होमसे पुण्य होता है कि नहीं? तो उस समय होमसे भी पुण्य होगा—ॐ।

पीछे कई तरहकी बात बंतायी गयी—अकार, उकार, मकार, विश्व-तैजस-प्राज्ञ-तुरीय; नेति-नेति—सात तरहकी बात ॐकारमें-से बतायी थीं आपको, यह आठवीं तरहकी है। क्या? कि ॐ ॐ ॐ—यह भी ठीक, यह भी ठीक, यह भी ठीक।

अब नवीं तरहकी बात सुनाते हैं—यदि आपको किसी अन्जाने पदार्थको जानना है, अनमिले पदार्थसे मिलना है, अनदेखे पदार्थको देखना है तो उसका नाम-जप करते हैं—जिससे प्यार होता है उसका नाम जबानपर जल्दी-जल्दी आता है, आपंको क्या सुनावें—हमारे बचपनमें कितने कागज, कितनी कॉपी हाथमें कलम आनेपर खराब हो जाते थे। क्यों? उसपर हम लिख डालते थे—काशी-काशी।

> **शिवः काशी शिवः काशी काशी काशी शिवः शिवः**
> **महादेव महादेव महादेव इति यो वदेत्।**
> **एकेन लभते मुक्तिं द्वाभ्यां शंभु ऋणी भवेत्॥**

ॐ ॐ ॐ—संन्यासी लोग बारह हजार प्रणवका जप रोज करते हैं। हमारा मतलब केवल गेरुआ कपड़ा पहननेसे जो संन्यासी हो गये हैं उनसे नहीं है—वह तो धेलेका संन्यासी है; वेष—भगवान्का आदर करके उसको प्रणाम करते हैं—जों लौकिक वस्तुकी प्राप्तिके लिए अथवा जो जीविका चलानेके लिए संन्यासी होता है वह नहीं, जो आश्रम-धर्मके पालनके द्वारा अन्तःकरणको शुद्ध करके परमात्माका साक्षात्कार करनेके लिए संन्यासी होता है वह। उसमें जप होता है जप। *ज* माने *जन्म* और *प* माने *पाति, रक्षति*। *जन्मनः पाति*—जो जन्म और मृत्युके चक्करसे बचा दे, उसका नाम जप। क्या तुम जन्म और मृत्युके चक्करसे छूटना चाहते हो? तो नाम-जप करना पड़ेगा। तो यह ओंकार जो है यह वेदान्तकी दृष्टिसे तो परब्रह्म, अपर ब्रह्म—परमात्मक ब्रह्म और सर्वनिषेधावधि-ब्रह्म, सर्वरूप ब्रह्म और सर्वनिषेधावधि ब्रह्म—दोनोंका वाचक है और पौराणिक दृष्टिसे यह नाम-मात्रका उपलक्षण है—भगवान्का कोई नाम लो—क्रीं लो, ह्रीं लो, करीम कहो, रहीम कहो। यह देखो क्रीं को करीम बोलते हैं ह्रींको रहीम बोलते हैं। वह नाम हों खुदाका; ईश्वरका नाम हो। राम कहो, कृष्ण कहो—नाम मात्रका उपलक्षण है ॐ। जब नाम लोगे तो नाम लेते-लेते जिसका नाम है उसकी याद आवेगी, वह तुम्हारे दिलमें बैठा है यह बात मालूम पड़ेगी, उसपर जो पर्दा है सो हट जायेगा और अगर पर्दा हटाकर तुम उसको देखना नहीं चाहते हो, उसको पर्देमें ही रहने देना चाहते हो, तो क्या तुम्हारा प्रेम है? ब्याह तो

हुआ, पत्नी तो आयी, परन्तु उसने घूँघट हटाकर कभी पतिका मुँह ही नहीं देखा— क्या पत्नी है, क्या विवाह हुआ? अगर पर्दा फाड़ देनेकी तुम्हारी इच्छा नहीं होती है तो वह पति-पत्नी क्या जिसके बीचमें पर्दा बाकी रह जाय, वह गुरु-शिष्य क्या जिसके बीचमें कपट रह जाय?

तो यह जो ॐ है—ॐ ॐ ॐ ॐ की आवृत्ति करो—*तज्जपस्तदर्थ-भावनम्*—ॐ का जप करो और उसके अर्थकी भावना करो। कई लोग डर गये। काहेसे डर गये? कि दिन-रात जप करने लगेंगे तो बेटेका नाम नहीं आवेगा, पैसेका नाम नहीं आवेगा। तो जिसके खो जानेसे तुम डरते हो उससे तुम्हारा वैराग्य नहीं है। जिसके छूटनेका डर लगता है उससे तुम्हारा वैराग्य नहीं है।

अब देखो—वेदान्तमें एक तो अक्षर है अभिधान-ॐ और एक है अक्षरका अर्थ—अभिधेय। उपनिषद्में आया **अक्षरात् परतः परः**—सबसे परे अक्षर है और उससे परे कि उससे परे भी वही है। **अक्षरात् परतः परः परतः अक्षरात् परात्परः।** एक परात्पर तत्त्व है—अक्षरसे भी परे। तो देखो, क्षर तो हैं अनेक, और उसमें जो एक है सो अक्षर। जैसे लिपि हैं अनेक-काफ लिखो, K लिखो, क लिखो—लेकिन अक्षर तो एक 'क' ही है न, जिसका उच्चारण करते हैं—तो जैसे लिपिके भेदसे अक्षरमें भेद नहीं होता, इसी प्रकार एक ही अक्षर वह है जो स्त्रीकी शकलमें भी है पुरुषकी शकलमें भी है; पशुकी शकलमें भी है, मनुष्यकी शकलमें भी है—इन अलग-अलग होनेवाली शकलोंमें रहकर भी एक है; यह सर्वरूप अक्षर है और एक अक्षर वह है जिसमें अलग-अलग शकल ही नहीं है—यह सर्वनिषेधावधि रूप अक्षर है। तो अभिधेयकी दृष्टिसे सर्वरूपमें जो है उसको अपर ब्रह्म बोलते हैं और जो सर्वनिषेधावधिरूप है उसको परब्रह्म बोलते हैं; और जो असली चीज है उसमें पर-अपरका भेद नहीं है, यह तो जिज्ञासुकी बुद्धिमें आरूढ़ करानेके लिए पर-अपरकी कल्पना की जाती है, इसमें कहीं फँसना नहीं। आगे बढ़ो।

एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा—देखो, एक मन है, मन क्या है? बोले कि अक्षर है। कैसे, कि आँख अलग और इससे देखनेवाला मन, कान अलग और इससे सुननेवाला मन; नाक अलग और इससे सूँघनेवाला मन, जीभ अलग और इससे स्वाद लेनेवाला मन, त्वचा अलग और इससे छूनेवाला मन; तो ये विषय क्षर हैं, इन्द्रियोंके गोलक क्षर हैं और इनमें मनीराम जो हैं वह अक्षर हैं और मन कभी मजा लेता है और कभी दुःखी होता है, इसलिए मन भी अनेक रूप है; इन अनेक रूपोंमें आत्मा एक है। जब मन मजा लेता है तब भी तुम्हीं हो और जब मन मजा

नहीं लेता है तब भी तुम्हीं हो। तो **एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा**—इस क्षर और अक्षरसे अतीत जो परम तत्त्व है,. उसको जान लो फिर देखो—सारे संकल्प पूरे हो गये। यह बड़ा मजेदार है। बोले बाबा, जब संकल्प ही नहीं रहा, संकल्पका विषय ही नहीं रहा, जब संकल्पका कर्त्ता नहीं रहा तब तुम्हारे सब संकल्प पूरे कैसे हो गये? कि दूसरा जब है ही नहीं तब संकल्प ही कहाँ रहा?

एतदालम्बनꣳश्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥ १७॥

ॐ यह आलम्बन है। शङ्कराचार्य भगवान्ने ब्रह्मसूत्रके तीसरे अध्यायके तीसरे पादमें यह विचार किया कि जब ॐकारके द्वारा ही अपर ब्रह्मकी भी प्राप्ति होती है और परब्रह्मकी भी प्राप्ति होती है, तो सब लोग ओंकारके द्वारा परब्रह्मकी उपासना ही क्यों नहीं करते? इसका खुलासा यह है कि ॐकारसे चाहो तो ब्रह्मलोक मिले और चाहो तो ऐश्वर्य मिले, धन मिले, बेटा मिले, सृष्टिकी सारी वस्तुएँ मिलें, क्योंकि यह तो सबका प्रेरक है, सबमें मौजूद है, ईश्वरका नाम है—जो चाहो सो मिले; तो बोले कि जब ॐकारका उच्चारण, ॐकारका जप समान ही है, और बोलनेमें परिश्रम भी बराबर ही पड़ता है, चाहे **ओंकार एवेदं सर्वम्** बोलनेके लिए ॐ बोलो और चाहे अकार-उकार-मकार-अमात्रका प्रतिपादन करके **नान्तः प्रज्ञं वा वहिष्प्रज्ञं** इत्यादिके लिए ॐकार बोलो—बोलनेमें तो आयास समान ही है; फिर सब लोग ओंकार द्वारा परम ब्रह्मकी ही उपासना क्यों नहीं करते हैं? इसका उत्तर उन्होंने दिया—

ऐश्वर्यप्राप्तिवैतृष्ण्यं विना परे ब्रह्मणि आस्थायां दुर्लभत्वात्।

जबतक ऐश्वर्यसे वैराग्य नहीं होगा तबतक परब्रह्ममें स्थिति दुर्लभ है। बोले भाई गाँधीजी कौन हो सकता है कि जो मिनिस्टरीसे विरक्त हो—तो परमब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति किसको हो सकती है कि जो दुनियामें कोई ऐश्वर्य नहीं चाहता। इसलिए ॐकार सबसे प्रशस्त आलम्बन है—ऐश्वर्य-रूप-अपर ब्रह्मकी प्राप्तिके लिए भी श्रेष्ठ प्रशस्त आलम्बन है और परमब्रह्मकी प्राप्तिके लिए भी आलम्बन है; और इस आलम्बनको जिसने जान लिया वह इस लोकमें और परलोकमें—**परस्मिन् ब्रह्मणि अपरस्मिंश्च ब्रह्मलोके**—परब्रह्म और अपरब्रह्म दोनोंमें वह **महीयते ब्रह्मभूतो ब्रह्मवदुपास्यो भवति**—ऐसा ब्रह्म हो जाता है कि दुनियामें जो लोग ब्रह्मका स्मरण- चिन्तन करते हैं वे सब लोग उसीका ध्यान करते हैं—**ब्रह्मलोके महीयते।**

एक आदमी शालग्रामकी पूजा करता था, तो किसीने तत्त्वज्ञानीसे पूछा कि यह क्या कर रहा है? बोले कि मेरी पूजा कर रहा है। एक आदमी ध्यान कर रहा था—नेति-नेति-नेति; तो तत्त्वज्ञानीसे किसीने पूछा कि यह क्या कर रहा है? कि मुझे ढूँढ रहा है। एक आदमी बोला—अहं ब्रह्मास्मि। कि यह क्या कर रहा है? कि मुझसे एक हो रहा है।

'**ब्रह्मलोके महीयते**'का अर्थ है कि परब्रह्मके रूपमें और अपरब्रह्म के रूपमें—दोनोंके रूपमें उसीकी पूजा हो रही है सृष्टिमें, क्योंकि उसके सिवाय दूसरा कोई है ही नहीं। इसीसे जहाँ श्रुतिमें आया कि ज्ञान होनेपर ज्ञानीकी स्थिति कैसी? तो उत्तर सुनकर लोग डर जाते हैं। यह हं-हं-हं-मे-मे करने वालोंकी वस्तु नहीं है, यह तो पूर्ण-स्वातन्त्र्य, अखण्ड-स्वातन्त्र्यकी वस्तु है।

जक्षत्क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम्।

(छा० ८.१२.३)

श्रुतिमें आया—एक ही आत्मा राजाके शरीरमें बैठकर भोग कर रहा है, कृष्णके शरीरमें बैठकर क्रीड़ा कर रहा है—

इन्द्रराजादिदेहेषु नाना खाद्यानि भक्षयत्।

विद्यारण्य स्वामीने श्रुतिकी व्याख्या की कि इन्द्रके शरीरमें बैठकर वह स्वर्गका भोग कर रहा है, सम्राट्के शरीरमें बैठकर वही सृष्टिका उपभोग कर रहा है। जक्षत्=भोग कर रहा है; क्रीडन् खेल रहा है; **रममाणः**—विहार कर रहा है; **स्त्रीभिर्वा यानैर्वा**—स्त्रियोंके बीचमें है यान पर है या पैदल है; **नोपजनं स्मरन्निदम् शरीरम्**—परन्तु मैं शरीर मात्र हूँ, हड्डी-मांस-चामवाला शरीरमात्र हूँ, यह भ्रम उसको कभी होता ही नहीं, वह तो अद्वितीय ब्रह्म है, उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

आत्माका स्वरूप : अविनाशित्व

अध्याय—१ वल्ली—२ मन्त्र—१८

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न वभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ १.२.१८

अर्थ :—यह विपश्चित् (मेधावी) आत्मा न उत्पन्न होता है, न मरता है, न किसी अन्य कारणसे उत्पन्न हुआ है और न स्वयं कुछ बना है। यह अजन्मा है, नित्य है, शाश्वत है, पुरातन है और शरीरके मारे जानेपर नहीं मरता।

(१८वें से २२वें मन्त्र तक आत्माके स्वरूपका निरूपण है। इनमें-से कई श्लोक शब्दशः नहीं परन्तु थोड़े परिवर्तनके साथ गीतामें भी हैं। (१८वें मन्त्रके तो तीन चरण ज्यों-के-त्यों गीतावाले श्लोकमें हैं)। अब जिसने पहले गीता पढ़ी होगी और बादमें यह सुनेगा तो उसको लगेगा कि गीतामें से उठाकर इसको यहाँ रखा गया है, पर ऐसी बात नहीं है, यहाँसे उठाकर गीतामें यह रखा गया है—यह पुस्तक गीतासे बहुत पहलेकी है—यह तो अपौरुषेय ज्ञान है—पुरुष-प्रयत्न-सिद्ध नहीं है।

आपने सुना होगा, बात अटपटी लगे—ईश्वर ज्ञानका निर्माण करता है कि नहीं? ईश्वरने सृष्टि बनायी है यह तो आप सुनते ही हैं—धरती किसने बनायी—ईश्वरने, सूर्य किसने बनाया—ईश्वरने, चन्द्रमा किसने बनाया कि ईश्वरने, समुद्र किसने बनाया कि ईश्वरने। पर जरा यह तो बताओ कि ईश्वरने ज्ञान बनाया कि नहीं?

एक आदमी हाथ जोड़कर कहेगा कि बाबा, जब ईश्वर सब बनाता है तब ज्ञान भी ईश्वरने ही बनाया होगा। परन्तु, यदि ज्ञान ईश्वर बनावे तो ज्ञान बनानेके पहले तो ईश्वर अज्ञानी रहा होगा? अगर ईश्वरने ज्ञान बनाया तो जिस दिन दस बज

कर पाँच मिनटपर ज्ञानका निर्माण ईश्वरने किया उसके पहले माने दस बजकर चार मिनटपर ईश्वर ज्ञानी था कि अज्ञानी था? और ज्ञान बनानेके लिए ईश्वरको ज्ञानकी जरूरत थी कि नहीं कि ऐसा-ऐसा ज्ञान बनावें? कहनेका मतलब यह हुआ कि ज्ञानका निर्माता ईश्वर नहीं है, बल्कि ज्ञानसे ईश्वरकी सिद्धि होती है, ज्ञानसे निर्माणकी सिद्धि होती है। क्योंजी, ज्ञान उत्पन्न हुआ यह तुमको कैसे मालूम पड़ा? ज्ञानसे मालूम पड़ा कि अज्ञानसे? अरे भाई, कोई मोटर जा रही है यह आँखसे मालूम पड़ता है कि बिना आँखसे? मोटरका जाना आँखसे मालूम पड़ता है न? तो किसी भी वस्तुका निर्माण होगा या उत्पत्ति होगी तो वह ज्ञानसे ही तो मालूम होगा न? तो ज्ञान तो पहलेसे ही रहेगा इसलिए ज्ञानका निर्माता ईश्वर नहीं है, ज्ञानसे सिद्ध ईश्वर है, इसलिए ईश्वर अपर हो जाता है और ज्ञान 'पर' हो जाता है। दिव्य लीला है उसकी।

बुद्धिसे जो ज्ञान होता है उसमें भ्रम होता है भला! बुद्धिको थोड़ा भटकना पड़ता है—यहाँसे आँख गयी किताबपर, अक्षरको देखा और वहाँसे उसकी छाया लेकर आयी, तब हमने कहा कि यहाँ 'न जायते' लिखा है—बुद्धिका जब भ्रमण हुआ तब यह 'न जायते' मालूम पड़ा, लेकिन ईश्वरको अपनी बुद्धि भ्रमायके माने कहीं भेजकरके फिर मालूम नहीं करना पड़ता कि यह है कि नहीं है—ज्ञानमें भ्रम नहीं है, प्रमाद नहीं है, विप्रलिप्सा माने ठगनेकी इच्छा नहीं है, करणापाटव ठीक-ठीक नहीं दिखा—अन्धापन—नहीं है। ऐसे ज्ञानको बोलते हैं अपौरुषेय ज्ञान—अर्थात् पुरुषके प्रयत्नसे सिद्ध नहीं है, ज्ञान स्वत: है।

अच्छा, अब ऐसे ही हँसी-खेलकी एक बात कह देते हैं। ये हमारे बाबू लोग हैं न—बाबू लोग माने? सूर्यास्तकी दिशासे जिसको प्रकाश मिले सो बाबू और सूर्योदयकी दिशासे जिसको प्रकाश मिले सो पण्डित। तो बाबू लोग कहते हैं कि कुरान भी तो धर्म-ग्रन्थ है, बाईबिल भी तो धर्म-ग्रन्थ है, वैसे ही वेद भी धर्म-ग्रन्थ है। तीनोंमें क्या फर्क है? तो देखो, हम स्वयं तो वैसे विश्व-सृष्टिमें कोई फर्क माननेवाले नहीं हैं, एक अद्वितीय ब्रह्म जानते-मानते हैं भला, लेकिन विवेकके लिए आपको यह फर्क बताते हैं। आप बताओ कि ज्ञान उत्पन्न नहीं होता और ज्ञानका नाश नहीं होता और ज्ञानके बिना किसी वस्तुकी सिद्धि नहीं होती और ज्ञानके अतिरिक्त वस्तु-सत्ता है नहीं—यह सिद्धान्त कुरानने बताया है क्या? या यह सिद्धान्त बाईबिलने बताया है क्या? माने ज्ञानकी अपौरुषेयता, ज्ञान जो है सो पुरुष-प्रयत्नसे जन्य नहीं प्रकाश है, पुरुषको सिद्ध करनेवाला, पुरुषका प्रकाशक

है, ज्ञान स्वयं प्रकाश है—कालमें जो आदि और अन्त है न, वह किससे सिद्ध होता है कि ज्ञानसे और यह पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण बाहर-भीतर जो दिशा-भेद है वह किससे सिद्ध होता है कि ज्ञानसे, यह मैं-तू किससे सिद्ध होता है कि ज्ञानसे—यह ज्ञानकी ब्रह्मरूपता, ज्ञानकी अखण्डता, ज्ञानकी अद्वितीयता कि जो वस्तु भासती है वह ज्ञानसे पृथक् नहीं है, यह (ज्ञानकी अद्वयता) क्या वेदके अतिरिक्त और किसीने स्वीकार की है? तो, ज्ञानकी अद्वितीयता, ज्ञानकी स्वयंप्रकाशता, ज्ञानकी अखण्डता, ज्ञानसे ही देश-काल-वस्तुकी सिद्धि और ज्ञानसे अतिरिक्त, देश-काल-वस्तुका अभाव जो मानता है, उसका नाम वेद है और ज्ञानका जैसा स्वरूप वेदने बताया वेदका भी वैसा ही स्वरूप है—अभिधेयका स्वरूप वेदने बताया, अभिधानका वैसा ही स्वरूप वेद बताता है। इसका अर्थ है कि वेद भी अनादि है, वेद भी अनन्त है, वेद भी अद्वितीय है, वेद भी ज्ञान-स्वरूप है क्योंकि वेद ऐसी ही वस्तुका निरूपण करता है। प्रतिपाद्यकी विशेषतासे वेदमें विशेषता है।

यह इसलिए आपको सुनाया कि हम यह जानते हैं कि जिनके चित्तपर वर्तमान इतिहासका यह प्रभाव है कि पहले जड़ था फिर धीरे-धीरे चेतनताका विकास हुआ है, उनकी बुद्धिमें यह बात नहीं आवेगी, यह हमको मालूम है। पहले ज्ञान था और उससे प्रपञ्चका विकास हुआ, यह एक मत है और यह जड़ता थी उससे प्रपञ्चका विकास हुआ है, यह दूसरा मत है। तो आजकल सर्वसम्मत रूपसे बाबू लोग यह बात पढ़ते-पढ़ाते हैं कि सृष्टिके मूलमें जड़ता थी और वहाँसे यह सृष्टि प्रकट हुई है। ऐसे लोगोंके लिए यह बात बड़ी टेरी खीर है, यह मैं समझता हूँ, पर कहता क्यों हूँ? इसलिए कहता हूँ कि जैसे आप ताजमहल देखने जाते हैं, तो वहाँका जो दिखानेवाला है 'वह वहाँकी विशेषता आपको बताता है और इमामबाड़ा देखने जाते हैं तो इमामबाड़ाकी विशेषता बताता है, वैसे ही सनातन धर्ममें वेदको अपौरुषेय क्यों माना गया है, यह बात सनातन धर्मके व्याख्याताको बताना ही चाहिए। सनातन धर्ममें आत्मवस्तुकी प्रधानता है कि हड्डीकी प्रधानता है—यह मनुष्य प्रधान है कि पैसा प्रधान है, यह बात बतानी आवश्यक है।

सीधी बात है—देखो, जो लोग सृष्टिके मूलमें जड़ मानते हैं वे पैसेके लिए मनुष्यका संहार करते हैं और उसमेंसे मार्क्सवाद निकलता है, उसमें-से डार्विनियन थ्योरी निकलती है उसमें-से हैकलेवाद निकलता है—जड़ाद्वैतवाद निकलता है और जहाँ मूलमें चेतनकी प्रधानता होती है वहाँ अधिकारीकी

प्रधानतासे वस्तुमें प्राधान्य होता है वस्तुकी प्रधानतासे अधिकारी में प्राधान्य नहीं होता। देखो, सारा नियम ही बदल गया न—चैतन्य-प्रधान कि जड़-प्रधान? तो वेदमें अधिकारीकी प्रधानता है। इसका अर्थ हुआ कि पहले सिपाही बन जाओ उसके बाद चौराहेपर खड़े होकर मोटरका नियन्त्रण करो, सिपाही बने बगैर यदि मोटरोंको रोकना शुरू कर दोगे तो तुमको सिपाही पकड़कर ले जायेंगे—क्रिया और वस्तुकी प्रधानता वेदमें नहीं है, प्रधानता अधिकारी पुरुषकी है।

देखो, सनातन धर्मका सार इसमें है कि मनुष्य, मनुष्य नहीं जीव, जीव नहीं ईश्वर, ईश्वर नहीं चैतन्य। धर्म-उपासना और योगके सिद्धान्तमें जीवकी प्रधानता है। धर्ममें क्रियाकी प्रधानता है। व्यवहारमें जड़ताकी प्रधानता है और धर्म-उपासना-योगमें जीवकी प्रधानता है। शरणागतिमें ईश्वरकी प्रधानता है। और नारायण! तत्त्वज्ञानमें? *'हम न तुम, दफ्तर गुम'*—मैं-में भी वहीं, तुममें भी वही, यहाँ भी वही वहाँ भी वही, अब भी वही तब भी वही, उसके सिवाय कोई वस्तु नहीं।

तो आपको वेदका रहस्य बताते हैं, क्योंकि वेदके सिवाय ऐसा कोई ग्रन्थ, ऐसा कोई मत, ऐसा कोई आचार्य, ऐसा कोई सम्प्रदाय नहीं है जो ज्ञानको अनुत्पन्न, स्वयं प्रकाश, अनन्त, सर्वाभासक और अद्वितीय बताता हो कि ज्ञानसे जो वस्तु मालूम पड़ती है वह ज्ञानसे भिन्न है ही नहीं, ज्ञानका ही विवर्त है। ऐसे सिद्धान्तका प्रतिपादन केवल वेद करते हैं या तो वेदके आधारपर बने हुए शास्त्र करते हैं!

अच्छा, एक बात प्रसङ्गवश और कह देते हैं—इसलिए बता देते हैं कि सनातन धर्मकी जो बात है, उसका अब लोप हो रहा है, उसको समझानेकी अब कोई कोशिश नहीं करता है। सनातन धर्ममें आचार्यकी प्रधानता नहीं है, संविधानकी प्रधानता है। आपका राष्ट्रपति, आपका प्रधानमंत्री, आपका मिनिस्टर यदि संविधानके अनुसार चले तो ठीक है, नहीं तो गलत है। यह हिटलरवाद नहीं है—एक व्यक्तिकी प्रधानता इसमें नहीं है। व्यक्तिकी प्रधानतासे जो सिद्धान्त चलते हैं उनको ज्ञानका कर्ता उस व्यक्तिको मानना पड़ेगा। आविष्कर्ता विज्ञानका अविष्कर्ता होता है, स्वयंप्रकाश ज्ञानका आविष्कर्ता कोई नहीं होता। हमारे अमुक आचार्यने चलाया कि यह कबीर-पन्थ है, यह राधा-स्वामी पंथ है, यह अमुकने निकाला, यह अमुकने निकाला, ये रैदासी हैं, ये चरणदासी हैं—ऐसे नहीं चलता सनातन धर्ममें, आखिर आचार्यकी कसौटी क्या है? आचार्य ठीक है कि नहीं, इसमें क्या प्रमाण है? इसमें यह प्रमाण है कि वह ज्ञानकी स्वयंप्रकाशक,

अद्वितीयता, अनन्तता, अनादिता जो वेदोक्त है, उस व्यक्तिको स्वीकार करता है कि नहीं करता है? सनातन धर्ममें ऐसे नहीं बोला जाता कि गाँधीजीने यह कहा है तो तुमको मानना पड़ेगा, नेहरूजीने यह कहा है तो तुमको मानना पड़ेगा, शास्त्रीजीने यह कहा है तो तुमको मानना पड़ेगा, अगर उन लोगोंने भी संविधानके विरुद्ध कहा तो वह मान्य नहीं है—नारायण! बुद्धको सनातन धर्ममें ईश्वरका अवतार मानते हैं, परन्तु उनकी बात नहीं मानते। क्यों नहीं मानते? कि—

वेद निन्द निन्दित भयो विदित बुद्ध अवतार।

इसलिए देखो, फिरका परस्तोंके चक्करमें नहीं आना, पन्थाइयोंके चक्करमें नहीं आना। यह एक व्यक्तिका कोई मनोभाव नहीं है कि कोई दस वर्ष गंगा किनारे बैठ लिया कि जंगलमें बैठ लिया और वह बोले कि हमने यह नया शगूफा छोड़ा है। वह चीज नहीं है यह, यह तो तत्त्वका, वस्तुका निरूपण है।

न जायते म्रियते वा विपश्चित्

जो इस तत्त्वको जान लेता है वह विपश्चित् है—*विप्रकृष्टं चितवन्ति इति विवश्चितः*—जो सम्पूर्ण नाम और रूपके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित अद्वितीय चैतन्य है उस चैतन्यको जानकर नाम, रूप और उनके अभावको जो उस चैतन्यसे अभिन्न जान गया, उसका नाम है विपश्चित्। वह तो स्वयं ब्रह्म है, इसलिए न जायते, न म्रियते, जैसे ब्रह्मकी उत्पत्ति नहीं और ब्रह्मकी मृत्यु नहीं। वैसे उसकी भी उत्पत्ति और मृत्यु नहीं। अब यह मूल उपनिषद् प्रारम्भ हुआ।

नचिकेताने पूछा था कि वह कौन-सी चीज है जिसपर धर्म और अधर्मका असर नहीं पड़ता—धर्मसे जो बढ़ता नहीं, और अधर्मसे जो ह्रास होता नहीं जिसमें धर्मसे उल्लास नहीं होता और अधर्मसे ह्रास नहीं होता—(घाटेके लिए अंग्रेजीका शब्द लॉस जो बोलते हैं न, वह ह्रासका ही लॉस बन गया है) उसी अशेष-विशेष-रहित वस्तुका आलम्बन और प्रतीक दोनों रूपमें ओंकारने निर्देश किया। अपर-ब्रह्म और पर-ब्रह्म दोनोंके प्रतीकके रूपमें ओंकारका निर्देश किया जिससे मन्द-मध्यम प्रकारके जो जिज्ञासु हैं उनके लिए अपर-ब्रह्म मालूम पड़ जाये।

अब ॐकारालम्बन जो आत्मा है उसके साक्षात् स्वरूपका निर्धारण करनेके लिए यह बात कही जाती है कि **न जायते म्रियते वा कदाचित्**। देखो, जो चीज पैदा होती है उसके साथ विकार लगा रहता है। बाल पैदा होते हैं, इनकी सेवा न करो तो कैसे-कैसे हो जाते हैं, पसीना होता है शरीरमें, छिद्र होते हैं, खाज होती है—जो चीज पैदा होती है उस अनित्य वस्तुके साथ अनेक प्रकारके विकार लगे

रहते हैं। जो जुड़ेगा सो बिछुड़ेगा, जो पैदा होगा, सो मरेगा, जो जलेगा सो बुझेगा—संसारमें सभी उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं के साथ विकार लगा हुआ है। उनमें सबसे मुख्य विकार एक शुरूका-जन्म लेना है और एक अन्तका है—मर जाना। चार विकार इनके बीचमें हैं। '*जायते*' पैदा हुआ, फिर 'है' ऐसा मालूम पड़ा और ***वर्द्धते***—बढ़ा और ***विपरिणमते***—बदला, ***अपक्षीयते***—क्षीण हुआ और ***विनश्यति***—नष्ट हो गया—सभी चीजोंके साथ यह बात होती है।

परन्तु आत्मदेव जो हैं उनका जन्म नहीं और मृत्यु नहीं। हे भगवान्! अच्छा, यह किसका वर्णन है? बोले कि आत्माका वर्णन है? यह किसका वर्णन है? बोले कि ब्रह्मका वर्णन है। तो बोले कि न-न, यह तुम्हारा वर्णन है, आत्मा-ब्रह्मको रहने दो, जाने दो उनको अपने घर—यह सीधे-सीधे तुम्हारा वर्णन है कि तुम्हारा जन्म नहीं और तुम्हारी मौत नहीं।

अब महाराज लेकरके कुण्डली आ जाये कि अमुक संवत्में, अमुक तिथिको इतने बजे हमारा जन्म हुआ और जैसे हमारे बाप मर गये वैसे ही एक दिन हम भी मर जायेंगे। तो बोले कि अच्छा भाई, तुम यह बताओं कि अभी तक कभी तुम मरे हो कि नहीं? भले मानुष काहेको कल्पना करते हो? अभी तक तो कभी मरे नहीं, तो अभी मर जाओगे, इसकी क्या कल्पना है? अच्छा, आज तक एकाध बार अगर मरे होते तो आज होते कैसे? आज होनेका मतलब ही है कि तुम आजसे पहले आधी बार कि चौथाई बार भी मरे नहीं हो—आज होना ही इस बातका प्रमाण है कि तुम्हारी मृत्यु नहीं हुई है। अगर तुम्हारा शरीर कभी मर भी गया हो तो तुम शरीरके मरनेसे मरे नहीं।

अच्छा, बोले भाई, कि जब जन्म होता है तब कैसे मालूम पड़ता है कि जन्म हुआ? अगर ज्ञानका भी जन्म होवे, चैतन्यका भी जन्म होवे तो किसको मालूम पड़े कि मैं जन्मा? हमारी शैलीको देखो, केवल यन्त्रसे देखोगे तो जड़ताको ही पकड़ोगे। यन्त्रकी अपेक्षा हमारे जड़ और चेतनकी परिभाषा भी निराली है। आप यह नहीं समझना कि लेबोरेटरीमें जो जड़-चेतनकी परिभाषा बनायी जाती है सो यह परिभाषा है। वह नहीं, जो खुदको जाने और औरोंको भी जाने उसका नाम चेतन और अपने जाननेके लिए दूसरेकी जरूरत महसूस करे वह जड़। लाउड-स्पीकरको मैं जानता हूँ, लाउड-स्पीकर मुझको नहीं जानता है, तो जो जाने सो चेतन और जो जाना जाये सो जड़। अगर तुम यन्त्रके द्वारा जड़ और चेतनको जाननेके लिए जाओगे तो सिर्फ जड़को जानोगे और अगर केवल बुद्धिके द्वारा

जाननेके लिए जाओगे तो--सिर्फ शून्यको जानोगे। यान्त्रिक सत्य जड़ है और बौद्ध सत्य शून्य है भला; और श्रद्धा-भावना थोड़ी मिलाकर जानोगे तो तुमको ईश्वरका पता लगेगा। श्रद्धापूर्वक अनुसन्धानमें ईश्वर है। परन्तु श्रद्धासे विरहित केवल अनुभव—बुद्धिका विस्तार नहीं, यन्त्रका विस्तार नहीं, श्रद्धाका विस्तार नहीं—अनुभाव्य विषयका तिरस्कार करके, शून्यको काटकर, जड़ताको काटकर, श्रद्धासे मानी हुई ईश्वरताका निषेध करके, निषेधावधि रूपसे यदि तुम अनुभवको देखोगे तो वह अनुभव सत्य ब्रह्म है।

बौद्ध सत्य शून्य है, यान्त्रिक-सत्य जड़ है, भावुक सत्य ईश्वर है और अनुभव सत्य प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म है। तो इसमें जो उत्पन्न होता मालूम पड़ता है, जो मरता मालूम पड़ता है, वह अनुभवसे जुदा नहीं है। उत्पन्न होता मालूम पड़ता है परन्तु अनुभवसे वह जुदा नहीं है! उत्पन्न होता हुआ मालूम पड़ता है परन्तु अनुभवसे जुदा नहीं है, मरता मालूम पड़ता है परन्तु वह अनुभवसे जुदा नहीं है—अनुभव ही मरता-सा है, अनुभव ही पैदा होता-सा है, अनुभव ही अन्य-सा है। कल्पनावच्छिन्न और कल्प्यावच्छिन्न चैतन्य एक है। अनुभाव्यका तिरस्कार करके केवल शुद्ध अनुभवको रहने दो—वह तुम हो; वह ब्रह्म है, इसका जन्म और मृत्यु नहीं है; विपश्चित् वही है।

अब दूसरी बात कहते हैं कि न यह किसीसे पैदा हुआ न इससे कोई पैदा हुआ। यह विचित्र है। देखो, आपने ईश्वरके और वर्णन तो बहुत सुने होंगे कि वह सरजनहार है। हम पहले बनारसमें सड़कपरसे गोला, बुलानाला, नीचीबागमें-से निकलते थे, तो उसपर लिखा था—ईश्वर सरजनहार है। एक सम्प्रदायका 'मोटो' था—तुम सब हमारी शरणमें आओ मैं तुम्हें शान्ति दूँगा—ऐसे लिखा हुआ था। अब ईश्वर सरजनहार है—सरजनहार कैसा, जैसा कुम्हार घड़ा बना देता है वैसा? तो वह तो घड़ा बनाकर बाजारमें बेच देता है, घड़ेके साथ उसका कोई रिश्ता नहीं होता —पैसा-वैसा लेकर खत्म। ईश्वरने क्या यह दुनिया बनाकर घड़ेकी तरह आसमानमें पटक दिया है और खुद अलग रह गया है? क्या वह अपनी बनायी हुई दुनियासे कोई सम्बन्ध नहीं रखता? क्या ईश्वर केवल निमित्त कारण है अथवा उपादान कारण भी है? क्या वह सृष्टिका मसाला भी है? तो यदि वह खुद सृष्टि बन जाता है तो पहले जब खुद उसकी ईश्वरता बिगड़ती होगी तब वह संसार बनता होगा? तो ईश्वर किसीसे पैदा हुआ कि ईश्वरसे यह सृष्टि पैदा हुई? यह प्रश्न है। इसपर अब कल विचार करेंगे।

प्रश्न यह था कि ऐसी कौन-सी वस्तु है जिसपर धर्म, अधर्मका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यह देखनेमें आता है कि जितने जन्म-मरण होते हैं उनपर धर्म-अधर्मका प्रभाव पड़ता है। धर्मके अनुसार उत्तम योनि मिलती है, अधर्मके अनुसार अधर्म योनि मिलती है। जलमें द्रवता रूप धर्म है तो वायुके सम्बन्धसे उसमें तरङ्ग उठती है। यदि जलमें द्रवत्व रूप धर्म नहीं होता तो वायुके सम्बन्धसे उसमें तरङ्ग कैसे उठती? इसीसे बोलते हैं कि यह शरीर कैसे बना? यदि बीजमें अंकुरोत्पत्तिके अनुकूल धर्म नहीं होता तो बीजमें-से अंकुरकी उत्पत्ति कहाँसे होती? तो संसारमें जितनी आकृतियाँ बनती हैं वे धर्माधर्मके अनुसार ही बनती हैं। ऐसा समझो कि एक आत्मा है या कि एक ब्रह्म है या एक प्रकृति है उसमें एक औरत और एक मर्द कैसे बन गया? उसमें एक पशु-एक मनुष्य कैसे बन गया? एक चीजमें इतनी किस्में, इतने किस्मके पदार्थ, इतने प्रकारके भेद-हेतु कैसे बन गये? तो इसके लिए ऐसा कहते हैं कि जितने बीज होते हैं उन बीजोंमें उनके पूर्व-कर्म धर्माधर्मके रूपमें रहते हैं और उनसे शरीरकी प्राप्ति होती है।

कार्य-कारण-भाव भी संसारमें देखनेमें आता है—माँ-बाप न हों तो बेटेकी उत्पत्ति कहाँसे होगी? माटी न हो तो घड़ा कैसे बने? कुम्हार न हो तो घड़ा कौन बनावे? तो संसारमें कार्य-कारण-भाव भी देखनेमें आता है और यह भी देखनेमें आता है कि बचपन होता है जवानी बादमें होती है—कुछ पहले कुछ पीछे भी होता है। तो वह वस्तु कौन-सी है जिसपर कालका असर नहीं, जिसपर कार्य-कारण असर नहीं और जिसपर धर्माधर्मका भी असर नहीं। तो इसका सीधा-सीधा उत्तर था कि ब्रह्म ऐसा है—धर्माधर्मके अनुसार ब्रह्मका जन्म नहीं होता और ब्रह्ममें कार्य-कारण-भाव नहीं है और ब्रह्ममें भूत-भविष्य नहीं होता और उसमें बचपन-जवानी कुछ नहीं होता। तो सीधा उत्तर तो प्रश्नका यही था कि ब्रह्मका नाम ले लिया जाये कि ऐसा ब्रह्म है। लेकिन ऐसे ब्रह्मका नाम लेलिया जाये तो वह हमारे किस कामका? बोले—ब्रह्ममें धर्म-अधर्म नहीं है, ब्रह्ममें कार्य-कारण नहीं है, ब्रह्ममें भूत-भविष्य नहीं है; यह तो कथा सुन ली ब्रह्मकी! यह तो ऐसा ही हुआ कि पड़ोसीके घरमें आज यह खानेको बना है, यह बना है, यह बना है—बनाने लायक यदि हो तो कल तुम भी अपने घरमें बनाओ और बनाने लायक न हो तो तुम्हारा क्या प्रयोजन? तो ब्रह्म ऐसा है, ब्रह्म ऐसा है यह बात यदि कही गयी तो या तो तुम भी ब्रह्म बननेकी कोशिश करो और कोशिश करनेसे यदि तुम ब्रह्म नहीं

बन सकते, तो बेकार गया बताना। तो प्रश्न पूछा गया था वैसा और जबाब दिया जा रहा है कि यह जो तुम्हारी आत्मा है इसका धर्माधर्मके साथ सम्बन्ध नहीं है। इसका मतलब यह हुआ कि असलमें आत्मा ही ब्रह्म है। तो यह तो बड़ा प्रयोजनीय हो गया।

एक होती है क्रिया और एक होती है विक्रिया। एक काम तो हम करते हैं, वह क्रिया कहलाती है। देखो, घड़ेको थापीसे पीट-पीटकर बनाना पड़ता है; जेवरको गलाकर या हथौड़ेसे पीटकर बनाना पड़ता है; ये सब क्रिया हैं। लेकिन शरीरमें जो बचपन, जवानी, बुढ़ापा आता है वह कहीं लाना-बनाना थोड़े ही पड़ता है, वह तो अपने आप आ जाता है। जो परिवर्तन अपने-आप होता है उसको विकार या विक्रिया बोलते हैं। संस्कृत भाषामें किसी भी विकारको विकार ही बोलते हैं। मनुष्य व्यवहारमें कैसे बोलते हैं—कि बच्चेका विकास हो रहा है—माने बचपनसे यह जवानीकी ओर जा रहा है और जब वह जवानी पार करके बुढ़ापेकी ओर चलता है तब कहते हैं कि अब शरीरमें विकार हो रहा है—काले बाल उगते हैं तो विकास है और सफेद उगते हैं तो विकार है। परन्तु दार्शनिक लोग बचपनसे जवानी आनेको भी विकार ही बोलते हैं, क्योंकि वह बुढ़ापेकी भूमिका ही तो है—बकरेको चन्दन लगाया जाये, माला पहनायी जाये, खूब खिलाया-पिलाया जाये, आदर-सत्कार किया जाये, तो वह मौतकी ओर एक कदम और बढ़ गया, उसकी कोई इससे उन्नति नहीं हुई, कोई राजगद्दी नहीं मिली उसको—अगर यह बात नक्की कर दी जाय कि आज तो तुमको राजगद्दीपर बैठायेंगे और उसी दिन तुमको मार देंगे—तो वह मौतकी ओर एक कदम और हुआ, ऐसे ही संसारमें जिसको विकास बोलते हैं वह असलमें विकारकी ओर ही एक कदम है। तो बढ़ना भी विकार है। जो चीज मरनेवाली होती है वह पहले फूल जाती है—यह शोथ रोग है। तो नारायण, हम जान-बूझकर बनावें तो क्रिया करके बनावें और अपने आप बने तो विक्रिया हो जावे और यदि पहली अवस्था और दूसरी अवस्था आगे-पीछे होवे तो कालका सम्बन्ध हुआ।

अब कहते हैं कि यह जो आत्मदेव हैं वह कैसे हैं कि अनिर्वचनीय हैं। उनको वैसा जानते हो तो वर्णन करो—

यत्तत् अनिर्वचनीयम्। पश्यसि तद्वद—

एक बात इस प्रसङ्गमें सुनाते हैं कि जो लोग संस्कृत भाषाके माध्यमसे वेदान्त पढ़ते हैं, उनकी समझमें यह बात जल्दी आती है और जो लोग दूसरी

भाषाके माध्यमसे पढ़ते हैं उनका ध्यान खींचना पड़ता है। जैसे आप देखो— अनिर्वचनीय शब्द है और अज्ञेय-अचिन्त्य शब्द है। तो इन शब्दोंके अर्थमें आपको फर्क मालूम पड़ता है कि नहीं? एक पाश्चात्य वैज्ञानिक है, वह आत्माके लिए कहता है कि आत्मा अज्ञेय है—अज्ञेय है माने आँखसे देख नहीं सकते, मनसे उसके बारमें सोच नहीं सकते माने बुद्धिकी वहाँ तक गति नहीं है। आईन्सटीनके मतमें ईश्वर अज्ञेय है और काण्टके मतमें आत्मा अज्ञेय है, रहस्य है। उनमें वेदान्तके अनिर्वचनीयमें कोई बराबरी, कोई तुलना है कि नहीं है? सबसे परे, सबसे परे, सबसे परे है, तो हाथ जोड़ लिया है, लेकिन हम समझ नहीं सकते हैं। अनिर्वचनीय माने यह बिलकुल नहीं होता। जो अनिर्वचनीय माने ऐसा समझते हैं कि कुछ परे तो वे अनिर्वचनीय शब्दका प्रयोग वेदान्तमें कैसे किया जाता है यह नहीं जानते! ये जो वाङ्मनस् हैं न—बोलती हुई मौन वाणी और सोचता हुआ तथा शान्त मन—अन्त:करण—इन दोनोंका प्रकाशक रहते हुए और साक्षात् अपरोक्ष रहते हुए दोनोंका जो विषय नहीं होना वह अनिर्वचनीय तत्त्व है वह कोई दूसरा नहीं तुम खुद हो।

वाडमनसा गोचरत्वे=सति वाङ्मनसयोः साक्षात् प्रकाशकत्वम् अनिर्वचनीयत्वम्।

वाणी और मनका विषय न होकर वाणी और मनको देखने वाला। देखो, जो लालटेनसे दिखायी न पड़े, लेकिन जो लालटेनको देखे उसका नाम आँख होता है, तो यह जो मन है, बुद्धि है, आँख है—ये सब लालटेन हैं बाहरकी चीजोंको देखनेके लिए, पर ये जिससे दीखते हैं उसका नाम क्या है? अनिर्वचनीय। वाणीसे बोलनेमें जो चीजें आती हैं वे चीजें नहीं, मनसे सोचनेमें जो आती हैं वे चीजें नहीं, स्वयं मन और वाणी नहीं, मन और वाणीकी शान्ति नहीं— सबका साक्षी होकरके उनका अविषय होना अनिर्वचनीय शब्दका अर्थ होता है। हम खुद वह तत्त्व हैं जिसको मन वाणीसे नहीं जानते पर हम ही अन्य सबको मन और वाणीसे जानते हैं—अनिर्वचनीय शब्दका अर्थ ऐसा है। अनिर्वचनीय माने यह नहीं कि है कि नहीं है, न उसे है कह सकते, न नहीं कह सकते—वह तो दुनियादारीकी बात है। आत्माके हैपनेमें संशय नहीं है। अत: **तत्त्वा-सत्त्वाभ्याम् अनिर्वचनीयत्वम्**—यह लक्षण आत्माकी अनिर्वचनीयतामें नहीं घटता, हाँ प्रपंच और मायामें घटता है। आकाशकी नीलिमा अनिर्वचनीय है, क्योंकि आँखसे दीखती है तो उसे नहीं कैसे बोलें, और आकाशमें नीलिमा नहीं है, इसलिए उसे है कैसे बोलें, तो आकाशकी नीलिमा अनिर्वचनीय है—है कि नहीं

है ऐसा ठीक-ठीक बोलनेके योग्य न होनेके कारण, और आत्मा अनिर्वचनीय है—है कि नहीं है, ऐसा बोलनेके अयोग्य होनेके कारण नहीं, मन और वाणीका द्रष्टा होकर मन और वाणीका विषय न होनेके कारण।

तो इसलिए आपको बताया कि किसी दूसरी भाषामें यदि अनिर्वचनीयताका पर्याय आपको अज्ञेय या अचिन्त्य मिलता हो, तो वह वेदान्तमें अर्थ नहीं है। अचिन्त्यवाद दर्शनशास्त्रमें एक दूसरा वाद है और अज्ञेयवाद दूसरा वाद है। सम्पूर्ण भक्तोंके लिए ईश्वर अज्ञेय है और सम्पूर्ण भक्तोंके लिए ईश्वर अचिन्त्य है क्योंकि वहाँ ईश्वर अन्य है और वेदान्तीका जो ईश्वर है वह आत्मा है वह स्व है, अपना आपा है, साक्षात् है, अपरोक्ष है, वह स्वर्गादिके समान (परोक्ष) नहीं है, वह घटादिके समान (प्रत्यक्ष) नहीं है, वह स्वयं है। तो यही एक आश्चर्यका विषय है कि यह ध्यान मनुष्यको आता ही नहीं है कि मैं ही हूँ और वेदान्त यही ध्यान दिलाता है।

न जायते म्रियते वा विपश्चित् *विपश्चित् विप्रकृष्टम् चिनोति*—विपश्चित् कौन है? कि गुह्य-से-गुह्य वस्तुको इसने जान लिया और जाना तो यह जाना कि मैं द्रष्टा हूँ, मैं दृङ्मात्र हूँ, मैं ब्रह्म हूँ। देखो, परमात्मा देशसे परे परन्तु देशको जाननेवाला है। ऐसे देखो कि देशको तो मैं जानता हूँ और पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण 'वही' जानता है इसलिए 'वह' तो 'मैं' ही हूँ।

इसी प्रकार परमात्मा कालसे परे परन्तु कालका जाननेवाला है। वह पहले था, बादमें नहीं रहेगा ऐसा नहीं, पहले होना और बादमें न होना—दोनोंका प्रकाशक वही है माने कालसे वह परे है। जवानी, बचपना और बुढ़ापा, वह नहीं है, इनको जानने वाला है, इनसे वह न्यारा है।

तब धर्म-अधर्मसे जो चीज बनती है—वह तो है शरीर— सुखी शरीर बना धर्मसे, दुःखी शरीर बना अधर्मसे—बोले भई, मैं तो बना ही नहीं—'न जायते'। तो धर्मका सम्बन्ध मुझ साक्षीसे, मुझ द्रष्टासे, मुझ आत्मासे, मुझ चैतन्यसे नहीं है, बोले—रोग हो गया अधर्मसे, तो बोले कि मुझे तो रोग हुआ ही नहीं, 'न म्रियते'—मेरी मृत्यु तो होती नहीं—साक्षीकी मौत नहीं होती। दो आदमी आपसमें लड़ रहे हों और दोनों दोनोंको लाठी मारें और दोनोंके सिर फूट जायें, गोली चला दें, तो उसमें गवाहका क्या बिगड़ेगा? गवाह तो वह रहेगा न, जो दोनोंकी गोलीसे नहीं मरा, जिसपर दोनोंके डण्डोंका असर नहीं पड़ा। इसको ही संस्कृत-भाषामें साक्षी बोलते हैं—साक्षात्-द्रष्टा।

अच्छा, साक्षी शब्दका अर्थ भी आपको बता देते हैं। जैसे आजकल कानूनमें साक्षी—गवाह किसको मानते हैं? जो आकर यह बात कहे कि हमने अपने कानसे यह बात सुनी उसको गवाह नहीं माना जाता, या कहे कि एक हमारे मित्रने देखा था और उसने आकर हमको बताया, और हम सुनकर गवाही दे रहे हैं—इसको भी अदालतमें गवाह नहीं माना जाता, वह साक्षी नहीं हो सकता, कोई उसको अदालतमें पेश भी करे तो वह गलत गवाह है। अच्छा, यदि कोई कहे कि आँखने देखा और उसने हमको बताया तो उसका नाम भी साक्षी नहीं होगा, कानने सुना और मैं बता रहा हूँ, नाकने सूँघा और में बता रहा हूँ, जीभने हमसे बताया था कि यह खट्टा-मीठा है और मैं बता रहा हूँ—पर इनकी गवाही नहीं मानी जायेगी, ये साक्षी नहीं हैं। आँख-कान-नाक-जीभने जो तुमको चुगली की है—इसने निन्दा की, इसने तारीफ की, कि वह काला, वह गोरा—ये सब चुगली कौन करता है आँख-कान ही तो करते हैं न, तो यह जो चुगली सुनकरके संसारके बारेमें निश्चय किया जाता है वह सच्चा जज नहीं है, न्यायकारी नहीं है। इनके बिना जो तुमने देखा है सो बताओ।

साक्षात् द्रष्टरि संज्ञायाम्

साक्षी एक संज्ञा है, एक नाम है, लेकिन किसके लिए है? कि जो साक्षात् देखता है—नेत्रादि इन्द्रियोंके बिना और अन्तःकरणके बिना जो अन्तःकरणसे नहीं, अन्तःकरणका द्रष्टा है, जो सुषुप्तिको देखता है। सुषुप्तिको कैसे देखता है? क्या बुद्धिसे देखता है? क्या अन्तःकरणसे देखता है? सीताराम कहो, उस समय तो अन्तःकरण रहता ही नहीं। अच्छा, उस समय सुषुप्तिमें तुम धर्मात्मा होते हो कि पापी? उस समय तुम सुखी हो कि दुःखी? उस समय तुम रागी होते हो कि द्वेषी? देखो, सुषुप्तिको तुम देखते हो, तो धर्म-अधर्म; राग-द्वेष; शत्रु-मित्र; सुखीपना-दुःखीपना सारा सुषुप्तिमें लीन हो गया और तुम जाग्रत्-स्वप्रसे विलक्षण—जिसमें जाग्रत् और स्वप्रकी कोई बात नहीं मालूम पड़ती—उस सुषुप्ति दशाको देख रहे हो। तुम वह साक्षी हो जिसमें मर गया धर्म, मर गया अधर्म, वह तो खोलकी तरह फूट गया। तो जैसे सुषुप्तिमें तुम धर्म-अधर्म, राग-द्वेष, शत्रु-मित्र, सुख-दुःखसे मुक्त होते हो—वह तुम्हारे स्वरूपका नमूना है—जाग्रत्-स्वप्नमें भी तुम वैसे ही सबसे मुक्त होते हो। यह तो तुम खुद ही सबको पकड़ते हो—

मानि मानि बन्धन में आयो

ठीक तुम्हारा वही साक्षी स्वरूप है और देखो! वहाँ सुषुप्तिमें तीनों

कालभूत-भविष्य-वर्तमान—सो जाते हैं। इसका मतलब है कि वे वृत्तिके बेटे हैं। तुम भी अपनेको वृत्तिका बेटा मानते हो कब? कि जब अपनी उम्र मानते हो सौ-पचास वर्षकी तब तुम वृत्तिके बेटे हो गये और जब अपनेको जन्मनेवाला, मरनेवाला माना तो तुम वृत्ति-रूप-गायके बेटे हो गये, बछड़े हो गये, बैल हो गये और जब तुमने वृत्तिका उदय और वृत्तिकी शान्ति दोनोंको साक्षीके रूपमें अपनेको जाना तब जन्म और मृत्यु दोनोंसे परे हो गये क्योंकि कालकी कल्पना ही वृत्तिमें होती है। जब तुम साढ़े तीन हाथके लम्बे अपनेको मानते हो तब भी तुम वृत्तिके अब यह बेटे हो गये क्योंकि एक इन्च या करोड़ों मील जो देश मालूम पड़ता है, पूरब-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण मालूम पड़ता है, वह तो वृत्तिकी उपस्थितिमें मालूम पड़ता है। जब तुम सो जाते हो तब यह लम्बाई-चौड़ाई सब सो जाती है और यह वजन सारा-का-सारा एक मन, दो मन सारा वजन सुषुप्तिमें जाता है; तुम तो उसके साक्षी हो। तो वह जो साक्षी है वह तुम्हारा स्वरूप है। तो देखो—कालमें जन्म-मरण नहीं होता; देशमें तुम साढ़े तीन हाथके नहीं होते, स्वर्ग-नरकमें नहीं जाते और तुमको मनुष्य और पशुका शरीर नहीं मिलता—

न जायते म्रियते वा विपश्चित् नायं कुतश्चिन्न वभूव कश्चित्।

यह साक्षी किसीसे पैदा नहीं हुआ और साक्षीसे कोई पैदा नहीं हुआ। **अयं कुतश्चित् न वभूव**—यह आत्मा किसीसे पैदा नहीं हुआ और *अस्मात् कश्चित् न वभूव*—इससे कोई पैदा नहीं हुआ; यह न किसीको बेटा है और न किसीका बाप है।

अब महाराज, तुम तो धर्म-अधर्मकी ही बात करोगे—बाप नहीं होगा तो तुम सेवा करके धर्म कैसे कमाओगे? आजकलके बच्चोंने तो इस बखेड़ेको काट ही दिया है कि बापकी सेवासे धर्म होता है, तो इससे हो गयी छुट्टी! अब उनसे कहो—भाई तुम्हारे बेटा नहीं होगा तो तुम्हारी सेवा कौन करेगा? तुम किसको हुकुम दोगे? किसको कहोगे कि देखो बेटा, चोटी रखना, जनेऊ पहनना, हमारे बाप-दादा जैसे करते थे वैसे श्राद्ध-कर्म करना, पूजा करना? तो बेटोंने कहा—बापजी, तुम झूठे ही परेशान हो रहे हो, छोड़ो इस चक्करको हम तुम्हारे बेटे ही नहीं। हमको भाई लोगोंने-बापोंने बताया कि महाराज, हमारा बेटा तो ऐसा मुँहफट हो गया है कि एक दिन मैंने कहा कि तुम्हारी माँने दस महीने तुम्हें पेटमें रखा है उसका कुछ ख्याल तो रखो, हम तुम्हारे बाप हैं हमारा कुछ ख्याल तो रखो—तो

लड़केने कहा कि बाबा, तुमलोग हमको पैदा करनेके लिए थोड़े ही मिले थे, तुम तो अपने मजेके लिए, अपनी मौजके लिए मिले थे, मैं तो 'एक्सीडेण्ट' से आ गया, तुम्हारे प्रति हमारा कोई कर्त्तव्य नहीं है—ऐसा बेटेने कहा।

हे नारायण! यदि तुम बाप और बेटेमें फँसे हो ओर अपनेको उनसे पैदा होनेवाला शरीर ही मानते हो तब तो तुमको जरूर दुःख होगा, लेकिन यह शरीरकी धारा अलग जड़वर्गमें चलती है और तुम तो स्वयं साक्षी चेतन हो। चेतन कहते ही उसको हैं कि जिसमें परिवर्तन न हो—बस जानना, जानना, जानना हो। बदलते हुओंको जानना—यही उसका काम है। तो कहाँ जानता है वह? अपने भीतर सबको जानता है कि अपने बाहर? कि अरे बाबा—भीतर और बाहर भी उसका जानना ही है। पहले जानता है कि पीछे? कि पहले-पीछे भी उसका जानना ही है। क्या चीज जानता है? कि चीज और चीजका न होना, दोनों उसका जानना ही है।

तो, यह जो चैतन्य है यह न किसीसे उत्पन्न है, न किसीका उत्पादक है—बिलकुल अद्वितीय है। इसमें जो स्फुरण-मात्र, जो प्रतीति-मात्र यह प्रपञ्च है—यह अपना अन्तःकरण जिसको बोलते हैं, अपना शरीर जिसको बोलते हैं और सारी दुनिया जिसको बोलते हैं, सारी दुनियाको बनानेवाला जिसको बोलते हैं—यह क्या है? कि यह अद्वय-चैतन्यमें स्फुरण है। यह अविद्या, यह माया, यह अविद्यावाला जीव, यह मायावाला ईश्वर—ये सब अद्वैत चैतन्यमें केवल प्रतीति, स्फुरण-मात्र है, आभास मात्र है आकाशमें नीलिमाके समान।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।

यह अज है। अज शब्दका अर्थ दोनों होता है—*स्वयं न जायते इति अजः* तथा *अन्यरूपेण न जायते इति अजः।* जो स्वयं पैदा न हो उसको भी अज कहते हैं और जिसका अन्य रूपसे परिणाम न होवे उसको भी अज कहते हैं। माने स्वयं किसीसे पैदा हुआ नहीं और इससे कोई पैदा होगा नहीं—उसको अज बोलते हैं।

अब देखो भाई, सर्व धर्म-समन्वय तो होता है—इसके लिए हमलोग बड़ी-बड़ी सभा करते हैं। काशीमें तो एक सर्वधर्म-समन्वय-सभाकी स्थापना हुई थी। तो कहते हैं कि सर्वधर्म-समन्वय तो हो जायेगा लेकिन धर्मका शुद्ध स्वरूप मालूम नही पड़ेगा। सर्वधर्म समन्वय माने—उसमें शुद्ध दाल, शुद्ध चावल खानेको कभी नहीं मिलेगा। चावल क्या होता है, दाल क्या होती है यह बात नहीं मालूम

पड़ेगी। अब यह बात आजकलके प्रगतिशील जमानेके विपरीत पड़ती है, इसलिए कहनेमें भी संकोच होता है।

देखो, बहुतसे धर्म ऐसे हैं जो जीवात्माकी उत्पत्ति मानते हैं, बहुतसे ऐसे हैं जो जीवात्माकी मृत्यु मानते हैं, बहुतसे ऐसे हैं जो उत्पत्ति और मृत्यु तो नहीं मानते हैं, परन्तु बढ़ना-घटना मानते हैं—कहाँसे समन्वय करोगे? बोलो। बौद्ध-धर्ममें आत्माकी उत्पत्ति नहीं मानते परन्तु उच्छेद मानते हैं; मुसलमान, ईसाई धर्ममें आत्माकी उत्पत्ति मानते हैं परन्तु उच्छेद नहीं मानते—दो सिरे हो गये न, करो अब धर्म-समन्वय। जैन-धर्ममें उत्पत्ति भी नहीं मानते और उच्छेद भी नहीं मानते, लेकिन बढ़ने-घटनेवाला मानते हैं। तो भाई, सर्वधर्म-समन्वयका अर्थ इतना ही होता है कि सत्य बोलो, दुःखीपर दया करो, रोगीकी दवा करो, मूर्खकी शिक्षाका प्रबन्ध करो—इतना ही सर्वधर्म-समन्वयका अर्थ होता है—यह नहीं है कि हिन्दू-धर्मके अनुसार चोटी रखो और मुसलमान-धर्मके अनुसार दाढ़ी रखो और दोनोंको मिलाकरके एक धर्म बन जाय—ऐसा सर्वधर्म-समन्वयका अर्थ नहीं होता। या दोनोंको साथ-ही-साथ उड़ा दो—तो और समन्वय हो गया वह तो। अपनी-अपनी परम्पराके अनुसार चलते हुए परस्पर राग-द्वेष मत करो।

एक हमारे मित्र हैं, बड़े स्पष्ट वक्ता हैं; तो एकने कहा कि सब दर्शन मिलकरके एक ही बात बोलते हैं। परमहंस रामकृष्णका वह वचन है न कि चार अन्धे इकट्ठे हो गये, अब उनमें यह प्रश्न उठा कि हाथी कैसा? तो एकने हाथीका पाँव पकड़ा तो उसने कहा—पेड़की तरह, दूसरे ने सूँड़ पकड़ी तो बोला मूसलकी तरह; एकने हाथसे छू-छूकर पीठ देखी तो बोला पहाड़की तरह, एकने कान देखा तो बोला सूपकी तरह—तो समन्वय यह हुआ कि चारों अन्धे हैं। इसलिए चारोमें से किसीको हाथीके स्वरूपका ठीक ज्ञान नहीं है, जो जितना छूता है वह उतना बताता है। कि ठीक है आपकी बुद्धिमें तो समन्वय हो गया क्योंकि आप परमहंसजीपर श्रद्धा रखते हैं। लेकिन क्या वे चारों जिनके बारेमें यह बात कही गयी है अपनेको अन्धा मानते हैं? न्यायदर्शन अपनेको अन्धा मानेगा? वैशेषिक अपनेको अन्धा मानेंगे? सांख्ययोग अपनेको अन्धा मानेंगे? मीमांसक-वेदान्ती अपनेको अन्धा मानेंगे? आपकी बुद्धिमें परमहंसजीपर श्रद्धा रखनेके कारण समन्वय हो गया परन्तु वे चारों तो लट्ठ लेकर लड़नेको तैयार हैं, उनमें कहाँसे समन्वय होगा? नैयायिकने कहा आत्मा

कर्त्ता है, सांख्यने कहा कि आत्मा अकर्त्ता है, मीमांसकने कहा कि कर्त्ता-अकर्त्ता दोनों है, वेदान्तीने कहा कि वह न कर्त्ता है न अकर्त्ता है, वह तो शुद्ध ब्रह्म है। तो धर्म-समन्वयका क्या मतलब हुआ? इसका मतलब यह हुआ कि वस्तुको ठीक-ठीक समझना पड़ता है कि कहाँतक आपकी बुद्धि प्रवेश करती है, कितनी सूक्ष्मता उसमें है। यह साक्षी जो है यह कर्त्ताका भी साक्षी है, भोक्ता का भी साक्षी है, अकर्त्ता-अभोक्ताका भी साक्षी है भला! परिच्छेद-सामान्यके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित और उसका साक्षी।

तो सभामें सबका समन्वय हो जायेगा, परन्तु अपने अपने घर जाकर सब अपनी-अपनी बातपर अड़ते हैं और बैठते हैं।

अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न जायते।

यह किसीसे पैदा नहीं हुआ। ऐसे नहीं बना कि खुदाने कुन कहा और जीवात्मा बन गया; यह बना ही नहीं। 'न जायते' ईश्वरने या जीवने संकल्प किया और सृष्टि बन गयी; कि नहीं बना कुछ नहीं, सब अपना ही आत्मा है। अपने आपको ही समझो। परमात्माका जितना वर्णन है वह दूरवाले परमात्माका वर्णन नहीं है, तुम्हारा ही वर्णन है।

तो आत्मा अजर है, नित्य है। **शाश्वतो अयं** अर्थात् वृद्धि और अपक्षयसे वर्जित शाश्वत है—एकरस है, बढ़ता-घटता नहीं। **पुराणः** माने आत्मा पुराना है। घड़ा तो नया-नया बनता है, और यह आत्मा? कि **पुरापि नवं एव इति पुरानः**—पहले भी नया था, आज भी नया है, आगे भी नया रहेगा—नित्य नूतन है, ज्यों-का-त्यों है।

बोले—भाई, यह वर्णन होगा तो ईश्वरका होगा—अजन्मा होगा ईश्वर, अमर होगा ईश्वर, बिना बापका होगा ईश्वर, बिना बेटेका होगा ईश्वर—यह ईश्वरका वर्णन होगा। बोले कि ईश्वरमें तो जन्म-मरणकी प्राप्ति ही नहीं है तो निषेध काहेको करोगे? अरे, जब उसकी मौतकी शंका हो, कोई कहे कि ईश्वर मर जायेगा तब न बोलोगे कि 'न म्रियते'—ईश्वर नहीं मरता है। **प्राप्ते सति निषेधः**—जब कोई आपत्ति-विपत्ति प्राप्त होती है तब उसको टाला जाता है, उसका निवारण किया जाता है, लेकिन ईश्वरपर मृत्यु प्राप्त ही नहीं है, परिवर्तन प्राप्त ही नहीं है—अरे, जिसको जाना नहीं, जिसको देखा नहीं, जिससे मिले नहीं, सातवें आकाशमें जो कहीं छिपा हुआ, उसके बारेमें यह कहना कि उसका जन्म नहीं होता, मृत्यु नहीं होती, बेईमानी है। यह जो आकाशादि रूप अनात्मा प्रतीत हो रहा है, यह प्रतीति-

मात्र है, पैदा हुआ नहीं है—भला, यह है—है, नहीं है, यह जानेवाला नहीं है, यह ज्यों-का-त्यों दीखता हुआ परब्रह्म परमात्मासे पृथक् नहीं है। यह मिट जायेगा तब तुम ब्रह्म बनोगे सो बात नहीं है; फिर तो शरीर रहते तुम ब्रह्म हो ही नहीं सकते क्योंकि शरीर रहेगा तो प्रतीति रहेगी। तो देखोजी, यह बिलकुल जीवात्माका वर्णन है, कि जीवात्माका यह स्वरूप है। सो कैसे? कि—

न हन्यते हन्यमाने शरीरे—किसीने एक चाँटा लगा दिया तो शरीरको चाँटा लगा, आत्माको चाँटा थोड़े ही लगा। 'न हन्यते'—यह अहं व्युत्पत्ति है *'न हन्यते इति अहम्'*—'न' की जगह 'अ' आ गया और हन्यतेकी जगह 'हम्' आ गया—*न हन्यते इति अहम्। न हिनस्ति इति अहम्; न जहाति इति अहम्, न जिहिते इति अहं*—जो कभी छोड़े नहीं, जिसको पानेके लिए प्रयत्न करना न पड़े, जो कभी किसीके नीचे आकर छोटा न बन जाय, जो कभी मरे नहीं। ये ऐसे देवता हैं महाराज! कि ईश्वर भी इनके सामने ही आता है, दर्शन देता है और फिर जाता है, और फिर आता है और फिर जाता है और फिर आता है। ऐसे देवता कि दृश्यको इन्हींके सामने रहना पड़ता है। **शरीरे हन्यमाने सति न हन्यते**—शरीरकी मृत्यु होनेपर ये मरते नहीं है। शरीरकी मृत्यु होनेपर ईश्वर को तो कोई मरनेवाला समझता नहीं है, शरीरके मरनेपर लोग अपने को मरनेवाला समझते हैं इसलिए यह भ्रान्ति मिटानेके लिए यह बात कही गयी कि—**'न हन्यते हन्यमाने'** शरीरे शरीरकी मृत्युसे आत्माकी मृत्यु नहीं होती अर्थात् यह अपने आत्माका वर्णन है।

अपना आत्मा कैसा? कि अज, अजर, शाश्वत, पुराण-शुद्ध-अमर ऐसा यह अद्वितीय आत्मा है। यह जो आकाशादिकी उत्पत्ति होती है यह प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म तत्त्वके अपरित्यागपूर्वक ही माने उसके ज्यों-का-त्यों रहते हुए ही होती है और उत्पत्ति भी क्या, सब उसमें यह ज्ञान ही, भान ही, कुछ मालूम पड़ता-सा है और कुछ मालूम करता-सा है। उसीमें जाननेवाला-सा है और जाना जानेवाला-सा है माने ज्ञानमें ही यह ज्ञाता और ज्ञेयका विवर्त है। ज्ञान-स्वरूप अखण्ड चैतन्यमें ही यह ज्ञाता और ज्ञेयका विवर्त पड़ता है।

❖

अध्याय-१ वल्ली-२ मंत्र-१९

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुꣳहतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायꣳहन्ति न हन्यते॥ १९॥

अर्थः-मारनेवाला यदि समझता है कि मैं किसीको मारता हूँ; और मरनेवाला समझता है कि मैं मारा गया हूँ; तो वे दोनों ही ठीक नहीं समझते क्योंकि यह आत्मा न मरता है और न मारा जाता है॥ १९॥

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कठोपनिषद्के ये दोनों मंत्र (१८ और १९) आये हैं:

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ २.२०
वेदाविनाशिनं नित्यं एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्॥ २.२१
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तो न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ गी. २.१९

ये असलमें सिद्धान्तके मंत्र हैं। सिद्धान्त यह है कि जो अपनेको मारनेवाला या मरनेवला समझता है—माने जो अपनेको कर्मका कर्ता या कर्मका विषय समझता है—वह अज्ञानी है। इसी कर्म-सम्बन्धके कारण वह अपनेमें कर्मके फल-स्वरूप जन्म-मरण मानता है। **वेदाविनाशिनं नित्यं**—जो ज्ञानी पुरुष जानता है कि यह आत्मा अजन्मा और अविनाशी है और यही अविनाशी आत्मा मैं हूँ वह भला बताओ किसको मारेगा और किसके द्वारा मारा जायेगा। उस ज्ञानी पुरुषका न जन्म है न मरण है।

इसका सीधा अर्थ यही है कि गलत जानकारीके कारण ही तुम अपनेको जन्मने-मरनेवाला समझते हो और सच्ची जानकारी होनेपर तुम अपनेको जन्मने-मरनेवाला नहीं समझोगे। यह तुम्हें गलत जानकारी दी गयी है कि तुम कर्मसे लिप्त होकर जन्मते-मरते रहते हो। असलमें तो तुम साक्षी हो, तुम कर्मसे असंग हो, और इसलिए तुम्हारा कर्मके कर्तापन और भोक्तापनसे कोई सम्बन्ध नहीं है और तुम्हारा जन्म-मरण नहीं है।

हन्ता चेन्मन्येत हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्।

हन्ता माने मारनेवाला कर्ता; 'हन्ता' यहाँ कर्ममात्रके कर्तापनका उपलक्षण है। यदि कोई कर्ता यह समझता है कि मैं मारनेवाला हूँ, मैं कर्म करनेवाला हूँ और मैं यह करूँगा, यह करूँगा, यह करूँगा; और 'हत' माने मरनेवाला, भोक्ता, यह सोचता है कि मैं मारा गया हूँ और मैं यह भोगूँगा, यह भोगूँगा; तो वे दोनों ही अपनेको आत्मा नहीं जानते क्योंकि यह आत्मा न मारता है, न मरता है, न कर्मका कर्ता है, न किसी कर्मके फलका भोक्ता है। जो अपनेको कर्ता मानता है और सामनेवालेको भी कर्ता समझता है वह यह अवश्य समझेगा कि मैं भोक्ता हूँ—वह सामनेवालेके कर्मका विषय अपनेको अवश्य बनायेगा; और तब सामनेवालेको अपना काम बनानेवाला दोस्त या काम बिगाड़नेवाला दुश्मन भी अवश्य समझेगा। तो, अपनेको कर्मका कर्ता समझना और दूसरेको कर्ता समझना; अथवा अपनेको कर्मका विषय समझना और दूसरेको कर्मका विषय समझना—अगर ऐसा तुम समझते हो तो तुम नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त साक्षी होने-पर भी तुम यथार्थ नहीं जानते, तुम अज्ञानी हो। अज्ञानी होनेके कारण तुम्हारा देहमें तादात्म्य होता है, उसीसे देहके जन्म-मरण अपने मालूम पड़ते हैं, देहमें प्राप्त होनेवाले सुख-दुःख अपने मालूम पड़ते हैं, देहकी अवस्थाओंको— बचपन, जवानी, बढ़ापाको, अपनी अवस्थाएँ मानते हो, देहके दोस्त-दुश्मनको अपने दोस्त-दुश्मन मानते हो। यह सब तुम्हारे आत्माके स्वरूपकी जानकारीकी गलती माने अज्ञानके कारण है।

यह उपनिषद्-विद्या ज्ञानकी प्रधानतासे होती है, कर्ताकी प्रधानतासे नहीं होती। इसमें आचार्यकी भी कसौटी है: श्रीशंकराचार्य भगवान् यह नहीं कहते कि तुम हमारा ध्यान करो; वे यह नहीं कहते कि हमने यह नया सिद्धान्त निकाला है; वे किसीके सिरपर हाथ रखकर ज्ञान नहीं कराते, वे ज्ञानको शक्तिका कार्य नहीं मानते—वह जो आपलोग चाहते हो न कि कोई आपके सिरपर हाथ रखे दे और शक्तिपात करके ध्यान लग़वादे, ऐसा नहीं है, श्रीशंकराचार्य इस सिद्धान्तके प्रतिपादक नहीं हैं; श्रीशंकराचार्यकी मूर्ति भी नहीं है—जो दीखती भी हैं वे सब सौ-पचास वर्षके भीतर ही बनी हैं और वे भी मतान्तरसे प्रभावित होकर बनी हैं कि चूँकि आचार्यवादी लोग अपने-अपने आचार्यकी मूर्ति रखते हैं इसलिए हम भी अपने आचार्यकी मूर्ति क्यों न रखें! सिरपर हाथ रखकर यह औपनिषद ज्ञान नहीं होता है अपितु प्रमाण-प्रमेयकी परीक्षा करके होता है। सिरपर हाथ रखकर जो ज्ञान होता है वह औपनिषद ज्ञान नहीं है, तांत्रिक ज्ञान है, शक्तिके द्वारा प्रेरित

ज्ञान है, कर्तृतंत्र-ज्ञान है वस्तु-तंत्र ज्ञान नहीं है। यह ध्यान नहीं है, उपासना नहीं है; यह मान्यता नहीं है, किसीके द्वारा दिया हुआ दान नहीं हैं। यह तो एक यथार्थ है, एक सत्य है। इसको जबतक तुम नहीं समझ पाते तबतक तुम्हारी समझकी कमी है। हाँ, जो लोग शक्तिपात आदिमें विश्वास करते हैं उनका दिल रखनेके लिए वेदान्ती महात्मा लोग भी कभी-कभी इनकी चर्चा करते हैं; क्योंकि विश्वासियोंका दिल बड़ा नाजुक होता है!

तो यह आत्मदेव न कुछ करते हैं—इसलिए न कुछ निर्माण करते हैं; और न किसी क्रिया-कर्मके विषय बनते हैं। अतः इनका निर्माण किसीके द्वारा नहीं होता—**नायं हन्ति न करोति तथा न हन्यते न क्रियते।**

कठोपनिषद्के पहले अध्यायकी दूसरी वल्लीके अठारहवें मन्त्रमें यह बात कही गयी है कि जीवनमें जो स्वाभाविक परिवर्तन होता है—प्राकृत, विकृति, बचपन, जवानी, बुढ़ापा, जन्म-मृत्यु-व्यष्टिमें भी और समष्टिमें भी उसके साथ आत्माका कोई सम्बन्ध नहीं है। और व्यष्टि-समष्टिके भेदकी कल्पना व्यक्तिमें तादात्म्य होनेसे ही है; अगर व्यष्टिमें तादात्म्य न हो, देहाभिमान न हो, तो व्यक्ति और समष्टिका भेद भी नहीं होता। तो यह जो स्वाभाविक परिवर्तन, विकार हो रहे हैं इनके साथ आत्माका सम्बन्ध नहीं है—आत्मा अज है, नित्य है, शाश्वत है, पुराण है; स्थूल-शरीर, सूक्ष्म-शरीरके हननसे इसका हनन नहीं होता है, यह देह-त्रयसे सर्वथा विलक्षण है, व्यक्ति-समष्टिसे विलक्षण है, कृत और अकृत दोनोंसे विलक्षण है।

उन्नीसवें मन्त्रमें यह बात बतायी गयी कि प्रयत्नसे जो क्रिया की जाती है उससे भी सम्बद्ध आत्मा नहीं है। पहलेमें विकारका निषेध है और दूसरेमें कर्मका निषेध है। आत्मा न तो खुद घिसते-घिसते, बदलते-बदलते जन्मता-मरता है और न तो स्वयं प्रयत्न करके ही जन्मता-मरता है।

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुम्—यह कहते हैं कि यदि यह आत्मा स्वयं अभिमान करे कि मैं मारनेवाला हूँ और मैं किसीको मार डालूँगा, तो वह झूठा है। यह तो अगर संसारमें किसी भी क्रियाको अपनी की हुई मानेगा और क्रियाके द्वारा परिवर्तनका संकल्प करेगा तो जबतक अपनेमें उस एक क्रियाका कर्त्तापन है तबतक सब क्रियाका कर्त्तापन उसमें रहेगा, इसलिए इसका हत्यारापन छूटेगा नहीं। मैं मारनेवाला हूँ और दूसरा कोई मुझे मार सकता है अर्थात् मैं कर्मका कर्त्ता हूँ, दूसरेको मार सकता हूँ और मैं कर्मका विषय हूँ, दूसरा मुझे मार सकता है;

जबतक अपनेको मरनेवाला और मारनेवाला शरीर यह अपनेको जानता है, तबतक दोनों तरहकी मान्यतावाला यह पुरुष अज्ञानी है। *उभौ तौ न विजानीतः*— ये दोनों अज्ञानी हैं। तो, आत्मा न किसी क्रियाका कर्त्ता है और न तो किसीकी क्रियाका विषय है, और न तो इसपर किसीकी क्रियाका असर पड़ता है; इसलिए धर्माधर्मका इसपर कोई असर नहीं पड़ता है। यह बात स्वतः सिद्ध है। इसीसे बताया कि इसमें कोई रुकावट है तो सिर्फ न जानना। तुम अपनेको पाप और पुण्यसे निर्लिप्त क्यों नहीं जानते? तो बोले कि आत्माको नहीं जानते इसलिए कि तुम अपनेको नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त क्यों नहीं जानते? तो बोले कि अपने आत्माको नहीं जानते, इसलिए, अज्ञान ही अपनेको कर्त्ता-भोक्ता-परिच्छिन्न, संसारी माननेका कारण है और अज्ञान ही अपनेको जीव माननेका कारण है और अज्ञान ही अपनेको ब्रह्मानुभूतिसे वंचित करनेवाला कारण है, इसलिए तत्त्वज्ञानके द्वारा इस अज्ञानको ही निवृत्त करना चाहिए।

अच्छा-अब एक-आध बात जरा इधर-उधरकी भी जोड़ें—देखो, केवल तीन ही स्थिति हैं (१) या तो तुम साँपको सच मानो और रज्जुका अस्तित्व ही मत मानो तो ठीक है, तुम अपनी भ्रान्तिमें बिलकुल परिपूर्ण हो। सच्चा जड़दर्शी, भूत-भौतिक-दर्शी वह है जिसकी दृष्टिमें चैतन्य नामकी कोई मूल धातु नहीं है, सर्प-ही-सर्प है रज्जु कुछ नहीं।

सर्पणात् सर्पः—पैसेको भी सर्प बोलते हैं—जो एक दुकानसे दूसरी दुकानपर जाये। यह पैसा, यह सोना, यह चाँदी यह नोटका बण्डल, यह खाना, यह पीना—यह सब सर्प है, सरक रहा है; यह सब संसार-रूप है—**संसरणात्।**

तो वह भौतिकवादी अपनी दृष्टिमें पूर्ण है, ठीक है; उसने अपनी खोज पूरी कर ली—वह सिर्फ साँप-साँपको जानता है, साँप-साँपको मानता है, साँप-साँपमें लगा हुआ है—चाहे मार्क्सके अनुसार चलो चाहे डार्विनके अनुसार चलो, चाहे चार्वाकके अनुसार चलो उसमें अपनेको कोई आपत्ति नहीं है।

(२) दूसरी सच्ची वह दृष्टि है कि रज्जु-ही-रज्जु है, सर्प बिलकुल है ही नहीं; चैतन्य-ही-चैतन्य है। एक ही चीज है—बेवकूफने उसका नाम सर्प रख रखा है और तत्त्वज्ञानी उसको रज्जुके रूपमें जानता है। तो एक ब्रह्मचैतन्य, आत्म-चैतन्य, अखण्ड परिपूर्ण है और साँप-वाँप न कभी पैदा हुआ, न है और न होगा—एक तत्त्वदर्शी, परमार्थदर्शी, चैतन्यदर्शीका यह दृष्टिकोण है।

तीसरी दृष्टि इनके बीचकी है। ये बीचमें जितने हैं ये सब गड़बड़ाध्यायी हैं।

गड़बड़ाध्यायी क्या हैं? तो देखो, अब दो टूक बात करते हैं—यह फकीरी बात है फकीरी। क्या? कि एक आदमीको साँप-ही-साँप दीख रहा था और दूसरा कोई जानकार आदमी था, तो उसने कहा—अरे भाई, यह तो रस्सी है साँप नहीं है। तो उसने सोचा कि हमको तो दीखता साँप है और ये भलेमानुष कह रहे हैं कि रस्सी है तो रस्सीमें साँप लिपटा हुआ होगा। है न? भला बिना रस्सीके यह साँप कैसे लटकता, कोई रस्सीका सहारा होगा तो कोई चैतन्य आधारके रूपमें होगा अधिष्ठानके रूपमें होगा, सहारेके रूपमें होगा और उसमें यह लम्बायमान बंगाली लोग उण्डायमान बोलते हैं—सर्प लिपटा होगा। दाल-भातमें मूसलचन्द। तो यह सर्प जो है सो रस्सीसे मिलजुल कर लिपटा हुआ है—सर्पमें रस्सी व्यापक होगी, सर्पका आधार होगी रस्सी।

अब वे बिचारे पहचानते तो हैं नहीं, कुछ-का-कुछ सोचते रहते हैं। असलमें साँपमें रस्सी है कि रस्सीमें साँप हैं ऐसा कुछ नहीं है, बिलकुल एक चीज है—मूर्खके लिए साँप है और ज्ञानीके लिए रस्सी है, तत्त्वज्ञके लिए ब्रह्म है और अज्ञानीके लिए संसार है और बीचमें? बीचमें थोड़ी ज्ञानीकी मानी। अपनी मानी क्या कि अपनी इन्द्रियोंकी मानी और ज्ञानीसे सुन रखा है कि एक चैतन्य है तो थोड़ी उसकी मानी; और दोनोंकी खिचड़ी पकाकरके बोल दिया। स्पष्टम्-स्पष्टम् बात यह है कि जबतक मूर्खता है तबतक जड़ताका अस्तित्व है, बेवकूफीमें जड़ताका अस्तित्व है, नहीं तो एक चिन्मात्र वस्तु है। यह तत्त्वज्ञानका स्वरूप है। इसमें कोई मिश्रण जड़-चेतनका नहीं है। यह डॉक्टर लोग कई दवा मिलाकर देते हैं न—क्या बोलते हैं उसको? मिक्सचर। तो इसमें मिक्सचर-मिश्रण ही समझो एक तरहका मेल-जोलकी बात नहीं है; इसमें व्याप्य-व्यापक भाव नहीं है कि सर्प व्याप्य है और रस्सी व्यापक है; इसमें आधार-आधेय या कार्य-कारणभाव नहीं है। सर्प आधेय है और रस्सी आधार है, सर्प कार्य है और रस्सी कारण है; और नियम्य-नियामक भाव भी नहीं है कि सर्प नियम्य है और रस्सी नियन्ता है। ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं है। या तो अज्ञानी लोग जैसा देखते हैं वैसा ही है और या तो ज्ञानी लोग जैसा अखण्ड ब्रह्म कहते हैं वैसा ही है, दोनोंके बीचमें कोई सच्ची स्थिति नहीं है, सब भ्रान्तिसे युक्त है, सब भ्रान्त-वृत्ति है।

तो जड़ मूलसे चैतन्य बन नहीं सकता और चैतन्य मूलसे जड़ बन नहीं सकता। चैतन्य अगर बदलेगा तो वह चैतन्य नहीं रहेगा, जड़ हो जायेगा—दृश्य जो होगा, परिवर्तनशील जो होगा वह जड़ हो जायेगा; और यदि वह बदलता नहीं है,

ज्यों-का-त्यों है, तो उसमें देशकी कल्पना, कालकी कल्पना, वस्तुकी कल्पना, भेदकी कल्पना, परिच्छेदकी कल्पना, मैं और तू की कल्पना—सब कल्पना है। असलमें जहाँ सीपमें चाँदी मालूम पड़ती है कि यह चाँदी है, रजतांश मिथ्या है और जो इदमंश है—'यह' वह 'यह' सच्चा है। इदमंशका सामान्य चेतनका विवेक करो; अखण्ड चैतन्य वस्तु है।

तो जो अपनेको क्रिया और विक्रियामें फँसाये हुए हैं—*उभौ तौ न विजानीतो*—वे दोनों जानते नहीं हैं। इस न जाननेके कारण उनकी स्थिति क्या होगी कि दिनभरमें सत्ताईस बार अपनेको पापी मानेंगे और रोयेंगे और सत्ताईस बार अपनेको पुण्यात्मा मानेंगे और हँसेगे; और कभी किसीको अच्छा मानकर रागमें फँसेंगे और कभी किसीको बुरा मानकर द्वेषमें फँसेंगे; कभी अपनेको सुखी मानेंगे, कभी दुःखी मानेंगे, उनके चित्तमें केवल भटकन-ही-भटकन है।

बोले भाई, यह इतनी उच्च कोटिकी वैदिक संस्कृति, वेदान्त-वेदका सिद्धान्त और यह हम सब लोग इतने दुःखी और इतने पिछड़े हुए हैं, सो क्यों है? बोले कि इसमें खिचड़ी हो गयी। अगर उसी सिद्धान्तपर दृढ़ होते तो आनन्द-ही-आनन्द होता; यह तो महाराज थोड़ी मार्क्सपर श्रद्धा है, तो थोड़ी आईन्स्टीनरपर श्रद्धा है। ये दोनों जो हैं और वैज्ञानिक हैं और मार्क्स तो हाथ जोड़नेवाला नहीं है और वैज्ञानिक है। डार्विन दार्शनिक हैं-सृष्टि-विज्ञानको समझते हैं; वे कहते हैं कि हम सृष्टिकी एक-एक बातकी व्याख्या करके बता दें, परन्तु, वे अपनी व्याख्या, आत्माकी व्याख्या, चैतन्यकी व्याख्या नहीं कर सकते-भला! तो संसारमें जितना दुःख-सुखका भेद है, राग-द्वेष है, पाप-पुण्य है, आवागमन है और परिच्छिन्नता है, भेद है—इसके मूलमें अज्ञान है और इसी अज्ञानको मिटानेवाला जो ज्ञान होता है वेदान्त उसका प्रतिपादन करता है। अरे अपने आत्माके स्वरूपको समझो भाई—**नाऽयं हन्ति न हन्यते।**

अब देखो, बात यह है कि व्यवहारमें सारे ज्ञान पौरुषेय होते हैं-अपौरुषेय ज्ञानका अर्थ लोग सामान्य रूपसे समझते थोड़े ही हैं—देखो, यह फूल क्या है? यह यदि वैद्यसे पूंछो तो वह स्पष्टम्-स्पष्टम् कहेगा कि यह लाल पुष्प जपा कुसुम है और श्वेत-प्रदरकी औषधि है और इस फूलका स्वाद कैसा है? तो यदि हम एक पत्ता तोड़कर जीभपर डालेंगे तो स्वादका ज्ञान हो जायेगा। यह स्वादका ज्ञान पौरुषेय ज्ञान होगा। नाकसे जो हम सूँघेंगे और कहेंगे कि इसमें ऐसी गन्ध है, तो वह गन्ध-ज्ञानका नाम होगा पौरुषेय-ज्ञान, आँखसे जो लाली दीखती है सो भी

पौरुषेय ज्ञान है, त्वचासे जो कोमलता दीखती है सो भी पौरुषेय ज्ञान है—माने मनुष्य अपने प्रयत्नके द्वारा जो ज्ञान प्राप्त करता है वह पौरुषेय ज्ञान है। अच्छा, अब श्रवण-मनन-निदिध्यासनके द्वारा जो ज्ञान हम प्राप्त करते हैं—वृत्ति-ज्ञान—**अहं ब्रह्मास्मि** रूप **सो**। बोले वह भी पौरुषेय ज्ञान है। वह भी तुम्हारे प्रयत्नसे वृत्ति बनी है। अरे जिज्ञासु बनकर गुरुकी शरण ग्रहण करोगे, वेदान्त श्रवण करोगे, मनन करोगे, निदिध्यासन करोगे तब न एक वृत्ति तुम्हारे चित्तमें उत्पन्न होगी! जो अभी नहीं है वह वृत्ति उत्पन्न होगी, और वह वृत्ति उत्पन्न होकर क्या करेगी कि तुम्हारे अन्तःकरणमें जो मैं अज्ञानी हूँ, मैं संसारी हूँ, मैं परिच्छिन्न हूँ, मैं जीव हूँ—यह सब कल्पना-जल्पना है—इनको वह मिटा देगी और वह खुद भी मिट जायेगी। परन्तु आत्म-स्वरूप जो ज्ञान है वह पुरुष-प्रयत्न-जन्य नहीं है। **सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म**—ब्रह्मकी जो ज्ञान-स्वरूपता है, आत्माकी जो ज्ञान स्वरूपता है वह ज्ञान-जन्य ज्ञान नहीं है, एक बार इस फूलको चबा लो, खा लो, तो तुमको हमेशाके लिए ज्ञान हो जायेगा कि इसका स्वाद क्या है—जीभसे मालूम पड़ेगा और तुम्हारे अन्तःकरणमें इसका निश्चय इकट्ठा होगा। परन्तु ज्ञान-स्वरूप जो ब्रह्म है न—ब्रह्मस्वरूप ज्ञान अथवा ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म—वह कोई आँखसे देखकर कि जीभसे चखकर, कि कानसे सुनकर, कि त्वचासे छूकर थोड़े ही मालूम पड़ेगा। वृत्तिके द्वारा वह ब्रह्मस्वरूप ज्ञान उत्पाद्य नहीं है, वह कर्मके द्वारा संस्कार्य नहीं है, वह अग्नि-जल आदिके द्वारा विकार्य नहीं है, वह किसी मान्त्रिक-यान्त्रिक-तान्त्रिककी शक्तिसे आप्य नहीं है।

उत्पाद्य नहीं है—माने जैसे यदि तुम्हारे घरमें घड़ा नहीं हो तो बना लो, उत्पाद्य हो गया; और हो परन्तु अशुद्ध हो तो धो लो, संस्कार्य हो गया, और अनुपयोगी हो तो तोड़ दो, विकार्य हो गया; अपने घरमें नहीं हो और बनाना नहीं हो, तो दूसरेके घरसे माँग लाओ, आप्य हो गया। ये चारों बात घड़ेके बारेमें हो सकती है—घड़ा बनाया जा सकता है, घड़ाका संस्कार करके, कलश स्थापन करके देवता बनाया जा सकता है, घड़ा बिगाड़ा जा सकता है और अपने घरमें घड़ा न हो तो दूसरेके घरसे माँगकर लाया जा सकता है। ज्ञानमें ये चारों बात नहीं होती। ज्ञान नया नहीं हो सकता। तो ज्ञान-स्वरूप जो आत्मा है, मुक्ति-स्वरूप जो आत्मा है वह उत्पन्न नहीं किया जा सकता, संस्कृत नहीं किया जा सकता, विकृत नहीं होता और दूसरेके घरसे उधार नहीं आता। तो अपौरुषेय ज्ञानका अर्थ होता है भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा, करणापाटव आदिसे विनिर्मुक्त ज्ञान-स्वरूप आत्मा। ऐसा

ही है वह! ऐसे आत्माका जो प्रतिपादन करता है—वेद, उस वेदको भी हम प्रतिपाद्य-प्रतिपादक-भाव सम्बन्धसे अपौरुषेय कहते हैं। जैसे ज्ञानका वर्णन वेद करता है वैसे ही ज्ञानके नामसे हम उसका भी सम्बोधन करते हैं, उसकी संज्ञा बनाते हैं। अब कहो कि दूसरे अपौरुषेय ज्ञान क्यों नहीं हैं तो हम इस बातकी चुनौती देते हैं कि आप बता दो हमारे वेद-वेदान्तके सिवाय और कोई भी ज्ञानकी इस अखण्ड-स्वरूपताको, अद्वितीय-स्वरूपताको, दृङ्मात्रताको स्वीकार करता हो। दृङ्मात्र उसको बोलते हैं जिसमें दृश्य, द्रष्टा, दर्शनकी त्रिपुटी न हो। जैसे हम घड़ी देखते हैं तो घड़ी दृश्य है और हम द्रष्टा हैं और हम दोनोंके बीचमें कड़ी जोड़नेके लिए दृष्टि है—तो यह त्रिपुटी हो गयी! द्रष्टा, दृष्टि और दृश्यकी त्रिपटी। अब दृङ्मात्र उसको कहते हैं जिसमें ये तीन न हों, बिलकुल दृङ्मात्र आत्म तत्त्व ही होवे।

अब लो—'**उभौ तौ न विजानीतो**'—अपनेको कर्मसे सम्बद्ध मानकरके कर्म करते चलो, निकम्मे मत बैठो, कर्म होने दो—यह आलस्यका शास्त्र नहीं है, निकम्मेपनका शास्त्र नहीं है—कर्म होने दो, परन्तु जो उसका कर्त्ता मानकरके तुम रोते-गाते-बजाते, मरते-जीते रहते हो—उसमें मत पड़ो—

'**विवेकी सर्वदा मुक्तः कुर्वतो नास्ति कर्तृता**'। विवेकी सर्वदा मुक्त होता है और मूर्ख सर्वदा बद्ध है और आत्मा न मुक्त है न बद्ध है। वह करता रहे तब भी कर्त्ता नहीं है, क्योंकि शरीरसे कर्म, वह कर्म हो रहे हैं, इसमें मैं कर्त्ता हूँ यह भ्रान्ति उसको है ही नहीं। किस प्रकार? तो बोले—

अलेपपदमाश्रित्य श्रीकृष्णजनकौ यथा। (गोपाल यति)

अलेपपादमाश्रित्य श्रीकृष्णजनकौ यथा॥ (आनन्द गिरि)

अलेप-पद जो आत्म-तत्त्व है वह मैं अलिप्त हूँ, निर्लिप्त हूँ—ऐसा जानकर श्रीकृष्ण और जनकने कर्म किये। जो बहुत चिकनी चीज होती है उसपर किसी चीजका लेप करना चाहो तो नहीं लगता है। यह चिन्मात्र एकरस अद्वितीय जो वस्तु है इसमें द्वैत है ही नहीं तो लगे कहाँसे? इसमें कर्त्तापन है ही नहीं तो लगे कहाँसे? इसमें भोक्तापन है ही नहीं तो लगे कहाँसे? इसमें आवागमन है ही नहीं तो लगे कहाँसे? इसलिए बाबा अज्ञानके चक्करमें मत पड़ो, अपने स्वरूपको जानो—'**नाऽयं हन्ति न हन्यते।**'

❖

आत्म-दर्शनसे शोकनिवृत्ति

अध्याय—१ वल्ली-२ मन्त्र-२०

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः॥
१.२.२०

अर्थ :—यह आत्मा अणुसे भी अणु और महान्‌से भी महान् है। यह सर्वप्राणियोंकी हृदयरूप गुहामें आत्मरूपसे स्थित है। उस आत्माकी महिमाको अकाम पुरुष अन्तःकरणकी निर्मलतासे देखता है और शोकसे रहित हो जाता है।

इस आत्माको जानता कौन है? जाननेसे क्या होता है? किस प्रक्रियासे जानता है? और क्या जानता है? इस एक मन्त्रमें ढेर-का-ढेर राशि-राशि बातोंका वर्णन है।

अणोरणीयान्—यह आत्मदेव कैसे हैं कि अणुसे भी अणीयान् हैं जैसे साँवा (समा) चावल होता है न खानेका, अन्न होता है—जौ है, गेहूँ है—इनके भीतरसे एक शक्ति निकलती है। खाते ही मालूम पड़ता है कि शक्ति आ गयी। डाक्टर लोग, वैज्ञानिक लोग परीक्षा करें तो बता देंगे कि उनमें ऐसी क्या चीज है जिससे शक्ति बनती है। तो इन सबमें अणु-शक्ति आती है। भाष्यमें साँवाका नाम लिया हुआ है—**अणो सूक्ष्मादणीयाञ्श्यामाकादेरणुतरः**। महात्मा लोग जंगलसे छोटी-छोटी चीजें इकट्ठी करते हैं और उनको खा-पीकर अपना काम चला लेते हैं। उनमें शक्ति कहाँसे आयी? कि उनमें अणु है, उनमें परमाणु है—परमाणुमें शक्ति है। परमाणुमें कहाँसे शक्ति आयी? उसीको बोलते हैं—अणोरणीयान्। चैतन्य है जहाँसे अणुमें शक्ति गृहीत होती है—जिस शक्तिसे अणु घूमते हैं, अणु टूटते हैं, अणु जुड़ते हैं—

परमाणुका संचालन और स्फोट होता है। अणुका संयोजन, अणुका नियोजन और उसमें जो शक्ति वैचित्र्य है उससे भी अणीयान् चैतन्य है और वह यन्त्रसे, तन्त्रसे, मन्त्रसे पकड़ा नहीं जाता। जो ध्यानमें भी न आवे, ध्यानसे भी जो न पकड़ा जाये ऐसा वह चैतन्य अतिशयेन अणु है। अणोरणीयान्—अणुसे भी अणु, अणुसे भी अणु, अणुसे भी अणु—अत्यन्त सूक्ष्म है।

बोले—कि फिर तो कोई नन्हा-मुन्ना ही होगा? तो बोले—नन्हा-मुन्ना नहीं है। **महतो महीयान्**—वह महान्से भी महान् है। अर्थात् अणु और महान्में तो परिच्छेद होता है, परन्तु अणोरणीयन् और महतोमहीयान् जो चैतन्य है उसमें कोई परिच्छेद नहीं है। कहनेका अभिप्राय हुआ कि परम सूक्ष्मतम है।

अच्छा भाई, एक ही वस्तु अणु भी होवे और महान् भी होवे—अणु-से-अणु और महान्-से-महान् भी होवे—ऐसा कैसे? पृथिवीसे भी महान्, आकाशसे भी महान् और साँवेसे भी नन्हा—दोनों बात कैसे? जो चीज अणु है, सो महान् नहीं, जो चीज महान् है सो अणु नहीं—यह दोनों कैसे? बोले कि बात यह है कि आत्म-तत्त्व जिस वस्तुके रूपमें भासता है न, उसी सरीखा भासता है—अणुवत् वही भास रहा है और महत्वत् वही भास रहा है। जैसे जब रज्जु सर्पवत् भासती है तब यह सर्पका पेट और यह पीठ और यह मुँह और यह पूँछ और यह हिलना और यह जीभ और यह फुफकारना—सर्वात्मना रज्जु ही भासती है, परन्तु, जब रज्जुका ज्ञान हो जाये तब न मुँह, न पूँछ, न पेट, न पीठ, न आँख, न जीभ—कुछ नहीं। तो चैतन्यदेव जिस आकारमें भासता है उसी आकारवत् भासता है—अणुरूपमें वही सँवा बनकर भास रहा है और महानरूपमें वही आकाश, वही वायु, वही अग्नि, वही जल, वही सूर्य, वही चन्द्रमा इन—सब रूपोंमें भास रहा है, परन्तु भासता हुआ भी हुआ कुछ नहीं।

इस चैतन्यदेवकी उपलब्धि कहाँ होती है? कि—**आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्**। सर्वनाम, सर्वरूप, सर्ववस्तु उसकी उपाधि हैं और ब्रह्मसे लेकरके तृणतक सब उसीमें अध्यस्त हैं—सम्पूर्ण अध्यस्त वस्तुओंका अधिष्ठान होनेके कारण सबका वह आत्मा ही है और सम्पूर्ण प्राणियोंकी हृदय-गुहामें उसका निवास है।

हमको क्या तूँ ढूँढे बन्दे हम तो तेरे पास में।

तो ब्रह्मसे लेकर एक कीट पर्यन्त—नन्हा-से-नन्हा कीड़ा और ब्रह्म—सम्पूर्ण प्राणियोंके हृदयगुहामें वह स्थित है।

जन्तोः शब्द एकदम तुच्छका वाचक है। जैसे बोलते हैं कि यह आदमी नहीं है जानवर है, तो यह जन्तु है—माने **जायते इति जन्तुः**, केवल पैदा होने भरका है, किसी काम नहीं आया, पैदा हुआ और मर गया। तो ऐसे जो पैदा होने और मरनेवाले हैं उनकी हृदय-गुहामें भी परमात्मा वही है, उनका भी 'मैं' पदका अर्थ वही है, उनका भी आत्मा वही है, और ब्रह्मका मैं भी वही है, विष्णुका मैं भी वही है, शिवका मैं वही वह है, निराकार-ईश्वरका मैं वही है, अन्तर्यामी ईश्वरका असली मैं भी वही है।

एक झूठा मैं होता है और एक असली मैं होता है। झूठा मैं क्या होता है कि एक दिन एक सेठको घाटा लग गया, लाख-दो-लाख रुपये चले गये तो बोला कि अरे मैं तो मर गया। तो उसने धन जानेको जो अपना मरना समझा वह झूठा समझा कि सच्चा समझा? झूठा समझा और किसीके हाथमें पक्षाघात हो गया और बोला कि मैं तो मर गया। तो देह तो तुम नहीं हो, झूठे ही अपनेको मरा हुआ समझा। मिथ्या, एकदम मिथ्या; बेहोश हो गये थोड़ी देरके लिए तो बोले कि मैं तो मर गया था फिर जिन्दा हुआ। तो बेहोश होकर होशमें आना या शरीरका निकम्मा हो जाना या धनका आना-जाना—यह सब तो एक कक्षामें (झूठे मैं-की कक्षामें) है लेकिन सबका असली मैं एक है। ब्रह्माका असली मैं, कीड़ेका असली मैं, विष्णुका असली मैं, शिवका असली मैं, निराकार ईश्वरका असली मैं एक वही है।

तमात्मानं दर्शनश्रवणमननविज्ञानलिङ्गम्—जो इस शरीरमें द्रष्टा, श्रोता, मन्ता, विज्ञाता है माने देखनेवाला है, सुननेवाला है, मनन करनेवाला है और विज्ञान जाननेवाला है—ये लिङ्ग माने संकेत हैं जिसके, वही वह आत्मा है। देखनेवाला आँखसे देखता है, पर देखनेवालेका असली मैं कौन है? कानसे सुनता है पर सुननेवालेका मैं क्या है? मनसे संशय मिटानेके लिए मनन करता है परन्तु मनका असली मैं क्या है? बुद्धिसे किसी निश्चयपर पहुँचता है, कोई विज्ञान होता है, परन्तु उस विज्ञानका असली मैं क्या है? कि एक वही है।

द्रष्टा श्रोता, मन्ता विज्ञाता इति लिङ्गैः गम्यते।

वेदमें, उपनिषद्में—प्रश्नोपनिषद्में, मुण्डकोपनिषद्में, एतरेयोपनिषद्में—द्रष्टा-श्रोता-मन्ता विज्ञाता—ये इस आत्माके ये लिङ्ग बताये हुए हैं। लिङ्ग माने चिह्न। यह आगका चिह्न जैसे धुँआ है ऐसे नहीं; अथवा जैसे स्त्रीका शरीर भिन्न प्रकारका, पुरुषका शरीर भिन्न प्रकारका ऐसा कोई बाह्य चिह्न नहीं, यह अनुमानसे

सिद्ध या अनुमानके साधक लिङ्ग नहीं, अपने आपमें ही जो ऐसा-ऐसा मालूम पड़ता है वह आत्माका लिङ्ग है; वही आत्मतत्त्व सबके भीतर प्रविष्ट है।

अब प्रश्न हुआ कि उसको देखता कौन है, देखनेकी प्रक्रिया क्या है और देखनेसे क्या होता है? तो बोले—**तमक्रतुः पश्यति=तमात्मानम् अक्रतुः पश्यति**—उस आत्माको अक्रतु देखता है। क्रतु किसको कहते हैं? कि यह करेंगे तो यह पायेंगे—यह बात जिसके मनमें भरी हो वह है क्रतुः। यह करके यह पा लेंगे, यह व्यापार करेंगे तो इतनी आमदनी होगी, यह यज्ञ करेंगे तो ऐसा स्वर्ग मिलेगा—यह जो अपने कर्तापनके आधारपर कर्मकी साधनताको स्वीकार करके उसके फलकी जो आकांक्षा रखता है वही 'क्रतुः' है। दुनियामें सब इसी कर्त्ता-भोक्ताके चक्करमें पड़े हुए हैं—यह करेंगे तो यह मिलेगा, यह करेंगे तो यह मिलेगा! देखो, एक तो इस सोचमें यह बात है कि अभी कुछ बेमिला हुआ है जिसको हम पाना चाहते हैं, तो यह अज्ञान है। और दूसरी बात यह है कि उस बेमिलेको चाहते हैं तो यह चाह तो शान्तिसे बैठने ही नहीं देगी। और तीसरे अपने मैं कर्त्तापन है। तो जिसको यह ख्याल है कि हम ब्रह्मज्ञानके अधिकारी हैं और जिसके ये तीनों भ्रम कट गये हैं कि हम यह करेंगे तो हमको यह मिलेगा, उसका नाम है 'अक्रतुः'।

तुम जो ऐसा मानते हो कि ईश्वर वहाँ जानेपर मिलेगा और हमारे दिलमें नहीं मिलेगा—यह बात छोड़नी पड़ेगी। यदि किसीका ख्याल है कि ईश्वर बिना गंगा किनारे गये नहीं मिलेगा, बिना बद्रीनाथ गये नहीं मिलेगा, तो मानो वह ईश्वरसे यह कहता है कि हे ईश्वर! तू जो मेरे दिलमें रहता है सो तो मुझे पसन्द नहीं है और जो हमसे हजार कोस दूर रहता है वह ईश्वर मुझे पसन्द है। कहता है हे ईश्वर, जैसा तू मेरे दिलमें है वैसा पसन्द नहीं है, जैसा सातवें आसमानमें रहता है वैसा मुझे पसन्द है। तो ईश्वरके एक हिस्सेको पसन्द करना और एक हिस्सेको पसन्द नहीं करना, यह तो अपराधकी कक्षामें आवेगा भला।

त्वद्यात्रया व्यापकता हता ते ध्यानेन चेतः परता हता ते।
स्तुत्याऽनया वाकपरता हता ते क्षमस्व शम्भो त्रिविधापराधाः॥

हे शम्भु! तुमसे मिलनेके लिए मैंने तीर्थयात्रा की इससे मैंने आपकी सर्वव्यापकताको आघात पहुँचाया। मेरे दिलमें जो तुम बैठे हो उससे अपनी आँख हटा ली। वहाँ मैंने देखा कि तुम मेरे दिलमें हो! 'ध्यानेन चेतः परता हता ते'—अरे तुम तो मुझसे मिले बैठे थे और जैसे कोई बिरही ध्यान करता है वैसे मैं रोने बैठ गया, तुम्हारे लिए ध्यान करने बैठ गया—सामने अपना प्रियतम और

बोले—ध्यान कर रहे हैं, इससे मैंने तुम्हारे साक्षात् अपरोक्ष चित्स्वरूपतापर आघात पहुँचाया।

मैंने तुम्हारे बारेमें स्तुतियाँ बोल-बोलकर अपनी जानमें तो तुम्हारी तारीफकी पर हमने तुम्हारी निन्दा ही कर डाली; क्योंकि वाणीसे जो परे है उसको वाणीका विषय बना डाला, अनन्तको सीमित कर दिया। कारणका जो पति है, शेषका जो पति है, प्रधानका जो पति है—प्रधानेश्वर है, प्रधानाधिष्ठान है उसको हमने क्या कहा कि उसको हमने जरा-सी बात कह दी—मानो अनन्तपतिको कह दिया कि इनके पास हजार रुपये हैं, इनके पास लाख रुपये हैं! जब हम ईश्वरको पृथिवीपति बोलते हैं न, तो कैसे बोलते हैं कि जैसे सारी पृथिवीके मालिकको एक खेतका मालिक बताया जाये, जब हम ईश्वरको ब्रह्माण्ड-पति बोलते हैं तब क्या बोलते हैं कि जैसे ईश्वरको कोई एक कौड़ीका मालिक बतावे। एक ब्रह्माण्ड एक सरसोंके दानेके बराबर भी तो नहीं है परमात्माके स्वरूपमें! तो वाणीसे जो परे है उसको वाणीसे बोल-बोलकर छोटा बनाया, जो ध्यानसे परे अपना आपा है, उसके सामने बैठकर उसके विरहमें हम रोये; उसको अपने घरमें छोड़कर दूसरेके घर मिलने गये! आप हमारे इन तीनों अपराधोंको क्षमा करें।

हे शम्भो! माफ करना, आप सोते समय भी हमको छोड़कर कहीं नहीं जाते और जागते समय भी आपको छोड़कर दूर चले जाते हैं।

अक्रतुका अर्थ है कि दृष्ट और अदृष्ट जितने अपनेसे भिन्न विषय हैं—देखे हुए और अनदेखे हुए—स्वर्ग-बैकुण्ठ-गोलोक सब अनदेखे और देखे हुए। कलकत्ता, बम्बई, रामेश्वर, बद्रीनाथ सब देखे हुए—इनकी ओरसे बुद्धि हटाकर जहाँसे बुद्धि उठती है, पैदा होती है, जिसकी गोदमें बुद्धि रहती है, जिसकी गोदमें बुद्धि सोती है—बुद्धिका जो जन्म-स्थान, बुद्धिका जो निवास-स्थान और बुद्धिका जो शयन-स्थान, इसमें स्थित होना अक्रतु होना है; अक्रतुः माने अकाम होना।

फिर **धातु प्रसादात्**—अक्रतुः और फिर जरा धातुका प्रसाद भी चाहिए। इन्द्रियाँ हैं, मन है, बुद्धि है—इनको धातु बोलते हैं, क्योंकि ये ही शरीरको धारण करती हैं; **शरीरस्य धारणात् धातवः मन आदीनि करणानि** (भाष्य)—इनका प्रसाद माने इनकी निर्मलता चाहिए। निर्मलता क्या है कि जैसे घरमें स्त्री रूठती है तो मायके चली जाती है—वैसे अब मैंने सुना कि कई स्त्रियाँ घरसे रूठकर होटलमें या क्लबमें चली जाती हैं पर उनकी बात छोड़ो—जैसे पुरुष

रूठता है अपने घरसे तो अपने मित्रके घर चला जाता है—तो ये जो हमारी इन्द्रियाँ है ये जब संसारके विषयके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ती हैं तब ये घरसे रूठी हुई हैं—इनका चित्त निर्मल नहीं है, इनकी आँखमें आँसू हैं, ये प्रसन्न नहीं हैं, तभी तो अपना घर अपने पति आत्मदेवको छोड़कर दूसरेसे (विषयोंसे) मिलनेके लिए जाती हैं। अतः धातु प्रसादका अर्थ है—अन्तःकरण शुद्ध हो, इन्द्रियाँ शुद्ध हों, मन शुद्ध हो, वाणी शुद्ध हो।

जब ये मन आदि प्रसन्न होते हैं—**धातुप्रसादात्**—तब क्या होता है कि तब आत्माकी महिमाका ज्ञान हो जाता है—**महिमानम् आत्मनः**। क्या महिमा है? कि आत्मा कर्मसे घटता-बढ़ता नहीं है—**एष महिमा नित्यो ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्**। देखो, कभी चलते हैं तो ऊपरसे कोई पानी गिरता होता है तो अपने ऊपर ही गिर पड़ता है, जब सड़कपर चलते हैं तब मोटरें होली खेलती चलती हैं, तो गये और स्नान कर लिये या अगर कपड़े खराब हो गये तो कपड़े बदल लिये, लेकिन उससे क्या हम सचमुच अशुद्ध हो जाते हैं? क्या ब्राह्मत्व कहीं चला जाता है? संन्यासीत्व कहीं चला जाता है? हिन्दुत्व कहीं बिगड़ जाता है? आपका मनुष्यत्व क्या उससे बिगड़ जाता है? जीवत्व क्या नष्ट हो जाता है? ज्यों-के-त्यों ही रहते हैं आप! वह तो मल आया और प्रक्षालन हुआ। तो आत्माकी महिमा यही है कि शरीर चाहे मरे चाहे जीये, चाहे जन्मे, चाहे जवान होवे, चाहे अधेड़ हो, चाहे बुड्ढा होवे—शरीरका चाहे कुछ होवे—आत्मा नामकी जो वस्तु है वह ज्यों-की-त्यों रहती है। कर्मसे उसकी वृद्धि नहीं और कर्मसे उसका ह्रास नहीं, ज्यों-का-त्यों।

तो इस तरहसे जिसने अपने स्वरूपको जान लिया कि मैं ऐसा परब्रह्म परमात्मा हूँ—**पश्यति आत्मनो महिमानम्**—तब क्या होगा? कि **वीतशोकः**—वह शोकसे पार हो गया। अब शोक उसके लिए वर्तमान जीवनकी चीज नहीं रही, भविष्य जीवनकी चीज नहीं रही—अब आगे वह कभी शोकग्रस्त नहीं होगा और इस समय भी शोकग्रस्त नहीं है। कि तब क्या है? वह बोले—वीतशोक है।

हमारे गंगा किनारे महात्मा लोग जो रहते हैं उनको वीतराग बोलते हैं। माने पहले उनके जीवनमें राग रहा होगा—तुलसीदासजीके जीवनमें अपनी पत्नीसे राग था, फिर राग छूट गया तो वे वीतराग हो गये। सूरदासजीको चिन्तामणिसे राग रहा होगा, फिर राग छूट गया तो वे वीतराग हो गये—है न! ऐसे ही महात्मा लोग भी वीतराग हो जाते हैं। पर यह आत्मदर्शी वीतराग भी जो होता है वह स्वरूपके

ज्ञानसे ही होता है। बाहरी वीतरागता दो कौड़ीकी कीमत नहीं रखती है, केवल बानिया ही उसमें फँसता है। वह कहता है कि हम बिना खाटके नहीं सो सकते। यह सो गया तो यह वीतराग हो गया—बानिया लोग समझते हैं। देखो शास्त्रकी बात आपको सुनाते हैं—एक शास्त्रमें ऐसे लिखा है—**जपदम्भस्तपोदम्भः ध्यानदम्भस्तथैव च**—कोई बाहर जाते हैं तो माला फेरते हैं, दिखाते हैं कि हम माला फेरते हैं, चाहे घरमें नहीं फेरते हैं, ऐसेको बोलते हैं जपदम्भ। फिर तपोदम्भ—ऐसे खायेंगे, ऐसे रहेंगे, ऐसा चौका काढ़ेंगे, इनसे मिलेंगे, इनको नहीं छूयेंगे—लोगोंको खूब दिखाते हैं कि इतना तप करते हैं, और जब कोई नहीं होता है तब धीरेसे सब खा लेते हैं—भला! ये तपोदम्भ हैं। और **ध्यानदम्भस्तथैव** च—भरी सभामें आये तो पीठकी रीढ़ सीधी करके और आँख बन्द करके बैठ गये ताकि लोग समझें कि घरमें भी ऐसे ध्यानस्थ रहते होंगे, पर घरमें तो स्त्रीको वह डाँटते हैं, नौकरको वह गाली देते हैं, व्यापारीको वह ठगते हैं—तो इसको ध्यानदम्भ बोलते हैं—

जपदम्भस्तपोदम्भः ध्यानदम्भस्तथैव च।
सर्वे निःस्पृहदम्भस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥

सबसे बड़ा दम्भ कौन होता है? तो वह निःस्पृहताका दम्भ है। अन्य दम्भ तो इसके सोलहवें हिस्सेके बराबर भी नहीं है। अब हम आपको अपना दम्भ सुनाते हैं—जब दण्डी स्वामी हुए, तब आजकल जो शंकराचार्य हैं, स्वामी शान्तानन्दजी—ये मेरे साथ चलते थे, ब्रह्मचारी थे हमारे, और जैसे अब दादा हमारे साथ रहता है वैसे पहले वे रहते थे। तो हम पैसा छूते नहीं थे, हम तो दण्डी स्वामी! कपड़ेमें भी नहीं बँधवाते थे, दूसरे दण्डी स्वामी तो कपड़ेमें बँधवा लेते हैं या कहते हैं कि स्टेशनपर चलकर टिकट कटवा दो या आश्रमके लिए मनीआर्डर करवा दो—पर हमारे वह सब कुछ नहीं, न आश्रम, न विद्यालय, न औषधालय, न चन्दा—टिकट भी नहीं, कपड़ेमें भी नहीं बँधवाते थे—तो ये शान्तानन्दजी—उस समय रामजी ब्रह्मचारी उनका नाम था, उनको छूनेका हक था, तो वे अपनी जेबमें हजार रुपये रखते थे। जैसे सेठ लोगोंके मुनीम अपने साथ पचास-पचास हजार रुपये लेकर चलते हैं। हम बड़े-बड़े सेठोंकी बात जानते हैं—पद्मपत सिंहानियाकी जेबमें एक पैसा नहीं, जुगलकिशोर बिड़लाकी जेबमें एक पैसा नहीं—इनको कभी एक रुपयाकी जरूरत पड़ जाय जो इनकी जेबमें-से नहीं निकल सकता। क्यों? बोले उनके साथ जो मुनीम होते हैं, वे हजारों रुपये लेकर चलते हैं इसलिए।

नारायण! यह बनिये लोगोंकी विरक्ति भी बड़ी विलक्षण होती है। तो वीतराग होना, वीतलोक होना, वीतकाम होना, वीतस्पृह होना—यह सब तो दम्भ होता है, परन्तु एक बातमें दम्भ नहीं हो सकता भला। वह निर्दम्भ वस्तु हम आपको समझाते हैं—वह निर्दम्भ वस्तु है वीतशोक होना—वीतशोक होना क्या है कि चाहे दुनियामें कुछ भी हो जाय, अपने हृदयका शोकग्रस्त न होना। अब हृदयमें शोक आवे कि न आवे इसका क्या दम्भ करोगे? यह निर्दम्भ वस्तु है, अपने जीवनमें आनी चाहिए। यह वीतशोकता कैसे प्राप्त होगी? वीतशोकता प्राप्त होगी आत्मज्ञानसे—अपनी महिमाके ज्ञानसे। संसारका कोई धर्म, कोई अधर्म, कोई द्रव्य, कोई देश, कोई काल, कोई वस्तु अपना स्पर्श नहीं कर सकती।

अलेपपदमाश्रित्य श्रीकृष्णजानकौ यथा। जैसे श्रीकृष्ण अपने निर्लिप्त पदमें हैं, जनक अपने निर्लिप्त पदमें हैं—असलमें वीतशोक होनेकी यही पद्धति है।

तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः।

परमात्मा अपने हृदयमें ही है—**आत्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायां** जैसे सिंह गुहामें रहता है वैसा ही परमात्मा हृदयकी गुहामें रहता है। छोटे-से-छोटा है तो वह बड़े-से-बड़ा है तो वह। जैसे सपनेमें चींटी मालमू पड़े तो वह भी अपना स्वरूप है और हाथी मालूम पड़े तो वह भी अपना स्वरूप है, क्योंकि हम खुद ही चींटी और हाथी दोनोंके रूपमें मालूम पड़ रहे हैं, इसी प्रकार जाग्रत् अवस्थामें एक तृण मालूम पड़ता है सो भी मैं और एक पहाड़ मालूम पड़ता है सो भी मैं। ये जितने चोर-चमार, झूठे-सच्चे, ईमानदार-बेईमान, शत्रु-मित्र, पक्के-कच्चे जो कुछ मालूम पड़ते हैं सो सब अपना स्वरूप ही है। परन्तु, सब परमात्मा है इसका दर्शन सबके लिए संभव नहीं है। सब वही है परन्तु उसको देख पाना सबके लिए संभव नहीं होता है—क्योंकि उसको वह देख पाता है जो स्वार्थी नहीं होता है।अक्रतु शब्दका प्रयोग है न! माने घूम फिरकर नजर अपनी नोन-तेल लकड़ीपर ही आयी।

तमक्रतुः पश्यति वीतशोकः—अक्रतु माने निष्काम—शंकराचार्यजीने इसका सही अर्थ किया है। संसारमें सत्यके विपरीत ले जानेवाली कोई वस्तु यदि है तो वह कामना है। आदमी दुनियामें झूठ क्यों बोलता है? कि सोचता है कि अगर सच बोलेंगे तो हमारे मनके मुताबित काम नहीं होगा—हम जो खाना चाहते हैं सो नहीं मिलेगा, हम जो इकट्ठा करना चाहते हैं सो नहीं होगा, हम जो भोगना चाहते हैं, सो

नहीं होगा—अपनी कामनापर जब चोट पड़ती दीखती है तब आदमी ईमानदारीसे और सत्यसे विचलित हो जाता है।

एक बहुत पुरानी पुस्तक है संस्कृत भाषामें, दो हजार वर्षसे भी पुरानी है ऐसी बढ़िया-बढ़िया कहानी हैं उसमें 'कथासरित्सागर' उसका नाम है, संस्कृतमें है, अब तो उसका हिन्दी अनुवाद भी हो गया, छप गया। मेरे बचपनमें संस्कृतमें ही था और हमारे पितामह उसकी कहानियाँ सुनाया करते थे, उनको तो सब जबानपर था—ऐसी बढ़िया-बढ़िया कहानी सुनाया करते थे।

दो मित्र यात्रा कर रहे थे, रास्तेमें पड़ा बड़ा भारी जंगल। कैसे रात बितायें? शेर बहुत थे वहाँ। तो दोनों पेड़ पर चढ़ गये और दोनोंने यह तय किया कि बारी-बारीसे सो जायँ। यह तय हुआ कि एकको गोदमें दूसरा सर रखकर पेड़पर ही सो जाये। तो जब एक सो गया तो नीचे आया शेर, उसने जगते हुएसे कहा कि यह जो तेरी गोदमें सिर रखकर सोया है यह तेरा दुश्मन है, इसको तू ढकेल दे, मैं इसको खा जाऊँगा। वह बोला कि यह मेरे विश्वासपर सो रहा है, मैं ऐसा नहीं कर सकता। शेर बोला कि यह तुमको धोखा देगा! तो वह बोला कि धोखा देगा तो मेरा मित्र देगा न, तुम तो नहीं दोगे—अपने मित्रसे धोखा खाना भी अच्छा है, यह मारेंगे तो मरेंगे, हम तुम्हारे हाथसे मरनेको राजी नहीं हैं। बहुत बढ़िया है—तो उसने तो नहीं धकेला। पर जब दूसरेकी बारी आयी तो फिर शेर आया और उसने फिर वही बात कही कि यह सोनेवाला आदमी तुम्हारा दुश्मन है, तो वह आ गया शेरकी बातोंमें और उसने उसे नीचे धकेल दिया। जब वह नीचे गिरा और सामने उसने देखा शेर, तो पागल सरीखा हो गया। अब जब शेर उसको खाने चला तो वह बोला—हट-हट, छूना नहीं मुझको, अब हम तुम्हारे छूने लायक नहीं हैं—जब हमारे मित्रने हमारे साथ द्रोह किया मैं तो तभी मर गया। अब मैं जिन्दा कहाँ हूँ। एमदम मुर्दा हूँ मुझको छूना नहीं। शेर भी पीछे हट गया—**वाचा विचलितं येन सुकृतं तेन हारितम्**—हमारा मित्र हमारी रक्षाका वादा करके टल गया, उसके सारे पुण्य जल गये और मेरे मित्रके पुण्य जल गये तो मेरे पुण्य भी जल गये। अब मैं किसी कामका नहीं हूँ। इतना सुनते ही शेरने उसको छोड़ दिया और वह पागल हो गया। फिर कैसे-कैसे वह अच्छा हुआ। बड़ी विचित्र कथा वहाँ वर्णित है। शेर कहता था कि हम तुमको अपना खजाना दे देंगे, तुम हमको अपना मित्र दे दो—हे गोविन्द! बड़ी विलक्षण कथा है।

तो संसारमें लोग व्यभिचार क्यों करते हैं कि कामनाके वश होकर, चोरी क्यों

करता है कि कामनाके वश होकरके, हिंसा क्यों करता है कि कामनाके वश होकर, संसारमें मोह क्यों करता है कि कामनाके वश होकर, संसारमें लोभी क्यों होता है कि कामनाके वश होकर और जो कामनाके वश हो गया उसकी पीठ ईश्वरकी ओर हो गयी और मुँह संसारकी ओर हो गया। वह तो छोटी-छोटी चीजोंको पकड़ कर बैठा है, वह क्या जाने ईश्वर, क्या जाने परमेश्वर।

अक्रतुः—अकाम पुरुष कौन होता है? दृश्य, अदृश्य सम्पूर्ण वाह्य विषयोंसे जिसकी बुद्धि उपराम हो गयी है वह अकाम होता है। जिसको स्वर्ग चाहिए उसको परमात्मा नहीं मिलता; जिसको ब्रह्मलोक चाहिए उसको परमात्मा नहीं मिलता और राजभोग जिसको चाहिए उसको भी परमात्मा नहीं मिलता। ऐसा समझो कि परमात्माके पास जानेका जो रास्ता है वह मौतमें-से गुजरता है। तो यह नचिकेता जो है यह परमात्माके पास पहुँचनेके लिए मृत्युके रास्तेसे गुजर रहा है, वह मृत्युके पथपर है। मृत्युके बाद क्या है कि परमात्मा है।

कामान् यत कामायते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र।

जिसको यह चाहिए, यह चाहिए, यह चाहिए—दुनियाकी छोटी-छोटी चीजोंमें जिसकी कामना फँसी पड़ी है वह बार-बार वहीं वहीं उत्पन्न होगा। शरीरका तो कुछ ठिकाना नहीं, आज रहे कल नहीं रहे, धर्मको भी अपना साथी नहीं रखते हैं, ईमानको भी अपना साथी नहीं रखते हैं, ईश्वरको भी अपना साथी नहीं रखते हैं, ईमानको भी अपना साथी नहीं रखते हैं, ईश्वरको भी अपना साथी नहीं रखते। जब तुम्हारे साथ धर्म भी नहीं, ईमान भी नहीं, ईश्वर भी नहीं—सबकी ओरसे तुमने पीठ फेर ली तो क्या इस दुनियाके रिश्तेदार जायेंगे तुम्हारे साथ? क्या दुनियाका पैसा जायेगा तुम्हारे साथ? ये कुर्सियाँ ले जाओगे साथ उठा करके? वहाँ भी मिनिस्टर हो जाना, परलोकमें जाकर मिनिस्टर हो जाना! यहाँ जो अपना धर्म, अपना ईमान, अपना ईश्वर छोड़ देगा, परलोकमें उसका साथी कौन है? मर गया वह तो।

तो दृष्ट और अदृष्ट माने लौकिक और परलौकिक दोनों प्रकारके बाह्य विषयोंसे जिसकी बुद्धि उपराम है, उस अक्रतुकी इन्द्रियाँ निर्मल हो जाती हैं, मन निर्मल हो जाता है, अन्तःकरण निर्मल हो जाता है। प्रसन्न होना माने निर्मल होना; विषयकी आकांक्षा नहीं रहना। और तब 'धातुप्रसादात्' वह देखता है कि आत्माका स्वरूप क्या विलक्षण है! पाप-पुण्य, राग-द्वेष, सुख-दुःख, आना-जाना-सबसे विलक्षण। परन्तु जबतक कामना होगी तबतक यह आत्मदर्शन नहीं होगा।

एक बार महात्माओंमें यह बड़ा प्रश्न उठा था—अब तो हमारा सम्पर्क जरा टूट गया सम्प्रदायवादियोंसे—प्रश्न यह था कि पाप जो है सो प्रारब्धसे होता है कि ईश्वरकी प्रेरणासे होता है, कि मनुष्यके करनेसे होता है—आखिर यह पापके संकल्प कहाँसे आते हैं? पर, मैं तो सब छोड़ आया न! तो देखो, प्रारब्ध तो पाप-पुण्यका फल है; और फल जो होता है वह केवल भोग-पर्यवसायी होता है; प्रारब्ध सुख या दुःख-रूप भोग दे सकता है; प्रारब्धसे पुण्य नहीं होता, प्रारब्धसे पाप भी नहीं होता। अच्छा, कहो कि ईश्वर पाप-पुण्य करवाता है, तो ईश्वरको क्या पड़ी है कि किसीसे पाप करवा कर उसको नरकमें भेजे? उसकी क्या किसीसे दुश्मनी है? तो ईश्वर भी किसीसे पाप नहीं करता और प्रारब्ध भी किसीसे पाप नहीं करवाता।

ईश्वर पापका फल दुःख देता है। प्रारब्धसे दुःख मिलता है, प्रारब्धसे सुख मिलता है यह ठीक है परन्तु, प्रारब्धसे कोई झूठ बोलता होगा, यह गलत है। अगर कोई तुमसे झूठ बोले और कहे कि प्रारब्धवश ईमानको भी अपना साथी नहीं रखते हैं, ईश्वरको भी अपना साथी नहीं रखते हैं। झूठ बोल गया तो कहना कि मूर्ख हो तुम, तुम जानते नहीं कि प्रारब्ध क्या होता है, प्रारब्धसे झूठ नहीं बोला जाता, प्रारब्धसे दुःख आता है। इसमें भी दुःख होता है प्रारब्धसे, इतना तो ठीक, परन्तु मैं दुःखी हूँ, यह अभिमान प्रारब्धसे नहीं, मूर्खतासे होता है। अगर आत्मज्ञान हो कि मैं दुःखी नहीं हूँ तो दुःख देता-देता प्रारब्ध ही मर जायेगा, हमको दुःख नहीं हो सकता; तो दुःख भेजना प्रारब्धका काम है, सुख भेजना प्रारब्धका काम है, परन्तु पाप भेजना प्रारब्धका काम नहीं और ईश्वरका काम भी पाप भेजना नहीं है। तो बोले कि हम करते हैं पाप, तो क्या करते हैं? उसका प्रेरक कौन है? कि केवल विषयासक्ति पापका प्रेरक है।

भिखारीने पूछा कि बाबा, चार पैसा दे दे; बोले-नहीं देंगे। फिर बोला—बाबा दे दे! बोले—जा-जा, है ही नहीं हमारे पास। है ही नहीं हमारे पास, ऐसा क्यों बोला? कि धनसे आसक्त है। धनकी कामना है। इसीको काम बोलते हैं—काम-कामना। कामना क्या है कि—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।

तुम्हारा दुश्मन कौन है? काम। तुम्हारा दुश्मन कौन है? क्रोध। यह महाशन है, महापाप है, यह तुम्हारा शत्रु है, तुमसे पाप यही करवाता है। पापका बाप कौन? कि कामना। तो जब तुम पापके मार्गपर चल पड़े तो ईश्वरकी ओर पीठ हो

अब तुम ईश्वरको नहीं देख सकते। ईश्वरको कब देख सकते हैं कि जब 'धातु-प्रसादात्'—जब अन्तःकरण शीशेकी तरह निर्मल हो जाता है- झलाझल, झलाझल, झलाझल।

ईश्वर पाप नहीं कराता और प्रारब्ध पाप नहीं कराता--वह तो फलरूप है, पाप करा ही नहीं सकता। केवल भोगमें जो आसक्ति है वह पाप कराती है। बोले, कि हमको भोगमें आसक्ति नहीं है! कि तब तुमको आदत पड़ी हुई है।

एक साधु था, तो वह क्या करता कि रातको जब सब साधु सो जाते तब उनका कमण्डलु उनके पास, उनका कमण्डलु उनके पास, उनका कमण्डलु उनके पास, ऐसे रख देता! अब रोज महात्माओंमें झगड़ा होवे कि तुमने हमारा कमण्डलु चुरा लिया, हमारा दण्ड चुरा लिया—लड़ें साधु आपसमें। अब एक दिन वह पकड़ा गया। पूछा तुम यह क्या करते हो? तो बोला कि पहले मैं चोर था, तो साधु होनेके बाद चोरी तो मैंने छोड़ दी; लेकिन चोरी तो छूट गयी परन्तु तुम्बाफेरी नहीं छूटी है अभी; तो चुराता मैं कुछ नहीं हूँ, लेता किसीका कुछ नहीं हूँ, परन्तु आदत बिगड़ गयी है। जिसकी आदत बिगड़ जाती है वह भोगकी इच्छा न होने पर भी तुम्बाफेरी करता है।

सिवाय आसक्तिके परमात्माके दर्शनमें और कोई बाधक नहीं है! लोग कहते हैं कि हमारे पुत्रासक्ति नहीं है, हमारे भोगासक्ति नहीं है, हमारे धनासक्ति नहीं है; तो कभी-कभी बहुत मजा आता है, क्योंकि वे समझते ही नहीं हैं कि आसक्ति क्या है और सिवाय आसक्ति छोड़नेके परमात्माकी प्राप्तिका दूसरा कोई मार्ग नहीं है, इससे हमारा अन्तःकरण निर्मल होता है, इन्द्रियाँ निर्मल होती हैं, परमात्माके दर्शनकी योग्यता आती है! परमात्माका स्वरूप क्या है कि पाप-पुण्य, राग-द्वेष, सुख-दुःख, आना-जाना, परिच्छिन्नता-सब जिसमें कट जाते हैं।

❖

अध्याय—१ वल्ली-२ मन्त्र-२१

इस आत्माके विषयमें यमराज ललकारकर कहते हैं:—

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति॥ १.२.२१

अर्थ :—यह आत्मा अवस्थित रहकर भी दूर चला जाता है और शयन करता हुआ भी सब ओर चला जाता है। इस मद आनन्दयुक्त और मदरहित देवको भला मुझ जैसे सूक्ष्मदर्शीके सिवा और कौन जान सकता है!

'आसीनो दूरं व्रजति'—ये महाशय ऐसे हैं कि बैठे रहते हैं और दूर चले जाते हैं। और **शयानो याति सर्वतः**—जब सो जाते हैं तब सर्व-व्यापक हो जाते हैं। यह क्या पहेली है? कि देखो, आप बैठे रहते हैं और आपकी आँख सड़क पर चली जाती है तो आँख जहाँ रहती है वहीं रहती है या कि सचमुच सड़कपर चरने चली जाती है? कहते हैं न, कि आँख गयी! ये दुनियादार लोग जो हैं ये टेढ़े होते हैं, इनकी बात देखो—कहेंगे कि यह सड़क कहाँ जाती है? अब सड़क तो कहीं जाती नहीं है, पर बोलते हैं कि सड़क जाती है, सड़क तो अपनी जगहपर रहती है उस पर गाड़ी जाती है, परन्तु जो गाड़ी होगी वह चलेगी नहीं और जो चलेगी सो गाड़ी नहीं होगी यह तो बात बिलकुल पक्की है न, परन्तु भाषा उलटी बोलते हैं—

गाड़ी को चलती कहें, पके दूध को खोया।
रंगी को नारंगी कहें देख कबीरा रोया॥

देखो, आपने ईशावास्योपनिषद्का पाठ बहुत किया है, खास करके प्रेम-कुटीरमें तो रोज ही होता है:—

तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्—वह आत्मा खुद एक जगह खड़ा, एक जगह स्थिर और दूसरे सम्पूर्ण दौड़ने वालोंका अतिक्रमण किये हुए है, स्थिर रहकर दौड़ने वालोंसे आगे है। क्या मजा है? बोले—कि मन यहाँसे चला और विलायत पहुँचा; यहाँ परमात्माको हाथ जोड़ा कि हे भगवान्, तुम तो हमारे हृदयमें बैठे हो, हमारे अन्तर्यामी हो, हमारे प्रकाशक हो, अब हम जरा विलायत जाते हैं। अब गया महाराज और गया वहाँ तो देखता है कि परमात्मा वहाँ पहलेसे ही मौजूद हैं। बोला—महाराज, नमस्कार, नमस्कार, नमस्कार! आप कब पधार गये? बोले

परमात्मा कि मैं तुमसे पहले ही यहाँ पहुँच गया। देखो, आत्मा यहाँ भी है और वहाँ भी है—'आसीनो दूरं व्रजति'। तो कहो कि वह ट्रेनसे गया, प्लेनसे गया? कैसे गया परमात्मा वहाँ? कि जैसे आकाशको जाना नहीं पड़ता वहाँ पहलेसे मौजूद है। ऐसे ही परमात्मा पहलेसे ही सब जगह मौजूद है—**आसीनो दूरं व्रजति**।

देखो, हमारी आँख चली गयी। कहाँ, कि सड़कपर। अब कोई आर्य समाजी सज्जन थे, वे हमारे सामने आकर खड़े हो गये और शीशा दिखाने लगे हमको। बोले कि क्यों झूठ बोलते हो? क्या हमारी आँख सड़कपर चली गयी? यह देखो, शीशेमें कि तुम्हारी आँख तो जहाँ-की-तहाँ है। तो आँख चलकर तो नहीं गयी न सड़कपर—**आसीनो दूरं व्रजति**—अपनी जगहपर रहकर ही तो सड़कको देखती है।

अच्छा, देखो—आपके कैमरेने क्या कमाल किया, चन्द्रमाका फोटो ले लिया, सूर्यका फोटो ले लिया। तो क्या कैमरा चन्द्रलोकमें गया था, सूर्यलोकमें गया था? कैमरा अपनी जगहपर रहकर ही तो फोटो लेता है न! तो असलमें ये आत्मदेव ज्यों-के-त्यों अपनी जगहपर रहते हैं, आँखकी शकलें बदलती हैं, मनकी शकलें बदलती हैं और मनमें, आँखमें होनेके कारण उनकी सब स्थितियोंको ये अपनी समझते हैं। तो, मनमें जो गतिका भान है, नेत्रमें जो गतिका भान है, नासिकामें जो गतिका भान है, उन सबको यह आत्मा अपनी गति मानता है। अरे भाई क्या नाक गुलाबकी गन्धमें चली गयी? आप सच जानते ही हैं कि नाक तो कहीं जाती-आती नहीं, जहाँ है वहीं रहती है, नाक चली जाये कहीं तो कट-पिट जाये, नाक तो जहाँ-की-तहाँ रहती है—गन्धकी ओर वृत्तिका खिंच जाना ही नाकका जाना है। तो दूरं व्रजतिका अर्थ यह कि ये आत्मदेव अपनी जगहपर बैठे हैं और वृत्ति खिंचती रहती है—यह वृत्ति खींच गयी, यह वृत्ति खींच गयी, यह वृत्ति खींच गयी।

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः।

शयानो याति सर्वतः—जब इन्द्रियाँ सो जाती हैं—आँख सो जाती है, नाक सो जाती है, कान सो जाता है, जीभ सो जाती है, त्वचा सो जाती है, मन सो जाता है तब ये आत्मदेव इन-इन इन्द्रियोंसे तादात्म्य—आने-जानेका जो तादात्म्य है सो छोड़ देते हैं। इसको बोलते हैं 'शयानः'—माने सो जाते हैं। तब यह सामान्य ज्ञानसे एक हो गये—ज्ञान है परन्तु किसी विशेष आकारमें नहीं है। उस समय यह सामान्य विज्ञान होनेसे सर्वव्यापी है—न शब्द है, न स्पर्श है, न रूप है, न रस है, न गन्ध है, न इनका भाव है, न अभाव है।

आजकल तो विद्या वह पढ़ते हैं कि जिससे डॉक्टर बनें, इञ्जीनियर बनें, व्यापारी बनें; क्योंकि पैसा तो उसीमें मिलता है। लेकिन यह संस्कृत-भाषा जो पढ़ते हैं, उनको जैसे हिन्दीमें पहली किताब, दूसरी किताब पढ़ाई जाती है ऐसे संस्कृतकी जो पहली किताब पढ़ायी जाती है, दूसरी किताब पढ़ायी जाती है उसमें यह बातें पढ़ायी जाती हैं। तर्क-संग्रह पढ़ो तो माने बच्चोंकी किताब पढ़ो; वेदान्त-परिभाषा पढ़ो; अर्थ-संग्रह पढ़ो—ये छोटी-छोटी किताबें हैं। हमको क्यों यह बात याद आयी कि एक बार हम काशी-विश्वविद्यालय जा रहे थे, वहाँ कोई शास्त्रार्थ होनेवाला था। तो एक पण्डित राजेश्वर शास्त्री हैं—बहुत बड़े विद्वान हैं, उनको पण्डितराज बोलते हैं। तो वे बैठे थे इक्केपर और एक ग्यारह वर्षका बच्चा भी उनके साथ बैठा था, वे लोग बातचीत करते जा रहे थे और मैं उसी इक्केपर बैठा था तो सुनता जा रहा था। उस बच्चेसे पंडितराजने पूछा—बेटा, शास्त्रार्थमें बोलेगा? बच्चा बोला कि हाँ, हम शास्त्रार्थ करेंगे—संस्कृतमें ही बोला। कि अच्छा, तो हमारे एक प्रश्नका उत्तर दो। बोला—कि पूछें। उन्होंने पूछा कि अच्छा बताओ, सुषुप्तिकालमें ज्ञानका अभाव होता है कि नहीं? तो बच्चेने कहा कि हाँ, ज्ञान-अभाव हो जाता है। पण्डितराजने फिर पूछा कि अच्छा बेटा, जब ज्ञानका अभाव सुषुप्तिमें हो जाता है, तो अब सुषुप्तिकी याद कैसे आती है? अगर सुषुप्तिका ज्ञान हुआ ही नहीं तो उसकी याद कैसे आवेगी? तो वह बच्चा बोला कि चाचाजी, मैं ज्ञानका अभाव जो बोलता हूँ उसका अभिप्राय अत्यन्ताभावसे नहीं है, विशेषाभावसे है; उस समय ज्ञान-विशेषका अभाव हो जाता है; ज्ञान-विशेषका माने—शब्द-ज्ञान, रूप-ज्ञान, स्पर्श-ज्ञान—यह जो अलग-अलग चीजोंका अलग-अलग ज्ञान जाग्रत्-दशामें होता है,इसका अभाव हो जाता है, ज्ञान-सामान्यका अभाव सुषुप्तिमें नहीं होता, ज्ञान-विनाशका अभाव सुषुप्तिमें होता है। पण्डितराज बोले—शाबास बेटे, चल तुमको शास्त्रार्थमें बैठावेंगे।—यह अक्कल आनी चाहिए—विचारमें अक्कलकी जरूरत पड़ती है। जहाँ कोई अड़चन आती है वहाँ बुद्धि नया मार्ग निकालती है, उसको प्रतिभा बोलते हैं—**नव नवोन्मेष शालिनी प्रतिभा।**

अब देखो, सुषुप्तिकालमें ज्ञान-विशेष नहीं रहता, ज्ञान-सामान्य रहता है। न्यायका विद्यार्थी था, जाकर न्याय-शास्त्रमें शास्त्रार्थ करनेके लिए बैठ गया, ललकार दिया लोगोंको—आजाओ, हमसे कर लो शास्त्रार्थ। यह हमारे साथ जो स्वामी प्रज्ञानानन्दजी हैं, वृन्दावनमें रहते हैं, ये काशीके ही गौड़-ब्राह्मण हैं, इनको संहिता याद थी, माने बचपनमें जब ये पढ़ते थे तब वेदकी पूरी संहिता इनको

कण्ठस्थ थी; तो ललकार देते थे कि आवो कोई हमारे साथ पाठ करो—जरा-पाठ करो, फटाफट-पाठ करो कोई!

तो सुषुप्तिमें ज्ञानका अभाव नहीं होता, ज्ञान-विशेषका अभाव होता है—माने यह स्त्री है, यह पुरुष है, यह शरीर है, यह मकान है, यह धन है—ये अलग-अलग चीजें जो भासती हैं वे सब नहीं भासतीं, परन्तु, ज्ञान रहता है। ज्ञान न रहे तो उठनेपर किसीको सुषुप्तिकी याद ही न आवे। वह ज्ञान क्या है? बोले—**शयानो याति सर्वतः**—वह विशेष-रूप न होने के कारण सर्वव्यापी है। कि भाई, वह आनन्द-रूप है कि नहीं है? वह ज्ञान-रूप है कि नहीं है? तो कहते हैं—**कस्तं मदामदं देवं**। देखो, संसारका जो आनन्द है वह उसमें नहीं है और वह स्वयं आनन्द-स्वरूप है।

भाष्यमें इसका जो अर्थ है सो ठीक है और मैं स्वयं जो अर्थ कर रहा हूँ उसको ध्यानमें लो। **कस्तं मदामदं देवं**—आनन्द दो तरहका होता है, एक विषयके साथ सम्बन्ध करनेपर होता है और एक बिना विषयके सम्बन्धके होता है। देखो, भोगियोंको आनन्द होता है कि हमारे पास कितनी बढ़िया मोटर है? उनको यह आनन्द होता है कि हमारी पत्नी कितनी सुन्दर है; हमारा बैंक-बैलेन्स कितना है; तो कुछ होवे तो मजा आवे—हम केवल समझानेके लिए यह बात कहते हैं—हमारी नाक कितनी बढ़िया है—शीशेमें देख-देखकर मुग्ध हो रहे हैं, हमारे बाल कैसे घुँघराले हैं, हमारी चमड़ी कितनी चिकनी है—तो, यह कुछ है तब अपनेमें बड़प्पनका ख्याल होता है, मद होता है, आनन्द आता है। एक सौ छब्बीस प्रकारके मद होते हैं, उसमें एक मद इस बातका भी होता है कि हमारी पत्नी सबसे सुन्दर है—शास्त्रमें ऐसा लिखा है। भाव-प्रकाश—एक ग्रन्थ है शारदातनयका लिखा हुआ—उसमें यह लिखा है कि लोगोंको इस बातका भी मद होता है कि हमारी पत्नी सबसे सुन्दर है; और एक मद वह होता है जो बाहरकी वस्तु होनेके कारण अपनेमें नशा-सा आ जाता है कि हमको क्या समझते हो और एक नशा वह होता है कि जब चाहे तब फटकार दिया; जब लँगोटी-कमण्डलु अपने पास है तब क्या होती है दुनिया? देखा, साधुका मद है हमारे पास कुछ नहीं है, हमारे बराबर और कौन साधु है। यह त्यागका मद है।

तो, एक त्यागका मद होता है और एक संग्रहका मद होता है और एक विद्याका भी मद होता है। तो ये आत्मदेव जो हैं इनमें त्याग और संग्रहका मद जैसा होता है वैसा नहीं है; इसलिए तो वे अमद हैं। मद होता है जब भाँग पीते हैं, गाँजा पीते हैं, अफीम खाते हैं, शराब पीते हैं। यह उधार मजा लेकरके माने बाहरका

मजा अपने शरीरके भीतर घुसेड़ करके तब कहते हैं कि हम मजावाले। मद काहेका? कि रुपयेका मद है। एक आदमीको हमने पच्चीस-तीस वर्ष पहले भी देखा—बिलकुल सरल था; और पाँच-दस वर्ष पहले भी देखा—वह एक आँखसे तो बिलकुल आसमान ही देखता था, दोनों आँखसे सीधा नहीं देखता था—एक आँख बिलकुल आसमानपर रखता था, धरतीपर नहीं रखता और अब करोड़पति है जब पच्चीस हजार रुपये थे तब भी देखा और जब करोड़पति हो गया तब भी देखा—अब नोटके बल पर अपने बराबर किसीको नहीं समझता, हे भगवान्!

तो यह उधार लिया हुआ नशा होता है एक। परमात्मा कैसा है? कि उसको उधारका नशा नहीं है—अमदं। मद माने हर्ष। सृष्टि-सृष्टि बने, चाहे सृष्टि रहे, चाहे उजड़े उसको इसका कोई नशा नहीं, उसको कोई आवेश, कोई अभिनिवेश सृष्टिका नहीं है।

तब बोले कि उसमें कोई मद है ही नहीं? कि है मद उसमें, पर उधार लिया हुआ नहीं है, स्वरूप-मद है—ऐसा नशा है जो कभी चढ़ा नहीं, जो कभी उतरता नहीं, जो कभी किसीसे उधार लिया गया नहीं, जो सारी सृष्टि उसमें आवे तो समा जाये और न आवे तो उसकी जरूरत न मालूम पड़े। **कस्तं मदामदं देवं।**

वाचस्पति मिश्रने परमेश्वरका क्या बढ़िया वर्णन किया! है तो वह ब्रह्मका वर्णन परन्तु ऐसा वर्णन करते हैं कि जैसे कोई व्यक्ति सो रहा हो। बोले, आदमी जब सो जाता है तब थोड़ी घर्घराहट होती है न, तो बोले कि ये वेद क्या हैं कि परमात्मा जब नींद लेता है तब उसकी साँसकी जो घर्घराहट है उसका नाम वेद है। बोले कि घर्घराहटमें-से कहीं अर्थ निकलता है भला? तो बोले कि अर्थकी तो लोग कल्पना करते हैं—कोई साँस थोड़े ही बताती है कि हमारा यह अर्थ है।

हमने एक आदमीको ऐसे भी साँस लेते देखा है बिलकुल नींदमें कि उसमें अर्थ भी स्पष्ट था। एक दिन कोई ऐसा प्रसंग पड़ा कि अपने यहाँ बहुत सत्संगी मेहमान आ गये थे तो खाट जितनी थी सब खत्म हो गयीं, तब मैंने उससे कहा कि आओ, तुम हमारे साथ हमारी ही खाटपर सो जाओ; वह सो गया। इन लोगोंने उसको देखा था, कायस्थ था, चन्द्रशेखर उसका नाम था, अभी पिछले साल उसकी मृत्यु हो गयी है। तो जब वह नींदमें आ गया तो उसकी नाकसे जो साँस निकलती थी उसमें ॐ नमः शिवाय, ॐ नमः शिवाय, ॐ नमः शिवाय,—साँसमें-से साफ आवाज निकलती थी।

हमारे एक मित्र हमारे दरवाजेके सामने घोड़े परसे गिर गये। आये थे जाँच करनेके लिए। यह बात करीब सन् ३०-३१ की होगी; कांग्रेसके गाँधीजीके कहनेसे दरवाजोंपर जो सरकारी नम्बर डाले गये थे वे मिटा दिये थे, और जिन-जिनने मिटाया था उनको सजा होनी थी; तो एक डिप्टी कलक्टर और हमारे मित्र दोनों आये जाँच करने और हमसे पूछ रहे थे कि नम्बर किसने मिटाया, कब मिटाया आदि। इसी बीचमें उनका घोड़ा खड़ा हो गया और वे गिरकर बेहोश हो गये; छह घण्टे बेहोश रहे। छह घण्टेकी बेहोशीमें मैं लगातार उनके पास बैठा था, बीच-बीचमें लेटे-लेटे उनका समूचा शरीर ऊपरको उठ जाता था—उछलते थे वे—और उनके मुँहसे निकलता था—हरि ॐ तत्सत्; हरि ॐ तत्सत्। अरे बाबा, अभ्यास बनाना हो तो ऐसा बनाओ।

तो साँसकी घर्घराहटका नाम वेद है, तो अपनी घर्घराहट सुनकरके परमात्माकी आँख खुल गयी तो उसने देखा कि पाँचों भूत सामने खड़े हैं। फिर हँसी आ गयी, और जब हँस दिया तब इतने प्राणी सब-के-सब बन गये और फिर मनमें आया कि यह क्या तमाशा है, सो जाओ आरामसे, और फिर आँख बन्द करली, तो सृष्टि मिट गयी। नाककी घर्घराहटका नाम वेद, आँख खुलनेका नाम पंचभूत, मुस्कुराहटका नाम चौरासी लाख योनियाँ और आँख बन्द कर लेनेका नाम प्रलय। यह परमेश्वरका वर्णन है व्यक्तिविशेषका वर्णन नहीं है।

तो परमात्माका स्मित और परमात्माका अस्मित क्या है? कि मुस्कानमें ही सृष्टि बनती है। **कस्तं मदामदं देवं**—देव माने स्वयंप्रकाश। अब देखो, विष्णुकाञ्चीमें एक त्रिविक्रमका मन्दिर है। वहाँ इतनी बड़ी मूर्त्ति है भगवान्की कि ऐसे नहीं दीखती है; मशाल जलाकर बाँसमें बाँधकर ऊपर उठाकर दिखावें तब ऊपरवाला मुँह दीखता है! इतनी बड़ी, इतनी लम्बी मूर्त्ति है। तो आओ परमात्माका दर्शन करने चलें। तो क्या कोई मशाल लेकर चलना पड़ेगा कि नहीं, लालटेन, टार्च, मशाल, कुछ आवश्यक नहीं; क्योंकि देवम् है—देवम्का अर्थ है स्वयंप्रकाश। माने उसको देखनेके लिए किसी रोशनीकी जरूरत नहीं चाहिए—न आँखकी, न कानकी, न जीभकी, न त्वचाकी, न मनकी, न बुद्धिकी—वह दूसरेकी रोशनीमें रौशन नहीं होता, उसीकी रोशनीसे सब रौशन होते हैं; वह दूसरेके प्रकाशमें स्वयं नहीं दीखता, उसके प्रकाशमें ही सब दीखते हैं।

यह जो जिज्ञासुको परमात्माका दर्शन जल्दी नहीं होता, इसका कारण क्या है? इसका कारण यह है कि बहुत लोग तो अपनी आँखकी रोशनीमें ही

परमात्माको देखना चाहते हैं, कई लोग दीया जलाकर देखना चाहते हैं, कई लोग मनकी रोशनीमें भगवान्को देखना चाहते हैं। अरे बाबा, जिसकी रोशनीमें मन दीख रहा है उसको तो देखो। अपनेको भी तो देखो। मदामदंका अर्थ है—जो है तो मद-स्वरूप, आनन्दस्वरूप; परन्तु जिसका मद, जिसका आनन्द उधार लिया हुआ नहीं है। वह ऐसा आनन्द-स्वरूप है कि—

यस्य आनन्दस्य मात्राम् उपजीवन्ति—सृष्टिके सब प्राणी जिसके आनन्दकी एक मात्रा लेकरके उज्जीवित हो रहे हैं, जिसके ज्ञानकी एक मात्राके प्रकाशसे सब प्रकाशित हो रहे हैं।

अब जरा छाती ठोककर यमराज बात कहते हैं—क्या? कि ऐसा जो परमात्मा है स्वयंप्रकाश-स्वयं सत्, स्वयं चित्, स्वयं आनन्द—जिसकी सत्तामें आकार नहीं है, जिसका ज्ञान किसी ज्ञानसे प्रकाशित नहीं है, जिसका आनन्द विषयापेक्ष नहीं है—ऐसा जो स्वयं सत्, स्वयं चित्, स्वयंआनन्द-एकरस निर्विकार वस्तु है, प्रत्यक्‌चैतन्य अपना आत्मा; उसको जाननेवाला मेरे सिवा और कौन है? मदन्यो ज्ञातुमर्हति। मेरे सिवाय कौन उसको जान सकता है? आप सब लोग इसको अपने मनमें बोलो–**कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति।**

मैं ही मैंको जान सकता हूँ, मेरे सिवाय मेरे मैंको और कौन जानेगा? पहले मृत्यु-रूप हो जाओ, सम्पूर्ण-दृश्य-प्रपञ्चका निषेध कर दो और निषेधावधि रूपमें शेष रूपसे वर्तमान तुम यम-मृत्यु और बोलो कि मेरे सिवाय मेरे मैंको और कौन जानेगा? ऐसे स्वयंप्रकाश, स्वयंआनन्द, स्वयंसत् इस स्वयंप्रकाश परमात्मदेवको मेरे सिवाय और कौन जानेगा?

अच्छा, अब छोटी बात सुनाते हैं। बोले भाई, जो अपनेको ब्रह्म जान लेता है वह अपनेको ब्रह्म नहीं कहता है। तब वह क्या अपनेको कीड़ा कहता है? एक महात्मासे किसीने कहा कि तुम अपनेको ब्रह्म क्यों कहते हो? तो उन्होंने कहा कि तुम अपनेको मनुष्य क्यों कहते हो? तो बोला कि हम मनुष्य हैं इसलिए अपनेको मनुष्य कहते हैं। महात्मा बोले कि हम ब्रह्म हैं इसलिए हम अपनेको ब्रह्म कहते हैं। बोला—तुम ब्रह्म कैसे हो, तुम तो जीव हो? बोले कि तुम मनुष्य कैसे हो, तुम तो हिन्दू हो? बोला—हिन्दू-भाव तो मनुष्यमें कल्पित है। बोले कि जीव-भाव ब्रह्ममें कल्पित है। ब्राह्मण मनुष्य है कि नहीं? हिन्दू मनुष्य है कि नहीं? आप यह देखो कि जैसे मनुष्य अपनेको मनुष्य जानता है, अपनेको मनुष्य कहता है, वैसे ही जो अपनेको ब्रह्म जानता है वह अपनेको ब्रह्म कहता है।

देखो, ज्ञानी नहीं होता है, ब्रह्म होता है। एक बार अज्ञान जो निवृत्त हो गया तो अहं ब्रह्मास्मिका जो प्रयोजन था वह पूरा हो गया। ज्ञान-अज्ञान दोनों ही कट गये। जैसे जिसमें अज्ञान कल्पित था बिना हुए ही, वैसे ही उसीमें ज्ञान कल्पित हुआ बिना हुए ही और अनहुए वही आत्मा है। अज्ञानको अनहुए ज्ञानने काट दिया और दोनोंका प्रकाशक ज्ञान अवशिष्ट रह गया। वही स्वयं प्रकाश ज्ञान तुम हो। वही आत्मा है।

ऐसे कल्पना करो कि एक आदमी डण्डा लेकर दौड़ा। पूछा—कि यह क्या करते हो तुम?

बोला—नहीं जानते हो, पीपलमें जो रहता है वह भूत हम हैं। हम तो तुम्हें मारनेके लिए आये हैं—हम पीपलके भूत हैं।

दूसरा आदमी पहले तो घबड़ाया, लेकिन बादमें उसने क्या किया कि पीछेसे एक पत्थर उठा लिया और बोला कि मैं हनुमान हूँ, आज मैं तुम्हारा सिर चकनाचूर करके छोड़ूँगा।

अब उधरसे आया भूत और इधरसे आये हनुमान। हनुमानजी तगड़े पड़े, तो भूत भाग गया और बोलने लगा—मुझे माफ कर दो महाराज! पूछा—कहाँ है भूत? बोला—भूत तो भाग गया। तो दूसरा आदमी बोला कि लो हनुमानजी भी जाते हैं। तो वह तो भूतको भगानेके लिए हनुमानजी आये थे—असलमें तो न भूत आया था, न हनुमानजी आये थे, वह तो दोनों भावावेश था। इसी प्रकार यह अज्ञान जो है सो भूत है और ज्ञान जो है सो हनुमान है और ये दोनों भावावेश ही हैं, भला! यह ज्ञान अज्ञानको दूर करके स्वयं भी साफ! और परब्रह्म परमात्मा ज्यों-का-त्यों।

वस्तु मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति—यमराजने कहा कि मेरे सिवाय और कोई ऐसा नहीं है जो स्थिति और गति, नित्य और अनित्य आदि परस्पर-विरुद्ध अनेक धर्मोंकी उपाधियोंमें तत्-तत् उपाधिवान् भासनेवाले विरुद्ध-धर्मवान् भासनेवाले आत्माको जाने। **विश्वरूप इव चिन्तामणिवत् अवभासते**—जैसे चिन्तामणिसे यदि कहो कि हमको सोना चाहिए तो सोनेका खजाना मालूम पड़ेगा, उठा लो सोना और वह चिन्तामणि ज्यों-की-त्यों, यदि कहो कि हमको चाँदी चाहिए, हीरा चाहिए—तो चाँदी ले लो, हीरे ले लो चिन्तामणिसे और चिन्तामणि ज्यों-की-त्यों इसी प्रकार यह परमात्मा तत्-तत् वासनाके अनुरूप, तत्-तत् उपाधिके अनुरूप सम्पूर्ण विश्वके रूपमें भास रहा है परन्तु है यह बिलकुल ज्यों-का-त्यों चिन्तामणि!

शङ्कराचार्य भगवान्ने यहाँ चिन्तामणि शब्दका प्रयोग किया है—

चिन्तामणिवत् और श्रीवल्लभाचार्य जी महाराज तो चिन्तामणि शब्दका प्रयोग करते-ही-करते हैं। वल्लभ-सम्प्रदायके ग्रन्थोंमें चिन्तामणि शब्दका प्रयोग ऐसे है जैसे वेदान्तियोंमें रज्जु और सर्प चलता है। जैसे अद्वैत सम्प्रदायमें जब देखो तब रज्जु और सर्प, वैसे श्रीवल्लभ सम्प्रदायमें चिन्तामणिवत्, कामधेनुवत्, कल्पवृक्षवत् पौराणिक अधिकृत पदार्थोंके दृष्टान्त चलते हैं। उन दृष्टान्तोंको वे ग्रहण करते हैं और उन दृष्टान्तोंको श्रीशङ्कराचार्य भगवान्‌ने भी यहाँ ग्रहण किया है —**विश्वरूप इव चिन्तामणिवत् अवभासते**—जैसे चिन्तामणि तत्त मनोरथकी कामनासे उसको पूर्ण करनेवाला, उसका कारण बनकरके भासता है, इसी प्रकार तत् वासना और तत् स्थिति-गति-नित्य-अनित्य आदि विरुद्ध उपाधियोंके कारण वही परमात्मा विश्वरूप सरीखा मालूम पड़ रहा है! उस परमात्माको मेरे सिवाय और कौन जानेगा कि वह कैसा है! जान लोगे तो सारा लोक मिट जायेगा—

अशरीरः शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ २२॥

आत्मज्ञान दुःख मिटानेका रामवाण-औषध है। यदि तुम चाहो कि मरा हुआ आदमी लौट आवे तो नहीं लौट सकता—दुःख मिटानेका उपाय मरे हुए आदमीका लौटना नहीं है, इस बातको समझ जाओ, नहीं तो झूठा ही सन्तोष करना पड़ेगा। अच्छा, कहो कि दूसरा हमारे अनुकूल हो जाये, तो दो संस्कारमें-से दो बीज, दो मन निकले, अगर तुम यह समझते हो कि तुम्हारा जम्बूरा बनकर दुनियामें कोई रहेगा तब हम सुखी होंगे तो वह पैसासे खरीदा हुआ जम्बूरा भी जबतक उसका स्वार्थ सिद्ध होगा तबतक ही तुम्हारा जम्बूरा रहेगा! स्वातन्त्र्यसे तुमको अपने जीवनका विकास करना पड़ेगा। अच्छा भाई, कि जो है सो बिछुड़ने न पावे—कि यह नहीं हो सकता, जो है सो बिछड़ेगा, जो तुम्हारे अनुकूल है वह कभी प्रतिकूल भी होगा, जो मर गया वह लौटकर नहीं आयेगा, और जो तुम चाहते हो वही हमेशा नहीं होगा—यह तो ईश्वरका संकल्प ऐसा होता है, किसी व्यक्तिका नहीं तो ऐसी-ऐसी बातोंको मानना कि मरा हुआ लौट आवे, सामनेवाला हमसे बेवफा न होवे, सामनेवाला हमारा जम्बूरा होकर रहे—यह दुनियामें सुखी होनेका मार्ग नहीं है, दुःखी होनेका मार्ग है। सुखी होनेका मार्ग यह है कि अपने हृदयमें जो परमेश्वर है अपना-आपा उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, उसके स्वरूपको जानना चाहिए।

❖

अध्याय-१ वल्ली-२ मंत्र-२२

अशरीरꣳ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम्।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥ १.२.२२

अर्थ :—सब शरीरोंमें जो एक अशरीर है और विनाशियोंमें जो एक अविनाशी है, उस महान और विभु आत्माको जानकर धीर पुरुष शोक नहीं करता।

चिन्तामणि जैसे निर्विकार रहता है—लड्डू माँगो तो लड्डू दे, रोटी माँगो तो रोटी दे, नोट माँगों तो नोट दे; परन्तु स्वयं उसमें कोई परिवर्तन नहीं होता है, ज्यों-का-त्यों रहता है, इसी प्रकार परमात्मामें बिना कोई परिवर्तन हुए, बिना कोई विवर्तन हुए, उसीमें यह सम्पूर्ण प्रपञ्च प्रतीत हो रहा है—**विश्वरूप इव चिन्तामणिवत् अवभासते**—इसमें कोई दो मणि हैं—एक विश्वरूप मणि है और एक चिन्तामणि और परमात्मा दोनोंके समान प्रकाशित हो रहा है, ऐसी व्याख्या न करके **चिन्तामणिवत् विश्वरूप इव अवभासते**। यह परमात्मा महाराज एक जगह बैठा रहता है—बिलकुल स्थिर, और दूर-दूर तक यही है, क्योंकि इन्द्रियोंके विशेष ज्ञानका, छोटा-या-बड़ा होनेका इसपर कोई प्रभाव नहीं है, और **शयानो याति सर्वतः**—जिस समय सम्पूर्ण इन्द्रियाँ सो जाती हैं उस समय भी देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छन्न ये आत्मदेव ही जागत् रहते हैं।

अब जरा साधना-साध्यकी चर्चा विशेष रूपसे और प्रारम्भ करते हैं, क्योंकि अब अगले मन्त्रोंमें फलका भी वर्णन है और साधनका भी वर्णन है। वे कहते हैं कि ये जितने शरीर है इनमें एक शरीर-रहित वस्तु है। देखो, बल्ब हजार जल रहे हों—कोई लाल, कोई हरा, कोई पीला पर बिजली सबमें एक है। एक ही बिजली कहीं पंखा चला रही है, कहीं ठण्डा कर रही है, कहीं गर्म कर रही है और कहीं रोशनी दे रही है, कहीं आवाजको पकड़ रही है और कहीं आवाजको बढ़ा रही है। जहाँ आवाजको दे रही है तो वहाँ मुँह हो गयी और जहाँ आवाजको

पकड़ रही है वहाँ कान हो गयी। तो बिजली कहीं कान बन गयी, कहीं मुँह बन गयी—लेकिन यह सब क्रिया बिजलीमें नहीं है, यन्त्रमें है, मशीनमें है; और ये सब शकल-सूरत बिजलीमें नहीं हैं, मशीनमें है। यह जो बल्बमें सफेद-सफेद रोशनी दीखती है यह भी रंगीन है और यह जो रंगीन रोशनी दीखती है यह रंगीनी भी बिजलीमें नहीं है। जो बैटरीमें पैदा होती हैं वह बिजली नहीं है जो पावर-हाउसमें बिजली बनती है उसका नाम बिजली नहीं है; बिजली नामका एक तत्त्व है जो सारी सृष्टिमें व्यापक है, वही तत्त्व शक्तिके रूपमें प्रकट होता है। जैसे पंखेसे हवा पैदा नहीं होती है कमरेमें जो हवा है वही हवा पंखा हिलानेसे लगती है, पंखा हवाको बनाता नहीं है, मौजूद हवाका ही स्पर्श करा देता है; इसी प्रकार पावर-हाउसमें बिजली बनती नहीं है पहलेसे मौजूद जो बिजली है पानीमें, गतिमें, हवामें उसको यन्त्रों द्वारा प्रकट कर लेते हैं काम करनेके लिए। दियासलाईकी सींकमें आग डाली नहीं जाती है, पहलेसे जो आग रहती है वह प्रकट हो जाती है। मैंने देखा, सिगरेट पीनेके लिए किसीके पास एक लाईटर था, तो उसमें हर समय आग भरी नहीं रहती है, वह तो संघर्षसे आग प्रकट हो जाती है। आग तो उसमें पहलेसे ही मौजूद रहती है। अच्छा, ये लोग जो रोते हैं न, वे कोई तुरन्त कोई घटना घटित होनेसे नहीं रोते हैं, उनके दिलमें रोना भरा रहता है जो मौका मिलनेपर जाहिर हो जाता है और जो लोग हँसते हैं ये कोई प्रसंग आनेपर हँसते हों सो बात नहीं, वह तो हँसी भीतर भरी रहती है जो मौका आनेपर फूट पड़ती है। आदमी बोलता क्या है कि कोई जबान गढ़ता थोड़ी है, आवाज जोकि पहलेसे मौजूद रहती है सो जाहिर हो जाती है।

तो यह जो आत्मदेव हैं परब्रह्म परमात्मा ये सबके शरीरमें पहलेसे मौजूद हैं—न वे पंखा हैं, न वे बल्ब, न वे लाउड-स्पीकर हैं न वे टेप-रेकार्डर—ये तो सब मशीन हैं; न वे हीटर हैं, न वे रेफ्रिजरेटर; ये सब मशीनें अलग-अलग हैं। साँप एक यन्त्र है, विच्छू एक यन्त्र है, मनुष्यका शरीर एक यन्त्र है, पशुका शरीर एक यन्त्र है, स्त्रीका शरीर एक यन्त्र है। ये यन्त्र कैसे हैं कि ये टूटने-फूटनेवाले यन्त्र हैं।

शरीरेषु—देखो इस शब्दमें धात्वर्थ बताता है कि टूटने-फूटनेवाला है—**शीर्यते इति शरीरम्।** जरा खून आना हाथमें बन्द हो जाय, हाथ लटक जायेगा, जरा कण्ट्रोल टूट जाय, लटक जायेगा। देखो, लोगोंका हाथ-पाँव लटका रह जाता है, मशीन ही तो है। मैंने कपड़ेकी मिलमें देखा कि कपड़ा बनता जा रहा है, बनता जा

रहा है, उसमें से यदि एक धागा टूट गया तो सब मशीनोंका चलना बन्द हो गया। यह जब हमको सेठ पद्मपत दिखा रहे थे कि कपड़ा कैसे बनता है, तो एक सूत उन्होंने अपने हाथसे पकड़कर तोड़ दिया—एक सूत टूटा और सारी मशीनें बन्द, और फिर जबतक वह सूत जोड़ा नहीं जायेगा तबतक मशीन फिर नहीं चलेगी। इसका मतलब है कि बीचमें कपड़ा बिगड़ नहीं सकता।

तो यह जो हमलोगोंका शरीररूपी वस्त्र है—आप तो जानते ही हो, बहुत बढ़िया वस्त्र है, श्रीकृष्ण भगवान्‌ने गीतामें शरीरको **वासांसि** कपड़ा ही बताया है। कपड़ेके लिए दिल नहीं बिगाड़ना हो! दिल ज्यादा कीमती चीज है, कपड़ा कम कीमती चीज है। पर, आजकल तो महाराज! दिल बिगड़े तो बिगड़ जाय, कपड़ा न बिगड़ने पाये। लोग कपड़ेका ख्याल ज्यादा रखते हैं। अगर पोशाकसे 'मैच' करता हुआ जूता न मिले तो नारायण कलेजा ही 'मैच' नहीं करता है, दिल 'मैच' नहीं करता है। तो अपने शरीरका धातु अर्थ क्या है कि सूख जानेवाला—जैसे पीपलका पत्ता सूख जाता है, घरमें कोई पौधा होता है सो सूख जाता है वैसे ही जो अन्तमें सूख जाय उसको कहते हैं शरीर। **यत् शीर्यते तत् शरीरम्**—जो शीर्ण हो जाय, सूख जाय, सड़ जाय, बिगड़ जाय, उसका नाम शरीर; और **शरीरेषु**—यह बहुवचन है। शरीर नष्ट हो जाता है, आत्मा नष्ट नहीं होता और शरीरेषुमें बहुवचन कहता है कि शरीर बहुतसे होते हैं और आत्मा एक होता है। शरीर चाहे जन्मे, चाहे मरे आत्मा अमर है; क्योंकि वह अशरीर है, वह स्वयं शरीरसे रहित है। आदमीको यह ख्याल ही नहीं आता कि हम शरीरसे विलक्षण हैं।

इसमें एक बहुत बड़ा सिद्धान्त प्रकट किया गया। शरीरेषुको आप दो तरहसे लो—(१) एक तो अनादि कालसे अबतक कितने शरीर पकड़े हैं और कितने छोड़ दिये हैं—नहीं बता सकते। जैसे हमको यदि याद करना पड़े कि अबतक हमारे पास कितने चेले आये और कितने गये तो हम ध्यान लगाकर भी सबकी याद नहीं कर सकते। ऐसे ही यह शरीररूप चेला कितनी बार किस रूपमें आया, नहीं कह सकते। यह शरीर चेला ही है, बढ़िया चेला इसलिए है कि हाथसे कहते हैं कि बेटा, छातीपर आ जा तो आ जाता है, सिर खुजला दे तो सिर खुजला देता है; पाँवसे कहते हैं कि चल तो चलता है, कहते हैं फैल जा तो फैलता है और कहते हैं सिमट जा तो सिमट जाता है—सबसे बढ़िया चेला तो यही है न जो हुकुम मानता है, जो हुकुम नहीं माने वह काहेका चेला, वह तो चैला है। एक चेला और एक चैला उसको कहते हैं जो जलानेकी लकड़ी होती है और संस्कृत-भाषामें

कपड़ेको भी चैल बोलते हैं, जैसे कुचैल। लक्ष्मीको गन्दा कपड़ा पसन्द नहीं है। वृन्दावनमें एक पण्डित तुलसीरामजी थे। वे यह श्लोक बोलते थे—

कुचैलिनं दन्तमलोपधारिणं बह्वाशिनं निष्ठुरभाषिणं च।
सूर्योदये चास्तमिते च शायिनं विमुञ्चति श्रीरपि चक्रपाणिम्॥

जो गन्दा कपड़ा पहनता है, दाँत साफ नहीं करता, खाता ज्यादा है, कटु बोलता है और सूर्योदय और सूर्यास्तके समय सोता है, ऐसे पुरुषको लक्ष्मी छोड़कर चली जाती हैं; अगर विष्णु भगवान् भी ऐसा करने लगें कि गन्दा कपड़ा पहनें और दाँत साफ नहीं करें, मुँहसे दुर्गन्ध निकले तो लक्ष्मी विष्णु भगवान्को भी छोड़ सकती हैं, औरोंकी तो बात ही क्या?

तो यह शरीर जो है इसमें तुम अशरीर हो। इसमें-से एक सिद्धान्त निकलता है—

आभिमानिकमेव सशरीरत्वम्—यह जो हम अपनेको शरीरवाला मानते हैं, यह केवल अभिमान है—माने झूठा ही अभिमान है। तो अभिमान ऐसा होता है कि एक सेठ रहता है हिन्दुस्तानमें और उसकी सम्पत्ति रहती है विदेशमें, लेकिन वह अपनेको करोड़पति मानता है कि नहीं? सम्पत्ति है विलायतमें या सम्पत्ति है बैंकमें, और तुम हो यहाँ सम्पत्तिवान्। सम्पत्ति तो कभी किसीके घरमें भी रख आते हैं और ये ब्लैक-मार्केटवाले तो बादमें कभी-कभी ऐसा रोते हैं ***चोर नारि जिमि प्रगट न रोई।*** अपने किसी रिश्तेदारके घरमें सम्पत्ति रख देते हैं जो बादमें मनाकर देता है कि हमारे पास रखी ही नहीं थी। तो जबतक वह मना नहीं करता है तबतक उनको अभिमान रहता है कि हमारे पास इतना है—विलायतमें इतना है, बैंकमें इतना है, अमुक-अमुक दुकानमें इतना है। महीनों पहलेसे सम्पत्ति गायब हो गयी है कुछ दुःख नहीं, पर जिस दिन पता लगा रोने लगे। तो वह जो मालिकपना है वह आभिमानिक है माने चीज अपनी न होनेपर भी अपना मान करके अपनेमें बड़प्पनका ख्याल जोड़ते हैं। ऐसे ही यह जो शरीर है वह तुमने पैदा नहीं किया तो तुम्हारा कैसा? और न तुम्हारे जिलाए जीता है, न तुम्हारे रखे रहेगा—तो तुम्हारा कैसा है? तुम्हारा कुछ वश? मत होने दो काले बालको सफेद। मत टूटने दो दाँत। कान-आँखमें कीचड़ मत निकलने दो। शरीरपर जो स्वत्व है यह आभिमानिक स्वत्व ही है। जैसे गोद लिये बेटेके लिए होता है कि यह मेरा—और सस्वत्व तो नहीं है न! माने दूसरेके रज-वीर्यसे पैदा हुए बेटेके प्रति जो सम्बन्ध है वह तो धात्विक सम्बन्ध नहीं हुआ न, माल दूसरेका और मालिक तुम

बन बैठे हो भला; यह तो छिन जायेगी, रहेगी नहीं। भले ही वह उदार है, ज्यादा दिन तुम्हारे पास रहने दे।

डॉक्टर लोग कोशिश कर रहे हैं कि आदमीकी उम्र दो सौ वर्ष हो जाये, चार-सौ वर्ष हो जाये और उधर कहते हैं कि आबादी बढ़ने न पाये। वे कहते हैं कि हम तो रहें चार-सौ वर्ष जिन्दा, लेकिन अब कोई पैदा होकर पच्चीस वर्षका नौजवान न होवे—आने वाली विभूतिपर रोक लगाते हैं और ये खूसट लोग ज्यादा दिन जिन्दा रहना चाहते हैं। ये बुड्ढे लोग अपना शरीर छोड़ना ही नहीं चाहते। जवान लोग हैं कि हम तो 'प्लानिंग' करते हैं। अरे, नयी-नयी विभूतियोंको आने दो, नये गाँधी आवें, नये तिलक आवें, नये शङ्कराचार्य आवें—नयी-नयी विभूति आवें और जो मरते हैं उनको समयपर मरने दो। परन्तु इस ढंगसे डॉक्टरोंकी तो जीविका नहीं चलती है न!

तो, यह देह जो है यह शीर्ण हो रहा है, एक दिन यह बिखर जायेगा, इसकी ताकत, इसकी जीवनी-शक्ति क्षीण होती जाती है और इसमें जो स्वत्व है वह आभिमानिक है। एक चिड़िया भी देखती है—हमने अपनी आँखसे यह बात देखी है कि जिस दिन भूकम्प आनेवाला था—सन् ३९ में बड़ा-भारी भूकम्प बिहारमें आया था, हम उस दिन गाँवमें थे—एक बजे दिनमें एक चिड़िया भी पेड़पर बैठी हुई नहीं थी जिस समय भूकम्प आया, सब चिड़िया उस समय पेड़ छोड़कर आसमानमें उड़ रही थीं, उन्होंने पेड़ छोड़ दिया था, उनको ऐसा आभास मिल गया था कि जिस पेड़पर हम रहती हैं वह शायद भूकम्पके धक्केसे टूटकर गिर जायेगा और जब भूकम्प आया तब चिड़िया सब आसमानमें उड़ रही थीं, पेड़पर नहीं थीं। तो जब चिड़ियोंको यह आभास मिलता है कि हमारा घोसला गिरनेवाला है तब वे घोसला छोड़कर उड़ जाती हैं और हम यह जानते हुए भी कि जिसके अभिमानमें हम चूर हो रहे हैं वह सब नहीं रहेगा—यह चमक नहीं रहेगी, झुर्रियाँ पड़ जायेंगी, ये दाँत नहीं रहेंगे, टूट जायेंगे—अनजाने बने बैठे हैं। आप देखो, संसारमें दुश्मन कौन होता है आदमी समझता नहीं है—हमारे जीनेसे जिनके स्वातन्त्र्यमें और लाभमें कमी रहती है और हमारे मरनेपर जिनको फायदा होनेवाला होता है कि ये मर जायेंगे तो हम मालिक हो जायेंगे—वही हमको मरा चाहते हैं। तो हमारा सबसे ज्यादा दुश्मन कौन होता है? हमने बच्चोंको अपने बापके बारेमें कहते सुना है कि यह मरता नहीं है—यही दुनियाकी रीति है। आप देख लो, आप साधुको पाँच रुपया दो अथवा एक ब्राह्मणको पाँच रुपया दो तो, वह

यह सोचेगा कि यह हमारा यजमान जिन्दा रहेगा तो हमको पाँच रुपया फिर देगा और मर जायेगा तो हमको उत्तराधिकारमें तो कुछ मिलेगा नहीं। इसलिए साधु-ब्राह्मण यह नहीं सोच सकते, लेकिन बेटा यह सोच सकता है कि यह मर जायेगा तो हमको उत्तराधिकारमें सब मिल जायेगा। आप देखो, दोनोंमें फर्क है कि नहीं? एक चाहेगा कि यह जिन्दा रहे और एक चाहेगा कि इनकी आँख बन्द हो तो हम सब ले लें—यह सृष्टिकी बड़ी विलक्षण स्थिति है।

तो यह जो शरीरमें 'मैंपना' है न, यह क्या है? जैसे देखो, यह हड्डी है, यह चाम है—पञ्चभूतका बना हुआ एक स्थूल खोल है शरीर; इसमें एक शक्ति दौड़ती हैं और एक इसमें संकल्प रहता है और एक इसमें अहं रहता है—अभिमान, कर्त्तापन रहता है और एक शान्ति, भोक्तापन रहता है। तो ये पाँच इसमें कोष हैं। जैसे देखो, हाथको हिलाते हैं—तो हाथ एक स्थूल कोष है; और इसको हिलाने वाला प्राण दूसरा कोष है; हिलानेकी इच्छा तीसरा कोष है—मन; हिलानेका अभिमान चौथा कोष है कि मैंने हिलाया; और हिलानेमें सुख मिला कि तकलीफ हुई यह पाँचवा कोष है। तो ये पाँच तह हैं, पाँच परत हैं, पाँच परदे हैं और इन पाँचोंमें आत्माकी बिजली दौड़ती है। इनमें से पहले-पहलेको छोड़कर अगले-अगलेमें आओ। द्रव्यको छोड़ो, यह जो धातु है इसको छोड़ो और क्रिया-शक्तिमें आ जाओ; क्रिया-शक्तिको छोड़ो और संकल्प-शक्तिमें आ जाओ; संकल्प-शक्तिको छोड़ो और विज्ञान शक्तिमें आजाओ, विज्ञान-शक्तिको छोड़ो शान्तिमें आ जाओ और अब शान्तिको भी छोड़ दो—तुम उसके साक्षी हो।

अगर शान्तिको पकड़ोगे तो वह बहुत दुःख देगी, क्योंकि शान्ति हर समय नहीं रह सकती, वह आने-जानेवाली है, शान्ति पतिव्रता नहीं है। तो, यह अपना स्वरूप कौन है? कि पाँचों कोषोंसे रहित आत्माका शरीर माने पाँचों कोष—इनमें रहकर भी आत्मा बिना शरीरका है—वह खुद शरीर नहीं है। लेकिन अपने स्वरूपके अज्ञानसे, देहमें, पञ्चकोषमें अहं-भ्रान्ति हो रही है। तो पञ्चकोषमें जो अहंपनेकी भ्रान्ति है उसको छोड़ कर के अपने अशरीर स्वरूपका अनुभव करो। तुम अशरीर हो—तुम किसीकी माँ नहीं, बेटी नहीं, बेटे नहीं। तुम किसीके पति नहीं, पुत्र नहीं।

गृहस्थोंके लिए तो यह बड़ा विचित्र है महाराज! ये संसारी लोग जब आते हैं तब हमसे बोलते हैं—हम आपको सच्ची बात बताते हैं—स्त्रियाँ जब आती हैं तब वे बोलती हैं कि महाराज, आप पतिव्रता-धर्मका उपदेश क्यों नहीं करते हैं?

जरा बेटोंसे यह क्यों नहीं कहते हैं कि माँ-बापकी बात सुना करें? लोगोंको यह क्यों नहीं कहते हो कि सत्यनारायणकी कथा कराया करें? करवा-चौथ बीत गयी और आपने गणेशजीकी पूजाकी बात ही नहीं की। यह बात कहते कि मिट्टीके करवेमें सामान भरके ब्राह्मणको दान करो, तुमको बड़ा पुण्य होगा। तो भाई, ये सब काम हैं तो बहुत बढ़िया पर पण्डित-पुरोहितोंके हैं। सम्बन्धके द्वारा सुखी होनेकी पद्धति संसारमें होती है और सम्बन्ध-त्याग, कर्म-त्याग भोग-त्यागके द्वारा सुखी होनेकी पद्धति परमार्थकी है और सम्बन्धका त्याग भी दूसरेसे नहीं अपने देहसे—जिस देहका सारे संसारके साथ सम्बन्ध है, उस देहको मैं और मेरा न समझना।

यह देह 'मेरा' है यह भी गलत है, संसर्ग भी नहीं है इसके साथ; और यह देह 'मैं' हूँ यह तो नितान्त मूर्खता है ही। इसी मूर्खतावश इस देहके लिए बोलते हैं—'मैं'। जैसे पत्थरके टुकड़ेको अनजान लोग हीरा समझते हैं, परन्तु यह बात जौहरीकी समझमें कैसे आयेगी? इस मांस-पिण्डका नाम शरीर है—कफ-बात-पित्तके बने हुए जो लौंदे हैं उनको समझा जाता है बेटा-बेटी, माँ-बाप! वे मरनेके लिए बनते हैं और इनके मरनेमें दुःखी होना बिलकुल अस्वाभाविक है। तो यह जो भ्रम है कि मैं शरीर हूँ, यह भ्रम छूटना जरूरी है; और शरीरके सम्बन्धी मेरे सम्बन्धी हैं, अगर यह भ्रम नहीं छूटेगा तो ज्ञान-वान कुछ होगा नहीं। यह नहीं कि कह दो कि बेटा ब्रह्म है और बेटी ब्रह्म है और भोग ब्रह्म है! पहले इनसे तादात्म्यको काटा जाता है और अधिष्ठानमें जब इनको मिथ्या समझ लिया जाता है और अपने आपको ब्रह्म जान लिया जाता है तब ब्रह्मातिरिक्त कुछ नहीं होता। तब जैसे चींटी वह चींटेमें कोई फर्क नहीं है; वैसे ही पण्डित और पण्डितानीमें कोई फर्क नहीं है; लेकिन जहाँतक अद्वय-ब्रह्मका बोध नहीं हुआ वहाँतक साधनका तिरस्कार नहीं करना चाहिए। **अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम्**—सारी वस्तुएँ जो हैं वे अवस्थानहीन हैं, भला! सृष्टिमें कोई चीज टिकनेवाली नहीं है जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति आती है-जाती है, जवानी-बुढ़ापा मौत आते हैं, जाते हैं। दुनियाको पकड़कर रखोगे तो वह तुम्हारे मित्रके रूपमें आया हुआ जो तुम्हारे पूर्वजन्मका शत्रु है, वह तुम्हारे सारे संग्रह-परिग्रहको छीन ले जायेगा। सृष्टिमें जो पदार्थ हैं वे अवस्थान-रहित हैं—अनित्य हैं। तो चाहे शरीर कोई भी होवे—स्त्रीका, पुरुषका, देवताका, दानवका, पिताका, पशुका, पक्षीका—सब शरीरोंमें एक है अशरीर! अपनेको अशरीर नहीं समझोगे तो आकृतिकी जो पकड़ है, वह नहीं छूटेगी। यह

तो अपनेमें शरीरकी साढ़े तीन हाथ लम्बाई, सौ-पचास वर्षकी उम्र, डेढ़-दो मन वजन, छोटी-बड़ी आँखें, ऊँची-चपटी नाकका सौन्दर्य अपने साथ जुड़ गया है, नहीं कटेगा।

तो पहले आत्माको शरीरातिरिक्त जानना और देव-मनुष्य, पशु-पक्षी—शरीर आदिमें जो अहं-पनेकी भ्रान्ति है, उसको काटना है। कैसे? कि अपने निरुपाधिक आत्माके ज्ञानसे उपाधिका तिरस्कार करके। उपाधि माने जो तुम्हारे पास रखी हुई है और जिसके कारण तुम अपनेको वह मान रहे हो। स्फटिकमणि लाल नहीं है, किन्तु उसके पास लाल फूल रखे होनेके कारण लाल मालूम पड़ती है, यह बात समझना आवश्यक है। जैसे लालिमा सांसर्गिक है, उसी प्रकार तुम साढ़े-तीन हाथके नहीं हो, वह तो शरीरके संसर्गसे ऐसा मालूम पड़ता है, तुम सौ-पचास वर्षके नहीं हो, यह तो शरीरके संसर्गसे ऐसा मालूम पड़ता है, तुम डेढ़-दो मनके नहीं हो, यह तो शरीरके संसर्गसे ऐसा मालूम पड़ता है, तुम चिपटी और ऊँची नाकवाले नहीं हो, तुम गोरे-काले नहीं हो, यह तो शरीरको मैं माननेके कारण ऐसा-ऐसा भासता है—**अनवस्थेष्ववस्थितम्।**

अब किसीको मालूम पड़ा महाराज कि ये शरीर जो हैं ब्रह्मासे लेकर तृण तक कोई छोटा है, कोई बड़ा—सब अनित्य हैं और शरीरसे विलक्षण 'मैं' हूँ। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति आदि जो अवस्थाएँ हैं वे भी अनित्य हैं, आने-जानेवाली हैं और मैं उनका प्रकाशक, सर्वथा असंग हूँ, इसका फल क्या? यदि कुछ है तो उसका नाम धर्म है और कूटस्थ-नित्य यदि कोई वस्तु है तो उसका नाम आत्मा है—अपरिणामी-नित्य आत्मा है और परिणामी-नित्य धर्म है। ऐसा मालूम पड़ते ही सारे शोक और भय चले जाते हैं। **मत्वा धीरो न शोचति।**

देखो दिन भरमें हजार भय आते हैं—

शोकस्थानसहस्राणि भय स्थान शतानि च।

हजार बार रोनेका मौका आता है, सैकड़ों बार डरनेका मौका आता है, परन्तु यह किसके लिए कि उसके लिए जिसने बन्दरकी तरह पैसेको पकड़कर रखा है और अपनेको बड़ा बुद्धिमान समझते हैं! आत्माका हनन करते हैं और पैसेको पकड़ते हैं! कहते हैं कि यदि बेईमानी करनेसे हमको इतना पैसा मिल जाये तो क्यों न कर लें—ऐसा बोलते हैं। अरे वह पैसा तो चला जायेगा और वह बेईमानी ऐसी चिपकेगी तुम्हारे साथ कि इस जन्ममें तो तुमको सुखी होने देगी ही नहीं,

अगले जन्मको भी बिगाड़ देगी—वह बेईमानी तुम्हारी मौत भी शान्तिसे नहीं होने देगी, रो-रोकर, चिल्ला-चिल्लाकर मरोगे।

एक आदमीके घरमें दो ही प्राणी हैं और उसने कैसे-कैसे करके—बहुत परिश्रम करके बहुत ईमानदारी-बेईमानी करके, गरीबोंसे ज्यादा ब्याज ले करके और धनियोंसे कम ब्याज लेकरके पैसा इकट्ठा किया है। आप लोग ब्याजके सौदेकी बात जानते होंगे—जितने धनी लोग होते हैं उनसे कम ब्याज लिया जाता है और जितने गरीब लोग होते हैं उनसे ज्यादा ब्याज लिया जाता है। तो कैसे-कैसे विचारेने पैसा इकट्ठा किया। हे भगवान्! और आगे क्या होगा इसका कुछ पता नहीं है, कब छिन जायेगा इसका कुछ पता नहीं, कब मर जायेंगे इसका कोई पता नहीं है—लेकिन मनीरामको ऐसा पकड़कर बैठे हुए हैं कि हाय-हाय! हाय-हाय!

यह सृष्टि-शरीर ही तो है। **अनवस्थितेष्ववस्थितम्**—कल तो रहनेवाली नहीं है, यहाँ अपना आत्मा ही कूटस्थ नित्य है और सब अनित्य हैं—और परलोकान्तरगामी आत्माके साथ धर्म नित्य है, आपेक्षिक नित्य है, फलप्रद नित्य है। जाग्रत् अवस्था जाती है, आती है, सुषुप्ति आती है, जाती है, स्वप्न आता है, जाता है और सारी दुनिया बदलती जाती है। जैसे फिल्म बदलती जाती है—स्वप्नका दोस्त जाग्रत्में कहाँ है? जाग्रत्का दोस्त स्वप्नमें कहाँ है? जाग्रत्-स्वप्नकी चीजें सुषुप्तिमें कहाँ हैं? बदल रही हैं, बदल रही हैं, लेकिन अज्ञानसे इन्हींको पकड़कर बैठे हैं।

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा—तो भाई अपनेको अविकारी समझो! निर्विकार ब्रह्म हो तुम, अवस्थितनित्य हो। सब शरीरोंमें तुम अशरीर हो और सब बदलने वालोंमें तुम निर्विकार हो-और तुमसे बड़ा और कोई नहीं है, क्यों अपने महत्त्वको छोड़ते हो? 'महान्तम् विभुम्।'

एक बच्चा था, उससे किसी दूसरे बच्चेने कहा कि तुम हमको भी मिठाई दो। अब उसने मुट्ठी दबाई, बोला कि तुमको दे देंगे तो हम क्या खायेंगे? उसका बाप यह सुनकर हँसने लगा, बोला—घरपर बहुत मिठाई है बेटा, और तुम तो धनीके बेटे हो, जितनी चाहो उतनी मँगा सकते हो, यह तुम इसको दे दो, यह बच्चा भी खुश हो जायेगा। तो उस बच्चेको अपनी महानताका पता नहीं है कि हमारे घरमें कितनी मिठाई है और हमारा बाप कितनी मिठाई मँगा सकता है, इस बातका, इस महत्ताका पता नहीं है; वह तो एक पेड़ेके लिए दूसरे लड़केसे लड़ाई करता है, उसका हक भी छीन लेता है! बड़ों-बड़ोंके घरोमें देखा—एक बच्चा

दूसरे बच्चेसे एक पेड़ेके लिए लड़ता है। क्यों लड़ता है? कि उसको अपने बड़प्पनका पता नहीं है, वह चाहे तो उसको मनो मिठाई आ सकती हैं। तो तुम महान् हो। कितने महान् हो तुम? कि यह जो तुम्हारा घर-परिवार है यह छोटा है, यह जो धरती है यह छोटी है। यदि कोटि-कोटि ब्रह्माण्डकी सारी सम्पत्तिकी तुमको जरूरत पड़े तो मिल सकती है।

यं यं कामं मनसा संविभाति

तुम्हारे संकल्पकी शक्तिको तुम नहीं जानते हो? सम्राट्ने राजकुमारसे कहा कि बेटा, तुम खिलौनेकी मोटरके लिए रो रहे हो? खिलौनेकी मोटरके लिए तुम बेईमानी करते हो? तुम जानते नहीं हो कि तुम लाखों मोटरके स्वामी हो! यह बात तुमको मालूम नहीं है, तुम राजकुमार हो।

तो **महान्तम्**—महान् हो तुम, महत्त्व भी एक आपेक्षिक होता है—एकसे महान् एक, एकसे महान् एक। गाँवका चौकीदार गाँवमें वह रोब जमाता है कि क्या कहना! फिर सिपाही है, थानेदार है, सुपरिटेण्डेण्ट है—क्या पूछना? और उसके बाद चले जाओ प्रांतका गृह-मंत्री है, देशका गृह-मंत्री है, प्रधानमंत्री है, राष्ट्रपति है, वह सबसे ऊपर हो गया ना! एक-से-ऊपर-एक, एक-से-ऊपर-एक! इनमें कौन महान् है? चौकीदार महान् है कि गृहमंत्री महान् कि प्रधानमंत्री महान् है, कि राष्ट्रपति महान् है? बोले—ऐसी महत्ता आत्माकी नहीं है। देखो, मिट्टीसे पानी, पानीसे आग, आगसे वायु, वायुसे आकाश महान् है, विभुताके कारण— **महान्तम् विभुम्**—तुम्हारी महत्ता परिच्छिन्न नहीं है, तुम विभु हो—स्वेतरमें अनुस्यूत हो। जैसे रस्सीको तुम साँप समझो, चाहे माला, चाहे डंडा समझो, चाहे दरार, रस्सी उसमें व्याप्त है। या तो तुम अपनेको साँप समझनेकी मूर्खता करो और या अपनेको रस्सी समझो, या तो तुम अपनेको शरीरधारी, परिच्छिन्न अल्पहीन समझो और या तो अपनेको 'विभु महान्तम्' समझो। देखो, संसारमें जो गलती होती है वह मनके दोषसे होती है—

स तु भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला।
मनसि च परितुष्टो कोऽर्थवान् को दरिद्रः॥

टॉलस्टायकी एक बहुत बढ़िया कहानी है। एक गरीबका नियम था कि जितना रोज मिले उसको खा-पीकर खर्चकर देना। एक दिन उसको एक पैसा ज्यादा मिल गया। सब काम उसका हो गया, परन्तु रातको उसके पास एक पैसा बच गया। बच गया, तो उसने उसको अपनी गाँठमें बाँध लिया कि आज बचा है

तो कल इसको अच्छे काममें खर्च करेंगे। अच्छा काम क्या है इसके लिए दूसरे दिन उसने पड़ोसियोंसे पूछा और दिनमें अपना खाता-पिता रहा। पड़ोसियोंने कहा कि एक पैसेसे क्या बढ़िया काम होगा, किसीको दे दो। बोला—किसको दे दें? तो कहा उन्होंने कि जो गरीब हो उसको दे दो। तो पूछने लगा लोगोंसे—तुम गरीब हो, तुम गरीब हो? कोई माने ही नहीं। किसीने कह दिया—जाओ ब्राह्मण, पंडितसे पूछ आओ। पण्डितजीके पास गया तो पण्डितजीने कहा कि दो रुपया चाहिए यह बतानेके लिए कि धनका क्या उपयोग किया जाय? बोला—हमारे पास तो एक पैसा है पण्डित जी! पण्डितजी भी बोले—जा किसी गरीबको दे दे!

इतनेमें उसने सुना कि एक राजा है जो दूसरे राज्यपर चढ़ाई करने जा रहा है! क्यों? क्योंकि वहाँ धन बहुत है, उसको लूटकर अपने राज्यमें लानेके लिए। इसने सोचा कि वह गरीब होगा तभी तो धन लूटनेके लिए दूसरे राज्यपर चढ़ाई करने जा रहा है—सेना जायेगी, हजारों लोग मरेंगे—लोगोंको मारकर, शोषण करके, सताकरके जब वह लूटना चाहता है तब गरीब तो जरूरत ही होगा। सो जाकर रास्तेके बीचमें बैठ गया और जब राजा साहबका रथ सामनेसे निकला तब उठकर वह पैसा राजा साहबकी गोदमें रख दिया।

राजाने पूछा—यह क्या? कि महाराज, बहुत दिनोंसे खोज थी कि कोई गरीब मिले, कोई गरीब मिले; कोई नहीं मिला था, आज आप मिल गये तो आपको दे दिया। आप इसे ले लो! बोला—मैं गरीब? बोला—मैंने सुना है कि तुम पड़ौसी राजापर आक्रमण करने जा रहे हो, वहाँ लोग मरेंगे, रक्तपात होगा, शोषण होगा, बेईमानी होगी, अन्याय होगा। यह सब काहेके लिए? कि पैसेके लिए ही तो! सो तुम्हारे सरीखा गरीब सृष्टिमें और कोई नहीं है।

राजा को ज्ञान हो गया—राम-राम, मैं तो लोभमें आकर बड़ा भारी अन्याय करने जा रहा था, लौट पड़ा। सेनाको हुक्म दिया कि लौट पड़ो। गरीबके एक पैसेने दो राष्ट्रको युद्धसे बचा दिया। तो तुम्हारी महत्ता कैसी है, इस बातको समझो! तुम सबके आत्मा हो, तुम स्वयं ब्रह्म हो। अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड—उनमें रहनेवाले ब्रह्मा-विष्णु-महेश, सम्पूर्ण प्रकृति, सम्पूर्ण विकृति, सम्पूर्ण कार्य-कारण रूपमें भासमान सम्पूर्ण द्रष्टा-दृश्य, सम्पूर्ण भोक्ता-भोग्य, सम्पूर्ण कर्त्ता-कर्म तुम्हारे स्वरूपमें अध्यस्त हैं! तुम ऐसे महान् विभु हो, अरे अपने आपको जानो!

महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति।

जब बुद्धिमान पुरुष जान लेता है कि अपना स्वरूप यह है तब शोक क्या

उसके पास आवेगा? किसके लिए शोक आवेगा? सीपका जो जानकार है वह क्या उसमें चमकती हुई चाँदीके लिए रोवेगा? नहीं रो सकता। इस ब्रह्म-रूप शुक्तिमें यह विश्व-प्रपञ्चरूप रजत भास रहा है, **रजत सीप मँह भास जिमि यथा भानुकर बारि**—सूर्यकी किरणोंमें मरुस्थलमें जैसे जल भासता है उसी प्रकार ब्रह्ममें यह प्रपञ्च भास रहा है। जो धीर, जो विद्वान, जो बुद्धिमान अपने आपको ब्रह्म जान जाता है, वह फिर शोक नहीं करता।

यहाँ '**आत्मानम्**' शब्दका प्रयोग किसलिए किया गया; इसके लिए श्रीशङ्कराचार्यने बताया कि **आत्माग्रहणं स्वतो अनन्यत्वो प्रदर्शनथिम्**—स्वपदका, मैं पदका जो अर्थ है, वही यहाँ आत्मा पदका अर्थ है। यह बतानेके लिए यहाँ आत्मा शब्दका प्रयोग किया गया। **आत्मशब्दः प्रत्यगात्मविषय एव मुख्यः**—आत्मा शब्दका अर्थ अपने लिए ही मुख्य होता है, दूसरेके लिए नहीं; जैसा कि आप हिन्दीमें बोलते हैं—अपना आपा अपने लिए, आत्माके लिए। यह तुम्हारा आत्मा ऐसा है! पुरुष जब जान जाता है कि मैं ऐसा हूँ—देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदसे रहित अद्वितीय स्वयंप्रकाश सर्वाधिष्ठान, सर्वावभासक—तब **न शोचति न ह्येवविधस्यात्मविदः शोकोपपत्तिः**—इस प्रकारके आत्माको जो जानता है उसके लिए शोकोपपत्ति नहीं है।

अच्छा, तो फिर इस आत्माका ज्ञान होवे कैसे? इसको जाने कैसे? कि अरे भाई, किसीको दो हीरा पहचानना हो और वह दोनोंको सामने रख ले, तो जबतक दोनोंको देखेगा तब तक दोनोंको पहचानेगा। जब एकको गौरसे देखेगा, तब एक को पहचान जायेगा और जब दूसरेको गौरसे देखेगा, तब दूसरेको पहचान जायेगा। एक साथ दो उँगुली भी नहीं दीखती है और तुम एक साथ ब्रह्म और प्रपञ्च दोनोंको पहचानना चाहते हो? प्रपञ्चपरसे दृष्टि हटाओ तब ब्रह्मकी पहचान हो और जब ब्रह्मकी पहचान हो जाय तब प्रपञ्च क्या है यह मालूम पड़ जायेगा क्योंकि यह तो-फल-दृष्टि है, साधन-दृष्टि नहीं है। साधन-दृष्टि यह है कि प्रपञ्च परसे दृष्टि हटाओ और ब्रह्मको पकड़ो।

अब साधनका वर्णन आगेके तीन मन्त्रोंमें आता है।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः

बिना गुरु-उपदेशके, केवल वेदके पढ़नेसे आत्मा नहीं मिलेगा, माने वेदके साथ-साथ अनुभवी होना चाहिए। हमने एक बात देखी—शास्त्र पढ़कर आदमी

यह तो जान सकता है कि आत्मा और ब्रह्म एक है—भला, लेकिन व्यक्तिगत जीवनमें जो स्वातन्त्र्य है वह महात्मा-पुरुषके सान्निध्यके बिना नहीं आता है। यह हम साधु-पण्डितोंको जानते हैं । गृहस्थ पण्डितोंकी बात हम नहीं करते हैं, गृहस्थ-पण्डित तो पढ़-लिख करके मैं-मेरेके चक्करमें फँस जाते हैं, क्योंकि आखिरमें तो उनको बच्चे देखने पड़ते हैं, पत्नी सँभालनी पड़ती है; अब वे उधर तो विचार करके आये कि आत्मा ब्रह्म है और इधर घर वाली रूठी हुई है, तो पाँव छूना पड़ता है उसका!

बाणभट्टके जीवन में यह कथा है कि वे रातभर अपनी पत्नीको मनाते रहे, रात-भर वे बोलते रहे **प्रणामन्तो मानः**—हे देवी! प्रणाम करनेपर तो मान छोड़ देना चाहिए, मैं प्रणाम करता हूँ, अब तो खुश हो जाओ! इसी बीच उनके साले मुरारी कवि आगये, उन्होंने भी रचना की थी तो वह सुनानेके लिए आ गये। उन्होंने भी वह **प्रणामन्तो मानः** सुना। प्रातः काल वे सुनने लगे कि हमारी बहन कितनी रूठी है और बहनोई कितना मना रहे हैं, तो उन्होंने बाहरसे ही ऐसी बात डट कर कह दी कि बहन तो पानी-पानी हो गयी! तो पण्डितोंके जीवनकी तो यह बात है, उनको ब्रह्मज्ञान कैसे होवे? वे तो रूठे हुएको मनानेके चक्करमें पड़े हुए हैं।

साधुओंको देखा—बड़े भारी विद्वान्, परन्तु सत्सङ्ग नहीं किया। और सत्सङ्ग नहीं किया तो हर समय सिर ही ठोंकते रहते हैं—हाय-हाय, ऐसा हो गया; यह हुआ, यह नहीं हुआ। जबतक जीवन्मुक्त महापुरुषका सान्निध्य प्राप्त नहीं होता तबतक तत्त्वज्ञान होनेपर जीवनमें व्यक्तिशः स्वातन्त्र्य कैसा आता है, बोधमें स्वातन्त्र्यका विकास कैसा होता है, यह बात समझमें नहीं आती। उसको परमानन्द बोलते हैं। यह प्रसङ्ग अब आपको फिर सुनायेंगे।

आत्मा वरणसे प्राप्त होता है

अध्याय-१ वल्ली-२ मंत्र-२३

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँस्वाम्॥ १.२.२३

अर्थ :—यह आत्मा न प्रवचनसे प्राप्त होता है, न मेधासे और न बहुत सुननेसे! जिसको यह वरण कर लेता है, उसीके द्वारा यह प्राप्त किया जाता है। उस वरण करने वालेके प्रति यह आत्मा अपना स्वरूप खोलकर प्रकट कर देता है।

क्या कहा जा रहा है इसके साथ मत दौड़ो, कौन बोल रहा है इसको ढूँढो। **वाचं न विजिज्ञासी वक्तारं। विजिज्ञासीत्** तुम जब बोलने लगते हो कि यह मोटर है, यह मकान हैं, यह स्त्री है, यह पुत्र है, यह धन है, तो उस-उस शब्दके अर्थके साथ मन वहाँ-वहाँ चला जाता है—स्त्रीमें, पुत्रमें, मकानमें, मोटरमें। बोले कि तुम वाणीके साथ उड़कर वहाँ मत जाओ। जहाँ शब्द ले जाता है! तुम यह देखो कि हमारे भीतर बोलने वाला कौन है—वक्ता रामको जानो, वाच्य रामको मत जानो। इसीसे कहते हैं कि श्रोता-द्रष्टा, मन्ता, विज्ञाताको जानो—जो सुन रहा है, कानोंके भीतर बैठकर, जो देख रहा है आँखोंके भीतर बैठकर, जो सूँघ रहा है नाकके भीतर बैठकर, जो स्वाद ले रहा है जिह्वाके भीतर बैठकर, जो बोल रहा है वाणीके भीतर बैठकर, उस अपने आपको जानो! **वक्तारं विजिज्ञासीत**—वक्ताके बारेमें जिज्ञासा करो; **वाचं न विजिज्ञासीत**—भिन्न-भिन्न शब्दोंके वाच्योंकी जिज्ञासा मत करो, भिन्न-भिन्न अर्थोंके वाचक शब्द तो तुम्हें भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें ले जायेंगे; उस वक्ताको देखो, जो जिह्वा-मूलमें बैठकर, जिह्वाकी जड़में बैठकर जिह्वाको

बोलनेकी शक्ति प्रदान करता है, वही है आत्मा—**अयमात्मा**। जो बुद्धिके मूलमें बैठकर बुद्धिको शक्ति देता है-देता है क्या, बुद्धि शक्ति ले लेती है, वही है **अयमात्मा**।

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषायान् इह।
यच्चास्य सन्ततो भावः तस्मात् आत्मेति कथ्यते॥

जो जाग्रत्कालमें इन्द्रियोंके द्वारा, मनके द्वारा विषयोंका भोग करता है—**(यच्चात्ति विषयान् इह)**; जो सपनेमें सारे विषयोंका भीतर-ही-भीतर आदान कर लेता है**(यदादत्ते)**; जो सुषुप्ति-अवस्थामें सामान्य ज्ञानके साथ एक होकर सम्पूर्ण विश्व-सृष्टिमें व्याप्त हो जाता है-**(यच्चाप्नोति)**; जो देश-काल-वस्तुके परिच्छेदसे परिच्छिन्न नहीं होता-**(यच्चास्य सन्ततो भावः)**; उसको आत्मा कहते है। **तं आत्मानं विजिज्ञासीत**—उस आत्माके बारेमें जिज्ञासा करो माने जाननेकी इच्छा करो।

अयमात्मा—इसका अर्थ है कि आत्मा बिलकुल साक्षात् अपरोक्ष है। साक्षात् अपरोक्षका अर्थ क्या? देखो, किताब पढ़नेके लिए रोशनीकी जरूरत है, परन्तु रोशनी देखनेके लिए रोशनीकी जरूरत नहीं है आँखकी जरूरत है; और आँखको जाननेके लिए मनकी जरूरत है; मनको जाननेके लिए बुद्धिकी जरूरत है। और बुद्धि सीधे साक्षीके द्वारा जानी जाती है, परन्तु साक्षीको जाननेके लिए किसी चीजकी जरूरत नहीं है। साक्षी स्वयं है और स्वयं प्रकाश है, वह दृश्य नहीं द्रष्टा है। अच्छा, पुस्तक प्रत्यक्ष है और स्वर्ग परोक्ष है और अपने चित्तमें जो मन है, बुद्धि है, राग है, द्वेष है, जाग्रदादि अवस्था है; वह अपरोक्ष हैं और तुम स्वयं साक्षात् अपरोक्ष हो।

अच्छा, यदि कोई आकरके युक्ति देकर तुमको समझाने लगे कि तुमको नींद नहीं आती है, तो क्या तुम उसकी युक्तिसे उसकी बात मान लोगे? नहीं, क्योंकि नींद तो तुमको आती है। इसी प्रकार तुमने देखा सपना और किसीने युक्ति दी कि नहीं-नहीं तुमको सपना नहीं आया, तो तुम उसकी बात माननेको बाध्य नहीं होगे, क्योंकि सपना तो तुमको आता है। कोई डॉक्टर तुम्हारा ब्लड-प्रेशर देखकर, तुम्हारी छाती पर धनुष-बाण (स्टैथेस्कोप) लगाकरके यदि कहे कि तुमको नींद नहीं आती या तुमको सपना नहीं आता, या कि तुम्हारे मनमें किसीसे राग-द्वेष नहीं है अथवा वह कहे कि तुमको किसी चीजका स्वाद नहीं आता है, तो तुम यही कहोगे न कि हमको खट्टा-मीठा सब मालूम पड़ता है; तो ये सब पदार्थ

अपरोक्ष हुए। लेकिन तुम जो हो, वह साक्षात् अपरोक्ष है। तुमको स्वाद तो मालूम पड़ता है जीभसे। इसमें एक औजार है। रूप मालूम पड़ता है आँखसे—इसमें एक औजार है, लेकिन तुम हो, इस बातको जाननेके लिए किसी औजारकी जरूरत नहीं पड़ती है—उसीको बोलते हैं साक्षात्। तो इसमें न थर्मामीटर लगानेकी जरूरत है और न इसके लिए वह फन्दा (स्टैथेस्कोप) लगानेकी जरूरत है।

हम हैं—यह बात यन्त्रसे नहीं मालूम पड़ती, मन्त्रसे नहीं मालूम पड़ती, बुद्धिसे नहीं मालूम पड़ती—यह साक्षात् अपरोक्ष है। कौन? कि आत्मा। इसके साथ अन्तर और बहिर्देशका सम्बन्ध नहीं है, इसके साथ कालका, भूत-भविष्यका सम्बन्ध नहीं है; इसके साथ यह-वह, मैं-तूके भेदका सम्बन्ध नहीं है। अच्छा, तो इसको जानोगे कैसे? कि यह ठीक ऐसे ही जाना जायेगा जैसे '*दशमस्त्वमसि*'। दस आदमी नदीको पारकर अपनेको गिनने लगे और सब नौ गिनें, अपनेको न गिनें; तो उसको जब किसी विश्वसनीय पुरुषने क़हा कि दसवाँ नदीमें डूबा नहीं है, तब विश्वास हुआ कि हाँ दसवाँ है और जब गिनकर् बता दिया कि दसवाँ तूँ ही है तब अपनेको जान लिया। अगर वह दूरबीनसे अपने को दसवें पुरुषको ढूँढता तो क्या दसवाँ पुरुष मिलता? वह खुर्दबीन लगाकर ढूँढनेसे क्या मिलता कि नदीमें कहाँ रह गया है? नदीमें जाल लगाकर छाननेसे क्या मिलता? तो यह जो 'तत्त्वमस्यादि' महावाक्य हैं इनका अभिप्राय यही है कि तुम अपनेको 'है' तो मानते हो, परन्तु यह तुम्हारा 'है' कितना बड़ा है, ज्ञान-स्वरूप है, यह तुम नहीं जानते हो। इस भूलको मिटानेके लिए 'तत्त्वमस्यादि' माहावाक्यकी जरूरत होती है।

इसके सम्बन्धमें एक और भी बात है। किसीने कहा कि यह मैं परमात्मा नहीं है, परमात्माका अंश है। आप बिलकुल इस बातको माननेसे हिचको मत। कई वेदान्ती लोग लड़ने लगते हैं, तुम लड़ो मत। उस आदमीसे पूछो कि माना कि हम अंश हैं परमात्माके, परन्तु जरा उस अंशका नाप तो बताओ कि वह अंश कितना लम्बा है, कितना चौड़ा है, कितनी उसकी उम्र है और कितना उसका वजन है। यदि परमात्माका एक अंश माप लिया जायेगा तो परमात्माको नापनेमें बड़ी सुविधा हो जायेगी। वह परमात्माका अंश ही नहीं, नपेगा, खुद परमात्मा ही नप जायेगा। यदि परमात्माके सौंवे हिस्सेको या हजारवें हिस्सेको या लाखवें हिस्सेको या करोड़वें हिस्सेको या अरबवें हिस्सेको तुम नाप लोगे कि इसका इतना वजन और यह इसकी लम्बाई-चौड़ाई और इसकी इतनी उम्र तो उसका

करोड़ गुना, उसका अरब गुना, अरब-खरब गुना परमात्मा लम्बा है और अरब-खरब गुना उसकी उम्र है और अरब-खरब गुना उसका वजन है माने परमात्मा ही मुट्ठीमें आ गया—वह तो नप गया परमात्मा। परमात्माकी उमर बन जायेगी, परमात्माका वजन बन जायेग, परमात्माकी लम्बाई-चौड़ाई बन जायेगी माने परमात्मा परिच्छिन्न हो जायेगा। यदि परमात्माका अंश परिच्छिन्न होता है तो परमात्मा भी परिच्छिन्न हो जायेगा।

इसलिए यदि कोई कहे कि तुम परमात्माके अंश हो तो परमात्माका अंश भी परमात्मा ही होता है; अनन्तका अंश भी अनन्त ही होता है। यह अनन्त जिसको बोलते हैं, वह किसी संख्याके जोड़का नाम नहीं है। एक होता है कुल, सर्व और एक होता है अनन्त। जो सर्व होता है, कुल होता है, वह तो बहुतोंका जोड़ होता है; और जो अनन्त होता है, वह अपरिमित होता है, अदेश होता है, अकाल होता है। बहुतसे इंच-फुट-गजोंके जोड़का नाम देशातीत नहीं है, अनन्त नहीं है। बहुतसे क्षणों-घण्टों, महीनों, युगों, मन्वन्तरों, कल्पोंके जोड़का नाम अकाल-पुरुष नहीं है, अनन्त नहीं है और बहुत-से कणोंके वजनका माशा, तोला, छँटाक, मन और टन—इनके जोड़का नाम परमात्मा नहीं है। इसलिए यदि कोई परमात्माका अंश भी है तो वह परमात्मा ही है, क्योंकि परमात्माका अंश भी परमात्मा ही होता है। अनन्तका अंश भी अनन्त ही होता है; शान्तका अंश शान्त होता है। अतः **अयमात्मा**—यह आत्मा है—यह युक्तिकी बात बतायी।

अच्छा कोई कहे कि हमको वेदकी जरूरत नहीं, गुरुकी जरूरत नहीं, उपनिषद्की जरूरत नहीं—हम अपने-आप विवेक करते हैं और विवेक करके हम अनुभव करते हैं कि हम परमात्मा हैं, पूर्ण हैं, ब्रह्म हैं। कि अच्छा, ठीक है—यह बहुत ध्यान देने लायक बात है—छोड़ो वेदको, छोड़ो गुरुको, छोड़ो श्रद्धाको, छोड़ो लकीरकी फकीरीको—छोड़ दो, हम मानते हैं कि तुमने अपने विवेकसे, विचारसे पूर्ण-सत्यका अनुभव कर लिया; अच्छा, अब तुम अपने उस पूर्ण-सत्यके अनुभवका उल्लेख करो—उल्लेख करो माने जरा बोलो कि क्या अनुभव हुआ तुमको? तो बोले कि ठीक नहीं बोल सकते। नहीं जानते हो इसलिए नहीं बोल सकते हो, कि जानते हो और नहीं बोल सकते हो? यदि नहीं जानते हो और नहीं बोल सकते हो तब तो अज्ञानी हो और जानते हो और नहीं बोल सकते हो, तो तुम जीभसे बोलकर मत बताओ, अपने मनमें ही अपने अनुभवकी एक रूप-

रेखा बनाओ। बोलो मत, हम जीभ पर तुम्हारा ताला मानते हैं, तुम अपने मन-मनमें ही सोचो कि क्या अनुभव हुआ तुमको—अपने अनुभवका उल्लेख करो। तो यदि तुमको यह अनुभव हुआ कि एक मैं हूँ और एक दूसरा है तब तो आधे तुम और आधा वह—पूर्णका अनुभव नहीं हुआ, तुमको। पहले तुम और पीछे वह या कि पहले वह पीछे हम, तो अधूरे हुए, पूर्णका अनुभव कहाँ हुआ तुमको? यदि ब्रह्म तुम नहीं हो तो तुम कम ब्रह्म हो और यदि तुम ब्रह्म नहीं हो तो ब्रह्म-कम-तुम हो। अन्ततोगत्वा अपने अनुभवको जब तुम अपने मनमें नापोगे, जाँचोगे तो उसके उल्लेखका स्वरूप यही होगा कि **अहं ब्रह्मास्मि**—मैं ब्रह्म हूँ—अर्थात् मैं अद्वितीय, अविनाशी, परिपूर्ण, स्वयं-चैतन्य हूँ।

अच्छा, जब तुम्हारे अनुभवका उल्लेख यही हुआ—माने जब तुमने किसी भी भाषामें (तुम संस्कृतमें मत सोचो, अंग्रेजीमें सोचो-भला-कई लोग होते हैं जो अंग्रेजीके सिवाय दूसरी भाषामें नहीं सोच सकते हैं) सोचकर तुम पूर्ण अनुभवका निरूपण अपने मनमें करोगे, तो यही उल्लेख करोगे कि मेरे सिवाय और कोई नहीं है, मैं-ही-मैं सत्य हूँ। यदि मेरे सिवाय और कोई सत्य है तो वह सत्य अधूरा है और यदि सत्यसे अलग मैं हूँ तो मैं असत्य हूँ। सत्य दो नहीं हो सकता, ज्ञान दो नहीं हो सकता, आनन्द दो नहीं हो सकता, तो अन्ततोगत्वा तुम्हारे अनुभवका स्वरूप ही यही होगा। या तो तुम वैदिक मतमें प्रविष्ट हो गये, आ गये घूम-फिरकर वहीं **'अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म'** और या तो तुमने नवीन वेदका निर्माण किया। तो नवीन वेदका निर्माण क्या किया जब अपनी पूर्णताका ही उल्लेख किया, तब नवीन वेद कहाँसे आया?

अभिप्राय यह कि—**दशमस्त्वमसि** इस वाक्यके श्रवणसे जैसे अपना भ्रम मिटकरके अपने स्वरूपके सम्बन्धमें ही सच्चाईका ज्ञान होता है वैसे ही **यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः** में है।

अयमात्मा प्रवचने न लभ्यः—ध्यान करो जाकर प्रवचन शब्दका अर्थ ध्यान करो—कैसे कि प्रवचन जो करता है वह सोच-विचारकर करता है, मूर्खतासे तो करता नहीं—जिसकी बुद्धिमें पहले वस्तु आरूढ़ नहीं हुई, वह प्रवचन क्या करोगा? **प्रोच्यते इति प्रवचनम्**—प्रकृष्ट उक्तिका नाम प्रवचन है। प्रकृष्ट उक्ति क्या है कि विपरीत अर्थ, मिथ्या-अर्थका प्रतिपादन न करे तब वह प्रवचन होगा। तो जिसको सत्य अर्थका ध्यान होगा, वही प्रवचन करेगा! बोले कि निदिध्यासन करके आये और प्रवचन करने लगे। तो निदिध्यासनसे परमात्माकी उपलब्धि नहीं

होती। ध्यानसे संस्कार बनता है। देखो, ध्यान करनेवालेको एकको मत्स्याकार भगवान्‌का दर्शन होगा, एकको कच्छपाकार भगवान्‌का दर्शन होगा, एकको देवी, एकको गणेश, एकको सूर्य, एकको विष्णु, एकको राम, एकको कृष्ण—वह तो ध्यान-सहकृत ज्ञान जो है वह ध्यानके ध्येयके आकारको अपने अन्दर पकड़ लेता है। ध्यान-जन्य-संस्कारसे केवल ध्येयाकारका साक्षात्कार होगा। केवल ध्यान कर-करके इस आत्माका साक्षात्कार नहीं हो सकता। प्रवचनसे इसकी उपलब्धि नहीं हो सकती। उपलब्धि माने ज्ञान, तब अज्ञानसे ही आत्मा खोया हुआ है, केवल ध्यान करनेसे इसका ज्ञान नहीं हो सकता।

बोले—अच्छा, मननसे उपलब्धि होवे? **न मेधया**—कि नहीं भाई, मेधासे भी नहीं। यह मेधा दूसरेको काटनेके लिए तो बहुत उपयुक्त है—मेधा काटनेके लिए होती है; संस्कृत भाषामें जो मेधा शब्द है, वह जैसे अश्वमेध, गोमेध, नरमेधमें है, उसका अर्थ है काटना और मेधा माने बुद्धि होता है। तो बुद्धि काहेको होती है कि जो अज्ञानान्धकारका जाल चारों ओर फैला हुआ है उसको काट दो। संस्कृत-भाषामें बुद्धिके लिए बहुत सारे शब्द हैं—बुद्धि, मनीषा, धी, धिषणा, प्रज्ञा, शेमुषी, मति। यह मेधा शब्द जो है सो धी धारणावती मेधा—धारणायुक्त-बुद्धिको मेधा बोलते हैं। शास्त्रका श्रवण करते हैं और श्रवण करके धारण करते हैं तो, बुद्धिकी धारणा शक्तिको मेधा बोलते हैं।

पच्चीस-तीस वर्ष पहलेकी बात है—श्रीकरपात्रीजी महाराजका भाषण होता था वृन्दावनमें। तो उन्होंने उस समय मिर्जापुरवाली धर्मशाला ले रखी थी और बड़ा विशाल उत्सव हुआ था, हजारों आदमी सुननेके लिए आये थे। जब निकले तब लोग बड़ी तारीफ करते, प्रशंसा करते—स्वामीजीने बड़ा बढ़िया व्याख्यान दिया है—कितनी ऊँची बात कही है। अब किसीसे पूछो कि क्या कहा था उन्होंने? तो कहते—बात बहुत बढ़िया थी, बहुत ऊँची थी, पर हमारे समझनेकी थोड़े ही थी। देखो, यदि हम एक चुटकुला अभी बोल दें तो हमारे पास जाकर लोग सुना देंगे कि आपने आज यह बात कथामें कही थी। तो मेधा माने। शास्त्रार्थ-धारणका सामर्थ्य—शास्त्रका जो तात्पर्य है उसको सुने और सुनकर उसको धारण कर ले। परन्तु कहते हैं कि उसको धारण करनेसे भी, मेधासे भी आत्माकी प्राप्ति नहीं होती है। **न मेधया**। शास्त्रार्थमें मेधा काम देगी, व्यापारमें मेधा काम देगी, राजनीतिमें मेधा काम देगी, व्यावहारिक निपुणतामें मेधा काम देगी। पर यह आत्मा बुद्धिका दाँव-पेंच नहीं है।

न बहुना श्रुतेन बहुश्रत्येन। खूब सुनो, खूब सुनो, खूब सुनो—तब भी इस आत्माका ज्ञान नहीं होगा। इसमें तीनों बात हो गयी—बहुत श्रवण करनेसे या बहुत विचार करनेसे या निदिध्यासनपूर्वक बहुत प्रवचन करनेसे 'अयमात्मा न लभ्य:'—इस आत्माका ज्ञान नहीं होता। एक आदमी व्याख्यान दे रहा था कि आकाशकी जो नीलिमा है सो कितनी गहरी है। उसने सुना भी बहुत था कि इसी नीलिमाके भीतर तो लोक-परलोक तारे-पर-तारे, स्वर्गलोग और ब्रह्मलोक सब समाये हुए हैं। अब वह नीलिमाकी गहराईपर व्याख्यान दे रहा था कि वह कितनी गहरी है। दूसरा इसी नीलिमाकी गहराईका ध्यान कर रहा था। तीसरा नीलामीकी गहराईके बारेमें श्रवण कर रहा था। मगर भाई, गहराई तो है ही नहीं। क्या सुनकर आया? एक आदमी मृगतृष्णाके जलका औसत निकाल रहा था। मरुस्थलमें जो पानी मालूम पड़ता है उसकी औसत गहराई कोई निकाल रहा था। परन्तु वहाँ तो जल है ही नहीं। **नाऽयं आत्मा प्रवचने न लभ्यो**—बात यह है कि सुनकर भी उस शब्दका जितना अर्थ हमको मालूम है, जोड़-तोड़कर उतना ही हम समझते हैं और जितना संस्कार है, प्रतिभा वहीं तक ही काम देती है और ध्यान लगनेसे एक प्रकारका संस्कार ही चित्तमें बैठता है। वस्तुका ठीक-ठीक साक्षात्कार होनेके लिए क्या होना चाहिए कि—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँस्वाम्॥

हमलोग माघकी संक्रान्तिपर गये थे हरिद्वार। वहाँ एक बड़े वृद्ध महात्मा हैं—विद्वान् भी हैं, कोई जमानेके वेदान्ताचार्य हैं, सम्भवत: व्याकरणाचार्य भी हैं—अभी शरीर ७०-७५ वर्षका होनेपर भी बहुत दृढ़ है, गौर-वर्ण हैं। तो भरी सभामें उन्होंने ललकार दिया कि अच्छा, कोई बतावे कि आचार्योंमें शङ्कराचार्यके अलावा और किसी आचार्यने उपनिषद् पर व्याख्या क्यों नहीं की? ब्रह्मसूत्रपर तो व्याख्या सब करते हैं और ब्रह्मसूत्र तो श्रुतियोंका ही तात्पर्य बताता है, फिर पृथक्से शब्दशः मन्त्रशः किसीने उपनिषद्की व्याख्या क्यों नहीं की? तो बोले कि सब आचार्योंके मनमें यह ख्याल था कि यदि श्रुतिके सच्चे अर्थको हम गड़बड़ावेंगे तो हमको बड़ा पाप लगेगा। वे बोले कि जिसको यह अनुभव था कि हम श्रुतिका सच्चा अर्थ प्रकट करते हैं, उसने तो श्रुतिके एक-एक वाक्यका, शब्दका, मन्त्रका अर्थ करके बता दिया और जिनको डर था कि कहीं हमको श्रुतिके अर्थके साथ अन्याय करना पड़ेगा, उसने कहा कि चलो बाबा, एक-एक शब्दकी व्याख्याके चक्करमें मत पड़ो। तो,

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।

का अर्थ करते हुए भगवान् शङ्कराचार्यका कहना है कि—*एष साधकः यमेव स्वात्मानमेव वृणुते—प्रार्थयते*—जब इस साधकके मनमें एक आकांक्षा होती है कि केवल मैं ही मुझे मिले। **यमेव वृणुते**—किससे ब्याह करोगे भाई? कि हम तो वरमाला अपने ही गलेमें डालना चाहते हैं। लेकिन जो भोग चाहेगा वह वरमाला अपने गलेमें कैसे डालेगा? एक कन्या है उसको वरमाला डालना है किसीके गलेमें, तो यदि उसको दाम्पत्य-जीवन व्यतीत करना है, गृहस्थ-जीवन व्यतीत करना है, वर-वधूके रूपमें रहना है, तो वह वरमाला किसी पुरुषके गलेमें ही डालेगी न! बोले—यहाँ तो साधक ऐसा चाहिए, जिज्ञासु ऐसा चाहिए जो दूसरेके गलेमें वरमाला न डाले, अपने ही गलेमें वरमाला डाले—माने जो मैं-मैं के साक्षात्कारके सिवाय और कुछ चाहता ही नहीं हूँ—मैं केवल आत्मोपलब्धि चाहता हूँ। हे भगवान्। तो, ऐसा विचित्र वरण करनेवाला चाहिए। **तेन वरित्रा लभ्यः**—ऐसे वरण करनेवाले साधकके द्वारा ही यह आत्मा स्वयं जाना जाता है। यहाँ तो—ऐसी अद्भुत कन्या चाहिए जिसको दूसरेकी जरूरत नहीं है, जो अपने आपमें ही रति, अपने आपमें ही तृप्ति, अपने आपमें ही तुष्टि चाहती है।

यह ब्रह्म-विद्या किसको प्राप्त होती है? ब्रह्मज्ञान किसको प्राप्त होता है? कि आत्मरति जिसको चाहिए, आत्म-तुष्टि जिसको चाहिए, आत्म-तृप्ति जिसको चाहिए—जिसके ज्ञानका उल्लास स्वाभिमुख है, पराभिमुख नहीं है; जिसका ज्ञान अपने-आपमें नाचता है, दूसरेको देखकर नहीं नाचता। जिसकी जीभ दहीबड़ा देखकर नाच उठती है, जिसकी नाक इत्रकी गन्धसे नाच उठती है, जिसकी आँख बाहरके सौन्दर्यको देखकरके नाच उठती है उसने तो उसके गलेमें वरमाला डाल दी न? यह आत्माका साक्षात्कार उसको होता है—*एष साधकः यमेव आत्मानं वृणुते तेन वरित्रा स्वाभेदेन अयं आत्मा लभ्यः*—वह वरण करनेवाला अपने आपके रूपमें इस आत्मदेवका साक्षात्कार करता है।

तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳस्वाम्

उसीका यह आत्मा है, दूसरेका नहीं है भला! और उसीके प्रति यह अपने तनुका विवरण करता है। आत्मा अपनेको ढककर बैठा है, जब देखता है कि अपने आपके सिवाय और कोई नहीं चाहिए, अपने आपके सिवाय और कोई नहीं है, तब वह अपनेको नग्न कर देता है, निरावरण कर देता है; दूसरेके

सामने वह अपनेको नंगा-निरावरण नहीं करता है, वह तो अपने सामने ही स्वयं नंगा है।

यह मन्त्र मुण्डकोपनिषद्में भी आया है और यहाँ कठोपनिषद्में भी आया है। तो तनूंःस्वाम्का अर्थ है कि अपना यथात्म्य, अपना स्वरूप, अपना पारमार्थिक स्वरूप-सच्चा स्वरूप। मुण्डकोपनिषद्में 'तेन' का अर्थ लिखा है वरणेन और यहाँ कठोपनिषद्में 'तेन' का अर्थ लिखा है 'वरित्रा' दोनों ही शांकरभाष्य हैं—एक ही आचार्यके भाष्य हैं। दोनोंमें फर्क क्या हुआ कि यह जो केवल आत्म-वरण है कि मुझे मेरे स्वरूप-ज्ञानके सिवाय और कुछ चाहिए ही नहीं—यह जो अनात्म-प्रत्ययका तिरस्कार करके, नेति-नेति करके स्वरूप-साक्षात्कारमें दृढ़ निष्ठा है, इस निष्ठासे ही यह आत्मा प्राप्त होता है। तो वहाँ मुंडकोपनिषद्में साधकके प्रसङ्गमें यह मन्त्र आया है, इसलिए वहाँ यह कहा कि वरणसे प्राप्त होता है—वरण माने आत्म-वरणकी निष्ठा; और यहाँ कठोपनिषद्में साधनके प्रसङ्गमें यह मन्त्र नहीं है, यहाँ आत्माके निरूपणके प्रसङ्गमें है, इसलिए कहा कि यह वरित्राका स्वरूप ही है—

स्वयं च तत्त्वं स्वयमेव बुद्धम्।

अच्छा, भक्तिकी दृष्टिसे एक बात यह देखो कि जिसको तुम ईश्वर कहते हो वह ईश्वर तुम्हारे इस साढ़े-तीन हाथके शरीरके भीतर है कि नहीं है? जगत्का कारण-रूप ईश्वर, जगत्को बनानेवाला ईश्वर इस शरीरके भीतर है कि नहीं? आप यह देखो। यदि ईश्वर शरीरके भीतर नहीं है तो वह व्यापक नहीं है, उपादान नहीं है, सर्वात्मा नहीं है और शरीरी नहीं है, जीव-शरीरी नहीं है, देह-शरीरी नहीं है। तो भक्तिके दृष्टिकोणसे भी परमात्मा हमारे शरीरके भीतर है। अच्छा, ईश्वर तो है भाई; तो क्या है? क्यों नहीं मिलता है तुमको?

अदृष्टं द्रष्टृ, अश्रुतं श्रोतृ, अमतं मन्तृ अविज्ञातं विज्ञातृ सर्वेषां भूतानां मधुः।
यो पृथिव्यां तिष्ठन् यः पृथिव्याम् अन्तरो पृथिवीं यमयति।

वह जो पृथिवीमें रहकरके पृथ्वीका नियमन करता है, वही शरीरमें रहकर शरीरका नियमन करता है, वह चित्रमें रहकर चित्रका नियमन करता है—अपने शरीरमें वही अन्तर्यामी है, वह मधु है, माने अमृत है और वही **एष त आत्मा अन्तर्याम्यामृतः**—तुम्हारा अन्तर्यामी अमृतात्मा तुम्हारे शरीरके भीतर है। है कि नहीं है? यदि है तो उसका दर्शन क्यों नहीं होता है तुमको? क्यों तुम इस मन्दिरमें विराजमान परमेश्वरको छोड़ करके इधर-उधर भटक रहे हो?

घरमें कोई चीज मौजूद हो और वहीं खो गयी हो तो उसको ढूँढनेके लिए जंगलमें तो नहीं जाया जाता। क्यों तुम यहाँ रहनेवाले अन्तर्यामी ईश्वरको, इस परम-मधुको, अमृतको यहाँ छोड़कर, आत्माको यहाँ छोड़कर, परम प्रेमास्पदको यहाँ छोड़कर क्यों बाहर ढूँढने जाते हो? तो अन्तर्यामीके रूपसे परब्रह्म परमात्मा नित्य प्राप्त ही होता है, वह हमारी बुद्धिका प्रेरक है और यहीं मौजूद है।

धियो यो नः प्रचोदयात्।

ये ढूँढनेवाले महाराज आश्चर्य ही कर देते हैं। श्रीमद्भागवतकी टीकामें एक दृष्टान्त दिया है—

आत्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च।
आत्मापुनर्बहिर्मृग्यः अहो ज्ञ जनताज्ञता॥

कि देखो, ये पढ़े-लिखे लोग क्या मूर्खता करते हैं। श्लोकका अर्थ ऐसे है—**अहो ज्ञ जनताज्ञता**—यह ज्ञ जनता की, ज्ञानी जनताकी अज्ञता देखो—यह शिक्षितोंकी मूर्खता देखो। क्या देखो? **कि त्वम् आत्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च**—तुम अपने आत्मा हो उसको तो मान लिया कि कहीं दूर है और यह देहादि जो आत्मा नहीं है इनको मान लिया कि ये आत्मा हैं और फिर निकले ढूँढने कि हम परमेश्वरको ढूँढते हैं।

एक बुढ़िया माई एक दिन रातमें सड़कपर रोशनीमें कुछ ढूँढ रही थी। एकने पूछा कि माई क्या ढूँढ रही हो? थोड़ी हम तुम्हारी मदद कर दें। वह बोली कि बेटा सुई खो गयी है उसे ढूँढ रही हूँ। पूछा—कहाँ खोई थी? तो बोली—खोई तो घरमें थी। वह बोला कि तो घरमें ढूँढना चाहिए न? यहाँ क्यों आई? बुढ़िया बोली कि बेटा घरमें अन्धेरा था, यहाँ सड़कपर रोशनी है, इसलिए यहाँ ढूँढने चली आयी।

तो ये परमेश्वरको ढूँढनेवाले लोग-उनको अपने भीतर तो अन्धेरा मालूम पड़ता है और बाहर सूर्यकी रोशनीमें ढूँढने जाते हैं। अहोज्ञ जनताज्ञता—बड़े दुःखकी बात है। हमने अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगोंको शेम-शेम बोलते सुना है। शर्मकी बात है यह कि परमेश्वर बैठा है हमारे दिलमें और हम भटक रहे हैं, उसको ढूँढनेके लिए। अरे, उसको साथ लिये, लिये भटक रहे हैं, स्वयं भटक रहे हैं और उसको भी भटका रहे हैं। गलेमें बाँध लिया शालग्रामको और ढूँढने जा रहे हैं नेपालमें।

तो यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः—अब इसका दूसरा अर्थ भी देखो—

एष आत्मा अन्तर्यामी द्वारा यमेव साधकं वृणुते तेन अन्तर्यामी प्रेरणया लभ्यः।

यह आत्मा बुद्धिमें बैठ करके अन्तर्यामी बन जाता है और प्रेरणा करता है। तो जिसकी निर्मल बुद्धिमें आकरके ये आत्मदेव अन्तर्यामीके रूपमें प्रेरणा करते हैं कि अरे बाबा तू काहेको बाहर ढूँढता है, जरा भीतर देख न, उस प्रेरणासे यह आत्मा मिल जाता है। लोग चलते-फिरते परमात्माको नहीं देखते हैं—हे भगवान्। परमात्मा बोलता है, परमात्मा हँसता है, परमात्मा चलता है, लेकिन उसको आप देखते नहीं।

अब एक तीसरा अर्थ देखो :—

एष आचार्य द्वारा यमेव वृणुते

इस आत्माको जिसके सामने अपनेको प्रकट करना होता है उसके सामने गुरु बनकर ही आ जाता है—

आचार्य चैत्य वपुषा स्वगतिं व्यनक्ति।

परमात्मा अपनेको दो तरहसे जाहिर करता है—एक तो गुरुके द्वारा जाहिर करता है जो बताता है 'दशमस्त्वमसि'—तू दसवाँ पुरुष है; और एक ***चैत्यवपुषा—अहं दशमोऽस्मि***—मैं दसवाँ हूँ, इस बोधके द्वारा। जो आचार्य तुमको बताता है कि तुम ब्रह्म हो उसके द्वारा परमात्मा तुम्हारे सामने अपनेको प्रकट कर रहा है—**यमेवैष वृणृते एष आचार्य यमेव साधकं वृणुते**—कि आओ-आओ शिष्य, हम तुम्हारा अज्ञान मिटा दें, जो मैं सो तुम। गुरु कहता है 'जौ मैं सो तुम' और शिष्य कहता है कि बाबा, यह दरिद्र और मैं धनी-कहीं मैं तुम करके हमारे पैसेमें हमारा पार्टनर न बन जाय, हिस्सेदार न बन जाय। ये चेले नहीं हैं, चैले हैं।

तो दो गति हैं—एक तो आचार्यके रूपमें आकरके परमात्मा बोले कि तू वही है। देखो, जो शरणागति सम्प्रदायके हैं उनमें भी केवल ज्ञानको ही शरणागति मानते हैं। स्वतत्त्व क्या है और परतत्त्व क्या है, नियम्य क्या है नियन्ता क्या है, भोग्य क्या है भोक्ता क्या है, आश्रित क्या है, आश्रयी क्या है, शरीर क्या है, शरीरी क्या है—केवल इसके ज्ञानको ही शरणागति मानते हैं। तो आचार्य इस ज्ञानको प्रकटकर देता है और अपने हृदयमें यह दृढ़ निश्चय हो जाये—विचारके द्वारा निश्चय होवे, श्रद्धाके द्वारा निश्चय होवे, वेद-पुराण आदि शास्त्रके द्वारा निश्चय होवे—क्योंकि स्थूल, भौतिक यन्त्रके द्वारा इसका निश्चय नहीं हो सकता, यहाँतक

कि समाधिके द्वारा भी इसका निश्चय नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि अपने जो संस्कार हैं न वे यथार्थ ज्ञानमें बाधक होते हैं। देखो, समाधिमें तो कुछ मालूम नहीं पड़ता, पर जब उठते हैं तब फिर वही माँ-माँ मालूम पड़ती है, वही बेटा बेटा मालूम पड़ता है, वही तिजोरी-तिजोरी मालूम पड़ती है, और वही कलका सब मालूम पड़ता है, तो संस्कार सारे-के-सारे समाधिमें शान्त हो जाते हैं और समाधिसे उठनेपर सारे-के-सारे जाग्रत् हो जाते हैं, इसलिए समाधिसे उठनेके बाद अपने संस्कारोंसे अतिरिक्त और कुछ नहीं, वह तो जरा दब गया था थोड़ी देरके लिए। तो वह सत्य जिसपर हमारे संस्कारका असर न होवे, हमारे विकारका भी कोई असर न होवे और जिसके लिए कोई प्रकार-भेद भी अपेक्षित न होवे—वह संस्कार-विकार-प्रकार आकारके भेदसे निविर्मुक्त सत्य प्राप्त होना चाहिए। आकार-भेद, संस्कार-भेद, विकार-भेद और प्रकार-भेद ये चारों भेद प्रकृतिके राज्यमें हैं, परमात्माके राज्यमें आकार, विकार-संस्कार, प्रकार—ये चारों नहीं है।

दूसरी गति यह है कि 'चैत्य वपुषा'—हृदयमें प्रकट होकरके परमात्मा बोले कि यह मैं हूँ। पहली गति थी कि गुरुके रूपसे प्रकट होकरके बोल दे कि यह तू है अथवा अन्तर्यामीके द्वारा प्रेरित करे अथवा स्वयं आविर्भूत हो जाये। यह आत्मा अपने शरीरको प्रकट करता ही उसके सामने है—**तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूंःस्वाम्**—विवरण करना माने खुलासा करना—अब हम इस मन्त्रका विवरण करते,हैं माने खुलासा करते हैं। विवरण करनेका अर्थ होता है कि निरावरण करना। वि माने विगत और वरण माने आवरण इसलिए विवरण माने विगत आवरण माने आवरण-रहित कर देना।

बोले कि अब यह बताओ कि कैसे साधकको इस परमात्माकी प्राप्ति होती है? हमारे अन्दर क्या होना चाहिए। इसके लिए अगला मन्त्र है।

❖

आत्म-वरण करनेवाला साधक कैसा हो?

अध्याय-१ वल्ली-२ मन्त्र-२४

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ १.२.२४

अर्थ :—जो दुष्कर्मोंसे विरत नहीं हुआ है, जो इन्द्रियोंकी लोलुपताके कारण अशान्त है, जिसका चित्त एकाग्र नहीं है, अतः जो असमाहित है परन्तु एकाग्रताका फल चाहनेके कारण जो अशान्तमानस है, ऐसा साधक केवल प्रज्ञानके द्वारा (ब्रह्मविज्ञानके द्वारा) इस आत्माको प्राप्त नहीं कर सकता॥ २४॥

अयम् आत्मा प्रवचनेन न लभ्यः—यह आत्मा प्रवचनसे माने दूसरोंको वेदकी शिक्षा देनेसे प्राप्त नहीं होता। केवल प्रशिक्षणमें निपुण होनेसे इस आत्माकी उपलब्धि, लाभ, ज्ञान नहीं होता। अपने आपका अप्राप्त होना अज्ञान है। माने केवल अपने आपको न समझनेसे ही हम उसको अप्राप्त मानते हैं और ज्ञान ही आत्म-लाभ है अर्थात् उसको किसी क्रियाके द्वारा, किसी भावनाके द्वारा, ध्यानके द्वारा, स्थितिके द्वारा पाना नहीं है, वह तो नित्य प्राप्त ही है, केवल अप्राप्तिका जो भ्रम है, अज्ञान है ज्ञानसे उसकी निवृत्ति ही इष्ट है।

न मेधया—आत्म-ज्ञानमें मेधा काम नहीं करती है, क्योंकि बाहरकी जो वस्तु होती है उसके बारेमें अन्वय-व्यतिरेकसे बुद्धि विचार करती है—जैसे कि मिट्टीसे घड़ा बनता है, घड़ा फूटकर भी मिट्टीमें मिलता है, घड़ेमें मिट्टीका अन्वय है और मिट्टीमें घड़ेका व्यतिरेक है, तो जहाँ इस प्रकार कर्म-कारण भावका ग्रहण होता है वहाँ बुद्धि काम करती है, परन्तु जहाँ कर्म-कारण भावका ग्रहण नहीं होता है, वहाँ मेधा चाहे कितनी भी प्रबल होवे वह काम नहीं दे सकती।

न बहुना श्रुतेन—बहुत श्रवण करनेसे भी इस आत्माकी उपलब्धि, साक्षात्कार नहीं होता। क्योंकि जो तुम खुद हो उसके बारेमें सुन-सुनकर उसकी कहानी सुन-सुनकर क्या निश्चय करोगे? तब?

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः—यह साधक जब एकमात्र आत्माको ही वरण करता है, मुझे अनात्मकत्वेन प्रतीयमान वस्तु नहीं चाहिए—भले ही वह मैं ही होऊँ, लेकिन यदि वह परायेके रूपमें भास रही है, तो वह हमको नहीं चाहिए, जैसे कोई पतिव्रता स्त्रीके द्वारा भले ही उसका पति ही दूरसे आ रहा हो, लेकिन जबतक वह पराया मालूम पड़े तबतक वह प्रेमकी नजरसे देखने योग्य नहीं है। है पति लेकिन जबतक उसमें परायापन मालूम पड़े तबतक प्रेमकी नजरसे देखने लायक नहीं है, ऐसे ही ये आत्मदेव है तो अद्वितीय, लेकिन, जब तक अनात्म-रूपसे भासते हैं कि ये कोई दूसरी चीज है तब तक वरण करने योग्य नहीं है। तो जब आत्मदेव देखते है कि मैं झूठ-मूठमें दूसरा भासता हूँ तब यह हमको नहीं चाहता है, तब यह हमारा कितना सच्चा प्रेमी है! अपना आत्मा ही अगर अन्य-रूपमें भास रहा हो, तो वह भासमान अन्य हमको नहीं चाहिए! इतनी प्रीति होवे तब उसको कहते हैं आत्म-वरण। ऐसे वरणसे आत्माका साक्षात्कार होता है और ऐसा वरण करनेवाला अपने आत्माके रूपमें परमात्माका साक्षात्कार करता है।

'**तेन**'का एक अर्थ मुण्डकोपनिषद् में है और एक अर्थ कठोपनिषद्में है, वह आपको सुनाया। ब्रह्मसूत्रमें जहाँ इस मन्त्र पर विचार आया है वहाँ श्री शङ्कराचार्य भगवान्ने कई प्रकारसे इस बात को समझाया है। वरणके द्वारा प्राप्त होना ब्रह्मात्मै क्यानुसन्धानके द्वारा प्राप्त होना वरण करनेवालेके द्वारा अपने अभेद-रूपसे प्राप्त होना। बोले भाई, यह कैसे होता है? कि यह ऐसे होता कि परमात्मा है अन्तर्यामी नित्य-प्राप्त ईश्वर। ईश्वर अद्वैत-वेदान्तीके मनमें भी होता है—जो लोग कच्चे वेदान्ती है, नये वेदान्ती हैं, वे इस बातको समझते नहीं हैं। जिस मतके हाथ हैं, पाँव हैं, आँख हैं, कान हैं, दिल है, दिमाग है, धरती है, सूर्य है, चन्द्रमा है उसके मतमें इनका अन्तर्यामी संचालक भी है। वही वेदान्तके मतमें ईश्वर है—मायोपाधिक ईश्वर उसको बोलते हैं, माया-विशिष्ट ईश्वर, शक्तिशाली ईश्वर, प्रभावशाली ईश्वर। जिसकी शक्तिसे सूर्य अपने स्थानपर टिका हुआ है, धरती अपने स्थानपर टिकी हुई है, समुद्र अपने स्थानपर टिका हुआ है—वह सर्वान्तर्यामी ईश्वर हमारे हृदयमें भी है और नित्य-प्राप्त भी है। तो उसके प्रसादका

अर्थ क्या होता है कि वह हमारे हृदयमें वैराग्य दे, मुमुक्षा दे, जिज्ञासा दे! वैराग्य मुमुक्षा-जिज्ञासा भीतर बैठकर वह दान करे, और जब उसकी आराधना की जायेगी तब वह जरूर देगा, देनेके लिए वह बाध्य है। कैसे? कि जब हम अन्तर्यामी ईश्वरका ध्यान करेंगे तब बाहरके विषयका ध्यान टूटेगा कि नहीं? जब हम अन्तर्यामी ईश्वरसे प्रेम करेंगे तब बाहरका राग छूटेगा कि नहीं? और जब हम अन्तर्यामी ईश्वरसे प्रेम करेंगे तब बाहरके विषय दुःख-रूप मालूम पड़ेंगे कि नहीं? तो अन्तर्यामी ईश्वरसे प्रेम करनेपर उसकी आराधना करनेपर उसका ध्यान करनेपर बाहरके विषयोंसे वैराग्य होता है, इनसे मुमुक्षा होती है, आत्म-वस्तुकी जिज्ञासा होती है, सच्चे आराधकको ये वस्तु मिलती ही है। तो अन्तर्यामी हृदयमें बैठकर कहता है—और कहता नहीं है, उसकी उपस्थितिका, उसकी आराधनाका फल ही यह है, भक्तिका फल ही यह है—कि संसारसे वैराग्य, संसारसे मुमुक्षा, तत्त्वकी जिज्ञासा उत्पन्न हो जाय, आराधित ईश्वरका यह प्रसाद जब हमारे हृदयमें प्रकट होता है तब जब गुरु आकर कहता है कि तू वही है—**तत्त्वमसि**—तो उसी क्षण हम परमात्माको प्राप्त कर लेते हैं।

दूसरी बात यह भी है कि **एष परमात्मा यमेव वृणुते**—जिस साधकको परमात्मा पसन्द करता है कि यह हमको मिले, वही उसको पा सकता है, नहीं तो उसको छिपने की इतनी जगह है कि कोई उसको ढूँढ नहीं सकता। यह कैसा छिपनेवाला है, तो देखो, श्रीमद्भागवतमें ऐसे लिखा है कि विरोचनको आया क्रोध, तो उसने कहा कि कहीं हमको ईश्वर मिले तो हम उसको जरूर मार डालेंगे और वह लेकर हाथमें गदा ईश्वरको ढूँढने निकला। आप निश्चय समझो कि अगर उसको कहीं ईश्वर मिल जाता तो भले ही ईश्वरको वह मार नहीं सकता—ऐसा कहना जरा ईश्वरकी शानके खिलाफ मालूम पड़ता है—पर हम बात तो कह ही देते हैं दो टूक—अगर ईश्वर कहीं बाह्यार्थके रूपमें मिल जाता तो यह विरोचन दैत्य उसको मार डालता, क्योंकि यह संसारमें जो रुचि है—विशेष रुचि—यही विरोचन है, विरोचन माने संसारका राग। यह संसारका राग उस बाह्यार्थ रूपमें उपलब्ध ईश्वरको अवश्य मटियामेट कर देता, परन्तु विरोचनको ईश्वर मिला नहीं। क्यों नहीं मिला कि विरोचनका जो अहमर्थ है, मैं है, उस विरोचनके 'मैं में ही ईश्वर छिप गया—श्रीमद्भागवतमें ऐसा वर्णन आया है।

तो बाबा, ईश्वर कहाँ छिपा है? कि तुम भी विरोचन हो—कोई इन्द्र होता है, कोई विरोचन होता है, कोई प्रह्लाद होता है, कोई हिरण्यकशिपु होता है—जब सोने

(स्वर्ण) से प्रेम होता तब हम हिरण्यकशिपु हो जाते हैं, जब भोगमें रोचकता मालूम पड़ती है तब हम विरोचन हो जाते हैं, जब अपने स्वत्वकी बलि देनेके लिए तैयार होते हैं तब हम बलि हो जाते हैं, जब दूसरेको दुःख देनेके लिए चलते हैं तब वाण हो जाते हैं—यह हिरण्यकशिपुसे प्रह्लाद प्रह्लादसे विरोचन—एक-एक पीढ़ी देखो, हिरण्यकशिपु वाली पीढ़ी अच्छी नहीं है और प्रह्लादकी पीढ़ी अच्छी है और फिर प्रह्लादके विरोचन—अच्छी नहीं है और फिर विरोचनके बलि और बलिके बाण—सीताराम-सीताराम! एक साल खेतमें गेहूँ पैदा हो जाता है तब दूसरे साल उसमें मटर बोते हैं, गेहूँका पौधा सीधा जाता है, खड़ा होता है, तो जब खड़े जानेकी खेतकी ताकत नष्ट हो जाती है तब लेटनेवाला पौधा—मटर उसमें बोते हैं और जब खेतकी लेटनेवाली शक्ति खत्म हो जाती है तब दूसरे साल फिर उसमें गेहूँ बोते हैं। शिवकुमार शास्त्री इतने बड़े विद्वान् हो गये काशीमें कि उनके बेटेको फिर एक अक्षर नहीं आया। सारा दिमाग शिवकुमार शास्त्रीमें ही खत्म हो गया।

तो ईश्वरकी जो कृपा है—आचार्यकी जो कृपा है और अपने ऊपर अपनी कृपा है—उसीसे आत्म ज्ञान होता है, **यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः**। गुरुजी पसन्द करें कि हाँ, यह लड़की तो ईश्वरके ब्याहने लायक है—**तेन लभ्यः**—उसीके द्वारा परमेश्वर प्राप्त हो जायेगा।

तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूःस्वाम्—'तस्य एष आत्मा'—उसकी क्या वस्तु है सृष्टिमें? बोले 'एष आत्मा,' आत्मा ही उसकी वस्तु है, यह आत्मा ही उसका सर्वस्व है और उसके सामने यह अपनेको छिपाता नहीं है। तो हर हालतमें—गुरुजी कृपा करें तो और परमात्मा कृपा करें तो और यह साधक तीव्र जिज्ञासाके द्वारा वरण करें तो हर हालतमें अपने आत्म-तत्त्वका सर्वाधिष्ठान, स्वयं प्रकाश सर्वावभासक परमात्माके साथ ऐक्यानुसन्धान—यही अज्ञानकी निवृत्तिका उपाय है। मन्त्रका अर्थ चाहे जैसा किया जाये पर उसका तात्पर्य एक ही निकलता है।

अब यह प्रश्न उठाते हैं कि आत्म-विज्ञानके लिए क्या-क्या आवश्यक है? तो 'प्रज्ञानेन'—एक आदमी खूब उपनिषद् पढ़ता है तो क्या उसे आत्मज्ञान हो जायेगा? हमने ऐसे व्यक्तिको देखा है जिनको १०८ उपनिषद् बिलकुल कण्ठस्थ हैं, परन्तु आत्मज्ञान? उनको आत्मज्ञान नहीं है—ठन-ठनपाल। यह मैंने देखा। बोले कि उनको 'अद्वैत-सिद्धि' और 'चित्सुखी', 'खण्डन-खण्ड खाद्य'

'वेदधिकार'—सब याद हैं, पुराणोंकी बढ़िया कथा कहते हैं। मगर पुराणोंमें दो नम्बरका ब्रह्मज्ञान होता है, क्योंकि उसमें शक्तिमान ईश्वरका तो प्रधान-रूपसे वर्णन है और निर्विशेष परमात्माका जो वर्णन है पुराणोंमें वह संकेत रूपसे है। जैसे गोस्वामी तुलसीदासके रामायणमें निर्विशेष अद्वैत ब्रह्मज्ञानको ढूँढना हो, तो अक्कल लगानी पड़ती है, बिना अक्कल लगाये नहीं मालूम पड़ता है वैसे ही पुराणोंमें भी अक्कल लगानी पड़ती है, *'सरसई ब्रह्म विचार प्रचार'* उपनिषद् वेदान्त है, ब्रह्मसूत्र वेदान्त है और उसपर शांकरभाष्य वेदान्त है और सुरेश्वराचार्यके वार्तिक वेदान्त हैं—**वेदान्ताःवार्तिकावधिः**, और उसके बादके ग्रन्थोंमें थोड़े-थोड़े सविशेष पदार्थका निरूपण है। 'त्रिपुरारहस्य'में जो वेदान्त है वह दूसरे ढंगका है। यह जो दत्त भार्गव-संवाद (त्रिपुरा रहस्य) है, देवी भागवत है, श्रीमद्भागवत है—इनमें वेदान्त समझनेके जिए थोड़ी बुद्धिकी आवश्यकता पड़ती है और भक्ति समझनेके लिए बुद्धिकी आवश्यकता नहीं पड़ती।

तो आओ अब आपको यह सुनावें कि लोग इतना सुनते हैं, लिखते हैं, पढ़ते हैं और समझ भी उनकी बड़ी होती है, फिर भी उनको ज्ञान क्यों नहीं होता। अब आज हम आपको नाम लेकरके बताते हैं—'खण्डन-खण्ड-खाद्य' वेदान्तका बड़ा अच्छा ग्रन्थ है, इसकी हिन्दीमें टीका करना बड़े-बड़े विद्वानोंके लिए दुःशक्य है और हिन्दीमें भी फिर वही मूल शब्द रख देते हैं। चण्डी प्रसाद शुक्ल थे खुर्जाके, बहुत बड़े विद्वान् थे, काशीमें प्रिन्सिपल हुए, उन्होंने हिन्दीमें खण्डन-खण्ड-खाद्यपर टीका लिखी। एक दिन श्रीउड़ियाबाबाजीके पास आये। श्रीउड़ियाबाबाजीने कहा कि तुमने 'खण्डन-खण्ड-खाद्य'की हिन्दी कर दी, तुम अपना अनुभव सुनाओ! क्या अनुभव है तुमको? काशीके चोटीके पण्डित महाराज, तो वे हाथ जोड़कर बोले कि स्वामीजी महाराज, हम तो गृहस्थीमें फँसे हुए जीव हैं, हम आपको क्या अनुभव सुनावें, अनुभव तो आपकी वस्तु है, हम तो केवल अध्ययन-अध्यापनके द्वारा शास्त्रकी रक्षा करते हैं।

यह बात इसलिए बतायी कि **प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्**-केवल पढ़-लिखकर इस परमात्माका साक्षात्कार नहीं हो सकता; समझदारीसे, केवल विद्या-बुद्धिसे इसका साक्षात्कार नहीं हो सकता।

अब एक दूसरा नाम लेकर आपको सुना देते हैं! गंगा-किनारे एक महात्मा थे, दण्डी-स्वामी थे, उनका नाम था स्वामी श्रीविश्वेश्वराश्रमजी। श्रीकरपात्रीजी महाराजने उनसे विद्या-अध्ययन किया था, ब्रह्मचर्य अवस्थामें

भी और गृहस्थावस्थामें भी। करपात्रीजी महाराज पहले गृहस्थ थे और दण्डी स्वामी होनेके बाद भी उन्होंने उनसे विद्या-अध्ययन किया। तो स्वामी विश्वेश्वराश्रमजी नरवरमें रहते थे! पण्डितोंमें उनको षड्दर्शिनीके आचार्य बोला जाता था, माने छहों दर्शन उनकी जिह्वापर नृत्य करते हैं, ऐसे उनके बारेमें लोग बोलते थे; विद्या इनकी जीभकी नोकपर नाचती है—ऐसे उनके बारेमें बोलते थे लोग। पण्डित जीवनदत्तजी ब्रह्मचारी उन्हींके पास ठहरते थे। बहुत बड़े विद्वान्। तो उनसे किसीने पूछा कि महाराज आपको ब्रह्मज्ञान हो गया कि नहीं हुआ? तो बोले कि देखो, हम तो शास्त्रोंकी रक्षा करते हैं, ये लुप्त न हो जायँ; हम पढ़ा देंगे-वेदान्तका, मीमांसाका, न्यायका, वैशेषिकका, योगका, सांख्यका कोई भी ग्रन्थ आकरके तुम हमसे पढ़ो, हम ग्रन्थ-ग्रन्थिको खोल देंगे, परन्तु, हम तो शास्त्रकी रक्षा कर रहे हैं!

तो देखो, इतना बड़ा पाण्डित्य और बस ग्रन्थ-ग्रन्थि खोलते हैं, अविद्या-ग्रन्थि नहीं खोलते हैं, इसका कारण क्या है? यह जो मंत्र है—यह कहता है कि—**प्रज्ञानेन एनम् न आप्नुयात्**—बड़ी भारी विद्या, बड़ी भारी बुद्धि किसीको प्राप्त होवे, परन्तु 'एनम् न आप्नुयात्'—यह अपने आपको नहीं प्राप्त करा सकती । वह तो विद्याकी मशाल लेकर गाँवमें ढूँढने गया, वह तो बुद्धिकी मशाल लेकरके गाँवमें ढूँढने गया। अपने घरमें खोयी चीज गाँवमें कहाँ मिलेगी?

एक आदमी थोड़ी भाँगके नशेमें था; उसने बच्चेको ले लिया कन्धेपर। अब वह दिखे नहीं, सोचा कि बच्चा कहाँ गया? इधर-उधर देखा फिर हल्ला किया लोग भी इकट्ठा हो गये, हमारा बच्चा कहाँ गया? तो लोगोंने सोचा कि कोई दूसरा बच्चा होगा, एकको तो कन्धेपर ले ही रक्खा है। पुलिसमें गया और उसने रिपोर्ट कर दी और स्वयं पागल-सरीखा हो गया, हमारा बच्चा खो गया, हमारा बच्चा खो गया। और बच्चा जो था वह मौजसे कन्धेपर बैठकर और सिरका सहारा लेकर सो गया। गाँव भर वह घूमता रहा। जब घर लौटा तो देहरीकी लगी चोट बच्चेके सिरमें और वह चिल्ला उठा। बोला कि अरे, यह तो हमारे कन्धेपर बैठा है!

तो **एनम्**का अर्थ है कि जिसको तुम अपने से जुदा मानकर ढूढँने निकले हो वह तुम खुद ही हो। सांख्य-दर्शनमें दृष्टान्त आता है। सोनोका हार गलेमें-जरा पीछेको हो गया, देखा कि नहीं है, अब महाराज, घरमें उपद्रव मचा दिया कि हमारा हार खो गया, हार खो गया, हार खो गया? *विस्मृतकण्ठमणिवत्*— कण्ठमें सोनेका हार क्यों नहीं मिलता? कि भूल गये।

तो 'एनम्'—जो परमात्मा अपना-आपा है उसको जब तुम छिपा हुआ मानकर, अन्य मानकर दूसरे देशमें ढूँढने जाते हो, तब भला वह कैसे मिलेगा! कहाँ जाते हो? बोले कि कलेजेमें मिलेगा; कि नहीं-नहीं, नाभिमें मिलेगा, कि नहीं सिरमें मिलेगा कि यहाँ नहीं स्वर्गमें मिलेगा! कि अरे बेवकूफ, जो ढूँढ रहा है वह कौन है? उसको तो ढूँढा है ना! यह ढूँढनेवाला जो है अनुसन्धान करनेवाला जो है, जिज्ञासा करनेवाला जो है, वह वही है। जो जिज्ञासाका साक्षी है, जो जिज्ञासाका प्रकाश है, वह कौन है? तू कौन है? तो *गोदमें बालक शहरमें ढिंढोरा; कण्ठमें हार-कण्ठचामीकरवत्*-यह नित्य-प्राप्त अपना आपा, अतः इसको ढूँढनेके लिए निकलते हैं तब कहाँ पहुँच जाते हैं कि गलत जगह पहुँच जाते हैं। देखो तुम्हारा फँसाव कहाँ है?

नाविरतो दुश्चरितात् नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥

इसमें चार बातें हैं—

१. दुश्चरितात् अविरतः एनम् प्रज्ञानेन न आप्नुयात्-

२. अशान्तः प्रज्ञानेन एनम् न प्राप्नुयात्

३. असमाहितः प्रज्ञानेन एनम् न प्राप्नुयात्

४. अशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेन एनम् न आप्नुयात्-

१. दुश्चरितात् अविरतः—जो दुश्चरित्रसे विरत नहीं हुआ, उपरत नहीं हुआ। दुश्चरित्र क्या है—कि दुष्ट लोगोंका जो चरित्र है, वही दुश्चरित्र है और शिष्ट लोगोंका जो चरित्र है वही सच्चरित्र है। दुश्चरित्र माने जो मना किया हुआ काम है वही जो करता है, वह दुश्चरित्र है। जैसे कानूनके खिलाफ चलनेवाला राज्यका अपराधी है वैसे ही वेद-विहित-धर्मके विपरीत करनेवाला दुश्चरित्र है! बोले—इतना ही नहीं-जो विहित है उसको न करनेवाला भी दुश्चरित्र है। ये दो बात हो गयीं। इसको ऐसे समझो-कि चौराहे पर पुलिसका सिपाही खड़ा है और वह दूसरेको लूट लेता है, तो यह निषिद्ध है, उसके लिए भी निषिद्ध है, तो लूटना निषिद्ध आचारण है; और वह खड़ा तो हो चौराहेपर और मोटरोंको हाथ न दे, जो उसके लिए विहित है उसको न करे, तो वह अपराधी हुआ कि नहीं हुआ? तो मांस-भक्षण प्रतिषिद्ध-कर्म करे और सन्ध्या-वन्दन आदि विहित कर्म न करे-दोनों हालतमें मनुष्य दुश्चरित्र है।

निषिद्धका आचरण और विहितका त्याग मनुष्य क्यों करता है? इसका

विज्ञान हम आपको सुनाते हैं। असलमें मनुष्य वस्तुमें जबतक गुण समझता है, इन्द्रियमें सुख समझता है और जबतक अपने मनकी अमुक स्थितिमें ही मजा लेना चाहता है तबतक वह विशेष-वस्तुका ही प्रेमी होता है, वह निर्विशेषका प्रेमी नहीं होता है। तो विशेषमें उसकी महत्त्व-बुद्धि है। देखो, यह आदमी शहरमें बेईमानीसे कमाई कर रहा है और एक आदमी ईमानदारीसे कमाई कर रहा है; तो दोनोंमें क्या फर्क है? कि एकके मनमें कमाईकी वासना इतनी प्रबल है कि वह मर्यादा तोड़ कर कमाई करता है और दूसरे आदमीके मनमें भी पैसेकी वासना हैं और वह भी कमाईका काम करता है लेकिन पैसेकी वासना उसके काबूमें है जिसके कारण वह बेईमानी नहीं करता है। पैसेमें महत्त्व-बुद्धि तो इस दूसरे आदमीको है, परन्तु इतनी नहीं है कि अपनी आत्माका सत्यानाश करके वह पैसा कमाये! तो आप देखो, कि प्रतिषिद्धके आचरणमें वासनाका वेग तीव्र हैं और विहितके आचरणमें वासनाका वेग नम्र है, कम है। तो महत्त्व-बुद्धि तुम्हारी कहाँ है? पैसेमें महत्त्व-बुद्धि है, कि ईश्वरमें महत्त्व-बुद्धि है, कि अपने हृदयमें महत्त्व-बुद्धि है, कि कहीं महत्त्व-बुद्धि है ही नहीं? परमात्माकी ओर जानेके लिए तो निर्विशेषका प्रेमी होना पड़ता है।

तो जो पाप-कर्मसे विरत नहीं हुआ माने पाप-कर्म करनेमें जिसकी रति नष्ट नहीं हुई, उसे केवल बुद्धि-बलसे आत्मज्ञान नहीं होता। देखो, पाप-कर्म होना दूसरी चीज है और पापमें रति होना दूसरी चीज है। कभी असावधानीसे किसीके पाँवके नीचे चींटी आयी और मर गयी, और रातको मच्छरने काटा अथवा खटमलने काटा और हाथ जाकर उसपर पड़ा और वह जीव पटापट मर गया—उसको पाप-कर्ममें रति नहीं बोलते हैं। वहाँ मारनेमें रति नहीं है। तो पापकर्मसे विरत हो जाये, उसमें रुचि न हो! यह नहीं कि खाये नहीं, पीये नहीं, पैसा रखे नहीं—सब रहे, परन्तु रुचि कहाँ रहे? कि आत्मामें। जिसका अपने बच्चेसे प्रेम है वह दुकानपर काम करते हुए भी बच्चेका ख्याल तो रखता है न—रति तो उसकी बच्चेमें है; पत्नी है, घरका काम करते हुए भी रुचि तो अपने पतिमें रखती है न-अलग रहकर भी उसकी रुचि उसके पतिमें ही रहती है। तो विरतिका अर्थ क्या हुआ कि दुश्चरित्रतामें, पापमें रति नहीं रहे। जबतक यह रति छूटेगी नहीं—जान-बूझकर पाप करते हैं, जान-बूझकर झूठ बोलते हैं, जान-बूझकर चोरी-बेईमानी करते हैं और जबतक दुश्चरित्र आदमी छोड़ेगा नहीं तबतक यह विद्या-बुद्धि काम नहीं देगी।

(२) नाशान्तः—कि अच्छा भाई, बुराई तो नहीं करते, लेकिन मनमें काम आता है, क्रोध आता है, राग-द्वेष आता है, बड़ी अशान्ति होती है। ये इन्द्रियाँ पराये घरकी ओर झाँकती रहती हैं माने इन्द्रिय-लौल्य है। तो नाशान्तःका अर्थ हुआ कि शम-दमसे जो सम्पन्न नहीं है, जो अशान्त है उसको विद्या-बुद्धिसे परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी, तो अशान्तका क्या अर्थ है कि जिसके अन्दर शम-दम नहीं है! इन्द्रियाँ अपने काबूमें नहीं, जीभ जो कहे सो खा लें, आँख जो कहे सो देख लें, हाथ जो कहे सो कर लें, पाँव जहाँ कहें वहाँ चले जायँ कोई रोक-टोक नहीं, कोई मर्यादा नहीं, तो ऐसे आदमीको परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती।

(३) नासमाहितः—बोले भाई, हमारे जीवनमें दुश्चरित्र भी नहीं है और मनमें काम-क्रोध भी नहीं आता। परन्तु आपका मन एकाग्र है कि नहीं? बोले—हाँ, बिलकुल एकाग्र है। तो ठीक है; यदि शम-दम होवे और मन चंचल हो माने काम-क्रोध न होवे, पर मन चंचल होवे, अर्थात् यदि मन न यहाँ जमे न वहाँ जमे—*धोबीका कुत्ता, न घरका न घाटका!* तो उस अनेकाग्रमना विक्षिप्तचित्तको भी केवल प्रज्ञासे परमात्माका साक्षात्कार नहीं होता। **आप्नुयात्**। चित्तमें समाहित होना चाहिए। जैसे मुर्देको दफना देते हैं ऐसे ही अपने मनके हृदय-देशमें दफना ही देना चाहिए—समाधिमें रहो बेटा!

(४) नाशान्तमानसो वापि—बोले हमारा मन तो खूब एकाग्र होता है जी, फिर भी वेदान्त-श्रवणसे ज्ञान नहीं होता है! इसपर कहते हैं-ठीक बात है। कई-कई लोगोंको तो अपने सद्गुणका भी भ्रम होता है। वे जब दूसरेसे पूछने जाते हैं कि आप हमारे दोष बताओ तो उनसे क्या कहना चाहिए? वे कहेंगे-महाराज, हमको तो हमारे अन्दर कोई दोष नहीं दीखता है, जरा आप बता दीजिये हमारे दोष। पर इससे एक बात तो यह देखनेमें आयी है यदि दोष बता देते हैं तो हमेशाके लिए दुश्मन ही हो जाता है फिर वह आता ही नहीं है।

एक जिज्ञासु थे हमारे पास वृन्दावनमें—बहुत पुरानी बात है—हमारा तो सब देखा-सुना हुआ है न,तो वे बहुत कहते कि हमारे दोष बता दिया करें, हम उनको सुधार लिया करेंगे। हम उससे कहते कि बाबा, क्या दोष है, क्या गुण है, सब ईश्वरकी सृष्टि है, तुम भी भगवान्‌के स्वरूप हो, क्या दोष बतावें तुम्हारे अन्दर, अपनी वृत्ति हम काहेको बिगाड़ें, काहेको दोषाकार करें? बोले कि नहीं बतायें ही और कई दिनों तक आग्रह करते रहे। तो एक दिन बैठे हुए थे मेरे सामने तो मैंने कहा यह जो तुम पाँव-पर-पाँव रखकर हमारे सामने बैठे हुए हो—यह दोष है,

शिष्टाचारके विपरीत है, बड़ोंके सामने पाँव-पर-पाँव रखकर नहीं बैठते हैं। तो मान गये, तुरन्त उन्होंने अपना पाँव नीचे कर लिया। कुछ देर बाद उठे और हमारी ओर पीठ करके जाने लगे तो मैने कहा कि पीठ करके नहीं जाना चाहिए—यह दोष है। चौबीसों घण्टे हमारे साथ रहने-उठने-बैठनेवाले, हमारे साथ सोवें, हमारे साथ जागें—अब मैंने दिन-भरमें कोई बीस-पच्चीस गल्तियाँ बतायी उनको; तो वे बोले कि आप तो खुचर निकालते हो। हमने कहा भाई, गल्ती है तो सुधारो। वे बोले कि नहीं, आप बात-बातमें दोष बताते हैं और मुझपर नाराज होने लगे। मैंने कहा, बस-बस अब मैं नहीं बताऊँगा, अब तुम डरना नहीं, मैं कुछ नहीं बताऊँगा। किसीका दोष बतानेपर तो वह नाराज होगा ही, क्योंकि सबलोग तारीफ ही सुनना चाहते हैं—एक दिन कह दें कि तुम्हारी बुद्धि ब्रह्मज्ञानमें प्रवेश नहीं करती है तो बस क्या बतावें आपको?

अच्छा, जिसने पूछा कि हमारे अन्दर क्या दोष है, हमको तो नहीं मालूम पड़ता, आप बताओ, तो उसको हम यह बतावें कि देखो, यह तुम्हारा अभिमान है कि हमारे अन्दर कोई दोष नहीं है और यह अभिमान स्वयंमें बड़ा भारी दोष है कि हमारे अन्दर कोई दोष नहीं है। निर्दोष तो केवल नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म ही है। ब्रह्मातिरिक्त यदि कोई भी स्थिति तुम्हारे अन्दर है, व्यक्तित्वका अभिमान है, तो वह निर्दोष कैसे हो सकता है? तुम ब्रह्मसे अलग रहकर निर्दोष रहना चाहते हो? ब्रह्मसे अलग होना ही दोष है। यह अभिमान ही दोष है, यह अविद्या ही दोष है। ब्रह्मसे अलग प्रपञ्चको सत्य मानना और निर्दोष होना—यह कैसे हो सकता है?

बोले भाई, अब तो निर्दोष हैं, हमारी समाधि लग गयी। तो बोले कि नहीं, ये समाधि लगानेवाले ऐसे हैं कि जैसे जंगलमें जा भजन करने बैठते हैं न, और दोपहर हो जाय, बीच-बीचमें जब आँख खुलती है तब चारों ओर देख लेते हैं कि कोई भोजन लेकर आ रहा है कि नहीं। अब तुम समझो कि हमको उन लोगोंने यह बात बताय़ी है जो ऐसे भजन करते हैं, और उन्होंने ही बताया नहीं है, हम भी जाकर जब ऐसे भजन करते थे, तो ऐसा होता था। शामको पाँच बजे, छह बजे जब जरा ठण्डा हो जाता तब ध्यान भी किया और जरा आँख खोलकर रास्तेकी ओर देख भी लिया कि कोई सत्सङ्ग करनेके लिए आ रहा है कि नहीं आ रहा है। तो यह तो आपको दृष्टान्त बताया, इसका दार्ष्टान्त दूसरा है; वह यह है कि जब चित्त एकाग्र होता है न तब दस मिनट, बीस मिनट, आधा

घण्टा, घण्टे भर चित्त एकाग्र रहता है; परन्तु आप माफ करना—ऐसा हमलोग मानते नहीं हैं, सिर्फ आपके सन्तोषके लिए ऐसा कह रहे हैं। श्रीउड़ियाबाबाजी महाराज कहा करते थे कि यदि बारह मिनट किसीका चित्त एकाग्र रह जाय तो वह समाधिकी दशामें चला जाता है। तो बीच-बीचमें कई चीजें आती हैं कई जाती हैं, लेकिन हमने एकाग्रताकी परिभाषा ऐसी बना रखी है कि अपने यारकी याद आ जाय तो उसको चित्तकी चंचलता नहीं मानते हैं या चित्त सो जाय तो उसको चित्तका दोष नहीं मानते हैं, पर असलमें लय और विक्षेप दोनों दोष हैं। लेकिन चलो मान लिया कि तुम्हारा मन पन्द्रह मिनट, आधा घण्टा एकाग्र रहता है। यह जो लोग तीन-तीन घण्टे कमरा बन्द करके बैठते हैं और निकल कर कहते हैं कि हम भजन करके निकल रहे हैं, तो तुम भजन करके नहीं निकल रहे हो, तुम दिनभरकी योजना बनाकरके और छह महीने आगेकी भी योजना बनाकर निकल रहे हो—यह हमको मालूम है। तो यह बन्द कमरेमें बैठकर चित्त समाहित हो तब भी परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती है, क्योंकि जब समाधिसे उठते हैं तब देखते हैं कि हमारे अन्दर कौन-कौन-सी सिद्धि आयी और कौन-कौन-सी नहीं आयी। जिसके मनमें सिद्धिकी इच्छा है कि हम जब चित्त एकाग्र करेंगे तो देवता आकर दर्शन देगा—देवता आकर कहेगा कि देखो, दो मील दूरका हम तुमको दिखा देते हैं, कलकत्तेमें इस समय क्या हो रहा है तो हम तुमको मालूम कराते हैं, तुम्हारा कौन दोस्त है बताते हैं, तुम्हारा कौन दुश्मन है सो बताते हैं—उसको परमात्मा नहीं मिलता। यह होता है मनमें मनोराज्य—सोलह आने मनोराज्य। कोई परलोककी आत्मा आ गयी, वह हमसे बात कर गयी—यह मरी हुई आत्मा यह चुड़ैल कहाँसे आती है—वेदान्ती लोग तो यह दृष्टान्त ही देते हैं—आपको देखो सुनाते हैं। जिनको वेदान्तसे प्रेम होगा उनको अच्छी लगेगी, जिनको प्रेम नहीं होगा, उनको अच्छी भी नहीं लगेगी।

वे कहते हैं कि यह जो देवताओंके दर्शन होते हैं—इन्द्र देवताका दर्शन हुआ, कुबेरका दर्शन हुआ। यह देवताओंका दर्शन कैसा होता है कि नष्ट 'वनितादिवत्'। जैसे किसीकी बड़ी प्रेयसी स्त्री हो और मर गयी हो तो वह जब एकान्तमें बैठते हैं, तो उनको मालूम पड़ता है कि वह आ गयी है, वह बोल रही है, वह खड़-खड़ कर रही है—तो नष्ट-पुरुष हो अथवा नष्ट-स्त्री, इसमें कोई फर्क नहीं है, जैसे ताजमहलमें किसीको मालूम पड़ता है कि बीबी ताज अब भी आकर

खिड़कीमें बैठती हैं—तो यह जैसे केवल मनका ही खेल है—न वहाँ बीबी ताज आती है, न यहाँ आपकी श्रीमती आती हैं, न श्रीमान आते हैं—यह मनीराम सब गड़बड़ मचा लेते हैं। ऐसे ही महाराज जब एकाग्रतासे उठते हैं तब सिद्धिकी उम्मीद करते हैं—हमारे ध्यानमें वह दोस्त आया, वह दुश्मन आया और हमने यह सचाई देख ले, वह सचाई देख ली। असलमें सिद्धिकी इच्छा बनी हुई है वह एकाग्र-चित्त हो जावे तब भी, बड़ी-बड़ी बुद्धि-विद्या प्राप्त करनेसे भी परमात्मा उसे नहीं मिलता।

तो चार बात इस मन्त्रमें से निकलीं श्रीशङ्कराचार्यने भाष्यमें अन्तमें इनका संग्रह कर दिया है—

यस्तु दुश्चरिताद्विरतः इन्द्रियलौल्याच्च समाहितचित्तः समाधानफलादप्युपशान्तमानसश्चाचार्यवान्प्रज्ञानेन यथोक्तम् आत्मानं प्राप्नोतीत्यर्थः—

इस मन्त्रका अर्थ क्या है कि पाप-कर्मसे उपराम होकरके और इन्द्रियोंकी चञ्चलता भी छोड़करके और चित्तको एकाग्र करके और एकाग्रताका जो फल है सिद्धि आदि—लौकिक-पारलौकिक, क्योंकि उपासनाका फल है कि इससे स्वर्ग मिलेगा, इससे पितर-लोक मिलेगा, इससे देवता मिलेगा, कि इससे आकाशमें उड़ सकोगे, इससे पानी पर तैर सकोगे कि इससे दूसरेके मनकी बात जान सकोगे, दूर तक देख सकोगे, दूर तक सुन सकोगे—ये जो एकाग्रताके फल हैं इन फलोंका भी जो परित्याग कर देता है और ऐसी स्थितिमें जो आचार्यवान भी हो—निगुरा न हो, उसका गुरु हो, वही प्रज्ञा बलसे परमात्माको प्राप्त कर लेता है।

यह जो प्रत्यक् चैतन्यकी ब्रह्मता है वह अपनी सँडासीसे पकड़में नहीं आती। क्योंकि अपने हाथमें सँडासी लेकर अपने उसी हाथको नहीं पकड़ सकते। दर्शन-शास्त्रकी भाषामें इसका नाम कर्तृ-कर्म-विरोध है—जो कर्त्ता है वह कर्मका विषय नहीं हो सकता। जैसे यदि हम अपने दोनों पाँवोंको अपने कन्धेपर रखकर चढ़ बैठना चाहें माने हम ही चढ़ें और हम ही चढ़े जायँ, ये दोनों बात जैसे शक्य नहीं है वैसे ही हम ही बुद्धिके द्वारा जानें और हम ही जाने जायँ, यह नहीं हो सकता। बुद्धि यह दोनों काम नहीं कर सकती कि एक ओर तो हमारे सामने रहकर सँडासी बने और दूसरी ओर वही सँडासी बनकर हमको पकड़े—बुद्धिकी सँडासीसे हम दूसरेको पकड़ सकते हैं—इसको दर्शन-शास्त्रमें कर्तृ-कर्म-विरोध बोलते हैं—जो कर्त्ता है सो कर्म नहीं हो सकता।

कि तब? तब बोले कि नारायण जो बुद्धिकी सँडासी हाथमें लेकरके दुनियाकी तलाश कर रहा है, सबकी परीक्षा कर रहा है कि यह ईश्वर है, यह जीव है, यह जगत् है—यह बुद्धिकी सँडासी, दूरबीन हाथमें लेकर, बुद्धिकी खुर्दबीन हाथमें लेकर जो सबको देख रहा है वह कौन है? गुरुने कहा—अरे, तू जिसको ढूँढ रहा है तूँ वही है। जो तुझे पहाड़के भीतर मिलेगा, वही तेरी बुद्धिके भीतर है, जो तुझे सम्पूर्ण पञ्चभूत—सृष्टिके परे मिलेगा, वही तेरी बुद्धिके परे बैठकरके तूँ बैठा हुआ है—गुरु यह बात बताता है।

तो चार बात छोड़ दें—

(१) पाप छोड़ें

(२) इन्द्रियोंकी लोलुपता—विषय-लोलुपता छोड़ें

(३) चित्तका विक्षेप छोड़ें और

(४) चित्तकी एकाग्रताका फल न चाहें—चार बात छोड़ दें और एक बात पकड़ लें कि गुरुकी शरण लें; तब अपनी विद्या-बुद्धिमें भासमान आत्मतत्त्वका ज्ञान होता है। शीशेमें जिसका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है उसको बताना पड़ता है। शीशेमें कौन दिख रहा है—यह बात बच्चेको बतानी पड़ती है कि बेटा तू ही दिख रहा है शीशेमें, नहीं तो शीशेकी परछाईं देखकर बच्चा रोता है, चिड़िया लड़ती हैं, पशु लड़ता है—भला। इस अन्तःकरणके शीशेमें तुम्हारी ही परछाईं दिखायी पड़ रही है; जो यह प्रपञ्च दिखायी पड़ रहा है, यह तुम्हारी परछाईं ही है। तुम अपनी परछाईंको सच्ची मानकरके सेश्वर और सजीव जगत्को सत्य मान रहे हों। ईश्वर सहित और जीव-सहित यह जो जगत् है वह कहाँ है? कि तुम्हारे अन्तःकरणमें, तुम्हारे प्रतिबिम्बके रूपमें दिखायी पड़ रहा है, वस्तुतः तुम्हारे अतिरिक्त और कोई नहीं है।

तो यह जो विद्या-बुद्धि है—प्रज्ञान, तत्त्वमस्यादि महावाक्य-जन्य-ज्ञान—यह किसको होता है? कि आचार्यवान् पुरुषको। कि सब आचार्यवान् पुरुषोंको भी ज्ञान क्यों नहीं हो जाता? तो बोले कि उपर्युक्त बातें छोड़नी आवश्यक हैं।

अनधिकारी इस आत्माको यथार्थ नहीं जान सकता

अध्याय—१ वल्ली-२ मन्त्र-२५

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥ २५॥

अर्थ :–जिस आत्माके ब्राह्मण और क्षत्रिय, से दोनों भात हैं तथा मृत्यु जिसके लिए उस भात ओदनके साथ खानेवाला उपसेचन (शाकादि) है, उस आत्माको कौन ऐसा अज्ञ पुरुष है जो अधिकारीके समान जान सके? अर्थात् कोई नहीं है।

पहले बताया कि दुश्चरित्रसे उपराम हो, मन और इन्द्रियोंमें भोगकी वासना शिथिल हो गयी हो, चित्तमें एकाग्रता हो, किसी भी सिद्धिकी इच्छा न हो और सद्गुरुकी कृपा हो, तब 'तत्त्वमस्यादि' महाकाक्य-जन्य अखण्डार्थ धीके द्वारा परमात्माका साक्षात्कार होता है।

जबतक दुश्चरित्रमें प्रीति है, धर्मके अनुसार जो वस्तु-भोग-कर्म हमें प्राप्त है उनमें सन्तोष नहीं है और अधर्मके द्वारा हम वस्तु प्राप्त करना चाहते हैं, अधर्मके द्वारा भोग प्राप्त करना चाहते हैं, अधर्मके द्वारा कल-कारखाना बढ़ाना चाहते हैं, तो अभी संसारकी ओर वासनाका इतना तीव्र वेग है कि परमात्माको हम अपनी बुद्धिवृत्तिसे ग्रहण करें,यह प्रश्न ही कहाँ उठता है? यह तो हमारी चित्तवृत्ति ही नियन्त्रणमें नहीं है। माना कि संसारमें जो भी मनुष्य है उसको कुछ भोग चाहिए, कुछ वस्तु भी चाहिए और कुछ काम भी करनेको चाहिए। परन्तु प्रश्न यह है कि जो तुम भोग करते हो वह धर्म के अनुसार है कि धर्मके विपरीत? जो तुम धन इकट्ठा करते हो, वस्तु इकट्ठा करते हो, वह धर्मके अनुकूल है कि धर्मके प्रतिकूल है? और जो तुम काम करते हो वह धर्मके अनुकूल है कि धर्मके प्रतिकूल है? तीन बातके सम्बन्धमें यह प्रश्न है—भोग, वस्तु और कर्म! अच्छा, जो मनमें आवे

सो ही भोग कर लिया करो, जो मनमें आवे वही चीज उठा लिया करो, जो मनमें आवे वही कर डाला करो—तो इसका मतलब हुआ कि तुम मनके गुलाम हो और संसारकी छोटी-छोटी चीजमें तुम्हारी आसक्ति है! यह क्रम है—अर्थासक्ति, भोगासक्ति और कर्मासक्ति। इसपर नियन्त्रण स्थापित करनेके लिए हमारे हृदयमें धर्ममें रुचि, धर्ममें श्रद्धा होनी चाहिए, जो भीतर बैठा-बैठा कहे कि देखो, यह भोग मत भोगो, यह वस्तु तुम्हारे हककी नहीं है, यह कर्म तुमको नहीं करना चाहिए और धर्मकी आवाज साधक श्रवण करे, सुने, उसकी आज्ञा माने। भोग, अर्थ और कर्मके आकर्षणसे मुक्त हो जाय।

कि अच्छा भाई, हमको भोगमें तो यह आसक्ति नहीं है कि क्या खायें, कर्ममें भी यह आसक्ति नहीं है कि क्या करें, धनमें भी यह आसक्ति नहीं है कि यह हमारे पास आये, परन्तु यह हमारे शरीरमें रहनेवाली इन्द्रियाँ हमें बहुत दुःख देती हैं! हमको स्त्री नहीं चाहिए पर हमको अपनी इन्द्रियकी तृप्ति चाहिए—यह तो पामरपना हो गया। हमको शास्त्रोक्त कर्म नहीं चाहिए पर हमारा हाथ तो कुछ भी मार-पीट किये बिना, चोरी-चमारी किये बिना रहता ही नहीं है! फिर बोले कि मनमें तो वासना-ही-वासना उदय होती है! तो एक आदमी स्त्रीसे अनासक्त हो सकता है, लेकिन मूत्रेन्द्रिय उसके नियन्त्रणमें हो यह दूसरी बात है, एक आदमी यह कह सकता है कि हमारी दही बड़ेमें भी आसक्ति नहीं है, आलूमें भी आसक्ति नहीं है और खीरमें भी आसक्ति नहीं है, पर हमारी जीभको तो कुछ-न-कुछ चाहिए, जीभ नहीं मानती है। जीभमें आसक्ति नहीं है, जिह्वा काबूमें नहीं है—तो यह इन्द्रिय-लौल्य है।

जब हम साधन करते हैं तो शरीरमें साधनका रस भरता है। जप करते हैं, ध्यान करते हैं, पूजा करते हैं तो उससे एक दिव्य-रस शरीरमें उत्पन्न होता है। उपनिषदोंमें इसका वर्णन आता है कि साधकके शरीरमें-से दिव्य-गन्ध निकलती है, **वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च**—आवाजमें मिठास आ जाती है, रंगमें निखार आ जाता है—यह साधकके जीवनमें होता है, परन्तु सारा-रस जो इकट्ठा होता है—ध्यान-रस, कर्म-रस—वह जब इन्द्रियोंमें लौल्यता आती है, तो निकल जाता है। जैसे घड़ेमें छेद हो गया हो और भरा-भराया पानी सब बह जाय, इस प्रकार इन्द्रियों के मार्गसे भजनका रस बह जाता है, उससे जो शक्ति उत्पन्न होनी चाहिए, जो उससे बिजली बननी चाहिए, जो चित्तवृत्तिको उठाकरके परमात्माके साथ जोड़ती है, वह शक्ति नहीं बनती।

इसी तरहसे कर्म करना है। तीन ही चीज हैं केवल—भोगासक्ति, अर्थासक्ति और कर्मासक्ति। तो भोगासक्ति तो अत्यन्त बाह्य है। व्यापारी लोग भोगासक्त नहीं होते, उनको तो बैंक-बैलेंस बढ़ना चाहिए, चाहे उनको खानेको न मिले और चाहे फटा कपड़ा पहने। हमने करोड़पति आदमीको देखा—फटी धोती और फटा कुर्ता पहने! है करोड़पति! एक करोड़पति है—सदाचारी है, व्याभिचारी नहीं है, यह बात प्रमाणिकताके साथ हम कह सकते हैं और बाजारकी कोई चीज नहीं खाता है, बड़ा प्रामाणिक है और बढ़ता जा रहा है, बढ़ता जा रहा है, रोज बढ़ रहा है, लेकिन वह टैक्सीपर नहीं बैठ सकता, बसपर बैठकर आता है। तो यह क्या है कि यह अर्थासक्ति है। एक भोगासक्ति है और एक अर्थासक्ति है।

मैं ऐसे कई लोगोंको जानता हूँ जिनको भोगासक्ति भी नहीं है और अर्थासक्ति भी नहीं है, लेकिन दिनभर उनको कुछ-न-कुछ करनेको चाहिए—कहीं कोई आन्दोलन ही जोड़ दिया, कहीं झाड़ू ही लगाने लगे, कहीं फोटो ही खिंचवाने लगे, कोई मीटिंग ही बुलाने लगे।

हमने बचपनमें १७-१८ वर्षकी उम्रमें एक किताब पढ़ी थी—हमको किसी साधुने दी थी—तो उसमें लिखा था कि संघटन चाहे कितना भी पवित्र हो, दस आदमियोंका मन:स्तर हमेशा एक तरहका नहीं रह सकता, इसलिए संघटनमें हमेशा सांसारिकता आती है और अन्ततोगत्वा वह भ्रष्ट हो जाता है। कितना बड़ा भी संघटन होवे अन्तमें विनाश ही उसका परिणाम है! यह जो आध्यात्मिकताका मार्ग है यह ऐसा नहीं है कि दस आदमी इसपर एक साथ बराबर-बराबर चलें, कोई निर्गुणमें चला जायेगा, कोई निराकारमें चला जायेगा, कोई साकारमें जायेगा, कोई ध्यानमें जायेगा, कोई ज्ञानमें जायेगा, कोई योगमें जायेगा—सबकी रुचि अलग-अलग होती है—यह ऑाध्यात्मिक मार्ग जो है यह बड़ा विलक्षण है।

तो इन्द्रिय-लौल्यता और मनमें वासना। अब बोले कि इसके बाद मन फिर एकाग्र किया। एकाग्र करनेमें मन बड़ा ही विलक्षण होता है—यह मनकी एकाग्रताका फल होता है, देवताका दर्शन होता है, देवताके लोकमें गमन होता है और देवताका प्रसाद होता है कि लो दूरका दिखा दें, दूरका सुनादें, यह कर दें, वह कर दें; पर यह नहीं समझना कि यह हमेशाके लिए मिल रहा है—अभिमान नहीं करना, अभिमान करते ही वह छूट जाता है। परमात्माकी प्राप्तिके मार्गमें यह विघ्न है! चित्तकी एकाग्रताका जो फल है-दूर-दर्शन, दूर-श्रवण, शरीरमें गरिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व-वशित्व आदि अष्ट-सिद्धियोंका उदय-

तो जब उसको आदमी चाहेगा तो परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी। कहीं भी परिच्छिन्न पदार्थमें जो एक टुकड़ा है, कहीं भी अनात्म-पदार्थमें जो अपनेसे अन्य है, कहीं भी उत्पत्ति-शील और विनाशशील पदार्थमें जो काल-परिच्छिन्न है—में अगर रुचि बनी रहेगी तो आत्म-वस्तुका दर्शन नहीं होगा।

अच्छा भाई, यह भी सही। अब यह देखना है कि तुमको आचार्य मिला कि नहीं? आचार्यकी बात यह है कि आजकल तो तरह-तरहके पन्थ, तरह-तरहके फिरके हैं, उनके भी आचार्य हैं। पर आचार्यकी भी कसौटी यह है कि जो अपनेको ब्रह्म जानता हो और तुमको ब्रह्म लखा दे, वही वैदिक आचार्य है! जो तुमको बेटा दे दे, मुकदमे में जीत करा दे, रोग दूर करा दे—वह संसारका आचार्य है। मुकदमामें जीत करा दे, रोग दूर करा दे—वह संसारका अचार्य है। मुकदमेमें जीत करा दिया तो वकीलके बराबर हुआ और रोग दूर करा दिया तो डाक्टरके बराबर हुआ; सद्‌गुरु वह होता है जो आत्म-दान करता है और इसमें मुख्य बात यह है कि हमारे मैं को ब्रह्म बताना है और हमारा मैं हमारी बुद्धिका विषय होता नहीं, इसलिए सामने वाला कह दे कि तुम्हीं ब्रह्म हो तो संशय-विपर्यय रहित ज्ञान हो जाय। लेकिन बुद्धिमें सन्देह हो और गुरुजी की ही परीक्षा लेने पहुँच जाओ तो? सुनाया होगा आपकोऐ एक चेला गुरुजीकी परीक्षा लेने पहुंच गया, गुरु समझ गये कि परीक्षा लेने आया हैं। तो उन्होंने कहा कि बेटा, हमारी परीक्षा तो तुम बादमें लेना, तुम्हारे चित्तामें मेरे प्रति संशय है तभी तो तुम मेरी परीक्षा लेने आये हो। तो अभी तुम जाओ। हमारी परीक्षामें तुम फेल हो गये, क्योंकि तुम श्रद्धासे नहीं आये हो, संशयसे आये हो! हमको तुम बादमें फेल करना, हम तुमको पहले ही फेल कर देते हैं! क्या लेना-देना!

तो पापसे उपरामता, उपरति, इन्द्रिय और मनकी लोलताकी शिथिलता, चित्तमें एकाग्रता और एकाग्रताके फलकी भी इच्छा नहीं और सद्‌गुरुका अनुग्रह—ये सब जब होवे तब ये तत्त्वमस्यादि महावाक्य जो है—'प्रज्ञानेन' अपने अर्थका साक्षात्कार कराते हैं और नहीं तो ढूँढो भाई!

वह आपने सुना होगा न, बात गन्दी है पर बता देते हैं—एक नैयायिक और एक वेदान्ती दोनों साथ-साथ यात्रा कर रहे थे। अन्धेरा था। नैयायिकजीके पाँवमें कुछ गीली चीज लग गयी। तो उन्होंने कहा कि यह क्या है। इसका हम अनुसन्धान करेंगे। वेदान्तीने कहा कि देखो अन्धेरा है, रास्तेमें चल रहे हैं कोई भी गन्दी गीली चीज हो सकती है, लग गयी, लग गयी। घर पहुँचना पाँव धो लेना,

नहीं मन माने ग्लानि हो, तो स्नान कर लेना और क्या करोगे? नैयायिकजी नहीं माने, पाँवमें तो लगी ही थी, हाथमें भी लगा लिया; फिर बोले—यह तो गीली-गीली है, फिर बोले कि यह है क्या—खोज तो आखिर करनी ही चाहिए। वेदान्तीने कहा—छोड़ भाई, पाँव तो गन्दा हुआ ही था, हाथ भी गन्दा हुआ, अब तो छोड़ दे। बोले-नहीं, और उन्होंने नाकसे लगा लिया। कि अरे-यह तो विष्ठा है! तो इसको बोलते हैं तर्क-शास्त्र।

अरे यह अनात्म-पदार्थ जो संसारका हैं यह क्या है, यह खोज करने लायक नहीं है, खोज करने लायक तो आत्म-पदार्थ है—मैं क्या हूँ, मैं कौन हूँ—यह ढूँढनेकी वस्तु है; क्योंकि परमात्मा जो है सो मैंके साथ बैठा हुआ है। भक्त लोग भी ऐसा ही मानते हैं। वे ऐसे मानते हैं कि हमारा मैं जरा बाहरकी ओर है, परमात्मा जरा भीतरकी ओर बैठा हुआ है। रामानुज सम्प्रदायमें मानते हैं कि हमारे भीतर परमात्मा बैठा है। कि कैसे बैठा है? बोले कि यह शरीर जो दीखता है यह तो जीवका है और इसके भीतर हमारा अहमर्थ जीव बैठा है और जीवके भीतर परमात्मा बैठा है, तो जीव जो है सो परमात्माका शरीर है। ईश शरीरी है और यह स्थूल शरीर जीव-शरीर है और परमात्मा शरीरी है। देखो भक्ति-सम्प्रदायमें ईश्वर कहाँ निकला? जैसे शरीरके भीतर जीव वैसे जीवके भीतर परमात्मा—यही न! तो जब मैं के पास पहुँचोगे तब परमात्माके पास पहुँच जाओगे—रामानुज सम्प्रदायमें ऐसे मानते हैं।

वेदान्ती लोग ऐसे मानते हैं कि यह सारा संसार और बुद्धि—सबको चलानेवाला नियन्ता ईश्वर, तो ईश्वर जरा बाहरकी ओर सबका संचालन करता हुआ और उससे जरा-सा पीछेको हटकरके द्रष्टा—वह जगत्को भी देख रहा है ईश्वरको भी देख रहा है और उसकी दृष्टिमें ही जगत् और ईश्वर दोनों हैं—जगत्-जीव-ईश्वर तीनों दृष्टि-मात्र हैं और दृङ् मात्र वस्तु आत्म-तत्त्व है। अद्वैत वेदान्ती ऐसे बोलते हैं। लेकिन दोनोंमें भले ही सामनेकी ओर जीव पीछेकी ओर ईश्वर अथवा सामनेकी ओर ईश्वर और पीछेकी ओर जीव दोनों रहते एक साथ ही हैं; *द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया।* इसलिए परमात्माकी उपलब्धिमें अन्तर्मुख होना आवश्यक है। जैसे हमारी हिन्दू-संस्कृतिमें रीति थी कि लड़कीका बाप लड़कीका हाथ अपने हाथमें लेकरके लड़केके हाथमें देता था; पर यह बात तब थी जब *'अष्टवर्षा भवेत् गौरी'* वाली बात थी। आठ-नौ-दस वर्षकी नाबालिग लड़कीकी शादी जब होती थी। अब तो लड़की हो गयी पच्चीस

वर्षकी; पच्चीस वर्षकी ही नहीं, हमने तो एक बार सुना कि एक गाँवके राजा थे और उनको अपनी बराबरीका कोई वर ही नहीं मिला, तो उनकी लड़की तीस वर्ष तक अनब्याही रही—उनके यह था कि लड़का मिले सो एकदम सुन्दर मिले और लड़कीके चेहरेपर मुहासे थे और २-४ बाल भी पकने लगे थे, पर वे चाहते थे जगत्का सर्वश्रेष्ठ लड़का उनको मिले और इसलिए बिना इच्छाके विवाह होता नहीं था—तो यह मैंने पहले-पहले सुना था कि तीस वर्षकी लड़की अनव्याही; पर बम्बईमें आया तो मेरा आश्चर्य मिट गया—यहाँ तो चालीस-चालीस वर्षकी लड़की यह चाहती रहती हैं कि हमारा ब्याह हो, ब्याह हो; पैंतालीसकी हो गयी, बाल पक गये, रँगवा लिये बाल और चाहती है कि ब्याह हो, तो आश्चर्य मेरा टूट गया। अब वासनाकी पूर्त्तिके लिए अपनी पसन्दका ब्याह हो, यह दूसरी बात है और वासनाको एक कायदेमें करके अन्तमें निवृत्त करनेके लिए ब्याह होता है, यह दूसरी बात है—धर्म-विवाह दूसरी वस्तु है और भोग-विवाह दूसरी वस्तु है।

अपने यहाँ पहले यह रीति थी कि आचार्य जो है वह जीवका हाथ पकड़ करके ईश्वरके हाथमें अर्पित कर दे—जीव-ईश्वरका विवाह वह जबतक जीव श्रद्धालु हो, भोला-भाला हो, सरल-चित्त होवे और माँ-बापकी बातपर जैसे नाबालिग लड़की विश्वास करती है वैसे आचार्यकी बातपर विश्वास होवे तब आचार्य जीवका हाथ लेकरके ईश्वरके हाथमें दे दे। शरणागति तो तत्क्षण ही लाभ करती है, वह तो उसी समय ईश्वरकी स्वीकृत हो जाती है। लेकिन वेदान्ती जो हैं वह कोई ८-९ पर्षकी लड़की तो हैं नहीं, वह तो बिलकुल धींगरी है—पच्चीस वर्ष, तीस वर्षकी लड़की है सो माँ-बापके कहनेसे नहीं, इसमें आचार्य-वाचार्यकी जरूरत नहीं। कि ठीक बात है ढूँढो भाई। दूसरेको अगर ढूँढना होता तो भले ढूँढ लेते लेकिन जहाँ स्वयं पति है, स्वयं पत्नी है; स्वयं पुत्र है, स्वयं पिता हैं—जहाँ स्त्रयं अग्ना स्वरूप ही अद्वैत है वहाँ यह यन्त्रका विषय कैसे होवे? तो सर्वका निषेध कर देनेपर जो शेष रहता है, उसको बतानेके लिए आचार्यकी जरूरत पड़ती है—यही तत्त्वमस्यादि महावाक्यका विज्ञान है।

तो अब किसी-किसीकी रुचि तो ऐसी होती है कि जो दुर्लभ हो उसीको हम प्राप्त करेंगे, सुलभमें रुचि नहीं होती है, और कोई-कोई ऐसे बुजदिल होते हैं जो दुर्लभकी बात सुनकर ही उससे विमुख हो जाते हैं—कौन जाय झमेलेमें। अब

आप अपने आपको जरा तौलो, हम चाहते हैं कि खूब सुगम साधन हो—धन पानेके लिए तो कठिन-से-कठिन साधन करेंगे, भोग पानेके लिए कठिन-से-कठिन साधन करेंगे, कारखाना करनेके लिए कठिन-से-कठिन साधन करेंगे लेकिन परमात्माकी प्राप्तिके लिए जब कठिन साधनकी बात आयेगी तो टैं बोल जायेंगे—इसका अर्थ यह है कि चित्तमें परमात्माकी प्राप्तिके लिए उत्साह नहीं है। यदि हम कह दें कि परमात्माकी प्राप्ति बड़ी सरल है तो जाकर बैठ गये और इन्तजार करने लगे कि अब आता है, अब आता है, उसमें भी माला-वाला नहीं फेरेंगे, और यदि कभी कह दिया कि प्राप्ति कठिन है तो कहेंगे कि छोड़ो माला, जब इतना कठिन है परमात्माका मिलना तो कौन माला फेरे? तो ऐसे लोगोंको क्या ईश्वरकी प्राप्ति होगी?

तो यहाँ देखो परमात्माका वर्णन करते हैं—**क इत्था वेद यत्र सः**—*इत्थं एव परमात्मा* बिलकुल *इदं इत्थं*—ऐसा है यह कौन जानेगा? कि साधन-रहित कोई भी पुरुष इसको नहीं जान सकता। अनात्माका तिरस्कार करके आत्मज्ञानके लिए उन्मुख जो पुरुष है—विवेकी है, वैराग्यवान, समाधि-सम्पन्न है, मुमुक्षु है, जिज्ञासु है वही आचार्यकी कृपासे इसको जान पाता है। यहाँ तक कि हे भगवान्! हमारे वेदान्तियोंमें ऐसे कहने की रिवाज है कि यदि कोई जिज्ञासु यह कहे कि जब ईश्वर कृपा करेगा तब हमको ज्ञान हो जायेगा तब उसको जिज्ञासु नहीं मानते हैं—उसको कहते हैं कि अभी दर्द पैदा नहीं हुआ। क्यों? तो बोले कि मान लो यदि ईश्वर दो जन्म कृपा न करे, चार जन्म कृपा न करें तो दस जन्म कृपा न करें तो यह कृपाकांक्षी जिज्ञासु दस जन्मके लिए ज्ञान-रूप रत्नको छोड़नेके लिए तैयार है! वह क्यों नहीं अपने अज्ञानके परदेको फाड़ देता? क्यों नहीं अन्धकारको विदिर्ण कर देता? क्यों नहीं भूखे शेरकी तरह अपने शिकार पर टूट पड़ता? जो कहता है कि देवता कृपा करे, तो हमको ज्ञान होवे—उसको मन्द अधिकारी मानते हैं। बोले—कौन कर्म करें तब ज्ञान होवे, किसकी उपासना करें तब ज्ञान होवे, कैसी साधना करें तब ज्ञान होवे—ऐसा पूछनेवाला तत्त्वज्ञानका मन्द अधिकारी है।

बोले—वह है कैसा परमात्मा? तो बोले कि परमात्मा ऐसा है—

यस्यं ब्रह्म च क्षत्रं उभे भवत ओदनः—ब्रह्म और क्षत्र दोनों जिसके ओदन हैं, ओदन हैं माने भोजन हैं—भात हैं और भात भी पकाया हुआ है, कच्चा नहीं। भात पकनेके समय वह फुदकता है—उन्नति जो शरीरमें कफकी वृद्धि करे, गीला कर दे शरीरको, क्लेदन करे, उसको ओदन बोलते हैं, भात बोलते हैं—तो बोले—

ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों जिसके ओदन हैं और **मृत्युर्यस्योपसेचनं** मृत्यु उस ओदनके साथ खानेवाली चटनी इत्यादि हैं। माने ब्राह्मण-क्षत्रिय मरेंगे तो सही उनके मरनेके साथ क्या आत्मा भी मर जायेगा? बोले नहीं, इनमें जो मौत रहती है वह तो भातके साथ खानेवाली चटनी है, अचार है, वह तो घी है, मट्ठा है! दक्षिणके लोग यदि भात खा रहे हों, तो 'उपसेचन' का अर्थ हैं 'दही' और पंजाबी और मारवाड़ी भात खा रहे हों तो 'उपसेचन' का अर्थ है 'घी' और बंगाली और उड़िया भात खा रहे हों, तो, उनका भी उपसेचन होता है—माने जो चीज भातमें लगाकर खाते हैं वह—वह उपसेचन है—मृत्यु।

अब देखो, परमात्मा कैसा? कि परमात्मा ऐसा—ब्रह्म माने प्रज्ञा-शक्ति-प्रधान और क्षत्र माने प्राण-शक्ति प्रधान। हमारे वैदिक विज्ञानमें ऐसा मानते हैं कि **अग्निसोमात्मकं जगत्**—इस जगत्में केवल दो तत्त्व हैं—एक अग्नि तत्त्व और दूसरा सोम तत्त्व—जैसे ऋणात्मक शक्ति और घनात्मक शक्ति दो मानते हैं न,—इसी प्रकार अग्नि-शक्ति है जो सबको भस्म करती है और सोम-शक्ति है जो सबका आप्यायन करती है, इसको **अग्निसोमात्मकं जगत्** बोलते हैं। तो यह ब्रह्म जो है, यह प्रज्ञा है और क्षत्र सोमात्मक है। **सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा**—ब्राह्मणोंका राजा कौन है कि आप्यायन-शक्ति-प्रधान चन्द्र है। वेदोंमें इनके कई नाम हैं—अग्नि और सोम, प्राण और रयि।

इस दृष्टिमें सिर्फ दो शक्ति हैं—इन दोनों शक्तियोंको जो खाये हुए है इनका जो 'अत्ता' है, वह है आत्मा और यहीं तक नहीं, **मृत्युर्यस्योपसेचनं**का अर्थ है कि यमराज कहते हैं कि हम जिसके सामने कुछ नहीं हैं। ब्राह्मणको मारनेवाले और क्षत्रियको मारनेवाले सबका अत्यन्ताभाव जिसमें है—वह ब्रह्म हैं। जहाँ ऋणात्मक-शक्ति भी नहीं और धनात्मक-शक्ति भी नहीं। ब्रह्म माने जहाँ प्रज्ञा भी नहीं और प्राण भी नहीं। प्राण और प्रज्ञा दो ही तो उपाधि हैं, प्राणकी उपाधिसे चैतन्यको क्षत्रिय बोलते हैं और प्रज्ञाकी उपाधिसे चैतन्यको ब्राह्मण बोलते हैं तो जहाँ प्रज्ञा और प्राण नहीं, ब्राह्मण और क्षत्रिय नहीं, अग्नि और सोम नहीं, जहाँ प्राण और रयि नहीं और इनका अत्यन्ताभाव भी जिसमें नहीं वह ब्रह्म है—घट होता है तब घटाभाव होता है, जब घट ही नहीं घटाभाव कहाँसे होगा?

मृत्युर्यस्योपसेचनं—यमराजने कहा—जहाँ हम नहीं, जहाँ नचिकेता तुम ब्राह्मण नहीं और जहाँ बड़े-बड़े राजा महाराजा, सम्राट् नहीं और जहाँ मृत्यु भी नहीं, वह ब्रह्म है। प्रज्ञा और प्राण दोनों जब नहीं रहते हैं तब क्या रहता है? बोले

मृत्यु रहती है, तो बोले—जहाँ मृत्यु भी नहीं वह ब्रह्म है। मृत्युके समय जब साँस नहीं चलती है और बुद्धि भी समाप्त हो जाती है तब यदि कहो कि मृत्यु तो रहती है। तो बोले—कि नहीं, जहाँ मृत्यु भी नहीं रहती है—भावाभाव दोनोंका अधिष्ठान, भावाभाव दोनोंसे अनवच्छिन्न, भावाभाव दोनोंका प्रकाशक, भावाभाव दोनों जिसमें नितान्त कल्पित—कि वह परमात्मा भला कैसे जानोगे?

अब देखो, शङ्कराचार्य भगवान्ने तो यहाँ ब्रह्म-क्षत्रका अर्थ **सर्व-धर्म-*विधारक और सर्वत्राणभूत***—ऐसा अर्थ किया है और मृत्युको सर्वहा बताया है। ब्रह्मसूत्रके पहले अध्यायके दूसरे पादमें इस मन्त्रके अर्थपर विचार है—नवाँ सूत्र है वह—***अत्ता चराचर ग्रहणात्***—यहाँ यह जो ब्राह्मण और क्षत्रियको भातकी तरह खा जानेवाला है, यह खानेवाला कौन है—यह प्रश्न है? यह मौतको उपसेचन बनानेवाला, घीकी तरह भातमें डालकर चाट जानेवाला कौन है? तो बाले कि यह प्रश्न क्यों उठाते हो? कि प्रश्न यों उठाते हैं कि यह जो कठोपनिषद् चल रहा है, इसमें एक बार नचिकेताने प्रश्न किया कि हमको अग्निका निरूपण करो, तो ब्राह्मण और क्षत्रियको खानेवाला कहीं वह अग्नि ही तो नहीं है? एक बार नचिकेताने प्रश्न किया कि मृत्युके अनन्तर क्या रहता है, वह हमको बताओ—**अस्तीत्येके नायमस्तीत्येके**। तो वह जो जीव-विषयक प्रश्न है तो क्या यह जीव ही है जो ब्राह्मण-क्षत्रियको खा जाता है? तीसरा प्रश्न नचिकेताने किया—

अन्यत्तधर्मात् अन्यत्राधर्मात् अन्यत्रास्मात्कृताकृतात्—ब्राह्मण और क्षत्रियकी तो क्या बात, वहाँ धर्म-अधर्म, कार्य-कारण कुछ है ही नहीं—तो उस परमात्माका वर्णन ही तो यहाँ नहीं है? **यस्य ब्रह्म च क्षत्रं उभे भवत ओदनः**—इस मन्त्रमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और मृत्यु—तीनोंका जो भोक्ता बताया गया यह कौन है—अग्नि है, कि जीव है, कि परमात्मा है?

तो बोले कि अग्निकी तो चर्चा ही मत करो, छोड़ दो उसको और उदासीन हो गये—आचार्यने प्रश्न तो उठाया, पर फिर उसके बारेमें कोई निरूपण नहीं किया। क्यों नहीं किया? बोले कि उसका प्रकरण नहीं है, यहाँ अग्नि-सम्बन्धी क्या चर्चा है। यहाँ तो **प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्**—परमात्माकी प्राप्तिकी चर्चा है। बोले कि अच्छा जीव होवे! तो बोले कि जीवकी प्राप्ति कैसे होती है? कि जीवकी प्राप्ति ऐसे होती है कि खानेवाला जीव होता है और न खानेवाला ईश्वर होता है—

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति

जीव भोक्ता होता है, ईश्वर भोक्ता नहीं होता। **ऋतं पिबन्तौ सुकृत**

स्यलोके............छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति—आगे वर्णन है। तो बोले कि नहीं, यहाँ असलमें परमात्माका ही वर्णन है। क्यों? कि परमात्माका वर्णन इसलिए है कि जो भोक्तापनका निषेध है, वह तो कर्मफलके भोक्तापनका निषेध है—जीव कर्मफलका भोक्ता है और परमात्मा कर्मफलका भोक्ता नहीं है। जैसे पाप-कर्म या पुण्य-कर्म करेगा ना, तो जीवमें कर्तापनका भ्रम होता है—यह कर्त्तापनका भ्रम ही असलमें फल-दाता है, कर्म फल नहीं देता भला, और चेतन फल नहीं लेता—कर्ममें फल देनेका सामर्थ्य नहीं है और चेतनमें फल लेनेकी योग्यता नहीं है, परन्तु जब चैतन्य अपने स्वरूपको भूलकरके अपनेको कर्त्तापनके साथ तादात्म्य कर लेता है और उसको अभिमान होता है कि यह कर्त्ता मैं, तो उस कर्त्तापनके कारण उसको फल भोगना पड़ता है और परमात्माको तो कभी कर्त्तापनका अभिमान ही नहीं होता। तो कर्मका फल परमात्माका स्पर्श नहीं करता—माने भ्रान्तको कर्त्ता-कर्मका फल स्पर्श करता है और अभ्रान्तको कर्मका फल स्पर्श नहीं करता—इसका कर्त्तापनके साथ सम्बन्ध है। तत्त्वज्ञानी भी कर्म करेगा और अज्ञानी भी कर्म करेगा, तो अज्ञानी कहेगा कि मैंने किया, और फँस गया और कर्मका फल उसको भोगना पड़ेगा और ज्ञानी जानता है कि मैंने नहीं किया तो कर्मका फल उसके पास नहीं आवेगा। तो कर्मके फलका नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्माके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है लेकिन यह ब्रह्म और क्षत्र जो हैं—**अस्ताचराचरग्रहात्**—यहाँ जो ब्राह्मण-क्षत्रिय है, माने प्रज्ञा और प्राण, अग्नि और सोम, प्राण और रयि, सूर्य और चन्द्रमा—इनके भक्षणका प्रसङ्ग आया और इनके अभावके बादका प्रसङ्ग आया कि वहाँ तो इनकी मृत्यु भी नहीं है, तो यह सारी श्रुतियोंमें वर्णित है कि जगत्‌की सृष्टि, स्थिति और प्रलय परमात्माके सकाशसे ही होता है-

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते ये न जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति।

जैसे सृष्टिका कारण ईश्वर माना गया है वैसे ही संहारका कारण भी ईश्वर माना गया है, तो यहाँ ब्राह्मण और क्षत्रियका अर्थ असलमें चराचर है—माने सारी सृष्टि। सारी सृष्टि परमात्मा खा जाता है और उसके खानेको भी खा जाता है, माने अभाव भी नहीं है उसमें—भावाभाव दोनों नहीं हैं उसमें। तो यह असलमें परमात्माका वर्णन है यह जीवका वर्णन नहीं है। तो—

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेदयत्र सः॥

ऐसा परमात्मा अग्नि-सोमात्मक जगत्‌का अधिष्ठान, ब्रह्म-क्षत्रात्मक

जगत्का अधिष्ठान, रयि-प्राणात्मक जगत्का अधिष्ठान—अधिष्ठानके साथ-साथ स्वयंप्रकाश, सर्वावभासक, भावाभावका प्रकाशक स्वत:सिद्ध—ऐसा जो परमात्मा है उसको कैसे जानें? बोले भाई, हम कुछ साधन-भजन नहीं करेंगे, गुण कौन बनावे—उसके सामने तो छोटा बनना पड़ता है, उसके तो पाँव छूने पड़ते हैं—अब पाँव छूनेके डरसे, नीचे बैठनेके डरसे, विश्वास करनेके डरसे, आचार्यवान् नहीं हुए और विवेक-वैराग्यादि साधन-सम्पन्न नहीं हुए और फिर दावा करें कि हम परमात्माको जान गये तो '**क इत्था वेद यत्र सः**'—कौन जानेगा कि वह परमात्मा कहाँ, परमात्मा कहाँ है?

अभी है, यही है, यही है—भूल मत, यहीं है यही है भूल मत भटक रे।

परमेश्वर यहीं भरपूर बैठा हुआ है, भूलो मत, भटको मत!

तो **यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः**—यह श्रुति है विषय अत्ताधिकरणकी, इसमें संशय है कि इसमें अग्निका, जीवका या परमात्माका किसका वर्णन है? इसमें पूर्वपक्ष यह है कि यहाँ भोक्ता जीवका ही वर्णन है। इसमें उत्तरपक्ष यह है कि कर्मफलके भोक्ताका यहाँ प्रसङ्ग नहीं है, यहाँ तो सम्पूर्ण चराचरके भोक्ताका प्रसङ्ग है। इसलिए यहाँ जीवका वर्णन नहीं, ईश्वरका वर्णन है। इसलिए सिद्धान्त यह हुआ कि परब्रह्म परमात्मा जो वह सम्पूर्ण सृष्टि-स्थिति-संहारके भाव और उनके अभावसे उपलक्षित अपना प्रत्यक् चैतन्य ही है—यह इसमेंसे सिद्धान्त निकला। किसी भी मंत्रपर पाँच बातोंके विचार करनेकी पद्धति है। विषय क्या है, पूर्व-पक्ष क्या है, उत्तर-पक्ष क्या है और दोनोंकी तुलना करनेपर सिद्धान्त क्या निकलता है। इन पाँच बातोंसे अधिकरणकी रचना होती है, तो अत्ताधिकरणमें ब्रह्मसूत्रमें इस श्रुतिके अर्थका निरूपण है!

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः॥

निष्कर्ष यह है कि साधन-सम्पन्न होकर, सद्गुरुकी शरण ग्रहण करके वेदार्थका विचार करो तब इस परमात्माका बोध होगा और संशयसे ग्रस्त होकरके और अहङ्कारसे पीड़ित होकरके-अहङ्काराक्रान्त होकरके और विषय-वासनासे वासित चित्तके द्वारा इसका विचार करोगे तो इसका पता नहीं चलेगा।

❖

शरीरमें प्राप्त और प्राप्तव्य भेदसे दो आत्मा

अध्याय-२ वल्ली-३ मंत्र-१

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥ २.३.१

अर्थ :—ब्रह्मवेत्ताओंका कहना है कि शरीरमें बुद्धिरूपी गुहाके भीतर प्रविष्ट हुए अपने कर्मफलको भोगते हुए छाया और आतपके समान परस्पर विलक्षण दो तत्त्व हैं। यही बात पंचाग्निकी अपासना करने वाले वे लोग भी कहते हैं जिन्होंने तीन बार नाचिकेता-अग्निका चयन किया है॥

अब पहले अध्यायकी तीसरी वल्ली प्रारम्भ होती है, एक-एक अध्यायमें तीन-तीन वल्ली हैं!

इसके पहले विद्या और अविद्याका निरूपण किया। अविद्याका फल है संसार और विद्याका फल है आवरण-भङ्ग होकर, भ्रान्तिकी, अविद्याकी निवृत्ति होकरके अपने स्वरूपभूत ब्रह्मका साक्षत्कार। इसका मतलब है कि दुनियामें आदमी सिर्फ नासमझीसे दुःखी है, समझ होवे तो बिलकुल दुःखी न हो। वेदान्तका सार-सार यही है कि जहाँ हम दुःखी होते हैं वहाँ कोई न-कोई बेवकूफी करते हुए दुःखी होते हैं। जब बच्चा ज्यादा दूध पीना चाहता है तब माँ अपने स्तनसे हटा देती है, वह रोता है कि हमको दूध पीनेको नहीं मिलता; वह आगमें हाथ डालना चाहता है और माँ वहाँसे खींच लेती है, तो वह समझता है कि हमको बड़ा भारी दुःख हो गया; वह आवारे बच्चोंके साथ रहना-खेलना चाहता है, माँ वहाँसे हटाती है तो रोता है; वह कोई गन्दी चीज खाना चाहता है, माँ रोकती है तो वह समझता है कि हमारा तो सर्वस्व गया।

तो जैसे बच्चे माँ-बापकी दृष्टिसे देखो तो केवल नासमझीके कारण ही दुःखी होते हैं, ऐसे ही ब्रह्मवेत्ता लोग इस बातको जानते हैं कि संसारी लोग जो-बाहरी कारणकी कल्पना करके, भीतरी कारणकी कल्पना करके दुःखी हो रहे हैं—वह नासमझीसे हो रहे हैं। अपनेको दुःखी मानना ही असलमें नासमझीका झण्डा है, प्रारब्धसे दुःख नहीं आता, प्रकृतिके प्रवाहमें सब घटनाएँ घटती रहती हैं, ईश्वरेच्छासे संसार चलता रहता है, कोई मरता है-कोई जीता है, कोई आता है, कोई जाता है, कुछ मिलता है कुछ विछुड़ता है—यह तो सब संसारमें अपने आप होता

ही रहता है, उसीके साथ अपनी वासना जोड़करके, अपना संकल्प जोड़करके, अपनी इच्छा जोड़करके, आते-जाते हुए दुःखको मैं-मेरा मान करके हम अपनेको सुखी-दुःखी कर लेते हैं!

वेदान्तका यह कहना है कि यदि तुम अपने सच्चे स्वरूपको जान जाओ, माने तुम्हारे अन्दर समझदारी आ जाये, बेवकूफी छूट जाये, तो यह जिन्दगी भर जो यह इल्लत लगी है न- दिनभरमें सत्रर बार दुःखी और सत्रर बार सुखी, यह हुआ और यह नहीं हुआ रे—यह सब कट जायँ। तो जैसे धर्म करते हैं नरकसे छूटनेके लिए, स्वर्ग पानेके लिए और उपासना करते हैं कि हमें इस लोकमें भी सुख मिले और परलोकमें भी गोलोक-बैकुण्ठ मिले, वैसे वेदान्तका ढंग यह नहीं है; वह मरनेके बाद सुख देनेके लिए नहीं है या इष्ट-लोकमें भेजनेके लिए नहीं है—वह तो सचमुच तुम सुख-दुःखसे अछूते हो, तुम्हारा सच्चा स्वरूप बतानेके लिए है; पर यह बात लोगोंकी समझमें जरा देरसे आती है माने जरा मुश्किल है। जो छोटी वस्तुसे, देहसे मैं करके बैठा है और देहके साथ लगी हुई जो चीजें हैं, जो आदमी हैं उनको मैं-मेरा करके बैठा है, वह अपनेको एकाएक चिन्मात्र, चिज्ज्योति देश-काल-वस्तुका प्रकाशक, देश-काल-वस्तुकी कल्पनाका अधिष्ठान नहीं समझ पाता—देश-काल-वस्तु सब मानस हैं माने स्वप्नवत् हैं, और मैं उसका साक्षी हूँ यह बात जल्दी समझमें नहीं आती है, इसलिए बारबार भिन्न-भिन्न प्रकारसे इसको समझाना पड़ता है।

तो अविद्याका फल है बन्धन, अविद्याका फल है दुःख, अविद्याका फल है परिच्छिन्नसे तादात्म्य होना और विद्याका फल है परिच्छिन्नताके भ्रमकी निवृत्ति, विद्याका फल है अविद्याकी निवृत्ति; विद्याका फल है दुःखकी निवृत्ति, विद्याका फल है बन्धनकी निवृत्ति। उसी विद्या-अविद्याके स्वरूपका निर्णय करनेके लिए, अगले प्रकरणका प्रारम्भ किया जाता है और उसीके लिए उसमें रथके रूपककी कल्पना है-**आत्मानꣳरथिनं विद्धि शरीरꣳरथमेव तु।**

इससे होता क्या है कि परमात्माको समझना सुगम हो जाता है! कैसे कि मालूम पड़े कि प्राप्त करनेवाला कौन है और जिसको हम प्राप्त करना चाहते हैं वह कौन है; जाने वाला कौन है और जहाँ जाना है वह कौन है? तो पहले दो आत्माका वर्णन प्रारम्भ करते हैं—दो आत्माका उपन्यास करते हैं—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥ १॥

आप अपने हृदयमें देखो तो साफ-साफ मालूम पड़ेगा कि हमारी दो स्थति होती है, हम दो रूप धारण कर लेते हैं! कैसे? कि जाग्रत् और स्वप्नमें तो हम सुखी-दुःखी हो जाते हैं और सुषुप्तिमें हम सुखीपने और दुःखीपनेसे छूट जाते हैं! इसका मतलब यह है कि चिन्तावाला चोला जब तक हम पकड़े रहते हैं तब तक सुखी-दुःखी और चिन्तावाला चोला जब हम छोड़ देते हैं तब न सुखी, न दुःखी! यह चिन्ता जो है यह चोलेमें ही है। दुःख न होवे इसकी चिन्ता और हमको सुख ही मिले इसकी चिन्ता-यह चिन्ता कहाँ लगी पड़ी है? कभी जाग्रत् देखता है; और जब हम मनको पकड़ करके बैठते हैं तब हमारा नाम जीव हो जाता है और जब हम मनसे ऊपर होकर बैठते हैं तब हमारा नाम शुद्ध आत्मा हो जाता है।

तो, हम कर्मफल कहाँ बैठकर भोगते हैं? कि छाया(प्रतिबिम्ब) बन करके हम कर्मफल भोगते हैं और बिम्ब होकरके हम कर्मफलसे मुक्त हो जाते हैं। इस प्रकार इसी शरीरके भीतर हमारी स्थिति एक अप्राप्त-सी मालूम पड़ती है और एक प्राप्त मालूम पड़ती है। जब मालूम पड़ता है कि हम दुःखी-सुखी हैं तो ऐसा लगता है कि हमारे सिरपर बोझ आ गया और जब ऐसा मालूम पड़ता है कि हम सबसे छुट्टे-छड़िंगे हैं—द्रष्टा, चिन्मात्र, तो लगता है कि ऐसी स्थिति तो प्राप्त करने योग्य है। देखो, अपने आपके बारेमें ही ऐसा हो जाता है कि हमारी स्थिति ऐसी हो जाये, हम ऐसे हो जायें, तो यह तो अभी प्राप्त करने योग्य है; और जिसमें हम गिरे हुए हैं कि यह स्थिति तो निकलने लायक है! अन्तःकरणके कुँएमें जब गिरते हैं तब अन्धकार है, साँप है, विच्छू है; और जब अन्तःकरणके कुएँमें-से निकल जाते हैं तब प्रकाश है, तत्त्वज्ञान है—यह सबसे बड़ी पकड़ चित्तकी ही है। जब चित्तके घेरेको हम छोड़ देते हैं तब न राग, न द्वेष, न पक्षपात, न क्रूरता-न शूरता-तो आवो इसपर विचार करें—**ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके**।

लोके—इस लोकमें यह देखनेमें आता है कि **सुकृतस्य**-अपने किये हुए जो कर्म हैं वे ऋत हैं, अवश्यम्भावी होनेके कारण सत्यफल है और हम उसको पी रहे हैं-**पिबन्तौ**। कहाँ बैठकर पी रहे हैं? कि हृदयकी गुहामें—**गुहां प्रविष्टौ**। वह गुहा कहाँ है? कि इसी लोकमें—**अयं आत्मा अयं लोकः**—यह शरीर जो है यह लोक है। इस लोकमें ही एक गुहा है—बुद्धि है। **परमे परार्धे**—उस बुद्धिमें भी एक परम् ब्रह्मस्थान है उसमें बैठकर हम अपने कर्मफलको पी रहे हैं। बाह्य शरीर जिस आकाशमें रहता है उसकी अपेक्षा शरीरावच्छिन्न आकाश अन्तरंग है और उसकी अपेक्षा भी अन्तरंग आकाश है-बुद्ध्याकाश, हृदयाकाश; क्योंकि उसीमें

परमात्माकी उपलब्धि होती है, इसलिए उस परम परार्धमें, ब्रह्मलोकमें, हृदयाकाशमें जहाँ ब्रह्मा रहते हैं, जहाँ विष्णु रहते हैं, जहाँ शिव रहते हैं उस हृदयकाशमें, उस बुद्धिकी गुहामें जीव और ईश्वर दोनों बैठे हुए हैं! सम्पूर्ण जगत्का नियन्ता क्या तुम्हारे हृदयमें नहीं है? और एक-एक शरीरका नियामक जीव क्या तुम्हारे हृदयमें नहीं है? तुम भी हृदयमें ही बैठे हुए हो और सम्पूर्ण विश्वका नियामक तुम्हारे हृदयमें ही बैठा हुआ है और नित्य-शुद्ध-मुक्त आत्मा ब्रह्मके रूपमें जिसमें न नियन्ता है न नियम्य, न शरीर है न शरीरी, वह परब्रह्म परमात्मा भी तुम्हारे हृदयमें ही बैठा हुआ है। तो **ब्रह्मविदो वदन्ति**-ब्रह्मवेत्ता लोग यह बात कहते हैं और केवल ब्रह्मवेत्ता लोग ही नहीं कहते हैं जो पञ्चाग्नि वाले हैं—**ये च पञ्चाग्नयः**—गार्हपत्याग्नि, दक्षिणाग्नि, आहवनीयाग्नि, आवसस्थ्याग्नि, और तद्भ्याग्नि—इन अग्नियोंके जो उपासक गृहस्थ हैं, जिन्होंने खूब-खूब अग्नि चयन किया है, अग्निनहोत्र किया है, वे कर्मी भी ऐसा ही कहते हैं। प्रवृत्ति परायण पंचाग्नयः और निवृत्ति परायण ब्रह्मनिष्ठ—सभी कहते हैं कि इसी शरीरके भीतर छाया और आतपके समान जीव और परमेश्वर रहते हैं।

देखो, यह कितनी सुगम बात है कि जिस ईश्वरको हम अपनेसे दूर समझकरके सोचते हैं कि ईश्वरसे हम विछुड़ गये और कोई-कोई तो ईश्वरको मानते ही नहीं, वे कहते हैं कि ईश्वर न भीतर है न बाहर है, कहीं है ही नहीं, कोई कहते हैं कि ईश्वर बैकुण्ठमें हैं, कोई कहते हैं कि पता नहीं ईश्वर होगा कि नहीं होगा; कोई कहते हैं कि है तो, पर बड़ा दुर्लभ है, वही ईश्वर जिसके बारेमें ना-हाँ-यहाँ-वहाँ,दूर-निकट, आज तक बीसों बात कहीं जाती हैं, वह ईश्वर हमारे हृदयमें ही बैठा हुआ है—यह कितनी खुशीकी बात है!

आपको सुनावें कि मैंने एक ऐसा भक्त देखा है—भक्त, वेदान्ती नहीं—कि उसके सामने यदि कह दें कि ईश्वर हृदयमें है तो वह अपना हृदय नोचने लगता था, शरीरको नोचने लगता था कि अच्छा, इसके भीतर छिपा है, तो हम यह हटा देंगे, यह चाम फाड़ देंगे, यह हड्डी तोड़ देंगे और हम देखेंगे कि हमारे हृदयमें ईश्वर कहाँ छिपा हुआ है! इतनी महत्त्वपूर्ण वस्तु और वह इस साढ़े-तीन हाथके शरीरके भीतर छिपी हुई है और हम उससे मिले बिना, उसको जाने बिना, उसको देखे बिना रह जाते हैं! अहो! हम तो उसको पाँच पैसेके बराबर कीमती नहीं समझते हैं!

अब, एक वेदान्तीकी बात भी सुनें। वेदान्ती कहता है कि अच्छा जीव और ईश्वर इसी शरीरमें हैं? कि हाँ। बोले तब तो इसी शरीरमें ही परब्रह्मकी उपलब्धि

होती है। इस शरीरमें क्या हैं वे? तो कहते हैं कि एक छाया, एक आतप है। बोले— भला छाया-आतप किसको कहते हो? कि अभी बताते हैं। पहले यह समझो कि सब इस सिद्धान्तको मानते हैं—क्या अग्निके उपासक गृहस्थ और क्या परमात्माको ढूँढनेवाले भक्त और क्या वेदान्ती—यह सर्व-सम्मत सिद्धान्त है कि इसी शरीरके भीतर इसी भूताकाशमें यह शरीर और शरीरमें शरीरावच्छिन्न आकाश और उसमें फिर हृदयाकाश और उस हृदयाकाशमें परमेश्वर बैठा है। लेकिन, यहाँ शङ्का यह होती है—**ऋतं पिबन्तौ**—में जो द्विवचनका प्रयोग है उससे तो मालूम पड़ता है कि ईश्वर और जीव दोनों कर्मफलके भोक्ता हैं। तो वाचस्पति मिश्रने कहा कि असलमें यह '**अपिबन्**' और '**पिबन्**'—इन दोनोंका समास है कि एक ईश्वर—अपिबन् है—माने एक कर्मफलको पीता हुआ नहीं है; और एक (जीव) पिबन् है—पीता हुआ है; परन्तु, जैसे संस्कृत भाषामें माता च पिता च दोनों बोलना होवे तो केवल पितरौ कहनेसे काम चल जाता है, उसी प्रकार यहाँ पिबन्तौ प्रयोग है। पिताके साथ माताका द्वितीयत्व तो होता है परन्तु पिताके साथ पिताका द्वितीयत्व नहीं होता है। संस्कृतमें पिताके एकवचन, द्विवचन बहुवचनमें पिता पितरौ पितर: रूप बनते हैं। इसका अर्थ हुआ—एक पिता, दो पिता और तीन पिता। परन्तु दो व्यक्तिको कोई पिता कैसे बोलेगा? तो पिता शब्दका द्विवचन माताके द्वारा होता है; वहाँ माता च पिता च पितरौ ऐसा अर्थ होता है। संस्कृत भाषामें पिता शब्दका द्विवचन तो होता है परन्तु दो पिताकी दृष्टिसे नहीं, पिताके साथ नित्य सम्बद्ध जो माता है उस माताको लेकरके माता और पिता-'पितरौ' ऐसा बनता है। ऐसे ही बोले कि यह पिबन्तौ जो द्विवचन है वह एक अपिबन् है और एक पिबन् है—परमात्मा तो अपिबन् है, वह कर्मफलका भोक्ता नहीं है और जीवात्मा जो है वह पिबन् है, कर्मफलका भोक्ता है। माने एक ही परमात्मा जब तक अविद्याके साथ रहता है तब तक वह कर्मफलका पान करता है और जब वह अविद्याका नाश हो जाता है और अविद्यासे मुक्त हो जाता है, तब वह कर्मफलका पान नहीं करता है।

श्रीमद्भागवतमें इस श्रुतिकी व्याख्या बड़ी विलक्षण है—ग्यारहवें स्कन्धमें वे कहते हैं कि यह न बुद्धि और जीवका वर्णन है और न जीव और परमेश्वरका वर्णन है, फिर इस श्रुतिमें वर्णन किसका है? श्रीमद्भागवत भी तो व्याख्या ही है ना, वेदोंकी! ब्रह्मसूत्र और वेदोंकी व्याख्या मानते हैं श्रीमद्भागवतको और जगह-जगहपर उसमें ऐसे उद्धरण आते भी हैं। तो उन्होंने कहा कि इस श्रुतिमें एक बद्ध जीवका वर्णन है और एक मुक्त जीवका वर्णन है। जो बद्ध जीव है वह

अभिमानके कारण कर्मफलका भोक्ता बना हुआ है और जो मुक्त जीव है वह अन्त:करणका अभिमान न होनेके कारण मुक्त है और कर्मफलके साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह भागवत्‌की व्याख्या है।

श्रीचैतन्य महाप्रभुसे किसीने पूछा कि आप उपनिषद्‌की व्याख्या क्यों नहीं करते? ब्रह्मसूत्रकी क्यों नहीं करते? क्योंकि इनकी व्याख्याके बिना तो कोई सम्प्रदाय नहीं चलता। तो उन्होंने कहा कि हमारे मतमें उपनिषद् और ब्रह्मसूत्र माने वेदान्तका व्याख्यान श्रीमद्‌भागवत् ही है, इसलिए श्रीभागवत्-रूप व्याख्याके रहते हम दूसरी व्याख्या क्यों करें? और भी किसी आचार्यने स्वतन्त्र रूपसे उपनिषद्‌की व्याख्या नहीं की, केवल श्रीशङ्कराचार्यने ही उपनिषद्‌के एक-एक मन्त्र, एक-एक वाक्य, एक-एक पदकी व्याख्या की है।

तो अब भाष्यमें यह आया कि—

छायातपाविव विलक्षणौ संसारित्वासंसारित्वेन—

भाष्यकारने कहा कि एक संसारी है और एक असंसारी है, देखो, भागवती व्याख्याका बीज निकल आया। यह छाया जो है जो प्रतिबिम्ब है, जो अन्त:करणमें छाया है, आभास है वह भोक्ता है। तो बोले कि फिर **पिबन्तौ**—यह द्विवचन क्यों? यह ऐसे है कि जैसे दस जने जा रहे हों और उसमें चार जनोंके पास छाता हो और चार जनोंके पास न हो, तो गाँवमें कैसे बोलते हैं कि—*छत्रिणो यान्ति*—सब छातावाले जा रहे हैं; राजाके साथ दस आदमी जा रहे हों तो बोलते हैं—*राजा गच्छति*— राजा जा रहा है, ऐसा। तो, एकका ग्रहण होनेसे जो दूसरे साथी होते हैं उनका भी ग्रहण हो जाता है। असलमें यहाँ संसारी और असंसारी दोनों आत्माओंका वर्णन है; जो देहमें मैं करके बैठ गया, जो संसारकी वस्तुओंमें मेरा करके बैठ गया, जो अन्त:करणमें आभास है चैतन्यका, कर्त्तापन-भोक्तापन जिसमें रहता है, उसीको मैं करके बैठ गया, वह तो केवल परछाईं रह गया; और शुद्ध जो चैतन्यस्वरूप है, अन्त:करण और उसमें आभासको जो अपना स्वरूप नहीं मानता, जो मैं-मेराकी परिच्छिन्नतासे रहित असंसारी है, वह परमात्मा अभोक्ता है।

अच्छा, अब आपको दूसरी व्याख्या सुनाते हैं। **ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके**—ये विज्ञान भिक्षु जो हैं जो योग-सांख्यके व्याख्याकार हैं वह हैं तो वेदान्तके भी, ब्रह्मसूत्रके भी व्याख्याकार, परन्तु शांकर सम्प्रदायमें उनकी व्याख्या परिगृहीत नहीं है। तो वे कहते हैं कि '**छायातपौ**' में एक जीव है और एक ईश्वर है। कि कैसे? कि दोनों भोक्ता हैं। कि भला ईश्वर कैसे भोक्ता होगा? सांख्य-मतमें आत्मा

जो है सो भोक्ता है, योग-मतमें भी आत्मा भोक्ता है क्योंकि मजा तो वहाँ भी आता है ना! चित्तके निरोध हो जाने पर शान्ति किसको मिलती है? बोले आत्मा कर्त्ता तो नहीं है लेकिन भोक्ता है। तो जीव और ईश्वरके आनन्दमें क्या अन्तर है कि जीवको खानेमें मजा आता है और ईश्वरको खिलानेमें मजा आता है। जैसे देखो, तुम्हारे घरमें कोई बढ़िया भोजन आवे और उसी समय कोई अतिथि आ जाय और उसके सामने वह बढ़िया भोजनकी थाली परस दी और तुम्हारे मनमें ग्लानि हो गयी कि हाय-हाय, हमने आज अपने लिए बढ़िया भोजन मँगाया था और ये आज न जाने कहाँसे टपक पड़े और इनको दे देना पड़ा, तो यह तुम्हारा जीव-भाव जो है वह अत्यन्त गाढ़ताको प्राप्त हो गया और यदि अपने अतिथिको वह बढ़िया भोजन देकरके तुम्हें मामूली ही खानेको मिला या नहीं ही मिला—एक दिन भूखे रह जानेसे कोई मर थोड़े ही जाता है बल्कि खुशी हुई कि आज अतिथिके रूपमें हमारे यहाँ ईश्वर आ गया और उसको खिलाकर खुशी हुई—तो जो सिर्फ खाकर खुश होता है वह जीव और जो खिलाकर खुश होता है वह ईश्वर, उस समय तुम ईश्वरकी कक्षामें पहुँच जाते हो जिस समय तुम दूसरेको खिलाकर खुश होते हो—विज्ञान भिक्षुने ऐसी व्याख्या की। कि—**यः करोति यः स कारयति**—जीव कर्त्ता है और ईश्वर करानेवाला है; जीव पीता है ओर ईश्वर पिलानेवाला है—पिबति च पाबयति च; वह पीता है और वह पिलाता है। तो संसारमें करवाने वालेको भी कर्त्ता ही बोलते हैं—पिलानेवालेको भी यही क़हते हैं भई, पी रहे हैं, मजा ले रहे हैं वे भी पी रहे हैं, तो यहाँ छाया और आतप शब्दका ऐसा अर्थ है कि जीवको आनन्द मिल रहा है और ईश्वर उसको आनन्द दे रहा है। उपचारात् ईश्वरको भी पिबन् बोलते हैं कि पी रहा है, असलमें वह तो पिला रहा है—**पिबन्तौ**।

दूसरी बात यह बोले कि जैसे नौकर काम करता है तो वह काम मालिक पर जाता है—आजकलके मालिक लोग यह बात कबूल नहीं करते हैं यह बात दूसरी है; सेना हारती है तो कौन हारता है? राष्ट्र हारता है राजा हारता है और सेना जीत जाती है तो? बोलते हैं राष्ट्र जीत गया, राजा जीत गया। कि सेना तो नौकर है, वह तो सौ-दो सौ रुपया लेकरके अपनी छातीको बन्दूकके सामने कर देती है, लेकिन उसका हारना राजाका हारना है और उसका जीतना राजाका जीतना है। तो यहाँ यह बात है कि छाया-रूप जो बुद्धि है वह तो **पिबन्ति** है, वह तो संसारके सुख-दुःखको, कर्मफलको ग्रहण करती है—वह छाया है; और आतप कौन है कि जिसका प्रतिबिम्ब पड़नेसे वह छाया है—अगर प्रकाश न हो

तो छाया कोई चीज होती है क्या? जिसके प्रकाशमें वह छाया काम करती है, वह आतप है।

रामचन्द्र भगवान्‌के राज्यमें यह कानून था कि नौकरका काम मालिक पर आ गया। एक वर्णन आया है कि एक बार विभीषणसे अपराध हो गया। वे जम्बूकेश्वर महादेवकी पूजा करनेके लिए श्रीरंगमक्षेत्रमें आये थे, उनका पाँव लगा और एक तपस्वी मर गया। मर गया तपस्वी तो पकड़ा ब्राह्मणोंने। राम-राज्यमें तो ब्राह्मणोंकी महिमा थी, पकड़ लिया और बोले दण्ड दो इसको। क्या? कि प्राण-दण्ड। परन्तु विभीषण मरें ही नहीं, उनको तो कल्पान्त-राज्यका वरदान प्राप्त था। तो ब्राह्मणोंने उनको कैद कर लिया, गुफामें डाल दिया और उनका खाना-पीना बन्द कर दिया। यहाँ जब विभीषण नहीं मिले तब उनकी खोज हुई—पद्मपुराणमें यह कथा है। अयोध्या आदमी गया। वहाँ शिव शर्माने ध्यान करके बताया कि श्रीरंगम् क्षेत्रमें विभीषण कैदमें हैं। श्रीरामचन्द्र रंगक्षेत्र गये। वहाँ गये तो ब्राह्मणोंने कहा कि इसको दण्ड दो! रामचन्द्रने कहा कि पहले संविधान तो देख लो। हमारे संविधानमें यह नियम है कि—**भृत्यापराधे सर्वत्र स्वामिनों दण्डमिष्यते।**

यदि मृत्यसे, सेवकसे अपराध हो जाय तो उसका दण्ड स्वामीको मिलना चाहिए। श्रीमद्भागवतमें भी यह है—

यन्नामानि च गृह्णाति पुमान् मृत्यो कृतागतिः।

सेवकसे यदि अपराध हो जाय तो सेवकको कौन जानता है, सब लोग कहते हैं अमुकके सेवकने यह अपराध किया है, बदनामी तो मालिककी होती है। इसलिए रामचन्द्र बोले—**वरं ममेव मरणं मद्भक्तो हन्यते कथम्।**

विभीषणको दण्ड मत दो, विभीषणके मालिकको दण्ड दो, हम दण्ड भोगनेके लिए तैयार हैं।

कहनेका मतलब यह कि सेवकका काम स्वामी पर चला जाता है। तो यह जो छाया और आतप हैं ना, इसमें धरती करती है सब कुछ छाया और वह जाता है आतप पर, क्यों कि छायाकी स्वतंत्र कोई सत्ता नहीं है छाया जो है सो प्रकाशका क्या है आपने कभी विचार किया? प्रकाश क्या परिणामको प्राप्त होकरके छाया बना है? जैसे सोनेसे जेवर बनाया जाता है वैसे क्या प्रकाशसे छाया बनी है? क्या जैसे दूधसे दही बनता है वैसे प्रकाशसे छाया बनी है? क्या जैसे परमाणुओंके संयोगसे घटादि बनते हैं, कण बनते हैं वैसे क्या प्रकाशके घनीभावसे छाया बनी है? अरे विचार करके देखो तो छाया जो है सो प्रकाशके अतिरिक्त कालमें नहीं है अतिरिक्त देशमें

नहीं है, अतिरिक्त वस्तु नहीं है, परिणाम नहीं है, विकार नहीं है, आरम्भ नहीं है, छाया तो बिलकुल मृषा होती है, छायाका वजन नहीं होता, छायाकी लम्बाई-चौड़ाई दिखती है पर होती नहीं है, छायाका काल नहीं होता—न छायामें काल है, न छायामें देश है, न छायामें वजन है,न छायामें कर्तृत्व है ! देखो, छायामें जाकर खड़े हो जायँ तो हमको धूप नहीं लगेगी, लेकिन क्या छायाने जान-बूझकर धूपको मिटाया ? उसमें कर्तृत्व नहीं है, भोक्तृत्व नहीं है। जैसे अज्ञानवश लोग छायामें—उनकी लम्बाई-चौड़ाई, उम्र आदिका आरोप करते हैं और उसमें अर्थ, क्रिया, करत्विकी कल्पना कर लेते हैं क्योंकि—वह हमारी गर्मी आदिको दूर करती है—तात्विक दृष्टिसे छायाके कुछ न होनेपर भी छायामें अस्तित्वकी कल्पना कर लेते हैं—इसी प्रकार परब्रह्म परमात्मामें यह छाया-रूप बुद्धि है और बुद्धि कर्म-फलका पान करती है और अज्ञानवश उसके अधिष्ठाता, स्वयंप्रकाश आत्मदेव पर उसका अध्यारोप होता है। और आत्माका ज्ञान होनेपर बोले कुछ नहीं।

अच्छा, एक बात है—आज हमारा विचार तो यह था कि आपको इस मन्त्रके अर्थका एक नमूना सुनावें—क्या नमूना ? कि प्राचीन कालके महात्मा लोग वेदके मन्त्रोंका अर्थ कैसे करते थे ? तो अभी तो मैं इसकी भूमिका ही सुना रहा था, अब इस मन्त्रके हृदयमें प्रवेश करना है। ब्रह्मसूत्रमें व्यास भगवान्‌ने इस मन्त्रकी व्याख्या की [illegible] *'गुहा प्रविष्टाधिकरण' गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे*—यही श्रुति-वाक्य है। गुहा प्रविष्टाधिकरण की। उसमें इस मन्त्रपर बड़ा विचार किया गया है कि इसका अर्थ क्या होना चाहिए। तो प्राचीन लोग किसी मन्त्रका अर्थ निर्णय करनेके लिए कितनी गम्भीरतासे विचार करते थें, यह बात आगे बतायेंगे।

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके। लोक माने इस शरीरमें—**लोक्यते इति लोकः** जो सबके देखनेमें आता है उसका नाम लोक है, लोके माने शरीरमें, और फिर इसमें **परमे परार्धे**—इस शरीरके भीतर जो परमात्माका आधार-स्थान है माने हृदय, जो कि परमाकाश है उसमें—एक बाहरका आकाश, एक शरीरका आकाश, एक हृदयकाश । उस हृदयाकाशमें **सुकृतस्य ऋतं पिबन्तौ**—सुकृतस्य माने कर्मका जो ऋत है, फल है, उसको पी रहे हैं, और **गुहां प्रविष्टौ**—बुद्धिकी गुहामें प्रविष्ट है, और वह **छायातपौ**—छाया और आतपके समान है, ऐसा ब्रह्मवेत्ता लोग कहते हैं, **ब्रह्मविदो वदन्ति** और **य च त्रिणाचिकेता पञ्चाग्नय ते वदन्ति**—और जो अग्निका चयन करने वाले, अग्निकी उपासना करनेवाले पञ्चाग्नि गृहस्थ हैं वे भी कहते हैं—

माने ये प्रकृति-धर्म वाले गृहस्थ लोग और निवृत्ति धर्मवाले, संन्यासी ब्रह्मवादी और प्रपञ्चवादी—दोनों इस बातको स्वीकार करते हैं कि इसी शरीरमें, इसी हृदयमें, इसी गुहामें छाया और आतप प्रकाशके समान जीवात्मा और परमात्मा दोनों बैठे हुए हैं। यह मन्त्रका सीधा-साधा अर्थ हुआ इसमें '**लोक**' शब्दका अर्थ शरीर है '**सुकृत**' शब्दका अर्थ कर्म है और '**ऋत**' शब्दका अर्थ फल है और '**पिबन्तौ**' का अर्थ भोग है, '**गुहां प्रविष्टौ**' का अर्थ है बुद्धि-गुहामें रहनेवाले हैं, और '**परमे परार्धे**' का अर्थ है कि ईश्वरकी, परमात्माकी उपलब्धिका स्थान बस यही है। परमात्मा आधा तो सारी सृष्टिमें है, और आधा तो यहीं है हृदयमें और एक छाया और एक आतप—यह सर्वसम्मत है। पञ्चाग्नि उनको कहते हैं कि जो द्युलोकमें, पर्जन्यमें, पृथिवीमें, पुरुषमें और योषितमें—छान्दोग्योपनिषद्‌की रीतिसे पाँचमें अग्नि दृष्टि करके अग्निकी उपासना करते हैं, छान्दोग्योपनिषद्‌के पाँचवें अध्यायमें इस प्रसङ्गका बहुत बढ़िया वर्णन है और बृहदारण्यकमें इसका वर्णन है। तो, अब कुल मिलाकरके इस मन्त्रका अर्थ हुआ कि आओ, हम अपने इस शरीरमें और इस हृदयाकाशमें और इस बुद्धिमें परमात्माको ढूँढें—छायाके रूपमें वह कर्त्ता-भोक्ता जीव बना हुआ है और आतपके रूपमें वह स्वयं विम्बस्थानीय, शुद्ध-स्वयंप्रकाश-साक्षीके रूपमें विद्यमान है। इसलिए यदि परमात्माको कहीं ढूँढना हो, तो इस साढ़े तीन हाथके शरीरके भीतर ही ढूँढो, यह इस मन्त्रका अर्थ है।

अब आपको जरा पुराने ढंगसे पण्डित लोग मन्त्रोंके अर्थका कैसे विचार करते थे उसका नमूना सुनाते हैं, वह भी जाननेकी चीज है। यह '**ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके**'—जो मन्त्र है यह है विषय, माने इस मन्त्रका हम विचार प्रारम्भ करते हैं। अब इस विषयपर संशय है, संशय क्या है कि—**बुद्धि जीवौ निर्दिष्टौ उत जीव परमात्मानौ इति**—यहाँ जो दो वस्तुओंका वर्णन है उसमें बुद्धि और जीव इन दोनोंका वर्णन है कि जीव और परमात्मा इन दोनोंका वर्णन है? यह संशय उठाया, यह प्रश्न है! तो कहते हैं कि यदि जुद्धि और जीवका वर्णन हो तो क्या फल निकलेगा? कि बुद्धि और जीव का वर्णन हो तो यह फल निकलेगा कि बुद्धि प्रधान जो कार्य-करण-संघात है माने यह तो सूक्ष्म-स्थूल शरीर हैं—इनमें-से विलक्षण जीव है यह फल निकल आवेगा, क्योंकि **येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके**—यह प्रश्न तो किया ही गया था कि यह जीव क्या है, तो यहाँ बुद्धि और जीव दोनों मिलकरके कर्मफलका भोग कर रहे हैं, यह बात निकालनेसे जीव जो है सो बुद्धिसे विलक्षण है, यह फल निकल आवेगा। यह

बात कठोपनिषद्‌में पहले आ ही गयी है। और यदि इस मन्त्रमें जीवात्मा और परमात्मा दोनोंका वर्णन है, तो यह फल निकलेगा कि **जीवाद् विलक्षण: परमात्मा**-जीवसे विलक्षण परमात्मा है, यह भी इस उपनिषद्‌में बताना है; क्योंकि **अन्यत्र धर्मात् अन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्**—परमात्माके प्रतिपादनकी प्रतिज्ञा तो की ही गयी है, प्रश्न तो किया ही गया है। अब प्रश्न यह हुआ कि यहाँ बुद्धि और जीव अथवा जीव और परमात्मा इन दोनोंमें-से किसका प्रतिपादन है।

अब देखो, इसपर पूर्व आक्षेप करनेवाला क्या निकालता है? यह आपको पहले जमानेके लोग किसी मन्त्रके अर्थका विचार कितनी गम्भीरतासे करते थे, यह सुनानेके लिए बता रहा हूँ। आक्षेप करने वालेने कहा कि ये दोनों बातें गलत है। **उभावप्येतौ पक्षौ न संभवत:**—ये दोनों पक्ष सम्भव नहीं हैं। **कस्मात्**—क्यों? अब देखो, आपके मनमें यह प्रश्न उठा कि नहीं उठा, विचार करो। '**ऋतं पिबन्तौ**' का अर्थ है कर्मफलका उपभोग। तो यह क्षेत्रज्ञ जो चेतन जीव है वह तो कर्मफलका भोग कर सकता है; लेकिन **अचेतनात्**—अचेतन होनेके कारण जो बुद्धि है वह तो कर्मफलका उपभोग नहीं कर सकती और यहाँ '**पिबन्तौ**' यह द्विवचन है और वह कहता है कि दोनों कर्मफलका उपभोग करते हैं, इसलिए क्योंकि बुद्धि तो कर्मफलका उपभोग करनेवाली हो नहीं सकती, केवल जीव ही हो सकता है, तो '**पिबन्तौ**' यह द्विवचन व्यर्थ जायेगा, इसलिए बुद्धि और जीव यह अर्थ नहीं होना चाहिए। यह देखो, युक्तिसे यह बात बतायी गयी है! अब बोले कि यही कारण है कि जीव और परमात्माके अर्थ भी संगत नहीं हैं—आक्षेप करने वाला कहता है कि जीव तो कर्मफलका भोग करता है यह बात सही है; लेकिन परमात्मा तो कर्मफलका भोग करता नहीं। परमात्मा तो **अनश्नन् अन्यो अभिचाकशीति**—वह तो किसी भी कर्मफलका भोग नहीं करता, वह '**न किञ्चन अत्ति न किञ्चित् अद्यते**'—न तो परमात्माको कोई भोग सकता है और न तो परमात्मा किसीको भोगता है—परमात्मको भोगकी जरूरत नहीं और परमात्मा किसीसे भोगा जाता नहीं। **न तदश्नाति किञ्चन न तदश्नाति कश्चन**—वृहदारण्यक श्रुतिने कहा कि परमात्मा किसीको भोगता नहीं और परमात्माका कोई भोग करता नहीं, उसमें भोक्ता-भोग्य-भाव बिलकुल है ही नहीं। तो ऐसी स्थितिमें '**पिबन्तौ**' जो यह द्विवचन है इसकी संगति न बुद्धि और जीव पक्षमें है और न जीव और परमात्मा पक्षमें हैं, क्योंकि वहाँ तो बुद्धि भोक्तृ नहीं हो सकती, जीव ही भोक्ता हो सकता है और यहाँ परमात्मा भोक्ता नहीं हो सकता, जीव ही भोक्ता हो सकता है, तो दोनों ही अर्थ तुम्हारे गलत, हैं यह हुआ पूर्वपक्ष।

बोले—**नैष दोषः**—यह दोष नहीं है। क्यों? कि बोले—**छत्रिणो गच्छन्ति इति एकेनापि छत्रिणा बहूनां छात्रित्वोपचार दर्शनात्**—संसारमें यह देखनेमें आता है कि एक आदमी भी यदि छाता लगाकर चल रहा है तो कहते हैं कि वे छातावाले जा रहे हैं। इसलिए इन दोनोंमें-से दोनोंका भोक्ता होना जरूरी नहीं है, एकका भोक्ता होनेसे भी चल जावेगा। एकमें भोक्तृत्व गौण है और एकमें भोक्तृत्व मुख्य है, जैसे चार आदमीमें-से दो आदमी भी चाय पीने बैठ जायँ, एक आदमी ही चाय पीने बैठ जाय तो सामनेवाला यही कहेगा कि देखो, लोग चाय पी रहे हैं—उसमें सब पी रहे हैं, यह जरूरी नहीं होता। अथवा यों कहो कि जीव तो कर्मफलका पान करता है और ईश्वर कर्मानुसार उसको पिलाता है। जीव पीनेवाला है और ईश्वर उसको पिलानेवाला है, साकी है। तो, जो पिलाता है उसके लिए भी **पिबति** यह प्रयोग हो सकता है, जो रसोई बनानेका निर्देश करता है उसको भी कहते हैं कि पका रहे हैं—पाचयिताको भी पाचक बोलते हैं। इसलिए परमात्मा यद्यपि कर्मफलका भोग नहीं करता है, जीवको कर्मफलका भोग देता है, तब भी उसको '**पिबन्तौ**' कह सकते हैं ओर देखो दोनोंमें-से एक पीनेवाला हो तब भी '**पिबन्तौ**' बोल सकते हैं।

अब कहो कि बुद्धि और जीव इन दोनोंमें-से कैसे लेना? तो बोले—**करणे कर्तृत्वोपचारत्**—करणको भी कर्त्ता मानते हैं, बुद्धि करण है और जीव कर्त्ता है तो 'मुँह पी रहा है' ऐसा भी बोल सकते हैं—हाथ उठा रहा है ऐसे बोलते ही हैं, पर हाथ थोड़े ही उठाता है, उठानेवाला तो जीव है, परन्तु हाथ उठा रहा है—ऐसा बोलते हैं। मनुष्य रसोई बनाता है और कहते हैं कि लकड़ी रसोई बना रही है—ऐसा संस्कृतमें कहते हैं—**ऐधांसि पचन्ति**। तो ऐसी स्थितिमें बुद्धि और जीव अर्थ होना भी संभव है और जीव और परमात्मा अर्थ होना भी सम्भव है। इसलिए, अब या तो अर्थ होवे कि बुद्धि और जीव दोनों कर्मफलको भोग रहे हैं और यह तो यहाँ यह अर्थ होवे कि जीव और परमात्मा दोनों कर्मफलको भोग रहे हैं। ऐसे अर्थमें बुद्धि जो है सो करण है इसलिए जीव जो है सो कर्मफलका भोक्ता है और बुद्धिमें उसका गौण-प्रयोग है और या जीव और परमेश्वर दोनों कर्मफलको भोग रहे हैं, तो जीव मुख्य-रूपसे उसमें भोक्ता है और परमात्मा उसमें व्यापक है। इसलिए परमात्माके लिए उसका प्रयोग किया जा रहा है।

तो अब क्या प्राप्त हुआ? **किं तावत् प्राप्तम्**—पूर्वपक्षी कहता है कि यहाँ गुहां **प्रविष्टौ** यह विशेषण है—दोनों हृदयमें ही रहते हैं, तो यदि शरीर लोक है तो सूक्ष्म-शरीर गुहा है और यदि हृदय ही गुहा है तो दोनों अवस्थामें बुद्धि भी हृदयमें ही है और

क्षेत्रज्ञ जीव भी बुद्धिमें ही है, हृदयमें ही है—अत: '**गुहां प्रविष्टौ**' यह बात दोनोंके लिए कही गयी। अतएव छाया और आतपमें बुद्धि और जीव ही ग्रहण हो सकता है, जीव और परमात्मा (ब्रह्म) नहीं क्योंकि जब दूसरा अर्थ सम्भव है तो ब्रह्मको हृदयदेशमें क्यों बाँधते हो? और यहाँ तो कर्मका फल पीनेवाला कहा गया है और परमात्मा जो है वह न पापका फल पीता है और न पुण्यका फल पीता है—**न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्**—वह तो कर्मका फल भोगता ही नहीं है। '**छायातपौ**'में भी चेतन और अचेतनका निर्देश उत्पन्न होता है—**छायातपवत् परस्परविलक्षणत्वात्**—क्योंकि एक छाया है और एक आतप है। इसलिए यहाँ बुद्धि और जीव यही अर्थ होना चाहिए। क्या-क्या बात आक्षेप करनेवाले कह सकते हैं, दोनों अर्थका खण्डन कर सकते हैं और दोनोंमें-से एक पूर्व-पक्षका समर्थन कर सकते हैं, यह बात पूर्वपक्षकी बतायी। अब उत्तर पक्ष बताते हैं—

उत्तर पक्ष—कहते हैं असलमें यहाँ जीवात्मा (विज्ञानात्मा) और परमात्मा यही दोनों '**छायातपौ**' और '**गुहां प्रविष्टौ**' शब्दका अर्थ है। क्यों? कि देखो, यह दोनों आत्मा हैं और दोनों चेतन हैं और दोनों समान स्वभाव हैं, और जब संख्या बतायी जाती है कि दूसरे बैलको ढूँढो माने बैलका जोड़ा है उसको ढूँढो तो वहाँ दूसरे बैलको ही ढूँढते हैं—गायके जोड़ेको ही वहाँ ढूँढते हैं, वहाँ किसी गधेको या घोड़ेको या हाथीको या आदमीको नहीं ढूँढते हैं। तो जब यहाँ कर्मफलके भोक्ताके रूपमें यह निश्चय हो गया कि विज्ञानात्मा जीव कर्मफलका भोक्ता है तब जब दूसरेका अनुसन्धान करना पड़ेगा तब चेलाका ही अनुसन्धान करना पड़ेगा और वह तो केवल परमात्मा ही होगा। बोले-भाई, यहाँ तो बताया कि हृदय-गुहामें, बुद्धि गुहामें मौजूद है, तो बुद्धि-गुहामें क्या परमात्मा कैद होकरके रहता है? इसलिए-'**गुहाप्रविष्टौ**'से तो यह मालूम पड़ता है कि यह परमात्मा नहीं है, जीव है! बोले कि देखो यहाँ '**गुहाहितं**' कहनेसे ही मालूम पड़ता है कि परमात्मा है! कैसे? कि श्रुतिमें, स्मृतिमें बारम्बार परमात्माको गुहामें प्रविष्ट बताया गया है—

गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्—कठोपनिषद्में ही पहले आ चुका है, और तैत्तिरीय-उपरिषद्में आया है—**यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्**। महाभारतमें आया है—**आत्मानं अन्विच्छ गुहां प्रविष्टम्**। तो ब्रह्म यद्यपि सर्वव्यापक है तथापि हृदयमें उसकी उपलब्धि होती है। इसलिए एक देशकी चर्चा यहाँ की गयी है। परमात्माके लिए यह बताना कि वह एक देशमें रहता है, यह कोई विरोधी बात नहीं है और इसका समाधान पहले ही कर चुके हैं कि दोनोंमें-से एक भी पीनेवाला हो,

एक भी खानेवाला हो तो यही कहते हैं वे लोग खा-पीकर आ रहे हैं; बहुतोंमें-से एक भी छाता लगाये हो तो सबको बोलते हैं कि छाता लगाये हुए लोग आ रहे हैं! इसलिए **छायातपौ इति अविरुद्धम्**—इसलिए यहाँ छाया जो है वह कर्तृत्व-भोक्तृत्वयुक्त आत्मा (जीव) है। वह उपाधिके द्वारा जीव भोक्ता बनता है : **आत्मेन्द्रिय-मनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः**—यह आगे आनेवाला है कि इन्द्रिय और अन्तःकरण सहित जो आत्मा है उसको यहाँ भोक्ता कहा गया है। '**छायातपौ**'-में जो शुद्ध आत्मा है उसको आतप-प्रकाश कहा गया है और जो भोक्ता आत्मा है उसको छाया कहा गया है; और इन दोनोंको छाया और प्रकाश कहनेका तात्पर्य यह है कि छाया जो है वह तो संसारी है और आतप जो है वह असंसारी है। स्वयंप्रकाश परमात्मा जो है वह न तो कहीं आता है, न तो कहीं जाता है, न तो सुखी होता है और न तो दुःखी होता है; और न तो राग-द्वेष करता है और न तो पापी-पुण्यात्मा होता है; और यह जो छाया है वह उसी शुद्धकी बुद्धिमें, बुद्धि-गुहामें पड़नेवाली छाया है, वही जीव है, वही पाप-और पुण्यसे युक्त होती है। क्योंकि आत्मामें जो संसारीपना माना हुआ है वह अविद्याकृत है-**अविद्याकृतत्वात्संसारित्वस्य पारमार्थिकत्वात्च असंसारित्वस्य**-प्रकाशरूप जो आत्मा है वह तो परमार्थ है, उसमें न पाप है, न पुण्य है, न राग है, न द्वेष है, न आना है, न जाना है, न नरक है, न स्वर्ग है, न पुर्नजन्म है; वह तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव है। पारमार्थिक आत्मा असंसारी है, और यह जो अपनेको अन्तःकरणवाला मानकरके अन्तःकरणमें घुस गया, छाया होकर, आभास होकरके, प्रतिबिम्ब हो करके, वह जो है उसको '**मैं**' मानना अविद्याके कारण है और उसीमें सारा संसारीपना है।

तो अपनेको पुण्यात्मा मानना, पापी मानना, रागी मानना, द्वेषी मानना, नारकी मानना, स्वर्गीय मानना, आने-जानेवाला माानना, पुनर्जन्मवाला मानना, संसारी मानना-यह अविद्याके कारण होता है, अपने यथार्थस्वरूपका ज्ञान न होनेके कारण होता है, इसीसे उसको छाया कहते हैं। इसलिए इस मन्त्रमें **विज्ञानात्मपरमात्मानौ गुहां प्रविष्टौ गृह्येते**—अज्ञानी जीव जो अपनेको अन्तःकरणसे सम्बद्ध मानता है, उसको छाया कहा गया है और मुक्त आत्माको आतप कहा गया है—एक नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है और एक अविद्याके कारण संसारी है—इस मन्त्रमें ये दो बातें कही गयी हैं। माने मन्त्रके अर्थपर विचार पहलेके महात्मा लोग कैसे करते थे, उसका आपको यह नमूना बताया!

बोले—अभी बात पूरी नहीं हुई—**प्रकरणविशेषणाच्च** (कठ० १.३.१२)। व्यासजी महाराज कहते हैं कि विशेषणपर जरा ध्यान दो—**आत्मानं रथिनं विद्धि**

शरीरं रथमेव तु। (कठ० १.३.३) इसमें एक रथी आत्मा का वर्णन है और वह रथपर चढ़करके जिससे मिलनेके लिए जाता है वह परमात्मा है। तो विज्ञानात्मा जीव यहाँ रथी है। अगले मन्त्रोंमें उसका वर्णन है और उसका गन्तव्य बताया है—**सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्** (कठ. १.३.९) वह मार्गके पार पहुँचता है और वह विष्णुका परमपद है! तो यहाँ जीवको अन्तःकरण-देह आदिमें जो अहंता-ममता है, जो तादात्म्य है उसको छोड़करके-माने अपने भोक्तापनका बाध करके परमात्मासे एक होना है, तो यहाँ जो छाया है वह तो चलनेवाला है और जहाँ पहुँचना है, जिससे एक होना है, वह आतप है, वह प्रकाश है। और **तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं-गह्वरेष्ठं पुराणम्**—इस मन्त्रमें काठकोपनिषद्में ही पहले यह बात बतायी गयी कि **मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति**। अतः जो मनन करनेवाला है सो विज्ञानात्मा है, छाया है और जिसका मनन करता है वह परमात्मा है, आतप है। इसलिए पहले ग्रन्थमें भी यही प्रकरण है और यहाँ भी है—**ब्रह्मविदो वदन्ति**। ब्रह्मवेत्ता लोग इसका वर्णन करते हैं। और फिर **द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया** (मुंडक० ३.१.१)—इस मन्त्रका जो अर्थ दूसरे ब्राह्मण ग्रन्थोंमें और उपनिषदोंमें दिया हुआ है, उसका भी यही अभिप्राय है।

कहनेका अभिप्राय यह हुआ कि '**गुहां प्रविष्टौ**' यह जो यहाँ **छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति**—है इसका अभिप्राय यह है कि अविद्यासे अपनेको भोक्ता मानकरके आभास जो हैं-पञ्चदशीमें जिसको आभास कहते हैं—**माया आभासेन जीवेशौ करोति**—मायाने आभाससे जीव और ईश्वरका भेद बना दिया, वह तो छाया और आतप है। वह जिसका आभास है वह नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्मा आभास क्यों बन गया विज्ञानात्मा? क्योंकि बुद्धि आदिके साथ तादात्म्यापन्न हो गया।

तो बाबा, इस परमात्माको यदि ढूँढना हो तो कहीं दूर देशमें जानेकी जरूरत नहीं है, आवो इस शरीरके भीतर—एक आकाश जो बाहर दिखायी देता है वह शरीरमें भी ज्यों-का-त्यों है और वह शरीरके साथ चलता-फिरता नहीं है, उसके भीतर हार्दाकाश है और वह हार्दाकाश जो है उसमें परमाकाश है, वह परमव्योम जो है वह आत्माका स्वरूप, उसमें देश तो कल्पित है, आना-जाना कहाँसे होगा; उसमें तो काल कल्पित है, उसमें जन्मना-मरना कहाँसे होगा; उसमें यह देह और प्रपञ्च पञ्चभूत जो है सो कल्पित है, उसमें रोग-शोक-मोह कहाँसे होगा; उसका किसीके साथ सम्बन्ध कहाँसे होगा? तो ऐसा वह परमात्मा है जिसका इसमें विवेकके द्वारा वर्णन किया गया है।

❖

पर और अपर दोनों ब्रह्म ज्ञातव्य हैं

अध्याय-१ वल्ली-३ मंत्र-२

यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्।
अभयं तितीर्षतां पारं नाचिकेतꣳशकेमहि॥ १.३.२

अर्थ :—जो यजन करनेवालोंके लिए सेतुके समान है उस नाचिकेत अग्निको और जो अभयरूप है तथा भवसागरको पार करनेकी इच्छा वालोंके लिए परम आश्रय अक्षर नामवाला ब्रह्म है—उन दोनोंको जाननेमें हम समर्थ हों॥

यः सेतुः ईजानानाम्—यहाँ ईजान माने यजमान है। यजमानमें 'य' अक्षरका 'ई' अक्षर होगया है। यजन करना माने यज्ञ करना; जैसे यज्ञ करनेवाले को बोलते हैं 'यष्टा' और जिसका यजन किया जाता है उसको बोलते है 'ईज्य'- 'ईज्य' माने यजन करने योग्य। इसी प्रकार यहाँ 'यजमान' शब्दका रूपान्तर हुआ ईजान और ईजानका बहुवचन हुआ ईजानानाम्। तो जो यजमानोंके लिए सेतु है—यह अर्थ हुआ।

जो लोग यज्ञ करते हैं, वे यज्ञ करनेवाले दुःख रूपी संसारसे पार कैसे होते हैं ? वे कर्म-रूप यज्ञ करेंगे। उपासना-रूप यज्ञ करेंगे, ज्ञान-रूप यज्ञ करेंगे, तो वे यज्ञ करके किसके सहारे अपने गन्तव्यको प्राप्त करेंगे, अपने फलको प्राप्त करेंगे? तो **फलमत उपपत्तेः**-मनुष्य जो कर्म करता है उसका फल देनेवाला ईश्वर होता है। बहुत लोग ऐसा मानते हैं कि मनुष्य जब कर्म करता है तब उसके कर्मसे ही एक ऐसी शक्ति पैदा होती है जो पहले नहीं थी और वह शक्ति कर्त्ताके अन्तःकरणमें बीज-रूपसे बैठ जाती है, उसको कोई अपूर्व बोलते हैं, और कोई अदृष्ट बोलते हैं। हम जितना भी काम करते हैं, उसमें जब यह यह विचार जगा रहता है कि हमने यह काम किया और यह होना चाहिए तब अपूर्वकी उत्पत्ति होगी-भला! हमने यह काम किया, अपने फायदेके लिए किया, श्रद्धासे किया, कामनासे किया, भावनासे किया; तो जब कोई भी कर्म हम करते हैं और अपने कर्त्तापनका अभिमान जाग्रत होता है कि हमने यह कर्म किया, उसी समय हमारे अन्तःकरणमें

एक ऐसा संस्कार बैठ जाता है, ऐसी छाप पड़ जाती है कि समय-समय पर वह उभरती देखनेमें आती है। कभी-कभी ये जो सपने आते हैं आप बताओ ये कहाँ रहते हैं? कर्त्ताके अन्त:करणमें ही तो वे संस्कार-रूपसे बैठे रहते हैं और समयपर उदय होते हैं-अनियन्त्रित अन्त:करणमें वे स्वप्नके समय उदय होते हैं। अच्छा, जब यादें आती हैं तो वे यादें कहाँ रहती हैं? बचपनकी याद आ जाती है-बचपनमें किसीने एक चूहा मार दिया और बुढ़ापेमें रोने लगा। भला वह बचपनमें मारा हुआ चूहा बुढ़ापेमें क्यों रुलाता है? उसकी स्मृति कहाँसे उदय हुई? कि बोले-जान-बूझ कर चूहा मारा था ना-कर्त्तापन था उसमें, तो उसका संस्कार बैठ गया और उसमें-से स्मृति उदय हो गयी। तो, जब आदमी काम करता है तब उसको नहीं मालूम पड़ता कि हम क्या काम कर रहे हैं लेकिन वह मनुष्यके हृदयमें 'रिकॉर्ड' हो जाता है-भला! अब यह (कैसिटमें) जो पट्टी है ना जिस पर रेकार्ड हो रहा है—इसको लेकर आँखसे ढूँढो कि इसमें कहाँ वे शब्द, कहाँ वे वाक्य कहाँ वह ध्वनि अङ्कित हो रही है? ध्वनि ही तो अंकित हो रही है न—वह ध्वनि कहाँ अंकित हो रही है—आँखसे ढूँढनेपर नहीं मिलेगी, लेकिन इसमें अङ्कित तो हो रही है! इसी प्रकार हमारे जीवनमें कर्त्तृत्व-पूर्वक जान-बूझकरके किये हुए जो कर्म हैं वे अङ्कित होते हैं और जब हम भीतर-ही-भीतर कबूल करते हैं कि हाँ मैंने यह काम किया—तब उसका अपूर्व बन जाता है। एक देवताको मैंने पाँच रुपयेका भोग लगानेको बोला था; लेकिन जब काम हो गया तब भोग नहीं लगाया; क्यों? बोले कि वह काम तो अपने आप ही हो गया, हमने ही कर दिया; लेकिन वह जो पहले बोला है न कि हमारा काम हो जायेगा तो हम पाँच रुपयेका भोग लगावेंगे वह तो जान-बूझकर बोला है कि नहीं! इसलिए उसकी मरते समय याद आयेगी और ऐसी याद आयेगी कि हमसे बड़ी गलती हुई जो हमने अपनी बोली हुई बात पूरी नहीं की। जब कोई रोग होगा अथवा कोई दु:ख आवेगा तब वह जो भीतर बैठा हुआ है निकलेगा। तब बेहोशीमें ऐसा मालूम पड़ेगा कि देवी आकर कह रही हैं कि तुमने हमको भोग नहीं लगाया और हनुमानजी हाथमें गदा लेकर डाँट रहे हैं कि तुमने हमसे वादा करके पूरा नहीं किया? वह बात कहाँ बैठी रहेगी? कि यह जो तुमने जान-बूझकरके वादा किया है, उसका संस्कार तुम्हारे चित्तमें रहेगा। तो अपूर्व जो है वह फल देनेवाला होगा।

कोई कहते हैं कि इसमें अपूर्व माननेकी कोई जरूरत नहीं है। असलमें सबके हृदयमें ईश्वर रहता है और हृदयमें जब यह बात बैठ जाती है तब ईश्वरके

नोटमें आ जाती है—अपने दिलमें जितनी बातें होती हैं उनको ईश्वर नोट कर लेता है और समय-समयपर अपने ही तराजू पर तौले हुए, अपनी ही मान्यतासे माने हुए, अपने ही स्वीकार किये हुए जो कर्म हैं उनका फल ईश्वर देता है।

अब बोले कि कर्म तो आज किया और इसका फल पचास वर्ष बाद मिलेगा, पाँच वर्ष बाद मिलेगा, वह कैसे? कर्म तो आज किया और नष्ट हो गया, होम आज किया और पूरा हो गया, इसका फल पाँच वर्ष बाद कैसे मिलेगा? तो कुछ लोग कहते हैं कि इसका अपूर्व रहता है अन्तःकरणमें और कुछ लोग कहते हैं कि ईश्वर जो है वह सर्वज्ञ है, वह तुम्हारे किये हुए कर्मका फल देता है।

तो **ईजानानाम् सेतुः**—सेतु माने मेड़—दो खेतोंके बीचमें दोनोंकी मर्यादा बनानेवाले कर्म और फलकी मेड़—मर्यादा। कौन है वह मेड़ बीचमें? कि ईश्वर। आज तुमने कर्म किया और कल वह तुमको फल देगा तो बीचमें कौन था? कि जो सुषुप्तिमें रहता है सो। यह बात आप निश्चित समझना कि एक ही चीजसे जब अनेक चीज बनें तब उसको बनानेवाला अवश्य होगा। जब एक सोना कङ्गन बने हाथमें पहननेके लिए, कुण्डल बने कानमें पहननेके लिए, हार बने गलेमें पहननेके लिए, तो उसको गढ़नेवाला कोई होगा कि नहीं होगा? सोना तो एक चीज है, उसमें जब अनेक चीज व्यवस्थापूर्वक, प्रयोजनानुसार, उपयोगके लिए बन रही है तब यह बात माननी ही पड़ेगी कि उस एक धातुको अनेक रूपमें बनानेवाला कोई है। जब किसानने एक खेतमें गेहूँ पैदा किया, एक खेतमें चावल पैदा किया, एक खेतमें मटर पैदा किया, तो उसने वैसा बीज बोया था कि नहीं बोया था? तो यदि कर्म-संस्कारके अनुसार न माना जाय तो एकमें व्यवस्थित अनेकताकी संगति नहीं लग सकती। समुद्रमें तरङ्ग उठती है—पानी तो एक है। तरङ्ग क्यों उठती है? बोले भाई, इसमें हवाका धक्का लगता है, कि इसमें कोई आकर्षण है जो खींचता है या इसमें कोई विकर्षण है जो फेंकता है; तो जैसे आकर्षण और विकर्षणकी उपस्थितिसे ही, वायुके दबावसे ही समुद्रमें ज्वार उठते हैं, इसी प्रकार कहीं भी एक चीज यदि अनेक दिखायी पड़ती हो, तो यह मानना पड़ेगा कि बीचमें कोई हेतु अवश्य है।

कर्म और कर्मफलके बीचमें सेतु माने पुल क्या है? कि ईश्वर है **एषः सेतुः विधरणः**—श्रुतिने कहा कि यह ईश्वर सेतु है; सबको यही पकड़ करके रखता है।

लेकिन अब कहो कि हम तो दुःखके समुद्रमें डूब रहे हैं महाराज, कैसे इसमें-से निकलें? तो **यः सेतु**—भगवान्का नाम लो, उसका ध्यान करो, उसका

ज्ञान प्राप्त करो, उसका आश्रय लो, उसके साथ अपने-आपको जोड़ो। उसके साथ अपने आपको जोड़ोगे तो वही पकड़कर तुमको पार करेगा—**यः सेतु-ईजानानाम्।** जब तुमको ईश्वरका ज्ञान होगा तब वह तुम्हारा आत्मा है; जब तुम उसका ध्यान करोगे तब वह तुम्हारा ध्येय है, इष्टदेव है; जब योगाभ्यास करोगे तब वही तुम्हारे हृदयमें समाधिके रूपमें प्रकट होगा, और जब धर्मानुष्ठान करोगे तब वही फलके रूपमें आवेगा।

इस मन्त्रमें यह बात कहते हैं कि कर्मी और ब्रह्मवेत्ता दोनों ब्रह्मका आश्रय लेते हैं। ब्रह्मवेत्ता परब्रह्मका और कर्मी अपर ब्रह्मका आश्रय लेते हैं। एक है कर्मियोंका आश्रय और एक है ब्रह्म वेत्ताओंका।

कर्मके सम्बन्धमें ऐसा समझना चाहिए कि एक तो होता है निषिद्ध कर्म और एक होता है विहित कर्म। निषिद्ध कर्मको करनेसे मनुष्यका पतन होता है। निषिद्ध माने जो काम मना किया हुआ हो कि यह काम नहीं करना चाहिए। जब समाजसे निषिद्ध, शास्त्रसे निषिद्ध, लोक-हितकी दृष्टिसे निषिद्ध कर्म हम करेंगे, तो कभी-न-कभी हमारे चित्तमें ग्लानि आवेगी-ही-आवेगी कि हमने बुरा काम किया। बोले हम अच्छा-बुरा नहीं मानते, पाप-पुण्य नहीं मानते; तो यह बात तुम तभीतक कहते हो जब तक तुम्हारे अहङ्कारमें लौकिकताका पुट है, बल है—जब बीमार पड़ोगे, जब अपनेमें दैन्य मालूम पड़ेगा, जब तुम्हारी मदद करनेवाला कोई नहीं दिखेगा, उस समय तुम्हारा मन निर्बल पड़ जायगा और जब निर्बल पड़ जायेगा तब वह भीतर-ही-भीतर यह स्वीकार करेगा, कबूल करेगा कि यह काम हमको नहीं करना चाहिए था, हमने किया सो गलत किया—इन्द्रियोंके वशमें होकर किया, विषय-लोलुपतासे किया, दूसरेको नीचा दिखानेके लिए किया, अपने अहङ्कारकी पूजा-प्रतिष्ठाके लिए किया। कभी-न-कभी बुरा काम करनेवालेको ग्लानि होगी-ही-होगी। भले छह महीने पहले तुमने दूसरेको हानि पहुँचायी हो और फिर सिरमें दर्द होवे और डॉक्टरकी दवा लेनेसे भी अच्छा न होवे, तो ख्याल आ जायेगा कि देखो, हमने बुरा काम किया था, आज उसके फलस्वरूप हमारे सिरमें दर्द हो रहा है।

दूसरी बात है विहितका अकरण-उल्लंघन। ठीक है कि प्रत्येक मनुष्यको सत्य बोलना चाहिए, परन्तु सत्य बोलना विधान नहीं है, झूठ नहीं बोलना चाहिए यह विधान है; क्योंकि जो-जो सत्य हो वह-वह सबको बता देनेका नहीं होता। तो आवश्यक भी होवे, उपयोगी भी होवे, बोलनेमें मिठास भी होवे, दूसरेको सुख भी

होवे, समयोचित भी होवे तभी बोलना चाहिए—*बोलिये तो तब जब बोलिबे की रीति जानो*।

तो विहित जो सन्ध्या-वन्दन आदि नित्य-कर्म हैं उनका अनुष्ठान न करनेसे—माने विधिका उल्लंघन करनेसे और निषिद्धका आचरण करनेसे मनुष्यको प्रत्यवाय होता है। प्रति माने प्रतीप, उल्टी दिशामें; अव माने अध: नीचेकी ओर; और अय माने गमन; अत: प्रत्यवाय माने अपने लक्ष्य से विपरीत दिशामें अधोगमन। तो निषिद्धके आचरण और विहितके उल्लंघनसे प्रत्यवाय होता है; और यदि विहित कर्मका अनुष्ठान करते हैं और निषिद्ध कर्मका परिवर्जन करते हैं, तो अभ्युदय होता है—अभि माने चारों ओर, उत् माने ऊपर, अय माने गति—सर्वतोमुखी ऊर्ध्व गति होती है, सर्वतोमुखी प्रगति होती है। अभि माने सर्वतोमुखी और उत् माने ऊर्ध्व उन्नति और अय माने गति। हम उन्नतिकी ओर बढ़ते हैं, हमको सर्वतोमुखी उन्नति प्राप्त होती है।

अब देखो, विहितमें दो तरहका विधान है: इष्ट और पूर्त। कामनाओंकी पूर्तिके लिए यज्ञ-यागादि करना इष्ट कर्म हैं और लोकहितके लिए किये जानेवाले पूर्तकर्म हैं, जैसे कुआँ खोदवाना, बगीचा लगवाना, सड़क बनवाना, अस्पताल खुलवाना, विद्यालय बनाना—इसमें लोकका हित प्रत्यक्ष-रूपसे दिखायी पड़ता है; पूर्त्त बोलते हैं, इसको। बावली, तालाब, कुआँ, बगीचा, रास्ता—ये सब बनाना पूर्त कर्म हैं। तो ये जो कर्म हैं इनके सम्बन्धमें शास्त्रमें वर्णन है कि इष्टापूर्त जो कर्म हैं वे चान्द्रमस गतिको प्राप्त कराते हैं—पितृलोकमें जाना होता है, चान्द्रमस गतिकी प्राप्ति होती है और वहाँसे फिर उत्तम लोकोंमें जाना और फिर वहाँसे नीचे आना। नीचे आकर भी ब्राह्मण होना, विद्वान् होना, धनी होना, सुखी होना—यह श्रुतिमें फल बताया है।

यदा इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिपद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्त कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चाण्डालयोनिं वा॥ (छा० ५. १०. ७)

छानदोग्योपनिषद्में यह वर्णन किया कि अगर निषिद्ध कर्म करोगे और विहितका उल्लंघन करोगे तो तुम्हें कुत्तेकी योनि मिलेगी, चाण्डालकी योनि मिलेगी और उत्तम कर्म करोगे तो धर्मके प्रभावसे चान्द्रमस ज्योतिसे पितर लोकमें जाकरके उत्तम-उत्तम सुख भोग करोगे और स्वर्ग भोगके बाद फिर लौट करके यहाँ पृथिवीपर आवोगे।

अब जो लोग उपनिषद्में कही हुई रीतिसे नाचिकेत अग्निका चयन करते हैं सकाम अथवा निष्काम कर्मका अनुष्ठान करते हैं, उनके कर्ममें, फलमें ले चलनेकी शक्ति है; कर्म तो समझो कि रथ है वह बात तो आगे अभी आनेवाली है और संकल्प जो है सो सारथि है। सत्संकल्पसे यदि हम सत्कर्म करें तो हमारे संकल्पकी पूर्तिकी दिशामें वह कर्म ले जाता है और यदि कर्म निष्काम होवे तो हृदयकी शुद्धि होकरके यहीं-यहीं भीतर-से-भीतर, भीतर-से-भीतर, भीतर-से-भीतर वासनाओंकी परत-पर-परत कटती जाती हैं और अन्तःकरणकी शुद्धि होने लग जाती है और जहाँ हम हैं वहीं ईश्वरकी ओर चलने लग जाते हैं।

असलमें एकने कहा कि निष्काम कर्म करनेसे ईश्वरकी प्राप्ति होती है और एकने कहा कि निष्काम कर्म करनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। तो देखनेसे मालूम पड़ता है कि बड़ा विरोध है, लेकिन निष्कामता असलमें अन्तःकरणकी शुद्धि ही है। अन्तःकरणकी शुद्धि क्या है? कि करणका विषय-सम्पर्कसे रहित होना। जबतक कामना रहेगी तबतक अन्तःकरणमें विषयका सम्पर्क बना रहेगा, अन्तःकरण विषयाकार रहेगा और जब कामना नहीं रहेगी तब अन्तःकरण विषयाकरताको छोड़ देगा। तो क्रम-मुक्तिका मार्ग है पहले कर्म फिर निष्काम कर्म, फिर उपासना-योग। इससे अपने अन्तःकरणको शुद्ध करते-करते भीतर ही हमको ब्रह्मलोकका अनुभव होने लगता है; और ब्रह्मलोकमें पहुँचनेपर शुद्ध अन्तःकरणमें देश क्या है, काल क्या है, वस्तु क्या है, इनका अधिष्ठान क्या है—इनसे अपरिच्छिन्न क्या है, इनका प्रकाशक क्या है—ये प्रश्न और उनके उत्तरकी जिज्ञासा उत्पन्न होती है; इससे अपने स्वरूपके बाधमें बहुत बड़ी मदद मिलती है। इसलिए जो लोग इस दुःख-संसार-सागरसे पार जाना चाहते हैं—दुःखसे छूटना चाहते हैं, नरक-स्वर्गसे छूटना चाहते हैं, जन्म-मृत्युसे छूटना चाहते हैं—उन्हें अपर-बुद्धिसे अथवा पर-बुद्धिसे ब्रह्मोपासना करनी चाहिए।

यह अपर ब्रह्मोपासना क्या है? बोले-अग्निकी उपासन। अग्निको कोई साधरण वस्तु नहीं समझना। यह बिजली जो होती है जिससे ये पङ्खे चलते हैं और रोशनी होती है, यह भी एक प्रकारकी अग्नि ही है, अग्निका ही एक स्वरूप है। एक आग होती है जो लकड़ी जलानेसे पैदा होती है, उसको भौम अग्नि बोलते हैं; और एक अग्नि पेटमें होती है जो भोजन पचाती है, उसको उदराग्नि बोलते हैं; और एक दिव्य-अग्नि होती है, विद्युत-अग्नि जो चमकती है, बिजली जो टक्करसे पैदा होतीं है; और एक खानकी आग होती है, जहाँ गरमागरम सोना निकलता है—ये सब अग्नि होती हैं।

अग्निमें विशेषता क्या है कि अग्निमें पार्थिव और आप्य-माने मिट्टीसे बनी हुई सब चीजें और पानीसे बनी हुई सब चीजें भस्म हो जाती हैं, चाँदी भी गल जाती है आगमें, ताँबा भी गल जाता है आगमें, और लोहा भी गल जाता है आगमें! तो आप यदि अग्निकी उपासना करोगे, अथवा कि अग्निके स्वरूपका ध्यान करोगे कि सम्पूर्ण विश्वमें अग्नि परिपूर्ण है और वह पृथिवी और उसके कारण जलका भी कारण है; जिसके कारण अग्निमें ये सारे पार्थिव और जलीय पदार्थ भस्मसात् हो जाते हैं, तो इससे क्या होगा? कि जहाँतक अग्नि तत्त्वकी गति है वहाँ तकका फल उस अग्नि-उपासनासे प्राप्त हो जायेगा और इस प्रपञ्चकी आसक्ति भी नष्ट हो जायगी। इसीसे ज्ञानको भी अग्निकी उपमा देते हैं। तो एक उपास्य अग्नि और एक है ज्ञेय अग्नि! जो उपास्य अग्नि है वह भी प्रपञ्चासक्तिको मिटानेवाला है और जो ज्ञेय अग्नि है, ब्रह्माग्नि है, ज्ञानाग्नि है, वह तो प्रपञ्चको ही मिटा देता है—प्रपञ्च ब्रह्मसे पृथक् नहीं रह जाता—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्महवि ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणाहुतम्।
ब्रह्मैवतेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्म-समाधिनः॥

तो एक उपास्य अग्नि है जिस अग्निकी उपासना करके हम अपने चित्तके रसीलापनको और भौतिकताको न्यून करते हैं—अग्निकी उपासना करनेसे क्या होगा कि हमारे चित्तमें जो भौतिक वस्तुओंके प्रति आकर्षण है वह न्यून हो जायेगा। असलमें अध्यात्म विद्या जो है यह व्यक्तिगत रूपसे अन्तरङ्गमें उन्नत्ति करनेकी विद्या है। यह बाहरसे भीतर आनेकी विद्या है। अपने आत्मामें परमात्माका साक्षात्कार करनेकी विद्या है। यह सामूहिक साधन नहीं है क्योंकि दस आदमियोंका मन-स्तर एक तरहका हो जाये, अध्यात्म-विद्यामें ऐसा होना शक्य नहीं है। जो सामूहिक उपासना होती है—जैसे जप, जैसे संकीर्तन, जैसे पाठ—उसमें भी थोड़ी देरके लिए यदि रागसे, तालसे, लयसे, भावसे भगवान्का नाम कोई ले तो थोड़ी देरतक सबका मन समान स्तरपर आ जाता है, पर बादमें फिर अपनी-अपनी जगहपर लौट आता है। अतः आध्यात्मिक उन्नतिके लिए एक मन अपनी कक्षामें अकेला ही अन्तर्मुख होता है, वह कई मनोंको लेकर अन्तर्मुख नहीं होता। इसीसे चाहे कितने ही पवित्र भावसे कोई आध्यात्मिक संगठन बने, कालान्तरमें आध्यात्मिक रहता नहीं। इसीसे जो विरक्त अवधूत फक्कड़ महात्मा होते हैं, जो फकीरी-दृष्टिके लोग होते हैं, वे अध्यात्म विद्याका जो व्यक्तिगत उत्कर्ष है—जीवन्मुक्तिका विलक्षण आनन्द, विलक्षण सुख—उसकी ओर

अग्रसर होते हैं। संघटन पहले चाहे कितना भी पवित्र बने, परन्तु सांसारिक स्वार्थवाले लोग जो हैं वे उसको विषयभोगकी ओर, स्वार्थकी ओर, सांसारिकताकी ओर खींच लेते हैं।

तो अध्यात्म विद्या जो है सो अग्नि-विद्या है। अग्नि-विद्या क्या है— **उत्तिष्ठध्वं जाग्रतध्वं अग्निमिच्छध्वं भारत**—अरे ओ प्रतिभाशाली पुरुषों, उठो-उठो! जागो!! अग्निकी इच्छा करो, अग्निका आवाहन करो, प्रकाशका आवाहन करो!!! वह प्रकाश जिसमें नाम-रूप डूब जाये; वह अग्नि जिसमें भौतिकता जल जाये और जिसमें भौतिक-दृष्टि भस्म हो जाये!

तो यहाँ बताया कि जो लोग अभय-पदकी प्राप्ति करना चाहते हैं और दुःख-रूप संसारसे मुक्त होना चाहते हैं वे या तो निष्काम कर्मके द्वारा, निष्काम उपासनाके द्वारा हृदयमें अग्निका आवाहन करके, अग्निका ध्यान करके, अंग्निकी उपासना करके विषय-वासनाको भस्म कर देते हैं और कर्मयोगके द्वारा क्रमशः परमात्माको प्राप्त करते हैं अथवा ज्ञानाग्निके द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त करते हैं। ज्ञानाग्निमें बध नहीं है बाध है और वह बाध जो है वह विषयका भी और इन्द्रियोंका भी है और मनोवृत्तियोंका भी है और समाधि आदि स्थितियोंका भी है—सम्प्रज्ञात-असम्प्रज्ञात आदि सारी स्थितियोंका भी है! तो, अग्निकी उपासना बध-प्रधान है और ज्ञानाग्नि जो है सो बाध-प्रधान है। बध और बाध—इसीसे जो यज्ञ होते हैं उसमें वह पशुवध भी है जिसे आप जानते ही हैं, क्या सुनावें उसको। अग्नि-विद्या बध-प्रधान होती है और जो ब्रह्म-विद्या है, परब्रह्म-विद्या है वह बाध-प्रधान होती है; अपरब्रह्म-विद्या लय-प्रधान होती है।

क्या आप दुःखसे छूटना चाहते हैं? क्या आप चिन्तासे मुक्त होना चाहते हैं? क्या आप शोक मिटाना चाहते हैं? नारायण! तो—**अभयं तितीर्षतां पारं**—जो लोग दुःख-समुद्रके पार जाकरके अभय पदको प्राप्त करना चाहते हैं उनके लिए निष्काम वैदिक कर्मियोंके लिए सेतु-रूप अपर ब्रह्म है, उसको और जो अक्षर पर-ब्रह्म है उसको—उन दोनोंको जानना चाहिए। **नाचिकेतं परमब्रह्म च ज्ञातुम् शकेमहि**—हमको अग्निका चयन भी करना चाहिए और उसका (ब्रह्मरूपमें) ज्ञान भी प्राप्त करना चाहिए।

जीवकी संसार और मोक्षके प्रति गतिमें रथका रूपक

अध्याय-१ वल्ली-३ मंत्र-३-४

आत्मानꣳरथिनं विद्धि शरीरꣳरथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाꣳस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥ १.३.३-४

अर्थः–आत्माको रथी जानो और शरीरको रथ समझो; बुद्धिको सारथी और मनको लगाम जानो॥ ३॥

विवेकी पुरुष इन्द्रियोंको घोड़े बताते हैं और विषयोंको उन घोड़ोंके मार्ग बताते हैं तथा मनीषी लोग शरीर, इन्द्रिय और मनसे युक्त आत्माको भोक्ता कहते हैं॥ ४॥

'ऋतं पिबन्तौ' में जीव और परमेश्वर दोनोंका जो वर्णन किया उस प्रसङ्गको अब आगे ले चलते हैं।

देखो, जीवनमें आलसी नहीं बनना चाहिए। आलस, प्रमाद और तन्द्रा—यह सब तो तमोगुण है; जीवनमें उत्साह चाहिए। सफाई देनेमें भी नहीं लगना चाहिए। रास्तेमें कैसे चलना चाहिए? इस बारेमें एक महात्माने बताया कि शेरकी तरह चलना चाहिए। शेरकी तरह माने पञ्जेके नीचे कौन आया, कौन दबा, कौन टूटा, क्या फूटा, पीछे छूटा, कौन आगे मिलेगा यह सब ख्याल नहीं, अपने लक्ष्यपर दृष्टि रखकर शेरकी तरह आगे बढ़ते जाओ! जीवनमें आशा चाहिए, जीवनमें उत्साह चाहिए, जीवनमें आकांक्षा चाहिए। साबुन ही लगानेमें अगर सारा दिन बीत जायेगा तो अपने कर्तब्यको पूरा कब करोगे? साबुन लगाना और शरीरको रँगना और मेक-अप-करना—इसीमें सारा समय बीत गया, घर-गृहस्थीके लिए कोई समय निकला ही नहीं; तो घरका काम-धन्धा भी तो देखना चाहिए न? **आशा प्रतीक्षे संगतम्**—जीवनमें आशा हो, आकांक्षा हो, प्रतीक्षा हो, उत्साह हो, प्रयत्न हो तब जीवन आगे बढ़ता है और हाथ-पर-हाथ धर कर बैठ गये तो कहीं नहीं जा सकते।

यह मनुष्य जो है वह एक रथीकी स्थितिमें है। रथी पुरुष रथमें बैठा रहकरके अपनी जिन्दगी नहीं बिता सकता। समझो एक आदमी मोटरपर बैठ गया तो मोटर भी है और मोटरमें बैठने वाला भी है, पर अब वह मोटरको कहीं चलावे ही नहीं, बोले कि हम तो मोटरमें ही रहेंगे, मोटरमें ही खायेंगे, मोटरमें ही सोयेंगे और मोटर खड़ी रहेगी, तो अन्ततोगत्वा मोटर भी खराब हो जायेगी और वह

आदमी अपने लक्ष्यको भी प्राप्त नहीं कर सकेगा। तो, यह जो शरीर है यह एक रथकी स्थितिमें है, मोटरकी स्थितिमें है—**आत्मानꣳरथिनं विद्धि**।

यह समझो कि तुम रथी हो और **शरीरꣳरथमेव तु**—यह शरीर रथ है, और बुद्धि सारथि है, और मन बागड़ोर है और इन्द्रियाँ घोड़े हैं। अब आप देखो—रथपर आप बैठे हुए हैं, घोड़े जुते हुए हैं, सारथिके हाथमें बागडोर है और आप रथी हो; अब देखो कि आपका रथ चलता है कि नहीं चलता है? अरे मेरे बाप! और देखो, कि चलता है तो किधर चलता है-रास्तेकी ओर चल रहा है या गढ़ेकी ओर जा रहा है? जहाँ तुम्हें पहुँचना है उस ओर चल रहा है या नहीं, यह मालूम तो होना चाहिए न?

तो **आत्मानꣳरथिनं विद्धि**—यह जो उपाधिकृत संसारी है वह आत्मा रथी है। शरीर, मन और इन्द्रियाँ इस आत्माकी उपाधि हैं, पर इनको अपना आपा मान करके वह जीव बना बैठा है; वह जीव ही रथी है। आत्माका यह संसारीपना जो है वह उपाधिकृत है—माने आपमें, आत्मामें यह जाना-आना क्यों है कि इसलिए है क्योंकि तुम रथपर बैठे हो। श्रीशङ्कराचार्य भगवान्ने कहा कि यह संसार जो है यह देहाभिमान-कृत है। संसार माने क्या? ये हमारे भोले लोग जो हैं न, वे तो कहते हैं कि महाराज, हमारा तो संसार ही बिगड़ जायेगा, तो संसारसे उनका मतलब होता है बेटा-बेटी, स्त्री-पुरुष, धन-दौलत, सास-ससुर—यह सब संसार है। पर नहीं, शास्त्रमें संसार इनको नहीं बोलते हैं। हमने जितने सन्तों-विद्वानोंके प्रवचन सुने, सबने संसार शब्दका अर्थ एक बताया-क्या? कि संसरण; सरकना; दुनियामें अपनी जगहपर कोई नहीं रह पाता! यह फिसलन, यह पिघलन-न चाहनेपर भी अपनी जगहसे चीजें हटती जा रही हैं! इसको बोलते है, संसरण। लेकिन एक आर्य-समाजी विद्वान्ने संसार शब्दका अर्थ दूसरा बताया था; उसने बताया था-सम्यक् सार होवे जिसमें उसका नाम संसार है। सम्यक् और सार=संसार। लेकिन शङ्कराचार्य आदि जो विद्वान् हैं वे कहते हैं-**संसरणं संसारम्**। इसमें(संसारमें) राजा राजा नहीं रहता। मन्त्री मन्त्री नहीं रहता, विद्वान् विद्वान् नहीं रहता मैंने देखा एक बहुत बड़े विद्वान्को, वह पागल हो गया था; श्लोक बोलता था वह और उसको महाभाष्यु कण्ठस्थ था; और महाराज व्याकरणकी वह फक्किका बोले, आशु कवि था! और जब पागल हो गया तब बनारसके चौकमें घूमता था, बात तब भी संस्कृतमें कहता था पर पागलपनसे! कहनेका मतलब यह कि उसकी पण्डिताई सरक गयी-संसरणशील है, वैदुष्य भी; पाण्डित्य भी संसराणशील है, वह भी सरक जाता है। धन सरक जाता है, जवानी सरक जाती है-पता लगता है? काले

बाल सरकने लगते हैं तब पता लगता है? यह मुँह परकी चिकनाई जब सरकने लगती है तब पता लगता है—यह दुनिया संसरणशील है।

तो, अपने आपको देखो, कि यह सरकनेवाली चीजका अभिमान तो नहीं करते हो! **संसारो अभिमानकृतः**—अभिमानकृतः माने सरकनेवाली चीजको मैं मान बैठना—इसीका नाम संसार है। **कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणः संसारः**—शङ्कराचार्य भगवान्‌ने संसारकी परिभाषा की कि अपनेको कर्त्ता और भोक्ता मानना संसार है! यह नहीं समझना कि कोई सौ-पचास वर्ष तपस्या कर ले तो उसको यह अध्यात्म ज्ञान हो जाता है; वह फिर वहाँसे सरककरके संसारमें आजाता है—वही राग-द्वेषमें, वही निन्दा-स्तुतिमें! सौ-सौ, पचास-पचास वर्ष भजन करनेके बाद भी भगवान्‌की ऐसी लीला देखनेमें आती है। जप करनेके बाद भी , व्रत करनेके बाद भी, उपवास करनेके बाद भी-दिल कहाँ है तुम्हारा, मन कहाँ है तुम्हारा? देखनेमें तो यही आता है कि वही राग-द्वेषके चक्करमें, वही गुण-दोषके चक्करमें पड़ा है! तो, यह जो सरकनेवाली चीज है इसको मैं-मेरा नहीं मानना-यह संसारसे छूटनेका उपाय है।

जितनी भी बदलने वाली परिवर्तनशील चीज है-वह ज्ञान होनेपर तो विवर्त मालूम पड़ता है और विवेककी दशामें वह परिवर्त मालूम पड़ती है, भला! दो हैं ये—विचार करनेपर मालूम पड़ेगा कि संसारकी सब वस्तुएँ परिर्वतनशील हैं और ब्रह्म-दृष्टिसे मालूम पड़ेगा कि सब वस्तुएँ विवर्त हैं परिवर्त हैं या विवर्त हैं। परिवर्त माने संस्कृतमें तरङ्ग होता है, जैसे समुद्रमें लहरें उठती हैं, ऐसे ही परब्रह्म परमात्मामें लहरकी तरह यह संसार उठ रहा है यह देह, यह इन्द्रिय, यह मन—यह मैं कहने लायक नहीं है, यह मेरा कहने लायक नहीं है, सब बदल रहा है; जिसने इसके कर्मको अपना कर्म माना और जिसने इसके भोगको अपना भोग माना और जो कर्म और भोगमें फँस गया, वह संसारी हो गया।

उपाधिकृत संसारी है यह संसारीपना जो है यह आभिमानिक है, जैसे किसीका धन गया और उसने कहा कि हाय-हाय, रुपया खो गया और बोला क्या कि मैं मर गया! अच्छा तो वह कैसे मरा? गया तो धन और वह मर गया? तो यह मृत्यु कैसी है? कि बोले—अभिमानिक है, उसने धनके साथ अपनेको इतना जोड़ लिया था कि धनके जानेको अपना मरना समझ लिया। दूसरे किसीकी स्त्री बीमार पड़ गयी, किसीका पुत्र बीमार पड़ गया, किसीका पति बीमार पड़ गया और बोला कि अरे महाराज, मैं तो मर गया। वह कैसे मर गया? बोले कि आभिमानिक रीतिसे मरा। आभिमानिक रीतिसे मरा माने उसीको वह मैं-मेरा समझता है, इसलिए मरा,

नहीं तो काहेको मरता? तो यह जो देह है न देह, इसके साथ भी जो सम्बन्ध है वह आभिमानिक है—आभिमानिक है माने केवल अभिमान करनेके कारण ही हम देहको अपना मैं समझते हैं—पापी समझते हैं, पुण्यात्मा समझते हैं। तो जब अविद्यासे सूक्ष्म-शरीरको मैं-मेरा, पाप-पुण्यको मैं-मेरा, सुख-दु:खके भोगको मैं-मेरा समझ लेते हैं तो संसार-गमन आया। तो अविद्या से तो संसार—गमन आया और जब विद्यासे विवेक करके अपनेको देहसे, पापसे, पुण्यसे, रागसे, द्वेषसे, सुखसे, दु:खसे अलग कर लेते हैं, तो मोक्ष-गमन आया। तो, तुम्हें किधर जाना है—संसार गमन करना है कि मोक्ष-गमन करना है-सरकती हुई चीजोंके साथ सरकना है कि नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्माको जानना है? नारायण! बोले, दोनोंमें साधन यह शरीररूपी रथ है,उसकी कल्पना करते हैं।

तत्र आत्मानं ऋतपम्-आत्मानं माने जीवात्मा और **ऋतपं**-माने जो कर्मका फल भोगता है, संसारी है। वह कर्मफलका भोक्ता जीव इस रथका स्वामी है और यह शरीर रथ है-**शरीँरथमेव तु**। और इन्द्रियाँ जो हैं वे घोड़े हैं-शरीररूपी रथको खींचती हैं। कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियोंमें *अन्ध-पंगु-न्याय* है—कर्मेन्द्रियाँ अन्धी हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ आँखवाली हैं, परन्तु पंगु हैं। पाँव चलता है, परन्तु देखता नहीं, और आँख देखती हैं किन्तु चलती नहीं। इसलिए मनुष्य आँखसे देखता और पाँवसे चलता है।

एक था अन्धा आदमी, उसको कहीं जाना था, पर जाय कैसे? रास्ता तो दीखता नहीं था। उसी जगह एक लँगड़ा आदमी बैठा था, उसको रास्ता तो दीखता था पर वह पाँवसे चल नहीं पाता था। तो, दोनोंने आपसमें दोस्ती कर ली और अन्धेके कन्धेपर लँगड़ा बैठ गया। लँगड़ा रास्ता बतावे कि इधर चलो और वह अन्धा उधरसे चले। अन्धेके पाँव ठीक थे, दीखता नहीं था और लँगड़ेकी आँख ठीक थी, पाँवसे चल नहीं पाता था, दोनोंने जब आपसमें दोस्ती करली तब सैकड़ों मीलका रास्ता तय कर लिया।

तो, यह जो हमारी कर्मेन्द्रियाँ हैं इनको मालूम नहीं है—पाँवको मालूम नहीं है कि कहाँ पाँव रखना चाहिए पर, आँख देखती है कि यहाँ पाँव रखना चाहिए और फिर पाँव वहाँ पहुँचा देता है। इसीको विद्या और अविद्याका समुच्चय बोलते हैं-ज्ञान और कर्मका समुच्चय; विद्या-रूप ज्ञानेन्द्रिय और अविद्या-रूप कर्मेन्द्रिय-दोनों मिलकर संसारका व्यवहार चलाती हैं। लेकिन, यदि परमात्माको देखना हो तो वहाँ कर्मेन्द्रियोंकी तो जरूरत नहीं है, क्योंकि हाथसे उसको पकड़ना नहीं है, पाँवसे वहाँ जाना नहीं है, जीभसे उससे बोलना नहीं है, मूत्रेन्द्रिय और गुदा आदिका प्रयोग वहाँ

करना नहीं है; और ज्ञानेन्द्रियोंसे भी अलग-अलग शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध देखना नहीं है; और मनसे संस्कारके अनुसार उपासना करनी नहीं है। वहाँ तो तत्त्व-ज्ञान जो है वह परमात्माका स्वरूप बताता है, वहाँ ज्ञानेन्द्रियोंका विशेष ज्ञान और कर्मेन्द्रियोंके कर्मसे समुच्चित होकरके विशेष ज्ञान काम नहीं करता है, वहाँ ज्ञान स्वयं स्वरूपभूत ब्रह्मको प्रकाशित करता है—यह उपनिषद्का सिद्धान्त है; इसको जब थोड़े दिन सत्सङ्ग करते हैं तब समझ पाते हैं। ज्ञानेन्द्रियोंके सहयोगसे कर्मेन्द्रियाँ बाहर ले जाती हैं और कर्मेन्द्रियोंके सहयोगसे ज्ञानेन्द्रियाँ अपने विषय-देशमें पहुँचती हैं परन्तु, अन्तर्देशमें विद्यमान जो पुरुष है उसके लिए ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय करण और बाह्य विषयोंकी जरूरत नहीं है—अन्तर्देशमें विराजमान जो शुद्ध पुरुष है उसके लिए शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध आदिके संस्कारसे युक्त मनकी आवश्यकता नहीं है, वह तो स्वयं ज्ञान-स्वरूप है और उस ज्ञानस्वरूपकी अखण्डताको उपनिषदें बोधित कराती हैं।

अब शरीररूप रथमें बुद्धि है, सारथि और मन है लगाम—बागडोर कहो, लगाम कहो—एक घोड़ेको जब लगाते हैं तब उसको लगाम कहते हैं और जब कई घोड़े रथमें जोड़ते हैं तब सब घोड़ोंकी लगाम मिलकरके एक बागडोर बन जाती है। तो **बुद्धिं तु सारथिं विद्धि**—इन्द्रियाँ हैं घोड़े और शरीर है रथ और घोड़ोंको काबूमें रखनेके लिए लगाम-बागडोर है मन और सारथि कौन है? कि रथीका जो साथ दे वह सारथि—वह बुद्धि है।

आप थोड़ा ध्यान देकर देखो कि पहले बुद्धि निश्चय करे कि इस वस्तुको पाना उचित है कि छोड़ना उचित है; और फिर मन सङ्कल्प करे कि इसको छोड़ दो या इसको पाओ; और फिर सारथिके हाथमें स्थित होकरके यह जो लगाम है, मन है यह इन्द्रियोंको अपने काबूमें रखे; और फिर इन्द्रियाँ सारथिकी प्रेरणाके अनुसार रथीके इष्ट देशमें उसको ले जायें; इस प्रकारसे तो आप ठीक-ठीक पहुँचेंगे और नहीं तो पहले घोड़ोंने देखा कि उधर तो बड़ी हरी-हरी घास है और बोले हम उधर चरने चलेंगे—लगाम पड़ गयी ढीली और बुद्धिने दे दी छूट, अब रथी महाराजका क्या हो गया कि इस रथको घोड़े घसीटकर गढ्ढेमें ले गये। आप अपने जीवनकी ओर देखो कि पहले आपने घरमें सलाह करली कि घरमें इतने वस्त्रकी आवश्यकता है, तब ठण्ड कटेगी और तब समाजमें प्रतिष्ठा बनी रहेगी और उसके बाद सङ्कल्प किया कि वह वस्त्र चलकरके लेंगे और फिर पाँवसे चलकरके गये और आँख-हाथसे देखकरके वस्त्रको पसन्द किया और और घरमें ले आये—एक गति यह हुई; और

एक गति यह हुई कि रास्तेमें चल रहे हैं या क्लबमें गये या सिनेमामें गये या किसीके घर गये और वहाँ देखा कि एक स्त्री ऐसी साड़ी पहने हुई है—आँखने देखा और मनको जँच गयी कि बहुत बढ़िया है और एकने कहा कि ऐसी साड़ी तो हमारे पास भी होनी चाहिए; बुद्धिने कहा—पैसा तो है नहीं और घरमें साड़ी सैकड़ों पड़ी हैं और इसके बिना ठण्ड भी कट जायेगी और इज्जतमें बट्टा भी नहीं लगेगा—बुद्धिने तो ऐसे कहा, लेकिन, मनने कहा कि नहीं, हमको तो वह साड़ी भा गयी है हम तो वैसी खरीदेंगे ही; बुद्धिने फिर कहा—पैसा नहीं है, तो मनने कहा कि पतिदेवकी जेबमें से निकाल लो। अब यह क्या बात हुई कि इन्द्रियोंके कहे अनुसार मनको बनाना और मनके कहे अनुसार बुद्धिको बनाना—यह बुद्धिको, मनको, इन्द्रियोंको कामके अधीन कर देना है। श्रीमद्‌भगवद्गीतामें यह है कि—

इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्॥ ३.४०

काम कहाँ रहता है? काम है शत्रु, परन्तु उसने अपना किला तो बनाया ही नहीं—कामकी कोई राजधानी नहीं है, कामका कोई किला नहीं है; वह कहाँ रहता है? कि वह तुम्हारे घरमें रहता है, उसने इन्द्रियोंको रिश्वत देकर, मनको रिश्वत देकर, बुद्धिको रिश्वत देकर, खिला-पिलाकर, चाट खिलाकर, तुम्हारी इन्द्रियोंको पहले भोगमें डाल दिया, मनको मिलाकर इन्द्रियोंके पीछे कर दिया, बुद्धिको मना करके उनके साथ कर दिया और तुम्हारा जीवन कामके अनुसार चलने लगा।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥ ५.६७

इन्द्रियाँ गयीं पहले बाजार चरने, फिर मनमें इच्छा हुई कि हमको यह मिल जाय और फिर बुद्धि बिचारीको मजबूर होकरके इन्द्रियों और मनका साथ देना पड़ा। तो बोले **तदस्य हरति प्रज्ञां**—उसकी बुद्धिको डाकू लूट ले गये। चोर लूट ले गये-चोरी हो गयी तुम्हारे घरमें; क्योंकि तुम इन्द्रियोंके पीछे चले, मनके पीछे चले—अपनी समझदारी, अपनी बुद्धिको तुमने खो दिया!

इन्द्रियाणि हयानाहुः—तो पहले ज्ञान होता है कि कौन-सी वस्तु सुख देनेवाली है और कौन-सी वस्तु दुःख देनेवाली है—यह बुद्धि हुई; फिर दुःख देने वालीको छोड़ो और सुख देने वालीको पाओ—यह मन हुआ; और उसके बाद हाथसे-पाँवसे कर्म करने लगे और ज्ञानेन्द्रियोंसे उसके पास चले गये! माने प्रयत्नके मूलमें इच्छा होती है और इच्छाके मूलमें जानकारी होती है; तो यदि तुम्हारी जानकारी

विषय-भोगकी वासनासे प्रभावित होकरके काम करती है तो तुम्हारा सारथि शत्रुके साथ मिल गया है! यह व्यक्तिगत जीवनमें विचार करनेकी बात है कि तुम्हारा मन और तुम्हारी बुद्धि इन्द्रियोंके कहे-अनुसार काम करते हैं कि तुम्हारी इन्द्रियाँ और तुम्हारा मन बुद्धिके कहे-अनुसार काम करते हैं? तो ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न—जड़में ज्ञान, उसके बाद इच्छा और उसके प्रयत्न—यह हमारे वैदिक मनोविज्ञानकी शैली है। अनजान वस्तुको न पानेकी इच्छा होती है, न छोड़नेकी-जिस चीजको तुम जानते ही नहीं हो उसको पानेकी इच्छा भी नहीं होगी और छोड़नेकी इच्छा भी नहीं होगी इसलिए इच्छा होती है, ज्ञानपूर्वक और जिस वस्तुको पाने या छोड़नेकी इच्छा होती है उसके लिए प्रयत्न होता है! तो प्रयत्नके मूलमें इच्छा और इच्छाके मूलमें ज्ञान।

अब इसका अर्थ यह हुआ कि हमारा सारा जीवन ज्ञानपर लटक रहा है, ज्ञान पर आधारित है। तो ज्ञान यदि यह हुआ कि ईश्वरको पाना है—ईश्वर बढ़िया है, तो भक्ति करनेकी इच्छा होगी; और ज्ञान यदि यह हुआ कि विषय बढ़िया है तो भोग करनेकी इच्छा होगी; और यदि यह हुआ कि ज्ञान तो हमारे आत्माका स्वरूप ही है—इसमें बढ़िया और घटियाको क्यों जोड़ना—क्यों लगाना विशेषण कि यह चीज बढ़िया है और यह चीज घटिया है, इसको पाओ और इसको छोड़ो—अरे हम ज्ञान-मात्र स्वयं सत्-चित्-आनन्द स्वरूप हैं तब यह होगा कि हमको इच्छा करनेकी क्या जरूरत, प्रयत्न करनेकी क्या जरूरत!

तो अपने ज्ञानको इच्छा और प्रयत्नकी ओर क्यों ले जाते हैं? कि विषयमें महत्त्व-बुद्धि होनेके कारण, विषयपर श्रद्धा होनेके कारण। यह श्रद्धा होना कि इस विषयके बिना हम सुखी नहीं हो सकते और यह श्रद्धा होनेके कारण कि यह विषय हमको दुःखी कर देगा—विषयमें दुःखीत्वका सामर्थ्य जोड़ना कि यह हमारे दुःखका कारण है यह भी विषयपर श्रद्धा है और विषय हमको सुख देगा, यह आशा भी विषयपर श्रद्धा है; यह मान्यता है, यह स्वीकृति है क्योंकि एक ही विषयको कोई सुख देनेवाला मानता है और कोई दुःख देनेवाला मानता है। विषयमें तो सुख-दुःख है नहीं, गलत जानकारीके कारण उसमें सुख-दुःखका आरोप हुआ है। यदि हम विषयमें सुख-दुःखका आरोप न करके, विषय-गत सुख-दुःखका अनुसन्धान न करके, अपने स्वरूपका अनुसन्धान करें जो बिलकुल ज्ञान-स्वरूप है, तो विशेष ज्ञान नहीं होनेसे वह इच्छाका जनक नहीं होगा (क्योंकि विशेष-ज्ञान ही इच्छाका जनक होता है, स्वरूप-ज्ञान इच्छाका जनक नहीं होता है) और इच्छा न होनेसे कर्मका जनक भी नहीं होगा। दूसरेको जब हम जानते हैं तब उससे दोस्ती करें कि

दुश्मनी करें यह ख्याल होता है, अपनेको जब जानते हैं तब उससे दोस्ती करें कि दुश्मनी करें यह ख्याल थोड़े ही होता है। वह तो अपना-आपा है-ही-है! तो स्वरूप-ज्ञानमें दोस्ती अथवा दुश्मनीकी इच्छा नहीं है, प्रवृत्ति या निवृत्ति नहीं है, त्याग अथवा संग्रह नहीं है; और परके ज्ञानमें त्याग भी है, संग्रह भी है, मित्र भी है शत्रु भी है, राग भी है द्वेष भी है। तो शुद्ध ज्ञान वह है जो संग्रह-त्याग, प्रवृत्ति-निवृत्ति, राग-द्वेष, पाप-पुण्य, सुख-दु:खका जनक नहीं होता और स्वयं किसीसे जन्य भी नहीं होता।

तो, शुद्धज्ञान अपना स्वरूप है; और जबतक कर्त्ता-भोक्ता बने बैठे हैं, संसारी बने बैठे हैं, रथी बने बैठे हैं और हम सलाह किसकी मानते हैं कि जिससे इन्द्रियोंको सुख मिले और मनको सुख मिले तब तक है भगवान्। हम संसारी ही हैं। बोले—देखो, व्यापारी किसकी सलाह मानता है? वह असत्यकी निन्दा करने वालेकी सलाह नहीं मानता है और सत्यकी प्रशंसा करने वालेकी भी सलाह नहीं मानता है, वह तो जिससे **भज कलदारम् भज कलदारम्**—पैसा जिससे आवे उसीकी सलाहको मानता है, और इसीका नाम संसार है। अब तुमको अपनी जगहसे सरकना पड़ेगा और जब अपनी जगहसे सरकोगे तब पुलिसका डर तुम्हारे ऊपर आवेगा, टैक्सका डर तुम्हारे ऊपर आवेगा, घाटाका डर तुम्हारे ऊपर आवेगा क्योंकि सलाह तो तुम मानते हो मुनाफा बताने वाले की। तो इन्द्रियाँ तब बतावेंगी कि इससे होगा दु:ख और इससे होगा सुख, तो मनपर पड़ेगा उसका संस्कार और बुद्धिको उसने खींच लिया और रथी-राम महाराज साथ खिंचते चले गये। देखो, रथीके हाथमें होना चाहिए सारथि और सारथिके हाथमें बागडोर और बागडोरके अन्दर घोड़े होने चाहिए—है न- और घोड़े फिर रथको ले चलें। और यहाँ क्या हुआ कि घोड़े हैं स्वतंत्र और बागडोर है टूटी-टूटी, जुड़ी हुई नहीं है और सारथि है दुश्मनसे मिला हुआ और रथीजी हैं शराब पीकर बेहोश! अब यह गाड़ी कहाँ जायेगी?

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिण:॥

आत्माका शुद्ध स्वरूप भोक्ता नहीं होता; इन्द्रियोंके द्वारा शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध आदि विषय-देशमें जानेवाला इन्द्रिय और मनसे युक्त जो आत्मा है इसीको भोक्ता कहते हैं। शुद्ध आत्माका नाम भोक्ता नहीं है, इन्द्रिय और मनसे युक्त आत्माका नाम भोक्ता है। यदि विवेक करके इन्द्रिय और मनसे अपने आपको अलग कर लो, तो भोक्तापन चला जायेगा।

अब जिसको विज्ञान होता है और जिसको नहीं होता है, उन दोनोंमें क्या अन्तर होता है यह बतानेके लिए अगले दो मन्त्र आते हैं। ❖

अविज्ञानवान और विज्ञानवान बुद्धि-सारथिसे रथी जीवकी गतिका वर्णन

अध्याय-१ वल्ली-३ मंत्र ५से ९

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥ ५॥

अर्थ :-किन्तु जो बुद्धिरूपी सारथी सदा अविज्ञानवान और असंयत चित्तसे युक्त होता है उसकी इन्द्रियाँ उसके वशमें उसी प्रकार नहीं रहतीं जैसे सारथीके वशमें दुष्ट घोड़े नहीं रहते ॥ ५॥

यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥ ६॥

अर्थ :-किन्तु जो बुद्धिरूपी सारथी सदा विज्ञानवान और संयतचित्तसे युक्त होता है उसकी इन्द्रियाँ उसके वशमें इसी प्रकार रहती हैं जैसे सारथीके वशमें अच्छे घोड़े॥ ६॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाशुचिः।
न स तत्पमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति॥ ७॥

अर्थ :-किन्तु जो सारथी अविज्ञानवान, असंयतचित्तवाला और सदा अपवित्र होता है, उसके द्वारा वह रथी जीव मोक्ष-पदको प्राप्त नहीं करता बल्कि जन्म-मरणरूप संसारको ही प्राप्त होता है॥ ७॥

यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥ ८॥

अर्थ :-किन्तु जो सारथी विज्ञानवान, संयतचित्तवाला और सदा पवित्र होता है, उसके द्वारा वह रथी जीव उस मोक्ष-पदको प्राप्त कर लेता है जहाँसे वह फिर उत्पन्न नहीं होता॥ ८॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥ ९॥

अर्थः-जो मनुष्य विज्ञानवान सारथीसे युक्त है और समाहित चित्तवाला है वह इस संसारगतिके पारको अर्थात् उस मोक्ष-पदको प्राप्त कर लेता है जो भगवान् विष्णुका परम पद कहलाता है॥ ९॥

जो अपना आत्मा है—इसके बारेमें दो बात पर ध्यान दो—मैं हूँ, क्योंकि मालूम पड़ता है और मैं मालूम पड़ता है इसलिए 'मैं हूँ'। 'मैं हूँ' इसमें क्या प्रमाण है? कि मालूम पड़ना; और 'मालूम पड़ना' इसमें क्या प्रमाण है? कि मेरा होना। इसका अर्थ हुआ कि अस्ति (होना) और भाति (मालूम पड़ना)—अर्थात् आत्माका सत् रूप और आत्माका चित्-रूप, (ज्ञान-रूप) ये दोनों अलग-अलग नहीं हैं, एक हैं। अस्ति-रूप कभी बाधित नहीं होता, क्योंकि किसीको यह अनुभव कभी नहीं हो सकता कि मैं नहीं हूँ—जिसको होगा वह तो है-ही-है। किसीको यह अनुभव भी नहीं होगा कि मैं अज्ञान-रूप हूँ क्योंकि 'मैं अज्ञान-रूप हूँ'-यह भी तो मालूम ही पड़ेगा! तो अब यह बात कहो कि अनादिकालसे अनन्त-काल तक और विश्वके एक छोरसे दूसरे छोरतक और विश्वके निर्माणकी या संहारकी किसी भी दशामें 'मैं नहीं हूँ' यह अनुभव नहीं हो सकता और मैं अज्ञान-रूप हूँ (मैं जड़ हूँ)-यह अनुभव भी नहीं हो सकता, क्योंकि जो जड़को जानेगा वह चेतन है। तब यह बात पट गयी—अस्ति और मति दोनों एक हैं।

अब दूसरा अनुभव हुआ—**भवति**, कोई चीज हो रही है। तो देखो, अस्ति है और ज्ञान अस्ति है, परन्तु जो चीज हो रही होती है उसमें परिवर्तन होता है। **अस्ति** में परिवर्तन नहीं है, **भाति** में परिवर्तन नहीं है, परन्तु **भवति** में परिवर्तन है। भवतिमें कोई चीज हो रही है, परन्तु उसमें प्रयत्न नहीं है, हो रही है बस! जब करोति आता है—करता है—तब उसमें प्रयत्न आ गया। अस्ति और भाति दोनों एक हैं और भवतिमें जो परिवर्तन है सो मालूम पड़ता है और करोतिमें कर्त्तापनका अभिमान है, 'करोति'के बाद आता है भुङ्क्ते। जो करेगा सो भोगेगा। अगर तुम एक गाली किसीको दोगे, तो चूँकि जिसको तुमने पराया समझ करके, अन्य समझ करके गाली दी, वह वास्तवमें तुम्हीं हो, इसलिए वह गाली तुमको जरूर लगेगी, सामने वालेको चाहे लगे चाहे नहीं लगे! जब दूसरेको तुम कभी हरामी बोलोगे तब वह हरामी आकाशमें टकराकरके, परमात्मासे टकरा करके फिर लौटेगा और वह

तुमको कहेगा कि तुम हरामी! तुम बोलोगे-तुम हरामी और आसमान बोलेगा— तुम हरामी-वह आवाज कहीं-न-कहीं टककराकर तुम्हारे पास लौटेगी। जो काम तुमने दूसरेके लिए किया है, जो शब्द तुमने दूसरेके लिए कहा हैं, वह तुम्हारे पास लौट करके जरूर आवेगा, उससे तुम बच नहीं सकते। तो-**यः करोति स भुङ्क्ते**-जो करता है सो भोगता है।

अब बोले कि बाबा, इससे छूटें कैसे? तो बोले कि जब भोगना, करना, होना—तीनोंका द्रष्टा अपनेको जानकरके, अपनेको सन्मात्र—(सन्मात्र माने कालसे अपरिच्छिन्न) और चिन्मात्र (माने जड़से अपरिच्छिन्न और फिर लम्बाई, चौड़ाईसे अपरिच्छिन्न, परिपूर्ण) जानकर अपनेको परब्रह्म परमात्मासे एक जानोगे तब तुम सबके आत्मा हो जाओगे। तब इन्द्रका सुख तुम्हारा सुख है, ब्रह्माका सुख तुम्हारा सुख है, सम्राट्का सुख तुम्हारा सुख है।

एक महात्मासे किसीने पूछा कि ईश्वर हमारे ऊपर प्रसन्न है इस बातको हम कैसे जानें? महात्माने पूछा कि तुम अपने ऊपर खुश हो कि नहीं? तुम अपने कामसे, जो तुम करते हो, अपने भोगसे, अपनी रहनीसे, अपनी बोलनसे-चलनसे, अपने विचारसे, संकल्पसे अपने ऊपर खुश हो कि नहीं? बोला—हम तो अपने ऊपर खुश हैं। कि तब ईश्वर तुम्हारे ऊपर खुश है! यदि कहो कि नहीं, हमको तो स्वयंसे असन्तोष है, मैं अपनेसे नाराज हूँ ,तब ईश्वर तुम्हारे ऊपर कैसे खुश हो सकता है? जब मैं अपने ऊपर नाराज होऊँगा तब दूसरा मेरे ऊपर नाराज हो सकता है। जबतक मैं अपने कामसे, अपने भावसे, अपनी स्थितिसे, अपने ज्ञानसे अपनेमें असन्तुष्ट नहीं हूँ तबतक मेरे ऊपर दूसरा कैसे असन्तुष्ट हो सकता है, उसका तो कोई अस्तित्व ही नहीं है मुझसे पृथक्।

तो भोक्ता हम कब होते हैं? कि—

आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः।

मनीषी लोगोंका (मनीषी शब्दका ही मुंशी शब्द बन गया है) अथवा जो मुंशी है उन लोगोंका यह कहना है कि जब तुम देहको, इन्द्रियोंको, मनको मैं मानोगे तब तुम सुखी-दुःखी, पापी-पुण्यात्मा, कर्त्ता-भोक्ता हो जाओगे; और जब तुम देह-मन-बुद्धि इन्द्रियादिसे अपने-आपको विलक्षण जान लोगे तब तुम भोक्ता नहीं रहोगे क्योंकि शुद्धात्मा न कर्त्ता है न भोक्ता *ध्यायतीव लेलायतीव*—श्रुति कहती है कि आत्मा किसीका ध्यान नहीं करता, ध्यान करता-सा है; वह कभी प्राणके साथ चञ्चल नहीं होता, चञ्चल होता-सा है। तो यदि भोक्तापन आत्माका

स्वभाव होता, कर्त्तापन आत्माका स्वभाव होता तब तो कभी उसकी निवृत्ति होती ही नहीं। इसलिए भोक्तापन आत्माका स्वरूप नहीं है, वह तो केवल आभिमानिक है—जो हमने अभिमान कर लिया कि हम देह, हम इन्द्रिय, हम मन बस इसीसे भोक्तापन है। तो, साधनकी प्रधानतासे और फलकी प्रधानतासे यहाँ पाँच मन्त्र (५ से ९ तक) बोले जाते हैं। साधनकी प्रधानतासे (५ वाँ और ६ठा) दो मन्त्र हैं कि किसके जीवनमें साधनका प्रकाश, साधनका विकास, साधनका उल्लास होता है और किसके जीवनमें साधनकी हानि होती है—ये दो बात तो साधनके सम्बन्धमें हैं, और किसको फलकी प्राप्ति होती है और किसको फलकी प्राप्ति नहीं होती है और फलका स्वरूप क्या है—ये तीन बातें (७, ८ और ९ वें मन्त्रमें) फलके सम्बन्धमें हैं। तो आओ अब उसकी चर्चा करें।

यस्तु विज्ञानवान्भवति अयुक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥५॥

जब तुम्हारी जीभसे किसीकी निन्दा निकले तब समझना कि तुम्हारा घोड़ा तुम्हारे काबूमें नहीं है—मोटरका ब्रेक खराब हो गया, क्योंकि तुम्हारी जीभ काबूमें नहीं है, तुम्हारा मन काबूमें नहीं है, तुम्हारी बुद्धि एक परमात्मामें भ्रष्टताका दर्शन करके स्वयं भ्रष्ट हो गयी। तो—

यस्तु अविज्ञानवान्भवति—यस्तु बुद्ध्याख्यः सारथिः अविज्ञानवान् अनिपुणः अविवेकी प्रवृत्तौ निवृत्तौ च भवति—

आपने पहले सुना ही था कि देह है रथ, इन्द्रियाँ हैं घोड़े, मन है लगाम, बुद्धि है सारथि और जीवात्मा है रथी। जब हमारी बुद्धि और हमारा मन और हमारी इन्द्रियाँ हमारे दुश्मनसे दोस्ती कर लेते हैं माने जब सारथिको, हमारे ड्राइवरको, दुश्मनने मिला लिया, डाकूने मिला लिया और लगाम सड़ गयी, इधर-उधरसे टूट-टाट गयी; और घोड़ोंको हरी-हरी घास खिला करके बहका दिया कि तुम गड्ढेकी तरफ चले जाना—जब ऐसा हो गया तब रथीका क्या होगा? वह सारथि कैसा है? असलमें सारथि शब्दका अर्थ संस्कृतमें होता है *सारयति अश्वान् इति सारथि*—जो घोड़ोंका संचालन करता है उसको सारथि बोलते हैं—माने जो मोटर ठीक-ठीक 'ड्राइव' करे-हैण्डल उसके हाथमें, ब्रेक उसके हाथमें, उस ड्राइवरको सारथि बोलते हैं—वह हमारे लक्ष्यकी प्राप्तिकी ओर मोटर ले जा रहा है कि नहीं? आप कभी टैक्सीपर बैठो और आप जिस जगहपर पहुँचना चाहते हैं उस दिशापर मोटर न ले जायें, जङ्गलकी तरफ ले जायें तो क्या समझेंगे आप? कि

यह हमको लूटनेके लिए उधर ले जा रहा है। तो, आपका रथ अपने लक्ष्यकी ओर जा रहा है कि नहीं? और आपका सारथि आज्ञामें है कि नहीं? कहीं शराब पीकर मतवाला तो नहीं हो गया है? और दूसरी बात यह है कि उसको चलाना आता है कि नहीं? **अविज्ञानवान्** शब्दका अर्थ श्रीशङ्कराचार्य भगवान्ने यही किया है—**अविज्ञानवान् अनिपुणः अविवेकी प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च**। जैसे कोई ड्राईवर हो उसको पहले तो मोटर चलाना आता ही न हो—कैसे आगे बढ़ना चाहिए, कैसे पीछे हटाना चाहिए, कहाँ मोड़ना चाहिए—यह ड्राइवरको न मालूम हो—**प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च**—प्रवृत्ति माने आगे बढ़ना, निवृत्ति माने लौटना; और अविवेकी माने किस मोटरको दाहिने छोड़े, किस मोटरको बायें छोड़े, आगे चलें, कब रुकें यह विवेक ही नहीं है। अपने शरीर-रूप-रथके संचालनका; अगर आपकी बुद्धिकी दशा यह है और अयुक्तेन मनसा सहः—मन माने लगामकी पकड़ नहीं है, कब कड़ा करना चाहिए मनको और कब ढीला करना चाहिए। जो लोग घोड़पर चढ़ते हैं वे लोग बताते हैं कि यदि लगाम खींच दें तो घोड़ा बड़े जोरसे आगेको बढ़ता है और ढील छोड़ दें, तो सामान्य गतिसे चलता है। तो कैसे इन्द्रियोंका संचालन करना चाहिए, इनको कितना महत्त्व देना चाहिए? बोले कि मनको युक्त होना चाहिए; माने बिलकुल सारथिके हाथमें होना चाहिए।

सारथिको कहाँ जाना है यह मालूम होना चाहिए, वहाँ जानेका रास्ता मालूम होना चाहिए, उस रास्ते पर कहीं मोड़ है यह उसको मालूम होना चाहिए, कब मोटर धीरे चलाना, कब तेज चलाना यह मालूम होना चाहिए, कहाँ रोकना चाहिए यह बात मालूम होना चाहिए—यदि वह मोटर चलानेमें निपुण नहीं है और उसके हाथमें अपने जीवनकी मोटर छोड़ दी तो **तस्येन्द्रियाणि अवश्यानि**—ये इन्द्रिय-रूप घोड़े वशमें नहीं रहेंगे। मोटरमें जो 'पावर' होता है उसको भी घोड़े ही बोलते हैं न—हॉर्स पावर बोलते हैं न। संस्कृत भाषामें घोड़ेके लिए एक शब्द है—हय, और उसकी जो हिनहिनाहट होती है उसके लिए 'ह्रेषा' शब्द है। यही ह्रेषा शब्द विलायतमें घूमते हुए 'हॉर्स' हो गया। तो अपनी इन्द्रियाँ अपने वशमें होनी चाहिए, पाँवसे कहाँ जाना है यह बात मालूम होनी चाहिए; कब दौड़ें, कब धीरे चलें, कहाँ पाँव सम्हाल कर रखें; हाथसे क्या करें, क्या न करें, मुँहसे क्या बोलें क्या न बोलें; आँखसे क्या चीज देखना, क्या नहीं देखना कानसे क्या सुनना क्या नहीं सुनना—यह सब मालूम होना चाहिए।

साधनके मार्गपर तुम चलो और तुमको इतनी भी समझ न हो कि हम अपने

दिलको बना रहे हैं कि बिगाड़ रहे हैं? देखो, भक्तका दिल तो तब बनेगा जब उसके दिलमें भगवान् रहेंगे; और जिज्ञासुका दिल तब बनेगा जब उसकी वृत्ति ब्रह्माकार होगी, श्रवण-मनन-निदिध्यासन करेगी—अगर वह विषय-भोगका चिन्तन करेगा, शत्रुका चिन्तन करेगा, गुण-दोषका चिन्तन करेगा, तो क्या उसके हृदयका निर्माण होगा? तो यदि तुम साधक हो करके, भक्त हो करके, जिज्ञासु हो करके इतना भी नहीं समझ पाते कि इस कामसे, इस भोगसे, इस वस्तुसे, इस सम्बन्धसे हमारा दिल बनता है कि बिगड़ता है—अगर इतनी भी तुम्हारी समझं नहीं है कि इससे हमारे हृदयमकें शान्ति आती है, सन्तोष आता है, रस आता है, प्रकाश आता है, ज्ञान आता है—अगर यह बात भी तुम्हारी समझमें नहीं आती तो साधनके मार्गपर क्या चलोगे?

तो, जो सारथि विज्ञान-रहित है माने प्रवृत्ति-निवृत्ति कहाँ करनी चाहिए यह बात जिसको मालूम नहीं और मन नियममें है नहीं—अयुक्त है, और इन्द्रियाँ वशमें हैं नहीं, तो उसकी क्या गति होगी? कि जैसे मूर्ख सारथि और दुष्ट घोड़ोंको किसी रथमें जोड़ दे और उसको ले जाकरके गढ्ढेमें गिरा दे यही हालत उस मनुष्यकी होगी। **अवश्यानिका** अर्थ है **अशक्यनिवारणानि**—फिर घोड़ोंको रोक नहीं सकते लेकिन—

यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथे॥ ६॥

यस्तु विज्ञानवान्भवति—जो विज्ञानवान् है; विज्ञानवान् माने विशेष ज्ञानवाला। एक होता है सामान्य ज्ञान और एक होता है विशेष ज्ञान—एक तो मालूम पड़े कि सब सड़कें हैं, चौराहाके सामने भी सड़क है, पीछे भी सड़क है, दाहिने भी सड़क है, बायें भी सड़क है—सब सड़क हैं। यह सामान्य ज्ञान है, लेकिन हमको किस सड़कसे जाना है यह विशेष ज्ञान है। तो आपको यदि साधनके मार्गपर चलना है, तो किस मार्गसे आप चल रहे हैं इसका आपको ज्ञान होना चाहिए—भक्ति हो आपके हृदयमें तो जो दृश्य है उसमें भगवद्बुद्धि होनी चाहिए और यदि आप ज्ञानके मार्गमें चल रहे हों तो जो द्रष्टा है उसके ब्रह्मत्वका ज्ञान होना चाहिए। दृश्यमें भगवद्बुद्धि भक्ति है—जो हमारे सामने है वह भगवान् है; देखो इसमें कितना सन्तोष है, कितनी शान्ति है। और ज्ञानमें? ज्ञानमें जो सबको देख रहा है वह द्रष्टा भगवान् है और असलमें द्रष्टा भी भगवान् है, दृश्य भी भगवान् है; क्योंकि द्रष्टाके अतिरिक्त दृश्य कुछ अन्य तो है नहीं। तो भक्त दृश्यमें

भगवान्‌को देखकरके हृदयका निर्माण कर लेता है और ज्ञानी द्रष्टामें भगवान्‌को देखकरके दृश्यसे निवृत्त हो जाता है और अन्तमें दोनों एक हो जाते हैं। लेकिन, महाराज, जब विज्ञान नहीं है, अविज्ञान है, नैपुण्य नहीं है, तो उधर मुहब्बत कर बैठे, उधर दुश्मनी कर बैठे, उसकी निन्दामें लग गये, उससे द्वेषमें लग गये—और भगवान् बेचारे तुम्हारा इन्तजार कर रहे हैं। बिचारे ही हैं, क्योंकि वे तो तुम्हारा इन्तजार कर रहे हैं! और तुम रास्तेमें अपने दुश्मनको साध रहे हो, और दोस्तसे गलबहियाँ डाले हुए हो। भगवान् तुम्हारा इन्तजार कर रहे हैं और आत्मा जो है सो अपने स्वरूपको भूलकरके दृश्यमें लग गया।

तो विज्ञानवान् होना चाहिए और **युक्तेन मनसा सदा**—मनमें युक्तपना होना चाहिए। युक्तपना जानते हैं आप? गीतामें इस 'युक्त' की बढ़िया-बढ़िया व्याख्या की हुई है—

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक् शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥

यो युक्तः स सुखी—जो युक्त होता है सो सुखी होता है। युक्त कौन है कि जो उसी जीवनमें कामके वेगमें आकरके भोगमें प्रवृत्त नहीं होता और जो क्रोधके वेगमें आकरके हिंसामें प्रवृत्त नहीं होता—कायिक, वाचिक मानसिक हिंसासे बचा रहता है। जो युक्त है वही सुखी है, जीवनमें सहिष्णुता आनी चाहिए।

यदा विनियतं चित्तं आत्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥

यदा विनियतं चित्तं आत्मन्येवावतिष्ठते—जब चित्तका दीपक जो प्रज्ज्वलित हो रहा है वह हृदय-मन्दिरमें ही प्रज्ज्वलित होवे, बाहर हवा लगानेके लिए नहीं ले जावें वर्ना लड़खड़ा जायेगा, और सभी कामनाओंसे निःस्पृह हो जायें तब हम युक्त होते हैं। देखो निवृत्तिका एक मार्ग आपको बताता हूँ—आप एक मिनटके लिए यह ख्याल करो कि आप हिन्दुस्तानसे बाहर अपना मन न ले जायँ; फिर सोचो कि अच्छा बम्बईसे बाहर नहीं जायँ; कि अच्छा एक मिनट यह ख्याल करो कि 'प्रेम-कुटीर' के बाहर मन न जायें; अच्छा, फिर एक मिनट यह ख्याल करो कि प्रेम-कुटीरमें भी अपने हृदयसे बाहर न जायें और हृदयमें भी कोई दूसरी चीजका ख्याल न आये—इसका नाम हो जायेगा—

यदा विनियतं चित्तं आत्मन्येवावतिष्ठते।

अब **निस्पृहः सर्वकामभ्यो**—माने कोई कामना नहीं है, मरती है दुनिया तो मरने दो। यही है निवृत्ति अरे वैराग्य तो होता ही नहीं है—महाराज बीस-बीस वर्ष भजन करके अपने भजनमें ही निष्ठा नहीं होती है। अच्छा देखो, हम निष्ठा शब्दका अर्थ जरा खुलासा करके बताते हैं। हम निष्ठा शब्दका अर्थ ऐसा समझते हैं कि जैसे हम जो साधन करते हैं—जप करते हैं, ध्यान करते हैं, दस मिनट बैठते हैं—तो यह साधन इतना स्वाभाविक अपने जीवनमें हो जाये, ऐसी हमारी रहनी बन जाये, कि सहज स्वभावसे मरनेके दिन तक तुम वही साधन करते हुए रहना चाहो—चाहते हो कि नहीं? अपने चित्तको एकाग्र करके रहना चाहते हो कि नहीं; तुम पूजा करते रहना चाहते हो कि नहीं? तुम श्रवण-मनन-निदिध्यासन करते रहना चाहते हो कि नहीं? मरनेके दिन तक तुम अपनेको ब्रह्म समझते हुए रहना चाहते हो कि नहीं? मरनेके दिन तक तुम अपने हृदयको भगवद्-प्रेमसे भरे रखना चाहते हो कि नहीं? निष्ठाके माने यह है कि जबतक यह जीवन है तबतक और यदि इस जीवनके बाद भी जन्म हो तो उसमें भी वही साधन बना रहे।

जन्म-जन्म लगि रगर हमारी।
बरउँ शंभु न तौ रहउँ कुवाँरी॥

अरे महाराज, चार दिन जप किया और चार दिन पूजा की, चार दिन ध्यान किया, चार दिन मौन रहे, चार दिन उपवास किया—वह आत्मज्ञान गया उधर, वह भक्ति गयी उधर, वह वेदान्त गया उधर, वह ईश्वर पड़ गया पीछे और सामने आ गयी दुनिया। निष्ठा कहाँ हुई? सामने आ गया गुण-दोष, सामने आ गया राग-द्वेष, सामने आ गयी पार्टी-बन्दी, सामने आ गयी दल बन्दी—निष्ठा कहाँ है? अपने जीवनमें उस निष्ठाको ढूँढो। **युक्तेन मनसा सदा।**

देखो गीतामें युक्त किसको बताते हैं—

ज्ञान-विज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चन॥

ज्ञान-विज्ञानतृप्तात्मा—तुम्हारी आत्मा किसमें तृप्त है? बोले नोटके बण्डलमें। कि नहीं-नहीं। काहेमें तृप्त है? कि खाने-पीनेमें, कुर्सीमें। संसारमें यह परिवर्तन हो जाय तो हम खुश होंगे—इसमें।

एक सिद्ध महात्मासे एक बार हमने पूछा बड़े ही सिद्ध महात्मा थे—देखो, सिद्धका अर्थ भी आपको सुना देता हूँ—जो आगमें नहीं जले उसको सिद्ध नहीं

बोलते हैं जो स्वत: सिद्ध परमात्माको आत्माके रूपमें जान लेता है और बाकी सब सपनेके खेल हैं। कितने सिद्ध पैदा हुए और मर गये, कितनी सिद्धियाँ आयीं और चली गयीं। सिद्ध एक है परमात्मा दूसरा कुछ सिद्ध है नहीं; अगर उससे तुम एक हो गये तो तुम सिद्ध हो तो वे सिद्ध पुरुष थे माने परमात्मासे ऐक्यका बोध था उनको। उनसे मैंने पूछा कि दुनियामें क्या-क्या हेर-फेर कर दिया जाय, माने परिवर्तन कर दिया जाय, तब तुम इसको पसन्द करोगे? राजा कैसा हो, कानून कैसा हो, सामाजिक स्थिति कैसी हो, लोगोंका चरित्र कैसा हो, खाना-पीना कैसा हो, जरा उस दुनियाका स्वरूप बताओ जिसको तुम पसन्द करोगे? अरे! वह तो हँस गये, बोले—राम-राम-राम, दुनिया सोनेकी हो जाय कि दिव्य बन जाय तब भी क्या इसकी किसी अवस्थाको हम पसन्द करेंगे? इसका मतलब यह हुआ कि आत्म-रूपसे तो यह दुनिया जैसी है, मतलब यह हुआ कि आत्मा-रूपसे तो यह दुनिया जैसे है ठीक है, और बने हुए रूपसे हम इसको पसन्द नहीं करते और बिगड़े हुए रूपसे हम इससे नाराज नहीं हैं—परिवर्तनमें हमारी दिलचस्पी नहीं है कि ऐसी हो गयी दुनिया तो बिगड़ गयी और ऐसी हो गयी दुनिया तो बन गयी—अरे, यह बनना और बिगड़ना दोनों सपनेका खेल अपने आत्मामें नितान्त अनहुआ भास रहा है। यह बन जायेगी ऐसी तब हम इसको पसन्द करेंगे और यह बिगड़ जायेगी ऐसी तब हम इससे नफरत करेंगे, दुश्मनी करेंगे—ऐसा नहीं है। हम अपने दिलमें इस दुनियाके लिए राग-द्वेष या मुहब्बत और नफरतको बैठावेंगे? क्या हमारा आत्मा नित्य-शुद्ध-बुद्ध मुक्त नहीं है कि हम दूसरेसे नफरत और मुहब्बत करने जायँ? तो यह बात है। 'युक्तेन मनसा सदा' यानी 'ज्ञान विज्ञान तृप्तात्मा'—

ज्ञान-विज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥

तो, **तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः॥ ६॥**

और **तस्येनिद्रयाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः॥ ५॥**

जैसे अच्छे घोड़े सारथिके वशमें रहते हैं वैसे उसकी इन्द्रियाँ वशमें रहती हैं; और जिसकी इन्द्रियाँ वशमें नहीं हैं, जिसका मन युक्त नहीं है और जिसकी बुद्धिमें विज्ञान अर्थात् नैपुण्य नहीं है उसकी स्थिति जैसे बिगड़े हुए घोड़े जिसके वशमें नहीं होते वैसी होती है।

दो बात इसमें साधनकी बतायी गयीं कि यदि विज्ञान-रहित अयुक्त मनसे इन्द्रियोंको बिलकुल उच्छृङ्खल छोड़ दोगे तो साधन-पथसे गिर जाओगे और यदि

नैपुण्यसे, युक्त मनसे, इन्द्रियोंको वशमें करके आगे बढ़ोगे तो जैसे सारथि अच्छे सधे हुए घोड़ोंको आगे बढ़ाता है वैसे आगे बढ़ोगे।

अब तीन मन्त्र फलके सम्बन्धमें आते हैं—

> यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः।
> न स तत्पदमाप्नोति सःसारं चाधिगच्छति॥ ७॥
> यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः।
> स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥ ८॥

अविज्ञान्वतः संसारगतिः—अविज्ञानवान अनिपुण जिसकी बुद्धि बेवकूफ है—माने मूर्ख, मूर्च्छित। अज्ञान माने नासमझ। उल्टी समझ नहीं; उल्टी समझवालेका तो कभी कल्याण होता नहीं। एक होती है नासमझी और एक होती है उल्टी समझ। अगर कोई नासमझ चौराहे पर खड़ा हो और उसको रास्ता मालूम हो तो यदि वह दूसरेसे पूछे तो उसको रास्ता मालूम पड़ जायेगा, लेकिन यदि उसकी समझ उलटी हो—वह पूरबको पश्चिम समझ करके किसीसे पूछे नहीं और पक्का हो जाय कि हम तो इधर ही चलेंगे तो उसको रास्ता मिलना शक्य नहीं है—उल्टी समझ वालेके लिए मार्ग नहीं है परन्तु नासमझके लिए मार्ग निकल आता है।

अविज्ञानवान्भवति=जिसके चित्तमें नैपुण्य नहीं है। देखो, हम काम कौन-सा करते हैं—कुछ छोड़नेका, कुछ पकड़नेका; कुछ पानेके लिए काम करते हैं और कुछ छोड़नेके लिए। जैसे शरीरमें मैल लगी हो तो उसको निकालनेके लिए साबुन लगाते हैं—तो यह छुड़ानेका काम हुआ; और यदि शरीर कहीं-कहीं बिलकुल रूखा हो गया है तो उसको चिकना करनेके लिए तेल लगाते हैं, क्रीम लगाते हैं। ऐसे ही देखो शरीरमें जो मल होता है उसको निकालते हैं और भोजनको ग्रहण करते हैं। इसी तरह हमारे जीवनमें जो क्रिया होती है वह कुछ त्याग करनेकी होती है और कुछ ग्रहण करनेकी होती है। जिसको हम चाहते हैं कि इसको छोड़ो, उसको छोड़नेके लिए प्रयत्न करते हैं और जिसको हम चाहते हैं कि पकड़ें, उसको पकड़नेके लिए प्रयत्न करते हैं। तो कर्मके मूलमें होती है—इच्छा; और इच्छा किसके लिए होती है कि जिसको हम अपने लिए सुखका साधन समझते हैं, जिसको इष्टका साधन समझते हैं, जिसको अच्छा समझते हैं; और जिसको हम अनिष्टका साधन समझते हैं और जिसको बुरा समझते हैं, उसकी इच्छा नहीं करते हैं।

तो, अन्तमें बात कहाँ पहुँची कि हमारी बुद्धि ही सबसे बड़ी चीज है, वह बुद्धि अहङ्कारकी दी हुई हो तो गलत रास्तेपर ले जायेगी और गुरुकी, शास्त्रकी, ईश्वरकी दी हुई हो तो सही रास्तेपर ले जायेगी। आखिर बुद्धिकी भी तो कसौटी चाहिए न? बोले—भाई, यदि बुद्धि ब्रह्मकी ओर जाय तो बहुत अच्छी। बोले ये भोग चाहनेवाले जो देश हैं उनमें चले जाओ—चीनमें चले जाओ और बोलो कि देखो, हमारी बुद्धि बहुत अच्छी है क्योंकि वह ब्रह्मकी ओर चलती है तो वह तुमको बुर्जुआ कहकरके शस्त्र-क्रान्तिका शिकार बना देंगे और कहेंगे कि 'पुराना आदमी'-'बुजुर्आ'-पिछड़ा हुआ—ऐसे, तो यह नहीं है कि जिसको सब लोग कह दें कि यह बुद्धि अच्छी सो बुद्धि अच्छी और जिसको लोग कह दें कि यह बुरी तो वह बुद्धि बुरी! बुद्धिका निर्णय वोटसे नहीं होता, क्योंकि वोट तो जमाने-जमानेमें बदलता रहता है, कभी दाएँ जाता है, कभी बाएँ जाता है, कभी वाम-पंथीको मिलता है, कभी दक्षिण-पंथीको मिलता है। तो वोटसे यह बात नहीं होती, बुद्धिकी भी कसौटी होती है, वह कसौटी क्या है? कि गुरु उसकी कसौटी है, शास्त्र उसकी कसौटी है, आत्मानुभूति उसकी कसौटी है। क्या तुम्हें शान्तिका अनुभव होता है, क्या तुम्हारे हृदयमें रसोल्लास होता है? क्या आनन्दस्वरूप परमात्मा तुम्हारे हृदयमें प्रकट हो रहा है? अगर नहीं, तो गलत रास्तेपर जा रहे भला? आओ, बुद्धिको विज्ञान-रहित मत रहने दो—किस रास्ते चलना है और क्या पाना है—यह निर्णय बिलकुल कर लो!

और **अमनस्कः** अमनस्कःका अर्थ क्या है कि देखो, अगर मन तुम्हारा खराब रहेगा न—मन कहीं, तुम कहीं—दिल कहीं, तुम कहीं—कि दिल दूसरेके घरमें है, तुम कहीं हो—यह देखो लड़कियाँ और लड़के जो कालेजमें पढ़ते हैं वे फेल कब होते हैं कि जब वे अपना दिल किसी दूसरी जगह लगा देते हैं, वहाँ तो ज्ञान प्राप्त करना है, विज्ञान प्राप्त करना है, जीवनको उन्नत करना है, ठीक रास्ते चलना है और जाकरके कालेजमें मुहब्बत करने लगें तो पढ़ना-लिखना बिगड़ जाता है, तो **अमनस्कः**का अर्थ है कि यदि तुम्हारा मन हाथसे छूटकरके गिर गया—इधर गया, उधर गया, तो तुम्हें परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी, यदि तुम ठीक लक्ष्य और ठीक मार्ग नहीं समझोगे तो परमात्माकी प्राप्ति नहीं होगी।

सदा शुचिः—इसमें पहले चार बात बतायी थीं—एक तो शरीरसे जो दुश्चरित्र होता है उसको छोड़ो, दूसरी—मनमें जो काम-क्रोध आता है उसको शान्त

करना है, तीसरी—मनमें जो विक्षेप है उसको शान्त करके मनको एकाग्र करना और चौथी—एकाग्र करनेपर जो सिद्धियाँ आती हैं उनको महत्त्वपूर्ण न समझना—ये चार बातें है। विक्षेपको मिटानेसे शरीरमें ज्ञानरूपी किरणोंका वक्रीभवन होता है, उससे नये-नये दृश्य दिखते हैं, नये-नये लोग मिलते हैं और शक्तिका जो संचय होता है उससे विलक्षण शक्ति आती है। एक आदमीने बारह वर्ष तप किया, उससे उसको सिद्धि यह मिली कि उसकी खड़ाऊँ सिद्ध हो गयी—खड़ाऊँ पहनकर वह नदी पार जाये! अपने घर लौटे। जब बापको बताया कि यह सिद्धि मिली है बारह वर्षमें तो बापने कहा—बेटा, हम तो मल्लाहको दो पैसा देते हैं और नदी पारकरके चले जाते हैं, तो जो फायदा जो काम हमारा दो पैसे में होता है वही फायदा तुमको बारह वर्ष तपस्या करके हुआ! दुनियामें कुछ भी पा लेना योगाका फल नहीं है, अत: सिद्धिसे निर्पेक्ष रहो।

यह कहते हैं कि जब आदमी योगाभ्यास करता है, तो देवता लोग आकरके आमन्त्रण देते हैं—दिक्-देवता कहते हैं कि आओ चलो इस समय विलायतमें क्या बात हो रही है वह सुनाकर ले आवें—पारेन्द्रिय ज्ञान। रूसमें, अमेरिकामें इसके प्रयोग किये गये हैं—दो-दो सौ मील दूरकी बात सुननेका अभ्यास और दो-दो मील दूरकी चीज देखनेका अभ्यास—पारेन्द्रिय ज्ञान बोलते हैं इसको। और जब यह ज्ञान वहाँसे यहाँ आयेगा तब यहाँके लोग भी इसका आदर करें गे, लेकिन नारायण कहो, इस चीजका परमार्थके साथ सम्बन्ध नहीं है, यह बिलकुल लौकिक वस्तु है क्योंकि इससे संसार ही दिखता है।

तो तीन बात होनी चाहिए—(एक) बुद्धिमें नैपुण्य हो कि वह आत्मा-परमात्माके सिवाय दूसरी किसी चीजको चाहे नहीं, (दूसरे) मन अपने वशमें हो, हाथसे कहीं गिर न जाये, और (तीसरी) **सदा शुचिः**—हमेशा पवित्र रहो, अपवित्र मत बनो। पवित्रता-अपवित्रता क्या है कि साधारण रूपसे तो इसकी परिभाषा यह बना लो कि जो काम करनेमें तुमको हिचक होती है, करनेके समय अभिमान होता है, करनेसे पहले वासना रहती है, करनेके बाद ग्लानि होती है, थकान होती है, गिर जाते हैं, वह काम अपवित्र है। करनेके बाद ग्लानि हो, करनेके समय आवेश हो और करनेके पहले वासना हो—अभिमानके ये तीनों बच्चे जिसके साथ रहते हों—वह अपवित्र है। अपवित्र उसको कहते हैं कि जो चीज बिलकुल शुद्ध निखालिस हो। हमारे गाँवमें कहते हैं निखालिस—गेहूँ शुद्ध हैं कि नहीं? बोले—कि नहीं उसमें थोड़ी मटर मिली है, वह गेहूँ शुद्ध नहीं है। तो जब अपना आत्मा

बिलकुल जड़ताके मिश्रणसे रहित, बिलकुल शुद्ध हो तब सदा शुचि है। विवेक करो, निकाल दो जड़ताको! कि तब परमात्माकी प्राप्ति होती है—**न स तत्पदमाप्नोति**—बुद्धिमें निपुणता नहीं, मन हाथमें नहीं और चरित्र जो है सो अपवित्र—**सदाऽशुचिः**से चरित्र अपवित्र है और **अमनस्कः**से मन सद्भावना शून्य है और **अविज्ञानवान्**से विवेक ढीला है-तब फिर? कि **न स तत्पदमाप्रोति**-उसको परमात्मापदकी प्राप्ति नहीं होती। तब क्या होता है? कि **जायस्व-म्रियस्व-संसारं चाधिगच्छति**-पैदा होओ बेटा और मरो, बस यही मिलेगा; और **यस्तु विज्ञानवान् भवति**-जिसकी बुद्धि निपुण हो, मन अपने हाथमें हो और चरित्र पवित्र हो-**स तु तत्पदमाप्राति**-उसको परमात्म-पदकी प्राप्ति होती है जहाँसे फिर लौटना नहीं होता—**यस्माद् भूयो न जायते।**

यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥ ८॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥ ९॥

अब ये बताते हैं कि परमात्माकी प्राप्ति किस पुरुषको होती है? **यस्तु विज्ञानवान्भवति**-विज्ञानवान् माने विवेक और बुद्धि-ऐसी उज्ज्वल बुद्धि जो नीर-क्षीर विवेक कर दे, किसीके प्रति क्रूरता भी न करे, किसीके प्रति पक्षपात भी न करे, राग-द्वेषसे रहित होकरके दृश्यको दृश्य, द्रष्टाको द्रष्टा-बिलकुल निर्णय दे दे। विवेक शब्दका अर्थ होता है दो मिली हुई चीजको अलग-अलग करना—*विचिर् पृथग् भावे*-जौ और गेहूँ एकमें मिल गये हों तो उनको अलग-अलग करना यह उनका विवेक है; इसी प्रकार दृश्यमें द्रष्टाका और द्रष्टामें दृश्यका जो अध्यास हो गया है इसका विवेक करनेमें जिसकी बुद्धि निपुण होती है वह विवेकी है—क्यों-कि यदि राग-ग्रस्त बुद्धि होगी तो जिससे मुहब्बत हो, प्रेम हो उसीके बारेमें विचार करेगी और यदि द्वेष-ग्रस्त बुद्धि हो तो जिससे शत्रुता हो उसके बारेमें विचार करेगी परन्तु जो वैराग्यवती बुद्धि होती है उसीमें शुद्ध विवेकका उदय होता है, इसीलिए तत्त्वज्ञानके लिए यह बहुत आवश्यक है कि विवेक जाग्रत् होनेके लिए इस नाम-रूपात्मक प्रपञ्चमें कहीं राग-द्वेष नहीं होवे। तो अन्तःकरणके शोधक साधनको वैराग्य बोलते हैं, विवेक बोलते हैं,

समाधि-सम्पत्ति बोलते हैं, इसको बहिरङ्ग साधन बोलते हैं, यही जिज्ञासुके जीवनका सारथि है, यही मार्ग-दर्शक है।

समनस्कः माने समाहित चित्तवाला। ऐसा नहीं कि—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि॥

आगे-आगे इन्द्रियाँ, पीछे-पीछे मन, मनके पीछे बुद्धि-जहाँ घोड़े ही रास्ता दिखानेवाले हो गये, वहाँ मनुष्य कहाँ पहुँचेगा इसका क्या पता है? लेकिन, सारथिके इशारेसे जब घोड़े चलें तब मंजिल पर पहुँचेगा। और सारथि कैसा होवे कि विवेकी होवे-जो इन्द्रियरूपी घोड़ोंका ठीक संचालन करे और मन वशमें रहे। विवेक ठीक होवे और मन वशमें रहे-इसके लिए क्या करना? कि 'सदा शुचि:'—हमेशा पवित्र रहना!

पवित्रता क्या है कि दो चीज जब एकमें मिल जाती है तब उसको मिलावटी बोलते हैं और जब दोनोंको अलग-अलग कर देते हैं तब दोनों शुद्ध होते हैं। तो जब यह चेतन जड़के साथ सम्बन्ध करता है, जड़के साथ तादात्म्य करता है-**अहं जडः जडो मम**—यह दृश्य वस्तु मैं हूँ और यह दृश्य-वस्तु मेरा है, यह जब देहमें और देहके सम्बन्धियोंमें मैं-मेरा कर लेते हैं, तब अन्यके गुण-धर्मका अन्यमें मिश्रण हो जानेके कारण अशुद्धि आ जाती है।

हमेशा पवित्रता कैसे रहे? मन कैसे पवित्र होवे इसके लिए श्रुतियोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके उपाय बताये गये हैं—

एक तो **आहार-शुद्धि**-जो तुम्हारा भोजन है वह शुद्ध होना चाहिए-सब इन्द्रियोंका भोजन शुद्ध होना चाहिए। शुद्ध सुनो, शुद्ध देखो, शुद्ध छूओ, शुद्ध बोलो, शुद्ध स्थान पर चलो, शुद्ध काम करो। **आहृयन्ते इति आहारः, विषयाः**-भागवान् शङ्कराचार्यने आहार शब्दका अर्थ किया कि अपनी सर्व-इन्द्रियोंको—मनको भी-पवित्र भोग ही दो, अपवित्र भोग मत दो। श्री रामानुजाचार्य महाराजने कहा कि जन्मसे अशुद्ध जो वस्तु है जैसे मांसादि (जाति दोष) और निमित्तसे जो अशुद्ध वस्तु है (निमित्त दोष)-कोई गन्दी चीज जिसमें पड़ गयी हो और जिसका वर्तन गन्दा हो, जिसको बनाने वाला गन्दा हो (आश्रय दोष), और जो अन्यायोपार्जित धनका न हो-बेईमानीकी कमाईका न हो-ऐसे जब जातिदोष, निमित्तदोष, आश्रयदोष और अन्यायदोषसे वर्जित भोग होगया तब शुद्धि होगी। देखो, कोई व्यभिचारसे तो सन्तान उत्पन्न करे और मनमें यह आशा रखे कि यह ब्रह्मचारी होगा तो यह गलत

है; और चोरी करके, बेईमानी करके धन कमावे और उसको खाकरके यह आशा करे कि हमारे मनमें सन्तोष, निर्लोभता, निष्कामता आ जायेगी, तो यह संभव नहीं है! बात ही उल्टी हो गयी ना? चोरी करके तो लावे पैसा और ख्याल यह रखे कि जब हमारे घरमें वसिष्ठ आवेंगे तब हम उनको देंगे अथवा कि हम तो सनत्कुमारके सिवाय दूसरे किसीको दान ही नहीं करेंगे,-कि जब शुकदेव, नारद, सनत्कुमार हमारे घरमें आवेंगे तब दान करेंगे तो यह आशा जैसे बिलकुल गलत है वैसे ही जो वस्तु अपने हकको नहीं है, उसका भोग करके मनको पवित्र करना बिलकुल गलत है। तो पवित्र होनेका एक उपाय है-आहारका शुद्ध होना चाहिए।

दूसरे कर्म-शुद्धि चाहिए। **यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन**-जो कर्म करनेमें वासना न हो, आवेश न हो, ग्लानि न हो- सहज सरल भावसे जो कर्म हो, शास्त्रोक्त हो , शास्त्रसे प्रतिषिद्ध न हो वह करे और जो विहित है उसका परित्याग भी न करे, कर्म-शुद्धि हो जायेगा!

तीसरे-**भाव-शुद्ध हो**-सबके प्रति सद्‌भावना हो चित्तमें-सबसें ईश्वर- भाव हो; इसमें भी ईश्वर, इसमें भी ईश्वर, इसमें भी ईश्वर—

अमुं यज अमुं यज। यस्य देवे पराभक्तिः, यथा देवे तथा गुरौ।

चौथा-विवेक होवे-नीर-क्षीर विवेकके समान विवेक होवे। दृश्यको छोड़ो, जो-जो दृश्य मालूम पड़ता है उसको छोड़ो।

पाँचवीं बात यह है कि जो तुम्हारी दृष्टिमें शुद्ध है केवल उसीका चिन्तन करो, अशुद्धका चिन्तन ही मत करो; तब तुम **सदा शुचिः**-हमेशा पवित्र रहोगे मन तुम्हारा वशमें रहेगा, विवेक जाग्रत् रहेगा।

स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते।

उसको उस पदकी प्राप्ति होती है जहाँसे फिर उत्पन्न नहीं होता।

यह पदकी प्राप्ति क्या है? कि पद केवल अज्ञानमात्रसे ही अप्राप्त हो रहा है! जो सर्व-देशका अधिष्ठान, सर्व-देशका प्रकाशक, सर्व-देशकी कल्पना जिसमें बिना हुए हो रही है, भास रही है; जो सर्वकालका अधिष्ठान, सर्वकालका प्रकाशक, सर्वकालकी कल्पना जिसमें बिना हुए भास रही है; जो सर्वनाम-रूपोंका अधिष्ठान, वस्तुओंका अधिष्ठान, वस्तुओंका प्रकाशक सबकी कल्पना जिसमें बिना हुए ही भास रही है; वह जो अपना प्रत्यक्‌चैतन्याभिन्न ब्रह्म-पद है वह अप्राप्त नहीं है, उसमें तो अप्राप्तिका भ्रम है, केवल भ्रमसे, केवल अविद्यासे वह अप्राप्त हो रहा है; और तत्त्वस्यादि महावाक्य-जन्य वृत्तिसे अखण्डार्थका

साक्षात्कार होकरके अविद्याकी निवृत्ति होती है और वह तो मिला-ही-मिला है। तो आत्माका जो अलाभ है, अप्राप्ति है उसमें केवल अविद्या-मात्र व्यवधान है और उस व्यवधानको निवृत्ति करने वाली है विद्या।

जब मनुष्य शुद्धान्तःकरण होता है—पवित्र, समनस्क और विज्ञानवान् होता है तब उसको परमपदकी प्राप्ति हो जाती है। परमपद माने नित्य जो प्राप्त है अविद्यासे जो अप्राप्त-सा मालूम पड़ता है; उसका हुआ साक्षात्कार और अविद्याकी हुई निवृत्ति। **यस्माद्भूयो न जायते**-वहाँसे फिर आना-जाना नहीं पड़ता! देखो, आने-जानेकी जो क्रिया है वह चाहे शारीरिक होवे, चाहे मानसिक होवे, होगी देश और कालमें ही । यदि आने-जानेकी क्रिया देशमें होगी तो एक स्थानसे दूसरे स्थानमें तो जायेंगे न; तो ब्रह्म तो यहीं है, उसके लिए कहीं जानेकी जरूरत नहीं है—वहाँ और यहाँ दोनोंकी कल्पनाका अधिष्ठान, यहाँ और वहाँ दोनोंकी कल्पनासे अवच्छिन्न जो चैतन्य है, स्वयं द्रष्टा, वह तो ब्रह्म ही है, देशकी उसमें कोई सत्ता ही नहीं है; अतः जहाँ अविद्याकी निवृत्ति हुई, वहीं देशगत आना-जाना निवृत्त हुआ। अच्छा, आने-जानेमें काल भी होता है, कैसे कि एक कदम, दूसरा कदम, तीसरा कदम—पहले कदमकी अपेक्षा दूसरा कदम पीछे होता है और दूसरे कदमकी अपेक्ष तीसरा कदम और पीछे होता है, तो पहले-पीछे यह काल हुआ और यहाँसे वहाँ जाना-यह देश हुआ और क्रिया तो बिना द्रव्यके होगी नहीं, इसलिए स्थूल या सूक्ष्म शरीर उसमें क्रिया करनेके लिए द्रव्य-रूपसे रहेगा। परन्तु परब्रह्म परमात्मामें न तो स्थानान्तर है, न तो कालान्तर है—न देश है, न क़ाल है, न वस्तु है और न क्रिया है; इसलिए **स तु पदमाप्नोति**-विद्यासे अविद्याकी निवृत्ति होने मात्रसे ही ऐसे पद की प्राप्ति होती है जिसमें **यस्माद्भूयो न जायते**।

ये अस्ति, भवति, करोति—जब कोई द्रष्टाके द्वारा कोई दृश्य अस्ति-रूपसे प्रकाशित होता है तब वह प्रकाशित अस्ति ही परिवर्त्तनशील होता है और उसीमें क्रिया मालूम पड़ती है। परन्तु दृङ्मात्र जो वस्तु है वह जो दृङ्मात्र है वही सन्मात्र है, जो चिन्मात्र है वही सन्मात्र है-उसमें अस्ति-प्रत्यय, भवति प्रत्यय, करोति-प्रत्यय—ये केवल भासमान हैं, तत्त्व दृष्टिसे सर्वथा नहीं हैं। तो—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥

वेदोंमें मन्त्र आता है—

तद्विष्णोः परमं पदम् सदा पश्यन्ति सूरयः।

एक वामन विष्णु हैं और एक त्रिविक्रम विष्णु है और एक विष्णु है और एक विष्णुका परमपद है। वामन विष्णु कौन है कि—

ऊर्ध्वं प्राणं उन्नयति अपानं प्रत्यगस्यति।

मध्ये वामनासीनं विश्वे देवा उपासते॥

अपानवायु नीचे जाये और प्राण वायु ऊपर जाये और दोनोंके बीचमें बैठा हुआ जो वामन है-बहुत छोटा है-हृद्देशके परिमाणसे जिसमें परिमाणका आरोप हो गया, वामन-छोटा-सा; और त्रिविक्रम कितना बड़ा? बोले-जितना बड़ा जगत्-है। अन्तःकरणाावच्छिन्न चैतन्य वामन और प्रपञ्चावच्छिन्न चैतन्य त्रिविक्रम चैतन्य ही है भला! और जिसमें अवच्छेद-अवच्छेदका भाव स्वप्नमें भी नहीं है, उसका नाम है परमपद; वह परमपद है—**तद्विष्णोः परमं पदम् सदा पश्यन्ति सूरयः। सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥**

जिसका सारथि विज्ञानवान है, समनस्क है और सदा पवित्र है वह इस संसारके पार जाकर विष्णुके परमपदको प्राप्त कर लेता है जहाँसे आना जाना नहीं होता। अरे-हम कहीं पराये घरमें चले गये हों तब तो आना पड़े! एक आदमी था, कोई नशा ले लिया उसने। तो वह यह समझने लगा कि हमारा घर दूसरे पार पर है और हम नदीके इस पार आ गये हैं; अब वह चिल्लाये कि नाव चाहिए, नाव चाहिए। नावके बिना हम कैसे अपने घर पहुँचेंगे। अब घरवालोंने देखा कि यह तो नदीके पार नहीं अपने ही घरमें है और इसको भ्रम हो गया कि हम नदीके पार किसी शत्रुके चंगुलमें फँस गये हैं, जेलखानेमें फँस गये हैं। तो घर वालोंने बहुत समझाया कि भाई, तुम तो अपने ही घरमें हो, पर उसकी समझमें ही नहीं आवे, वह तो जिद्द करे कि हमारे लिए नाव ले आवो हम नदी पार करके अपने घर जायेंगे, हम शत्रुके घरमें नहीं रहेंगे—नाव-ही-नाव उसको सूझती थी।

अब घरवाले क्या करें? क्या नावपर बैठाकर उसको उस पार ले जायें? यह तरीका है क्या? कि नहीं, यह तरीका नहीं है! तरीका यह है कि उसका नशा उतार दिया जाये। नशा उतर जायेगा तो न उसको कहीं जाना है, न नावकी जरूरत है, न वह शत्रुके घरमें है, वह तो अपने ही घरमें है।

जो सत्तया कार्यकारणकी कल्पनाका आधार है जो चित्तया द्रष्टा-दृश्यकी कल्पनाका आधार है; जो आनन्दतया भोक्ता-भोग्यकी कल्पनाका आधार है वही सच्चिदानन्दतया जगत्के रूपमें विवर्त्तमान हो रहा है। स्वयं ज्यों-का-

त्यों सच्चिदानन्द एकरस अखण्ड आत्म-वस्तु होनेपर भी अन्यके रूपमें भास रहा है।

तो रास्तेका अन्त कब होगा? कि जब गन्तव्यका बाध हो जायेगा। कहीं जाना नहीं है-गमन-क्रियाका बाध हो जायेगा। और गमन क्रियाका बाध कैसे होगा? कि स्वमें आरोपित जो गन्तत्व है जब उसका बाध हो जायेगा तब गमनक्रियाका भी बाध हो जायेगा। गन्ता—माने गमन करनेवाला अहं, और दृश्यसे तादात्म्यापन्न गमन क्रिया और गन्तव्यमें देश-काल-वस्तुका व्यवधान इन सबका अपने स्वरूपकी अखण्डताका बोध होनेसे बाध हो जाता है।

निष्ठा दूसरी वस्तु होती है; यह देश-काल-वस्तुकी जो परिस्थितियाँ हैं इनके परिवर्तनसे निष्ठापर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है! जहाँ देश-काल-वस्तुकी परिस्थितियोंके परिवर्तनसे निष्ठापर प्रभाव पड़ता है, वह निष्ठा ही कच्ची है। तो अच्छा हुआ कि एक बार किसीने हिला दिया- खूँटा हिल गया तो एक बार फिरसे उसे ठोंकनेका काम सम्हाल कर करना चाहिए; '*स्थाणु-खनन-न्याय*'से उसको बिल्कुल पक्का करना चाहिए।

तो वही-**'सोऽध्वनः पारमाप्नोति'**—रास्तेका पार उसको मिल गया-चला नहीं और रास्तेका पार मिल गया। वह कैसा है? कि **विष्णोः परमं पदम्**—वामनाकार और त्रिविक्रमाकार दोनों आकारोंका बीज जिससें है सो विष्णु। विष्णुका परमपद माने स्वयं प्रकाश अधिष्ठान सत्ता। सो उस परम-पदका साक्षात्कार होते ही परम पदकी प्राप्ति हो जाती है।

मंत्र १ से ६ तकका पुनरावलोकन

यहाँके वेदको दो विभागमें विभक्त करके तब उसकी व्याख्या करते हैं। एक वह भाग जो हमारी रहनीका उपदेश करता है—हमें क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, इसको विधि विभाग बोलते हैं। इसके उपदेशकी वैसे आवश्यकता तो नहीं मालूम पड़ती, लोगोंको (स्वतंत्र) छोड़ दिया जाये और जब आगसे हाथ जलेगा तब आगमें हाथ नहीं डालेंगे और जब दूध पीने से जीवन ठीक-ठीक चलेगा तब दूध पीयेंगे, इसमें अनुशासनकी तो कोई आवश्यकता मालूम नहीं पड़ती। लेकिन, आप जानते हैं कि ऐसा कोई मनुष्य नहीं होता जिसके अन्तःकरणमें राग-द्वेष पहलेसे न रहता हो, और वह राग-वश पक्षपात करता है और द्वेष-वश निर्दयता करता है। जिसका अभ्यास होता है उसमें राग हो जाता है और जो काम कभी करना पड़ा हो, जिस कामसे ग्लानि होवे उसके बारेमें चित्तमें द्वेष हो जाता है। तो, मनुष्य राग-द्वेषके वशीभूत होकरके अपनी रहनी न बनावे, विधानके वशीभूत होकर अपनी रहनीको बनावे इसकी जरूरत पड़ती है। जैसे आपको मोटर सड़कपर चलाना है तो कायदा यदि होगा कि सड़कपर बायें जाओ तब तो आप ठीक-ठीक चलेंगे, नहीं तो देखेंगे कि दाहिने रास्ता खुला है और उधर मोटर दौड़ावेंगे तो एक-दो बार हो सकता है ठीक-ठीक निकल जावें पर फिर कभी-न-कभी कोई एक्सीडेण्ट, कोई आकस्मिक घटना ऐसी घटेगी कि आप बेकाबू हो जायेंगे। तो मनुष्यके जीवनमें अनुशिष्ट रूपसे रहना-चलना-बोलना आवश्यक होता है! तो वेदका जो भाग हमारे लिए कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यका निर्धारण करता है उसको विधि भाग कहते हैं, उसमें शब्द-राशिकी प्रधानता होती है, कानूनके अक्षर देखे जाते हैं। कोई भी देश, कोई भी राष्ट्र, कोई भी जाति, कोई भी सम्प्रदाय अनुशासनके बिना जीवन नहीं धारण कर सकता, जीवित नहीं रह सकता।

वेदका दूसरा भाग यथार्थ-वस्तुका अनुसन्धान करनेके लिए है कि यह क्या है? तो लोक-व्यवहारमें यह बात देखनेमें आती है कि पहले हम इन्द्रियोंसे अनुभव करते हैं और फिर उसके बारेमें एक संस्कार अपने चित्तमें धारण करते हैं। डॉक्टर लोग अमुक रोक पर अमुक औषधिका प्रयोग करते हैं, उसका अनुसन्धान करते हैं कि इस रोगमें शरीरमें क्या-क्या कमी या अधिकता तत्त्वोंकी हो जाती है; और इस दवाको जब हम शरीरके भीतर डालेंगे, रस रक्तमें डालेंगे तो उससे तत्त्वोंकी कौन-कौन-सी कमी पूरी होगी और कौन-कौन सी अधिकता मिटेगी—इसका अनुसन्धान करके फिर वे निर्णय करते हैं औषधिके बारेमें, रोगके बारेमें। तो, जितने पदार्थ दृश्यके रूपमें मालूम पड़ते हैं वे कोई इन्द्रियोंके द्वारा मालूम पड़ते हैं, कोई मनके द्वारा मालूम पड़ते हैं, कोई बुद्धिके द्वारा मालूम पड़ते हैं, परन्तु जिसके द्वारा ये सब मालूम पड़ते हैं वह वस्तु किसी भी इन्द्रियके द्वारा मालूम नहीं पड़ती है। हमें इन्द्रियके द्वारा शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध, और इनकी किस्में और इनके अभाव मालूम पड़ते हैं परन्तु जिसको ये मालूम पड़ते हैं—वह कौन है यह ऐन्द्रियक अनुभवमें बिलकुल नहीं आता है! आँखसे देखेंगे हम केवल रूपको, शब्दको नहीं देख सकते; और कानसे सुनेंगे केवल शब्दको, रूपको नहीं सुन सकते, यह तो साफ है कि ये इन्द्रियाँ पूरी वस्तुका दर्शन नहीं कराती हैं, अधूरी वस्तुका दर्शन कराती हैं। और मनसे तो हम जिन-जिन वस्तुओंका संस्कार है उन्हींको जान सकते हैं। बुद्धिसे हम अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा केवल यह सोच सकते हैं कि इसके बिना यह चीज नहीं होती, तो यह चीज कार्य है और इसके बिना भी यह चीज रहती है तो यह चीज कारण है। बुद्धिके द्वारा अन्वय-व्यतिरेक, अनुगत और व्यतिरिक्तका विचार करके यह निश्चय करते हैं कि कौन किससे पैदा हुआ और कौन किसमें लीन होता है। लेकिन, यह पैदा होना और लीन होना यह भी बुद्धिके सामने होता है और बुद्धि स्वयं भी पैदा होती और लीन होती है। तो ऐसी अवस्थामें जो साक्षी है उस साक्षीको हम अपने विचारके द्वारा, बुद्धिके द्वारा, अपनी अनुभूतिके द्वारा पता लगानेकी कोशिश करते हैं तब भी साक्षी कितना बड़ा है-लम्बाई-चौड़ाई साक्षीकी कितनी, साक्षीकी उम्र कितनी, कब-से-कब तक साक्षी रहता है, कितनी दूरमें फैला हुआ है और साक्षी असलमें क्या है, उसका स्वरूप क्या है? वह अद्वितीय है कि सद्वितीय है। इस बातका पता नहीं चल सकता। तो जब इस बातका पता लगाना होता है तब सारी इन्द्रियाँ जबाब दे देती हैं, मन जबाब दे देता है, बुद्धि जबाब दे देती है, यहाँ तक

कि साक्षी स्वयं भी यदि अपने आपको देखना चाहता हो तो 'अहं अस्मि'—इतना तो वह जानेगा कि 'मैं हूँ' और वृत्तिका भी साक्षी रहेगा, परन्तु 'अहं नास्मि' ऐसा कभी नहीं जानेगा। साक्षीको कभी यह ज्ञान नहीं हो सकता कि 'मैं नहीं हूँ,' हाँ, बुद्धि-वृत्तिसे तादात्म्य करके वह यह जानेगा कि 'मैं हूँ'। सो भी जाग्रत्-अवस्थामें यह वृत्ति रहेगी, स्वप्नावस्थामें भी रह सकती है, परन्तु सुषुप्ति अवस्थामें 'मैं हूँ' यह वृत्ति भी नहीं रहती है; परन्तु 'मैं नहीं हूँ' यह वृत्ति कभी बन नहीं सकती। तो 'मैं हूँ' इस वृत्तिसे विलक्षण और 'मैं नहीं हूँ' इस वृतितसे भी विलक्षण साक्षीका स्वरूप मालूम पड़ता है। यह विलक्षण जो साक्षीका स्वरूप है यह अद्वितीय है कि सद्वितीय, यह अनन्त है कि सान्त है, यह विभु है कि परिच्छिन्न-यह बात किसी भी युक्तिसे, स्वयं साक्षी भी अपने अनुभवसे अपनी अनन्तताको दृश्य नहीं बना सकता! तब साक्षीकी अनन्तताका ज्ञान कैसे होवे—इसके लिए उपनिषद्‌की जरूरत पड़ती है!

उपनिषद्‌का अर्थ है: **'उप'** माने उपसत्य **'नि'** माने निष्कृष्य, **'षद्'** सदनम् ज्ञानम्;-उपसत्य निष्कृष्य सदनम्।-षद् ज्ञानम्। षद् धातुका अर्थ है: षदलृ विशरण गति-अवसादनेषु।

इसलिए उपनिषद्‌का अर्थ है कि उपसदन पूर्वक अर्थात् सदगुरुके चरणमें बैठ करके निष्कृष्य माने निचोड़ कर; जितने ज्ञान होते हैं—घट-पटादिके, इन्द्रियोंके , मनके, साक्षी-भास्य स्वप्न-जाग्रत्-सुषुप्तिके, पञ्चकोषके, जितने भी ज्ञान होते हैं उन सब ज्ञानोंको निचोड़कर, उन सम्पूर्ण वृत्तियोंको निचोड़ करके-निचाय्य उसमें जो एकरस वस्तु रहती है उसमें षद् अर्थात् अवस्थान, अभेद-रूपसे उसमें अवस्थित होना, उसको जानना कि यह मेरा स्वरूप है। यह उपनिषद् शब्दका अर्थ है।

दूसरे शब्दोंमें, गुरुके चरणोंमें बैठ करके और सम्पूर्ण दृश्य-पदार्थ जितना भी भासता है, ज्ञाता-ज्ञेय जितना भासता है और जितनी भी त्रिपुटी है उसको निचोड़करके उसमें जो एकरस ज्ञान स्वरूप आत्मा है वह यह आत्मा ब्रह्म है, अद्वितीय है—यह बात उपनिषद् बताती है!

बोले कि भाई, और सब ज्ञान तो इन्दियाभास हो जाता है लेकिन जो इन्द्रियोंसे परोक्ष वस्तु होती है उसको बतानेके लिए शब्दकी जरूरत पड़ती है। यह देखनेमें आता है कि कुछ चीजें सूर्यकी रोशनीमें मालूम पड़ जाती हैं और कुछ चीजें चन्द्रमाकी रोशनीमें मालूम पड़ जाती हैं और कुछ चीजोंके लिए

जबानसे बोलकर बताना पड़ता है कि ये अमुक चीज है। तो शब्दसे परोक्ष ज्ञान तो होता देखनेमें आता है परन्तु अपरोक्ष ज्ञान के लिए भी क्या शब्दकी जरूरत है? बोले—हाँ, झट अँगुली रख कर बता दिया कि यह हमारी नाक है और आँखसे नाककी नोक दीख गयी—तो ज्ञान हो गया कि इसका नाम नाक है; जिससें गन्ध मालूम पड़ती है उसका नाम नाक है। तो अपरोक्ष वस्तुका भी शब्दके द्वारा हमारे मनके सहयोगसे, इन्द्रियोंके सहयोगसे, आँखसे देखकर जान लिया, कि इसका नाम नाक है। क्या इस तरहसे आत्माको जान सकेंगे? कि नहीं। जहाँ वस्तु तो साक्षात् अपरोक्ष होवे, परन्तु मालूम न पड़ती हो वहाँ शब्दसे साक्षात् अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है। कोई आदमी सामने बैठा हो और उसका नाम न मालूम हो और किसीने बता दिया कि इसका नाम यह है, तो मालूम हो जायेगा; दस आदमियोंमें-से एक आदमीको गिननेमें भूल हो गयी तो बता दिया—कि दसवाँ तू है तो उसका ज्ञान हो गया! इसी प्रकार यह वेद जो है यह सबको गिननेवाला जो दशम पुरुष है, आत्म-वस्तु है, वह ब्रह्म है, वह अद्वितीय है—यह बात बतानेके लिए उपनिषद् है।

उपनिषद्में हमने देखा कि यह कठोपनिषद् पहले चल, रही थी—यह हृदय उपनिषद् है। यह तैत्तिरियारण्यकमें 'कठक-ब्राह्मण' में मिलती है; 'काठकारण्यक' पुस्तक आजकल मिलती नहीं है और 'काठकब्राह्मण' जो मिलता है उसमें यह कठोपनिषद् है नहीं। परन्तु, इसकी चर्चा इतनी पुरानी है कि ब्रह्मसूत्रमें व्यास भगवान्ने इसके मन्त्रोंको लेकर कई सूत्रोंकी रचना की है; शङ्कराचार्य भगवान्का इसपर भाष्य है; शङ्करानन्दजीने कठोपनिषद्पर सात-सौ श्लोक लिखे हैं—आत्म-पुराणमें; अनुभूति प्रकाशमें विद्यारण्य स्वामीने एक अध्याय ही कठोपनिषद्पर लिखा है; महाभारतके अनुशासन-पर्वमें कई अध्यायोंमें कठोपनिषद्की कथा है। इसका अभिप्राय यह है कि कठोपनिषद् एक सर्वमान्य ग्रन्थ है और बहुत प्राचीन कालसे यह चल रही है। यह किसके लिए है? कि यह हमें हमारा स्वरूप बतानेके लिए है। हमें हमारा स्वरूप बतानेसे क्या लाभ? कि फायदेकी एक बात सुनाते हैं—

देखो, यदि कोई सच्चे साधुको भोग देने लगे तो वह कहेगा कि हम साधु हो करके यह भोग नहीं स्वीकार कर सकते। अच्छा, कोई सच्चे ब्राह्मणको यदि कहे कि आज सन्ध्या-वन्दन मत करो, ताश खेल लो तो वह कहेगा कि मैं ब्राह्मण हो करके सन्ध्या-वन्दनके समय सन्ध्या-वन्दन न करके ताश खेलूँ? मैं तो सन्ध्या-

वन्दन करूँगा। तो देखा, अपनेको ब्राह्मण जाननेका फल यह है कि वह सन्ध्या-वन्दन करे; अपनेको संन्यासी जाननेका फल है कि वह विरक्त रहे; अपनेको सिपाही जाननेका फल है कि वह चौराहे पर खड़े होकर ड्यूटी दे। इसी प्रकार अपनेको यदि कर्त्ता जानोगे तो हमें पाप नहीं करना चाहिए, पुण्य करना चाहिए यह फल निकलेगा; अपनेको यदि भोक्ता जानोगे तो हमें दुःख नहीं मिलना चाहिए, सुख मिलना चाहिए यह फल निकलेगा; यदि अपनेको आप द्रष्टा जानोगे तो संसारसे राग-द्वेषकी निवृत्ति हो जायेगी और यदि कदाचित् आप अपनेको ब्रह्म जान लो तो सारे भेद-भ्रम ही मिट जायेंगे और सारे भेद-भ्रम मिट जाने पर यह प्रान्तीयता और यह साम्प्रदायिकता और यह राष्ट्रीयता सब बेमानी हो जायेंगे।

राष्ट्रीयताको इस समय हम अच्छे अर्थमें प्रयोग नहीं कर रहे हैं; वह राष्ट्रीयता जो एक दूसरे राष्ट्रमें संघर्षकी सृष्टि करती है वह राष्ट्रीयताका व्यामोह है; और यह वाद जो हैं—कम्यूनिज्म और सोशलिज्म और फलाना—जिसके कारण देखो, वियतनाममें लड़ाई होती है! वाद ही के तो कारण होती है न! और यह साम्प्रदायिकता, यह सीमाका मोह—जिनके कारण द्वन्द्वकी और संघर्षकी सृष्टि होती है, वे सारे कारण भेद-भ्रमसे हैं और भेद-भ्रम कट जाता है अपने को अद्वितीय ब्रह्म जाननेसे। केवल मर्त्यलोकके निवासी नहीं, अनन्त-कोटि ब्रह्माण्ड और उनके निवासी सम्पूर्ण मायाकी सृष्टि अपना स्वरूप है, इसमें न कहीं अहङ्कार है, न स्पर्धा है, न राग है, न द्वेष है।

ऐसा जीवन्मुक्त, शान्त-जीवन व्यतीत करनेके लिए, सम्पूर्ण कलहोंसे निर्मुक्ति प्राप्त करनेके लिए, अनर्थोंसे, दुःखोंसे छूटनेके लिए, अपने आपको यह जानना आवश्यक है कि 'मैं कौन हूँ?' इसके बिना अन्धेरेमें भटक रहे हैं, इसके कारण भ्रान्तिमें भटक रहे हैं। क्योंकि अपनेको जाने बिना यह सारा दुःख प्राप्त हो रहा है। तो, अपनेको जानना चाहिए।

और अपने स्वरूपका ज्ञान माने साधारण ज्ञान नहीं—फूलका ज्ञान यह नहीं है, भोजनका ज्ञान यह नहीं है; देखो, नाकके लिए लोग तरह-तरहका इत्र बना लेते हैं, एक तरहका वह भी तो ज्ञान है; जीभके लिए लोग तरह-तरहकी रसोई बना लेते हैं एक तरहका वह भी ज्ञान है; आँखके लिए तरह-तरहकी रूप-छटा लोग दिखाते हैं, तरह-तरहके फैशन चलते हैं, तो वह आँखोंको भोग देनेके लिए एक प्रकारकी रसोई ही तो है न, रूप जो है वह आँख की रसोई हैं; इत्र नाककी रसोई है और हलुआ-पूरी जीभकी रसोई है और कोमल-कठोर त्वचाकी रसोई है

और यह आलाप जो करते हैं न—आ-आ-आ-आ—यह भैरवी और यह निषाद और यह गान्धार—यह सब कानकी रसोई है—कानको तरह-तरहका स्वाद देनेके लिए यह सब कानका भोजन है। यह जो लोग अपना रूप सजाते हैं वे अपने लिए थोड़े ही सजाते हैं वे दूसरेकी आँखोंको तृप्त करनेके लिए सजाते हैं। जैसे परोपकारी लोग बढ़िया-बढ़िया भोजन बना करके दूसरोंके सामने परोसते हों, ऐसे ही लोग सुन्दर-सुन्दर रूप सजाकर दूसरोंके सामने अपने शरीरको परोसते हैं कि देखो, मैं कितना बढ़िया हूँ तुम देखकरके खुश हो जाओ—ये तृप्तिदायक होते हैं। तो यह सारी भोगकी लीला है—कुछ भोगकी लीला अच्छी है, कुछ मोहकी लीला है, कुछ लोभकी लीला है और कुछ क्रोधकी कारस्तानी है, कुछ कामकी क्रीड़ा, कुछ क्रोधकी करामात, कुछ लोभकी लीला, कुछ मोहकी महिमा—इसीसे यह सृष्टि चल रही है।

अपने आपको जानो, अपने आपको जानो तो तुम्हारे हृदयमें शान्ति-ही-शान्ति रहेगी। ऐसी शान्ति जो मनुष्यकी सरल रहनीमें बाधा नहीं डालती है। यह जो बनावटी-मायाकी रहनी, कपटकी रहनी, छलकी रहनी है—यह रहनी सरलतामें बाधा डालनेवाली है और वेदान्त-ज्ञान होनेके बाद जो रहनी है वह सरल रहनी है, वह सहज रहनी है, वह निष्कपट रहनी है, उसमें किसीके प्रति अन्याय नहीं है, किसीके प्रति विद्वेष नहीं है, केवल शान्ति-ही-शान्ति है।

तो यह कठोपनिषद्के पहले अध्यायकी दो वल्ली प्रेम कुटीरमें हो चुकी थी, तीसरी वल्लीके भी दस-ग्यारह मन्त्र हो चुके थे। लेकिन, आपको स्मरण दिलानेके लिए यह बात बाताता हूँ कि तीसरी वल्लीके पहले मन्त्रमें यह बात बतायी गयी है कि जैसे छाया और प्रकाश—ये दोनों एक साथ दिखायी पड़ें तो असलमें छाया नामका कोई तत्त्व नहीं है। आप जानते हैं यह परछाईं जो होती है इसमें कोई वजन नहीं होता; इसका मतलब हुआ कि परछाईं कोई 'मैटर' नहीं है; और उसकी लम्बाई-चौड़ाई नियत नहीं होती, वह रोशनीके साथ बढ़ती और घटती जाती है—ऊपरसे रोशनी पड़े तो परछाईंका पता ही नहीं लगेगा और पीछेसे पड़े, आगेसे पड़े, दाहिनेसे पड़े तो परछाईं लम्बी-चौड़ी सब दीखती है, परन्तु परछाईंमें न लम्बाई है, न चौड़ाई है। अच्छा, परछाईंकी उम्र कितनी है? परछाईं देशवाली मालूम पड़ती है पर वस्तुतः कुछ नहीं है; परछाईं कालवाली मालूम पड़ती है परन्तु परछाईंकी उम्र नहीं है, क्योंकि वह स्वयं कुछ है ही नहीं; इसी प्रकार यह प्रपञ्च, यह आत्मदेव और यह कर्त्ता-भोक्ता-जीव—इन दोनोंमें कर्ता-भोक्ता-जीव छाया है और

स्वयंप्रकाश आत्मदेव आतप हैं, प्रकाश-स्वरूप हैं। ये आत्मदेव इसी परछाईंके साथ एक हो जाते हैं तब परछाईं घट गयी, परछाईं बढ़ गयी, परछाईं कट गयी, परछाईं मर गयी—इसके गुण धर्मको अपने ऊपर आरोपित कर लेते हैं। ब्रह्मवेत्ता लोग इस बातको जानते हैं कि परछाईं लम्बी हो गयी तो हम लम्बे नहीं हुए और परछाईं नाटी हो गयी तो हम नाटे नहीं हुए; परछाईं चौड़ी हो गयी तो हम चौड़े नहीं हुए और परछाईं नहीं दिखती है, अभाव हो गया परछाईंका, तो हमारा अभाव नहीं हो गया। तो यह कर्त्ता-भोक्ता-आभास-रूप जो जीव है उसको छाया कहते हैं और जो द्रष्टा-साक्षी-स्वयंप्रकाश आत्मदेव हैं उसका नाम आतप है, इस बातको विद्वान् लोग जिन्होंने तीन अग्निका चयन किया है वे भी कहते हैं। भौतिक-अग्निको चयन करके उन्होंने भोग-वासनाको नष्ट कर दिया है, योगाग्निका चयन करके जिन्होंने मनकी चञ्चलता मिटा दी है और ज्ञानाग्निका चयन करके जिन्होंने द्वैत-भ्रमको भस्म कर दिया है वे इस बातको जानते हैं; और पाँच अग्नि जलाकरके जिन्होंने पञ्चकोषको भस्म कर दिया है वे भी इसको जानते हैं। वही छाया-रूपसे कर्मफलका भोक्ता होता है और वही परब्रह्म परमात्मा रूपसे शुद्ध अपना आत्मा है।

यदि मनुष्यको अपने आपको नियन्त्रित करके धर्मात्मा बनाना है तो भी संयमाग्निसे अपनेको सेंकना पड़ेगा और यदि अपनेको ब्रह्मरूपमें जानना है तो भी ज्ञानाग्निके द्वारा भेद-भ्रमको भस्म करना पड़ेगा—यह बात दूसरे मन्त्रमें बतायी गयी।

तीसरे और चौथे मन्त्रमें यह बात बतायी गयी है कि यह शरीर रथ है, भोक्ता आत्मा या जीव रथी है, बुद्धि सारथि है और मन बागडोर है; और इन्द्रियाँ घोड़े हैं और विषय जो हैं वे उनके चलनेका स्थान है; तथा जब हम इस शरीरके साथ, बुद्धिके साथ, मनके साथ, इन्द्रियोंके साथ और विषयोंके साथ अपना तादात्म्य जोड़ देते हैं तब उनके गुण-दोषका अपने ऊपर आरोप हो जाता है और हम भोक्ता हो जाते हैं; परन्तु जब हम उनको अपने साथ नहीं जोड़ते हैं तो संसारकी कोई भी वस्तु हमको प्रभावित नहीं कर पाती। यह बात तीसरे और चौथे मन्त्रमें कही गयी।

पाँचवें और छठे मन्त्रमें अन्वय-व्यतिरेकसे यह बात कही गयी कि जो बुद्धिसे परहेज करनेवाला आदमी है और मनको बेलगाम छोड़ देता है उसकी दुष्ट इन्द्रियाँ रूपी घोड़े गन्तव्य तक नहीं पहुँचाते। जो मनको बेलगाम छोड़ देता है उसके लिए कि यह बुद्धिसे परहेज करता है, क्योंकि जब तक मनको सधाओगे

नहीं तब तक क्या होगा कि रास्तेमें चलते हुए मनमें आता है कि यह आदमी हमारे आगे कैसे चल रहा है इसको धक्का दे दें यह गिर पड़े। यह बात बड़ोंके मनमें ही नहीं आती होगी, बच्चोंके मनमें भी आती होगी—आप यदि अपने बचपनपर ध्यान दें तो कभी-न-कभी ऐसी बात मनमें जरूर आयी होगी कि यह जो आदमी हमारे आगे-आगे चल रहा है इसको धक्का दे दें जिससे यह गिर पड़े और हम आगे बढ़ जायँ। अच्छा, मोटर लेकर चलते हैं तो आगे वाली मोटरको पीछे करनेका मनमें आता है कि नहीं आता है? आता है। अच्छा, जो लोग विधान-सभामें और लोक-सभामें जाते हैं क्या उनके मनमें यह नहीं आता है कि हम किसी मिनिस्टरको पछाड़ करके खुद मिनिस्टर बन जायँ? यह मनमें आता है। तो, यह दूसरेको पीछे करके खुद आगे बढ़नेकी बात मनमें क्यों आती है? बोले, अपने मनपर काबू नहीं है—हम अपने मनको बुद्धिके अनुसार नहीं चलाते बल्कि बुद्धिको मनके अनुसार चलाते हैं—आगे-आगे मन चलता है, पीछे-पीछे बुद्धि चलती है।

तो **यस्त्वविज्ञानवान्भवति**—माने जो बुद्धिसे परहेज करता है और मन जिसका काबूमें नहीं है तो उसकी इन्द्रियाँ कहाँसे काबूमें होंगी? वह तो जैसे दुष्ट घोड़े सारथिके काबूमें नहीं होते हैं और मोटर रास्ता छोड़कर चढ़ गयी पटरी पर, ताँगा गिर गया खड्डेमें, ऐसे ही इन दुष्ट इन्द्रियोंके कारण मनुष्यका यह जीवन रथ कुमार्गमें जा गिरता है, गद्ढेमें जा गिरता है और इस तरह मनुष्य पतित हो जाता है। परन्तु **यस्तु विज्ञानवान्भवति**—छठे मन्त्रमें यह बात बतायी गयी कि जो विज्ञानवाला होता है, माने जिसको एक-से-अनेक कैसे होता है, यह बात मालूम होती है। दूसरे शब्दोंमें जिसको कर्म और फलका बोध है कि यह काम करनेसे यह फल मिलता है—इसको विज्ञानवान् बोलेंगे। इसको ऐसे समझो कि मुक्ता-भस्म सर्दी न पैदा कर दे तो इसको ऐसी किसी चीजमें मिलाओ कि जो शरीरमें ठण्ड पैदा न करे—यह मिश्रणका विज्ञान हो गया। यह जो डॉक्टर लोग कई दवा मिलाकरके एक दवा बनाते हैं इसको विज्ञान बोलते हैं।

सब चीजोंको ले जाकर एकमें मिला देना और द्वैत-भ्रमका नाश हो जाना—यह ज्ञान है; और एक चीजसे अनेक चीज कैसे पैदा हुई—यह विज्ञान है। **विज्ञान शिल्पाः**—कारीगरीका नाम विज्ञान है। तो यह दुनियाकी कारीगरी जिसको नहीं मालूम है कि ईश्वरने किस नियमके साथ यह सृष्टि बनायी है वह अविज्ञानवान् है और जो इस नियमको समझता है वह विज्ञानवान् है। देखो, दूसरेका अनभल करोगे तो तुम्हारा भी अनभल होगा, दूसरेको गाली दोगे तो तुम्हें भी गाली खानेको

मिलेगी, दूसरेको मारोगे तो तुम्हें भी कोई मारेगा—यह सृष्टिका विज्ञान है; और यह कि जिस कामके करनेसे मनमें ग्लानि होती है वह काम यदि करोगे तो बादमें मैं दुःखी हूँ यह बात जरूर मनमें आवेगी—यह भी सृष्टिका विज्ञान है। तो, संसारके इस विज्ञानको जानना चाहिए। तो इसलिए, आओ भाई बुरा काम छोड़ दें। कि अरे, बुरे काम ही नहीं, जिस मशीनसे बुरे और भले काम होते हैं, उस मशीनसे ही अपनेको असङ्ग बनाना पड़ेगा—विज्ञानका सच्चा रूप यह है।

तो, विज्ञानवान होवे और मन होवे अपने काबूमें तो इन्द्रिय-रूप-घोड़े भी वशमें हो जाते हैं जैसे सधाये हुए घोड़े सारथिके वशमें रहते हैं। *सारयति अश्वान् इति सारथिः*—जो घोड़ोंको ठीक-ठीक चलावे, उसका नाम सारथि होता है।

सातवें और आठवें मन्त्रमें आनन्दके साथ यह बात बतायी गयी कि जो विज्ञानसे अलग है और मन जिसका वशमें नहीं है और अपवित्र भावनाएँ जिसके अन्दर भर गयी हैं उसको परमात्माकी प्राप्ति नहीं होती, उसको संसारकी प्राप्ति होती है।

संसारकी प्राप्ति होना माने जिसके रहनेका कोई घर न हो—पटरीपर सोता हो और आज पुलिसने उठाया कि यहाँ नहीं सो सकते, तो वहाँसे दूसरी जगह गया और दूसरे दिन वहाँसे भी उठाया गया, तो तीसरे दिन तीसरी जगह गया—रोज-रोज जिसको अपना विस्तर-सोनेकी जगह बदलनी पड़े उसको बोलते हैं संसार। संसार माने संसरणशील, बहती हुई सड़क, जहाँसे अपना विस्तर रोज गोल करना पड़े। एक होटलमें गये, जाकर रहे, फिर विस्तर गोल किया—नारायण! स्त्री छूट गयी, पुत्र छूट गया—जैसे अस्पतालकी नर्स छूट जाती है, जैसे विमानकी सेविका छूट जाती है, वैसे ही संसारकी वस्तुएँ सब छूट जाती हैं। संसार उसको कहते हैं कि यहाँका विस्तर, यहाँका पलंग, यहाँके रिश्तेदार-नातेदार, यहाँके सेवक, यहाँके मालिक सब बदलने पड़ेंगे, ये तुम्हारे साथ हमेशाके लिए जा नहीं सकते। तुम संसारमें रह रहे हो तो क्या तुम जिन्दगी ऐसे ही बिताना चाहते हो? कोई तुम्हारे लिए स्थिर-स्थान नहीं है? तो यदि तुम विज्ञानसे प्रेम नहीं करोगे और अपने मनको एकाग्र नहीं करोगे और अपने जीवनमें पवित्रता धारण नहीं करोगे, तो तुम्हें जो अपना असली घर है, रहनेकी जो जगह है, जहाँ अनन्तकाल तक निवास करना पड़ता है, जहाँ विस्तर बाँधना नहीं पड़ता, जहाँसे कभी अलग होना नहीं पड़ता वह अवस्थान, वह वस्तु तुम्हें नहीं मिलेगी, बस तुमको तो यहाँ से वहाँ, वहाँ-से-वहाँ, रोज जेलका तबादला होता रहेगा। इस जेलसे उस जेलमें, उस

जेलसे उस जेलमें भेज दिया! जेल इसलिए कहते हैं कि वहाँ विवश होकर जाना पड़ता है, जाँ हमलोग रहते हैं वहाँ छोड़ना तो चाहते नहीं हैं, वहाँसे तो प्रेम हो गया, मोह हो गया, वहाँसे तो सम्बन्ध हो गया, लेकिन मजबूर होकरके बेटेको छोड़ना पड़ता है, बहूको छोड़ना पड़ता है, शरीरको छोड़ना पड़ता है, कमायी हुई सम्पत्तिको छोड़ना पड़ता है। इसीका नाम है संसार—**संसरणम् संसारः**—संसरणका नाम संसार है—सरकते जाओ, सरकते जाओ बाबा। वह बोलते हैं न *जहाँमें जगह पाइये, खिसकते-खिसकते चले जाइये*—यहाँ-से-वहाँ, वहाँ-से-वहाँ—इस संसारमें कोई भी जगह हमेशाके रहनेके लिए नहीं है—न स्वर्गमें रहनेके लिए, न नरकमें रहनेके लिए, न घरमें रहनेके लिए, न होटलमें रहनेके लिए—उसको जगह नहीं मिल सकती। क्यों? कि उसको अपने असली स्थानका पता नहीं है—**न स तत्पदमाप्नोति**—उसको उस पदकी प्राप्ति नहीं होती, लेकिन यदि असली विज्ञान हो तो—

यास्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते॥ ८॥

यस्तु विज्ञानवान्भवति—जिसको संसारका अनुभव है—देखो, एक बैलको भी दूसरी जगह ले जाकर दूसरे खूँटेसे बाँध दिया जाता है, तो वह वहाँसे पगहा तुड़ाकरके भाग जाता है; घोड़ेको लोग दूसरेको दे देते हैं तो वहाँसे वह भागकरके फिर अपने मालिकके घर चला आता है। इसी प्रकार ये जो हमारी इन्द्रियाँ हैं, इनको बाहरके किसी भी विषयके साथ ले जाकर यदि बाँधोगे तो ये वहाँ नहीं रह सकतीं, ये लौटकर आयेंगी अपनी जगहपर। अच्छा, बताओ कोई चौबीस घंटे लगातार किसीको देखते रह सकता है? ऐसी आँख बनायी ही नहीं गयी है! अच्छा, बारह घंटे लगातार देखते रह सकते हो? अच्छा, घंटे भरका ही वादा करलो कि घंटे भर हम पलक नहीं गिरायेंगे या आँख नहीं घुमायेंगे—यह विज्ञान है कि नहीं है? यह विज्ञान है कि यदि तुम आँखको विषयमें लगाओगे तो हमेशा नहीं लगाये रह सकते, वह तो एक तनावकी स्थिति है। यदि हम अपनी पलकको खोले ही रखें, खोले ही रखें तो हमारे मनपर, हमारे दिमागपर कितना तनाव पड़ेगा—यह तो तनावकी स्थिति है। आँखको विषयमें लगाना तनावकी स्थिति है और यदि हम आँखको बन्द रखें तो घंटे भर बन्द रख सकते हैं कि नहीं? रख सकते हैं घंटे भर बन्द। विश्राम जो है वह अपने स्वरूपमें स्थित होनेमें है, दूसरेकी मुहब्बतमें पड़करके यहाँ-वहाँ भटकनेमें मनकी शान्ति नहीं है। यही कानका

विज्ञान है, यही नाकका विज्ञान है जीभका विज्ञान है, यही मनका विज्ञान है— इसीका नाम विज्ञान है। तुम अपनेसे बाहर किसी भी चीजके साथ यदि चाहो कि हम अपने मनको, अपनी बुद्धिको, अपनी इन्द्रियको, अपने हाथको, अपने पाँवको बाँधकरके रखेंगे, तो नहीं रख सकते—यह संसारका विज्ञान है! संसारका विज्ञान यह है कि बिना आत्मनिष्ठ हुए शान्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती और अपने आपको अद्वितीय जान लेनेपर भ्रमकी निवृत्ति हो जाती है।

तो न कहीं दुःख है, न कहीं सुख है; न कोई शत्रु है, न कोई मित्र है; न कोई अपना है, न पराया है; न कहीं आना है, न कहीं जाना है। **समनस्का**—अपने मनको अपने हाथमें रखो! **सदा शुचिः**—हमेशा पवित्र होकरके रहो। पवित्र होकर रहना क्या है? कि पवित्र होकर रहना यह है कि अपने अपरिच्छन्न स्वरूपके साथ और कोई भी दूसरी चीज मत मिलाओ—न धन, न जन; न स्त्री, न पुत्र; न मकान, न प्रान्तीयता। ये जितनी भी परिच्छिन्न वस्तुएँ हैं—जातीयता, साम्प्रदायिकता, राष्ट्रीयता, मानवता, ब्रह्माण्डीयता। कुछ अपने साथ मत मिलाओ। मायिकको अपने साथ मत मिलाओ, मायाको भी अपने साथ मत मिलाओ, तब तुम पवित्र हो! पवित्र तुम तब हो जब अद्वितीय हो— अद्वितीयता ही पवित्रता है! बस, जहाँ अद्वितीयताका बोध हुआ—

स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते—वैसे ही उस पदकी प्राप्ति हो गयी जहाँसे फिर विस्तर उठाना नहीं पड़ता, कहीं जाना-आना नहीं पड़ता, पोशाक बदलनी नहीं पड़ती! ऐसी पोशाक मिल गयी-लोग ऐसा कपड़ा बनानेके ख्यालमें हैं जो जिन्दगीमें फटे नहीं, जो मैला न हो, जिसको धुलाना न पड़े—खोज हो रही है ऐसे कपड़ेकी। आजकलका वैज्ञानिक ऐसे कपड़ेकी खोज कर रहा है, जिसमें आग न लग सके, जिसमें मैल न लग सके, जिसमें सल न पड़े और जो जल्दी फटे नहीं। अरे, तुम कपड़ेकी खोज कर रहे हो, तुम तो स्वयं ऐसे हो जिसमें कभी सल न पड़े, जिसमें मैल न लगे, जिसको कहीं आना-जाना न पड़े, अपने स्थानपर ही परिपूर्ण, आत्मनिर्भर, स्वावलम्बी, अपने गाँवमें ही स्वावलम्बी-प्रत्येक गाँव स्वावलम्बी! कि यह कैसे होगा? कि अपने आपको जानो। **सदा शुचिः स तु तत्पदमाप्नोति**-जहाँसे फिर जन्म नहीं लेना पड़ता, वह स्थिति तुम्हें प्राप्त हो जायेगी!

इसीसे बताया नवें मन्त्रमें—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः।
सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णो परमं पदम्॥ ९॥

देखो, अपने जीवनका सारथि बनाओ विज्ञानको, बुद्धिको—मूर्खता-पूर्ण काम मत करो। मूर्खतापूर्ण काम क्या है कि अपनेको किसी स्थानके साथ, किसी वस्तुके साथ, किसी व्यक्तिके साथ, किसी परिस्थितिके साथ बाँध देना—इसके बिना तो हम रह ही नहीं सकते!

एक आदमीको बुखार आया, रो रहा था कि अब हम नहीं बच सकते, अब नहीं बच सकते, अब नहीं सहा जाता, अब सहा नहीं जाता। महात्माने कहा कि देखो, बचे हुए हो, तभी तो बोल रहे हो, और सह रहे हो यह बात भी बिलकुल प्रत्यक्ष है, क्यों अपने मनको कमजोर करते हो?

श्रीरामानुजाचार्यजीने कहा है कि ऐसी कोई परिस्थिति नहीं है जिसको अबतक हमने सहकर देख न लिया हो—हमने जन्म सहे हैं, हमने मृत्युएँ सही हैं, हमने नरक सहे हैं, हमने कीड़े-मकौड़ेकी योनियाँ सही हैं—ऐसी कोई परिस्थिति नहीं है जिसका हमने सहन न किया हो—पत्नीको मरते देखा, पतिको मरते देखा, बेटेको मरते देखा, धनको जाते देखा, बन्धुओंको, दोस्तोंको बिछुड़ते देखा—ऐसी कौन-सी स्थिति है जिसको हमने सह न लिया हो, देख न लिया हो। तो बाबा, अपने विज्ञानको सारथि बनाओ न! यह तो तुम्हारे जीवनका विज्ञान है कि तुमने कितनोंको छोड़ दिया है, कितनोंको पा लिया है, कितनोंके बिना रह चुके हो, क्या-क्या सह चुके हो, विज्ञान है—तुम्हारी बुद्धिको संसारके सम्बन्धमें बड़ा भारी विज्ञान प्राप्त हुआ है, इसका फायदा उठाओ—किसी स्थानमें, किसी वस्तुमें, किसी व्यक्तिमें, किसी परिस्थितिमें अपने-आपको आबद्ध मत करो—

मनःप्रग्रहवान्नरः—मनकी बागडोर बनाओ।

सोऽध्वनः पारमाप्नोति—अब तुम्हारे लिए रास्ता नहीं रहेगा। रास्ता नहीं मार्गका पार। मार्गका पार वह नहीं है जहाँ हमको पहुँचना है, मार्गका पार वहाँ है जहाँसे हम चलते हैं—इतनी ही बात तो समझनी है—संकल्प जिसके लिए होता है, वहाँ पहुँचना नहीं है, संकल्प जिसमें उठता है उसमें रहना है! मार्गका अन्त कहाँ है कि जहाँसे मार्ग शुरू होता है। रास्तेका आखिर कहाँ है कि जहाँ रास्तेका प्रारम्भ है।

एक आदमीको प्यास लगती है, लोटा-डोर माँगता है, कुँएमें-से पानी खींचता है और पीता है—कहाँ पहुँचा कि वहीं पहुँचा जहाँ उसका एक मित्र था। जिसको प्यास लगी ही नहीं थी और अपनी जगहपर बैठा था! प्यास लगी, लोटा-डोर लाये, पानी खींचा, पीया; दुकानपर गये, नारियल खरीदा, पीया और

एक आदमीको नारियल पीनेकी इच्छा ही नहीं हुई। तो, पीनेकी तृप्ति होनेके बाद वह कहाँ पहुँचा कि जहाँ वह बैठा है जिसको पीनेकी इच्छा ही नहीं हुई।

सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम्॥

उध्वनः पारम्—रास्तेका पार, जहाँ जाकरके चलना शेष नहीं रहता। वह स्थान किसको मिलता है? कि जो विज्ञान-सारथि है, जो विचार-पूर्वक अपनी यात्रा प्रारम्भ करता है; अपने मनको काबूमें रखकरके यात्रा करता है; उसको तो रास्तेका परला-पार मिल जाता है। वह परला-पार आखिर है क्या? कि जहाँ विष्णु भगवान् सोते हैं—**तद्विष्णोः परमं पदम्**—विष्णुपना जिसको छोड़करके कहीं दायें-बायें-आगे-पीछे आता-जाता नहीं है—विष्णु भगवान् जिस अधिष्ठान पर सोते हैं; जिस अधिष्ठानमें विष्णु, भगवान्‌का उदय-विलय होता है, वह विष्णु. भगवान्‌का परमपद है।

विष्णुके चार पद हैं—विश्व-पद, तैजस-पद, प्राज्ञ-पद और तुरीय-पद। **परमं पदम्** माने पदमें जो परला है माने तुरीय है! यह विष्णु शब्द जो है इसका अर्थ होता है कि जो सारी-दुनियाको घेरे हुए है, उसको विष्णु बोलते हैं—*बेबेष्ठि विश्वं*— जैसे वेष्ठन पुस्तकको लपेट करके अपने भीतर रखता है। वेष्ठन बड़ा होता है और पुस्तक छोटी होती है। इसी प्रकार यह जो दृश्य प्रपञ्च है इसको पुड़ियामें लपेटकर दवाकी तरह जिसने अपने भीतर रख छोड़ा है, वह है विष्णु, जैसे घोड़ेको मिट्टी, जैसे तरङ्गको पानी, जैसे लपटको आग, जैसे साँसको हवा, जैसे घटाकाशको महाकाश, जैसे दृश्यको द्रष्टा घेरे हुए है, जैसे शान्तको अनन्त घेरे हुए है, जैसे सादिको अनादि घेरे हुए है, ऐसे ही यह अपना स्वरूप जिसके बाहर दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं, उसका नाम है विष्णुका परमपद; अगर उसकी उपलब्धि हो गयी, अपने स्वरूपके रूपमें जान लिया तो न कहीं आना है, न कहीं जाना है, न उठना है न बैठना है, न अपना है, न पराया है, सब कुछ ज्यों-का-त्यों परमात्माका स्वरूप ही है।

विष्णुके परम पदका स्वरूप-प्रत्यगात्मा

अध्याय-१ वल्ली-३ मंत्र-१०-११

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥ १.३.१०.११

अर्थ–इन्द्रियोंसे पर (सूक्ष्म, महान एवं उनका प्रत्यगात्मा स्वरूप) उनके 'अर्थ' हैं; अर्थोंसे पर 'मन' है; मनसे पर 'बुद्धि' है; बुद्धिसे पर 'महान आत्मा' महत्तत्त्व है॥ १०॥ महत्तत्त्वसे पर 'अव्यक्त है;' अव्यक्तसे पर 'पुरुष' है; पुरुषसे पर कुछ नहीं है। वही परमत्वकी सीमा है। वही परम गति (परम पद) है॥ ११॥

मनुष्य जब सत्सङ्गकी व्यस्ततासे मुक्त होता है तब उसको कहीं मर्सिया बनानेकी व्यस्तता आती है कि आज फलाने मर गये और आज उनका एक्सीडेण्ट हो गया और आज उनके ब्याह पड़ गया ! सत्संगकी व्यस्तता नहीं रहेगी तो संसारकी व्यस्तता तो रहेगी ही; व्यस्ततासे तो तुम कभी मुक्त नहीं हो सकते, कोई-न-कोई काम-धन्धा तो करना ही पड़ेगा! अरे, कानसे सत्सङ्ग नहीं सुनोगे तो पड़ौसीकी बात तो सुननी ही पड़ेगी? कानतो खाली रहेंगे नहीं, कुछ-न-कुछ सुनना ही पड़ेगा?

तद्विद्वांसो विपण्यवः जागृवान् समिन्धते।

जागृत्वान्का अर्थ है जागते हुए। जाग जाग रे फक्कीराके बालक!—जागो जागो फकीरके बालकों जागो। क्यों जागें? कि देखो-देखो। क्या देखें महाराज? कि तद्विद्वांसो-उसको देखो, उसको पहचानो। उसको किसको? कि यह जो हजारोंमें, लाखोंमें एक है उसको। वही है तत्। जैसे लोग अपने प्रियतमका वर्णन करते हैं न कि हमारा प्रियतम तो लाखोंमें एक है, हजारोंमें एक है; उसी प्रकार तत् वह है जो हजारोंमें, लाखोंमें, करोड़ोंमें, सबमें-सबमें एक ही है। वह तत् कैसे दिखयी पड़ता है? कि विपण्यवः-विपण्यवःका अर्थ है पैनी, जिनकी बुद्धि पैनी

है वही देख पाते हैं; परन्तु जिनका मन काम-धन्धेमें, व्यवहारमें रच-पच जाता है उनको उसका पता नहीं चलता! माने जरा उस एकताकी ओर अपनी आँख ले चलो तब मालूम पड़ेगा।

तद्विष्णोः परमं पदम्।

अब प्रश्न यह हुआ कि यह जो विष्णुका परमपद है इसके अनुभवकी प्रणाली क्या है, किस ढंगसे हम इसका अनुभव करें? उसको ढूँढनेके लिए हम वैकुण्ठमें जायें कि गोलोकमें जायें कि साकेतमें जायें कि कैलाशमें जायें कि समाधिमें जायँ- क्या करें? देश-परिच्छिन्न है वैकुण्ठ आदि और काल-परिच्छिन्न हैं समाधि आदि और क्रिया-परिच्छिन्न हैं, स्वर्ग-नरकादि, स्वर्ग-नरकका लगाव है। कर्मसे और समाधिका लगाव है उतने काल तक प्रपञ्चका दर्शन न होनेसे और स्वर्ग-नरकादि कर्मसे परिच्छिन्न होते हैं; तो परमात्माको कहाँ ढूँढें? कि बाबा, जरा भीतर तो आ! उस विष्णु-पदके अनुभवकी प्रणाली यह है कि आँखसे भीतर अर्थ, अर्थसे भीतर मन, मनसे भीतर बुद्धि, बुद्धिसे भीतर महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे भीतर अव्यक्त-बीजात्मक सत्ता और उससे परे प्रत्यगात्मा और उससे विलक्षण अपना आपा और इससे विलक्षण कुछ नहीं। अर्थात् विष्णुका परमपद कौन? बोले कि अपना आपा। ये दो मन्त्र(१०-११) यह बतानेके लिए हैं कि विष्णुका परमपद कौन, अपना आत्मा ही विष्णुका परमपद है!

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः॥ १०॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥ ११॥

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः—यहाँ 'पर' शब्दका जो अर्थ है वह है-सूक्ष्म; 'पर' शब्दका अर्थ है कारण, 'पर' शब्द का अर्थ है प्रत्यक्तम्-अन्तरङ्ग, परका अर्थ है प्रकाशक।

पिपर्ति इति परः—*प्रिञ् पालनपोषणयोः*—जो सामने वालेका पालन करे और सामनेवालेको पूर्ण करे, उसको बोलते हैं 'पर'।

अब जरा इन्द्रियोंके गोलककी ओर ध्यान दो। यह आँख है; यह आँख और कुछ नहीं है, जैसे फूल खिलता है न, धरतीमें वैसी है बस! गुलाबके एक बीजको धरतीमें डाल दो, तो धरतीमें पड़ा बीज गुलाबके रूपमें खिलेगा; ऐसे ही यह शरीर तो है धरती और इसमें कोई आँखका बीज है, कोई कानका बीज है, कोई नाकका

बीज है, ये बीज खिल-खिलकर इन्द्रिय गोलक बन गये हैं। कनेरके फूलकी तरह नाक बन गयी, गुलाबके फूलकी तरह आँख बन गयी, कमलके फूलकी तरह कान बन गये, तो यह जैसे धरतीमें फूल खिलते हैं वैसे ही हमारे शरीरमें ये फूल खिले हुए हैं।

अब, ये इन्द्रियाँ जिस धातुमें हैं वह धातु कौन-सी है? कि उसको अर्थ बोलते हैं, वह तत्त्व है; उन पञ्चभूतको देखो, जिसमें ये इन्द्रियोंके फूल खिलते हैं, वह पञ्चभूत कौन-सा है? कि जैसे गन्ध-प्रधान पृथिवी, रस-प्रधान जल, रूप-प्रधान तेज, स्पर्श-प्रधान वायु और शब्द-प्रधान आकाश होता है, तो उसमें ग्राह्य और ग्राहक दो भेद हो जाते हैं—जो ज्ञान-प्रधान है सो ग्राहक है और जो जड़-प्रधान है वह ग्राह्य है। तो जड़ शब्द ग्राह्य है जो जन-शब्दके द्वारा गृहीत होता है—माने आकाशके दो भेद हैं-एक ग्राहक आकाश और एक ग्राह्य आकाश ग्राह्य-आकाशका नाम शब्द है और जिसमें ज्ञान आरूढ़ हो जाता है वह ग्राहक आकाश है। चैतन्य जिसमें स्फुट हो गया, वह ग्राहक आकाश हो गया—कान बन गया और जिसमें चैतन्य-स्फुट नहीं रहा, वह ग्राह्य आकाश, जड़ शब्द बन गया। वैसे चैतन्य तो दोनोंमें है परन्तु एक जगह ग्राह्याकाशरूपसे स्फुरित चैतन्य है और एक जगह ग्राहकाकार रूपसे स्फुरित चैतन्य है। तो एक शब्द है और एक अर्थ है। शब्द कानसे सुना जाता है; तो कानमें शब्दको सुननेकी जो शक्ति है और शब्दमें जो सुनायी पड़नेकी शक्ति है यह दोनों किसमें? कि वह चैतन्य-युक्त आकाशमें, आभास-युक्त आकाशमें। आभास-युक्त-आकाशको ही जीव बोलते हैं, इसके अतिरिक्त जीव और क्या होता है?

इन्द्रियेभ्यः पर ह्यर्था—इन्द्रियोंसे परे अर्थ है। 'अर्थ' शब्दके दो अर्थ संस्कृत-भाषामें प्रसिद्ध हैं—(१) अर्थ माने पूँजी-पैसा; यह अर्थ तो आप जानते ही हैं। अर्थशास्त्री लोग जिसको अर्थ बोलते हैं— पूँजी-पैसा। *अर्थ्यते इति*। जिसको लोग चाहें उसका नाम अर्थ। अर्थ माने वाञ्छाका विषय—अर्थ्यते। ***अर्थनीयः येन वस्तुना मनुष्यः अर्थी भवति***—जिस वस्तुको देखकरके मनुष्य अर्थी हो जाता है कि यह हमको मिले, यह हमको मिले—वह अर्थ है।

'अर्थ' शब्दका दूसरा अर्थ होता है—जो बदलता रहे। ***ऋगतौ*** से ***अर्थो गच्छति***— जो बदलता रहे—उसको अर्थ बोलते हैं। असलमें अर्थशास्त्रकी मर्यादा भी 'अर्थ' शब्दके इसी अर्थ पर अवलम्बित है—जो चलता-फिरता रहे सो अर्थ (करेंसी) और जो घरमें गड़ा रहे सो अर्थ नहीं व्यर्थ बैंकमें रहे और चले;

कारखानेमें रहे और चले—एक घरसे दूसरे घरमें जाय, एक दुकानसे दूसरी दुकानमें जाय, एक हाथसे दूसरे हाथमें जाय तब तो वह अर्थ और यदि धरतीमें गाड़ दिया जाय, तिजोरी में रख दिया जाय तब वह अर्थ नहीं रहा, तब वह व्यर्थ हो गया, अनर्थ हो गया। जो एक जगह रखनेपर अनर्थका कारण होवे वह अर्थ नहीं है, जो चलता-फिरता रहे, जो भोग और धर्मका कारण होवे, उसको अर्थ कहते हैं।

(२) अब अर्थ शब्दका एक दूसरा अर्थ देखो—अर्थ माने जिसमें इन्द्रियोंके अङ्कुर निकलते हैं वह बीज-समष्टि।

यह विष्णुका परमपद क्या है, कहाँ है? तो बोले कि

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महात्परः॥ १०॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥ ११॥

ये कहते हैं कि वह विष्णुपद यह पुरुष ही है—यही इस प्रसङ्गका सार है, गुर है। अगर आप किताब पढ़कर यह बात समझ लेते हैं तो बहुत बढ़िया और अगर किताब पढ़कर यह बात आपकी समझमें नहीं आती तो प्रवचन सुनिये कि 'तद्विष्णोः परमं पदं' क्या है? बोले कि—

पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः।

यह पुरुष ही पराकाष्ठा है, यह पुरुष ही परागति है, इस पुरुषसे परे और कुछ नहीं है। अर्थात् **विष्णो परमं पदम् पुरुष एव**—इसका अर्थ यह हुआ कि विष्णुका परमपद यह पुरुष, यह आत्मा, यह अपना मैं ही है। विष्णुका परमपद लखानेके लिए ही ये दो मन्त्र प्रवृत्त हुए हैं।

अच्छा भाई, आत्मा तो सन्निहित है, बिलकुल पास, अरे पास कहना भी आत्माको दूर बताना है, जो अपना आपा ही है उसको पास क्यों बताना? हम यह थोड़े ही कहते हैं कि हम अपने पास हैं? कोई मित्र होता है तो कहते हैं कि हमारे पास है, धन होता है तो कहते हैं कि हमारे पास है, हम खुद होते हैं तो यह थोड़े ही कहते हैं कि हम हमारे पास हैं? तो, यह विष्णुका परमपद हमारे पास ही नहीं है, खुद हम ही हैं, यह बात बतानेके लिए ये दोनों वेद-मन्त्र हैं।

अब आपको मन्त्रारूढ़ करते हैं। मन्त्रारूढ़ करते हैं माने अपने आपको जो हमने गलत समझ लिया है कि मैं देह हूँ, मैं मन हूँ, मैं इन्द्रिय हूँ, मैं बुद्धि हूँ, मैं

भूत-सूक्ष्म हूँ, मैं अव्यक्त हूँ, ऐसी जो अपने बारेमें गलतफहमी हो गयी है उस गलतफहमीको दूर करनेके लिए यह विज्ञान है, यह ज्ञान है। तुम अपना ही अता-पता भूल गये हो, तुम हो विष्णुके परमपद, परागति, पराकाष्ठा—तुमसे परे कुछ नहीं, ऐसी तो तुम्हारी महिमा, ऐसा तो तुम्हारा स्वरूप और तुम अपने इस महामहिम स्वरूपको छोड़करके दीन हो रहे हो। तुम हो सम्राट् और अपनेको समझ रहे कंगाल, हो परिपूर्ण और अपनेको समझ रहे परिच्छिन्न, हो अकाल और समझ रहे मरने-जननेवाला, हो चैतन्य समझ रहे जड़, हो निष्पाप समझ रहे पापी! तुम निर्मल हो, तुममें न पाप है, न पुण्य है। सबसे निर्मल, ऐसा अपना स्वरूप, तुम ब्रह्म हो परन्तु अपने ही बारेमें ऐसी गलतफहमी हो गयी है! यह गलती है माने *गलन्ति* है वैसे ही जैसे शरीरमें गलित कुष्ठ हो जाता है, तो आवो इसपर विचार करें!

इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था—यह संसारमें जो विषय दिखते हैं इनसे परे कौन है, कि इनसे परे इन्द्रियाँ हैं—**इन्द्रियाणि पराण्याहुः**। इन्द्रियोंसे परे कौन? कि अर्थ। यह गीताप्रेसवाली (कठोपनिषद् भाष्यवाली) पुस्तककी हिन्दीमें 'अर्थ' शब्दका जो अर्थ लिखा है—विषय, वह गलत है। 'इन्द्रियोंके परे अर्थ है'— इस वाक्यमें 'अर्थ' शब्दका अर्थ विषय नहीं है, इन्द्रियोंका उपादान है—तन्मात्राएँ—यह शांकरभाष्यमें बिलकुल स्पष्ट है, अनुवादकने वह समझा नहीं है।

स्थूलानि तावत् इन्द्रियाणि तानि यैरर्थैरात्मप्रकाशनाय आरब्धानि तेभ्यः इन्द्रियेभ्यः स्वकार्येभ्यस्ते परा ह्यर्थाः।

जिन उपादानोंसे अपनेको प्रकाशित करनेके लिए इन्द्रियाँ जाहिर हुई हैं उन अपने इन्द्रिय-रूप-कार्यसे अर्थ परे है। माने विषय तो वह है जो बाहर हमें शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध दिखायी पड़ता है और इन्द्रिय वह है जिससे दिखायी पड़ता है। इन्द्रियाँ जिस मशालेसे बनी हैं उस मशालेका नाम अर्थ है, इन्द्रियोंसे जो दिखता है उसका नाम अर्थ नहीं है। गीताप्रेसवाली पुस्तकमें अर्थ शब्दका अर्थ विषय किया गया है—यह बात हमको कल प्रबुद्धानन्दने उस समय बतायी जब मैं यहाँसे इसका अर्थ करके गया।

तो—**इन्द्रियेभ्य पराह्यर्था**—अब जरा इन्द्रियोंकी बात भी आपको सुनावें, क्योंकि ब्रह्मकी बात आप बहुत सुनते हैं, थोड़ी इन्द्रियोंकी बात भी सुननी चाहिए।

किसी भी एक धातुमें जब अनेक नामवाले अनेक रूप बनते हैं और

अनेक कार्य करते हैं तब उनके बारेमें सोचना पड़ता है कि ये 'बाईचान्स' (आकस्मिक) बन गये हैं कि बनाये गये हैं? देखो, एक ही शरीरमें आँख रूपका ज्ञान देती है, नाक गन्धका ज्ञान देती है और कान शब्दका ज्ञान देता है—पूछो उन लोगोंसे जो एक ही सत्ता सारी सृष्टिमें मानते हैं—जड़-रूप या चेतन-रूप उनके मतमें ये ज्ञानके पाँच प्रकार कैसे पैदा हुए? अपने आप ही पैदा हो गये? तो सब मनुष्योंके पाँच ही क्यों होते हैं? चार क्यों नहीं होते, छह क्यों नहीं होते? तो, यह ज्ञानकी प्रणाली पाँच ही क्यों?

इनके लिए देखो 'इन्द्रिय' जो शब्द है उसका अर्थ है कि यह इन्द्रकी माया है, *इन्द्रस्य इति इन्द्रियः*—इन्द्रकी है इसलिए इसका नाम इन्द्रिय है—**इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते** इन्द्र अपनी मायासे अनेक रूप मालूम पड़ता है—इसीका नाम इन्द्रिय है। माया माने इन्द्रिय और इन्द्रिय माने माया। **इन्द्रो मायाभिः**—यह जो हमारे साथ चोला लगा है न—जैसे कोई बाजीगर शेरके रूपमें मंचपर आकर प्रकट हो जाये तो उसने शेरकी पोशाक पहन रखी है, ऐसे ही यह इन्द्र जो परमात्मा है यह मायाका पचरंगा चोला पहनकरके—पाँच इन्द्रियोंका चोला पहनकरके हृदय-मंचपर प्रकट हो गया है।

अच्छा, अब यह प्रश्न उठाते हैं कि एक धातुमें अनेकताके प्रकट होनेका हेतु क्या है? देखो, जब एक सोनेसे बहुत जेवर बनाते हैं तब सुनारका कर्म उसमें हेतु होता है कि नहीं? एक ही साँचेमें सोनेको ढालते जाओ, कंगन निकलते आवें, कुण्डल निकलते आवें, हार निकालते आवें, तो उसमें सुनार का प्रयत्न है कि नहीं? कुम्हारके प्रयत्नसे एक ही माटीमें-से अनेकों खिलौने और बर्तन निकलते हैं, लोहारके प्रयत्नसे एक ही लोहेमें-से अनेकों औजार निकलते हैं, ऐसे ही यह इन्द्रका प्रयत्न हैं जिससे हमारी इन्द्रियाँ तरह-तरहकी बनी हुई हैं, माने इन्द्रके कर्मसे बनी हुई हैं।

इन्द्रका कर्म क्या है? तो आप यह तो जानते ही हैं कि हाथसे कर्म होता है और उसका देवता है इन्द्र। तो जैसे-जैसे इन्द्रके कर्म हैं—देखनेकी इच्छा पूरी करनेके लिए जो प्रयत्न है उस प्रयत्नसे पंचभूतमें आँख बनी बौर सुननेकी इच्छा पूरी करनेके लिए जो प्रयत्न है उस प्रयत्नसे पंचभूतमें कान बने और छूनेकी इच्छा पूरी करनेके लिए जो प्रयत्न है उससे त्वचा बनी और सूँघनेकी इच्छा पूरी करनेके लिए जो प्रयत्न है उससे नाक बनी और स्वाद लेनेकी इच्छा पूरी करनेके लिए जो प्रयत्न है उससे रसना बनी। बिना प्रयत्नके जड़-पंचभूतमें पाँच प्रकारके गोलक नहीं बन सकते।

अब बोले कि भाई यह स्वाद लेनेकी, सूँघनेकी, छूनेकी, देखनेकी और सुननेकी—यह तरह-तरहकी इच्छाएँ कहाँसे आयीं? तो बोले कि इच्छा तो तब देखनेमें आती है जब पहलेसे संस्कार रहता है। संस्कार पहलेसे हो तब इच्छाका उदय होता है। तो बोले कि पहलेके संस्कार हैं, कि पहलेके संस्कार कबसे? आदि संस्कार कबके? बोले भाई, जरा पहले कालके विषयमें विचार करो। यदि तुम पहला काल पकड़ लोगे तो पहला देश और पहली वस्तु भी पकड़में आ जायेगी। तो बोले कि पहला काल तो पकड़में नहीं आता, कालका भूत तो पकड़में नहीं आता। भूतकी आदि तो पकड़में नही आती। तब बोले कि भाई, कर्मसे संस्कार, संस्कारसे इच्छा, इच्छासे कर्म और फिर कर्मसे संस्कार, संस्कारसे-कर्म—ये ही शरीर और इन्द्रियोंका निर्माणके हेतु हैं, इसीसे इन्द्रिय-पदकी व्युत्पत्ति है। व्याकरणकी रीतिसे।

इन्द्रसृष्टं, इन्द्रदत्तं, इन्द्रजुष्टं इन्द्रियम् इन्द्रने—माने कर्मके देवताने जिसको बनाया, कर्मके देवताने जिसको दिया, कर्मका देवता जिसके साथ जुड़ गया—उसको बालते हैं इन्द्रिय।

तो विषय जिससे मालूम पड़ते हैं उसको इन्द्रिय कहते हैं और विषयोंमें हम परिवर्तन जिससे करते हैं उसका भी नाम इन्द्रिय है। कैसे? कि हाथसे पकड़ लिया और उठाकर यहाँसे वहाँ रख दिया—यह गणेशका चित्र दीखता है और हाथसे उठाकर इसको उलट दिया तो दीखना बन्द हो गया और इधर सीधा कर दिया तो फिर दीखने लग गया—तो यह हाथ भी तो इन्द्रिय है न! पाँवसे चलते हैं, हाथसे पकड़ते हैं, जीभसे बोलते हैं—ये सब इन्द्रिय हैं।

अब ये जिससे बने हुए हैं उनकी तरफ दृष्टि डालो। स्थूल पंचभूतोंमें इन्द्रियाँ नहीं बनतीं—स्थूल पंचभूतोंमें जो गुण हैं—शब्द, स्पर्श,. रूप, रस, गन्ध उनको तो इन्द्रियाँ प्रकाशित करती हैं, परन्तु जिनमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध मालूम पड़ते हैं, वे भूतसूक्ष्म हैं। माने भूतोंमें दो विभाग हैं— एक ग्राह्य-भूत और एक ग्राहक-भूत। ग्राह्य भूतके आश्रित विषय हैं और ग्राहक-भूतमें इन्द्रियाँ बनी हैं। ग्राहक भूत सूक्ष्म हैं, उनको पंच-तन्मात्रा बोलते हैं कि तन्मात्र शब्दका अर्थ है संस्कृतमें *तदेव इति तन्मात्रम्*—केवल वही, वही, वही। जरा इसका मजा देखो। यह जो हम कागज देखते हैं, इसका स्पर्श त्वचासे मालूम पड़ता है और इसमें गन्ध होगी तो नाकसे मालूम पड़ेगी और इसका रूप आँखसे मालूम पड़ता है और चखेंगे तो कुछ स्वाद भी मालूम पड़ेगा। तो इसमें तो पाँचों चीज हुईं न? लेकिन

इन्द्रियाँ तो एक-एक विषयको ही बताती हैं जैसे कि जीभ केवल स्वादको ही बता सकती है, तो इस कागजमें इस चित्रमें तो पाँचों भूत हैं लेकिन स्वाद लेनेवाली इन्द्रियमें पाँचों भूत नहीं हैं, उसमें केवल (रस तन्मात्रा) ग्राहक रस है। अब यह प्रश्न आया कि चित्रमें तो पाँचों भूत हैं और इन्द्रियों में केवल एक-एक ही भूत हैं इसका क्या मतलब हुआ? जीभ क्यों नहीं गन्ध बताती और नाक क्यों नहीं स्वाद बताती? आँख क्यों नहीं स्पर्श बताती और त्वचा क्यों नहीं रूप बताती? और हैं तो इनमें पाँचों। तो, इसका मतलब हुआ कि विषयमें तो पाँचों मिले हुए हैं—यह वेदान्तकी प्रक्रिया है—पञ्चीकृत पंचमहाभूतसे यह चित्र बना है और अपञ्चीकृत पंचमहाभूतसे इन्द्रियाँ बनी हैं। अपंचीकृत पंचमहाभूतको ही तन्मात्र बोलते हैं—तन्मात्र बोलना माने जहाँ पृथिवी पञ्चीकृत न होवे, अपञ्चीकृत होवे, उसको तन्मात्र बोलते हैं। उसमें भी तीन अंश होता है—सात्त्विक, राजस, और तामस। सात्त्विक-पृथिवी-तन्मात्रसे ज्ञानात्मक इन्द्रियाँ बनती हैं, राजससे क्रियात्मक और तामससे द्रव्यात्मक। यह शरीर जो है यह तामस है और कर्मेन्द्रियाँ जो हैं वह राजस हैं और आँख आदि जो हैं ये सात्त्विक हैं तो पृथिवी तीन भागमें विभक्त हो गयी—(१) पञ्चीकृत पृथिवी जिसमें आठ आना (१/२ भाग) पृथ्वी, दो आना (१/८ भाग) जल, दो आना अग्नि, दो आना वायु और दो आना आकाश भूतोंके तामस अंशोंका मिश्रित रूप पंचीकृत रूप है—यह द्रव्यात्मक है। इस पञ्चीकृत पृथिवीसे तो शरीर और पञ्चीकृत पृथिवीमें ये गन्ध आदि विषय बनते हैं। (२) अपञ्चीकृत पृथ्वी उसके सात्त्विक अंशसे मन और प्राण, इन्द्रिय अपञ्चीकृत-भूत-सूक्ष्मके सात्त्विक अंशसे बनते हैं। लेकिन इन्द्रियोंमें एक-एक, अपञ्चीकृत पंचभूत रहता है जबकि मनमें पाँचों भूतोंके-सात्त्विक अंश रहते हैं, अपंचीकृत पंचभूतका सात्त्विक एक-एक अंश रहता है इन्द्रियोंमें—पृथ्वीका सात्त्विक अंश नासिकामें; जलका सात्त्विक अंश जिह्वामें, लेकिन मनमें पाँचों भूतोंके अपञ्चीकृत सात्त्विक अंश रहते हैं, इसीसे मन गन्धसे भी प्रेम करता है, रूपसे भी प्रेम करता है, रससे भी प्रेम करता है, स्पर्शसे भी प्रेम करता है, शब्दसे भी प्रेम करता है—इनके बिना सो जाता है, ये सारी बातें मनमें होती हैं—यह मनकी स्थिति है। अपञ्चीकृत भूतोंके राजस अंशसे कर्मेन्द्रियाँ और प्राण बनते हैं—शब्दसे वाक्, स्पर्शसे हाथ, रूपसे पैर, रससे उपस्थ और गन्धसे पायु तथा प्राणमें ये पाँचों हैं। यही तीसरा रूप है।

तो, कहना तो यहाँ इतना ही था कि ये जो इन्द्रियाँ है इनसे परे इनके उपादान भूत अपञ्चीकृत पंचभूत हैं—वे ही यहाँ अर्थ शब्दसे कहे हुए हैं। यहाँ

'पर' शब्दका अर्थ है जो सूक्ष्मतर हो, महानतर हो, व्यापक हो तथा अन्तरङ्ग हो। इस प्रकार इन्द्रियोंकी अपेक्षा ये अर्थ सूक्ष्म हैं और महान् हैं, बड़े हैं, विभु हैं और प्रत्यगात्म-भूत माने अन्तरंग हैं—कपड़ेमें जैसे सूत अन्तरङ्ग हैं।

तो अब देखो, एक तो जो शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धका संसार मालूम पड़ता है वह कैसे मालूम पड़ता है कि इन्द्रियोंसे हैं, इन्द्रियाँ कहाँ मालूम पड़ रही हैं कि अपञ्चीकृत पंचभूतके सात्त्विक अंशमें—अपञ्चीकृत पंचभूतके स्थूलांशमें गोलक और सूक्ष्मांशमें—राजसांशमें क्रिया और सात्त्विक अंशमें ज्ञान और मन। मनमें केवल सात्त्विक अंश और वह भी पाँचोंका और बारी-बारीसे मालूम पड़ता है। बारी-बारीसे यह एक मन ही गन्धात्मक मन, रूपात्मक मन, रसात्मक मन, स्पर्शात्मक मन, शब्दात्मक मन, के रूपमें बनता रहता है। माने मन असलमें ज्ञान ही है, वह विषयकी उपाधिके भेदसे पाँच प्रकारका ग्रहण होता है। इसलिए **अर्थेभ्यश्च परं मनः**—इन अर्थोंसे परे मन है। मन संकल्प-विकल्पात्मक है। वह एक विषयको पकड़ता है, फिर छोड़ता है, फिर दूसरे विषयको पकड़ता है।

इन्द्रियोंसे बड़ी चीज अर्थ है, अर्थसे बड़ी चीज मन है, इन्द्रियोंसे भीतर अर्थ है और अर्थसे भीतर मन है, विषयोंसे प्रत्यक् इन्द्रियाँ हैं, इन्द्रियोंसे प्रत्यक् अर्थ है अर्थसे भी प्रत्यक् मन है—अन्तरात्माके पास है इसलिए यह प्रत्यगात्मा है। मनका प्रत्यगात्मा बुद्धि है—**मनसस्तु परा बुद्धिः**। अब जरा मन और बुद्धिकी तुलना देखो—अब यह देखो विष्णुके परमपदकी प्राप्ति हमको इसी स्थानमें, इसी शरीर-देशमें हो जाय, इसके लिए यह प्रसङ्ग है।

मनसस्तु परा बुद्धिः—माने क्या है? बोले कि यह मन कहीं आता-जाता नहीं—जैसे हमारा मन अभी जरा वृन्दावन चला गया, तो नहीं समझना कि हमारा मन वृन्दावन चला गया या कि तब हमारे मनमें वृन्दावन आ गया! न मन चल करके वृन्दावन गया और न वृन्दावन चलकर मनमें आया। तो हुआ क्या? कि वृन्दावनकी याद आ गयी! तो जैसे बीजमें-से पेड़ जाहिर होता है-ऐसे मनमें जो वृन्दावनका संस्कार था वह जाहिर हो गया। तो पहलेसे भरे हुए संस्कारके जाहिर होनेका जो स्थान है उसको मन बोलते हैं। उस ज्ञानको जो संस्कार सहित है और जिसमें संस्कार-सहित स्फुरणाएँ होती रहती हैं, जैसे बीजमें-से अंकुर निकलते रहते हैं।

अब मन कहते हैं। बुद्धि क्या है? कि बुद्धि तो और परे है, मनसे भी सूक्ष्म है, मनसे भी बड़ी है और मनसे भी प्रत्यगात्माके पास है। कि वह कैसे? कि हे

नारायण, आप विचार करके देखो, कि आपके मनमें जितनी भी बात आती है वह पहलेसे जानी हुई बात ही आती है, कि अन्जानी बात भी आती है? कि देखो न तो मनमें वृन्दावन आया और न तो मन यहाँसे वृन्दावन गया, मनमें पहलेसे विद्यमान जो वृन्दावनके संस्कार हैं वे जाहिर हुए। अब इस बातको छोड़ो—एक वेश्यालयका संस्कार जाग्रत् हुआ। क्यों हुआ? चण्डूखानेका संस्कार आया, जुएखानेका संस्कार आया, दुकानका संस्कार आया—क्यों आया? कि पहलेसे भरा हुआ है। तो मनका काम दोनों है—दुकानको मनमें जाहिर कर देना यह भी मनका काम है और वृन्दावनको गनमें जाहिर कर लेना यह भी मनका काम है, पर हमको चलना कहाँ है—वृन्दावन जाना है या दुकान जाना है, यह निर्णय करनेकी जरूरत है कि नहीं है? है न? मनमें चण्डूखानेकी भी—याद आयी, वृन्दावन बढ़िया है और चण्डूखाना घटिया है यह निर्णय कौन करेगा? कि यह निर्णय तो बुद्धि करेगी—**अदृष्टादश्रुतात् भावात् न भावोपजायते**। जो चीज कभी देखी नहीं गयी और कभी सुनी नहीं गयी, उसके बारेमें कोई भाव मनमें उदय नहीं हो सकता—अगर कभी वृन्दावनकी खूब याद आवे तो समझना कि तुम पूर्व जन्ममें वृन्दावनमें रहे हो और उसका संस्कार तुम्हारे मनमें बैठा हुआ है और चण्डूखानेकी ज्यादा याद आवे तो, तो समझना पहले चण्डूखानेमें गये हुए हो, इससे उसकी याद आती है। कालीदासका एक श्लोक है—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्-पर्युत्सुखी भवति चेत् सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं भावस्थिणि जन्मान्तरसौहृदानि॥

कहते हैं कि किसी सुन्दरको देखकर अथवा किसीकी मधुर वाणीको सुनकर यदि सुखी प्राणीके हृदयमें भी उत्सुकता जाग्रत् हो जाती है कि यह वस्तु हमको मिले, तो ऐसा क्यों? कहा-भाई, तुम तो सुखी हो, मजे में हो, अपने नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्ममें स्थित हो, तुमको किसीसे मिलनेकी इच्छा क्यों होती है, देखनेकी इच्छा क्यों होती है, फिर-फिर वही आवाज सुननेकी इच्छा क्यों होती है? बार-बार वही आवाज सुननेकी इच्छा क्यों होती है? तो बोले कि तत्त्वेतसा *स्मरति नूनं अबोधपूर्वम्*-अंजानमें ही उस व्यक्तिका, उस वस्तुका संस्कार भीतर बैठा हुआ है, दूसरे जन्मोंमें जो हमारा-तुम्हारा प्रेम था, उसके संस्कार चित्तमें बैठे हुए हैं और वे उदय हो रहे हैं, उन्हें छोड़ नहीं सकते। *भावस्थिराणि जन्मान्तर सौहृदानि*—दूसरे जन्मके प्रेम भावमें स्थिर है और उनका स्मरण हो रहा है चित्त से। तो भाई, मनमें तो अच्छे-बुरे दोनों ही आते हैं, स्त्री भी आती है, कृष्ण भी

आता है; पुरुष भी आता है, कृष्ण भी आता है-दोनों आते हैं! पर पकड़नेके लिए तो एकका निर्णय करना पड़ेगा और निर्णय बुद्धि करेगी।

तो अब निर्णयकी आवश्यकता हुई। पर, शुद्ध ज्ञान होवे तब न निर्णय होवे! राग-द्वेष-विरहित ज्ञान होवे तब निर्णय ठीक होवे! तो बोले कि मनमें उठनेवाली वस्तुओंके बारेमें जो निर्णय हमारी बुद्धि देती है वह बोध है—*बोधनात् बुद्धिः*—जो बोध देवे, उसका नाम बुद्धि हुआ।

बोले भाई, यह कुल-की-कुल बात तो की पर यह सब व्यक्तिमें ही तो रहा विषयोंका ज्ञान होता है इन्द्रियोंसे और इन्द्रियाँ रहती हैं शरीरमें, शरीरके भीतर हृदयमें मन रहता है, मनसे भी अन्तरङ्ग बुद्धि है; अभी तो तुमने शरीरके भीतर ही बाँधा—शरीरमें ही बुद्धि, शरीरमें ही मन, शरीरमें ही इन्द्रियाँ, शरीरमें ही विषयोंका भान, शरीरसे ऊपर तो तुम उठे नहीं। तो बोले—कि अब ऊपर चलो—**बुद्धेरात्मा महान्परः।**

यह जो बुद्धि है सबकी—जहाँ घेरेको लेकरके बन्द होकर बैठी है, हड्डी-मांस-चामके पिजड़ेमें बन्द। जरा वहाँसे बाहर निकलो। चिड़िया फँस गया है पिजड़ेमें -ये महात्मा लोग स्वतंत्र होनेकी शिक्षा देते हैं। तुम्हारी दीनता छूट जाये, तुम्हारा बन्धन छूट जाये, तुम जो यह जेलखानेमें बन्द पड़े हो वहाँसे निकालो—ये परतंत्रता छुड़ानेकी बात करते हैं। तो, *बुद्धेरात्मा महान्परः*—तो बुद्धिकी भी एक समष्टि होती है; वह भी भूत-सूक्ष्म ही है—भूत-सूक्ष्मका जो सात्त्विक-अंश है उसमें जहाँ तक व्यक्तियोंका सम्पर्क है वहाँ तक उसको अलग-अलग मन और अलग-अलग बुद्धि बोलते हैं और जहाँ व्यष्टि इन्द्रियों और व्यष्टि विषयोंका सम्पर्क छोड़ करके, देहाभिमान छोड़ करके जरा बुद्धिकी तरफ दृष्टि डालो तो मालूम पड़ेगा कि *बुद्धेरात्मा महान्परः*—बुद्धिसे पर महान् आत्मा माने महातत्त्व है—पर है माने महत्तत्त्व बड़ा भी है, सूक्ष्म भी है और प्रत्यगात्मा भी है; वह बुद्धि जिसमें अपनी-परायी बुद्धिका कोई भेद नहीं है—महत्तत्त्व कहलाती है। इसको अधिदैव दृष्टिसे दूसरा बोलते हैं, आराध्य-दृष्टिसे दूसरा बोलते हैं और भौतिक दृष्टिसे अलग बोलते हैं। चीज एक है, नाम अलग-अलग हैं। भौतिक दृष्टिसे तो इसको बोलते हैं महत्तत्त्व और देवता-दृष्टिसे इसको बोलते हैं हिरण्यगर्भ। चैतन्यकी प्रधानता हुई तो इसका नाम हिरण्यगर्भ हो गया और जड़की प्रधानता हुई तो महत्तत्त्व हो गया। जड़वादी इसको महत्तत्त्व कहते हैं और देवतावादी इसको हिरण्यगर्भ कहते हैं और वही देवतावादी जब एक-एक-ब्रह्माण्डमें इसको

अलग-अलग मानते हैं तब ब्रह्मा बोलते हैं। यही चीज एक-एक शरीरमें बुद्धिके नामसे कही जाती है, और अनन्त-कोटि ब्रह्मण्डोंकी समष्टिमें यह महत्तत्त्व नाम से है और उस समष्टिमें जो चैतन्य है उसको हिरण्यगर्भ नामसे कहते हैं और उसीके जो बच्चे हैं वे एक-एक ब्रह्माण्डमें ब्रह्मा-विष्णु-महेश हैं! हिरण्यगर्भने महत्तत्त्वके संयोगसे करोड़ों अनगिनत अण्डे दिये हैं। प्रकृतिकी बेटी महत्तत्त्व-रूपा समष्टिबुद्धि और उसमें प्रतिबिम्बित जो आत्मचैतन्य उसका नाम हिरण्यगर्भ, तो हिरण्यगर्भ जो है वह बुद्धिके सहयोगसे कोटि-कोटि अण्डे देता है और उन अण्डोंमें ब्रह्मा-विष्णु-महेश अलग-अलग होते हैं—सब ब्रह्माण्डोंमें एक-एक-ब्रह्मा, एक-एक-विष्णु, एक-एक महेश रहते हैं और शरीर-शरीरमें यह जीवात्मा होता है। तो असलमें न तो शरीर-शरीरमें यह जीवात्माका चैतन्य अलग-अलग है और न तो ब्रह्माण्डोंमें ब्रह्मा-विष्णु-महेशका चैतन्य अलग-अलग है और न तो महत्तत्त्वमें हिरण्यगर्भका चैतन्य अलग है।

महत्तत्त्वसे परे अव्यक्त है, माया है; *महतः परमव्यक्तम्।* अव्यक्त महतत्त्वसे बड़ा भी है, सूक्ष्म भी है और प्रत्यगात्मा भी है। उसमें महतत्त्व कभी डूब जाता है, कभी जाहिर होता है! उस अव्यक्तमें जो जड़ता है वही महतत्त्वकी कारणता है; उसीको अव्यक्त या प्रकृति बोलते हैं; और उसी अव्यक्त या मायामें जो चेतनांश है वह हिरण्यगर्भकी कारणता है, उसको ईश्वर बोलते हैं। और जब कार्य-कारण-भावको, अविद्याको काट देते हैं तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्ममें न अव्यक्त जड़ है और न अव्यक्तावच्छिन्न चैतन्य ईश्वर है—अवच्छिन्नता नहीं है उसमें; और न तो महत्तत्त्व है, न हिरण्यगर्भ है, न उसके कोटि-कोटि अण्डे हैं और न उनमें ब्रह्मा-विष्णु-महेश हैं और न तो उनमें रहनेवाले कोटि-कोटि कीटाणु हैं शरीर-रूप, जिनमें यह जीव है, वही अनन्त-शुद्ध बुद्ध-मुक्त पुरुष है : *अव्यक्तात् पुरुषः परः।*

अव्यक्त बीजात्मा है, उसको भी वेदान्तकी भाषामें भूत-सूक्ष्म ही कहते हैं। सांख्यमें जिस प्रकृतिका वर्णन '**न विद्यते केनापि प्रमाणेन**'के द्वारा किया गया है वह प्रकृति यहाँ अव्यक्त नामसे नहीं कही गयी है, यह तो अज्ञान है, यह अविद्या है, यह माया है; यह वेदान्तमें प्रतिपादित बीजात्मक सत् है; यह सचैतन्य होनेके कारण ईश्वर रूप है। तो ईश्वर और ईश्वरका शरीर अव्यक्त; हिरण्यगर्भ और उसका शरीर महत्तत्त्व और त्रिगुण और उसका अभिमानी अहंकार अर्थात् विराट्। इस प्रकार विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर।

तो इसकी यह पद्धति हुई कि बीजात्मक अव्यक्त सहित जो सच्चिदानन्द है

वह ईश्वर और महत्तत्त्व सहित जो सच्चिदानन्द है वह हिरण्यगर्भ और फिर उसमें त्रिगुणकी अभिव्यक्ति होनेपर जो सच्चिदानन्द है वह विराट् और फिर उस विराट्में अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्ड और उसमें अनन्त कोटि ब्रह्मा-विष्णु-महेश और उनमें अनन्त-कोटि शरीर। असलमें चैतन्य जो मायामें है, अविद्यामें है, अव्यक्तमें है, मूल कारणमें है वही चैतन्य इस शरीरमें भी है। और इस अखण्ड चैतन्यकी दृष्टिसे मायासे लेकरके शरीर पर्यन्त यह सब-का-सब बाधित है—बाधित है माने मिथ्या है, उस अखण्ड चैतन्यमें, ब्रह्ममें यह सब कुछ है ही नहीं! तो—

पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः—यह पुरुष यह आत्मा है, अब इससे परे-*न परं, न अपरं*-उपनिषद्में आया है कि उससे कोई पर भी नहीं है और उससे कोई अपर भी नहीं है माने उससे कोई बड़ा भी नहीं, उससे कोई छोटा भी नहीं; उससे कोई बाहर भी नहीं, उससे कोई भीतर भी नहीं; उसके कोई पहले भी नहीं, उसके कोई पीछे भी नहीं; उससे कोई स्थूल भी नहीं, उससे कोई सूक्ष्म भी नहीं-यह पुरुष ही अखण्ड वस्तु है, यही अपरिच्छिन्न ब्रह्म-वस्तु है, यही काष्ठा है, यही परा गति है और यही विष्णुका परमपद है जिसकी प्राप्ति होनेके बाद मार्ग नहीं रहता है माने कहीं आना-जाना नहीं रहता है—न नरकमें जाना होगा, न स्वर्गमें जाना होगा; न ब्रह्मलोकमें जाना होगा, न जन्मान्तर-रूप सृति रहेगी-र्स्वथा नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्मात्मनः अवस्थान जो है वह यही है कि अपने स्वरूपका ज्ञान, अपने स्वरूपको विष्णुके परमपदके रूपमें जानना। विष्णुका परमपद तत्पदार्थ है और पुरुष जो है यह त्वं-पदार्थ है और दोनोंकी एकता जो श्रुतिने बतायी वह तत्त्वमस्यादि महावाक्यका अर्थ है!

बुद्धेरात्मा महान्परः

यह महान् आत्मा कौन है कि ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें जिसको जीव कहा गया है उसीको यहाँ हिरण्यगर्भ कहते हैं। सम्पूर्ण बुद्धियोंके उपादान-भूत तत्त्वमें जो आरुढ़ चैतन्य है उसको हिरण्यगर्भ बोलते हैं। वह है—**बुद्धेरात्मा महान्परः**।

अब बोले—**महतः परमत्यक्तम्**—इस महत्तत्त्व (हिरण्यगर्भ)से परे अव्यक्त है। अव्यक्त अर्थात् जड़ बीज सत्ता। उसीको सांख्यवादी प्रकृति और वेदान्ती माया कहते हैं। उस मायासे विशिष्ट चैतन्यको ईश्वर बोलते हैं। तो महत्तत्त्वसे परे अव्यक्त है—यह जड़की भाषा है और चेतनकी भाषामें इसीको कहें तो हिरण्यगर्भसे परे ईश्वर, ईश्वरसे हिरण्यगर्भ और हिरण्यगर्भसे विराट्—यह इसी प्रकार ईश्वरमें जो

माया है उस मायासे महत्तत्त्व और महतत्त्वसे अहंकार तत्त्व। इसी अहंकार विशिष्ट चैतन्य अर्थात् विराट्के तीन भेद होते है : ब्रह्मा, विष्णु और महेश। इस विराट्में जो भिन्न-भिन्न ब्रह्माण्ड होते हैं उनमें ब्रह्मा-विष्णु-महेश बैठते हैं। चैतन्यका नाम ही अहंकारकी प्रधानतासे रुद्र, महतत्त्वकी प्रधनतासे ब्रह्म और अव्यक्त-प्रकृति-मायाकी प्रधनतासे ईश्वर।

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।

महतः परमव्यक्तम्—इस महत्तत्त्वसे परे क्या है? बोले—अव्यक्त है। अव्यक्त उसको कहते हैं जो सारे जगत्का बीज है, जिसमें नाम-रूपका व्याकरण नहीं बना है।

यह व्याकरण बनता है; देखो एक 'भू' धातु है, तो जब उसमें व्याकरण लगेगा तब क्या होगा? व्याकरण माने विशेष आकारको प्राप्त करानेकी रीति—*व्याक्रियन्ते विशिष्टं आकारं आपाद्यन्ते शब्दाः अनेन इति व्याकरणम्।* व्याकरण उसको कहते हैं कि जो शब्दोंको विशेष आकार प्रदान करे। यह भू धातु है—इसको व्याकरणने आकार प्रदान किया तो बन गया—*भवति, भवतः, भवन्ति।* यह आकार किसने दिया? बोले कि व्याकरणने। *भूतं भवः भवान् भव्यं, भवनम्, भाष्यमानः, भाव्यते, बभूव, अभवत, अभूत्*—यह सब रूप कहाँसे बनेंगे कि व्याकरण जो है सो विशिष्ट आकार दे देता है—उसको बोलते हैं व्याकरण। तब बोले कि व्याकरणके पहले जब इतनें शब्द नहीं निकले हैं तब क्या है? कि तब 'भू' धातु है। तो इसी प्रकार जगत्की जो मूल धातु है—भू धातुके समान जब उस मूल धातुमें माने प्रकृतिमें, मायामें जब व्याकरण लगता है, जब व्याकरणके सूत्र लगते हैं तब सूत्रात्मा होता है, उसके बाद सूत्रात्मासे फिर वृत्ति बनती है। तो व्याकरण लगनेके पहले जैसे मूल धातु एक होती है और उसमें सारे शब्द समाये होते हैं—जैसे '*रं*' धातु है उसमें राम शब्द—*रामौ रामः* भी समाया हुआ है और *रमणं रमणं रमणानि* है भी समाया हुआ और *रंतव्यं, रममाणः* भी समाया हुआ है। उसीमें सब तद्धित, सब कृदन्त समाये हुए हैं, उसी रम् धातुमें। यह तो तद्धित कृदन्त व्याकरण लगकर रम् धातुको फैलाते हैं। इसी प्रकार जगत्में जो पशु-पक्षी-स्त्री-पुरुष—ये सब हैं, ये मूल धातुमें पहलेसे हैं, पर जब व्याकरण लगता है तब ये सब प्रगट होते हैं।

नाम-रूपे व्याकरणवाणी। ईश्वर जब संकल्प करता है तब उसके नाम अलग-अलग हो जाते हैं और रूप अलग-अलग हो जाते हैं। असलमें व्याकरण

शब्द आया कहाँसे? *नाम-रूपे-व्याकरवाणी*—यह जो श्रुतिमें *व्याकरवाणी* है न, क्रियापद—इसी क्रियापदमें-से व्याकरण शब्द निकला।

तो जगत्की जो मूल धातु है उसको बोलते हैं अव्यक्त। सम्पूर्ण जगत्के जितने नाम-रूप हैं वे उसीमें-से निकलते हैं और व्याकरण लगनेके पहले माने विशेष-विशेष आकार और विशेष नाम बननेके पहले जो तत्त्वरूप है और सम्पूर्ण कार्य-कारणकी शक्तिका जिसमें समाहार है, उसीको शास्त्रमें कहीं अव्यक्त कहते हैं, कहीं अव्याकृत कहते हैं, कहीं आकाश बोलते हैं, कहीं अज्ञान बोलते हैं, कहीं प्रधान बोलते हैं। वही सम्पूर्ण जगत्का बीज परमात्मामें ओत-प्रोत भावसे स्थित है—जैसे घड़ेमें मिट्टी, मिट्टीमें घड़ा, कपड़ेमें सूत, सूतमें कपड़ा—ऐसे वह ओत-प्रोत भावसे जगत्की उत्पत्तिके पूर्व परमात्मामें कल्पित हैं। वटकी कणिकामें वट-बीज होता है न—वह बहुत छोटा होता है जैसे पोस्तेका दाना, जिसे हलुआमें डालते हैं—खस-खस। खश दूसरी चीज है खस-खस दूसरी चीज है; खश वह चीज है जिससे इत्र निकलता है और खस-खस वह चीज है जिसके गोंदके रूपमें अफीम निकलती है। हमारे पहले खेती होती थी, बचपनमें हमलोग गोंद निकालते थे। तो जैसा खस-खसका छोटा दाना होता है ऐसा ही वटका बीज होता है। एक गोंदामें से सैकड़ों बीज निकलते हैं—बड़के फलको गोंदा बोलते हैं। अब एक वट बीजको देखकरके कोई यह निश्चय करे कि इसमें बड़का वृक्ष कहाँ है, जड़ कहाँ है, जटा कहाँ है, डालियाँ कहाँ, पत्ते कहाँ हैं, फूल-फल कहाँ हैं, तो नहीं कर सकता। इतना विशाल वट-वृक्षकी दो-दो, तीन-तीन-चार-चार फर्लाङ्गमें फैला हुआ बड़का पेड़, उस छोटसे दानेमें पता नहीं लग सकता। कलकत्तेमें जो बड़का पेड़ है, आडियारमें जो बड़का पेड़ है और यहाँ जो भड़ौंचके पास कबीर-वट है—बड़े-बड़े वट हैं—अब वह बीजमें कहाँ छुपा रहता है और कैसे निकल आता है, यह आपको मालूम है? इसी प्रकार परमात्मामें—देश-काल-वस्तुसे अपरिछिन्न परमात्माके एक कल्पित देशमें, एक वट-बीज जो अव्यक्त है उस अव्यक्त प्रकृतिसे कितने ही प्रकारके नाम, कितने ही प्रकारके अनन्त-कोटि ब्रह्माण्ड निकलते हैं। वह बीज जिसमें यह सब समाया हुआ है, उसीको अव्यक्त कहते हैं। इसीसे अव्यक्त शब्दका प्रयोग परमात्माके लिए भी होता है और प्रकृतिके लिए भी होता है—

परस्तस्मात्तु भावोन्योऽे व्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः। (गीता ८. २०)

प्रकृति रूप अव्यक्तसे परे है परमात्म-रूप अव्यक्त भाव। माने अव्यक्त दो

तरहका है—एक बीज-युक्त अव्यक्त और एक बीज-रहित अव्यक्त। तो बीज-साहित्य-कल्पनासे युक्त जो अव्यक्त है उसको प्रकृति बोलते हैं, माया बोलते हैं और बीज राहित्य-कल्पनासे युक्त जो अनन्त-ब्रह्म वस्तु है प्रत्यक्चैतन्याभिन्न, उसको ब्रह्म बोलते हैं। असलमें यह साहित्य और राहित्य दोनों कल्पित हैं, और दोनों औपाधिक हैं इसलिए जिसकी दृष्टिमें एक अद्वितीय तत्त्व है उसमें न बीजका साहित्य है, न बीजका राहित्य है। यदि बीजका राहित्य ही परमार्थ होवे तो बिना समाधि लगाये नहीं बनेगा और यदि बीजका साहित्य ही परमार्थ होवे तो निरन्तर विक्षिप्त रहना पड़ेगा; परन्तु जिसमें न समाधि, न विक्षेप, न नरक, न वैकुण्ठ और जिसमें न चींटी, न ब्रह्मा और जिसमें यह सभी कुछ भास रहा है वह परमार्थ है—

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।

गीतामें अव्यक्त शब्द देखो आत्माके लिए भी है—

अव्यक्तोऽयम् अचिन्त्योऽयमविकार्योयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि॥ २.२५

यहाँ अव्यक्त शब्द प्रत्यगात्माके लिए है और '**अव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः**'में एक अव्यक्त शब्द प्रकृतिके लिए है और एक परमात्माके लिए है। तो अव्यक्त आत्मा है, अव्यक्त परमात्मा है, अव्यक्त प्रकृति है। तो बीज रूपता प्रकृतिमें है, बीजवत्व जीवमें है और बीज और बीजवत्व दोनोंके अभावसे उपलक्षित परमात्मा है।

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः।
पुरुषान्नः परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः॥

अब अव्यक्तसे परे कौन है? किसी जिज्ञासुने महात्मासे पूछा—महाराज वह कौन है जो सारी सृष्टिको देखता है? जो सारी सृष्टिको जान रहा है वह कौन है? जो सारी सृष्टिके कर्त्ताको जान रहा है वह कौन है?

महात्मा हँसकर बोले कि वह तो तुम्हीं हो।

कि हम हैं?

तुम नहीं हो तो हम हैं।

बोला—महाराज क्या सारी सृष्टि बनायी?

बोले—इसपर भी तुमको विश्वास नहीं? पहले तो मैंने तुमको ही बताया, उसको नहीं माना तुमने तो हमको मान लो। कि अच्छा हमको भी नहीं मानते तब कि फिर मानलो कि वह है।

असलमें जिसको तुम कहा, उसीको मैं कहा, उसीको वह कहा—समझ जाते तो तुम्हीं वह थे। कि अच्छा भाई, अपनेको मत समझो तो हमको समझो; कि नहीं, हम तो तुमको भी नहीं समझते, कि नहीं समझते तो उसको समझो—परोक्षको समझो। साक्षात् अपरोक्ष अपने आत्माको समझो, यह न हो तो अपने प्रत्यक्ष गुरुको समझो और वह भी न हो तो, परोक्ष ईश्वरको समझो—**अव्यक्तात्पुरुषः परः—**

पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः।

पुरुष कैसा है? बोले 'पर' है। 'पर' है माने? विशाल, सूक्ष्म, प्रत्यगात्मा। इन्द्रियसे परे अर्थ है माने इन्द्रियसे विशाल, इन्द्रियसे सूक्ष्म और इन्द्रियकी प्रत्यगात्मा अर्थ है; और अर्थसे परे मन है माने अर्थसे महान्, अर्थसे सूक्ष्म, अर्थकी प्रत्यगात्मा मन है और मनसे परे बुद्धि है माने मनसे विशाल, मनसे सूक्ष्म और मनकी प्रत्यगात्मा बुद्धि है और बुद्धिसे परे महतत्त्व, हिरण्य गर्भ है—बुद्धिसे विशाल, सूक्ष्म और प्रत्यगात्मा हिरण्यगर्भ है; हिरण्यगर्भसे परे प्रकृति है माने उससे भी विशाल, उससे भी सूक्ष्म, उसकी भी प्रत्यगात्मा, उससे भी अन्तरंग प्रकृति है, अव्यक्त है। अब उस प्रकृतिसे भी, उस अव्यक्तसे भी परे पुरुष है। वेदान्तमें प्रकृति शब्दका प्रयोग कम करते हैं, भूत-सूक्ष्मका प्रयोग करते हैं—वह जो बीजात्मक भूत-सूक्ष्म है उससे महान्, उससे सूक्ष्म, उससे बढ़करके, उसका प्रत्यगात्मा, अपना स्वरूप कौन है? कि पुरुष है।

पुरुषको पुरुष क्यों कहते हैं कि *पुरिशयनात् पुरुषः।* इस पुरुषकी उपलब्धिका स्थान कहाँ है? इसको पाना हो तो कहाँ पाओगे? कि इसी पुरीमें पावोगे। पुरुषको पुरुष क्यों कहते हैं? कि पुरिशयनात्—पुरी माने नवद्वारवती जो यह पुरी है इसमें शयन करनेके कारण इसका असली घर यही है। परमात्मासे मिलना हो तो कहाँ जाना? उनकी बैठक कहाँ है? मिलनेकी जगहको क्या बोलते हैं—ड्राइंग-रूम—उनका ड्राइंग रूम कहाँ है? तो बोले कि यह नवद्वार वाला जो यह शरीर है, यह हृदय है—यही परमात्मासे मिलनेका स्थान है। यही उनकी बैठक है। जैसे यदि भारतवर्षकी सरकार कहाँ रहती है कोई पूछेगा तो झट बता देंगे कि दिल्लीमें रहती है। कि दिल्लीमें नहीं, जहाँ-जहाँ पुलिस है, जहाँ-जहाँ कानून है, जहाँ-जहाँ फौज है, जहाँ-जहाँ संविधान है, जहाँ-जहाँ उसका कब्जा है वहाँ-वहाँ-सब जगह सरकार है। पर बोले कि सरकारसे यदि मिलना हो तो कहाँ जाना पड़ेगा? कि भाई दिल्ली जाना पड़ेगा—उपलब्धि-स्थान हो गया न? इसी प्रकार परमात्मा सर्व देशमें है, सर्वकालमें है, सर्व वस्तुमें है, परन्तु उसका

उपलब्धि-स्थान हृदय होनेके कारण यह दहरमें, ब्रह्मपुरम् देशमें रहता है। इसका नाम छान्दोग्योपनिषद् में ब्रह्मपुरी रखा हुआ है। रामपुरी है, साकेत—अयोध्या, और कृष्णपुरी है गोलोक—वृन्दावन, और विष्णुपुरी है वैकुण्ठ; और ब्रह्मापुरी कहाँ है कि मेरु शिखर पर और शंकरपुरी कहाँ है कि कैलास शिखर पर। बोले भाई सबकी पुरी तो बताते हो, जरा ब्रह्मपुरी भी तो बताओ, वह कहाँ है? बोले ब्रह्मपुरी तो यही है, अपने हृदयमें ही ब्रह्मपुरी है। कि अच्छा, जन्मतिथि बता दो ब्रह्मकी? रामनवमी, जन्माष्टमी, बुद्ध-पूर्णिमा, दुर्गाष्टमी—कुछ ब्रह्मकी भी जन्मतिथि बताओ? बोले कि नहीं—प्रत्येक क्षण ही ब्रह्मकी जयन्ती है—जिस क्षणमें यह ज्ञान होगा कि आत्मा ब्रह्म ही है, मैं ब्रह्म ही हूँ, वही ब्रह्म जयन्ती होगी। असलमें ब्रह्मका जन्म नहीं होता है। अविद्याकी निवृत्ति करनेके लिए ज्ञानका ही जन्म होना है।

पुरुषको 'पुरुष क्यों कहते हैं, क्योंकि वह पूर्ण है—*पूर्णत्वात् पुरुषः*। ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसमें यह पुरुष अनुगत न हो और जिससे यह व्यतिरिक्त न हो और जिसमें अन्वय और व्यतिरेक दोनों कल्पित होवें। कार्यमें अनुगत होता है कारण और कार्यसे व्यतिरिक्त होता है कारण—जैसे घड़ेमें मिट्टी अनुगत है और मिट्टी घड़ेसे व्यतिरिक्त है; कार्य-कारण भावापन्न जो पदार्थ होता है उसमें अनुगति, अन्विति और व्यतिरिक्तता होती है; परन्तु जो पूर्ण वस्तु होती है उसमें न अन्वय होता है, न व्यतिरेक होता है। घड़ा मृत्तिकाकी उत्तरावस्था है और मृत्तिका घड़ेकी पूर्वावस्था है—यह बात पूर्णमें नहीं, इसमें उत्तरावस्था और पूर्वावस्था जौ कालका सम्बन्ध है, वह कालका सम्बन्ध ब्रह्ममें है ही नहीं, इसीलिए पूर्णत्वात्—सर्व देश, सर्वकाल, सर्ववस्तु जो प्रतीत होती है उसमें अनुगत रहकर, उससे व्यतिरिक्त रहकरके जिसमें यह देश-काल-वस्तु तीनों कल्पित है उसको पुरुष बोलते हैं।

पुरुषको पुरुष क्यों बोलते हैं? कि *पुरुणि बहूनि स्यत्*—जो बहुत्वको नष्ट कर देता है, उसका नाम पुरुष। पुरुष वही है जो अकेला है; जिसको सहारा लेनेकी जरूरत पड़ती है वह तो लँगड़ा है। जिसको आँखपर चश्मा लगानेकी जरूरत पड़ती है, उसकी आँखमें कुछ कमजोरी है न? जिसको अपने रहनेके लिए, अपने सुखी होनेके लिए, अपने जाननेके लिए दूसरेकी मदद लेनी पड़ती है वह पूर्ण कहाँ है? तो परमात्माको अनन्त काल तक जीवित रहनेके लिए कालकी अपेक्षा नहीं है, सब जगह भरे रहनेके लिए देशकी आवश्यकता नहीं है और सब होनेके लिए किसी धातुकी, उपादानकी आवश्यकता नहीं है और उसको जाननेके लिए किसी करणकी आवश्यकता नहीं है, उसको होनेके लिए किसी आकारकी

आवश्यकता नहीं है और उसको सुखी होनेके लिए किसी सहचरीकी, माया-छायाकी आवश्यकता नहीं। ऐसा है यह परमात्माका स्वरूप।

पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥

बोले भई अच्छा, जैसे सब इन्द्रियसे परे मन, मनसे परे बुद्धि, बुद्धिसे परे महतत्त्व, महतत्त्वसे परे अव्यक्त भूत सूक्ष्म यह सब तुमने बताया और अव्यक्तसे परे पुरुष बताया तो अब यह बताओ कि पुरुषसे परे क्या है। तो बोले कि—

पुरुषान्न परं किंचित्—बोले—बस भाई बस, हमसे अलग कोई 'पर' होवे तो वह दो तरफ हो सकता है—या तो हमारे सामने हो या तो हमारे पीछे होवे और या हमारे दाहिने-बायें होवे या ऊपर-नीचे होवे, ऐसा कह लो। तो, सामने जो होता है वह तो दृश्य होता है; तो अगर हमारे सामने परमात्मा आ जायेगा तो वह दृश्य, जड़, परापेक्ष हो जायेगा। साक्षी-भास्य होगा, तो भी परापेक्ष होगा; क्योंकि आखिर सुषुप्ति भी तो साक्षी-भास्य है, स्वप्न भी तो साक्षी-भास्य है—साक्षी भास्य स्वप्न चंचल है, अस्थिर है, और साक्षी-भास्य सुषुप्ति अभावात्मक है, अन्धी है! अब क्या आप परमात्माको ऐसा ही देखना चाहते हैं? जाग्रत्‌की तरह परमात्माको आप जड़ देखना चाहते हैं कि स्वप्नकी तरह चंचल देखना चाहते हैं कि सुषुप्तिके समान अन्धेरा देखना चाहते हैं? तो, सामने तो रहा नहीं।

तो बोले कि वह पर-पुरुष पीठ-पीछे रहता है, हम जहाँ हैं उससे और थोड़ा अन्तरङ्ग, थोड़ा और भीतर, थोड़ा और भीतर, थोड़ा और भीतर। कि बाबा, कभी दीखता है कि नहीं दीखता? यदि कभी दीखता हो तो वही दशा होगी जो सामनेवालीकी हुई; यदि कभी न दीखता हो और अनुभवमें कभी आता ही न हो, तो केवल कल्पना ही तो रहेगी कि कोई हमारे पीठ-पीछे है। परोक्ष ही रहेगा ना हमेशा—परन्तु परोक्ष वस्तु है इसमें क्या प्रमाण? क्योंकि अनुभव तो हुआ ही नहीं।

तो ईश्वर होवे तो या तो वह हमारा अनुभाव्य होकर आवे—अनुभवका विषय बने और अनुभवका विषय बनेगा तो जड़ हो जायेगा, परिच्छिन्न हो जायेगा, चंचल हो जायेगा, अन्धा हो जायेगा और यदि अनुभवका विषय नहीं बनता है, हमेशा परोक्ष ही रहता है तो कल्पित रह जायेगा।

अच्छा, वह 'पर' कहीं हमारे दाहिने-बायें हो तो? तब भी दृश्य तो बनना ही पड़ेगा। लेकिन, मान भी लो कि हमारी बराबरीका है, सम-सत्ताक है, तो उसमें उपासन्य कहाँसे आयेगा, पूज्य कहाँ से होगा? दाहिने हो तब भी बराबरीका और बाँये हो तब भी बराबरीका।

तब फिर वह ईश्वर परपुरुष कहाँ? कि ईश्वरके रहनेकी सिर्फ एक ही जगह है—पुरुषमें।

एक बार एक कम्यूनिष्ट नेता मेरे पास आये और मुझसे पूछा कि क्या आप सिद्ध कर सकते हो कि ईश्वर है? मैंने कहा—हाँ। बोले—कहाँ है? मैंने कहा—मैं हूँ। बोला—कि यदि आप ईश्वर हैं तो सृष्टि बनाकर दिखाओ। मैंने कहा—कि यह तुमको किसने बताया कि ईश्वर सृष्टि बनाता है? तुम पहले यह सिद्ध करो कि ईश्वर सृष्टि बनाता है तब मैं यह सिद्ध करूँगा कि मैं ईश्वर हूँ और मैंने यह सृष्टि बनायी—पहले तुम यह तो सिद्ध करो कि ईश्वर सृष्टि बनाता है तब तो ईश्वर सिद्ध ही है और यदि यह नहीं मालूम है कि ईश्वर सृष्टि बनाता है तो काहेको कल्पना करते हो कि सृष्टि बनानेवालेका नाम ईश्वर है? मुझ साक्षीका नाम ईश्वर है, मुझ नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तका नाम ईश्वर है। तुम ईश्वरके बारेमें काहेको ऐसी कल्पना बनाते हो? तो बोले हाँ भाई—यह आत्मा ईश्वर है यह तो बिलकुल अकाट्य है।

विनोबाजीसे सेठ गोविन्ददासने फिलहाल पूछा था—तो विंनोबाजीने और काका कालेलकर दोनोंने एक ही उत्तर दिया—हमको उन्होंने बताया था—कि आत्मा के रूपमें ईश्वरकी सत्ता स्वत: सिद्ध है, अकाट्य है—इसको कभी, कोई किसी प्रमाणसे काट नहीं सकता। अगर ईश्वरकी सत्ता है तो आत्माके रूपमें है और वह बिलकुल अकाट्य है। उसको कोई काट नहीं सकता।

तो **पुरुषात् न परम् किंचित्**—पुरुषके पहले कुछ नहीं और पुरुषके बाद कुछ नहीं, क्योंकि पहले और बाद दोनों काल हैं और वह विषयको देखकर बुद्धिमें कल्पित होते हैं। पहले और पीछे तथा लम्बाई और चौड़ाई—यह वस्तुको देखकर बुद्धिमें इसकी कल्पना होती है, वह परमात्मामें नहीं है। तो पुरुषसे परे, परमात्मासे परे कोई चीज नहीं है, यह बिलकुल अद्वितीय है।

सा काष्ठा—यही आखिरी चीज है; **सा परा गतिः तद्विष्णोः परमं पदम्। सा परा गतिः अध्वनः पारम्**—परा गतिः माने अध्वनः परम् और परमं पदम् माने पराकाष्ठा। विष्णुका परमपद माने पराकाष्ठा। कौन? कि अपना आत्मा और अध्वनः पारम्का अर्थ है परा गतिः—इसके बाद न आना है न जाना है, न लेना है न देना है, सर्वथा आत्मा-ही-आत्मा, ब्रह्म-ही-ब्रह्म, अखण्ड-ही-अखण्ड।

❖

प्रत्यगात्मा सूक्ष्म बुद्धिसे देखा जाता है

अध्याय-१ वल्ली-३ मंत्र-१२

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥ १.३.१२

अर्थ :–सब भूतोंमें छिपा हुआ यह आत्मा प्रकाशित नहीं होता। परन्तु सूक्ष्मदर्शियों द्वारा अपनी सूक्ष्म और एकाग्र बुद्धिसे देखा जाता है॥ १२॥

बोले—भाई, जब परमात्मासे परे, पुरुषसे परे कुछ है ही नहीं—सबसे परे पुरुष और पुरुषसे परे कुछ नहीं, वही परत्वकी पराकाष्ठा है और वही परा गति है, तब वह दिखता क्यों नहीं? श्वेताश्वतर—उपनिषद्में आया है—

यस्मात्परं नापरमस्ति किंचित् (श्वे० ३.९)

अर्थात् परमात्मासे न कुछ परे है, न कुछ उरे है, न कुछ पर है, न अवर है—सबके परे है तो वह और सबसे उरे है तो वह। परमात्मा तो ऐसा है कि उसको हाथसे मुट्ठीमें पकड़ लें—**हस्तग्राह्यमिव आत्मानं दर्शयति**। ऐसा लगता है परमात्मा कि हाथसे पकड़ लें, हृदयसे लगा लें, आँखसे लगा लें, जीभसे चाट लें, क्योंकि उसके सिवाय कुछ है ही नहीं। तो बोले कि फिर मिलता क्यों नहीं? कि मिलता इसलिए नहीं कि मानते नहीं हो, पहचानते नहीं हो; परमात्मा तो तुमको एक क्षणके लिए भी नहीं छोड़ता है, दोनों हाथ फैलाये तुम्हारा इन्तजार कर रहा है कि आओ-आओ! प्यारका स्वरूप परमात्मा है, ज्ञानका स्वरूप परमात्मा है, अस्तित्व—सत्ता परमात्मा है— कोई चीज है तो परमात्मा है; कहीं प्रकाश है तो परमात्मा है, कहीं प्रेम है तो परमात्मा है!

कटुक वचन मत बोल रे तोहे पीव मिलेंगे
जीती बाजी मत हार रे पकड़ हरि को।
घूँघटका पट खोल रे तोहे पीव मिलेंगे॥

घूँघटका पट खोल रे—यह परदा हटा दो, यह आवरण भङ्ग कर दो, यह दुराव मिटा दो! वह तो जने-जने है, वने-वने है—वन-वनमें भी वही है और जन-जनमें भी वही है; और वह रण-रणमें है और वह कण-कणमें है। बस छिप गया है।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते, एष आत्मा सर्वेषु भूतेषु गूढः—यह आत्मा छिपा है, कहाँ? कि यह जो नाना आकृति-विकृति-प्रकृति दिखलायी पड़ती है उनमें। सर्वेषु भूतेषु—अरे चिड़ियामें वह छिपा, चींटीमें वह छिपा—भूत माने चिड़िया, चींटी। तुम चिड़ियाको देखते हो परमात्माको नहीं देखते, जैसे बच्चा मिठाई की शक्ल देखता है, मिठाई नहीं देखता। खिलौने होते हैं न, चीनीके। पहलेकी बात मैं जानता हूँ, अब यहाँ कैसा होता है मैं नहीं जानता-घरमें दीपावलीके अवसर पर हमलोगोंके लिए खिलौला खरीद कर आते थे, खाँड़के खिलौने—यह घोड़ा, यह हाथी, यह गधा, यह स्त्री, यह पुरुष, पनहारिन—बाँहके नीचे घड़ा दबाये हुए—खाँड़की पनहारिन—अब हम बच्चोंमें यह होता कि हम गधा नहीं लेंगे हम तो हाथी लेंगे, हम तो घोड़ा लेंगे! अरे भाई, खाँड़ तो बराबर है दोनोंमें? कि नहीं, राम-राम! क्या हम गधा छूयेंगे? तो क्या हुआ कि गधेकी शकलमें खाँड़ छिप गयी, हाथीकी शकलमें खाँड़ छिप गयी, घोड़ेकी शकलमें खाँड़ छिप गयी। यह देखो, यह वेदान्तका सार है, वेदान्तका सार—क्या? कि तुम शकलका अपवाद करके खाँड़को नहीं पकड़ते हो। जब खाँड़को जानोगे तब शकलका बाध हो जायेगा। पहले शकलको हाथी-गधा-घोड़ा जो नाम-रूप है, उसका अपवाद करके खाँड-मात्रको पहचानो, जब खाँड़-मात्रको पहचान लोगे, तब घोड़े-गधेकी शकल बाधित हो जायेगी। माने शक्ल मिथ्या है क्योंकि शकलका कोई वजन नहीं है, वजनदार तो खाँड़ है। खाँड़में आकृतियाँ सब बाधित हो जायेंगी। यह नहीं कि आकृतियाँ सब टूट जायेंगी, खाँड़ समझनेसे खिलौने कोई टूटते नहीं।

यह नहीं समझना कि ब्रह्मज्ञान हो जायेगा, तो सब स्त्री-पुरुष बिलकुल चटनीकी तरह पीस करके बिना शकल-सूरतके बना दिये जायेंगे। यह तो महाराज वेदान्तके विरोधियोंका 'स्टन्ट' है—भला! व्यवहारको स्वतन्त्र सिद्ध करनेवाली यदि कोई वस्तु है तो वह वेदान्त है; व्यवहारको बिलकुल स्वातन्त्र्य देनेवाला—खाँड़ पहचाननेसे खिलौने टूटते नहीं हैं, बल्कि खानेके ही काम आते हैं। यह ऐसा ब्रह्म है महाराज! शकलमें धातु छिप गयी! घटमें माटी छिप गयी, खिलौनेमें खाँड छिप गयी—शक्लोंमें चैतन्य छिप गया! आकृतियाँ जितनी हैं वे सब चैतन्यमें स्वप्नवत् हैं। सपनेकी आकृतिमें अपना आत्मा छिप जाता है कि नहीं? देखो, सपनेमें मैंने देखा कि कुंभके मेलेमें हजारों-लाखों आदमी हैं और मैं गंगा-स्नान कर रहा हूँ। अब देखो मैं गंगा-स्नान करने वाला जब बना तब सपना

देखने वाला मैं खुद, वह प्रयागाराजका निर्माता, वह त्रिवेणीका निर्माता, वह त्रिवेणीका प्रकाशक, त्रिवेणीमें महत्त्वबुद्धि देनेवाला मैं खुद, परन्तु मैं अपनेको भूल गया और अपनेको नहानेवाला मानने लगा। उस सपनेके कुंभमें वह नाई कहे कि बाल बना लो, वह ब्राह्मण कहे कि दान कर दो और भीड़ है जो धक्का मारे—किसीसे राग होवे, किसीसे द्वेष होवे—तो यह कब हुआ? कि देखनेवाला मैं जहाँ छिप गया? देखने वाला दीखनेवालेमें छिप गया!

बिन्दुमें सिन्धु समान यह सुनि अचरज ना करौ।
हेरनहार हेरान रहिमन आपही आप मैं॥

यह हेरनेवाला, यह ढूँढनेवाला अपने आपमें ही खो गया है—अपने आपको ही भूल गया है।

तो यह चिड़ियामें कौन छिपा है? कि चिड़ियाकी शकल है, उसमें छिपा है परमात्मा; चींटी की शकल है उसमें छिपा है परमात्मा; स्त्रीकी शकल है उसमें छिपा है परमात्मा; पुरुषकी शकल है उसमें छिपा है परमात्मा—

घूँघट का पट खोल रे तोहे पीव मिलेंगे।

तुमको तुम्हारे प्यारेकी प्राप्ति होगी, यह घूँघट हटा दो; यह आवरण भङ्ग कर दो, यह परदा हटा दो—यही है, यही है, अभी है—**एष सर्वेषु भूतेषु।**

भूतेषु—यह तो चिड़िया, चींटी, पशु-पक्षीके अर्थमें हुआ न! अरे, मिट्टी दिखती है और वह नहीं दिखता। कहाँ छिपा है? तो बोले मिट्टीकी शकलमें। मिट्टीकी आकृति—नाम-रूप मिट्टीका जो है उसका अपवाद करके देखो, एक वही सत्ता है। वह जलमें छिपा है, वह अग्निमें छिपा है, वह वायुमें छिपा है, वह आकाशमें छिपा है—असलमें है वही, यह सब तो उसने शकल बनायी है खेलमें—हमारे साथ आँख-मिचौनीका खेल खेल रहा है—

हमको क्या तूँ ढूँढे बन्दे हम तो तेरे पासमें।

ईश्वर क्या कहीं दूर हो गया है? **एष सर्वेषु भूतेषु**—यह इन्द्र जो है यह छिपनेकी शकल है, ब्रह्मा छिपनेकी शकल है, विष्णु छिपनेकी शकल है, शिव छिपनेकी शकल है और वह निराकार जो है सो? वह भी छिपनेकी शकल है। विक्षेप जैसे छिपनेकी शकल है वैसे ही समाधि भी छिपनेकी शकल है, जैसे चींटी छिपनेकी शकल है वैसे ही विष्णु भी छिपनेकी शकल है, जैसे भाव छिपनेकी शकल है वैसे ही अभाव भी छिपनेकी शकल है।

एष सर्वेषु भूतेषु—भवन्ति इति भूतानि तेषु उत्पद्यमानेषु—जिनकी उत्पत्ति

और जिनका प्रलय होता है, जिनका भावाभाव होता है, वे हैं भूत--उन भूतोंमें आत्मा—यह आत्मा छिपा हुआ है। गूढोत्मा—

यहाँ पाणिनीय व्याकरणकी रीतिसे सन्धि नहीं होती है--गूढः+आत्मा मिलकर गूढोत्मा नहीं बनेगा, गूढः आत्मा ऐसा होगा, परन्तु पाणिनी-व्याकरण तो वेदपर लगता नहीं है। वेदके मन्त्र लक्षणानुसारी नहीं होते, अगर तुम्हें व्याकरण बनाना है तो जैसा वेदमें है उसके अनुसार व्याकरण बनाओ। व्याकरण दो तरहका होता है—एक लक्षणानुसारी, एक लक्ष्यानुसारी। तो वेदका व्याकरण लक्षण-प्रधान नहीं है लक्ष्य-प्रधान है; जैसा प्रयोग कर दिया गया वैसा मानो। अगर ऐसी सन्धि पाणिनी व्याकरणमें नहीं है तो वह पाणिनी व्याकरणकी कमी है, क्योंकि वेदमें पहले ऐसा लिखा हुआ था। जब वे व्याकरण बनाते तब उनको सोचकर बनाना चाहिए था कि यह भी उसमें संगत होवे, तो उन्होंने एक ही जगह कह दिया कि बाबा, *छन्दसि दृष्टानुविधिः सर्वे वेदाः।* हम जो-जो विधि निषेध कर रहे हैं, ये वेदपर लागू नहीं है, जैसा वेदमें लिखा है वैसा ही मानना।

तो यहाँ गूढोत्मा है। एक विद्वान् थे बड़े अच्छे, वेदमें-से विज्ञान निकालनेका काम उन्होंने इस शताब्दीमें किया, महामहोपाध्याय पण्डित शिवकुमार शास्त्रीके शिष्य थे, वे स्वयं भी महामहोपाध्याय थे। उन्होंने कहा कि यहाँ आत्मा नहीं। अत्मा ही रहने दो—**गूढो अत्मा न प्रकाशते**। यह अत्मा क्या होता है? तो बोले कि 'त्मा' धातु है जिसका अर्थ है: **न ताम्यति इति अत्मा**—जो जड़-भावको कभी प्राप्त न होवे, हमेशा चम-चम-चम-चम चमकता ही रहे, स्वयं प्रकाश हो उसका नाम आत्मा। अब गूढोत्मा यह शब्द बन जायेगा। **गूढोत्मा न प्रकाशते।**

प्रवचन २

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥ १२॥

सर्वव्यापी प्रत्यगात्मा यः स परमात्मा— सब शरीरमें जो सबसे भीतर आत्मा हैं उसीका नाम परमात्मा है। आपने किसीका नाम सुन रखा हो कि बड़ा विद्वान् है, बड़ा महात्मा है, ऐसा है-ऐसा है-ऐसा है और यह कि वह यहाँपर बैठा है, पर आप उसको पहचानते नहीं हैं—तो आँखसे तो आप उसको देख रहे हैं, परन्तु पहचान नहीं रहे हैं; ऐसी सूरतमें उसको बताना कैसे होगा? कि अरे भाई, इसीका यह नाम है; इस नामवाला यही पुरुष है। तो आपने बचपनसे अब तक यह सुन

रखा है कि एक परमात्मा है, एक ब्रह्म है, एक सत्य है, एक परमार्थ है परन्तु वह कौन है, कहाँ है पहचाना नहीं है। तो श्रुति बताती है कि जो सबके भीतर शुद्ध आत्मा है—सब शरीर तो अलग-अलग दिखायी पड़ते हैं और सब शरीरोंमें जो एक शुद्ध परमात्मा है—उस आत्माका नाम ही परमात्मा है।

अब थोड़ा प्रश्न उठाकरके श्रीशंकराचार्य इस श्रुतिका अर्थ समझाते हैं; उसपर आप जरा ध्यान दें। पहले उन्होंने प्रश्न उठाया कि **तद्विष्णोः परमं पदम्**—वह विष्णुका परमपद है, माने तत्पदार्थका शुद्ध-स्वरूप वही है। जिसको हम ऐसे सोचते हैं न—मिट्टी पानीमें, पानी आगमें, आग हवामें, हवा आकाशमें, आकाश मनमें, मन महत्तत्त्वमें, महत्तत्त्व अव्यक्तमें, अव्यक्त परमात्मामें—ऐसे हम जिस तत्पदार्थके सम्बन्धमें विचार करते हैं वह कौन? तो बताया कि इन्द्रियोंके भीतर उनको उपादान, उनके भीतर मन, उनके भीतर बुद्धि, बुद्धिके भीतर महत्तत्त्व, महत्तत्त्वके भीतर अव्यक्त और अव्यक्तके भीतर पुरुष—मैं आत्मा—वही तो है विष्णुपद, माने तुम्हीं तो हो विष्णुपद और इसको यदि तुमने जान लिया तो **यस्माद्भूयो न जायते**—फिर जन्म-मृत्युके चक्करमें पड़ना नहीं पड़ेगा, छूट गये। तो *मानि-मानि बन्धन में आयो*— मान-मानकर बन्धनमें आये हो—

सूरदास नलिनीको सुअटा कहौ कौने जकड़ायो।
अपन को आपन ही बिसरायो॥

जब तुमने अपनेको देह मान लिया तो जन्म-मृत्युवाले हो गये और अपनेको प्राण मान लिया तो जाने-आनेवाले हो गये; अपनेको मन मान लिया तो सुखी-दुःखी हो गये; अपनेको बुद्धि मान लिया तो बेवकूफ-समझदार हो गये और अपनेको सुषुप्ति-शान्ति मान लिया तो शान्त विक्षिप्त हो गये। इस तरह *मानि-मानि बन्धनमें आयो*— यह दुनियामें जितना भी दुःख है वह सब तुम्हारी मान्यतासे ही है, बाहर कहींसे नहीं आता है।

अब इसपर यह प्रश्न उठाया कि जहाँ गति होती है वहाँसे अगति भी होती है—जहाँ जाना होगा वहाँसे आना भी होगा। परन्तु आत्मा यह तो ऐसा है महाराज, कि जहाँसे फिर पैदा नहीं होते हैं, जहाँसे फिर आना नहीं पड़ता है, तो फिर उसको परागति क्यों कहते हैं?—**सा काष्ठा सा परा गतिः**—परागतिः क्यों कहा?

इसका उत्तर देते हैं—यहाँ गति शब्दका अर्थ गति नहीं है अवगति है। गति और अवगतिमें फर्क होता है। अवगति माने ज्ञान; तो **सा काष्ठा सा परा गतिः** में कहा गया कि पुरुष स्वयं अवगति है, ज्ञान स्वरूप है। गति शब्दका चार अर्थ

संस्कृत-भाषामें होता है—**गमनैर्ज्ञानमोक्षेषु प्राप्तिर्वापि गतिर्मता:**। बचपनमें जब मैं पढ़ता था तब हमारे बाबाने हमको ऐसे बताया था—गति माने गमन, गति माने ज्ञान, गति माने मुक्ति और गति माने प्राप्ति हुआ—ऐसे अँगुलीपर गिनते थे कि चार हुआ न? कि हाँ चार हुआ—**गमनं ज्ञानमोक्षेषु प्राप्तिर्वापि गतिर्मता**। बहुत बचपन था—उनसे आठ-नौ वर्षकी उम्रतक पढ़ते थे तब तककी बातें याद हैं। तो गति शब्दका अर्थ हुआ ज्ञान। मतलब यह हुआ कि यदि पाँवसे चलकर हम किसीके पास जाते हैं या सूक्ष्म शरीरसे उत्क्रमण करके हम किसीके पास पहुँचते हैं तो जहाँ पहुँचेंगे वहाँसे लौटना होगा, लेकिन यदि यह जानेंगे कि हम पहलेसे यहीं है—तो वह तो भ्रान्तिसे जाने-आनेवाला मान रहे थे और जब समझ गये कि हम जाने-आनेवाले नहीं हैं, तो जाना-आना छूट गया। भाष्यकारने कहा—*प्रत्यागात्मत्वं च दर्शितमिन्द्रियमनोबुद्धिपरत्वेन*—इन्द्रियसे परे, मनसे परे, बुद्धिसे परे यह कह करके बताया कि यह तो प्रत्यगात्मा ही है।

प्रत्यगात्मा शब्दका अर्थ क्या होता है? *प्रति प्रतीपम् अंचति इति प्रत्यक्।* जैसे आँख है—तो आँखसे सीधे कौन-सी चीज दिखती है? कि फूल; यह पराक् हुआ। फूलको बोलेंगे पराक्—यह प्राक् है, यह आँखके सामने दीख रहा है—प्राक् माने पूरब—यह आँखके सामने दीख रहा है। ये हमारे महात्मा लोग रोज सबेरे उठकरके सूर्यके सामने खड़े होते हैं न—तो सूर्यके सामने खड़े होकर जो सामने होता है उसको बोलते हैं प्राक् (पूर्व) और जो दाहिने होता है उसको बोलते हैं दक्षिण और जो बाएँ होता है उसको बोलते हैं उत्तर और जो पीछे होता है उसको बोलते हैं प्रत्यक्। प्राची=पूरब, अवाचि=दक्षिण, प्रतीचि=पश्चिम और उदीचि=उत्तर—यह चारों दिशाओंका नाम है।

तो फूल दीख रहा है आँखके सामने—यह पराक् हुआ; इससे प्रति माने उल्टे अर्थात् आँखके पीछे बैठ करके जो देख रहा है वह प्रत्यगात्मा। प्रत्यक् वह है जो आँखोंके पीछे बैठकर आँखमें से देख रहा है। कौन देख रहा है कि मैं ही तो देख रहा हूँ न तो, आँखका चश्मा छोड़करके जरा देखो, कि वह कौन है? कि वही विष्णुका परमपद है।

यो हि गन्ता सोऽगतमप्रत्यग्रूपं गच्छत्यनात्मभूतं—जो कहीं जाता है वह एक अनगये हुए पदार्थके पास जाता है—पराक् पदार्थके पास जाता है, अनात्माके पास जाता है, परन्तु जो आँखोंके पीछे बैठकर देख रहा है वह कहीं नहीं जाता। **'अनध्वगा ऊध्वसु पारथिष्णव:'**—एक कदम तो चले नहीं और रास्तेका अन्त

मिल गया। देखो, यह पहेली हुई कि एक कदम भी चलना नहीं पड़ा और रास्तेका अन्त मिल गया—'अनध्वगा ऊध्वसु पारयिष्णवः' शंकराचार्यने यह श्रुति उद्धृत की है—आजकल ढूँढनेपर यह श्रुति मिलती तो नहीं है; क्योंकि वेदका बहुत-सा भाग लुप्त हो गया। परन्तु देखो, बात क्या है कि एक कदम तो चले नहीं और रास्ता तय। ऐसा कैसे हो गया भाई? कि एक आदमीने भाँग खा ली। अब था तो वह अपने घरमें लेकिन उसको ऐसा मालूम पड़ता था कि हम अपने घरसे दो मील दूर हैं, बीचमें नदी है, नाव नहीं है, हम अपने घर कैसे जायें, कैसे पार उतरें? अब किसी विद्वान् पुरुषने क्या किया कि उसे नावपर बैठाया नहीं, मोटरपर चढ़ाया नहीं—ऐसी युक्ति की कि उसका नशा उतर गया; जब नशा उतर गया तो क्या देखता है कि हम अपने घरमें हैं। तो यह क्या हुआ कि—**अनध्वगा अध्वसु पारयिष्णवः**—एक कदम चला नहीं और दो मीलका रास्ता तय हो गया क्योंकि वह भूलसे अपनेको घरके बाहर समझता था। तो जो अज्ञानसे, अविद्यासे, भूलसे यह समझता है कि मैं अपने आत्मासे, परमात्मासे दूर हो गया हूँ उसको परमात्मा मिलनेका उपाय क्या है कि उसकी अविद्या नष्ट हो जाये, उसका नशा उतर जाये। *नश्यति अनया*— जिससे आदमीका नाश हो जाय वह नशा। श्रुति यही कहती है कि *मुझको तूँ क्या ढूँढे बन्दे मैं तो तेरे पासमें।*

तुम परमात्माको ढूँढने कहाँ जा रहे हो, हिमालयमें? तुम परमात्माको ढूँढने कहाँ जा रहे हो—मन्दिर-मस्जिदमें? **देवो देवालयः प्रोक्तः स जीव परमः शिवः**— मन्दिर तो यह है तुम्हारे पास—हाथ-पाँववाला मन्दिर और इसमें जो तुम्हारा मैं-मैं-मैं करके दीपक टिमटिमा रहा है, यह प्रज्ज्वलित अग्नि है, अनन्त-अग्नि है, यह साक्षात्-परमात्मा है। तो—

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।
दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः॥

एष पुरुषः सर्वेषु ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु भूतेषु गूढः संवृतो दर्शन श्रवणादिकर्माविद्या मायाच्छन्नः—यह जो परमात्मा है यह क्या तो ब्रह्मा और क्या इन्द्र और क्या मिट्टी-पानी-आग-हवा और क्या मैं-तू-यह-वह सबमें 'गूढः संवृतः'—सबमें यह छिपा हुआ है। कैसे छिपा हुआ है? कि छिपा हुआ है, तो कहीं नष्ट थोड़े ही हुआ है—'दर्शनश्रवणादिकर्मा'—यही देख रहा है, यही बोल रहा है, यही सुन रहा है—कानके भीतर बैठकर यही सुन रहा है और जीभके भीतर बैठकर यही बोल रहा है; वक्ताके भीतर जो है वही श्रोताके भीतर है—

दूसरा नहीं है। बोले—फिर कैसे? कि **अविद्यामायाच्छन्नः**—अविद्या और मायासे यह ढका हुआ है। यह **अविद्यामायाच्छन्नः** क्या है कि देखो, असलमें यह देह, इन्द्रिय, मन, प्राणमें अभिमान करके बैठा हुआ है। इसका आँखसे देखना प्रातीतिक है, इसका कानसे सुनना प्रातीतिक है, हृदयसे चिन्तन करना प्रातीतिक है—ऐसा मालूम पड़ता है कि मैं आँखसे देख रहा हूँ, ऐसा मालूम पड़ता है कि मैं कानसे सुन रहा हूँ, पर बस यह मालूम पड़ता है, यह प्रतीति मात्र है; इसका जो पारमार्थिक स्वरूप है, वह तो आँख रहे कि न रहे साक्षी है, कान रहे कि न रहे साक्षी है, जीभ रहे कि न रहे साक्षी है, दिल रहे कि न रहे साक्षी है—इसका जो पारमार्थिक स्वरूप है वह तो साक्षी है। तो अनात्मा और आत्माका जो अविवेक है यह तो अविद्या है, माने, इस शरीरकी मशीनमें बैठकरके शरीरके द्वारा बोले हुएको, सुने हुएको, देखे हुएको अपना बोला हुआ, अपना सुना हुआ, अपना देखा हुआ मानना—यह तो अविद्या है, और इसके द्वारा जो नाम-रूप मालूम पड़ता है सो माया है, मिथ्या है। नाम-रूप जो मालूम पड़ते हैं सो माया और इस मशीनको अपना मैं माननां अविद्या-बस दो में ही आदमी फँस गया। जो नाम-रूप बाहर मालूम पड़ते हैं उनको सच्चा मान बैठना—मायाको, मिथ्याको सत्य मान बैठना और जिस मशीनके द्वारा, जिस दूरबीन-खुर्दबीनके द्वारा देख रहे हैं उसको मैं मान बैठना यह अविद्या है!

अविद्या और माया—वेदान्तमें दोनों तरहसे आता है। एक तो माया तत्पदार्थकी उपाधि है, क्योंकि नाम-रूपात्मक जगत् विशाल दिखायी पड़ता है। अतः यह परमात्माकी उपाधि है और अविद्या जो है वह आत्माकी उपाधि है; और अविद्या-माया दोनों उपाधियोंको अलग कर दो तो जो आत्मा सो परमात्मा। वेदान्तमें तत्त्वमस्यादि महावाक्यका ऐसा अर्थ होता है। कोई कहता है कि अविद्यासे पहले अपने स्वरूपको न जानकरके और यन्त्रमें मैं करके तब उस यन्त्रके द्वारा बहुत सारे पदार्थ देख करके उनको सत्य समझते हैं; तो यदि अविद्या कट जाय—यह जो यन्त्रमें मैं-पना है, मशीनमें मैं-पना है यह अगर मिट जाय, तो इसके द्वारा यह जो जादूगिरी दिख रही है, यह जो जादूका खेल दिख रहा है यह अपने आप ही कट जाय; इसलिए अविद्याको मिटाओ—यह-यह हुई।

अब इसमें एक अर्थ यह निकला कि **अविद्या विद्या-निराकरणीया**—जो अज्ञान है उसको ज्ञानसे काट दो और जो प्रतीति है वह जबतक यह यन्त्र बना रहेगा तबतक नाम-रूपात्मक निखिल प्रपञ्चकी प्रतीति भी बनी रहेगी। तो यह

अविद्या जो है वह विद्या निरस्य है, ज्ञान-निरस्य है विद्याके द्वारा ज्ञानके द्वारा अज्ञानको मिटा दिया जाता है और माया जो है वह तो यह मिथ्या-यन्त्र-सहित सम्पूर्ण जन्य पदार्थोंकी प्रतीति है। तो कानको पकड़ करके देखा कि हम सुन रहे हैं; दिलको पकड़कर देखा कि हम प्यारमें फँसे हुए हैं; बुद्धिको पकड़कर देखा कि हम बड़े विचारवान हैं; शान्तिको पकड़कर देखा कि हम समाधिस्थ हैं—यह असलमें परायेको पकड़ करके, प्रतीतिके विषयको मैं मान करके, मेरा मान करके, इसका जो पसारा है उसको सच्चा मानकरके इसमें फँसे हुऐ हैं।

अतएव न प्रकाशते आत्मत्वेन—इसलिए मैं ही परमात्मा हूँ, मैं ही परमार्थ हूँ, मैं ही ब्रह्म हूँ यह बात किसीको मालूम नहीं पड़ती। **अहो अतिगम्भीरा दुखग्राह्या विचित्रा च इयं माया**—अहो! यह माया कितनी गहरी है, इसकी थाह पाना कितना मुश्किल है। मायाकी थाह कब लगती है कि जब अपना पता चले। इसकी गहराई तब छिछली हो जाती है जब अपने आपको जान लेते हैं और इसकी थाह तब लग जाती है जब अपने आपको जान लेते हैं और इसकी विचित्रता तब मिट जाती है कि जब अपने आपको जानते हैं। देखो न, क्या आश्चर्य है। यह शंकराचार्य भगवान्‌का वचन मैं आपको सुना रहा हूँ—देखो-देखो क्या आश्चर्य है कि ये सब-के-सब प्राणी—जन्तु शब्दका प्रयोग किया है भला मनुष्य-देवताकी बात नहीं है कीड़ा-पतंगा भी परमार्थतः परमार्थ-दृष्टिसे वह बिलकुल परमात्मा ही है और इस प्रकार बारम्बार महात्मा लोग समझाते हैं, उपनिषद् समझाती है **अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि**। गीता समझाती है—**क्षेत्रज्ञं चापि मांम विद्धि**। उपनिषद् बोलतीं हैं, गीता बोलती है, महात्मा लोग बोलते हैं।

एकने महात्मासे पूछा—परमात्मा कैसा? महात्मा बोले—जैसा तू। बोला—मैं कैसा? महाराज! बोले—जैसा परमात्मा। जैसा परमात्मा वैसा तू; जैसा तू वैसा परमात्मा, ऐसे महात्मा लोग बारम्बार समझाते हैं—

बोध्यमानः अहं परमात्मेति न गृह्णाति—परन्तु फिर भी उसको यह बोध नहीं होता कि मैं ही परमात्मा हूँ। *आत्मानं देहेन्द्रियादिसङ्घातमात्मनो दृश्यमानमपि घ्टाादिवदात्वेनाहममुष्य पुत्र इत्यनुच्यमानोऽपि गृह्णाति*। बारम्बार उपदेश करो फिर भी क्या उल्टी बुद्धि हो रही है मनुष्यकी कि जैसे कोई दिखनेवाली चीज अपनेसे अलग दिखती है—घड़ा दीखता है, कलम दीखती है, कागज दीखता है, मेज दीखती है, अपनेसे अलग बिलकुल जो चीज दीखती है वह अपनेसे जुदा, ऐसे यह देह है, यह मन है, यह प्राण है, ये इन्द्रियाँ हैं यह मालूम पड़ते हैं—बिलकुल

मालूम पड़ते हैं कि यह देह-इन्द्रियादि-सङ्घात आत्मा नहीं है, इसको देखनेवाला, इसको जाननेवाला मैं इससे न्यारा है—यह अपना दृश्य है और ठीक वैसा ही दृश्य है जैसे घड़ा दीखता है, जैसे कपड़ा दीख..: है; फिर भी बारम्बार समझाने पर भी और बिना किसीके बतानेपर भी वह कहता है कि मैं यह देह हूँ—किसीने उपदेश नहीं किया कि मैं देह हूँ, मैं अमुकका बेटा हूँ, यह है मेरा बाप। यह तो बिना उपनिषद्के उपदेशके मान लेते हैं, बिना गीताके उपदेशके मान लेते हैं कि हम उनके बेटे, हम उनकी बेटी, यह हमारा पुत्र, यह हमारी पत्नी, यह हमारा धन, यह हमारा घर, यह हमारा मांस, यह हमारा चाम—यह सब तो बिना किसीके बताये ही मान बैठे और शास्त्र बताये कि तुम परमात्मा, उपनिषद् बतावे कि तुम परमात्मा, महात्मा बतावें कि तुम परमात्मा—तुम्हारा किसीसे संग नहीं, तुम्हारे ऊपर किसीका रंग नहीं, तुम अजर हो, तुम अमर हो—स्पष्ट रूपसे श्रुति-शास्त्र, महात्मा यह बात बताते हैं, परन्तु यह बात समझमें नहीं आती। सचमुच इस जादूके खेलमें मनुष्य मोमुह्यमान हो गया है—*मोमुह्यमानः सर्वो लोको बम्भ्रमीति*— सारी दुनिया मोहित होकर *परस्यैव कस्यचित् एव मायया एव लोको भुवनविमोहिताः*—सचमुच किसीकी मायाने, किसीके जादूने दुनियाको मोहित कर रखा है, लोग इसीमें फँसे हुए हैं। **नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः**—गीतामें लिखा है। इसीसे 'न प्रकाशते'।

यह जो दीखनेवाली चीजोंमें मोह है—बेटा रोज फटकारता है, लेकिन कहते हैं कि मेरा बेटा; शरीर रोज टूटता है, दर्द देता है, रोज फटता है पर कहते हैं कि शरीर मेरा; अपने किये हुए कर्म रोज सताते हैं—अच्छा काम हो गया तो अभिमान हो गया और बुरा काम हो गया तो विषाद मिल गया—रोज-रोज अपने किये हुए कर्म सताते हैं, लेकिन कहते हैं कि मैं कर्मका कर्त्ता; ये दुनियाके भोग रात-दिन दुःख देते हैं—कोई मिलकर दुःख देता है, कोई न मिलकर दुःख देता है परन्तु कहते हैं कि हम भोक्ता। तो नारायण ऐसी मायाके चक्करमें लोग फँसे हुए हैं।

कश्चिन् मायया एष लोको भुवनं विमोहिताः।

ननु विरुद्धमिदमुच्यते मत्वा धीरो न शोचति न प्रकाशते इति च॥

पूर्वपक्षी कहता है—क्योंजी, पहले तो तुमने कहा कि जिसको यह आत्मप्रकाश हो जाता है, ब्रह्मज्ञान हो जाता है, वह शोकसे मुक्त हो जाता है—अपने आपको जान लो, कोई शोक होगा ही नहीं। असलमें शोक होता ही उसीको है जो 'शो' करता है या 'शो' देखता है! यह 'शो' है ना—जो तमाशा देखनेमें लग गया उसको शोक

होता है अथवा कि जो तमाशा करनेमें लग गया उसको शोक होता है। शोक उसको बिलकुल नहीं होता जो अपने मन और बुद्धिको काबूमें रखकरके चलता है—**मत्वा धीरो न शोचति**—धीर पुरुष जहाँ परमात्माको समझ गया उसके लिए फिर शोक नहीं है। फिर 'परमात्माका प्रकाश नहीं होता है'—यह बात क्यों कहते हैं।

इसका उत्तर देते हैं—यह बात यों कहते हैं कि **असंस्कृत-बुद्धेरविज्ञेयत्वात्**—जिसको सत्सङ्गका संस्कार नहीं है, बुद्धिको जो नये ढंगसे नहीं ढालता है, उसके लिए परमात्माका ज्ञान होना मुश्किल है।

संस्कृत शब्दका दो अर्थ होता है संस्कृत-भाषामें—संस्कार दो तरहके होते हैं, कोई-कोई तीन तरहके भी मानते हैं। कर्म-काण्डमें एक संस्कार होता है—**दोषापनयन**—जैसे आपके घरमें कोई कपड़ा हो और उसमें मैल लग गयी हो तो उसका संस्कार करेंगे। क्या संस्कार करेंगे कि साबुन लगाकर धो देंगे जिससे मैल छूट जायेगी। यह कैसा संस्कार हुआ? कि दोषापनयन-संस्कार हुआ—दोषको दूर कर दिया। और दूसरा संस्कार हुआ कि इसको चमाचम, रंगारंग कर दो—वह पीले रंगमें उसको रँग दिया, तो रँगना भी एक संस्कार हुआ। इसको 'गुणाधान संस्कार' कहते हैं। तो यह जो अपना अन्तःकरण है इसमें बाहरका जो कूड़ा-करकट-कचरा इकट्ठा हो गया है उसको पहले बाहर कर दो और फिर अन्तःकरणको चमका दो। हमारे यहाँ लकड़ीका संस्कार दो तरह से होता है—लकड़ी ऊँची हो, ऊबड़-खाबड़ हो तो रन्दा मारकर उसको बिलकुल बराबर कर देते हैं और उसके बाद पॉलिश मार करके उसको बिलकुल चमका देते हैं; तो वह जो रन्देसे रगड़कर ऊबड़-खाबड़ निकालना है, इसका नाम 'दोषापनयन-संस्कार' है; और उसपर जो पॉलिश करना है, इसका नाम गुणाधान-संस्कार है; और कहीं टूटी-फूटी हो तो उसको जोड़ देना, कहीं गड्ढा हो गया हो तो उसके ऊपर चिप्पी लगा देना, उसको भर देना—इसको अङ्ग-पूर्ति (हीनांगपूर्ति) संस्कार कहते हैं। अङ्गहीन हो तो अङ्गपूर्त्ति-संस्कार करते हैं।

अब क्या है कि यह जो तुम्हारी बुद्धि है, इस बुद्धिमें दुनियाके संस्कार तो भर गये—अरे महाराज—ऐसा पकड़ते हैं दुनियाको कि मर जायें तो मर जायें पर छोड़नेको राजी नहीं हैं—रोज लड़ाई होती है पर फिर वही ढाकके तीन पात—रोज दुःख मिलता है पर फिर उसीके दरवाजे पर; रोज अपमान होता है मगर फिर उसीके सामने। यह क्या है बाबा? कोई माया है जरूर। तो बुद्धिमें संस्कार आना

चाहिए। संस्कार आना क्या? कि जो पहलेकी पकड़ है वह छूटनी चाहिए। लेकिन वह पकड़ तो छोड़ते नहीं।

एक आदमीको किसीसे बड़ी आसक्ति थी, बड़ा प्रेम था, बडा मोह था। तो हम उससे क़हते कि तुम यह मोह छोड़ दो, तो तुम्हें परमात्माकी प्राप्ति हो जायेगी। बोला कि अच्छा महाराज, छोड़ देते हैं। छोड़ दिया। फिर उसको वेदान्तका वर्णन सुनाने लगा—यह नहीं, यह नहीं—ऐसा-ऐसा-ऐसा और फिर अन्तमें सुनाया कि सब ब्रह्म ही है। तो बोला कि वाह-वाह-वाह, सार बात तो यह है कि सब ब्रह्म ही है; कि हाँ, सार बात तो यही है कि सब ब्रह्म ही है। तो बोला कि अच्छा मैं जिससे प्रेम करता था वह ब्रह्म है कि नहीं? कि है भाई, वह भी ब्रह्म है। तो बोला कि जब सब ब्रह्म ही है तब मोह क्यों छोड़ें फिर? वही *ढाकके तीन पात!* 'सब ब्रह्म ही है' का मतलब यह हुआ कि जिससे मोह है, उसको छोड़नेके लिए राजी नहीं है, उसकी ओरसे बुद्धि हटती नहीं है। तो बुद्धिमें जो मोहका दोष भरा हुआ है, उस दोषको निकालना और उसको पूर्णताके रंगमें रँगना और जो बात समझमें नहीं आती है, वह बुद्धिमें प्राप्त करना, इसको संस्कृत बुद्धि कहते हैं।

जब संस्कृत-बुद्धि होती है तब? **दृश्यते तु अग्रया बुद्ध्या**—अग्रया माने संस्कृतया—**अग्रया अग्रमिवाग्रया तया एकाग्रतयोपेतयेत्येतत्** एकदम नुकीली बुद्धि हो! वाण लक्ष्यका भेद कब करता है जब उसका नोक तीक्ष्ण होता है; इसी प्रकार बुद्धि परमात्मामें तब प्रवेश करती है जब नुकीली हो।

एक बार एक बालक अपना घर-द्वार छोड़कर वृन्दावनमें आया—पच्चीस-तीस वर्ष पहलेकी बात है। उसको देखते ही न जाने क्यों श्री उड़ियाबाबाजी महाराज बोले—कि इसको मत रखना, हटा दो यहाँसे। अब लोग कितना भी उसको हटावें वह हटे नहीं, वापस आ जाय; पढ़ा-लिखा था। अब उसको कोई कहे कि बुद्धि शुद्ध करो तब परमात्माका ज्ञान होगा, तो बोलता कि शुद्ध-अशुद्ध क्या होता है, सब परमात्मा ही तो है। तो यह क्या हुआ? कि यह तो साधनका तिरस्कार हो गया न? कोई कहे कि भाई, आँख जरा पक्की करके जरा गौरसे देखो; तब दिखेगा; बोले भाई, कि जब है तब क्या आँखको पक्की करना, क्या नहीं करना? तो दिखेगा तुमको थोड़े ही? साधनका तिरस्कार नहीं करना चाहिए—जैसे कोई दूरबीन दूर फेंक करके दूरकी चीज देखना चाहे और कोई खुर्दबीन फेंक करके सूक्ष्म वस्तुको देखना चाहे तो; है ही है यह विश्वास करना पड़ेगा, जब तक कि उसको प्रत्यक्ष नहीं कर लेंगे, साक्षात् अपरोक्ष नहीं कर लेंगे।

उस लड़केकी दशा अन्तमें बड़ी विलक्षण हुई, जिस मन्दिरमें हम रहते हैं न—जे.के. वालोंका—यह मन्दिर बन रहा था और उसके पल्ले लगे हुए थे, काम करनेवालोंके लिए; तो रातको वह उसके ऊपर चढ़ कर दोनों पाँव फँसा कर लटक गया था तो ब्रह्म ही; और फिर क्या किया कि एक झोलेमें विष्ठा भरकरके आगपर पकाने लगा। बोले कि यह क्या है? कि ब्रह्म है। तो वेदान्तका अभिप्राय ऐसा तो बिलकुल नहीं है—है ना—पहले बुद्धिका संस्कार करना पड़ता है, उसमें कहाँ माया, मोह, लोभ, द्रोह भरा हुआ है, उसको हटाना पड़ता है और उसमें श्रवण-मननके द्वारा, निदिध्यासनके द्वारा शुद्ध वस्तुकी भावना भरनी पड़ती है—पहले बुद्धिको खाली करना पड़ता है, फिर शुद्ध वस्तुकी भावना देनी पड़ती है और फिर भावना देनेके बाद जब बुद्धि एकाग्र होती है तब उस बुद्धिका जो अधिष्ठान है, जो प्रकाशक है वही स्वयं प्रकाश अद्वितीय ब्रह्म है, यह बोध हो जाता है। तो जब बुद्धि नुकीली होती है, तीक्ष्ण होती है, शुद्ध होती है, एकाग्र होती है तब वह प्रत्यक्-चैतन्यको ब्रह्माभिन्न और ब्रह्मको प्रत्यक्चैतन्याभिन्न जान पाती है!

तो बुद्धि कैसी होनी चाहिए? तो बोले *सूक्ष्मया-सूक्ष्म-वस्तु निरूपण-परया*। तुम्हारी बुद्धि किस चीजका निरूपण करती है? आपको क्या बतावें महाराज—आपलोग तो सब सत्सङ्गी पढ़े-लिखे श्रेष्ठ पुरुष हैं, जिज्ञासु हैं सभी, पहले हम सत्सङ्गमें जाया करते थे। कभी-कभी-सत्सङ्गमें हजारों आदमी आया करते थे, कोई मामूली सत्सङ्ग नहीं था और दो-तीन महीने तक डटाडट सत्सङ्ग होता था, उपदेश करनेवाला उपदेश करे और सुननेवाला सुने—पर वक्ताको रोज यह बात बतानी पड़ती थी कि देखो, जहाँ तुम बैठकर सत्सङ्ग करते हो वहाँसे एक फर्लाङ्ग दूर जाकर तब शौच जाना (नहीं तो महाराज वहीं बैठकर लोग गन्दा कर देते थे) लघु शङ्का करनेके लिए गङ्गाजीका किनारा इतनी दूर छोड़कर जाना उनको मालूम नहीं था कि गंगाजीका किनारा गन्दा नहीं करना चाहिए। तो सौ सयाने एक मत महाराज, वे बोलें कि हमारे एकके गन्दा करनेसे क्या होता है और सबेरे सारा किनारा गन्दा मिले। तो जिसकी गन्देमें रुचि है, अपवित्रमें रुचि है जो दुराचारको छोड़ना नहीं चाहता, दुर्भावको छोड़ना नहीं चाहता, दुर्गुणको छोड़ना नहीं चाहता और *'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'* के ज्ञानसे उसका समर्थन करता है उसको परमात्माका ज्ञान कैसे होवे? ज्ञान विचारा सोचता है कि हम इसके पास जावेंगे तो यह हमको भी गन्दा कर देगा। स्वच्छ पुरुष गन्देके साथ कैसे मिले?

तो सूक्ष्मवस्तुनिरूपणपरया—देखो तुम्हारी बुद्धि किस वस्तुका स्पर्श करती

है? तुमको चोरकी कथामें आनन्द मिलता है? कहो तो दृष्टान्त सुना दें चोरका; भूतकी कथामें आनन्द आता हो तो कितनी ही चुड़ैलोंकी कथा सुना दें; अगर तुम्हें खटिकिन और खटीकके ही दृष्टान्त अच्छे लगते हों तो चलो हम तुम्हारे मनको खटीकके घरमें पहुँचा दें। बुद्धि जब तत्त्वग्राहिणी, परमार्थ-ग्राहिणी, भगवत्-ग्राहिणी होती है, जब बुद्धिको नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त परमात्माके सिवाय दूसरी वस्तु अच्छी नहीं लगती है उसीको सुने, उसीको बोले और उसीमें रम जायें और उसीमें रुच जायें तब उसे परमात्माकी प्राप्ति होती है। तुम्हारी बुद्धि स्थूल वस्तुको पकड़ती है कि सूक्ष्म वस्तुको पकड़ती है? यह देखना। जिसकी बुद्धि सूक्ष्म वस्तुको पकड़ने वाली होती है उसको परमात्माकी प्राप्ति होती है।

श्री हरिबाबाजी महाराज कथा सुननेके लिए एकके घर जाया करते थे—एक प्रभुपाद थे। वृन्दावनमें एक थे चैतन्य महाप्रभु और एक थे नित्यानन्द महाप्रभु—तो नित्यानन्द महाप्रभुके जो वंशज हैं उनको प्रभुपाद बोलते हैं—तो उनके घर जाया करते थे, कथा सुननेको। तो वे लोग गृहस्थ होते हैं; उनकी जो बैठक थी उसमें जगह-जगह खूँटी लगी हुई थी और उनपर शाल-दुशाले लटके रहते थे। वे जाकर चुपचाप बैठ जाते, आँख बन्द रखकर कथा सुनते और कथा सुनी कि वापस घर लौट आते। चार महीने गये कथा सुननेको एक दिन एक सेवकने जो उनके साथ जाता था उनसे कहा कि महाराज, कथा तो ये बहुत बढ़िया कहते हैं लेकिन ये शाल-दुशाले इनके यहाँ क्यों लटके रहते हैं? बाबा बोले—कि भले मानुष, हमने तो आँख उठाकर देखा भी नहीं कि भीत पर क्या लगा है या खूँटीपर क्या लटका है। इतनी बढ़िया भगवान्‌की कथा वे करते हैं उसको हम सुनते हैं, तुम कथा सुनने जाते हो कि वहाँ क्या रखा है यह देखने जाते हो? तुम्हारी बुद्धि गुबरैला है कि चींटी है? चींटीकी बुद्धि शक्कर लेती है और गुबरैलाकी बुद्धि विष्ठा लेती है।

तुम्हारी बुद्धि कहाँ फँसी हुई है? देखो, आँख तो वह जो हजार आदमीकी भीड़में-से झट खोज करके अपने प्यारेके पास पहुँच जाये जिससे तुम्हारा प्रेम होगा वह आदमी यदि हजारोंकी भीड़में बैठा होगा तो तुम्हारी आँख उसपर चली जायेगी कि नहीं? तो यदि संसारकी भीड़में, प्रपञ्चकी भीड़में परब्रह्म परमात्मा छिपा हुआ है और तुम उसके प्रेमी हो, उसके जिज्ञासु हो तो क्यों नहीं तुम उसी-उसीको देखते? उसीपर तुम्हारी आँख क्यों नहीं जाती? वह या तो है नहीं या तो तुम्हारी आँखमें प्रेम नहीं है कि उसको ढूँढ निकाले।

तो, जिसकी बुद्धि एकाग्र होती है, मुट्ठीमें होती है, अपने लक्ष्यका भेदन करना चाहती है और सूक्ष्म माने सूक्ष्म वस्तुको पकड़नेवाली होती है वह बुद्धि परमात्माका दर्शन करती है—*दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या*। बुद्धिमें दो चीज चाहिए—एक एकाग्रता (अग्र्यया) और एक सूक्ष्मता (सूक्ष्म)। एकाग्र भी होवे—पर कहाँ होवे एकाग्र? किसीकी बुद्धि रसोई बनानेमें एकाग्र हो जाती है, किसीकी बुद्धि कपड़ा सिलनेमें एकाग्र हो जाती है, नोट गिननेमें बुद्धि कितनी एकाग्र हो जाती है—है न! आप देखो, आप सत्सङ्गकी बात सुनते हो तो कभी कोई बात सुनायी देती है, कभी छूट जाती है—यह ऐसा ही है जैसे नोट गिननेमें कोई-कोई नोट छूट जाता है—यह नोटसे कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, तो नोट गिनने हों तब तो उसको इतना महत्त्वपूर्ण समझे हो कि एक नोटकी भी भूल न होने पावे और सत्सङ्ग सुनते हो तो तुम्हारी बुद्धि नुकीली क्यों नहीं रहती है? प्रत्येक बातको महत्त्वपूर्ण समझकर क्यों नहीं ग्रहण करती है? क्यों नींद आ जाती है बैठे-बैठे? क्यों मन दुकानमें चला जाता है? क्यों मन घरमें चला जाता है? इसका अर्थ है कि परमार्थकी जिज्ञासा नहीं है? परमार्थसे प्रीति नहीं है तो बुद्धि होनी चाहिए नुकीली, छेद दे महाराज! हजारोंके बीचमें-से जाकरके उसीपर जमे और सूक्ष्मया—मोटी-मोटी बातपर, मोटी-मोटी बातपर नहीं जमे।

तो, यही बात यहाँपर समझायी गयी है कि परब्रह्म परमात्मा जो है सो कहाँ? तो बोले—**इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः अर्थेभ्यश्च परं मनः**—यह क्या है? कि यह सूक्ष्म है। इस तरहसे स्थूलसे सूक्ष्मकी ओर—विषयसे इन्द्रियमें, इन्द्रियसे अर्थमें, अर्थसे मनमें, मनसे बुद्धिमें, बुद्धिसे महत्तत्त्वमें, महत्तत्त्वसे अव्यक्तमें, अव्यक्तसे परमात्मामें जो सूक्ष्मात् सूक्ष्मतम है—उसको बुद्धि ग्रहण करे तब उसको सूक्ष्मा बोलेंगे—यह सूक्ष्मताकी परम्परा बतायी। और एकाग्रका अर्थ है कि बुद्धि केवल उसीको ग्रहण करे। ऐसी जिनकी बुद्धि है वे सूक्ष्मदर्शी विद्वान् इस तत्त्वको, परमात्माको पहचानते हैं।

अध्याय—१ वल्ली—३ मंत्र—१३

बोले भाई, हमारी बुद्धि सूक्ष्म और एकाग्र हो जाये इसके लिए कोई योग, कोई युक्ति चाहिए। तो लो, इसके लिए योग-युक्ति भी बताते हैं—

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानामात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥ १.३.१३

अर्थ :—विवेकी पुरुष वाक्, मनमें उपसंहार करे, मनका प्रकाशस्वरूप बुद्धिमें उपसंहार करे, बुद्धिको महत्तत्त्वमें लय करे और महत्तत्त्वको शान्त आत्मामें नियुक्त करे॥ १३॥

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः—आओ, जरा भीतर हो जाओ, इसका अभिप्राय आपको सुनावेंगे—इस भीतरका अर्थ है समाधि लगाना—मन बिलकुल कुछ भी ग्रहण न करे, एकाग्र हो जाये।

हमारे एक सत्सङ्गी थे—वे श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजके सामने ही बैठते थे। तो सत्सङ्ग करते-करते उनका सिर झुक जाता था। बाबा बोलते, क्यों सो गये? तो बोलते, नहीं-नहीं, जरा समाधि लग गयी थी—सुनते-सुनते समाधि लग गयी।

असलमें यह जो परमार्थ है इसके लिए समाधि लगाना भी रास्तेमें एक स्थान हो सकता है, लेकिन यह खुली आँखसे देखनेके लिए है, इससे आपके काम-धन्धेमें कोई बाधा नहीं पड़ेगी, रुपया-पैसा कमानेमें बाधा नहीं पड़ेगी, स्त्री-पुरुषमें कोई बाधा नहीं पड़ेगी। यह ज्ञानकी समाधि बड़ी विलक्षण होती है—जरा वाणीको मनमें ले आओ।

वाणीको मनमें ले आओ, माने क्या जीभको कलेजेमें ले जायें? कई योगी लोग जो होते हैं वे क्या करते हैं कि वे जीभको उलट करके तालुमें एक छेद होता है उसमें लगा देते हैं। एक बालकको यहीं बम्बईमें ही कोई तीस-पैंतीस वर्ष पहले देखा था, उसकी उम्र छोटी थी, तो वह अपनी जीभ निकालकर नाक चाटता था। बचपनसे ही उसकी जीभ ऐसी थी। आप अपनी नाक तक अपनी जीभ पहुँचानेकी कभी कोशिश करना, नहीं पहुँचेगी—उसकी जीभ इतनी लम्बी थी कि वह बचपनमें अपनी नाक चाटता था—पर वह ब्रह्मरसका स्वाद नहीं होता है, चमड़ीका ही स्वाद होता है, रस तो चमड़ीका ही होता है, क्योंकि जीभका जो

स्वाद आता है और पानीके रूपमें जो निकलता है वह तो शरीरका स्वाद होता है पर कोई ब्रह्मामृत थोड़े ही होता है—वह ब्रह्मामृत नहीं होता। तो ऐसे जीभको (वाणीको) मनमें नहीं ले जाया जाता। यहाँ वाक् जो है वह सम्पूर्ण इन्द्रियोंका उपलक्षण है—श्रीमद्भागवतमें तो इसका निरूपण बड़े विस्तारसे है।

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः—इसको पहले आप वाणीसे ही लो। जीभसे हम बोलते हैं, कुछ-न-कुछ बोलते हैं, तो जो मनसे जानते हैं वही जीभसे बोलते हैं—यदि अच्छा जानते हैं तो अच्छा बोलते हैं, बुरा जानते हैं तो बुरा बोलते हैं—नहीं जानते हैं तो 'नहीं जानते हैं' ऐसा बोलते हैं और जानते हैं तो 'जानते हैं' ऐसा बोलते हैं—वाणीसे जो बोलना होता है वह यदि मनमें कोई चीज न हो तो जीभ बोले कैसे? तो बोले कि जीभका पत्ता काटो, जीभकी सत्ता काटो, जीभकी महत्ता काटो—यह करो कि मनसे जुदा वाणी नहीं है, मनसे जुदा चलना नहीं है, मनसे जुदा करना नहीं है, मनसे जुदा बोलना नहीं है—

स एष घोषो विवरप्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः।
मनोमयं सूक्ष्ममुपेत्यरूपं मात्रा स्वरो वर्ण इति स्थविष्ठ॥

मन ही पहले मात्रा बनता है, फिर स्वर बनता है, फिर वर्ण बनता है। यह जो जीभ हिलती है यह मनके हिलाये हिलती है, मन अगर न हिलाये तो जीभ हिले नहीं—मन न हिले तो ब और व में क्या फर्क है यह आपको कैसे मालूम पड़ेगा? एक होता है 'बाप' का 'ब' और एक होता है 'वाक्य' का 'व'—ब और व बोलनेमें आपको फर्क मालूम पड़ता है कि नहीं? 'ब' होठ से बोला जाता है और 'व' गलेमें भीतरसे बोला जाता है। तो, यह होंठको कौन हिलाता है तब ब निकलता है और गलेके भीतर कलेजेको कौन हिलाता है तो व निकलता है? तो बोले कि यह जो जितने अक्षर निकलते हैं, जितने वर्ण निकलते हैं, जितने स्वर निकलते हैं—क-ख-ग-घ—ये वर्ण, अ-आ-इ-ई—ये स्वर और इनसे भी छोटी इनकी मात्राएँ कहाँसे निकलती हैं? इस पर आप जरा ध्यान दो कि ये कैसे निकलते हैं? तो बिना मनःसंकल्पके, मनके द्वारा शरीरके अवयव-विशेषको स्पन्दित किये बिना, हिलाये बिना वाक् उच्चारण नहीं कर सकती। तो असलमें जब मन है तब वाक् है, जब मन नहीं है तब वाक् नहीं है। सुषुप्तिमें कोई क्यों नहीं बोलता? तो असलमें यह वाक्, यह हाथ, यह पाँव, यह गुदा, यह मूत्रेन्द्रिय—ये काम करते ही तब हैं जब इनमें मन होवे! और आँख कब काम करती है, कान कब सुनता है, स्वाद कब मालूम पड़ता है कि जब मन होवे। मनके बिना कोई भी

इन्द्रिय अपना काम करनेमें समर्थ नहीं है, मनके होनेपर इन्द्रियाँ हैं और मनके न होनेपर इन्द्रियाँ नहीं हैं, इसलिए मनसे जुदा इन्द्रियाँ हैं, यह कल्पना छोड़ो। अब मन कहाँ है—यह बात अब आगे सुनावेंगे।

सूक्ष्म वस्तुके दर्शनके लिए जैसा योग करना चाहिए वैसा योग बताते हैं। योग माने होता है उपाय। संस्कृत भाषामें कई चीजोंको एकमें मिला देनेका नाम योग होता है, और आयुर्वेदमें ऐसा योग प्रसिद्ध है—अनेक जड़ी-बूटियोंको एकमें मिलाकर जो दवा बनाते हैं उसको योग बोलते है, यह शरीरके लिए हुआ। और आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार—यह कई प्रकारकी क्रिया जो करते हैं इसको भी अष्टांग योगमें योग बोलते हैं—यह मनके स्वास्थ्यके लिए योग है। और आत्म-स्थिति, आत्म-निष्ठा-रूप योगका सम्पादन करनेके लिए जो चित्तवृत्तिको निरुद्ध करते हैं, शान्त करते हैं, वह निरोध योग है। यों प्रक्रिया-भेदसे योग कई प्रकारका होता है वैसे तो हमलोग कर्म करते हैं, परन्तु वही कर्म जब अपने लिए न करके अपने भगवान्के लिए करें, तो उसका नाम कर्मयोग हो जाता है—स्वार्थ-त्याग करके समष्टि-रूप भगवान्की सेवाके लिए, या विराट्की सेवाके लिए या हिरण्यगर्भकी सेवाके लिए या ईश्वरकी सेवाके लिए जो हम कर्म करते हैं वह कर्मयोग है। सबके हृदय-मन्दिरमें विराजमान ईश्वरकी सेवाके लिए करें, तो उसका नाम भक्तियोग हो जाता है। पर उसको पहचान करके अपने स्वरूपका जो अज्ञान है, उसको मिटानेके लिए जब कर्म करते हैं तब उसका नाम ज्ञानयोग हो जाता है। इसमें बहुत भेद होते हैं—कर्मयोग, भक्तियोग, ज्ञानयोग; विश्वकी दृष्टिसे कर्मयोग, तेजस्की दृष्टिसे भक्तियोग, प्राज्ञकी दृष्टिसे अष्टाङ्गयोग, तुरीयकी दृष्टिसे ज्ञानयोग—इनके अतिरिक्त समर्पण योग, राजयोग, राजाधिराज योग, महाराजाधिराजयोग, पूर्णयोग, महायोग, हठयोग, मन्त्रयोग—आजकल लोगोंने बहुत सारे नाम रख छोड़े हैं। कुछ समय पहले योग शब्दके अर्थकी ओर लोगोंका खिंचाव ज्यदा हो गया है। योग बड़ी बढ़िया चीज है, योग सीख लेंगे तो आसमानमें उड़ेंगे, हवाई-जहाजका किराया नहीं देना पड़ेगा; योग सीख लेंगे तो पानी पर चलेंगे जहाजका किराया नहीं देना पड़ेगा—बहुतसे कंजूस लोग भी इसमें शामिल हो गये—बिना खाये-पिये भी रह सकेंगे। तो यह सब उपद्रवकी बात है, योगका इन सब बातोंके साथ कोई खास सम्बन्ध नहीं है। योग शब्दका अर्थ है—अपने स्वरूपको जाननेकी युक्ति—*योगो युक्तिः*—कौन-सी-युक्ति कि अपने आपको पहचाननेकी युक्ति इसका नाम है योग।

बोले—अपनेको तो अभी हम वक्ता समझते हैं—ऊँचे बैठ गये तो वक्ता हो गये और कुर्सीपर बैठ गये तो श्रोता हो गये। माने कानकी प्रधानतासे जो बैठा उसका नाम श्रोता और जीभकी प्रधानतासे जो बैठा उसका नाम वक्ता! यह देखो, उपाधिको जब स्वीकार करते हैं तब वक्ता-श्रोता बनते हैं। तो इसी तरहसे और बहुत-सी उपाधियाँ हैं जिनको स्वीकार करके हम वैसा-वैसा बनते हैं—पाँवकी उपाधिको स्वीकार करके हम गन्ता-चलनेवाले बनते हैं; हाथकी उपाधिको स्वीकार करके हम आदाता-पकड़नेवाले, लेनेवाले बनते हैं; आँखकी उपाधिको स्वीकार करके हम देखनेवाले बनते हैं; नाककी उपाधिको स्वीकार करके सूँघनेवाले बनते हैं—जैसे कानकी उपाधिसे श्रोता, वैसे नाककी उपाधिसे घ्राता, जीभकी उपाधिसे वक्ता, पाँवकी उपाधिसे गन्ता यह हमने उपाधियोंके अनुसार अपना नाम रख छोड़ा है। जैसे कोई अपना नाम रखले गवर्नर, मिनिस्टर, कलक्टर—तो ये सब असली नाम थोड़े ही हैं, पदेन ये नाम हुए न—मिनिस्टर नाम पदेन हुआ, कलक्टर नाम पदेन हुआ, गवर्नर नाम पदेन हुआ—असली नाम उसका क्या है? तो बोले कि पदसे अलग करके जो उसका नाम है वह उसका असली नाम होगा? तो आपने भी अपने नाम पदेन रख लिये हैं, पाँवमें बैठे तो गन्ता हो गये, जीभमें बैठे तो वक्ता हो गये, कानमें बैठे तो श्रोता हो गये—यह सब आपके खिताब हैं, पदेन आपके नाम हैं—ऑफिसमें गये तो बाबूजी हो गये; बेटेको गोदमें उठाया तो पिताजी हो गये और पत्नीसे प्यार करने लगे तो पतिजी हो गये। तो कोई पति-पुत्र आपका नाम थोड़े ही है, आपकी पहचान थोड़े ही है—यह तो सब औपाधिक हैं—वेदान्ती लोग इसीको औपाधिक कहते हैं। तो यदि अपने आपका पहचानना हो, तो यह पदेन जितने आपके नाम हैं उनसे अपनेको अलग करके पहचानना होगा। पराये घरमें बैठनेसे आपका नाम मेहमान बन गया—आपका असली नाम मेहमान है क्या? असली नाम तो आपका मेहमान नहीं है । तो यह जो नाकमें, आँखमें, कान में, हाथमें, पाँवमें, दिलमें, दिमागमें आप आकर बैठ जाते हैं, तो आपको नाम मेहमान हो जाता है, आपका नाम जीव हो गया। तो ये जो बैठनेकी जगहें हैं इनको जब एक बार छोड़ करके माने अपनेको जब इनसे अलग करके देखोगे कि तुम कौन हो तब तुम्हारी असलियत मालूम पड़ेगी कि तुम कौन हो। इसलिए यह युक्ति बतायी जा रही है।

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञः—मनसीमें जो दीर्घ ईकार है यह छान्दस् है—वेदमें ऐसा होता है, लोकमें तो ह्रस्व इकारसे काम चलता है। *वाक् मनसी (मनसि)*

यच्छेद्—यह जो वाक् है—बोलना है, इसको मनमें शान्त कर दो। तो यहाँ बोलनेका अर्थ चलना, करना, देखना, सुनना, सब इन्द्रियोंका जो काम है वह सब है—उसको मनमें लीन कर लो, माने केवल मनके रूपसे रहो, इन्द्रियोंका व्यवहार बन्द कर दो। एक युक्ति यह हुई कि मनमें बैठ जाओ—तुम सोचनेवाले हो, मन-रूप हो, तुम इस हड्डी-मांस-चाम-विष्ठाके शरीरमें जो नाकका छेद है, वह तुम नहीं हो, जो हजारों छेदवाली जिह्वा है वह तुम नहीं हो, तुम कान नहीं हो, तुम त्वचा नहीं हो, तुम इनसे न्यारे हो, बिना मन के इन इन्द्रियोंकी कोई शक्ति, कोई जुर्रत नहीं है, यह बात देखो, श्रुतिमें आयी।

अहं अन्यत्र मनोऽभूवं नादर्शम् अहं अन्यत्रमनोऽभूवं नाश्रौषम्।

मेरा मन दूसरी जगह चला गया था। मैंने देखा नहीं, सुना नहीं। श्रीमद्भागतमें तो वर्णन है कि एक बढ़ई-सुनार अपनी दुकानपर बैठकर वाण बना रहा था, तो उसके सामनेसे राजाका जुलूस निकल गया और बादमें जब एक आदमीने उससे आकर पूछा कि ओ मिस्त्रीजी, राजाकी सवारी यहाँसे निकल गयी कि नहीं निकली? तो उसने कहा कि भाई, मेरा मन तो बाणमें लगा हुआ था, मैंने आँख उठाकर सड़ककी ओर देखा नहीं। तो आँख क्या करेगी, अगर मन दूसरी जगह हो, नाक क्या करेगी, यदि मन दूसरी जगह हो, जीभ क्या करेगी, यदि मन दूसरी जगह हो? जिस दिन घरमें कोई गड़बड़ होती है—संसारी गड़बड़—तो उस दिन हलुआ खाया कि पूड़ी खायी, कि चटनी खायी, कि क्या सब्जी खायी, पूछो किसीसे, तो बोलेगा कि भाई, हमारा मन दूसरी जगह था, मुझे कुछ पता ही नहीं चला।

तो, इसका मतलब यह हुआ कि ये जो इन्द्रियाँ काम करती हैं, ये मनसे ही करती हैं और असलमें मन ही संस्कारके अनुसार, वासनाके अनुसार इन्द्रिय बन गया है और इन्द्रियाँ ही वासनाके संस्कार विषय बन गयी हैं। **मिथ्याज्ञान-विजृम्भितम्**—असलियतका ज्ञान नहीं होनेसे ऐसा होता है। जैसे मनमें मालूम पड़ता है कि मैं आँखसे रूप देख रहा हूँ और नाकसे गन्ध सूँघ रहा हूँ, तों सपनेमें गन्ध कौन बना है कि मन, सपनेमें रूप कौन बना है कि मन, सपनेमें आँख-नाक कौन बना है कि मन, सपनेमें शरीर कौन बना है कि मन, मन ही तो सपनेमें सब कुछ बना हुआ है। बस इसी प्रकार जाग्रत्—सृष्टिमें भी मन ही सब बना हुआ है—इन्द्रियाँ, विषय सब। तो भाई, इस मनका खेल बड़ा प्रबल है, विषयोंसे खेलका ख्याल छोड़कर, इन्द्रियोंसे खेलका ख्याल छोड़ करके मनमें बैठो।

मिथ्याज्ञान विजृम्भितं—अत: यह कहा कि इधर-उधरकी बातें छोड़करके **सर्वेषामिन्द्रियाणाम् मनसा यच्छेद्**—सब इन्द्रियोंको मनमें निरोध करे, उपसंहार करे, अर्थात् केवल मनोमात्र होकर रहे—थोड़ी देर यह देखे कि मनके सिवाय और कुछ नहीं है। अब यह उपसंहार कौन करेगा? कि प्राज्ञ। यह मूर्खका काम नहीं है। मूर्ख तो कहेगा कि विषय सत्य है, इन्द्रिय सत्य है, इन्द्रिय—विषयका संयोग सत्य है, इसलिए आओ भाई, इसीका मजा लें। लेकिन जो प्रज्ञावान पुरुष है वह अन्धेरेमें भटकना स्वीकार नहीं करता। अन्धेरेमें भटकना क्या है? कि देखो, हम आपको पैंतीस वर्ष पहलेकी बात सुनाते हैं, चालीस वर्ष पहलेकी बात सुनाते हैं—हम अपनी माँकी दवा करते थे—कोई रोग था उनके पेटमें। तो डाक्टरके पास जाते, दवा लाते—तो कोई महीना-डेढ़ महीना हो गया—हम जाकर दवा ले आते और हमारी माँ वह दवा खाती-पीती। बड़ा मशहूर डाक्टर था बनारसका—डाक्टर अटल बिहारी सेठ उसका नाम था, खत्री था। वह हर दूसरे तीसरे-चौथे दिन तो दवा बदल देता, पर रोग अच्छा बिलकुल नहीं होता था। तो मैंने उससे पूछा कि डाक्टर बात क्या है, रोग अच्छा क्यों नहीं होता? वह बोला कि पण्डितजी, जैसे अन्धेरे घरमें चूहे इधर-उधर घूम रहे हों और कोई ढेला फेंके तो अब अन्दाजसे ही तो फेंकते हैं—कोई ढेला चूहेपर लग गया, कोई नहीं लगा, तो अभी हमारा निशाना बैठा नहीं है माने अभी तक यह बात समझमें आयी नहीं है कि यह रोग किस कारणसे है और कौन-सी दवा दें तो रोग ठीक होगा—डेढ़ महीना दवा खाते हो गया और डाक्टरकी समझमें नहीं आया। तो जब एक डाक्टर अन्धेरेमें रहेगा—माने रोगका कारण उसको समझमें नहीं आया कि कौन-सा रोग है और उस कारणको मिटानेके लिए कौन-सी दवा चाहिए तबतक वह डाक्टर अन्धेरेमें भटक रहा है। तो, जो लोग रोगकी असलियत जाने बिना, दवाकी असलियत जाने बिना चिकित्सा करते हैं, उनकी चिकित्सा व्यर्थ जाती है।

> **यस्य कस्य तरोर्मूलं येन-केन चिदाहृतम्।**
> **यस्मै-कस्मै प्रदातव्यं भद्वा यद्वा तद्वा भविष्यति॥**

चाहे जिस बूटीकी जड़ उखाड़ कर ले आये, चाहे जो कोई उखाड़ कर ले आया और चाहे जिस किसीको दे दिया और चाहे जो हो जाये—तो ऐसे जो लोग हैं वे अन्धेरेमें भटकते हैं परमार्थके नाम पर, जिन्हें न अपने स्वरूपका पता है, न परमात्माके स्वरूपका पता है और न जगत्के स्वरूपका पता है और यह दु:ख क्यों हो रहा है इसका पता नहीं है, वे इस संसार-रोगकी औषधि, इस संसार-रोगकी

दवा नहीं कर सकते। इसमें तो पहचान होनी पड़ेगी कि यह प्रपञ्च क्या है, मैं कौन हूँ, परमात्मा क्या है—इनका परस्पर सम्बन्ध क्या है। यह जो अपनेमें पापीपना-पुण्यात्मापना भासता है सो क्या है, यह जो सुखीपना-दुःखीपना भासता है सो क्या है—यह विचार करके देखना पड़ेगा। इस विचार को ही यहाँ बोलते हैं—प्रज्ञा—*प्रकृष्टं ज्ञानं प्रज्ञाः*—प्रकृष्ट ज्ञानका नाम है प्रज्ञा और *प्रज्ञा अस्य अस्ति*—जिसके पास ऐसी प्रज्ञा हो उसको प्राज्ञ बोलते हैं। प्रज्ञावान जो पुरुष है वह अन्धेरेमें भटकना नहीं चाहता, वह यह देखे कि इन्द्रियोंके बिना विषयोंकी प्रतीति नहीं होती और मन होवे तभी इन्द्रियोंको विषयोंकी प्रतीति होती है, मन न हो तो विषय नहीं, मन न हो तो इन्द्रिय नहीं, मन न हो तो इनका सम्बन्ध नहीं, इसलिए मनीराम जो हैं सो राजा हैं, इन्हींमें सम्पूर्ण विषयोंकी प्रतीतिका उपादान रखा हुआ है और सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी प्रतीतिका उपादान भी मनमें ही रखा हुआ है। कैसे? कि सपनेमें न विषय है न इन्द्रिय, वहाँ न रथ है न पथ है, परन्तु, यह मनीराम वहाँ रथ भी बना लेते हैं और पथ भी बना लेते हैं, वहाँ न इति है न अथ है, लेकिन मनीराम इति और अथ दोनों बना लेते हैं वहाँ।

न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति—बृहदारण्यक श्रुति कहती है कि वहाँ न रथ है, न रथयोग है और न पथ है लेकिन ये मनीराम सब बना लेते हैं। तो जैसे सपनेमें बिना रथका रथ है, बिना पथका पथ है, बिना इति अथका इति अथ है ऐसे ही जाग्रत्‌में भी है। मनको पकड़ो, विषय और इन्द्रियकी जो पकड़ है उसको छोड़करके, ढीली करके मनको पकड़ो।

असलमें संसारमें कोई भी व्यवहार बिना शब्दके नहीं होता—इन्द्रियोंमें वाक् मुख्य है, दोनों तरहसे मुख्य है—मुखमें रहती है इसलिए भी मुख्य है और इसका प्रमुख स्थान है इसलिए भी मुख्य है। तो देखो, हम किसी भी बातको जब सोचते हैं तो शब्दके द्वारा ही सोचते हैं। जैसे हमको किसीका नाम न मालूम हो और हमको ऐसे सोचना पड़े कि भाई चौथी लाइनमें दूसरा आदमी जो है वह—तो यह चौथी लाइन मनने बनायी और उसमें दूसरा आदमी यह भी मनने बनाया। तो उस आदमीका नाम 'चौथी लाइन, दूसरा आदमी' किसने रखा? कि मनने रखा, यह आँखका काम नहीं है। 'चौथी लाइन और दूसरा आदमी'—यह मनमें शब्दका उच्चारण हुआ जब यह भाव आया—

ने सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।

मन-ही-मन हम सबका नाम रखकरके बोलते हैं। किसीके साथ भी

व्यवहार करते हैं नाम रखकर ही करते हैं—फूलका नाम हमने रखा, तुलसीका पत्ता नाम हमने रखा, आदमीका नाम हमने रखा, औरतका नाम हमने रखा, यह शत्रु है, यह मित्र है यह नाम हमने रखा। तो नाम-मूलक सारा-का-सारा व्यवहार चल रहा है। तो मनमें बैठ जाओ, माने एक बार शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध और गमन और आदान और मूत्रपुरीषोत्सर्ग और दर्शन और स्पर्श और श्रवण—इनकी क्रियाका त्याग करके देखो कि तुम्हारे मनीराम क्या कर रहे हैं?

मनीराम बड़े विलक्षण हैं! सब इन्द्रियोंका काम-हाथ-पाँव-नाक-आँख-कान-मुँह सबका काम बन्द करके देखो, कि तुम्हारे मनीराम कैसे? तो देखोगे कि मनीराम—जो पहलेसे बातें मालूम हैं, उनके बारेमें सोचने लगेंगे या कुछ आगेकी सोचने लगेंगे। कल हमारे पास कई लोग बैठे थे तो देखा कि बात तो हमारी कर रहे थे, लेकिन कुछ पिछली करते थे कि पहले यह-यह हुआ और कुछ अगली करते थे कि आगे क्या-क्या करना है और इस समय जो बैठे हैं, उसकी बात कोई नहीं करते हैं—इसीका नाम संसार है, इसीका नाम दुनिया है। जो बीत गयी तो वह लौटेंगी नहीं और जो आने वाली है वह अपने हाथमें नहीं है। कि महाराज, आप वहाँ जाते हैं तब ऐसे लगते हैं, वहाँ बात करते हैं तब कितनी बढ़िया, कितनी अच्छी बात करते हैं, और यहाँ क्या है? कि यहाँ ठनठनपाल, कुछ नहीं—वर्तमानको शून्य कर दिया और भूत-भविष्यमें चले गये। तो यह कैसे हुआ? कि मनसे ही तो हुआ न! मनमें जो भविष्यकी कल्पना है और भूतकी स्मृति है, उसीमें गये। तो यह कहाँसे आया? कि संसारमें भरा पड़ा है।

बिलकुल अन्जान वस्तुके बारेमें कोई संकल्प, कोई विकल्प चित्तमें नहीं उठता है—नितान्त अश्रुत और नितान्त अदृष्टके बारेमें तो मन कुछ सोचता ही नहीं। तो, देखो, यह बुद्धिका विलास है जो मनमें बातें हमारे आगेके लिए और पीछेके लिए आती हैं। हम बड़े बुद्धिमान हैं क्यों? कि देखो, आगेकी बात सोचते हैं कि हम बड़े बुद्धिमान हैं, क्योंकि देखो, पीछेका अनुभव हमने अपने पास रख छोड़ा है। तो भाई, यह मूल वस्तुको पकड़नेका तरीका नहीं है, यह तो—

तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितं अक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुः।

(छा.८.३.२)

श्रुतिने कहा कि जैसे कोई ऊपर-ही-ऊपर घूम रहा हो, परन्तु धरतीके नीचे क्या गड़ा है यह उसको मालूम न हो—अगाध निधि, अनन्त-निधि पाँवके नीचे रखी हो और ऊपर-ही-ऊपर हम घूमें और उसको पकड़ न पावें, इसी प्रकार

हमारी बुद्धिमें रखे हुए संस्कार हमारे जीवनको हाँक रहे हैं, जैसे कोई भेड़ हाँके। हमारे जीवनको पहलेके संस्कार हाँक रहे हैं, आगेकी कल्पना हमारे पीछेके संस्कार बना रहे हैं। कोई ऐसी चीज बताओ जो बिलकुल अज्ञात होवे और उसको पाने या छोड़नेका संकल्प तुम्हारे मनमें आता होवे। अज्ञात वस्तुको छोड़नेका संकल्प कैसे होगा? अज्ञात वस्तुको पानेका संकल्प कैसे होगा? नितान्त अज्ञातको—जो बिलकुल जाना हुआ नहीं है, उसको पाने-छोड़नेका संकल्प नहीं होगा, सिर्फ जानी हुई बातके लिए ही छोड़नेका संकल्प होगा!

कि तब? कि तब मन तो बुद्धिके अलावा कुछ हुआ ही नहीं। समझमें जो कुछ जानकारी है, वही मनमें आता है। मुसलमानके मनमें यह जानकारी भर दी गयी कि यदि कोई मूर्ति-पूजा करता है तो यह काफिर है, बुत-परस्त है—भर दी गयी ऊपरसे, तो वह मूर्ति-पूजा देखकर ही नाराज, तोड़ दे मूर्तिको! पहले हिन्दू-मुस्लिम दंगे होते थे—हमको अपने बचपनकी याद है—तो डरते थे हमलोग, जब बनारसमें दंगा होता था—जिन्ना साहबके दिनोंमें तो घरमें-से निकलते नहीं थे। तो देखो, मनमें ही तो यह जानकारी भर दी गयी थी कि यह बहुत बुरी है। और एक हिन्दूके मनमें यह जानकारी है कि यह मूर्ति तो साक्षात् ईश्वर है। तो यह क्या ईश्वरको पहचाननेके बाद मुसलमानने कहा कि शालग्राम ईश्वर नहीं है और क्या हिन्दूने शालग्रामको पहचाननेके बाद कहा कि शालग्राम ईश्वर है? बस ऐसे ही जानकारी बुद्धिमें भर दी गयी है। तो बुद्धिको स्वच्छ करो, निर्मल करो। वासनाके अनुसार मूर्तिसे द्वेष हो गया, और वासनाके अनुसार मूर्तिसे राग हो गया, तो राग-द्वेषसे रहित होकरके, पक्षपातके दबावसे मुक्त करके अपनी बुद्धिको देखो, तो मनको पैदा ही नहीं करेगी। यदि आप संस्कारसे युक्त बुद्धिमें न बैठो, बुद्धिको संस्कारोंसे अलग कर लो तो देखोगे कि न कोई संकल्प उठता है और न कोई विकल्प। स्वच्छ कर लो अपनी बुद्धिको, बुद्धिमें निर्मलता यही है।

थोड़े दिन पहलेकी बात है—हमने किसी संतके पास चिट्ठी लिखी, दूसरे मतावलम्बी थे वे—कि हम आपके पास थोड़े दिन आकरके आपके मतका अध्ययन करना चाहते हैं। हमको पहले बहुत याद था—कोई सौ-सवा सौ-डेढ़ सौ तक पंथ जो है हिन्दुस्तानमें—कबीर-पंथ, राधा-स्वामी-पंथ—ये जो अलग-अलग मतवाद हैं, आचार्योंके भी और संतोंके भी, तो किसमें क्या मान्यता है ईश्वरके बारेमें, किसमें क्या साधना है ईश्वरके बारेमें, कौन सद्गति मानते हैं, कौन दुर्गति मानते हैं, हमने इन सबका अध्ययन किया था, हमको सौ-सवा सौ मतोंका

तो बिलकुल कण्ठस्थ था कि किस मतमें क्या मानते हैं। तो अब, उन मतोंको देखते हैं कि जैसा जिसके मनमें बैठा देते हैं बस वैसा ही है—पहले आपको वह बात बता देते हैं कि एक मतवादी आचार्यको हमने लिखा कि हम आपके मतका अध्ययन करना चाहते हैं। तो उन्होंने उत्तर दिया कि अबतक जो तुमने पढ़ा है, सुना है, सीखा है सबपर पानी फेरकर, सबका संस्कार छोड़कर अगर हमारी बात सुनना चाहो, तब तो आओ हमारे पास और अगर तुम्हें अपनी मान्यताकी पुष्टि करानेके लिए हमारे पास आना हो तो काहेको हमको तकलीफ देते हो और क्यों खुद तकलीफ उठाते हो? यदि तुम अपनी अज्ञानकृत-मान्यताका ही सम्पोषण चाहते हो कि जो हम मानते हैं, उसीको तुम कहो कि ठीक है—तो मत आवो हमारे पास। ऐसे लिख दिया! उन्होंने!

एक दूसरी जगहकी बात सुनाता हूँ—एक संतके पास गये—उनसे ईश्वर सम्बन्धी बात हुई। हमने उनसे ब्रह्मकी चर्चाकी और उन्होंने हमारी सब बात बड़े प्रेमसे मुस्कुराते-मुस्कुराते सुनी। बोले कि हाँ, ब्रह्म-पर्यन्त तुम्हारी पहुँच है, लेकिन अब इसके ऊपर चलो। तो मैंने कहा महाराज, ब्रह्मके ऊपर क्या होता है? तो बोले कि ब्रह्म तो नाकके ऊपर दोनों भौहोंके बीचमें रहता है? अभी तो यह ब्रह्माण्ड-मण्डलकी बात है, इसके ऊपर अभी भ्रमर गुफा है, इसके ऊपर तो त्रिपुटी है, इसके ऊपर बंकनाल है, इसके ऊपर सारा माया-मण्डल है—अभी तो तुम ब्रह्ममें घिरे हुए हो! मैंने उनसे कहा कि महाराज, आपने अपने बेटेका नाम ब्रह्म रखा है क्या? अरे हम तो ब्रह्म उसको कहते हैं जो सम्पूर्ण नाम-रूपका अधिष्ठान है, जो सम्पूर्ण कल्पनाओंका प्रकाशक है—यह तुम्हारा बंकनाल और यह तुम्हारी त्रिपुटी और यह तुम्हारी भ्रमर गुफा और तुम्हारा माया-मण्डल जिसमें अध्यस्त है उस देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न, सजातीय-विजातीय स्वगत-भेद-शून्य, प्रत्यक् चैतन्याभिन्न, अद्वितीय-तत्त्वको हम ब्रह्म बोलते हैं और तुमने दोनों भौहोंके बीचमें रहनेवाले किसी मांसके लोथड़ेका नाम ब्रह्म रख छोड़ा है, तो यह तुम्हारा अज्ञान हुआ कि हमारा अज्ञान हुआ? इससे ऊपर माने क्या होता है?

एक बात यह आपको सुनायी। तो यह किसलिए सुनायी कि जिसके मनमें जैसी बात बैठा दी जाती है, जिसकी बुद्धि जिस संस्कारसे आक्रान्त हो जाती है वह उस संस्कारको छोड़करके जल्दी ऊपर नहीं चलती! यह बुद्धिका मल है, बुद्धिको निर्मल बनाओ। निर्मल बनाओ माने एकबार सम्पूर्ण विषयों और इन्द्रियोंका अपवाद करके यह जो मनमें मैं ब्राह्मण, मैं हिन्दू, मैं मनुष्य बैठा हुआ है इसको

एक बार निकालो। यह जो मनमें बैठा हुआ है कि मैं पापी, मैं पुण्यात्मा, मैं स्वर्ग-नरकमें आने-जानेवाला जीव, मैं वैकुण्ठ-गोलोकमें आने-जानेवाला जीव—इनको एक बार निकालो। न तुम ब्राह्मण हो न संन्यासी, न हिन्दू हो न मुसलमान, न पापी हो न पुण्यात्मा, न सुखी हो न दुःखी—एक बार अपनी बुद्धिको भ्रान्ति-कालमें मानी हुई जो बातें हैं उनसे जुदा करो, उन बातों का अपवाद कर दो!

अब, हमने तो कहा कि तुम ब्रह्म हो—तो तुमने पूछा कि महाराज, अगर मैं ब्रह्म हूँ तो नरककी मान्यता झूठी हो गयी, पुनर्जन्मकी मान्यता झूठी हो गयी। मैं तो करूँ तुमसे ब्रह्मकी बात और तुम मुझसे करने लगे नरक-स्वर्ग-पुर्जन्मकी बात, तब यह कहना पड़ेगा कि हाँ भाई, जबतक तुम अज्ञानमें हो तबतक यह सब सच्चा है। है न! यह तुम्हारे अज्ञानके अनुसार सच्चा है! जहाँ तुम बैठे हो वहाँ अभी नरक-स्वर्ग ही है, अभी तुम्हारे लिए ब्रह्म-ज्ञानकी बात नहीं है! कि महाराज, हम ब्रह्म हो जायेंगे तो हमारे ब्राह्मण-धर्मका निर्वाह कैसे होगा? तो भाई, तुम ब्राह्मण-धर्मका निर्वाह करो। वैसे ब्रह्मज्ञान ब्राह्मण-धर्मका विरोधी नहीं है-ब्राह्मण-धर्म करो चाहे संन्यासी हो जाओ—तुम्हें यदि यह डर लगता है कि हम ब्रह्म हो जायेंगे तो हमारा ब्राह्मणपना कहाँ जायेगा, हमारा हिन्दूपना कहाँ जायेगा, हमारी राष्ट्रीयता हवा हो जायेगी, भारतीयता उड़ जायेगी आसमानमें, ब्रह्माण्डीयता चली जायेगी, जीवपना नहीं रहेगा, ईश्वरपना भी तुम्हारे अन्दर नहीं रहेगा—तो यदि डर लगता है तो बाबा जहाँ हो वहीं बैठे रहो।

तुम्हारा नाम किसीने रखा करोड़ीमल—अब करोड़ीमलको कोई गाली दे, तो तुम अपनेको गाली समझते हो, करोड़ीमलकी कोई तारीफ करे तो तुम अपनी तारीफ समझते हो, जब कि तुम्हें मालूम है कि बचपनमें तुम्हारा नाम करोड़ीमल कल्पित किया गया था—लक्खीमल भी रखा जा सकता था, छदामीमल भी रखा जा सकता था। तुम्हारा नाम दमड़ीमल भी रखा जा सकता था। तुम्हारा नाम छदामीमल भी हो सकता था और करोड़ीमल भी हो सकता था, परन्तु एक कल्पना तुम्हारे नामके साथ जुड़ गयी, उसीको पकड़करके तुम बैठे हो। तो यह सब बिना विचारके, बिना खोजके, बिना अनुसन्धानके, बिना जिज्ञासाके जो मल बैठे हुए हैं उन मलोंको दूर करके बुद्धिको निर्मल करो और अपने ज्ञानको स्वस्थ बनाओ; तब तुम देखोगे कि तुम्हारा ज्ञान समष्टिके ज्ञानसे एक है।

तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि ज्ञानमात्मनि महति।

अपने मनको ज्ञानात्मा बुद्धिमें मिला दो और ज्ञानात्मा बुद्धिको महति

आत्मनि-महान् आत्मामें मिला दो! ईश्वरके ज्ञानसे हमारा ज्ञान जुदा नहीं है। नारायण, आपको ऐसा मालूम पड़ता है कि हमारी पूर्व-दिशामें मेजपर बैठकरके वक्ता बोल रहा है—मालूम पड़ता है और हमारे पीछे भीत है—यह भी मालूम पड़ता है। तो आप यह बताओ कि क्या ईश्वरको भी यही मालूम पड़ता है कि हमारे पूर्व-दिशामें वक्ता है और वक्ताके पश्चिम-दिशामें लोग हैं? अगर ईश्वरको ऐसा मालूम पड़े—हमको जो पूरब-पश्चिम मालूम पड़ता है यही यदि ईश्वरको मालूम पड़े तो ईश्वरके ज्ञानका बंटाधार हो जायेगा। तुम तो अपनेको साढ़े-तीन हाथके शरीर बन करके सोचते हो कि हमारे पीछे भीत है, हमारे सामने वक्ता है, दाहिने पुरुष है, बायें स्त्रियाँ है, ऐसा तुमको मालूम पड़ता है-क्या ईश्वर भी यहाँ बैठकर यही सोच रहा होगा कि हमारे दाहिने पुरुष है, बायें स्त्री है। अगर ईश्वर दोनोंके बीचमें जो रास्ता है इसमें खड़ा होवे तब तो वह यह सोचेगा कि हमारे दाहिने पुरुष और बायें औरत, लेकिन अगर ईश्वर सब जगह होवे तो ईश्वरको पूरब-पश्चिम कैसे मालूम पड़ेगा? अच्छा, हिन्दुस्तानमें ईश्वर होवे तो इस समय ईश्वरके लिए दिन है और अमेरिकामें होवे ईश्वर उसके लिए रात है, तो ईश्वर कहाँ रहता है, हिन्दुसतानमें या अमेरिकामें? ईश्वरके लिए इस समय रात है या दिन?

यही है देखो—**ज्ञानमात्मनि महति**—समष्टि बुद्धिके साथ अपनी बुद्धिको मिला दो। तुम एक देशमें रहोगे तो एक जगह दिन होगा और दूसरी जगह रात होगी और दूसरी जगह दिन होगा तो यहाँ रात होगी और तुम सर्व देशमें रहोगे तो, नारायण, न दिन न रात! दिन-रात तो परछाईं की वजहसे होते हैं न, सूर्य आड़में चला जाता है, चन्द्रमा आड़में चला जाता है। एक धरतीके हिसाबसे दूसरी धरतियोंमें दूसरा होता है। जरा महान् ज्ञानके साथ अपने ज्ञानको मिला दो। तुम्हारी रात बीत गयी, दिन आंया; दिन बीत जायेगा, रात आयेगी और ईश्वरके लिए? ईश्वरको सोनेके लिए रात नहीं है, और जगानेके लिए दिन नहीं है। तत्त्वकी दृष्टिसे जरा देखो, महत्-आत्मा माने समष्टि बुद्धि-सम्पूर्ण देश, सम्पूर्ण-काल। कालका भी-सम्पूर्ण देखो, तुम्हारे दादा-परदादा जो मर गये उनके लिए तो तुम भविष्यमें पैदा हुए हो और आगे जो तुम्हारे बेटा पैदा होंगे उनके लिए तुम भूतमें हो-अपने नाती-पनातीके लिए तुम भूतमें हो और अपने दादा-परदादाके लिए तुम भविष्यमें हो-असलमें तुम कहाँ हो—भूतमें हो कि भविष्यमें हो? बिना भूत-भविष्यके वर्तमान तो होता नहीं! और अच्छा, ईश्वर तुमको कहाँ समझता है? भूतमें समझता है कि वर्तमानमें समझता है, कि भविष्यमें समझता है? अच्छा, यहाँ तुम्हारा वजन एक मन, डेढ़-मन, दो मन है और यहाँसे

ऊपर जानेपर तुम्हारा वजन कितना है? छँटाक भर? अच्छा, तो तुम्हारी ही दृष्टिमें यहाँ तुम्हारा वजन डेढ़ मन और आसमानमें उड़ जानेपर एक छँटाक! ईश्वरकी दृष्टिमें तुम्हारा वजन कितना है, इसका पता लगाओ! अच्छा, इसका पता लगाओ कि तुम्हारी उम्र पचास वर्ष, साठ वर्ष, सौ वर्ष तुम्हारी दृष्टिमें, ईश्वरकी दृष्टिसे क्या तुम्हारी उम्र पचास वर्ष, साठ वर्ष, सौ वर्ष, कुछ है? इतना पुराना है ईश्वर, और इतने दिन तक रहनेवाला है ईश्वर कि उसमें हम लोगोंके बारेमें एक जुँएकी जितनी उम्र होती है उतनी तो सूर्यकी उम्र नहीं है और सूर्यमें एक जुँएके बराबर धरतीकी उम्र नहीं है और धरतीमें एक जुँएके बराबर मनुष्यकी उम्र नहीं है और तुम अपनेको पचास वर्ष, साठ वर्षकी उम्रका मानते हो। असलमें मनुष्यकी बुद्धिमें यह बात बैठ गयी है कि हम इतने लम्बे-चौड़े, हम इतनी उम्रवाले, हम इतने वजनवाले; हम मनुष्य, हम पशु, हम पक्षी! यह महती बुद्धिके साथ, समष्टि-बुद्धिके साथ अपनी बद्धि न मिलानेके कारण हुआ है। देशसे एक होकर देखो—देश माने हिन्दुस्तान-पाकिस्तान नहीं, देश माने जिसमें पूरब-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण मालूम पड़ता है। उस देशसे एक होकर देखो तुम्हारे पूरब-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण कहाँ हैं; कालके साथ एक-एक होकर-काल माने दिन-रात नहीं, काल माने जिसमें भूत-भविष्य-वर्तमान मालूम पड़ता है। उस कालके साथ एक हो करके देखो, तुम्हारी उम्र कितनी है; और जो सर्वकी मूल सत्ता है उस सत्ताके साथ एक होकरके देखो, तुम्हारा वजन कितना है?

कहनेका अभिप्राय यह है कि यह समल-बुद्धि—परिच्छिन्नको पकड़ करके, छोटी-छोटी चीजोंको पकड़ करके बैठनेवाली यह बुद्धि-तुमको पापी-पुण्यात्मा बनाती है; सुखी-दुःखी बनाती है; संयोगी-वियोगी बनाती है; आवागमन वाला बनाती है, पुनर्जन्मवाला बनाती है। अनन्तका जो ज्ञान है-अनन्त-विषयक जो बुद्धि है, जो समष्टि बुद्धि है, उसके साथ एक न होनेके कारण और अपनी बुद्धिमें दुनिया भरका कूड़ा-करकट समा लेनेके कारण ऐसा मालूम पड़ता है कि हम कर्त्ता हैं, हम भोक्ता हैं, हम संसारी हैं, हम परिच्छिन्न हैं।

अब कहते हैं बाबा, समष्टि-बुद्धिके चक्करमें भी मत पड़ो, उसमें भी बीज हैं—**तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि**—समष्टि बुद्धि कहाँ है? बोले कि समष्टि बुद्धि उसमें है जिसमें विषय नहीं है, जिसमें क्रिया नहीं, जिसमें विषयका स्फुरण नहीं, शान्त है—शान्त माने निर्विषय, शान्त माने निष्क्रिय, शान्त माने निर्वृत्तिक, शान्त माने व्यष्टि-समष्टिके भेदसे शून्य, शान्त माने कार्य-कारणके विक्षेपसे रहित, शान्त माने

पूरब-पश्चिम-उत्तर-दक्षिणकी कल्पनासे मुक्त, शान्त माने भूत-भविष्य-वर्तमानकी कल्पनासे निर्मुक्त, शान्त माने मैं-तू-यह-वह की कल्पनासे निर्मुक्त, शान्त माने जिसमें कार्य-कारण नहीं, जिसमें आधार-आधेय नहीं; जिसमें नियन्ता-नियम्य नहीं, जिसमें किसी प्रकारके विक्षेपकी कल्पनाका उदय नहीं!

शान्ते आत्मनि तत महत् ज्ञानम् नियच्छेत्—शान्त आत्मामें उसको उपसंवृत कर लो। उपसंवृत कर लो—इसको ऐसे सोचो, जब देहसे सोचना प्रारम्भ करते हैं, तो विषय इन्द्रियों में, इन्द्रियाँ मनमें, मन बुद्धिमें, बुद्धि समष्टि-बुद्धिमें और समष्टि बुद्धि शान्त परमात्मामें, यह लयकी प्रक्रिया हुई। ब्रह्मसूत्रके तीसरे अध्यायके दूसरे पादके २१वें सूत्रमें इस सर्वोपसंहार प्रकरणका विवेचन है कि वह सम्पूर्ण इन्द्रियोंका उपसंहार अपने मनमें कैसे करना।

यदि आपको यह बोध होता है कि मैं सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदसे रहित, देश-काल-वस्तुके परिच्छेदसे शून्य स्वयं-ब्रह्म हूँ-तब मुझमें माया नहीं है, मुझमें प्रकृति नहीं है और जब माया-प्रकृति नहीं है तब महतत्त्व समष्टि-बुद्धि नहीं है और मुझमें समष्टि-बुद्धि नहीं है तो व्यष्टि-बुद्धि नहीं है, व्यष्टि-बुद्धि नहीं है तो मन नहीं है; मन नहीं है तो इन्द्रियाँ नहीं है; इन्द्रियाँ नहीं हैं तो शरीर नहीं है, विषय नहीं है, मैं तो अद्वैत-ब्रह्म हूँ। उधरसे सोचो तो ऐसे सोचो और इधरसे सोचो तो सोचो कि विषय इन्द्रियोंसे अलग नहीं है, इन्द्रियाँ मनसे अलग नहीं है, मन बुद्धिसे अलग नहीं है, बुद्धि समष्टि-बुद्धिसे अलग नहीं है और समष्टि-बुद्धि जो है सो अपने स्वरूपसे अलग नहीं है। इधरसे ऊपर चढ़ो तो एकको दूसरेमें मिलाते जाओ और उधरसे इधर आवो तो एक में दूसरे को काटते जाओ।

इन्द्रियोंसे जुदा विषय नहीं माने इन्द्रियाँ ही हैं विषय नहीं; विषय मनसे जुदा नहीं, माने मन ही है, विषय नहीं; बुद्धिसे जुदा मन नहीं, माने बुद्धि ही है मन नहीं, समष्टि बुद्धि है, व्यष्टि बुद्धि नहीं और आत्मा है समष्टि-बुद्धि नहीं—केवल आत्मा ही अद्वितीय है—यह लय प्रक्रिया हुई, उपसंहार प्रक्रिया हुई। और नहीं तो ऐसे सोचो कि मैं नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त, अद्वितीय, अविनाशी, परिपूर्ण ब्रह्म हूँ—मुझे प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वमें न माया है न अविद्या, न माया, न छाया, मुझमें न व्यष्टि-बुद्धि न समष्टि बुद्धि, मुझमें न मन, न शरीर, न इन्द्रिय, न विषय। उधरसे सोचो तो ऐसे सोचो और इधरसे सोचो तो ऐसे सोचो—इस प्रक्रियासे विचार करने पर आत्म-निष्ठा सम्पन्न होती है।

❖

अध्याय-१ वल्ली-३ मंत्र-१४

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।
क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥ १.३.१४

अर्थः-उठो, जागो और श्रेष्ठ पुरुषोंको प्राप्त करके ज्ञान प्राप्त करो। जैसे छुरेकी धार तीक्ष्ण और दुरत्यय होती है उसी प्रकार तत्त्वज्ञानी लोग इस ज्ञानमार्गको दुर्गम बताते हैं॥ १४॥

(तेरहवें मंत्रमें लययोगकी प्रक्रिया समझायी) अब बोले कि भाई, यह प्रक्रिया भी समझमें कैसे आवे? तो इस मंत्रमें कहते हैं: **उत्तिष्ठत**—अरे! जहाँ पड़े हुए हो भाई, वहाँसे जरा उठो, खड़े हो जाओ! कहाँ पड़े हुए हो विषयों की कीचड़में, विषयोंके दलदलमें! विषयों और इन्द्रियोंकी कीचड़में फँसे हुए हो, तो पूर्णताका ज्ञान कैसे होवे?

उत्तिष्ठत जाग्रत—कर्त्तव्यका निर्देश करते हैं कि उठो-उठो! जागो!! बोले कि महाराज, हम तो उठे भी हैं और जागे भी हैं। तो कहते हैं कि यदि उठे भी हो तो और जागे भी हो तो ***'वरान् प्राप्य निबोधत'***—वरके पास जाओ; वर माने श्रेष्ठ सत्पुरुषके पास जाओ। **वरान् वरेण्यान्**—जो वरण करने योग्य हैं, उनको वर कहते हैं; ***'वरणीयम् वरेण्यम्।'***

'वर' कौन? जो असलमें अपनेको अखण्ड अद्वितीय परिपूर्ण एक रस परब्रह्म परमात्माके रूपमें जानता है वह वर है, उसके पास जाओ।

जाग्रत—जागो। इसका अर्थ है कि अभी तुम सोये हुए ही हो, जाग जाओ। जागो कहनेका अर्थ ही यही है कि तुम अभी जगे नहीं हो, और अगर सोते नहीं हो तो ऊँघ तो जरूर ही रहे हो कम-से-कम, नहीं तो 'जागो' काहेको बोलते।

जागो जागो होशमें आवो—

'जाग-जाग रे फकीरका बालक'—

उठो-उठो! जागो-जागो!!

मोह निशा सब सोवनिहारा—मोहकी रात्रिमें सब शयन कर रहे हैं! किस रात्रिमें सो रहे हैं सब? कि मोहकी रात्रिमें। अरे हम इस देहके बिना कैसे रहेंगे, इस खानेके बिना कैसे रहेंगे, इस पहननेके बिना कैसे रहेंगे, इस रिश्तेदार-नातेदारके बगैर कैसे रहेंगे-मोहकी रात्रिमें सब लोग सो रहे हैं!

बोले—वाह, हम सोते कैसे हैं, हमको तो दुनिया दीखती है, इसलिए हम तो जाग रहे हैं! कि—***देखहिं सपन अनेक प्रकारा***—तुम जाग्रत्की दुनिया नहीं, सपनकी दुनिया देख रहे हो। यह जो अनेक प्रकारके शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध-मालूम पड़ते हैं तुमको, ये सपनेके हैं—सपनेमें संगीत सुनायी देता है; सपनेमें मुलायम स्पर्श मालूम देता है—पति-पत्नीका मुलायम स्पर्श सपनेमें मालूम पड़ता है; सुन्दर रूप दिखायी पड़ता है, भोजनका स्वाद आता है; सुगन्ध आती है—यह सब क्या है? कि 'देखहिं सपन'—दीखता तो है लेकिन तुम जाग नहीं रहे हो, अभी सपनेमें बर्रा रहे हो।

एहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपञ्च वियोगी॥

इस जगत्-रूप यामिनीमें—इस रात्रिमें योगी जागते हैं—सो कैसे कि वे परमार्थ-दृष्टि होते हैं और प्रपञ्चके साथ अपना रिश्ता नहीं जोड़ते।

जानिहि तबहिं जीव जग जागा। जब सब विषय विलास विरागा॥

कब जागा? कि जब वैराग्य होवे। तो उठो, जागो, माने वैराग्यवान बनो—जहाँ गिरे हो वहाँसे उठ जाओ और उससे वैराग्य करो और **प्राप्य वरान् निबोधत**—बड़ोंके पास जाकरके—सत्पुरुषोंके पास जाकरके ज्ञान प्राप्त करो।

बड़ा कौन कि जिससे बड़ा और कोई नहीं। ऐसा कौन? कि ब्रह्म। तो, जो अपनेको ब्रह्मके रूपमें अनुभव कर चुका है वह है बड़ा, वर। जो अपने को जीव जानता है उसको गुरु मत बनाना; वह क्या बतावेगा? वह तो अभी अपनेको ही जीव अनुभव कर रहा है कि हम पूर्वजन्मसे इस जन्ममें आये हैं, अगले जन्ममें फँसे हुए हैं, हम पापी हैं पुण्यात्मा हैं, सुखी हैं दुःखी हैं, नारकी हैं—जो अपने आपको जीव जानता है वह वर नहीं है, अवर है, वह कनिष्ठ है, वह छोटा है। गुरु किसको बनाना? कि जो सबसे बड़ा हो। सबसे बड़ा कौन? कि जो अपनेको ब्रह्म अनुभव करता है। जो अपनेको जीव माने सो गुरु ही नहीं।

प्राप्य वरान्निबोधत—गुरुके पास जाकरके जानो, समझो, अनुभव करो। एकसे हमने ऐसे ही कहा, तो बोला—यह तो कठिन है। तो भाई, जो कठिनाईसे डरता है वह जीवनमें कोई सफलता नहीं प्राप्त कर सकता। कठिनाईसे डरे तो यात्रा कैसे करेगा? कठिनाईसे डरे तो व्यापार कैसे करेगा? कठिनाईसे डरे तो आदमी ब्याह कैसे करेगा? कठिनाईसे आदमी डरेगा तो आदमी ब्याह नहीं कर सकता, क्योंकि ब्याहमें तो बहुत कठिनाई है।

एक जगह ब्याह हो रहा था तो लड़की रो रही थी, बहुत रो रही थी। किसीने पूछा कि लड़कीका भी ब्याह हो रहा है और लड़केका भी ब्याह हो रहा है, लेकिन लड़की ही क्यों रोती है, लड़का क्यों नहीं रोता? तो बोले कि लड़की तो बस आज-ही-आज रो रही है, आगे हँसेगी, और यह लड़का आजके बाद हमेशा रोयेगा, हमेशा ही रोयेगा।

तो भाई, ब्याह करनेमें कठिनाई है कि नहीं? बच्चा पैदा करनेमें कठिनाई है कि नहीं? व्यापार करनेमें पहले ही पूँजी बाजारमें फेंकनी पड़ती है, तो कठिनाई है कि नहीं? (इसी प्रकार भाई, ज्ञानमार्गमें भी कठिनाई है यह तत्त्वज्ञानी लोग भी कहते हैं—इतनी कठिनाई है कि छुरेकी धार पर चलनेके समान कठिन है—फिर भी) कठिनाईसे डरो मत, उसका सामना करते हुए सफलता प्राप्त करो।

व्यक्तिकी दो प्रक्रिया होती है—भावना-पूर्वक लय और विचार-पूर्वक लय। तो यहाँ १३ वें श्लोकमें जो पद्धति बतायी गयी है वह भावना-पूर्वक लयकी पद्धति नहीं है, विचार-पूर्वक लयकी पद्धति है। ज्ञान मार्गमें सूक्ष्म-बुद्धिकी प्रधानता होती है—

दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः।

सूक्ष्म-बुद्धिसे परमात्माको जानना। इसके लिए शंकराचार्य भगवान्‌ने जो भाष्यका प्रारम्भ किया वह थोड़ा विलक्षण है इसलिए आपको सुनाता हूँ।

एवं पुरुषं आत्मनि सर्वं प्रतिलाप्य नामरूप-कर्म-त्रयं यन्मिथ्या ज्ञानविजृम्भितं क्रियाकारक-फल-लक्षणं स्वात्मयाथात्म्य-ज्ञानेन मरीच्युदकरज्जुसर्पगगन-मलानीव मरीचिरज्जु-गगनस्वरूप-दर्शनेनैव स्वस्थः प्रशान्तात्मा कृतकृत्यो भवति यतोऽतस्तद्दर्शनार्थम् अनाद्यविद्याप्रसुप्ताः उत्तिष्ठत हे जन्तवः आत्मज्ञानाभिमुखा भवतः।

एवं पुरुषे आत्मनि— कहते हैं कि पहले जिसको विष्णु पद कहा गया था—

तद्विष्णोः परमं पदम्—उसीको पुरुष कहा गया—**पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः।**

जो विष्णुपद है सो ही पुरुष है; तो पुरुष कहनेपर भी कोई अपनेको उससे जुदा नहीं समझे, इसलिए बोले—*तद्यच्छेच्छान्त* आत्मनि। आत्मनि शब्दसे वही पदार्थ कहा गया। माने यह भ्रम नहीं करना चाहिए कि विष्णुका परमपद कोई दूसरा है, पुरुष कोई दूसरा है, आत्मा कोई दूसरा है—ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिए। बिलकुल एक ही वस्तुका यह सारा-का-सारा वर्णन हो रहा है। इसको समन्वित करनेके लिए '**एवं पुरुषे आत्मनि**'—भाष्यमें कहा—ग्यारहवें मन्त्रवाला **पुरुषे** ले लिया और बारहवें-तेरहवें मन्त्रवाला **आत्मनि** ले लिया और दोनोंको मिलाकरके भाष्यमें जब एक साथ रखा तब मालूम पड़ता है कि श्री शंकराचार्य भगवान् यह बता रहे हैं कि यह किसी दूसरी वस्तुका साक्षात्कार नहीं है, अपना ही साक्षात्कार है, अपने आत्माका ही साक्षात्कार है।

इस आत्मामें 'सर्वं प्रविलाप्य'—सबका प्रविलापन करना है। प्रविलापन कैसे करना? तो—नाम-रूप-कर्म-त्रयम्—नाम, रूप और कर्म—इन तीनोंका प्रविलापन करना है। नाम बोला जाता है जीभसे और रूप देखा जाता है आँखसे और कर्म होता है हाथ-पाँव आदि इन्द्रियोंसे। तो बृहदारण्यक उपनिषद्में केवल नाम और रूप दोका वर्णन है और छान्दोग्य उपनिषद्में नाम-रूप-कर्म—तीनोंका वर्णन है। ये तीनों जो ब्रह्ममें दिखायी पड़ते हैं अलग-अलग रूप, अलग-अलग नाम और अलग-अलग कर्म—यह पापी है, यह पुण्यात्मा है; यह सुरूप है, यह कुरूप है; और इसका यह नाम है—यह स्त्री है यह पुरुष है—तो ये तीनों बात कर्मका भेद, रूपका भेद, नामका भेद जो मालूम पड़ता है यह **मिथ्याज्ञान-विजृम्भितम्**—यह अपने स्वरूपका ठीक-ठीक ज्ञान न होनेके कारण मालूम पड़ता है। यह जितनी क्रिया है और इसको करनेके लिए जितने कारक हैं अपने पास हाथ-पाँव आदि जो सामग्री है—और इसका जो फल है सुख-दुःख, ये जब तीनों अपने आत्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होता है तब इनकी क्या दशा होती है कि `मरीच्युदकररज्जु-सर्पगगनमलानीव्र—जैसे सूर्यकी किरणोंमें दीखता हुआ जल, रस्सीमें दीखता हुआ साँप और आकाशमें दीखती हुई नीलिमा। यदि सूर्यकी किरणको जान लें तो वहाँ पानी नहीं, रज्जुको जानलें तो वहाँ सर्प नहीं, आकाशके स्वरूपको जानलें तो नीलिमा नहीं, तो जो इनमें सत्यत्वकी भ्रान्ति हो रही है, वह अधिष्ठान याथात्म्यके ज्ञानके बिना ही हो रही है, अतः जब ज्ञान हो गया तो उनका प्रविलापन हो गया।

यह एक ऐसी बात है जो योगियोंके ध्यान देनेकी है। ये कहते हैं कि आकाशके स्वरूपका ज्ञान होनेपर आकाशमें जो नीलिमा है उसका प्रविलापन हो जाता है, तो क्या जो आकाशको जान जाता है, उसको नीलिमा आँखसे नहीं दिखती है? अरे, जबतक आँख रहेगी तबतक आकाशमें नीलिमा दीखती रहेगी, लेकिन जो आकाशके स्वरूपको जानता है वह जानता है कि आकाश ही सब कुछ है, नीलिमा कुछ नहीं है; इसी प्रकार जो ब्रह्मको जान लेता है, उसको क्या प्रपञ्च नहीं दिखेगा! बोले—प्रपञ्च दीखता रहेगा—जबतक आँख रहेगी, नाक रहेगी, दिल रहेगा, दिमाग रहेगा तब तक उसको भी यह सारी दुनिया दिखेगी, लेकिन जैसे आकाशके स्वरूपका ज्ञान होने पर नीलिमा दीखती हुई भी प्रतीतिमात्र रहती है, वैसे ही अपने स्वरूपका ज्ञान होने पर यह दिल, यह दिमाग, यह आँख, यह नाक, यह कान और इनसे मालूम पड़नेवाली दुनिया—यह प्रतीतिमात्र रहती है वास्तविक नहीं रहती है। इसलिए 'स्वस्थः'—डरो मत; जो कहा जाता है सो कहा जाने दो, किसीकी जीभ पकड़नेकी जरूरत नहीं है और जो दीखता है उसको दीखने दो—किसीपर स्याही पोतनेकी जरूरत नहीं है; जो हो रहा है सो होने दो, किसी भी होनेको बन्द करनेकी जरूरत नहीं है; तुम तो स्वस्थ हो, अपने स्वरूपमें स्थित हो; तुम्हारे लिए कोई कर्त्तव्य नहीं है, तुम नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्मभिन्न आत्मदेव हो कि यह बात तो जब ज्ञान होगा तभी तो होगी न? इसलिए इस आत्माका दर्शन प्राप्त करनेके लिए है अनादि अविद्यामें सोनेवाले जन्तुओ! 'उत्तिष्ठत-उत्तिष्ठत'—उठो-उठो, 'जाग्रत-जाग्रत'—जागो-जागो, क्यों सो रहे हो? 'जाग्रताज्ञाननिद्राया घोररूपायाः सर्वानर्थबीजभूतायाः क्षयं कुरुत।' यह जो अज्ञानकी नींद है और जिसमें तुम सपनेकी तरह यह सारी सृष्टि देख रहे हो, बड़ी भयंकर यह निद्रा है जिसमें सारे अनर्थके बीज हैं; इस निद्राको नष्ट कर दो, नष्ट कर दो—'क्षयं कुरुत, क्षयं कुरुत'। 'जाग्रत-जाग्रत'।

कल एक सज्जन पूछ रहे थे कि जबतक हम वेदान्तका स्वाध्याय करते हैं तबतक तो बिलकुल यही ठीक लगता है और बिलकुल इसीका चिन्तन होता है घंटे-दो घंटे, छः घंटे—फिर बादमें वस्तुओंका चिन्तन होने लगता है, व्यक्तियों का चिन्तन होने लगता है—जो दोस्त हैं—दुश्मन हैं उनकी याद आती है, उस समय क्या करना चाहिए, इनका निरोध कैसे करना चाहिए?

तो मैंने उनको सुनाया कि देखो, वस्तु और व्यक्ति जो दुनियामें हैं, वे तो बिचारे कोई अपराध करते नहीं, वे तो अपनी जगहपर हैं, वे तो तुम्हारे दिलमें

आकर घुसते नहीं हैं—घुसे तो दिल फट जाय। देखो, जिस दोस्तको तुम अपने दिलमें याद करते हो, अगर वह दोस्त सचमुच तुम्हारे दिलमें घुसने लग जाय, तो तुम क्या करोगे, बताओ! अरे! आँख फट जाय, मुँह फट जाय, कलेजा फट जाय—सचमुचका तो कोई घुसता ही नहीं है। कि अच्छा, तो तुम्हारा दिल ही जाकरके दोस्त और दुश्मनपर छा जाता है। दिल तो तुम्हारा ही रहता है बिलकुल—तुम्हारी धड़कन चलती रहती है और कोई छू देता है, तो मालूम पड़ता है, और कोई गाली दे, तो मालूम पड़ता है; तो न तुम्हारा दिल जाकरके तुम्हारे दोस्तमें घुस गया और न तुम्हारा दोस्त आकरके तुम्हारे दिलमें घुस गया इतना विवेक तो तुमको है न!

तो फिर बोले कि महाराज, यह फुर्फुराता तो है। तो फुरफुराता है, तो पहलेसे दिलमें जिसका संस्कार है वही फुर्फुराता है? जैसे सपना फुर्फुराता है; सपना कैसे फुर्फुराता है? सपनेमें कोई गाँव आकर दिलमें घुसता है कि दिमाग शरीर को छोड़कर किसी गाँवमें चला जाता है? न दिमाग गाँवमें जाता है और न गाँव आता है दिमागमें, जो संस्कार है वही वासनाके रूपमें फुरता है और उसीको सपना बोलते हैं। तो उसको क्या करते हो? निरोध करते हो उसका? कि नहीं, सपनेका तो निरोध नहीं करते हैं। कि अच्छा, सपनेसे जब उठो तब उसका निरोध करो। कि वह तो हो चुका महाराज, अब उसका क्या निरोध करें? तो, यह जाग्रत्में भी जो चीज अपने मनमें फुर्फुराती है वह चीज न कहींसे आती है और न हमारा मन कहीं जाता है, मनमें जैसा संस्कार पहलेसे पड़ा हुआ है वैसा वह फुर्फुरा जाता है। उसके साथ द्वन्द्व नहीं करना, उसके साथ संघर्ष मत करना।

जैसे सपना आता है और फिर तुम उसको छोड़ देते हो (जागनेके बाद) वैसे ही यदि तुम्हारे मनमें कोई फुर्फुरा जाय और फिर ख्याल आये कि यह तो फुर्फुरा गया तो सपनेकी तरह छोड़ दो उसे। देखो, स्वप्नमें यदि कोई हमको मारता दिखे तो जागनेपर क्या उसको मारनेके लिए जाते हैं, दुश्मनी करते हैं उससे? और सपनेमें कोई हमको प्यार करे तो क्या जागने पर उससे प्यार करनेके लिए जाते हैं? सपनेमें कोई हमसे पचास रुपये ले जाये, तो जागकर क्या हम उससे वह पचास रुपया लेनेके लिए जाते हैं? तो ऐसे ही मनमें यदि कोई फुर्फुराहट हो जाय, तो उसको महत्त्व मत दो, उसको कीमत मत दो—फुर्फुरा गयी, फुर्फुरा गयी, आयी गयी, हो गयी, हुआ-सो-हुआ, गया-सो-गया; उसके साथ यदि संघर्ष करोगे, तो वह कीमती हो जायेगा। तुमने यदि उसको

अपना दुश्मन माना तो वह तुम्हारी बराबरी करने लायक हो गया, अब वह तुमसे लड़ेगा; और यदि तुमने उसको दोस्त माना तो वह अब तुम्हारी चोरी पकड़ेगा; और जैसे सपनेमें आया और गया, ऐसे ही मनमें कुछ आया और गया, उपेक्षा कर दो उसकी—गयी बातको फिर बुलाओ मत, संस्कारके अनुसार फुर्फुरा गयी, फुर्फुरा गयी। इसीको बोलते हैं स्वप्नवत्।

संसारमें जितनी कल्पनाएँ आती हैं भविष्यके लिए, और जितनी स्मृतियाँ आती हैं भूतकी, और जितने सम्बन्ध जुड़ते हैं वर्तमानमें, वे सब-के-सब स्वप्नवत् स्फुरणमात्र हैं; और जैसे स्वप्न स्वप्नकालमें भी मनसे जुदा नहीं होता है, वैसे ही ये संसारके सारे स्फुरण इस स्फरणकालमें भी मनसे जुदा नहीं हैं, अपने-आपसे जुदा नहीं हैं—अपने-आपमें ही ये प्रतीतियाँ, ये विवर्त्त सारे-के-सारे हो रहे हैं। इनसे दुश्मनी मत करो, इनसे दोस्ती मत करो—सड़कपर आने-जाने वालेको रोको मत। जो सड़कपर आता है, उसको रोको मत और जो सड़कपर जाता है, उसको रोको मत। सड़कपर ये ही लोग चलें और ये-ये लोग नहीं चलें यह कानून मत बनाओ।

यह तुम्हारा मन जो है यह सड़क है; इसमें जो संस्कारमें भरे हुए लोग हैं, वे आते-जाते रहते हैं। इनको जब सच्चा मानते हैं तब यह फन्देमें डालते हैं। इसीसे ये जितने धर्मात्मा लोग हैं और जितने उपासक और योगी लोग हैं, उनको जिन्दगी भर अपने मनके बनाये हुए भूतसे लड़ना पड़ता है—अपने मनसे ही तो भूत बनाते हैं और फिर भूतसे लड़ाई करते हैं; और वेदान्ती जो है वह जानता है कि भाई इस मनीरामका स्वभाव ही ऐसा है कि कभी भूत बनकरके धमकाते हैं, तो कभी दोस्त बनकरके दुलार करते हैं—ये कभी माँ-बाप बनकरके आते हैं, तो कभी पत्नी-पुत्र बनकरके आते हैं, कभी प्यारे बनकरके आते हैं, तो कभी दुश्मन बनकरके आते हैं—मनीरामका यह स्वभाव ही है, इनको महत्त्व मत दो, इनके कहेनुसार काम मत करो। यह मन जो संसारमें दोस्त-दुश्मन बनाता है, यह जागतेका सपना है—जाग्रत्-स्वप्न है।

तो निरोधका वह जो 'नियच्छेत्' आया है पहले तेरहवें मन्त्रमें, वह विचार-प्रधान है।

यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञतद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि॥

तो जानकार लोग समझते हैं कि मनसे द्वन्द नहीं करना, संघर्ष नहीं करना,

मनमें वैमनस्य, वैरस्य उत्पन्न नहीं करना—क्यों नहीं करना? बोले कि भाई, यह तो प्रतीतिका सहज स्वभाव है, कुछ-का-कुछ भासती रहती है; भासने दो—यह तो मायिकका भूषण है। जादूगर जो होता है, मायावी जो होता है वह कुछ-का-कुछ भासता रहता है। तो यह नासमझी छोड़ो—यह जो तुम इसको अपना सच्चा दोस्त और सच्चा दुश्मन समझते हो, यह नासमझी है। 'जाग्रत! जाग्रत'!! जाग जाओ, जाग जाओ और यह नासमझी छोड़ दो; और 'निबोधत—प्राप्य वरान्निबोधत' जो अमृतवर्षी है सो वर है : **वं अमृतम् राति इति वरः**—जो अमृत दान करनेवाले हैं वे वर पुरुष हैं। वरेण्य—जो परमात्मासे एक हो गये हैं उनके पास जाकरके 'निबोधत'—समझो। क्या समझें महाराज? तत्त्ववेत्ताओंके पास जाकरके सर्वान्तर जो आत्मा है वह मैं हूँ—'तदहमस्मि इति। निबोधत'- 'अवगच्छत'—वही मैं हूँ, यह जानो। **नध्युपेक्षितव्यम्**—देखो, इसकी उपेक्षा मत करो, यह बड़े कामकी बात है। अगर यह बात तुम्हारी समझमें आ गयी कि मैं कौन हूँ, तो तुम्हारे सारे दुःख भाग जायेंगे, तुम्हारे सारे दारिद्र्य भाग जायेंगे। तो बड़ी कृपासे जैसे माँ अपने बेटेको समझाती है वैसे श्रुति बड़ी कृपा करके, ये वेद भगवान् तुमको समझाते हैं, कि सत्पुरुषोंके पास जाओ। माँ कहती है ब्रह्मवेत्ताके पास जाकरके जानो।

एक बात और है—यह वेदान्तका जो जीवन है, यह समस्या-हीन जीवन है। किसीके जीवनमें जब प्रबल समस्याका उदय होता है तब उसको 'प्राबलम' बोलते हैं प्राबलम माने समस्या प्राबल्यम्। तो वेदान्ती जीवनमें कोई समस्या नहीं है, क्योंकि जिसका अभाव मालूम पड़ता है उसका अभाव नहीं है, अधिष्ठान है; और जिसका भाव मालूम पड़ता है उसका भाव नहीं है, अधिष्ठान है; हर हालतमें अपना-आपा ज्यों-का-त्यों है।

तो **क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया**—इसको जानो-जानो। क्यों जाने? जीवनके लिए। बोले कि जीवनके लिए 'प्राबलम' रहित कि जाननेमें थोड़ी कठिनाई है। तो कठिनाईके बिना कैसे जानोगे?

एक कोई जिज्ञासु आये महात्माके पास। महात्मा बड़े दयालु थे। जिज्ञासुने कहा कि महाराज, सत्य क्या है? तो बोले कि तू ही सत्य है भाई! यह जितना कुछ दिखायी पड़ रहा है सब बिना हुए ही दिखायी पड़ रहा है, तू ही सत्य है, तू ही ब्रह्म है, तू ही अधिष्ठान है—तत्त्वमसि।

अब दूसरे दिन वह फिर आया कि महाराज, और कुछ बताओ, यह तो बड़ी सीधी-सी बात है, 'तत्त्वमसि' आपने कह दिया, इसमें तो कोई कठिनाई

नहीं, कोई यज्ञ करना नहीं पड़ा, कोई उपासना करनी नहीं पड़ी, मन एकाग्र करना नहीं पड़ा, कोई देवताको प्रसन्न करना नहीं पड़ा—सीधी-सादी बात कह दी 'तत्त्वमसि'। तो यह क्या परमार्थ इतना सीधा-सादा है? विश्वास नहीं होता।

महात्मा बोले कि अच्छा बेटा, तो जाओ, हमारे पास तो इतना ही है। फिर वह दूसरे गुरुजीके पास गया। पूछा उन्होंने—क्या चाहिए? बोला—परमात्मा। तो बोले कि परमात्मा भला क्या ऐसे मिलता है? पहले बारह वर्ष गाय चराओ और गोबर पाथो। बेचारेने बारह बरस गाय चरायी और गोबर पाथ लिया। फिर बोले बारह वर्ष बर्त्तन माँजो, बारह वर्ष रसोई बनाओ, बारह वर्ष कोठार सम्हालो।

जब अड़तालीस वर्ष हो गया तब बोले कि हाँ, अब ठीक है। तो, तुमको अभी सत्यका दर्शन हुआ कि नहीं? बोला कि ना महाराज, अभी कहाँ हुआ है, अभी तो आपने बताया ही नहीं है। तो बोले कि सत्य तो यह है कि तू ही सत्य है—'तत्त्वमसि'—तू ही परब्रह्म परमात्मा है और तेरे सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

बोला कि हाय राम! अगर अन्तमें यही सच्चा निकलना था तो यह बारह वर्ष गाय चराना, गोबर थापना, बर्त्तन माँजना, रोटी बनाना, कोठार सम्हालना—यह अड़तालीस वर्षका झमेला हमारे सिरपर क्यों थोपा?

तो, कई लोगोंका स्वभाव ऐसा होता है कि जबतक उनसे कुछ उठक-बैठक न करवायी जाये जबतक कोई दम-घोटू उपाय माने प्राणायाम न बताया जाये तबतक उन्हें सन्तोष नहीं होता। इन्द्रियोंसे लड़ाई करो कि कहीं जाने न पावें—अब लड़ो चाहे अड़तालीस वर्ष, अन्तमें यही कहना पड़ेगा कि इन्द्रियोंका जो स्वभाव है—देखना-सुनना—वे वही करती रहेंगी। कोई जिज्ञासु अन्धा नहीं हो जायेगा, बहरा नहीं हो जायेगा। जिज्ञासु चाहे जितनी भी लड़ाई करे मनसे कि मनको रोको तो क्या पत्थर होकर रहना चाहते हो? अन्तमें कोई भी तो यह नहीं कहेगा कि पत्थर होकर रहना ही परमार्थ है। तो जो लोग ऐसा समझते हैं वे बिलकुल गलत समझते हैं। ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी प्राप्तिके बिना मनुष्यका असन्तोष कभी मिट नहीं सकता भला!

तो, जब बताते हैं कि साधन बहुत दुर्लभ है, तब उसपर श्रद्धा होती है। ये स्त्रियाँ जाती हैं न अपनी पारसमणि 'पर्स' हाथमें लेकरके तो दुकानमें पहले कीमत पूछती हैं। घरसे सोचकर निकलती हैं कि सौ रुपयेकी चीज खरीदनी है,

तो पाँच रुपयेकी कीमतवाली चीज दिखावे तो कहती हैं हटाओ-हटाओ—यह नहीं चाहिए; तो पचास रुपयाकी—कि नहीं और जब वह कहेगा कि इसकी कीमत सौ रुपया है तो उसका मन भर जायेगा, क्योंकि उससे पर्स खाली होता है न—जबतक पर्स खाली न हो तबतक उनको सन्तोष नहीं होगा—वे चीजकी अच्छाई नहीं देखेंगी, वें तो जिस चीजकी कीमत ज्यादा होगी, उसको खरीदना पसन्द करेंगी। देखो दलिया बना लेना अथवा खिचड़ी बना लेना, कितना आसान है, लेकिन आदमी कढ़ी बनाकर खाता है कि नहीं, डोसा बनाता है कि नहीं, बड़ा बनाता है कि नहीं—ये सब कष्ट साध्य हैं; तो कष्ट-साध्यमें भी लोगोंकी रुचि होती है।

अब बताते हैं कि यह जो आत्म-ज्ञान है, वेदान्तका ज्ञान है, ब्रह्मज्ञान है, वह जरा कठिन है—'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया'—जैसे खूब शान कराकरके छूरेकी धार रखी हो, तो उसपर पाँव रखकर चलना मुश्किल पड़ता है न, ऐसे ही वेदान्तके मार्गपर चलना मुश्किल पड़ता है। इसमें मुश्किल क्या है, वह मैं आपको दो-एक बात बताता हूँ।

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥

लोग ऐसा समझते हैं कि जैसे यह फूल हाथमें लेकरके आँखसे जाना जाता है, ऐसे ही हम अपने आत्माको भी हाथमें लेकर आँखसे देख लेंगे। है न! तो यह तो छोटी चीज है और स्थूल चीज है—छोटी चीज और मोटी चीज है—और नेत्रका विषय है और हाथमें उठायी जा सकती है, इसलिए इस तरहसे आप इसको जान सकते हैं, पर क्या आप इसी तरहसे अपने आत्माको भी देख सकते हैं? बोले कि हम गुलाब देखकर आये हैं; कि कहाँ देखकर आये हो? कि हैंगिंग गार्डेनमें देखकर आये हैं, तो देखनेका एक अभिमान हो गया, ख्याल बन गया कि मैंने देख लिया। तो अपने आपके बारेमें आपका क्या ख्याल है? क्या आप जैसे फूलको देखते हैं वैसे द्रष्टाको आँखसे देखना चाहते हैं? जैसे दोस्त और दुश्मनको अपने मनसे देखते हैं वैसे ही क्या आत्माको अपने मनसे देखना चाहते हैं? या जैसे नींदको आते-जाते देखते हैं वैसे ही—आने-जानेवाली नींदके समान—अपने आपको देखना चाहते हैं? तो दूसरी चीजोंको देखनेका तरीका और दूसरी चीजोंको देखनेकी तरकीब-तरीका भी और तरकीब भी—प्रक्रिया भी और युक्ति भी दूसरी है और अपने आपको देखनेका तरीका और देखनेकी तरकीब दूसरी है। तो, होता यह है कि जिन्दगी भर बाहरकी चीजें—

दुनियाकी चीजें देखनेकी जो आदत पड़ी है उसी आदतको लेकरके जब आत्माका दर्शन करनेके लिए आते हैं तब भीतर भी कहते हैं कि हम देखनेवाले और आत्मा दीखनेवाला। एक होता है बाह्य पदार्थ और एक मैं होता हूँ उसका ज्ञाता, ऐसा जो अभ्यास पदार्थोंके दर्शनमें पड़ गया है उसके कारण आत्माको भी दृश्य बनाने लगते हैं और यह दृश्य बनानेकी जो जिद्द है, यह जो दुराग्रह है, यह जो अन्यथा-ग्रहण है—दृश्यके रूपमें अपने आपको ग्रहण है—दृश्यके रूमें ग्रहण करनेकी यह जो पद्धति है, इसका नाम अन्यथा ग्रहण है—जो दृश्य हो रहा है वह द्रष्टा कैसे?

तो आत्मज्ञानकी जो रीति है वह अलग है और दृश्य पदार्थके ज्ञानकी रीति अलग है। किसीने दृश्यको देख लिया और बोले कि हमने आत्माको देख लिया—तो इसीको श्रुतिने बताया—'विज्ञातमविजानताम्'—जिन्होंने यह दावा किया हमने आत्माको देख लिया, उन्होंने नहीं देखा। **यस्यामतं तस्य मतम्**—हे भगवान्, यह बड़ी अद्भुत लीला हुई—अपनेको देखनेका तरीका न्यारा होता है!

आप देखो, अपनेको कभी अपनी आँखसे क्यों नहीं देखते? अच्छा, आपने कभी अपनी आँखकी पुतली देखी है कि कैसी है? पुतलीसे ही तो देखते हैं न? आत्माकी बात छोड़ो, अगर आपको अपनी आँखकी पुतली कैसी है, यह देखना हो तो क्या खुली आँखसे या बन्द आँखसे आप अपनी पुतलीको देख सकते हैं? नहीं देख सकते। कि तब अपनी आँखकी पुतलीको देखनेका तरीका क्या है? शीशेमें देखेंगे आँखकी पुतलीको, क्योंकि आँखकी पुतलीसे ही तो देख रहे हैं? तो, जिससे देख रहे हैं उसको देखेंगे कैसे? कि उसकी परछाँईं देखेंगे। परछाँईं कहाँ देखेंगे? कि शीशेमें देखेंगे। परन्तु देखो, शीशेमें देखते हुए विवेककी जरूरत पड़ेगी, कि जो शीशेमें दीख रहा है उसमें शीशा कितना है। तुम्हारी आँखकी पुतली दिख रही है शीशेमें, उसमें शीशा कितना है—क्या शीशेके भीतर तुम्हारी आँख घुसी हुई है? अरे, शीशेके भीतर तो आँख गयी नहीं है। पुतली क्या तुम्हारी शीशेके भीतर है? तुम क्या शीशेके भीतर दीख रहे हो? तुम खड़े हो पूरब मुँहसे और शीशेमें दीख रहे हो पश्चिम मुँहसे तो अगर तुम अपनेको पश्चिम मुँहसे सच्चा समझोगे तो गलत समझोगे। पूरब मुँहसे खड़े होकर शीशेमें अपनेको पश्चिम मुँहका देखना—यह पश्चिम-मुँह जो है यह शीशेकी उपाधिके कारण है और शीशेके भीतर जो मालूम पड़ते हैं, सो? कि यह भी शीशेकी उपाधिके कारण है। अच्छा, जो शीशेमें दीख रहे हैं वह आप

स्वयं हैं क्या? देखनेवाले तो शीशेसे बाहर हैं। तो यद्यपि अपनेको देखनेके लिए जगह जो है वह बुद्धिका शीशा ही है-अन्त:करणके शीशेमें ही अपने-आपको देखा जाता है—परन्तु उस शीशेमें अपने आपको देखते हुए भी जो शीशेमें घुसे हुए मालूम पड़ते हैं, जो शीशेमें विपरीत-मुँहके मालूम पड़ते हैं-यह जो हमारा सामनेको मुँह मालूम पड़ता है परछाईंमें, जब हम बुद्धिमें अपने-आपको डालकरके देखते हैं तब मालूम पड़ता है कि हमारा मुँह सामनेको है—पूरब है या पश्चिम है। यह बुद्धिकी उपाधि (शीशे) के कारण है। तो, बुद्धिकी जड़ता कितनी है और बुद्धि हमको दिखाती हुई भी अपनी कौन-कौन-सी विशेषता हमारे अन्दर डाल देती है और हमको कितना दिखाती है, इस बातको अगर समझेंगे नहीं तो अन्त:करणके शीशेमें आपनेको कैसे समझेंगे? शीशेसे जब अपना विवेक करेंगे और परछाईंका भी तब अपने आपको समझ सकेंगे?

तो, यह बुद्धिका शीशा है और इसमें जीव और ईश्वररूप जो आभास है सो परछायीं है—माने बड़ी बुद्धिमें बड़ा आभास और छोटे शीशेमें छोटा आभास। तो जबतक अपनेको शीशेसे जुदा नहीं समझेंगे और शीशेमें जो परछाईं दीख रही है उससे अपनेको जुदा नहीं समझेंगे और शीशेके कारण परछाईंमें जो विशेषता आ गयी है-जैसे शीशेका रंग जो परछाईंमें मालूम पड़ता है—जबतक उससे अपनेको जुदा नहीं करेंगे तबतक अपनेको कैसे समझेंगे? इसीको बोलते हैं विवेक—परछाईंके साथ, प्रतिबिम्बके साथ बिम्बका जो विवेक है, छायाके साथ जो अपने स्वरूपका विवेक है-जबतक वह विवेक जाग्रत नहीं होगा तब तक अपने आपको कैसे समझेंगे?

तो यह प्रतिबन्धकी चर्चा है। फिर बोले कि हम इतने यज्ञ करेंगे तब अपने आपको देखेंगे; इतने होम करेंगे तब अपनेको देखेंगे; हमारे ऊपर यह देवता प्रसन्न होगा तब हम अपनेको देखेंगे; हमारी इतनी देर सामाधि लगेगी तब हम अपनेको देखेंगे—तो ये सब प्रतिबन्ध हैं प्रतिबन्ध। तो भिन्न-भिन्न प्रकारके साधनोंमें आस्था होना, बुद्धि-रूप शीशेके साथ तादात्म्य होना, उसके द्वारा उत्पन्न की हुई विशेषताओंसे विवेक न होना, अपनेको छायासे अलग न कर पाना—ये सब ऐसे कारण हैं जिसकी वजहसे मनुष्य अपने आपको जान नहीं पाता, अपने आपको समझ नहीं पाता।

इसीलिए कहा कि **प्राप्य वरान्निबोधत**—बड़ोंके पास जाकर समझो। यह 'वर' शब्द हिन्दीमें आकरके बड़ा बन गया है—'र' का 'ड़' हो गया। बरोंके पास

माने बड़ोंके पास। बड़ा कौन? कि जिसको द्वैतकी कोई समस्या नहीं है—अरे फुर गया फुर गया, हो गया हो गया, कर गया कर गया, सो गया सो गया, समाधि लग गयी, लग गयी—द्वैत जिसके लिए समस्या ही नहीं है—कोई मित्र बनकर आ गया, कोई शत्रु बनकर आ गया, आ गया—जिसके लिए द्वैत कोई समस्या ही नहीं है, जिसके लिए संयोग-वियोग कोई समस्या ही नहीं है, जिसके लिए जन्म-मृत्यु कोई समस्या ही नहीं है—सबसे बड़ा वही है।

आपने वह सुना होगा कि एक मच्छर उड़ता हुआ आया और बैलकी सींगपर बैठ गया; जब जाने लगा तब हाथ जोड़कर बैलकी आँखके सामने आकर बोला कि बृषभदेव! मैं इतनी देरतक आपकी सींगपर बैठा रहा, माफ करना; बड़ा शिष्ट मच्छर था। बैलने कहा भाई, हमको तो पता ही नहीं चला कि तुम कब आकरके हमारे सींगपर बैठे? कितनी देरतक बैठे और कब उड़ गये; हमको तो पता ही नहीं चला। तो अब क्या तुम्हें क्षमा करें और क्यों तुम क्षमा माँगते हो? तो, ये संसारी लोग जो हैं न नन्हें-मुन्ने जिन बातोंको-एक शरीरमें आने-जानेवाली जिन बातोंको, रहने-न-रहनेवाली जिन समस्याओंको बड़ा मानते हैं, वे मच्छर तुल्य हैं। और—मनीरामकी समस्या अलग, बुद्धि रानीकी समस्या अलग, प्राणोंकी रीढ़की समस्या अलग, इन्द्रियोंके कर्मकी और ज्ञानकी समस्या अलग—ये समस्याएँ जिनके लिए मच्छर-तुल्य हैं, जो अपने ब्रह्म-स्वरूपमें विराजमान है—क्या समस्या आती है और क्या जाती है—छोटी-मोटी बातोंकी जो पकड़ है, उसको छोड़करके जो रहते हैं, वे बड़े हैं। हमको एक बड़े महापुरुषने यह उपदेश किया था कि संसारी लोगोंकी दृष्टिसे जो बहुत बड़ी समस्या होती है, महापुरुषकी दृष्टिसे उसका अस्तित्व ही नहीं होता। महापुरुषकी ब्रह्मसत्तामें उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। जिसके लिए दुनिया-दार लोग आपसमें लड़ाई करते हैं, मुकदमा दायर करते हैं, रोते हैं, हँसते हैं, मरते हैं, राग-द्वेष करते हैं! जिसकी दृष्टि तत्त्वपर है उसके लिए वह चीज कोई समस्या ही नहीं होती, रहे तो रहे, जाये तो जाये, वह तो बिलकुल सपनेका खेल है, वह तो बाजीगरी है, एक प्रकारकी माया है, एक प्रकारकी छाया है, एक प्रकारका जादू है, एक प्रकारकी प्रतीति है—महापुरुषकी दृष्टिमें उस वस्तुका कोई तत्त्व नहीं है, कोई महत्त्व नहीं है, कोई सत्ता नहीं है।

तो, क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति॥

जब जिज्ञासु विषयकी आसक्तिको ही परमार्थ समझ लेता है तब उसके

लिए ब्रह्मज्ञान दुर्गम हो जाता है। जब वह अपनी बुद्धिका प्रयोग व्यवहारमें-व्यापारमें तो खूब करता है और परमार्थमें नहीं करता तब उसके लिए यह दुर्गम हो जाता है; जब वह तर्क-वितर्क ज्यादा करता है और तर्क-वितर्कका जो अधिष्ठान है, जो द्रष्टा है, उसकी ओर ध्यान नहीं देता; और जब ज्ञान नहीं था तब भी अपनेको हड्डी-मांस-चामका पुतला-शरीर मानता था और अब ज्ञान होनेके बाद भी यही रहा-अपनेको शरीर ही माने और कहे कि हमने ब्रह्मको तो जान लिया पर, महाराज, हमारी आँख जरा टेढ़ी है; हमारे हाथसे इतना वजन नहीं उठता, हमारे पाँवसे चला नहीं जाता; तब उसके लिए ब्रह्मज्ञान दुर्गति हो जाता है। बोले कि मनसे ये बातें नहीं जाती हैं, मनमें ये बातें नहीं आती हैं, तो देहाभिमानीको ब्रह्मज्ञान कभी नहीं हो सकता। विपर्ययमें दुराग्रह जो कर लेगा उसको ब्रह्मज्ञान कभी नहीं होगा।

एकने कहा कि हमको भगवान् अभी मिलें! तो महात्माने पूछा कि पहले यह बताओ कि अभी भगवान् मिल जायेंगे तब तुम करोगे क्या? तुम्हारा क्या ख्याल है कि जब भगवान् मिल जायेंगे तब क्या होगा? तो बोला कि जब भगवान् मिल जायेंगे तब मैं तो पालथी मार करके यों बैठ जाऊँगा और हमारे भगत लोग आयेंगे फूल चढ़ायेंगे, चन्दन लगायेंगे,माला पहनायेंगे और हाथ जोड़ करके बोलेंगे—

राजाधिराजाय प्रसह्यसाहिने नमो वयं वैश्रवणाय कुर्महे।
समे कामान् काम कामाय मह्यम् कामेश्वरो वैश्रवणो दधातु॥

तो देखो, ज्ञानकी कितनी महिमा है कि इतनी हमारी पूजा होगी। तो ज्ञान होनेके बाद यदि देह ही पुजवानेकी इच्छा होवे तो फिर ज्ञान तुमसे परहेज करेगा न? परहेज करेगा ज्ञान। तो, यह जो प्रज्ञाकी मंदता है, कुतर्क है, देहाभिमानकी पकड़ है, विषयासक्ति है बहिर्मुखता है-ये सब ज्ञानमें प्रतिबन्धक हैं। ज्ञान तो इतना ही है कि 'जो वह सो तुम', सो वह-तुम्हारे सिवाय दूसरी कोई वस्तु नहीं।

ज्ञान तो इतना ही है-अब इसमें तुमको क्या शंका है? कि यह शंका है कि फिर हम साढ़े-तीन हाथके क्यों? यही न? इसको महात्मा लोग गाली देकर बोलते हैं। फक्कड़ोंके पास जाकर यदि कोई ऐसी बात करे, तो गाली देकर बोलते हैं—अरे गीध कहींके, मैंने तो तुमको सातवें आसमानमें उड़ना सिखाया और तेरी नजर मांसके टुकड़ेपर ही है? मैं तुम्हें ब्रह्म बता रहा हूँ और तुम अपनेको हड्डी-

मांस-चाम-विष्ठा-मूत्रका भांड समझते हो? यह फोड़ते क्यों नहीं हो? इसको गिर जाने दो; यह खुद नरक है, जाने दो इसको नरकमें। तुम तो बिलकुल स्वच्छ हो- स्फटिक-धवल-**सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म**—स्वयं प्रकाश सच्चिदानन्दघन हो, यह हम तुमको बताते हैं!

तो इसलिए कहा कि 'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया।' देहाभिमान छोड़करके इस मार्ग पर चलना, बड़ा कठिन है मानो क्षुरकी धरा पर चलना। इसीलिए इसको कठिन बताते हैं। **दुर्गम् पथस्तत्कवयो वदन्ति**—इसीलिए जो ब्राह्मज्ञानी पुरुष हैं वे इस ज्ञान-मार्गको कठिन बताते हैं!

क्यों कठिन बताते हैं? कि **ज्ञेयस्यातिसूक्ष्मत्वात्**—ज्ञेय वस्तु जो है सो अति सूक्ष्म है। **तद्विषयस्य ज्ञानमार्गस्य दुःसम्पाद्यत्वं वदन्ति**—बताते हैं कि यह ज्ञानमार्ग दुःसम्पाद्य है। लेकिन, आप देखो गीताके छठे अध्यायमें आया कि—

सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते॥ (६.२८) सुखेन माने आसानीसे, अनायास, ब्रह्मसंस्पर्श है उसको वह प्राप्त करता है!

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्॥ (९.२)

सुसुखम् कर्तुमव्ययम्—बड़ा आसान है। योगवासिष्ठमें आया-आँख मींचनेमें तो क्रिया करनी पड़ती है, फूलको मसलनेमें अँगुलीको तकलीफ देनी पड़ती है—फूलको मसलनेमें तकलीफ है और आँखकी पलक गिरानेमें तकलीफ है लेकिन अपनेको ब्रह्म जाननेमें कोई तकलीफ नहीं है। तो भाई, फिर जानते क्यों नहीं? कि जानते इसलिए नहीं कि बिना विचारके जो बात पहले मान बैठे हो, वह छूटती नहीं।

अच्छा, तुमने अपनेको जीव कब माना? जरा याद करके बताओ कि किस तारीखको, किस समय तुमने अपनेको जीव माना? फिर यह बताओ कि तुमने अनुभव करके अपनेको जीव माना? या कि सोच-विचार करके जीव माना? या कि अपनेको जीवरूपसे साक्षात्कार करके अपनेको जीव माना? अपनेको परिच्छिन्न रूपसे साक्षात्कार करके तब तुमने अपनेको परिच्छिन्न माना? इस प्रश्नका क्या उत्तर है? एक ही उत्तर है इसका कि अविचारकृत है, अविचारणीय है। इसका मतलब यह हुआ कि बिना विचारके, बिना अनुभवके, बिना साक्षात्कारके मान लिया गया है—किसीने कह दिया कि तुम जीव हो और तुमने मान लिया, और तुम्हारी यह मान्यता इतनी पक्की हो गयी, इतनी प्रबल हो गयी—

अन्जानमें, अनसोचे, अनविचारे, अनदेखे कि अब अपनेको ब्रह्म जानना पसन्द नहीं करते। क्या नरक देखकरके तुमने नरक माना? क्या स्वर्ग देखकरके तुमने स्वर्ग माना? क्या पुनर्जन्म देखकरके तुमने पुनर्जन्म माना? क्या अपनेको सुखी-दु:खी देखकरके अपनेको सुखी-दु:खी माना? अरे ना बाबा, देखनेवाला तो सबसे न्यारा है।

क्या अपनेको सोता हुआ देखकरके तुमने अपनेको सोता हुआ माना? अगर तुम अपनेको सोता हुआ देखते हो, तो तुम सोते नहीं हो, और अगर सो जाते हो तो सोना देखते नहीं हो। लेकिन, बिना विचारे कुछ-कुछ ऐसी मान्यताएँ बैठ जाती हैं, विपर्ययमें ऐसा दुराग्रह हो जाता है कि—बोले—हम तो पुनर्जन्म वाले ही हैं, हम तो नारकीय-स्वर्गीय ही हैं, हम तो कर्त्ता-भोक्ता ही हैं, हम तो परिच्छिन्न ही हैं। यह सब तो तुमने बिना सोचे ही माना, और जो सोचता है, समझता है, अनुभव करता है कि हम भी ब्रह्म, तुम भी ब्रह्म—उस विचारवान्की बातपर तुम ध्यान ही नहीं देते—इसीसे दुर्गम है! दुर्गम इसीलिए है कि तुमको समस्या-हीन जीवनका ठीक-ठीक 'आइडिया' नहीं है। जिस जीवनमें कोई समस्या ही नहीं रहती—न कर्मकी समस्या, न भावकी समस्या, न स्थितिकी समस्या, न लोक-परलोककी समस्या, धर्म-अधर्मकी समस्या, न नास्तिक-आस्तिककी समस्या, न भेद-अभेदकी समस्या। जहाँ कोई समस्या ही नहीं रहती, वह ब्रह्मत्व तुम्हारा स्वरूप है।

अध्याय—१ वल्ली—३ मंत्र—१५

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥ १.३.१५

अर्थ :–जो अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय तथा रसहीन, नित्य और गन्धरहित है, जो अनादि, अनन्त, महत्तत्त्वसे भी पर और ध्रुव है, उस आत्मतत्त्वको जानकर पुरुष मृत्युके मुखसे छूट जाता है॥ १५॥

यह समस्याहीन जीवन अथवा बुद्धि कैसे प्राप्त होगी? कि अपने स्वरूपको देखो! वह कैसा है—यह इस मंत्रमें बताते हैं। यह ब्रह्मविद्या है। यह तुम्हें मौतके मुँहमें-से निकलनेकी विद्या है—कभी बुड्ढे नहीं होगे, कभी मरोगे नहीं, कभी पापी-पुण्यात्मा नहीं बनोगे, कभी स्वर्गी-नरकी नहीं बनोगे, कभी तुम्हारे मनमें दुर्भाव नहीं आयेगा। इस विद्याको प्राप्त करो, यह आत्माका स्वरूप है। अब इस मंत्रके बारेमें सुनाते हैं—

यह वर्णन करते हैं कि यद्यपि देहाभिमानी और विषयदर्शी बहिर्मुखके लिए आत्माका ज्ञान कठिन है तथापि जो सूक्ष्मदर्शी पुरुष हैं वे जैसे माटीमें-से सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रस निकाल लेते हैं ऐसे ही संसारमें-से परमात्माको ढूँढ, निकाल लेते हैं।

निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते।

पहले इस आत्माको दुर्जेय क्यों बताया—**दुर्गम् पथस्तत्कवयो वदन्ति**—मूलमें ही ही दुर्गं शब्द आया है—इसे श्रीशंकराचार्य भगवान् बताते हैं कि आत्मा अति सूक्ष्म है। पहले भूमिका बाँधकर इस बातको समझाते हैं। पहले तो समझो कि यह स्थूल धरती है, इस धरतीमें पाँचों विषय हैं—गन्ध है, यह नाकसे समझमें आता है, रस है जीभसे पकड़में आता है, रूप है आँखसे देखनेमें आता है, स्पर्श है त्वचासे मालूम पड़ता है और शब्द है यह कानसे मालूम पड़ता है। इस तरह हमारी पाँचों ज्ञानेन्द्रियोंसे पाँच गुणवाली यह प्रकृति मालूम पड़ती है और यदि विचार करके देखो तो जैसी पृथिवी वैसा ही शरीर—शरीरमें भी वैसे ही शब्द, स्पर्श, रूप. रस, गन्ध—ये पाँच तत्त्व हैं, पाँच गुण इसमें भी हैं। अब यह भी देखनेमें आता है कि पृथ्वीमें तो पाँचों हैं, लेकिन जलमें गन्ध नहीं है और अग्निमें गन्ध और रस दोनों नहीं हैं और वायुमें गन्ध, रस, रूप तीनों नहीं हैं और आकाशमें गन्ध, स्पर्श.

रूप, और रस चारों नहीं है तो विवेक करके देखते हैं कि यह शरीर तो पञ्चभूतोंसे बना हुआ है और व्यष्टि-समष्टि दोनों स्वशब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध वाले हैं और इनके ज्ञानके लिए जो औजार हैं, जो करण हैं अपने पास है वे भी पाँच है।

कल आपको शीशेका दृष्टान्त देकरके बताया था कि जब आप अपनेको देखना चाहते हैं तब खुद देखनेवाला और खुद देखा जानेवाला ऐसा नहीं हो सकता—इसको दर्शन-शास्त्रकी भाषामें कर्तृकर्म-विरोध बोलते हैं। जैसे कोई आदमी चाहे कि हम अपने कन्धेपर चढ़ बैठें तो एक ही आदमी चढ़नेवाला और चढ़ा जानेवाला दोनों नहीं हो सकता—एक ही वस्तु जाने भी और जानी भी जाय—जो ज्ञाता हो सो ही ज्ञेय हो, जो कर्त्ता हो सो ही कर्म हो, जो भोक्ता हो सो ही भोग्य हो—ऐसा नहीं हो सकता, इसको कर्त्तृ-कर्म-विरोध बोलते हैं। तो हम अपने आपको ऐसे तो देख ही नहीं सकते। फिर कैसे देख सकते हैं अपनेको? कि वृत्ति-रूप दर्पणमें प्रतिबिम्बित जो अपना-आपा है उसको देखकरके अपने बारेमें साक्षात् अपरोक्ष निश्चय कर सकते हैं कि मैं ऐसा हूँ।

तो अब यह हुआ कि देखो हमें तो गन्ध आती है संसारमें कि गन्ध है। बोले—गन्ध तब आती है जब तुम नाकमें उतरते हो—कोई पनालेमें उतरे जो गन्ध आवेगी ही। तो इसका मतलब यह हुआ कि जो गन्ध का ग्रहण होता है सो, और गन्धवाली जो पृथिवी है सो, और गन्धको ग्रहण करनेवाली जो इन्द्रिय है सो,—गन्धरूप गुण, गन्धका आश्रय पृथिवी और गन्धको ग्रहण करने वाली इन्द्रिय—ये तीनों शीशेमें हैं, देखनेवालेमें नहीं हैं। तुम न गन्ध हो, न गन्ध आश्रय पृथिवी हो और न नासिकाकी उपाधिसे आघ्राण करनेवाले घ्राता हो, यह त्रिपुटी हुई—घ्राता-घ्राण और गन्धकी, और तब आश्रय-भूत द्रव्य जो पृथिवी है सह सत्ताके अतिरिक्त और कुछ रही नहीं, तब यह त्रिपुटी मिथ्या हो गयी! तो जिस पृथिवीमें ये तीनों पृथिवीके सम्बन्धमें-से भास रहे हैं वह अनात्मा है और अपने स्वरूपें केवल प्रतीत होती है, वस्तुतः नहीं है।

इसी प्रकार रसनासे रसका ज्ञान होता है। आप जानते ही हो हिन्दू-धर्ममें, शास्त्रमें, वेदमें पुराणमें विषय पाँच माने हुए हैं और उनके ग्रहण करनेकी इन्द्रियाँ भी पाँच मानी हुई हैं और उन विषयोंके आश्रय-रूप द्रव्य भी पाँच माने हुए हैं। तो जिह्वासे रसका ज्ञान होता है और रस जिस धातुमें रहता है उसका नाम जल है और जिह्वासे जो रस लेता है उसका नाम रसयिता है। तो रसयिता, रसना (जीभ) और रस—यह त्रिपुटी और रसका आश्रय-रूप-द्रव्यजल—इसमें शीशेमें ही जल है।

रसका जो गुण है वह भी शीशेमें ही है और इसमें जो रसनेन्द्रिय है वह भी शीशेमें है। इसका मतलब हुआ कि जलमें रसकी त्रिपुटी मिथ्या है और सत्तामें जल मिथ्या है। रसना जो इन्द्रिय है वह शीशेमें है और उस रसनाके सम्बन्धसे जो हम रसयिता बने हुए हैं, वह सम्बन्धसे रसयिता बने हुए हैं। हैं तो हम ज्ञान-स्वरूप; लेकिन घ्राणके सम्बन्धसे घ्राता बन गये और रसनाके सम्बन्धसे रसयिता बन गये।

इसी प्रकार रूप, रूपका आश्रय तेज और रूपको ग्रहण करनेवाली इन्द्रिय-आँख और आँखके सम्बन्धसे हम द्रष्टा बन गये। तो असलमें जिस शीशेमें हम दिखायी पड़ रहे हैं, माने जिस व्यक्तित्वमें हमारी छाया, हमारा प्रतिबिम्ब मालूम पड़ रहा है उसके गुण-धर्मको जुदा करके यदि हम अपने आपको पहचानें तो, न हम गन्ध लेनेवाले घ्राता हैं और न रस लेनेवाले रसयिता हैं और न रूप देखनेवाले द्रष्टा हैं और न स्पर्श करनेवाले प्रष्टा हैं क्योंकि स्पर्श-रूप गुण वायु-द्रव्यके आश्रयसे रहता है और त्वचासे उसका ज्ञान होता है और जब हम यह शीशेके भीतर रहनेवाली जो त्वचा इन्द्रिय है अन्त:करण-रूपी-दर्पणमें जो त्वचा-इन्द्रिय है उसके साथ जब हम अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं तब हम द्रव्य होते हैं! उसी प्रकार शब्द, शब्दका आश्रय द्रव्य आकाश और शब्दको सुननेवाला श्रोत्र—कान। जब हम कानवाले बनते हैं तब श्रोता बनते हैं।

तो असलमें हम क्या हैं—श्रोता हैं कि द्रष्टा हैं कि स्प्रष्टा हैं, कि रसयिता हैं, कि घ्राता हैं? अब विचार करके देखो कि हम पाँच तो हो नहीं सकते—ये तो पाँच गुण हैं, पाँच द्रव्य हैं, पाँच इन्द्रियाँ हैं। हम तो पाँच हैं नहीं, हम तो एक हैं। हम जब जिस इन्द्रियके द्वारा, जिस विषयको अपना विषय बनाते हैं, ग्रहण करते हैं वह द्रव्य हमको दिखलायी पड़ता है; असलमें हमारे अन्दर न विषय है, न द्रव्य है और न तो इन्द्रिय है—हम तो ज्ञानमात्र हैं। ज्ञानमें जो विशेष आकार है कि हम सुननेवाले, हम स्वाद लेनेवाले, हम रूप देखनेवाले, हम स्पर्श करनेवाले, हम सूँघने वाले-यह जो विशेष आकार है यह तो इन्द्रियके सम्बन्धसे है और इन्द्रिय तो शीशा है, इन्द्रिय कोई बिम्ब थोड़े ही है? इन्द्रियाँ तो वह शीशा है जिसमें मुझ ज्ञानस्वरूप बिम्बका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। तो जब तुम्हें विवेक करना है तो मैं पृथिवी आदि भूतोंसे अलग हूँ, गन्ध आदि गुणोंसे अलग हूँ और घ्राण आदि इन्द्रियोंसे अलग हूँ, इस प्रकार विवेक करके अपनेको जानना पड़ेगा। इसको आँख बन्द करके ध्यान करना नहीं है, यह ध्येय नहीं है, यह ध्यान नहीं है, यह ज्ञान है। इसी बातको समझानेके लिए प्रस्तुत मंत्र है।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्—ये जो पाँच गुण हैं, इनमें तारतम्य भी देखनेमें आता है और रसमें गन्ध गुण नहीं है और तेजमें रस और गन्ध नहीं है—यह सब बात आपको सुनायी; इस प्रकार यह अन्त:करणमें जो शब्दाकार वृत्ति है, रूपाकार वृत्ति है, रसाकर-वृत्ति है, स्पर्शाकार वृत्ति है, गन्धाकार वृत्ति है—ये अन्त:करणकी वृत्ति हैं; अपने ज्ञान स्वरूपमें नहीं हैं, ज्ञान-स्वरूप इनसे न्यारा है।

अच्छा, यह जो न्यारा ज्ञान-स्वरूप है वह कैसा? बोले—अशब्दम्—शब्द माने शब्द गुण, उसका आश्रय आकाश द्रव्य और ग्राहक श्रोत्र—इन्द्रिय—ये तीनों 'शब्द' हैं। इन तीनोंसे रहित है अपना आत्मा—यह बात **'अशब्दम्'** कहकर बतलायी गयी।

अस्पर्शम्—कोमल-कठोर स्पर्श—इनका आश्रय भूत-द्रव्य वायु और उसको ग्रहण करनेवाली **'त्वचा'**—इन तीनोंसे मुक्त है आत्मा।

अरूपम्—रूपगुण-रूपाश्रय-द्रव्य तेज और उसको ग्रहण करनेवाली आँख इन तीनोंसे रहित है आत्मा और शरीर? शरीर तो पञ्चभूतमें गया ही-इनसे न्यारा है अपना आत्मा।

अरसम्—रस, रसाश्रय—द्रव्य जल और रसको ग्रहण करनेवाली रसना—इनसे विलक्षण है आत्मा।

अगन्धवत् च—नाक और नाकसे ग्रहण किया जानेवाला गुण गन्ध और गुणाश्रय पृथिवी-इन तीनोंसे विलक्षण है आत्मा।

अब बताते हैं—आत्माका रूप! क्या बताते हैं कि **अव्ययम् नित्यम्**—अब इसीमें शब्दको पकड़ो-

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।

यह आत्मदेव कैसे हैं? बोले कि अव्यय हैं। **न व्येति विपरीतभावं न प्राप्नोति—न विपर्येति इत्यर्थम्**—अ माने नहीं और वि माने विपर्यय और अय माने प्राप्ति; इसलिए अव्यय माने जो विपर्ययको कभी प्राप्त न हो—जैसा है वैसा ही रहे, कोई परिणाम न होवे, उसको अव्यय कहते हैं। यह शरीर चाहे जन्मे, चाहे मरे, वह अव्यय ज्यों-का-त्यों। चाहे सृष्टि हो, चाहे प्रलय हो, यह ज्यों-का-त्यों। कर्म हो चाहे न हो, यह ज्यों-का-त्यों। भोग मिले चाहे न मिले, यह ज्यों-का-त्यों। इसीसे उसको अव्यय कहते हैं।

यद्धि शब्दादियत्तद्व्येतीदं तु अशब्दादिमत्त्वादव्ययं—जिसमें शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध होते हैं उसका व्यय होता है, परन्तु आत्मा तो अशब्द, अस्पर्श,

अरूप, अरस, अगन्ध है; अतः अव्यय है। देखो शब्द बदल जाता है, स्पर्श बदल जाता है, रूप बदल जाता है, गन्ध बदल जाता है, रस बदल जाता है; लेकिन अपना-आपा नहीं बदलता। भोजनके समय रस बदलते हैं कि नहीं? एक बार गुड़ खाया तो मीठा, एक बार चटनी खायी तो खट्टी, एक बार दाल खायी तो नमकीन—तो रस तो बदल गये और तुम? तुम एक ही हो कि तुम बदल गये? कि नहीं भाई, इमलीका बड़ा खट्टा था, गुड़ मीठा था, दालमें साँभर नमक पड़ा था—कि ठीक है, वे बदलते गये, तुम तो नहीं बदले! बोले—ऐसा भी है कि जीभपर खट्टा स्वाद लेनेवाला छेद जुदा, मीठा स्वाद लेनेवाला छेद जुदा, नमकका स्वाद लेनेवाला छेद जुदा। इस जिह्वामें छेद होते हैं—एक ही जिह्वा छिद्रवती होकरके रसका ग्रहण करती है; लेकिन, तुम जिसको ज्ञान हुआ वह एक ही हो!

यह भोग माने क्या होता है? मालूम पड़ना भोग है। मालूम पड़नेके सिवाय भोग और कुछ नहीं होता। एक आदमीके मुँहमें हलुआ ठूँसो और एक आदमीके मुँहमें चटनी खिलाओ; और उनको मालूम न पड़े; तो क्या उनको मजा आया? हलुआ हलुआ न मालूम पड़े और चटनी चटनी न मालूम पड़े, तो खानेवालेको कोई मजा आया? असलमें मालूम पड़ना ही मजा है। मालूम पड़नेके सिवाय और कुछ मजा नहीं है। ज्ञान ही भोग है। यदि तुमको यह ज्ञान होवे कि सम्पूर्ण स्थिति-प्रलयके अधिष्ठान स्वयं प्रकाश सर्वावभासक परमात्माके साथ मैं एक हूँ, तो क्या होगा? कि तब तो सब सुख, सब स्वाद, सब सत्ता सब ज्ञान एक साथ मिल गया, क्या बाकी रहा? इसके प्राप्त हो जानेके बाद कोई भी वस्तु अप्राप्त नहीं रहती, सब अपना आपा है; अतः **अव्ययम्।**

नित्यम्—दुनियामें लोग कहते हैं कि चलो इस समय मजा आ जावे बादमें आवे कि नहीं आवे! यह धर्म जो था, यह हमारे जीवनमें एक शाश्वत-दृष्टि ले कर आता था। धर्म माने हमें जीवनमें ऐसा काम करना चाहिए जिससे इस लोकमें भी सुख हो और परलोकमें भी सुख होवे। तो धर्मसे एक शाश्वत-दृष्टिका प्रारम्भ होता था जीवनमें! परन्तु बोलते हैं—धर्मपर कौन विश्वास करे, फिर कल मौका मिलेगा कि नहीं मिलेगा कौन जानता है? कौन जानता है कि कल क्या होगा? कलका तो झमेला ही है, आओ आज ही लूट-खसोट कर रख लें, सरकार पकड़ेगी तब देखा जायेगा। बेईमानी करनेवाले ऐसा सोचते हैं कि आज तो बेईमानी करके रख लो, कल सरकार पकड़ेगी तो देखा जायेगा। बोले कि नरकमें जाओगे तो कहेंगे कि किसने देखा है नरक? तो यह मनुष्यकी दृष्टिमें से जबसे शाश्वत-भाव निकल

गया, नित्य-भाव निकल गया, तबसे वह अपने पाँवके नीचे गिरनेवाला हो गया, आगेकी कुछ देखे ही नहीं, आगेकी कुछ सूझे ही नहीं।

तो, देखो धर्मसे लोक-परलोक दोनों बनता है—यह आस्था होती है; और उपासनासे हमारा प्यारा मिलता है; और योगसे हम आत्म-निष्ठ होते हैं; और तत्त्वज्ञानसे सब झगड़े खत्म हो जाते हैं—इसमें न धर्म-रूप क्रिया करनी है, न जाकर इष्टदेवसे चिपकना है और न आँख-कान मूँद करके समाधिमें बैठना है, यह तो खुले आँख परमात्मा देखूँ-खुली आँखसे अभी-अभी परमार्थ निहारनेका है।

नित्यम्-नित्यम्-नित्यम्का अर्थ यह होता है कि जो पिछले कल भी रहा हो और आज भी हो और अगले कल भी हो। जो छूटे नहीं उसको नित्य कहते हैं। इसमें भी एक परिवर्त्तनशील नित्य होता है और एक कूटस्थ नित्य होता है। आत्मा जो है वह कूटस्थ नित्य है। कूटस्थ अर्थात् अपरिवर्तनशील, कोई कहे कि हमारा आत्मा तो बदल गया; क्योंकि एक बार चींटी बना, एक बाद हाथी बना, एक बार छोटा हुआ, एक बार बड़ा हुआ। परन्तु आत्मा नहीं बदलता है—यह तो जैसे जाड़ेके दिनोंमें बड़ा कोट बनवा लेते हैं और गर्मीके दिनोंमें हल्का-फुल्का कोट रखते हैं, ऐसे ही है यह हाथीका शरीर और चींटीका शरीर—ये तो पोशाक हैं। स्त्रियाँ खड़ी धारीकी साड़ी पहन लें तो लम्बी लगें और आड़ी धारीकी पहन लें तो नाटी लगें! तो क्या वे नाटी हो जाती हैं, लम्बी हो जाती हैं? कि नहीं, वैसी लगने लगती हैं। तो आत्मा चींटी नहीं हो जाता, चींटी-सरीखा लगने लगता है। यह दृश्य है।

दृश्यमें और भव्यमें फर्क होता है भला! यह जो 'भू' धातुसे बनता है वह भव्य होता है और 'दृक्' धातुसे बनता है वह दृश्य बनता है। होना अलग चीज है और मालूम पड़ना अलग चीज है। होना और मालूम पड़ना एक नहीं है। देखो, चन्द्रमा है तो बड़ा भारी, लेकिन दीखता है बित्ते भरका; सूर्यका होना कितना बड़ा है—पृथिवीसे लाखों गुणा बड़ा है सूर्य, लेकिन दीखता है हाथ भरका। तो चीज जैसी होती है वैसी ही दीखती है—यह जरूरी नहीं है। तो आत्माका स्वरूप ज्ञान है—प्रपञ्च इसको भासता है प्रपञ्च इससे बनता नहीं है। बनना दूसरी चीज है और भासना दूसरी चीज है। तो यह उत्पत्ति-सृष्टि-स्थिति-लयका जो विवेक करते हैं न, कार्यका विवेक, वह तो जो बना उसका विवेक है; वेदान्तमें जो बना उसका विवेक नहीं है, कार्य-कारणका विवेक नहीं है, जो दीखता है उसका विवेक है, दृश्यका विवेक है। ये वेदान्ती लोग वर्षों तक पढ़ते रहनेपर भी वेदान्तको नहीं समझते हैं कि वेदान्तमें प्रपञ्चको, सृष्टिको, कार्य नहीं बोला जाता, दृश्य बोला जाता

है। दृश्य होना माने द्रष्टाकी दृष्टिका विलास होना। और कार्य होना माने किसी कारणसे उत्पन्न होना। तो स्वप्न जो है वह कार्य नहीं है दृश्य है; रज्जू-सर्प जो है वह कार्य नहीं है—रज्जू रूप उपादानसे वह उत्पन्न नहीं हुआ है वह दृश्य है; सीपमें जो चाँदी है वह कार्य नहीं है, दृश्य है; आकाशमें जो चाँदी है वह कार्य नहीं है दृश्य है। इसीसे कार्य-कारण-भाव मिथ्या है और दृश्य-द्रष्टाभावका जब विवेक करते हैं तो दृश्यका होना आवश्यक नहीं है। द्रष्टा तो है भी और देखता भी है, परन्तु दृश्य है और दीखता है, ऐसा जरूरी नहीं है; इसलिए दृश्य जो है वह बिना हुए भासता है। किसमें? कि अखण्डमें, अविनाशीमें, परिपूर्णमें, अद्वितीयमें, अनन्तमें—उसमें किसी दूसरेके लिए कोई अवकाश नहीं, कोई मौका नहीं।

अच्छा, परब्रह्म परमात्मामें अगर यह दृश्य होवे, यह प्रपञ्च होवे, तो पूछो कि अनन्त ब्रह्मके किस हिस्सेमें यह प्रपञ्च है? कोई गणितज्ञ आकर बता दे। आइन्स्टीनसे पूछ लो। यह तो अकाट्य गणितका नियम है। ब्रह्ममें जब पूरब-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण कल्पित हैं तो इसमें बाहर-भीतर भी कल्पित है; तो प्रपञ्च यदि होगा तो ब्रह्मके किसी कल्पित अंशमें ही तो होगा न? तो, हमारे देहाभिमानके कारण वह है, ऐसा भासता है; और देहाभिमान छोड़ देनेपर, या छूट जानेपर—'अहं ब्रह्म' यह अनुभव हो जानेपर प्रपञ्च भला हमारे किस कोनेमें रहेगा?

अच्छा, ब्रह्म उसको कहते हैं कि जो काल-परिच्छिन्न न होवे, अविनाशी हो—तो, ब्रह्मकी उम्रके किस हिस्सेमें, ब्रह्मके किस क्षणमें यह प्रपञ्च है? ब्रह्ममें अगर क्षण होवे तो ब्रह्म भी मर जायेगा। ब्रह्ममें तो भूत-भविष्य-वर्त्तमान कल्पित हैं। उसमें कल्पित क्षणमें यह प्रपञ्च है।

तो कल्पित देशमें होनेसे प्रपञ्च कल्पित है; कल्पित कालमें होनेसे प्रपञ्च कल्पित है।

अच्छा, ब्रह्मके वजनका कौन-सा हिस्सा है यह प्रपञ्च? तो, ब्रह्मके कल्पित वजनमें प्रपञ्च कल्पित है। इसका मतलब हुआ कि जब ब्रह्मज्ञानसे कल्पना निवृत्त हो जाती है, तो प्रपञ्चका समय, प्रपञ्चका स्थान और प्रपञ्चकी वस्तुता तीनों कट जाती हैं।

बोले—आखिर दृश्य है कहाँ? कि हाँ, दृश्य है, चलो बताते हैं—क्या हर्ज है। बोले ब्रह्ममें अनिर्वचनीय देशमें, अनिर्वचनीय कालमें, अनिर्वचनीय रूपमें यह दृश्य है। यह बात भी क्यों कही जाती है? क्योंकि गुरु-चेला दोनें बाहर बैठकर बात-चीत कर रहे हैं। जब बात-चीत कर रहे हैं तब जैसे कल्पित गुरु

कल्पित चेलेसे बात-चीत कर रहा है वैसे ब्रह्ममें कल्पित प्रपञ्च दिखायी पड़ रहा है। बोले कि नहीं-नहीं, न हम चेला, न तुम गुरु। कि तब यह प्रपञ्च भी नहीं। अगर गुरु-चेला सिद्ध करोगे तो अनिर्वचनीय प्रपञ्च सिद्ध होगा और गुरु-चेला सिद्ध नहीं करोगे, तो प्रपञ्च भी सिद्ध नहीं होगा—ब्रह्म-दृष्टिसे प्रपञ्च है ही नहीं और गुरु-चेलेकी दृष्टिसे प्रपञ्च ब्रह्ममें अनिर्वचनीय है। अज्ञानीकी दृष्टिसे सत् है ज्ञानीकी दृष्टिसे असत् है। गुरु-शिष्यकी दृष्टिसे अनिर्वचनीय है और हमारी दृष्टिसे हम ही हैं—हम गुरु-चेला नहीं हैं भला! चेलेका बनाया हुआ गुरु दो कौड़ीका हुआ और गुरुका बनाया हुआ चेला भी दो कौड़ीका। चेला बने, गुरु बने—यह बने-बनाये जो हैं ये किस कामके? यह ब्रह्म-दृष्टि जो है यह बड़ी विलक्षण है।

नित्यम्‌का अर्थ कूटस्थ-नित्य। कूटस्थ-नित्य माने जो अपने स्वरूपका परित्याग कभी नहीं करता। यह क्यों कूटस्थ-नित्य है? कि जो वस्तु आदिवाली होती है, वह अपने कारणमें लीन होती है—**यद्ध्यादिमद्‌भवति तत्तत्कार्यत्वादनित्यं कारणे प्रविलीयते।**

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं—'अनादि' गीतामें हैं

अनादिमत्परम्ब्रह्म न सतन्नासदूच्यते।

जो-जो वस्तु आदि वाली होती है उसका कारण होता है—कारणसे जो कार्यके रूपमें पैदा हुई सो ही तो आदि हुई न? आदि माने शुरूआत। एक दिन किसी मिनटमें, किसी सेकेण्डमें, किसी जगहपर कोई चीज पैदा हुई तब न उसकी आदि है; तो पैदा होनेके पहले वह कहाँ थी? कि कारणमें थी। जब वह चीज मिटेगी तब वह कहाँ जावेगी? कि कारणमें जावेगी। कि तब? तब तो जो आदि है वह पहले नहीं था, (पहले आदि का अभाव था) अन्तमें नहीं रहेगा (अर्थात् बादमें भी अभाव रहेगा) और बीचमें जो आदि दिख रहा है वह भी उसी अभावमें दिख रहा है? (इसलिए आदि मिथ्या है)। तो उस आदिसे विलक्षण है परमात्माका स्वरूप—अनादि अनन्तम्। परमात्मा आदिमत् नहीं है और अनन्त है। परन्तु जैसे घड़ा मिट्टीमें लीन हो जाता है वैसे यह प्रपञ्च परमात्मामें लीन नहीं होता, क्योंकि परमात्मा कोई कारण-कार्य भावापन्न पदार्थ नहीं है, अनादि है और अनन्त है। अनन्त है माने जिसका अन्त नहीं है—अन्त माने कार्य।

यह बड़ी विलक्षण बात है—क्या? कि अन्त माने कार्य। एक केलेका पेड़ लगाया बड़े प्रेमसे। कहाँसे उसकी पौध लेकर आये, धरतीमें उसे गाड़ा, उसको

सींचा, बड़ा किया। अब कदलीमें लग गया फल-केला। *केला जो न रहे अकेला*—केलेका फल अकेला नहीं होता—और सब फल जो वृक्षोंमें लगते हैं अकेले-अकेले लगते हैं—आम अकेला, अमरूद अकेला, कटहल अकेला और यह अकेला नहीं होता; इसलिए इसको केला बोलते हैं। तो यह जो केलेमें लग गयी घार, फल आ गये—अब फल निकलनेके बाद केलेका पेड़ जो है वह खत्म हो गया—माने जब कारणसे कार्यकी उत्पत्ति हो जाती है तब उसका अन्त निकल आता है। ब्रह्मसे भी यदि प्रपञ्च-रूप कार्य हो जाये—केलेकी घार लग जाये तो ब्रह्म कैसे रहेगा? ब्रह्मकी ब्रह्मता इसीमें है कि ब्रह्मका कोई माँ-बाप नहीं है। माँ-बापसे पैदा होगा तो पहले नहीं होगा और यह भी नहीं है कि बेटा पैदा करके और उसको उत्तराधिकारी बना करके कि बेटा, अब तू ही मालिक है, ब्रह्म तपस्या करने चला जाये, या मर जाये! संसारमें तो यही है कि अब बेटा पैदा हो गया, छोड़ो अब सब, सम्हालेगा। तो अनन्तका अर्थ है कार्य-रहित—ब्रह्मका न कोई माँ-बाप है और न बेटा-बेटी, न भाई-बन्धु है, न पति-पत्नी है, न शत्रु-मित्र है—यह अनादि है, यह अनन्त है।

महतः परं ध्रुवं—और यह जो ब्रह्म है वह महत्तत्वसे परे है। महत्=सबसे महान्। महान् कौन है? आप विचार करके देखो, सबसे महान् बुद्धि है—संसारमें बुद्धिसे बढ़करके और कोई चीज नहीं है। तो बोले कि नहीं जी, हमारी बुद्धिसे बड़े तो हमारे गुरुजी हैं। बोले कि ठीक है, लेकिन यह भी तुम्हारी बुद्धि है। तुम इतने बुद्धिमान हो कि कैसा छाँटकर तो गुरुजीको बनाया—लाखोंमें-से एक—और फिर कहते हो कि देखो, हमारी पसन्द कितनी अच्छी है, तो तुम अपनी बुद्धिकी तारीफ करते हो कि गुरुजीकी तारीफ करते हो? कितने बुद्धिमान हो तुम कि तुमने ऐसा गुरु बनाया! जो तारीफ तो गुरुकी नहीं हुई, तुम्हारी बुद्धिकी हुई। कि भई, तुम्हारी बुद्धि कैसी? तो बोले कि हम ईश्वरके बारेमें बिलकुल ठीक-ठीक जानते हैं। कि हम बिलकुल जानते हैं कि दो हाथ वाले श्रीकृष्ण ही परमेश्वर हैं, बोले—न-न, चार हाथ वाले नारायण प्ररमेश्वर हैं। कि नारायणमें क्या रखा है, कृष्ण बड़े हैं! तो बोले—नारायणसे कृष्णको बड़ा माननेमें किसने सलाह दी? कि हमारी बुद्धिने! फिर बोले कि कृष्ण ग्वारिया—गाय चरावे, तो चार हाथके नारायण श्रेष्ठ हैं कि दो हाथके मनुष्य—कृष्ण? हम तो नारायणको श्रेष्ठ मानते हैं। कि अच्छा, उनको श्रेष्ठ मानते हो तब तो तुम्हारी बुद्धि बहुत बड़ी—कि, हमनें निर्णय कर लिया है। क्या? कि ईश्वर है! कि अच्छा? कैसे निर्णय कर लिया भाई? कि

बुद्धिसे। तो ईश्वरको अपनी बुद्धिके सामने बुला करके—ईश्वरपर संदेह करके—कटघरेमें खड़ा करके—एक कटघरेमें तुम खड़े हुए कि ईश्वर है कि नहीं है, दूसरे कटघरेमें ईश्वरको खड़ा किया—ईश्वर हैं और अपनी बुद्धिको जज बनाया, और उससे निर्णय करवाया कि ईश्वर है। तो देखो—सबसे बड़ा कौन? तुम्हारी बुद्धि जिसने ईश्वरका निर्णय किया, गुरुकी योग्यता बतायी। फिर बोले कि भाई, गुरुजीको अब नहीं आता, जो प्रश्न मैं करता हूँ, उसका जवाब गुरुजी ठीक नहीं देते हैं। इसलिए छोड़ो इनको! तुम्हारी बुद्धि ऐसी है कि गुरुको भी छुड़ा दे, इष्ट देवताको भी छुड़ा दे कि गलती हुई है हमसे—अरे हमने तो साकारको मान लिया, ईश्वर तो निराकार है! कौन बताता है? बुद्धि तो बताती है न? तुम अपनी बुद्धिकी बात मानकरके साकारको छोड़करके निराकारको भजते हो या निराकारको छोड़कर साकारको भजते हो! यह सलाह कौन देता है? कि यह बुद्धि सलाह देती है। इसी बुद्धिके लिए महत् शब्दका प्रयोग करते हैं।

हमारे जीवनमें, हमारे अन्तःकरणमें एक महत् पुरुष है—अरे, महत्—पुरुष नहीं है, महती स्त्री बैठी हुई है—है न—गुरुकी योग्यताको तौलनेवाली, ईश्वरके अस्तित्वको तौलनेवाली बड़े-बड़ोंको तौलनेवाली, ग्रह-नक्षत्र-ब्रह्माण्डको तौलनेवाली यह बुद्धि बैठी है। बोले—और सब तो ठीक है, महाराज, पर यह बुद्धि महारानी जो है—महत् महत्-तत्त्व—व्यष्टि-बुद्धि, समष्टि-बुदिध—इनसे भी परे एक है। कि वह कौन है? कि 'महतः परं'—जो इस बुद्धिका प्रकाशक है—जिसके सामने यह बुद्धि जागती है, जिसके सामने यह बुद्धि सोती है, जिसके सामने यह कभी आस्तिक हो जाती है, कभी नास्तिक। दोनों बुद्धियोंको तुम जानते हो कि नहीं? एक दिन तुम्हारी बुद्धि कह रही थी कि पता नहीं भाई ईश्वर है कि नहीं है? तो बुद्धिकी यह बात तुमने सुनी थी कि नहीं सुनी थी? एक दिन उसने कहा कि अरे, क्या शङ्का करते हो, ईश्वर तो है ही है, पक्का निश्चय है—वह बात भी तुमने सुनी थी कि नहीं सुनी थी? तो यह जो बहुरूपिया—बुद्धि है इससे बड़ा कौन है? कि जिसके सामने यह नाचती है, गाती है, कभी हाँ बोलती है, कभी ना बोलती है, कभी सोती है, कभी जागती है, कभी समाधिमें जाती है कभी विक्षेपमें जाती है। इस बुद्धिका जो साक्षी है वह इससे बड़ा है। आपका ख्याल है कि यह बुद्धि कितनी बड़ी होगी और आप स्वयं कितने बड़े हैं, आप नापकर देखो तब मालूम पड़ेगा! आपकी बुद्धिकी उम्र इतनी है कि इसमें भूत-भविष्य-वर्तमान, रूप-काल समा जाता है। यह काल है, यह कौन निश्चय करता है? काल है और

कालका क्या स्वरूप है और कालका क्या भेद है—कौन निश्चय करता है यह सब? कि बुद्धि निश्चय करती है। देशका निश्चय कौन करता है? कि बुद्धि। तो बुद्धि देशसे भी विशाल है और कालकी अपेक्षा भी लम्बी उम्रवाली है और यह पञ्चभूतोंकी भी जननी है। यह जो सबसे लम्बी-चौड़ी, सबसे बढ़िया और नित्य-नूतन और जवान—सबसे पुरानी और सबसे जवान और नये-नये शृंगारसे अपनेको मिनट-मिनटमें सजानेवाली यह देश-व्यापिनी, यह काल-व्यापिनी, द्रव्य-व्यापिनी जो बुद्धि है, उसके तुम साक्षी हो। माने वह तो अपने पेटमें देश-काल-वस्तुको लेकरके बैठती है और तुम उसके साक्षी हो। देश-काल-वस्तु तुमको छू नहीं सकते, ऐसे हो तुम! और 'ध्रुवं' हो—माने कभी बदलनेवाले नहीं हो। **महतः परं विलक्षणं**—नित्य विज्ञप्तिस्वरूप होनेके कारण, सर्वसाक्षी हानेके कारण क्योंकि सर्वभूतात्मा हो तुम! **एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।**

यह बात कह आये हैं। बोले, देखो आओ, इसीको निचोड़ो—**निचाय्य**—जैसे कपड़ा। जब पानीमें डूब जाता है तो कपड़ेमें जो पानी होता है वह आँखसे नहीं दीखता है, पर उसको निचोड़ो तो हर-हर, हर-हर उसमें-से पानी निकलता है। और बालूमें सोनेका कण मिल जाता है तब देखनेसे मालूम नहीं पड़ता कि इसमें सोनेका कण है, परन्तु उसपर जब पानी डालते हैं तब बालू बहने लगता है और सोनेका कण स्थिर रहता है—सोना भारी होता है और बालू हल्का होता है—हमने देखा है यह। हिमालयकी किसी पहाड़ीमें-से एक झरना आ रहा था तो मैंने देखा दसियों-बीसियों स्त्रियाँ लगी हुई थीं और वे सूपमें बालू लेकर पानी डाल रही थी—पछोर रही थीं। मैंने पूछा—यह क्या कर रही हैं? तो बताया कि बालूमें-से सोनेके कण निकाल रही हैं, उस झरनेके उद्गम स्थानपर सोना होगा, तो वह बहके आता है कभी-कभी, तो बालूके कणमें-से सोना निकाल लेना—श्रीमद्भागवतमें यह दृष्टान्त दिया हुआ है।

तो **निचाय्य**—यह अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष, आनन्दमय कोष—विवेककी दृष्टिसे इनको निचोड़ो तो इनमें-से तुम निकालोगे ये नहीं निकलेंगे, क्योंकि इनमें तुम भरे हुए हो। जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिमें तुम भरे हुए हो। विश्व-तेजस्-प्राज्ञमें तुम भरे हुए हो। ध्याता-ध्यान-ध्येयमें तुम भरे हुए हो। ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयमें तुम भरे हुए हो। जरा एक बार गौर तो करो—यदि तुम नहीं होवो तो यह सृष्टि किसको मालूम पड़े? भगवान् भी मालूम पड़ते हैं किसको? कि तुम्हींको मालूम पड़ते हैं। तुम्हारे सामने भगवान् आये और चले

गये—दो मिनटके लिए आये और दर्शन देकर चले गये—अब रहा क्या? तुम्ही तो रहे ना! उनके लिए रोना लेकर रहो कि हाय-हाय चले गये अथवा कि उनके लिए हँसना लेकर रहो कि भगवान्‌ने हमको दर्शन दिया। तो निचाय्य—जैसे चायका पत्ता तोड़ते हैं पेड़ोंमें-से निचाय्य—वैसे ही चुन लो, चुन लो, सारी सृष्टिके एक-एक कणमें-से उसको चुन लो!

बोले बाबा, कौन पड़े इस झगड़ेमें? हम तो खायेंगे-पीयेंगे—मौज करेंगे, अब ईश्वरको चुनने कौन जाये? इससे कोई फायदा होगा क्या? दुनियाके लोग तो केवल फायदा ही सोचते हैं—फायदा क्या होगा? कि लड्डू मिलेगा खानेको।

हमारे एक मित्र थे, वे चाहते थे कि उनके बच्चे भी भगवान्‌का नाम लें। बच्चे पूछते कि भगवान्‌का नाम लेनेसे क्या-क्या फायदा होगा? अब उनको यह समझाओ कि नरकमें नहीं जाओगे तो क्या समझें—छोटे-छोटे बच्चे? यदि कहें कि स्वर्ग मिलेगा तो वे कहेंगे कि हमें स्वर्गकी क्या जरूरत है? तो बोले कि बुद्धि खूब बढ़ जायेगी। अब आजकलके बच्चे भी बहुत होशियार—बोले—हमारे साथ ही और बच्चे पढ़ते हैं, वे तो भगवान्‌का नाम नहीं लेते हैं लेकिन वे हैं तो बहुत होशियार, बहुत तेज हैं पढ़नेमें। तो कहा कि अच्छा, एक माला फेरोगे तो चार आना मिलेगा, तब बोले कि हाँ, अब फेरेंगे। चार आना मिले तो तुरन्त फेरनेको राजी हो गये—फायदा हो गया न!

तो जो लोग लाभकी दृष्टिसे प्रेरित होकर काम करते हैं वे तो बनिया हैं जो और लोग डरके काम करते हैं कि डंडा लगेगा वे पशु हैं—अरे भाई सत्यको सत्यके लिए जाना जाता है। हमारा हृदय सत्यकी प्राप्तिके लिए इतना उन्मुख है। इतना प्रेम है हमारा सच्चाईसे कि कहते हैं कि हमको झूठ क्यों बताया, हमसे सच क्यों नहीं कहा? लड़ जाते हैं और खुद सचको जानते ही नहीं हैं! **अनृते नैव प्रत्यूढाः**—ये झूठसे ही तो संचालित हो रहे हैं। संसारमें जिन स्त्री-पुत्रादिके सम्बन्धको ये सच्चा मानते हैं क्या वे सच्चे हैं? झूठे हैं! यह धन-दौलत-मकानका जो सम्बन्ध है क्या वह सच्चा है? झूठा है। देखो, आदमी अपनी पार्टीके लिए लड़ जाता है, पर क्या पार्टीका सम्बन्ध किसीके साथ है? तुम मर जाओगे तब भी पार्टी चलती रहेगी कि नहीं चलती रहेगी? तुम अपना सम्बन्ध पार्टीके साथ मानते हो, पार्टी तुम्हारे साथ अपना सम्बन्ध मानती है? तो बात क्या हुई कि इस संसारके सारे सम्बन्ध झूठे हैं और तुम यदि सत्यके प्रेमी हो तो पहले सत्यको जान लो! क्यों महाशय, क्यों लड़ाई कर रहे हो? बोले कि सत्यके लिए, हमारा पक्ष सत्य है। कि

तुम जरा छाती ठोककर बोलो, गम्भीरतासे बोलो जरा। क्या तुम यह दावा करते हो कि तुमको सत्यका ज्ञान है? जब तुमको सत्यका ज्ञान ही नहीं है तो दूसरेको झूठा कहना और उससे लड़ाई करना—यह तो मूर्खता है न? तो असली सत्यका जब ज्ञान हो जाता है तब प्रमाद, आलस्य, निद्रा, राग-द्वेष, मोह-अविद्या रूप जो मृत्यु है उससे मुक्त हो जाते हैं। **विद्ययाऽमृतश्नुते अमृतं तु विद्या अविद्या मृत्युः**—जिस अज्ञानमें, जिस अन्धकारमें तुम भटक रहे हो यह अविद्या ही मृत्यु है, अविद्या ही असत्य है, सत्य तो आत्मा है। जब तक तुमने सच्चे सत्यको परमात्माको, परमार्थको नहीं जाना, तबतक तुम अपने माने हुए सत्यके लिए, कल्पित सत्यके लिए मरते रहोगे।

हमारे यहाँ वृन्दावनमें एक बार जन्माष्टमी हुई तो हमारे दो चेले थे, दोनों ही बड़े बढ़िया—आपसमें दोनोंमें लड़ाई हो गयी। एक राम भक्त थे, एक कृष्ण भक्त थे। कृष्ण-भक्त चेलेने कहा कि आज जन्माष्टमी है, हम सब लोग व्रत रहेंगे, कृष्णकी पूजा होगी, इसलिए शामको सजाया जाय तो श्रीकृष्ण (ठाकुरजी) को ऊपर पधराया जाय। राम भक्त कहते थे कि रामजी बड़े हैं और कृष्णजी छोटे हैं—उनको भगवान् रामने चौरासी कोषकी जागीर दे दी है—रामजीके राज्यमें वे जागीरदार हैं और रामचन्द्र तो सम्राट् हैं, इसलिए चाहे जन्माष्टमी हो चाहे कुछ और हो रामचन्द्र ऊपर रहेंगे। कृष्ण-भक्त बोले कि नहीं भाई, भले ही रामचन्द्र तुम्हारे सम्राट् हों, हमारे कृष्ण भगवान्‌की आज जन्माष्टमी है, हम आज उनको ही ऊपर रखेंगे, चाहे कुछ भी हो जाय। दोनोंमें लड़ाई हो गयी और अन्तमें दोनोंने ही कमरोंमें—एकमें रामको और एकमें कृष्णको सजाया। उनका दावा था राम बड़े हैं और उनका दावा था कि कृष्ण बड़े हैं। तो, क्या यथार्थमें राम बड़े हैं और कृष्ण छोटे हैं या कि कृष्ण बड़े हैं राम छोटे हैं? जो दोनोंमें एक है उसको तो तुमने जाना ही नहीं। तो यह जो वैमनस्य है, संघर्ष है, राग-द्वेष है यह मृत्यु है मृत्यु। यदि इस सत्यके तुम जान लो—**सत्यं परं धीमहि**—उस परम सत्यको तुम जान लो तो यह मृत्यु जो है—अविद्या, मोह, राग-द्वेष, आलस्य, निद्रा, प्रमाद—ये सब मर जायँ, केवल परमात्मी ही परमात्मा रहे, केवल स्वातन्त्र्य-ही-स्वातन्त्र्य, केवल मुक्ति-ही-मुक्ति रहे।

निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते—एक ऐसी वस्तु है। जिसको तुम समझ जाओ तो मृत्युके मुखसे बच जाओगे। माने अब जो ऐसा लगता है कि मैं मरता हूँ, मैं मरता हूँ, मैं मरता हूँ—यह जो कल्पना चित्तमें बैठी हुई है कि मैं जन्मने मरने-

वाला हूँ, इस कल्पनासे मुक्ति मिल जायेगी, क्योंकि ज्ञानसे कोई भी सच्ची चीज नहीं मिटती है, ज्ञानसे जो चीज मिटती है वह बिलकुल झूठी होती है और अज्ञानसे जो मालूम पड़ती है वह झूठी होती है। तो, यह जो मनमें कल्पना है कि मैं जन्मने-मरने वाला हूँ यह अपने स्वरूपको जानकरके नहीं हैं, अपने स्वरूपके अज्ञानसे है! तो, जब तुम अपने आपको जानते ही नहीं, और अपनेको जन्मने-मरने वाला मानते हो, तो इस मान्यताकी कोई कीमत नहीं है और जब तुम अपने आपको जान लेते हो, तो तुम जन्मने-मरनेवाले हो ही नहीं, इसलिए मैं जन्मने-मरनेवाला हूँ यह कल्पना छूट जाती है। तो मृत्युके मुखसे माने जन्म और मृत्युके मुखसे छूटनेकी यह तरकीब नहीं हैं कि तुम कोई चीज इकट्ठी करो या कि बहुत सारा कोई काम करो—काम करनेसे कोई नहीं छूट सकता। कि आँख बन्द करके बड़ी भारी भावना करो कि हम जन्म-मरणसे मुक्त हैं, तो भावना मुक्त नहीं करेगी। ऐसा नहीं है कि कोई जन्मने-मरनेवाली चीज है और उसमें तुम्हारा मैं खो गया है जिसके कारण तुम जन्मते-मरते हो। कोई दूसरी ऐसी चीज भी जन्मने-मरनेवाली नहीं है जिसमें मैं करनेके कारण तुम जन्मने-मरनेवाले बने हो—तुम्हारा अपना स्वरूप अद्वितीय है। किसी वस्तुकी प्राप्तिसे तुम्हारा जन्म-मरण नहीं छूटेगा, कोई काम करनेसे जन्म-मरण नहीं छूटेगा, कोई भावना करनेसे जन्म-मरण नहीं छूटेगा, कोई स्थिति प्राप्त करनेसे जन्म-मरण नहीं छूटेगा—अपने अज्ञानसे यह जन्म-मरण मालूम पड़ता है और अपने आपके ज्ञानसे जन्म-मरण छूट जाता है, अपने स्वरूप का शुद्ध ज्ञान प्राप्त करो जिसमें न द्रव्यका सम्बन्ध है, न कर्मका सम्बन्ध है, न भावका सम्बन्ध है, न स्थितिका सम्बन्ध है।

द्रव्य और कर्मका सम्बन्ध जब भाव पूर्वक होता है तब उसको धर्म कहते हैं। भावपूर्वक जब द्रव्य और कर्मका सम्बन्ध होता है तब धर्मकी उत्पत्ति होती है, इससे जन्म-मरण नहीं मिटता, वह तो करनेका जो अभिमान होता है उसकी पूर्तिसे सुख मिलता है या अनुकूल भावना उत्पन्न होनेसे सुख मिलता है। और उपासना जो है सो भावनात्मक है और योगका अभिप्राय यह है कि इदंके साथ हमारा तादात्म्य हो गया तब तुम्हारा जन्म-मरण होने लगा और इदंके साथ तुम्हारा तादात्म्य छूट जायेगा तो जन्म-मरणसे मुक्ति हो जायेगी। वेदान्तका कहना है कि 'इदं' नामकी कोई वस्तु है ही नहीं—द्वैत भी कल्पित है, द्वैतमें तादात्म्य भी कल्पित है और यह अपने स्वरूपके अज्ञानसे है—इसलिए अपने स्वरूपका ज्ञान ही प्राप्त करना चाहिए—**निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते।**

तो वह क्या वस्तु है जिसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए उसके वर्णनकी शैली इस मन्त्रमें कुछ न्यारी-सी है—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध—इनसे विलक्षण है आत्मा तो पहले बता चुके हैं, इन सबकी जो प्रणाली है उसको जोड़ लो। शब्द—जो जीभसे बोला जाता है और कानसे सुनायी पड़ता है, शब्दका उच्चारण करनेवाली इन्द्रिय है, वाक्-इन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय है और इसका श्रवण होता है कानसे ज्ञानेन्द्रिय है। अब हुआ शब्दका एक वक्ता और एक हुआ उसका श्रोता और एक वाक् और एक है कान और बीचमें है शब्द। तो शब्द वाक् और वक्ता तथा शब्द-श्रवण और श्रोता—ये कर्मकी और ज्ञानकी दो त्रिपुटी हुईं। इनका जो अधिष्ठान प्रकाशक है उसमें न शब्द है, न वाक् है, न श्रवण है, न वक्ता है, न श्रोता है—यह वक्तृत्व-उपलक्षित, श्रोतृत्व उपलक्षित जो अपना आत्मा है वह ब्रह्म है, यह जो वक्ता है सो ही ब्रह्म है, यह जो श्रोता है सो ही ब्रह्म है।

इसी तरहसे स्पर्श है, त्वचा है और स्प्रष्टा—स्पर्श करनेवाला, इससे न्यारा है। ऐसे ही रूप है, नेत्र है और रूपका द्रष्टा न्यारा है, रस है जीभ है और रसका जो ज्ञाता है रसयिता है उससे न्यारा है, गन्ध है घ्राण है और गन्धका ज्ञाता है उससे न्यारा। तो यह जो इदंको जाननेवाला अहं है यह अहं किसी भी रीतिसे परिच्छिन्न नहीं है, यह चेतन है, अपरिच्छिन्न है, अद्वितीय है, इसीसे इसकी व्याख्यामें इन पाँचों बातोंको मिलाकर एक व्याख्या बतायी।

वह आत्मा क्या है कि **अव्ययम्-नित्यम्**—एक होता है ऐसा पदार्थ जो बदलता रहता है—*'विपरीतं भावं एति'*—व्यय किसको कहते हैं? कि विपरीत भावका प्राप्त होना ही व्यय है। व्यय हो गया माने खर्च हो गया, अव्यय माने जो अपने स्वरूपका परित्याग कभी नहीं करता-**येन रूपेण यन्निश्चितं तन्न व्यभिचरति**-जिसका जो निश्चित स्वरूप है, उसका कभी परित्याग न करे उसको अव्यय बोलते हैं।

एक इसमें यह भी बात है कि जब हम दूसरेको ढूँढ़ने जाते हैं कि यह अव्यय है तो नहीं मिलती। ये वैज्ञानिक लोग क्या करते हैं कि यन्त्रसे सामनेवाली सत्ताको ढूँढ़ते हैं और ढूँढ़ करके यह निश्चय करते हैं कि यह जो अणु है सो फूट जाता है और यह जो परमाणु है सो बदल जाता है और इसमें जो शक्ति है वह स्पन्दनशील है, और असलमें कोई भी वस्तु उनको अपने सम्मुख कूटस्थ-नित्य

नहीं मिलती है अव्यय नहीं मिलती है। तो जो भी वस्तु दृश्य होगी उसको हमारा वेदान्त कभी भी अव्यय, नित्य नहीं कहता है। वह तो उस द्रष्टाको—अहं-पदके अर्थको अव्यय और नित्य बताता है जो चेतन है। तो यह चेतन सबको देखता है, देखा नहीं जाता है—देखनेका अर्थ आँखसे देखना नहीं होता, देखनेका अर्थ होता है जानना—यह सबको जानता है परन्तु जाना नहीं जाता। संस्कृत भाषामें दृश् धातु ज्ञानार्थक है, यह आँखसे देखनेकी क्रिया-मात्रका वाचक नहीं है, ज्ञानार्थक है—*दृशि: सर्वत्र ज्ञानार्थक:* दृशि:—धातु सर्वत्र ज्ञानार्थक है।

तो **एष हि द्रष्टा**—यह जो द्रष्टा है, स्प्रष्टा है, श्रोता है, मन्ता है, घ्राता है, रसयिता है, विज्ञाता है—यह किसी भी विज्ञानका विषय नहीं है, सम्पूर्ण विज्ञानोंका प्रकाशक है। तो हम जिस तत्त्वको अव्यय बोलते हैं, कूटस्थ बोलते हैं वह प्रत्यक् चैतन्यको अव्यय बोलते हैं, कूटस्थ बोलते हैं किसी अन्य वस्तुको अव्यय अथवा कूटस्थ नहीं बोलते हैं। तो अव्ययं—यह वस्तु कैसी? कि अव्यय है।

एक बात आपको ध्यानमें होगी कि गीतामें 'अव्यय' शब्दका प्रयोग जीव, जगत्, ईश्वर सबके लिए हुआ है। **अव्यय ईश्वरः**—पुरुषोत्तम तत्त्व जो है वह अव्यय है! अच्छा! आत्मा भी अव्यय है—**विनाशमव्ययास्यास्य**। जगत्को भी अव्यय कहा—**अश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।** इसका मतलब है कि अव्यय चैतन्य ही ईश्वरके रूपमें, जीवके रूपमें, जगत्के रूपमें भास रहा है, मूल-तत्त्व तो अपना आत्मा ही है, अपना आपा ही है।

तो, अब यह बात हुई कि जैसे कोई आँखसे आत्माको देखनेकी कोशिश करे, तो आप कहोगे कि समझदार नहीं है; क्योंकि आँखसे तो सिर्फ रूप ही दीखता है, और उस आत्माको देखनेमें यदि किसीकी आँख टेढ़ी हो जाय—बोले कि आत्माको देखनेकी कोशिश करते-करते हमारी आँख टेढ़ी हो गयी और अभी तक आत्मा नहीं दिखा—तो इसमें आत्मा विचारेका क्या दोष है?

नैव स्थाणोरपराधः यदेनं अन्धो न पश्यति।

यह स्थाणुका, ठूँठका अपराध नहीं है कि अन्धा उसको नहीं देखता, वह तो देखने वालेका ही अपराध है कि वह आत्माको आँखसे देखना चाहता है। इसी प्रकार किसीने अपनी बुद्धिपर जोर लगाया कि हम तो बुद्धिसे ही आत्माको देखेंगे, तो जो बुद्धिका द्रष्टा है, बुद्धि जिसमें भास रही है, जिसको बुद्धि भास रही है, वह तो वह खुद है, तब यदि बुद्धि आत्माका दर्शन करते-करते फटने लग जाय तो उसमें आत्माका क्या दोष है? वह तो जो बुद्धिका द्रष्टा है अपना आपा, जिसको

बुद्धि है ऐसा मालूम पड़ता है—ऐसा जो अपना आपा है, वह अव्यय चैतन्य है, अविनाशी है!

नित्यम्—वह नित्य है। नित्य क्या है? जो नित्यको समझाते हैं—

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते।

देखो, आकाशकी नीलिमा तो नित्य ही दीखती है, लेकिन कुछ है क्या? तो नित्य भी कई तरहका होता है। एक मिथ्या नित्य होता है, एक सत्य नित्य होता है, एक कूटस्थ नित्य होता है, एक विवर्त्ती नित्य होता है। तो यह जो आकाशकी नीलिमा है यह विवर्त्ती नित्य है।

अच्छा, यह जो सोना होता है, उसका आकार कौन-सा है—क्या आप बता सकते हैं? कहो कि लाल-पीला उसका आकार है तो लाल-पीला आकार नहीं होता, वह तो रंग होता है, रंग दूसरी चीज है और आकार दूसरी चीज है। चौंकोना होना, तिकोना होना—यह आकार होगा, जब कोण होगा तब आकृति बनेगी। अच्छा, सोनेकी कौन-सी आकृति है? तो आपने कभी सोनेकी सिल्ली देखी होगी-उसमें कोण भी होते हैं—चार कोण होते हैं, अथवा सोना गोल भी होता है, तो क्या गोलपन सोनेका आकार है या कि चौकोरपना सोनेका आकार है? क्या आकारका कुछ वजन है सोनेमें? आकार बदलते जाओ तो क्या वजन बदलता जायेगा सोनेका? कंगनका नाम सोना है कि हारका नाम सोना है कि कुण्डलका नाम सोना है कि कणका नाम सोना है? सोना एक धातु है जिसमें सब प्रकारके आकार कल्पित होनेपर भी सब प्रकारके अक्षरोंसे वह न्यारा है, अगर आप इस बातको नहीं समझते तो सोना तो बिलकुल नहीं समझते। रंगका नाम सोना नही है, रंग तो दूसरी चीजमें भी होता है, आकृतिका नाम सोना नहीं है, सोना पार्थिव-द्रव्य नहीं है, मिट्टीकी चीज नहीं है सोना, सोना तैजस द्रव्य है, वह जलता नहीं है, वह स्वयं अग्नि है, स्वर्णको अग्नि बोलते ही हैं।

यह जो आत्मदेव हैं इसकी कौन-सी आकृति है? आँखकी आकृति है कि कानकी आकृति है, कि नाककी है, कि जिह्वाकी है, कि बुद्धिकी है, कि हृदयकी है, इसकी आकृति कौन-सी है? इसका रंग-रूप कौन-सा है? तो, दृश्य-रूपसे जितनी आकृतियाँ भासती हैं ये सब आत्मामें ही भासती हैं—स्वप्नकी आकृतियोंके समान—लेकिन ये सब-की-सब हैं मिथ्या, और सत्य इनमें केवल आत्मदेव ही हैं। अपनी आकृति पृथिवीके रूपमें भास रही है, जलके रूपमें भास रही है, अग्नि-सूर्य-चन्द्रमा-ग्रह-नक्षत्र कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंके रूपमें अपना-

आपा ही भास रहा है। ये सब जितनी आकृतियाँ भास रही हैं, जितने रंग-रूप भास रहे हैं, ये जिसको भास रहे हैं वही सर्वके रूपमें भास रहा है।

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते॥

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं—अब जरा नित्यको समझानेके लिए दो शब्दोंका प्रयोग करते हैं—एक अनादि और दूसरा अनन्त। अनादि उसको कहते हैं जिसकी आदि न हो। आदि माने कारण, अतः अनादि माने जिसकी उत्पत्ति न हो। जो किसीसे उत्पन्न होता है वह उत्पन्न होनेके पूर्व नहीं रहता है, इसलिए सादि हो जाता है। तो अनादि शब्दका अर्थ है कि जिसका आदि अर्थात् जिसका कारण मौजूद नहीं है उसको अनादि कहते हैं, क्योंकि जिस-जिस चीजकी आदि होती है वह कार्य होता है और कार्य होनेके कारण समयपर वह अपने कारणमें लीन हो जाता है, जैसे पानीसे मिट्टी बन जाये और फिर मिट्टी पानीमें लीन हो जाये। यह पसीना है न, पसीना, यह शरीरमें जो पसीना निकलता है इससे मिट्टी जम जाती है और फिर धो देते हैं तो छूट जाती है, तो यह मिट्टी आती है पसीनेमें और पसीनेमें पानी आता है गर्मीसे और गर्मी आती है वायुसे, और वायु आता है आकाशसे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जो चीज पैदा होती है वह मरती भी है और अपने कारणमें लीन होती है। परन्तु, यदि कहो कि हमारी उत्पत्ति हुई, कि अच्छा, आपकी उत्पत्ति हुई तो आपने ही देखा होगा? आपकी उत्पत्ति आपने ही देखी कि किसी दूसरेने देखी? देखो भाई, कोई चीज मालूम पड़नेके लिए जिसको मालूम पड़ती है उसका होना जरूरी है। उत्पत्ति मालूम पड़ी कि नहीं पड़ी? तो मालूम पड़ना पहले रहा, उत्पत्ति बादमें हो गयी—इसका अर्थ हुआ कि चैतन्य पहलेसे मौजूद है तब उसको उत्पत्ति भासेगी, यदि चैतन्य पहलेसे मौजूद नहीं होवे तो उत्पत्ति भासेगी ही नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि चैतन्यकी उत्पत्ति होती ही नहीं।

अच्छा बोले—भाई, चैतन्य मर-जायेगा! तो चैतन्य मरता है यह बात किसको मालूम पड़ेगी? चैतन्यको ही मालूम पड़ेगी न! तब चैतन्य कहाँ मरा? चैतन्य मरता नहीं है, वह मरणका साक्षी है।

अच्छा बोले, चैतन्य अनेक है। कि नहीं, चैतन्यका एकपना, दोपना, तीनपना यह भी मालूम पड़ता है कि नहीं मालूम पड़ता है? तो एकपना, दोपना, तीनपना यह भी तो दृश्य ही है न? तो इसको जो जानता है वह एक-दो-तीन नहीं होता। इसलिए एक चैतन्यका मरना तीसरे चैतन्यको मालूम पड़े यह भी नहीं हो सकता। तो, इसका अर्थ हुआ कि चैतन्यको चैतन्यका मरना मालूम नहीं पड़

सकता और जड़को चैतन्यका मरना मालूम नहीं पड़ सकता—जड़को क्या मालूम पड़ेगा।

तो चैतन्यकी मृत्यु अविचारकी मृत्यु अविचार-सिद्ध है, चैतन्यका जन्म भी अविचार-सिद्ध है। जो लोग चैतन्यके स्वरूपके बारेमें विचार नहीं करते वे ही चैतन्यका जन्म और मरण मानते हैं। तुम स्वयं चैतन्य हो भाई, इसलिए न तुम्हारा जन्म है और न तो तुम्हारी मृत्यु है; एकपना, दोपना, तीनपना भी तुम्हारे नहीं है, तुम एक अखण्ड अद्वितीय चैतन्य हो।

तो—**अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं**—बोले—यह सब बुद्धि है। कि ठीक है, बहुत बढ़िया बात है, ऐसी-ऐसी हजारों, लाखों, करोड़ों बुद्धियाँ हैं—**महतः परं**—उन सब बुद्धियोंके तुम साक्षी हो, उन सब बुद्धियोंके तुम प्रकाशक हो; उन सब बुद्धियोंके तुम अधिष्ठान हो। वे सब बुद्धियाँ तुममें मालूम पड़ती हैं, वे बुद्धियाँ कभी सो जाती हैं, कभी जाग जाती हैं, कभी रहती हैं, कभी नहीं रहती हैं और उन बुद्धियोंमें भी जो एक-पना है और सर्वपना है उसके तुम जानकार हो, प्रकाशक हो, तुम्हीं ध्रुव-तत्त्व हो।

तो नित्य विज्ञप्ति-स्वरूप सर्वसाक्षी सर्वभूतात्मा ब्रह्म तुम्हीं हो! यही बात पहले भी कही गयी—**एष सर्वेषु गूढोत्मा न प्रकाशते।**

सब शरीर अलग-अलग हैं, परन्तु तुम चैतन्य एक हो, अखण्ड हो, इसलिए तुम्हारा जन्म-मरण नहीं है-**ध्रुवं च कूटस्थं नित्यं**—तुम कुटस्थ नित्य हो, तुम पृथिवी आदिके समान आपेक्षिक नित्य नहीं हो!

एवंभूतं ब्रह्मात्मानं निचाय्यावगम्य तमात्मानं मृत्युमुखात्मृत्यु-गोचरादविद्याकामकर्मलक्षणात्प्रमुच्यते वियुज्यते।

इस प्रकार अब तुम अपने आपको जान लेते हो, तो क्या होता है? बोले—मौतसे छूट जाते हैं।

तो बोले—यह मृत्युके मुखसे छूटना क्या है? मौत क्या कोई भूत है जिसने पकड़ रखा है? एक आदमीको ऐसा मालूम पड़ता था कि हमारी छाती पर भूत चढ़ बैठा है; तो क्या कोई भूत सचमें चढ़ बैठा था? वह मालूम ही पड़ता था भला! जब कभी सपना देखने लगते हैं और मालूम पड़ता है कि हमारी छातीपर चोर चढ़ा हुआ है तो वहाँ क्या सचमुच चोर चढ़ा होता है? वह तो एक स्वप्न होता है। तो जैसे अपनी छातीपर चोर चढ़ा हुआ मालूम पड़ता है या ऐसा मालूम पड़ता है कि कोई भूत हमको निगल रहा है तो भूत-वूत कुछ नहीं होता है; कोई डाकिनी

नहीं होती है, कोई शाकिनी नहीं होती है, यह सब मनीरामका खेल होता है—कमजोर-मन ही यह सारी कल्पना कर लेता है? तो मृत्यु-मुखसे छूटनेका अभिप्राय क्या है कि अपने मनमें जो कल्पित मृत्यु है उससे छूटना, भला!

मनमें कल्पित-मृत्यु क्या है? तो आओ, हम उसकी पहचान करा देते हैं! तुम जो यह समझते हो कि यह काम किये बगैर मैं अधूरा रह जाऊँगा और यह काम करके मैं पूरा हो जाऊँगा, यही मृत्यु है। अपनेमें कर्मके कारण जो पापी-पुण्यात्मा-पना मालूम पड़ता है, इसीसे मृत्युका भय उत्पन्न होता है;

एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्—ब्रह्मज्ञानीकी यह महिमा है कि वह काम करके पूरा नहीं होता या काम छोड़ करके पूरा नहीं होता; उसके लिए तो जैसा काम करना वैसा काम न करना। तो अपनेमें कर्त्तापनका आरोप करके कि यह मैंने पाप किया और हीन हो गया—अपनेको हीन मानना मृत्यु है; और यह मैंने पुण्य किया और मेरी बराबरी और कौन करेगा—यह जो अभिमान आया सो यह (अभिमान) मृत्यु है।

देखो, मैंने पाप किया तो मैं नरकका कीड़ा हो गया और मैंने पुण्य किया तो मैं स्वर्गका देवता हो गया-यह दोनों ही मृत्यु हैं। दोनों मृत्यु क्यों है कि जो अनन्त है वह अपनेको साढ़े-तीन हाथका मानने लगा—अपनेको नारकीय जीव जब तुम मानते हो तब भी तो नन्हा-सा मानते हो और अपनेको स्वर्गीय देवता मानते हो तब भी। **बज्रहस्तः पुरन्दरः**—साढ़े-तीन-हाथके इन्द्र बनकर ही तो हाथमें बज्र लेकर दिव्य रथपर बैठते हो? तो चाहे तुम अपनेको सूर्य मानो, चाहे चन्द्रमा मानो, चाहे इन्द्र मानो कि मैं पुण्य करके सूर्य हो गया कि चन्द्र हो गया कि इन्द्र हो गया—तब भी तुम मर तो गये ही। क्यों मर गये? कि थे तो अनन्त, लेकिन, अपनेको तुमने सूर्य-चन्द्रमा-रूप परिच्छिन्न तत्त्व मान लिया, अपनेको ब्रह्मा-विष्णु-महेश मान लिया, अपनेको इन्द्र मान लिया। परिपूर्ण होकरके अपनेको छोटी चीज मान लिया तुमने। कट गये तुम! तुम छिन्न हो गये, भिन्न हो गये! यह छिन्न-भिन्न होना-इसीका नाम मृत्यु है।

तो मृत्युका पहला लक्षण यह है कि चाहे तो अपनेको पुण्यात्मा और चाहे तो अपनेको पापी और चाहे तो नारकी और चाहे तो स्वर्गी मानकर अपनेको परिच्छिन्न मानना—यह मृत्यु है; इससे तुम बच गये कि नहीं? तुम अपनेको जो मनुष्य मानते हो, नारकी मानते हो, स्वर्गी मानते हो—यह कल्पना छोड़ो! तुम नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म हो, तुम न पापी हो और न पुण्यात्मा; न नारकी हो और न स्वर्गी हो।

अब मौतका दूसरा लक्षण देखो। मृत्यु क्या है? कि काम मृत्यु है? काम कैसे मृत्यु है कि हमको अमुक वस्तु अप्राप्त है। बोले कि नरक तो हमसे बड़ी दूर है अप्राप्त हो गया, और स्वर्ग भी हमसे बड़ी दूर है अप्राप्त हो गया! यह-यह धर्म करेंगे तो हम स्वर्गमें जायेंगे। अब स्वर्गकी इच्छा करो कि हम सम्राट् हो जायेंगे, राजा हो जायेंगे! कि हम यह-यह भावना करेंगे तो वैकुण्ठमें पहुँचेंगे, यह-यह भावना करेंगे तो गोलोकमें पहुँचेंगे—अप्राप्त वस्तुकी जो इच्छा है वह काम; और प्राप्त वस्तुसे जो अनिष्टकी कल्पना है वह भी काम है। यह स्त्री प्राप्त हो गयी तो यह नुकसान कर देगी; यह पुत्र प्राप्त हो गया तो यह नुकसान कर देगा; यह धन प्राप्त हो गया तो यह नुकसान कर देगा, तो हटाओ इनको; और वैकुण्ठ-गोलोक आदि प्राप्त होगा तो हमको यह-यह सुख मिलेगा—तो यह जो मनमें प्राप्ति और परिहारकी कामना है वह काम ही है। कामना दोनों तरहकी होती है—परिजिहिर्षा भी काम है (किसी वस्तुका परिहार करना कि यह हट जाये) और किसी वस्तुको चाहना यह भी काम है।

बोले काम मृत्यु है। कि भला, यह हटाना मृत्यु कैसे है? कि हटाना और सटाना मृत्यु इसलिए है कि तुम अपनेको परिच्छिन्न मानते हो! जब तुम अपनेको छोटा मानते हो तभी किसीको हटाना चाहते हो कि यह यहाँसे हट जाये तो हमसे दूर रहेगा और तब तुम किसीको सटाकर रखना चाहते हो तब भी अपनेको परिच्छिन्न मानते हो। तो कामना मृत्यु क्यों है कि तुम अपनेको परिच्छिन्न माने बगैर कामनावान हो ही नहीं सकते; तुम अपनेको परिच्छिन्न माने बिना स्वर्गी-नारकी, पापी-पुण्यात्मा हो ही नहीं सकते। तो असलमें मृत्यु क्या है? कि पापी होना मृत्यु है, पुण्यात्मा होना मृत्यु है, कामी होना मृत्यु है, निष्काम होना मृत्यु है। कि तब? अविद्या ही मृत्यु है; जबतक यह अविद्या, यह बेवकूफी लगी हुई है कि हम अपनेको परिच्छिन्न समझते हैं, तबतक मौत लगी रहेगी। अतः अविद्या ही मृत्यु है!

तो अविद्या माने अपनेको देह समझनेकी बेवकूफी, अपनेको जीव समझनेकी बेवकूफी, अपनेको देवता-दानव समझनेकी बेवकूफी, अपनेको सकाम-निष्काम-अन्तःकरण वाला समझनेकी बेवकूफी, अपनेको परिच्छिन्न समझनेकी बेवकूफी; और इन सब बेवकूफियोंके पीछे जो अपने, आपको ब्रह्म न जानना है। यह न जानना-रूप जो अविद्या है यही मृत्यु है! तो, यह ब्रह्मज्ञान किस मृत्युसे छुड़ाता है? कि इस अज्ञान, कामना और कर्म-रूप मृत्युसे छुड़ाता है। इस अज्ञानकी निवृत्ति ही असलमें मुक्ति है।

❖

नचिकेता-उपाख्यानके श्रवण-श्रावणकी महिमा

अध्याय-१ वल्ली-३ मंत्र-१६—१७

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तꣳसनातनम्।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते॥
य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद् ब्रह्मसंसदि।
प्रयतः श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते॥
तदानन्त्याय कल्पते॥ १.३.१६-१७

अर्थ :—नचिकेता द्वारा प्राप्त किये हुए और मृत्युके द्वारा कहे हुए इस सनातन विज्ञानको कह कर और सुनकर मेधावी पुरुष ब्रह्मरुप लोकमें महिमान्वित होता है (अर्थात् सबका आत्मभूत होकर अपासनीय होता है॥ १६॥ जो पुरुष इस परम् गोपनीय उपनिषद्-ग्रंथको पवित्र होकर ब्राह्मणोंकी सभामें अथवा श्राद्धकालमें (भोजनके लिए बैठे ब्राह्मणोंके प्रति सुनाता है) केवल पाठ या अर्थसहित पाठ सुनाता है) उसका वह कर्म अनन्त फलवाला होता है, उसका वह कर्म अनन्त फलवाला होता है॥ १७॥

यह हो गया कठोपनिषद्का एक अध्याय। दूसरा अध्याय फिर शुरू करेंगे। यह नाचिकेत अग्निका उपाख्यान है। नाचिकेत अग्निका ही नाम है। अग्नि माने ज्ञानाग्नि। इसलिए यह ज्ञानाग्नि उपाख्यान है। और **मृत्युप्रोक्तं सनातनम्**—इस ज्ञानाग्निका ज्ञान मृत्युके साक्षात्कारसे होता है; जो अपनी मौतको देख चुका है वह इस ज्ञानाग्निको जानता है। जो इसका वर्णन करता है, श्रवण करता है, धारण करता है, वह मेधावी पुरुष ब्रह्मप्राप्तिके योग्य हो जाता है। और जो इस परम् गुह्य ब्रह्मविद्याको नियमसे रहकर ब्रह्म-संसदमें श्रवण कराता है या श्राद्धकालमें श्रवण कराता है, वह भी अनन्त फलका भागी होता है।

तदानन्त्याय कल्पते तदानन्त्याय कल्पते

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

॥ प्रथम अध्याय समाप्त॥

पूज्य स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी द्वारा विरचित एवं सम्प्रति उपलब्ध साहित्य-सूची

प्रकाशक : सत्साहित्य प्रकाशन (पब्लिकेशन) ट्रस्ट

पुस्तक नाम	मूल्य
☆ वेदान्त	
मुण्डक सुधा	20.00
माण्डूक्य प्रवचन (आगम प्रकरण) भाग-1	25.00
माण्डूक्य प्रवचन (वैतथ्य प्रकरण) भाग-2	80.00
माण्डूक्य प्रवचन (अद्वैत प्रकरण) भाग-3	50.00
माण्डूक्य प्रवचन (अलात् शान्ति) भाग-4	30.00
ईशावास्य प्रवचन	20.00
केनोपनिषद्	50.00
कैवल्योपनिषद्	5.00
छान्दोग्य—बृहदारण्यक एक दृष्टिमें	5.00
कठोपनिषद्	80.00
ब्रह्मसूत्र भाग—1	20.00
ब्रह्मसूत्र भाग—2	25.00
ब्रह्मसूत्र भाग—3	30.00
दृग्-दृश्य विवेक	65.00
विवेक कीजिये (विवेक चूड़ामणि प्रवचन)	65.00
अपरोक्षानुभूति प्रवचन	40.00
आत्मोल्लास	15.00
वेदान्त बोध	35.00
साधना और ब्रह्मानुभूति	15.00
महाराजश्रीकी डायरीसे	6.00
☆ श्रीमद्भगवद्गीता	
गीता-रस-रत्नाकर (सम्पूर्ण गीता)	75.00
सांख्य योग (दूसरा अध्याय)	30.00
कर्मयोग (तीसरा अध्याय)	20.00
ध्यानयोग (अध्याय-6)	80.00
राजविद्या राजगुह्य योग (नवाँ अध्याय)	35.00
भक्तियोग (बारहवाँ अध्याय)	30.00
ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना (तेरहवाँ अध्याय)	100.00
पुरुषोत्तम योग (पन्द्रहवाँ अध्याय)	25.00
दैनिक जीवनमें गीता	50.00

पुस्तक नाम	मूल्य
योगः कर्मसु कौशलम्	6.00
मामेकं शरणं व्रज	10.00
गीता दर्शन भाग 1 से 13	135.00
✯ **श्रीमद्भागवत**	
भागवत दर्शन भाग-1	175.00
भागवत दर्शन भाग-2	175.00
मुक्ति स्कन्ध (भागवत-एकादश स्कन्ध)	150.00
रास पञ्चाध्यायी	65.00
श्रीकृष्णलीला रहस्य	40.00
भागवतामृत	40.00
भागवत सर्वस्व	18.00
गोपीगीत	15.00
वेणुगीत	20.00
युगलगीत	40.00
गोपियोंके पाँच प्रेमगीत	5.00
उद्धवगीत	12.00
कपिलोदेश	15.00
हंसगीता (हंसोपाख्यान)	5.00
सद्गुरुसे क्या सीखें?	5.00
उनकी कृपा	7.00
भागवत विचार	10.00
ऊखल बन्धन लीला	40.00
✯ **रामायण**	
श्रीरामचरितमानस भाग 1 से 3	300.00
सुन्दरकाण्ड (वाल्मीकि रामायणान्तर्गत)	25.00
अध्यात्म रामायण	125.00
✯ **भक्ति एवं साधना**	
नारद भक्ति दर्शन	50.00
भक्ति सर्वस्व	50.00
भक्ति : विशेषताएँ	3.00
अवतार रहस्य	15.00
माधुर्य कादम्बिनी	20.00
वामनावतार	4.00
मोहनकी मोहनी	3.00
अभक्त कोई नहीं	2.00
दैनिक साधना : मानसी सेवा	2.00
हनुमत्स्तोत्र	10.00

पुस्तक नाम	मूल्य
श्री अखण्डानन्द स्तवः	6.00
भगवानके चार अवतार	15.00
ध्यानके समय	10.00
ध्यान की युक्तियाँ	10.00
स्पन्द तत्त्व	10.00
ब्रह्मचर्य	5.00
शिव संकल्प सूक्त	20.00
✯ विविध	
आनन्द वाणी	60.00
आनन्द उल्लास	40.00
आनन्द बिन्दु	50.00
आनन्द-सूत्र	12.00
हृदयाकाशके हीरे	15.00
आपकी मन पसन्द	10.00
आप सबसे श्रेष्ठ हैं	10.00
गृहस्थाश्रम धन्य है	15.00
जीवन—एक यात्रा	10.00
ईश्वर दर्शन	10.00
सद्‌गुरु प्रसाद	10.00
भारतीय संस्कृति	10.00
भिक्षु स्वामी शंकरानन्द	10.00
जिज्ञासा और समाधान	10.00
श्रीगुरवे नमः	8.00
आइये, विचार करें	8.00
अब और आज	8.00
कलिकालका कौतुक	8.00
राजा प्रतापभानु	10.00
पावन प्रसंग	65.00
कृष्ण-कृष्णके उच्चारणसे कृष्ण प्राप्ति	5.00
✯ महाराजश्री परिचय ग्रन्थ	
महाराजश्री : एक परिचय	10.00
सबके प्रिय सबके हितकारी	10.00
व्यक्तित्व एवं कृतित्व	80.00
✯ आनन्द मञ्जूषा (8 पुस्तिकायें)	50.00

1. मन के जीते जीत 2. मानस मंगल 3. आनन्द सुमन
4. आनन्द रस 5. सुखी रहो और सुखी रखो 6.मस्त रहो
7. पढ़ो समझो करो 8. गुरुदेव का दस्तावेज

पुस्तक नाम	मूल्य
✻ आनन्द निर्झर (13 पुस्तिकायें)	70.00

1. संन्यास जयन्ती 2. वर्णाश्रम-धर्म 3. हमारे संन्यासके चार रूप
4. वह संन्यासी नहीं जो.. 5. मेरा कुछ भी नहीं अथवा सब कुछ ईश्वरका ही है
6. अब हम शर्तिया बोलते हैं 7. मध्यस्थकी भूमिका
8. अभिनन्दन 9. गृहस्थका लक्ष्य 10. टैं या हाँ
11. ईश्वर विश्वास 12. संन्यासको समझो 13. आश्रम

✻ अंग्रेजी में अनुदित साहित्य

God Realization	10.00

✻ गुजराती में अनुदित साहित्य

धन्य छे गृहस्थाश्रम	10.00
जीवन एक यात्रा	12.00
सद्‌गुरु प्रसाद	15.00
मामेकं शरणं व्रज	15.00
भक्ति एवं लीला	14.00
भागवत सर्वस्व	18.00
ईश्वर दर्शन	12.00
भारतीय संस्कृति	14.00
सद्‌गुरु पासेथी शुं शीखवुं	10.00
वेणुगीत	20.00
हंसगीता	10.00
मानस दर्शन	20.00
प्रभु कृपा	15.00
उद्धवगीत	20.00
माधुर्य कादम्बिनी	20.00

पुस्तक प्राप्ति स्थान

❖ सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, 'विपुल' 28/16, बी.जी. खेर मार्ग, मालाबार हिल, मुम्बई-400006 फोन : 3682055 (समय : दोपहर 11 से 1 बजे तक)

❖ श्रीअखण्डानन्द पुस्तकालय, आनन्द कुटीर, मोतीझील, वृन्दावन-281124 फोन : (0565) 442287/442481

❖ सेठी एण्ड सन्स, 44 UB जवाहर नगर, कमला नगर, दिल्ली-110007 फोन : 3976919/2937173

❖ श्री एम.सी. मून्दड़ा, द्वारा : श्री आर. झुनझुनवाला ओरिसा इण्ड० लि०, दूसरा तल्ला 53 बी. मिर्जा गालिब स्ट्रीट, कलकत्ता फोन : 298675, 297542, 297486

❖ श्री उत्तमलाल कपासी, 14 विद्यानगर सोसायटी, निकट उस्मानपुरा आश्रम रोड, अहमदाबाद-380014 फोन : 6426500